वैशेषिकसूत्रोपस्कारः

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
195

VAIŚEṢIKASŪTROPASKARA

OF

ŚRĪŚAṄKARAMIŚRA

with

The 'Prakāśikā' Hindī Commentary

By

ĀCĀRYA ḌHUṆḌHIRĀJAŚĀSTRĪ

Edited by

ŚRĪ NĀRĀYAṆA MIŚRA

Lecturer in Sanskrit, B. H. U., VARANASI.

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1
1969

Gopal Mandir Lane,

P. O. Chowkhamba, Post. Box 8,

Varanasi-1 (India)

1969

Phone : 63145

Second Edition

1969

Price : Rs. [illegible]-00

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

Publishers and Oriental Book-Sellers

Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)

Phone : 63076

प्रस्तावना

वैशेषिक दर्शन तथा इसके प्रतिष्ठापक

चिर-काल से इस भारत-भूमि में प्रवाहित होनेवाली दार्शनिक धाराओं की अन्यतर द्वैत धारा का ही एक अङ्ग वैशेषिक दर्शन भी है। इस दर्शन को क्रमबद्ध स्वरूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत करनेवाले महर्षि को 'कणाद' 'काश्यप', 'उलूक', 'औलूक्य', 'औलूक' तथा 'पैलुक' भी कहा जाता है।[1]

वैशेषिक शब्द का अर्थ

यद्यपि इस दर्शन के प्रतिष्ठापक के विभिन्न नामों के आधार पर इस दर्शन के भी 'काणाद दर्शन' आदि अनेक नाम उपलब्ध हैं तथापि सबसे प्रसिद्ध नाम है 'वैशेषिक दर्शन'। इसके इस नामकरण के विभिन्न आधार विभिन्न व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं जिनका उल्लेख मैंने अपने अन्य ग्रन्थ—'वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन' के प्रथम अध्याय (उपोद्घात) के ६—७ पृष्ठों पर किया है। मेरी दृष्टि में 'वैशेषिक' नामकरण के मूलभूत 'विशेष' शब्द का अर्थ है 'व्यवच्छेदक'। इस दृष्टि से 'विशेष' शब्द की व्युत्पत्ति यह हो सकती है :—विशिष्यते = सर्वतो व्यवच्छिद्यते, येन स विशेषः। व्यवच्छेदकता साधर्म्य (समान धर्म) तथा वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) की अधिक युक्तिसङ्गत है। अतः 'वैशेषिक' शब्द की निम्नलिखित दो व्याख्याएँ हो सकती हैं :—

(क) विशेषाभ्याम् (चतुर्थी-द्विवचने)=व्यवच्छेदकाभ्याम् साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्प्रभवतीति वैशेषिकं दर्शनम्, वैशेषिको दार्शनिकः,

(ख) विशेषाभ्याम् (तृतीया-द्विवचने)=व्यवच्छेदकाभ्यां व्यवहरतीति वैशेषिकं दर्शनम्, वैशेषिको दार्शनिकः।

वैशेषिकों की धार्मिक निष्ठा

प्रशस्तदेवाचार्य के 'पदार्थधर्मसंग्रह' के अन्तिम श्लोक से यह सिद्ध होता है कि महर्षि कणाद को महेश्वर की कृपा से ही पदार्थतत्वज्ञान का अधिगम हुआ था। व्योमवती[2], किरणावली[3] तथा न्यायभूषण[4] में भी इस बात का समर्थन किया गया है। इस दृष्टि से वैशेषिकों को माहेश्वर कहा जा सकता है।

महेश्वर शब्द का प्रयोग साधारणतः शिव के लिए होता है। पशुपति शब्द भी शिव शब्द का पर्याय ही है।[5] इस दृष्टि से वैशेषिकों को माहेश्वर कहने का अर्थ शैव भी हो

---

१. द्रष्टव्य—वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन, पृ० ४—५।

२. व्योमवती, पृ० १९।

३. किरणावली, पृ० ४ (काशी)।

४. न्यायभूषण, पृ० १६२ (काशी)।

५. शम्भुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः। अमरकोश।

सकता है और पाशुपत भी। षड्दर्शनसमुच्चय[१] आदि के अनुसार वैशेषिकों को इसीलिये यथास्थल शैव तथा पाशुपत भी कहा गया है।

किन्तु कुछ लोग आगमशास्त्र के आधार पर शिव तथा पशुपति में भेद मानकर उपर्युक्त महेश्वर शब्द को पशुपति का पर्याय मानते हैं और इस आधार पर वैशेषिकों को पाशुपत एवम् नैयायिकों को शैव मानने के पक्ष[२] में हैं।

'न्यायकन्दली' की टीका में राजशेखर ने कणाद के आराध्य देव के रूप में ईश्वर को बतलाया है। परन्तु यह निश्चय करना सम्प्रति मेरे लिए कठिन है कि राजशेखर का ईश्वर शब्द शिवपर्याय है या पशुपतिपर्याय। 'संक्षेपशारीरक' में कणाद के आराध्य देव को 'वृषभध्वजः'[३] शब्द से अभिहित किया गया है।

ऐसी विषम परिस्थिति में यह निर्णय करना सम्भव नहीं है कि शिव तथा पशुपति में आगमशास्त्रीय भेद वैशेषिकों को मान्य था या नहीं; एवम् ये शैव थे या पाशुपत।

वैशेषिक सूत्र का स्वरूप तथा समय

वै० सू० की मौलिकता के विषय में अब तक मनीषियों की सम्प्रतिपत्ति नहीं हो सकी है। कुछ लोग सम्प्रति उपलभ्यमान वै० सू० में कुछ सूत्रों को मौलिक तथा कुछ सूत्रों को उत्तरकाल में सन्निवेशित[४] मानते हैं। सम्प्रति जो वैशेषिक सूत्र की तीन प्राचीन टीकाएँ उपलब्ध हैं—चन्द्रानन्द वृत्ति, मिथिला विद्यापीठ वृत्ति तथा उपस्कार, इनमें उल्लिखित सूत्रों के स्वरूप तथा संख्या में पर्याप्त मतभेद है।[५] प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत वै० सू० की तुलना भी संशय में ही पर्यवसन्न हो जाती है।

अतएव मौलिकता के निश्चय के बिना समय का निश्चय करना कठिन है। तथापि साधारणतः ई० पू० तृतीय-चतुर्थ शतक में वै० सू० की रचना मानी जा सकती है। विशेष विवरण के लिए Primer of Indian Logic (Introduction), PP. IX—XX द्रष्टव्य है।

वैशेषिक सूत्र की व्याख्याएँ

वै० सू० की निम्नलिखित (किन्तु सम्प्रति अनुपलब्ध) प्राचीन व्याख्याएँ थीं :—

(१) वाक्य[६], (२) आत्रेयककृत व्याख्या, (३) रावणभाष्य, (४) कटन्दी,

---

१. मणिभद्रीयवृत्ति—का० ३, १३, ५९।

२. भारतीय दर्शन (म० म० उमेश मिश्र), पृ० २३८।

३. मतिमतां प्रवरो वृषभध्वजः कणभुगादिमुनिप्रवरप्रभुः॥ संक्षेपशारीरक ३।२६४।

४. Bodas—Introduction to the तर्कसंग्रह, PP. 33–34.

५. Prof. Thakur—Introduction to the Vaishesika Sutra, (Baroda—1961) PP. 16–21.

६. यह वै० सू० पर एक वार्त्तिक रहा होगा। इस पर एक 'भाष्य' तथा इन दोनों पर प्रशस्तमति की एक टीका का भी निर्माण हुआ था। द्रष्टव्य—

Prof. Thakur—Introduction to the वै० सू० (Baroda), PP. 14–15.

(५) आत्रेयभाष्य, (६) भाष्य[1], (७) भारद्वाज वृत्ति[2], (८) चन्द्रानन्द द्वारा उद्धृत वृत्ति, (९) शङ्कर मिश्र द्वारा उल्लिखित वृत्ति।

'उपस्कार' से प्राचीन वै० सू० की व्याख्याओं के नाम निम्नलिखित हैं :—

(१) कणादसूत्र निबन्ध[3] (अथवा वादीन्द्रवार्तिक), (२) चन्द्रानन्द वृत्ति[4], (३) मिथिला विद्यापीठ[5] वृत्ति।

'उपस्कार' से परवर्त्ती संस्कृत व्याख्याएँ (प्रकाशित) तीन हैं :—

(१) विवृत्ति (जयनारायण), (२) चन्द्रकान्त भाष्य, (३) वैदिक वृत्ति[6]।

उपस्कारकार आचार्य शङ्कर मिश्र

शङ्कर मिश्र का वंश परिचय

मिथिला की 'पञ्जी'[7] से यह ज्ञात होता है कि मिथिला में एक अत्यन्त प्राचीन उच्चस्तरीय ब्राह्मण वंश 'सीहासम' नाम से प्रसिद्ध था। इस वंश के बीजीपुरुष का नाम था हलायुध मिश्र। हलायुध मिश्र के वंश में (वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र) एक पं० सुरेश्वर मिश्र हुए। पं० सुरेश्वर मिश्र को पुरस्कार के रूप में एक ग्राम मिला था। पं० सुरेश्वर मिश्र के दो सोदर भ्राता थे जिनमें एक थे उनके अग्रज और दूसरे थे उनके अनुज। उनके अग्रज भ्राता का नाम था हलेश्वर मिश्र और अनुज का जीवेश्वर मिश्र। यतः तीनो सोदर भ्राता पुरस्कार के रूप में पं० सुरेश्वर मिश्र को प्रदत्त ग्राम में ही रहने लगे थे। अत एव उस ग्राम (पुर) का नाम 'सोदरपुर' पड़ गया था। पश्चात् उनके वंश की 'सोदरपुर वंश' के नाम से प्रसिद्धि हो गई।

पं० सुरेश्वर मिश्र के पुत्र हुए म० म० पं० विश्वनाथ मिश्र। विश्वनाथ मिश्र[8] की द्वितीय पत्नी से प्रथम पुत्र हुए रविनाथ मिश्र। रविनाथ मिश्र का विवाह

---

१. यह 'भाष्य' 'रावणभाष्य' से या 'आत्रेयभाष्य' से भिन्न है या अभिन्न यह सन्दिग्ध है।

२. 'भारद्वाज वृत्ति', शङ्कर मिश्र द्वारा उल्लिखित 'वृत्ति' तथा चन्द्रानन्द द्वारा निर्दिष्ट 'वृत्ति' अभिन्न हैं या भिन्न यह विषय भी सन्दिग्ध ही है।

३. यह व्याख्या केवल द्वितीयाध्याय तक हस्तलेख में उपलब्ध है। इसका प्रकाशन गुरुवर प्राध्यापक श्री अनन्तलाल ठाकुर जी के सम्पादकत्व में निकट भविष्य में ही होने वाला है।

४. यह 'वृत्ति' Gaekwad's Oriental Series N0. 136 में १९६१ ई० में प्रकाशित हो चुकी है।

५. यह वृत्ति 'कणादसूत्रनिबन्ध' का ही संक्षिप्त रूप है—ऐसा माना जाता है।

६. प्रशस्तपाद के 'पदार्थधर्मसंग्रह' को वै० सू० का भाष्य मानना उचित नहीं है। देखिए :—वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन, पृ० १४–१७।

७. मिथिला में राजा हरिसिंह देव के समय से मैथिल ब्राह्मणों की वंशावली को लिखित रूप में संरक्षित करने की प्रथा का प्रारम्भ हुआ था और वह प्रथा आज भी अक्षुण्ण है। इसी वंशावली के लेख को 'पञ्जी' कहा जाता है।

८. म० म० विश्वनाथ मिश्र के ही (प्रथम पत्नी से) एक सुपुत्र पं० रमानाथ मिश्र

माण्डर वंश के वटेश्वर[1] उपाध्याय की पुत्री से हुआ था। रविनाथ मिश्र के सुपुत्र हुए पं० भवनाथ मिश्र।

पं० भवनाथ मिश्र मीमांसाशास्त्र के समर्थ विद्वान् थे। इनकी असाधारण प्रतिभा का परिचय शङ्कर मिश्र के कथन से भी पदे-पदे मिलता है।

पं० भवनाथ मिश्र की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय थी। किन्तु 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' यह सूक्ति पं० भवनाथ मिश्र के लिए अक्षरशः मानदण्ड का काम करती थी। वे कहीं याचना करने के लिए नहीं जाते थे। अपने घर ही शिष्यों के अध्ययनाध्यापन में हुई समाधि में वे अपनी गरीबी को भूल चुके थे। जिस प्रकार पं० भवनाथ मिश्र अपनी विद्या तथा धीरता के कारण साक्षात् शङ्करतुल्य थे उसी प्रकार उनकी धर्मपत्नी 'भवानी' भी साक्षात् जगदम्बा भवानी का ही अवतार थीं। 'भवानी' के पावन सतीत्व के प्रकाश में 'भवनाथ' का वह अनन्यसाधारण निर्मल बुद्धि-वैभव तथा धैर्य ही प्रस्फुटित हो पाता था, उनकी समल अर्थहीनता नहीं। उक्त याचनाविमुखता के कारण ही पं० भवनाथ मिश्र को लोग 'अयाची' कहने लग गए थे।

पं० भवनाथ मिश्र का जीवन चिरकाल तक अध्ययनाध्यापन में ही बीत चुका था। किन्तु तब तक उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई थी। अतः अपनी धर्मपत्नी 'भवानी' के साथ वे वैद्यनाथधाम (वर्त्तमान 'देवघर') जाकर भगवान् वैद्यनाथ की आराधना में लग गए। उन दोनों की आराधना से सन्तुष्ट भगवान् शङ्कर ने स्वप्न में उनसे कहा— 'मैं स्वयम् तुम्हारे पुत्र के रूप में जन्म लूँगा'। स्वप्न में अपनी तपःसिद्धि का निश्चय कर वे अपने घर लौट गए। कुछ दिन बाद 'भवानी' के गर्भ से साक्षात् भगवान् शङ्कर ने ही जन्म लिया और पूर्ववर के अनुसार पिता पं० भवनाथ मिश्र ने अपने सुपुत्र का नाम भी 'शङ्कर' रक्खा।

हुए। रमानाथ मिश्र के पुत्र का नाम था वराहनाथ मिश्र। वराहनाथ मिश्र के (द्वितीय) पुत्र हुए गुणे मिश्र और उन्हीं के सुपुत्र तत्त्वचिन्तामण्यालोकनिर्माता जयदेव (पक्षधर) मिश्र थे।

१. इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि म० म० विश्वनाथ मिश्र की प्रथम पत्नी से उत्पन्न पुत्री से वटेश्वरोपाध्याय के प्रथम पुत्र पशुपति उपाध्याय का पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ था। पशुपति उपाध्याय के द्वितीय पुत्र शिवपति उपाध्याय के ही सुपुत्र थे हमारे प्रसिद्ध न्यायाचार्य यज्ञपति उपाध्याय। इस प्रकार म० म० श्री विश्वनाथ के (द्वितीयपत्नीजन्य-प्रथमपुत्रपरम्परा में) प्रपौत्र थे शंकर मिश्र, (प्रथमपत्नीजन्यप्रथमपुत्रपरम्परा में) वृद्ध प्रपौत्र थे पक्षधर जयदेव मिश्र और (प्रथमपत्नीजन्यपुत्रीपरम्परा में) प्रदौहित्र थे यज्ञपति उपाध्याय। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शङ्कर मिश्र के वंश में शास्त्र—विशेषतः न्यायवैशेषिक शास्त्र—की कितनी समृद्धि थी।

मिथिला के ब्राह्मण वंशों में शंकर मिश्र के वंश में जितने महामहोपाध्याय हुए हैं उतने अन्य किसी भी सम्प्रदाय के किसी वंश में नहीं। इस रहस्य का परिज्ञान मिथिला की 'पञ्जी' के अवलोकन से स्पष्टरूप में हो जाता है।

(प्रस्तावनालेखक को भी शंकर मिश्र के वंशज होने का सौभाग्य सम्प्राप्त है)।

ऐसी प्रसिद्धि है कि जब सती 'भवानी' प्रसववेदना का अनुभव कर रही थी
समय चर्मकार का ढोल आघात के विना ही बजने लग गया था। उस स्थिति को दे
कर चर्मकार अपनी पत्नी से किसी महापुरुष के जन्म के शुभावसर की चर्चा कर ही
था कि प्रसूतिगृह में नवजात शिशु 'शङ्कर' के संस्कार के लिए चमाइन को बुलाने
लिए एक व्यक्ति पहुँच गया।

आह्वान के बाद चमाइन ने शिशु 'शङ्कर' का यथाप्रचलन संस्कार किया। किन्तु 'भवा
अपनी निर्धनता के कारण उस मङ्गलमय अवसर पर भी चमाइन को कुछ दे नहीं पायी
उन्होंने प्रतिज्ञा की कि उस शिशु 'शंकर' की प्रथमार्जित सारी सम्पत्ति उस चमाइन
ही दे दी जाएगी।

शंकर का अवतार शिशु 'शंकर' शनैः-शनैः बढ़ने लगा। पाँच वर्ष की उम्र भी न
पूरी हो सकी थी किन्तु पिता के प्रभाव से वह प्रतिभावान् बालक पर्याप्त प्रौढ़
चुका था।

एक दिन की बात है कि मिथिला के एक राजा (प्रायशः शिवसिंह[1]) अपनी यात्रा
के प्रसङ्ग में सन्ध्या हो जाने के कारण पं० भवनाथ मिश्र के घर के पास ही रुक गए
राजा ने शङ्कर मिश्र को अन्यान्य समवयस्क बालकों के साथ खेलते देखा। 'न हि तादृश
आकृतिविशेषा गुणविरहिणो भवन्ति'। राजा ने 'शंकर' की ओजस्विता पर आकृष्ट होकर
शंकर मिश्र को अपने पास बुलाया और उस ओजस्वी शिशु से नाम पूछकर अन्त
उसके अध्ययन के विषय में भी पूछा। वार्त्ता के क्रम में 'शंकर' ने राजा से पूछा—'आपको
मैं पुराना श्लोक सुनाऊँ या स्वनिर्मित?' उस पर आश्चर्यान्वित राजा ने 'शंकर'
कहा—'क्या आप स्वयम् भी श्लोक-निर्माण कर लेते हैं?' उस पर 'शंकर' की सरस्वती
निम्नलिखितरूप में प्रस्फुटित हो उठी :—

> बालोहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती।
> अपूर्णे पञ्चमे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम् ॥

श्लोकश्रवण से अत्यन्त मुग्ध राजा ने 'शङ्कर' से अन्य श्लोक सुनाने को भी कहा
'शङ्कर' ने अन्य श्लोक भी सुनाया जिसका उत्तरार्ध वैदिक मन्त्र है और पूर्वार्ध स्वी
रचना :—

> चलितश्चकितश्छिन्नः प्रयाणे तव भूपते ।
> सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥

'शङ्कर' की प्रतिभा पर राजा अत्यन्त प्रसन्न हो उठे और अपने कोष से उतनी स्वर्ण
मुद्रा लेने की अनुमति दे दी जितनी स्वर्ण-मुद्रा वह शिशु 'शङ्कर' एक बार में ले
सके। राजा की अनुमति के बाद 'शङ्कर' राजकीय कोष से लगभग ५०० सुवर्ण-मुद्रा
लेकर अपने घर लौट ही रहा था कि उसके पिता पं० भवनाथ मिश्र को, जो उस समय
बाह्य प्रकोष्ठ में अध्ययन में लगे थे, कुछ विशेष परिस्थिति का आभास मिल गया
अध्ययन की उपेक्षा कर उन चीजों की ओर उनके लिए आकृष्ट हो जाना सम्भावित
हो सका। उन्होंने कमरे से ही 'शंकर' को बाहर ही तब तक रुके रहने का आदेश देकर
अपनी धर्मपत्नी से उसकी जाँच करने को कहा। जब पतिव्रता 'भवानी' बाहर आयी

---

१. History of Navya-Nyaya in Mithila, P. 134.

तो उन्होंने लगभग ५०० स्वर्णमुद्राओं से समन्वित अपने 'शंकर' को देखा। उस पर 'शंकर' को वहीं रुके रहने का आदेश देकर 'भवानी' ने अपने पतिदेव को भी वहाँ बुलाया और सारी चीजें उन्हें दिखलायीं। तत्पश्चात् अपने पति की अनुमति पाकर 'भवानी' ने उस चमाइन को अपनी पूर्वप्रतिज्ञा के अनुसार बुलवाया और सारी मुद्राएँ उसे ही दे दीं। यद्यपि वह चमाइन मुद्राएँ लेना नहीं चाहती थी तथापि बहुत समझाने-बुझाने के बाद उसने लेना स्वीकार कर लिया। शंकर मिश्र की कीर्त्ति के साथ अपनी भी कीर्त्ति को अमर करने की इच्छा से उस चमाइन ने एक पोखरा शंकर मिश्र के घर के पास ही खुदवाया जो आज भी दरभङ्गा जिले के सरिसव ग्राम में शंकर मिश्र के निवास-स्थान के पास 'चमाइन पोखरा' के नाम से प्रसिद्ध है।

किन्तु पं० भवनाथ मिश्र को फिर भी शान्ति न मिली। 'शंकर' की याचकता तथा दान-ग्राहकता उनकी अयाचक मनोवृत्ति के लिए सर्वथा प्रतिकूल सिद्ध हुई। क्षुब्ध हृदय से पं० भवनाथ मिश्र निम्नलिखित श्लोक पढ़ते हुए घर-बाहर करने लगे :—

अधीतमध्यापितमर्जितं यशो न शोचनीयं किमपीह भूतले।
इतः परं किं भवनाथशर्मणः ?

परन्तु बार-बार श्लोक पढ़ने के बाद भी उनकी बुद्धि में श्लोक का चतुर्थ चरण नहीं आ रहा था। जब 'शंकर' ने कई बार अपने पिता के मुख से श्लोक के तीन ही चरण सुने तो अन्त में उसने चतुर्थ चरण की पूर्ति कर दी :—

मनो मनोहारिणि जाह्नवीतटे ॥ १ ॥

यद्यपि अपने पुत्र की प्रतिभा पर उन्हें बहुत प्रमोद हुआ तथापि उनकी अयाचक मनोवृत्ति ने उन्हें घर से अलग हो जाने के लिए ही बाध्य कर दिया। कहा जाता है कि पं० भवनाथ मिश्र ने अन्त में अपने निवास से कुछ दूर अपनी एक कुटी बनवा ली और वहीं अपने जीवन के अवशिष्ट दिनों का अन्त कर ब्रह्मसायुज्य की सम्प्राप्ति उन्होंने की।

मैथिलकुलालंकार भारतविभूति आचार्य शंकर मिश्र के बाल्यकाल का इतिवृत्त उपर्युक्त (किम्वदन्ती) रूप में ही प्रसिद्ध है।

शङ्कर मिश्र की शिक्षा-दीक्षा तथा विद्वत्ता

शंकर मिश्र ने सभी शास्त्रों का अध्ययन अपने पिता जी से ही[1] किया था। उनके पिता पं० भवनाथ मिश्र केवल मीमांसाशास्त्र के ही नहीं अपि तु अन्यान्य शास्त्रों के भी मर्मज्ञ विद्वान् थे। योग्य पिता की प्रतिभा ओजस्वी पुत्र की प्रतिभा के साथ मिलकर दूनी हो उठी।

---

१. तातादधीत्याखिलतन्त्रसारम्—'शब्दमणिमयूख' का प्रारम्भ-श्लोक। इससे अतिरिक्त, शंकर मिश्र ने विभिन्न शास्त्रों के अपने टीका-ग्रन्थों में निम्नलिखित श्लोक लिखा है जिससे इनके पिता के सर्वशास्त्रनिष्णातत्व का परिज्ञान होता है :—

स्वभ्रातुर्जीवनाथस्य व्याख्यामाख्यातवान् यतः।
मत्पिता भवनाथो यां तामिहालिखमुज्ज्वलाम् ॥

न्यायलीलावतीकण्ठाभरण, पृ० ८६४; आत्मतत्त्वविवेककल्पलता, पृ० ९४८ (वि० इ०); खण्डनटीका, पृ० ६३२।

अपने पिता के प्रति शंकर मिश्र की कितनी अटूट श्रद्धा थी उसका प्रमाण नि-लिखित दो श्लोकों में ही मिल जाता है :—

(१) चिन्तामणेरिह गभीरतरेऽम्बुराशावाशापि कस्य तरणाय गतत्रपस्य।
तीर्णो मया परमयं भवनाथसूक्तिपोताधिरोहणतिरस्कृतसाध्वसेन[1] ॥

(२) या सूक्तिर्भवनाथवक्त्रकमलादुद्गत्वरी तत्कृतम्
सौभाग्यं प्रतिपद्य शुद्धमतिभिः श्लाघापदं लम्भिता।
न्यस्ता सज्जनमानसे विजयतामापुष्पवन्तोदयं
ग्रन्थग्रन्थिविमोचनाय रचना वाचामियं शांकरी[2] ॥

शंकर मिश्र का पाण्डित्य सभी शास्त्रों में अप्रतिहत था। यद्यपि इनकी कृति मुख्य न्याय-वैशेषिक शास्त्र से ही सम्बद्ध है तथापि अन्यान्य शास्त्रों में भी इनकी निपुणता अपलाप नहीं किया जा सकता। 'खण्डनखण्डखाद्य' जैसे विचित्र ग्रन्थ पर भी इन लेखनी उसी प्रकार निर्बाध गति से चली है जिस प्रकार 'न्यायलीलावती' जैसे वैशेषि शास्त्र के क्लिष्टतम ग्रन्थ पर। यद्यपि 'खण्डनखण्डखाद्य' पर शङ्कर मिश्र से प्राचीन त अर्वाचीन आचार्यों की बहुत-सी व्याख्याएँ हैं तथापि शंकर मिश्र की व्याख्या अनोखी अपने न्याय-वैशेषिकशास्त्र के परिशीलन से सम्प्राप्त सूक्ष्मेक्षिका के बल पर स्थल-स्थ में खण्डनकार की तर्कपूर्ण आलोचना अद्यावधि पण्डितमण्डली की आकर्षणबिन्दु रही है यही कारण है कि प्रगल्भ[3] मिश्र जैसे प्रगल्भ विद्वान् को भी अपनी खण्डनटीका 'खण्डनदर्पण' (चौखम्बा) के प्रारम्भ में लिखना पड़ा है :—

श्रीमच्छङ्करवर्धमानरचितोपायान् विलोक्यापि च।

न्याय-वैशेषिकशास्त्र में तो इनके पाण्डित्य का यथार्थ वर्णन करना भी सम्भव न है। कोई भी ऐसा महत्त्वपूर्ण न्याय-वैशेषिक का ग्रन्थ या व्याख्या-ग्रन्थ नहीं है जिस आचार्य शङ्कर मिश्र की प्रतिभा का अप्रतिहत प्रकाश न पड़ा हो। जिस ग्रन्थ पर इन लेखनी चली है उस ग्रन्थ की अन्यान्य व्याख्या प्रायः[4] हतप्रभ एवम् उपेक्षित-सी गई है।

व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त न्याय-वैशेषिकशास्त्र पर इनके कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी जिनमें 'भेदरत्न'[5] ('भेदप्रकाश') प्रमुख है। इस लघुकाय ग्रन्थ में अद्वैतवाद इतना मार्मिक खण्डन किया गया है कि अद्वैतसम्प्रदाय के महान् आचार्य मधुसू सरस्वती को 'अद्वैतरत्नरक्षण' नाम का एक भेदरत्नखण्डनात्मक ग्रन्थ लिखना पड़ा। किन्तु 'रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः'।

---

१. शब्दमणिमयूख' के अन्त में द्वितीय श्लोक।

२. खण्डनखण्डखाद्यटीका, पृ० ४१६।

३. इनका वास्तविक नाम 'शुभङ्कर' था, क्योंकि केवलान्वयी अनुमान के व्याख्य में तथा उपाधिवाद के अन्त में भी इन्होंने अपना नाम 'शुभङ्कर' ही बतलाया है सम्भवतः वाक्यप्रागल्भ्य के कारण ही इन्हें 'प्रगल्भ' कहा जाने लगा था।

—Dr. Mishra—History of Indian philosophy, Vol. II, P. 32

४. किन्तु 'चिन्तामणिमयूख' को इस कथन का अपवाद माना जा सकता है।

५. यह ग्रन्थ सरस्वती भवन, वाराणसी से १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ है।

दिङ्नाग तथा धर्मकीर्त्ति जैसे प्रचण्ड तार्किकों की प्रखर प्रतिभा से परिपूत बौद्धन्याय आचार्य शङ्कर मिश्र के नैपुण्य का प्रमाण इनकी 'आत्मतत्त्वविवेक-कल्पलता' है। ायाचार्य उदयन के अर्थगम्भीर उत्तरपक्ष के भावाभिव्यञ्जन में इनकी क्षमता के ाधार पर यदि इन्हें नैयायिक मानना स्वाभाविक है तो पूर्वपक्षी बौद्धाचार्यों के गूढ़ाशय के प्रकाशन के आधार पर इन्हें बौद्धतार्किक मानना भी अस्वाभाविक होगा।

पूर्वमीमांसा शास्त्र में इनके पाण्डित्य-प्रकर्ष का परिज्ञान इनके विचित्र ग्रंथ 'वादि-विनोद' तथा 'आमोद' (न्यायकुसुमाञ्जलिव्याख्या) के अवलोकन से स्पष्टरूप में हो ाता है। 'शब्दमणिमयूख' के प्रारम्भ में इनके निम्नलिखित श्लोक—

तातादधीत्याखिलतन्त्रसारम् महार्णवादीन् बहुशो निरूप्य।
श्रीशङ्करेणार्चितशङ्करेण वितन्यते शब्दमणेर्मयूखः ॥

े भी इनके सर्वशास्त्रज्ञत्व के अवगम के साथ-साथ मीमांसा के प्रौढ़ पाण्डित्य का परिचय मिल जाता है, क्योंकि उक्त श्लोक में उल्लिखित 'महार्णव'[1] वत्सेश्वर[2] का प्रमुख ग्रन्थ 'मीमांसामहार्णव'[3] ही है। साथ ही, महान् मीमांसक पं० भवनाथ मिश्र के सुपुत्र एवम् शिष्य आचार्य शङ्कर मिश्र के मीमांसामर्मज्ञत्व में प्रमाण की विशेष आवश्यकता भी नहीं है।

आचार्य शङ्कर मिश्र के 'तातादधीत्याखिलतन्त्रसारम्' इस कथन की सार्थकता यदि संक्षेप में देखना हो तो हमें इनका 'वादिविनोद' देखना चाहिए। इस ग्रन्थ के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है :—

लघुरपि बह्वर्थवहश्चिन्तामणिरिव निबन्धोऽयम् ॥

सकलशास्त्रमूर्धन्य व्याकरणशास्त्र में आचार्य के पाण्डित्यप्रकर्ष में न्यायवैशेषिक, मीमांसा तथा व्याकरण की त्रिवेणी—'तत्त्वचिन्तामणि' के शब्दखण्ड—में इनका निमज्जन ही पर्याप्त प्रमाण है। 'न्यायकुसुमाञ्जलि' की व्याख्या 'आमोद' (५ स्तबक) तथा

---

१. यह 'महार्णव' 'वादिविनोद' पृ० ५२ में भी उल्लिखित है।

२. History of Navya-Nyaya in Mithila के पृ० १३६ में 'महार्णव' के लेखक का नाम कुछ अशुद्ध Vatesvara छपा है। लेखक का नाम वत्सेश्वर (Vatses-vara) है।

द्रष्टव्य—आलोक, पृ० १० (मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा) तथा History of Navya-Nyaya in Mithila, P. 94.

३. म० म० डॉ० उमेश मिश्र जी ने अपने History of Indian Philosophy, Vol. II के पृ० ३०८ में 'महार्णव' को एक अतिरिक्त ग्रन्थ मानने की सम्भावना व्यक्त की है। परन्तु 'महार्णव' को 'मीमांसामहार्णव' मानना ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि 'तत्त्वचिन्तामणि' की व्याख्या के लिए मणिकार गंगेश उपाध्याय की 'गुरुभिर्ज्ञात्वा गुरूणां मतम्' प्रतिज्ञा तथा ग्रन्थ में उसकी आद्यन्त पूर्त्ति के आधार पर व्याख्याकार में मीमांसा—प्राभाकर मीमांसा—का पाण्डित्य सर्वथा अपेक्षित है।

'न्यायलीलावतीकण्ठाभरण' में भी यत्र-तत्र इनके वैयाकरणत्व का स्पष्ट परिचय मिल ही जाता है।

किन्तु आचार्य शङ्कर मिश्र की लेखनी इन नीरस शास्त्रों तक ही नहीं अपि तु सरस काव्य-शास्त्र का भी निमज्जन करने में उदासीन नहीं रही। इस प्रसङ्ग में इनका निम्न-लिखित रसार्णवस्थ श्लोक द्रष्टव्य है :—

तर्काभ्यासपरिश्रान्तस्वान्तविश्रान्तिहेतवे ।
ये श्लोका विहितास्तेषाम् संग्रहोऽयं विधीयते ॥[1]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि आचार्य शङ्कर मिश्र की प्रतिभा सर्वतोभद्र थी। वस्तुतः प्रतिभा का अर्थ भी तो यही है। इसी अलौकिक प्रतिभा के कारण इनके विषय में निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है :—

शङ्करवाचस्पत्योः शङ्करवाचस्पती सदृशौ ।
पक्षधरप्रतिपक्षी लक्षीभूतो न च क्वापि ॥

शङ्कर मिश्र का समय

उपर्युक्त वंशावली के आधार पर यह स्पष्ट है कि शङ्कर मिश्र पक्षधर मिश्र से कुछ पूर्ववर्त्ती तथा यज्ञपति उपाध्याय के समसामयिक या ५–१० वर्ष पूर्ववर्त्ती थे। पक्षधर मिश्र का समय १५ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध का अन्तिम भाग[2] माना गया है एवम् यज्ञपति उपाध्याय का समय १४५० ई० से पूर्व १४१०—२०[3] ई० के आस-पास है। अतः शङ्कर मिश्र का समय १४०० ई० या कुछ वर्ष बाद माना जा सकता है।

उक्त तिथि के समर्थन में यह भी ज्ञातव्य है कि वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में शङ्कर मिश्रकृत खण्डनखण्डखाद्यटीका की एक हस्तलिखित प्रति वर्त्तमान है। हस्तलेख का समय १५२६ सम्वत् (१४७२ ई०) है। रघुनाथ मन्दिर पुस्तकालय में भी शङ्कर मिश्र के 'भेदप्रकाश' का एक हस्तलेख विद्यमान है। यह १५१९ सम्वत् (१४६२ ई०) में काशी में शङ्कर मिश्र के जीवन-काल में ही लिखा गया था[4]। इससे भी शङ्कर मिश्र का उक्त समय मानना स्वाभाविक है।

म० म० कुप्पूस्वामी शास्त्री जयदेव मिश्र को १२०० ई० से[5] भी पूर्ववर्त्ती तथा शङ्कर मिश्र को १७ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का[6] मानते हैं। परन्तु जयदेव मिश्र तथा शङ्कर मिश्र के वंशक्रम को ध्यान रखने पर उक्त मत सर्वथा अग्राह्य सिद्ध हो जाता है।

---

१. History of Indian Philosophy (Dr. Mishra), Vol. II के पृ० ३२४ में उद्धृत।

२. History of Navya-Nyaya in Mithila, PP. 124–25.

३. वही, पृ० १६३।

४. Dr. Mishra—History of Indian Philosophy, Vol. II, P. 324.

५. Primer of Indian Logic (Introduction), P. 38.

६. वही, पृ० ४०।

शङ्कर मिश्र की कृतियाँ

शङ्कर मिश्र की निम्नलिखित कृतियाँ प्रमाणसिद्ध हैं :—

(१) मयूख[1], (२) त्रिसूत्रीनिबन्धव्याख्या[2] (न्यायसूत्र—१-३ पर उदयनाचार्य की उपटीका 'परिशुद्धि' की अक्षरानुसारिणी व्याख्या), (३) किरणावलीनिरुक्तिप्रकाश[3], (४) भेदप्रकाश[4], (५) खण्डनखण्डखाद्यटीका[5], (६) वादिविनोद[6], (७)

---

१. 'वादिविनोद' (पृ० ५९), 'कणादरहस्य' (पृ० १०३), 'लीलावतीकण्ठाभरण' (पृ० ७३) तथा 'उपस्कार' (३।१।१४, १७; ३।२।१८; ७।१।२०,२६; ९।२।१॥) आदि में शङ्कर मिश्र ने चिन्तामणिटीका 'मयूख' का उल्लेख किया है। स्तेन (Stain) साहब ने Jammu Catalogue के पृ० १४४ में ह० ले० ग्रन्थ संख्या—१५३७ के अन्तर्गत इसकी एक हस्तलिखित (अपूर्ण) प्रति का उल्लेख तथा विवरण प्रस्तुत किया है।

२. म. म. हरप्रसाद शास्त्री को इसका एक अपूर्ण हस्तलेख दिनाजपुर में मिला था। इसमें शङ्कर मिश्र की निम्नलिखित उक्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है :—

प्रकाशदर्पणोद्योतकृद्भिर्व्याख्या कृतोज्ज्वला।
तथापि योजनामात्रमुद्दिश्यायं ममोद्यमः॥

इस श्लोक में उल्लिखित 'प्रकाश' व्याख्या वर्धमान उपाध्याय की, 'दर्पण' व्याख्या वटेश्वर उपाध्याय (शङ्कर मिश्र के पिता के मातामह) की एवम् 'उद्योत' व्याख्या दिवाकर उपाध्याय की रही।

द्रष्टव्य—History of Navya-Nyaya in Mithila, P. 137.
History of Indian Philosophy, Vol. II, P. 309,

३. यह 'प्रकाश' व्याख्या उदयनाचार्य की 'किरणावली' पर थी। 'कणादरहस्य' (पृ० १७७) में इसका संकेत मिलता है :—'किरणावलीनिरुक्तिप्रकाशे च कृतव्युत्पादनमेतत्'।

४. यह ग्रन्थ 'भेदरत्न' के नाम से सरस्वती भवन, वाराणसी से १९३३ई० में प्रकाशित हो चुका है। म० म० डा० उमेश मिश्र जी का कथन है कि इसकी रचना प्रायशः खण्डनटीका के बाद आचार्य ने की थी (द्रष्टव्य—History of Indian Philosophy, Vol. II. P. 390) परन्तु खण्डनटीका में 'भेदप्रकाश' का उल्लेख मिलने से ऐसा कहना उचित नहीं है :—

विपश्चितश्चायमुद्धारो 'भेदप्रकाशे' (खण्डनटीका, पृ० १२५)।

५. यह टीका 'शाङ्करी' के नाम से प्रसिद्ध है। यह टीका १८८८ ई० में लाजरस, वाराणसी से प्रकाशित हो चुकी है। सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से तथा चौखम्बा संस्कृत कार्यालय से (हिन्दी अनुवाद के साथ) पुनः प्रकाशित हो रही है।

६. यह लघुकाय किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इलाहाबाद से १९१५ ई० में म० म० डॉ० गङ्गानाथ झा जी के सम्पादकत्व में प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ के संक्षिप्त वैषयिक विवरण के लिए म० म० डॉ० उमेश मिश्र जी का History of Indian Philosophy, (Vol. II. PP 310-19) भी द्रष्टव्य है।

उपस्कार[1], (८) कणादरहस्य[2], (९) न्यायलीलावतीकण्ठाभरण[3], (१०) आत्मतत्त्व-विवेककल्पलता[4], (१२) आमोद[5] (न्यायकुसुमाञ्जलिटीका)।

उपर्युक्त दार्शनिक ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य शङ्कर मिश्र के कुछ काव्यग्रन्थ भी हैं :—

(१) गौरीदिगम्बर प्रहसन, (२) कृष्णविनोद नाटक, (३) मनोभवपराभव नाटक, रसार्णव[6]।

उपस्कार

यद्यपि वै० सू० पर 'उपस्कार' से प्राचीन कई प्रामाणिक, संक्षिप्त एवम् विस्तृत व्याख्याएँ लिखी गईं तथापि शङ्कर मिश्र के समय तक एक 'वृत्ति'—जिसका उल्लेख 'उपस्कार' में अनेकशः[7] किया गया है—से अतिरिक्त सभी व्याख्याएँ विनष्टप्राय हो[8] चुकी थीं। यह तथ्य उपस्कार के निम्ननिर्दिष्ट श्लोक से प्रमाणित होता है :—

---

१. इसका विवरण आगे किया जाएगा।

२. इसका प्रकाशन चौखम्बा संस्कृत कार्यालय से १९१७ में हो चुका है।

३. यह टीका वर्धमानोपाध्याय के 'प्रकाश' तथा 'प्रकाश' पर भगीरथ ठक्कुर की 'प्रकाशिका' के साथ-साथ चौखम्बा संस्कृत कार्यालय से १९३४ ई० में प्रकाशित हो चुकी है।

४. यह व्याख्या बिब्लियोथिका इण्डिका तथा चौखम्बा संस्कृत कार्यालय से प्रकाशित हो चुकी है।

५. 'आमोद' आद्यन्त शङ्कर मिश्र की कृति है या रामभद्र सार्वभौम की या रामभद्र तथा शङ्कर मिश्र की सम्मिलित कृति इस विषय का विवरण सरस्वती भवन ग्रन्थ-माला से प्रकाशित 'कुसुमाञ्जलिबोधिनी' की प्रस्तावना में म० म० गोपीनाथ कविराज जी, रामभद्रीटीकासहित 'कुसुमाञ्जलिकारिका' (आशुतोष संस्कृत ग्रन्थमाला, कलकत्ता) की प्रस्तावना में प्रो० श्री नरेन्द्रचन्द्र वेदान्ततीर्थ आदि द्वारा किया गया है। विशेष जिज्ञासा रखनेवालों को उक्त स्थल का अवलोकन करना चाहिए।

यह 'आमोद' गुणानन्दविद्यावागीश के 'विवेक' के साथ कलकत्ते से दो भागों में प्रकाशित हो चुका है। मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा से भी वरदराज की 'बोधिनी' तथा गुणानन्द विद्यावागीश के 'विवेक' के साथ इसका प्रकाशन अत्यासन्न है।

६. इन काव्य ग्रन्थों का विवरण डॉ० उमेश मिश्र के History of Indian Philosophy, Vol. II (PP. 321–22) से प्राप्त करना चाहिए।

प्राध्यापक दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य जी ने अपने History of Navya-Nyaya in Mithila (पृ० १३४) में एक 'पण्डितविजय' काव्य का भी शङ्कर मिश्र की कृति के रूप में उल्लेख किया है। इनके काव्यग्रन्थों से मेरा परिचय अत्यल्प है।

७. उदाहरणार्थ :—उपस्कार—१।१।२; १।२।३; १।२।६; ३।१।१७ आदि द्रष्टव्य हैं।

८. श्रीयुत दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य जी का कथन है कि सम्भवतः शङ्कर मिश्र के पास 'वृत्ति' पूर्णतः नहीं थी अपि तु खण्डित रूप में ही।

द्रष्टव्य—History of Navya-Nyaya in Mithila, P. 142.

सूत्रमात्रावलम्बेन निरालम्बेऽपि गच्छतः ।
खे खेलवन्ममाप्यत्र साहसं सिद्धिमेष्यति ॥

(उपस्कार—प्रारम्भ-श्लोक सं० ३)

यतः उपस्कारकार के समक्ष वैं० सू० के मौलिक स्वरूप को प्रस्तुत करनेवाली कोई प्रामाणिक व्याख्या नहीं थी अतः 'उपस्कार' को वैं०सू० के मौलिक स्वरूप के निर्धारण के लिए प्रमाण नहीं माना जा सकता है। किन्तु जहाँ तक कणाद के मौलिक सिद्धान्त के अधिगम का प्रश्न है, 'उपस्कार' को एक प्रामाणिक ग्रंथ मानने में विप्रतिपत्ति नहीं है, क्योंकि 'उपस्कार' में कोई ऐसा विषय नहीं है जिसका मूल 'पदार्थधर्मसंग्रह' में विद्यमान न हो। 'पदार्थधर्मसंग्रह' प्रशस्तदेवाचार्य की कृति है और प्रशस्तदेवाचार्य ने वैं० सू० पर लिखे गए वार्त्तिक—'वाक्य'—तथा 'वाक्यभाष्य' पर भी एक टीका लिखी थी जिसका संकेत 'नयचक्र' आदि में मिलता है। यदि प्राचीन तथा वैं० सू० से घनिष्ठरूप में सम्बद्ध प्रशस्तदेव को महर्षि कणाद के मत का यथार्थ प्रतिपादक माना जाय तब तो यह मानना ही होगा कि प्रशस्तदेवाचार्य के मार्ग से ही प्रायेण वैं० सू० की व्याख्या प्रस्तुत करनेवाला 'उपस्कार' महर्षि कणाद के सिद्धान्तों का प्रामाणिक प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों के अन्यतम अवश्य है। प्रशस्तदेव को कणाद के सिद्धान्तों का यथावत् परिज्ञाता इसलिए भी मानना चाहिए कि 'आत्रेयभाष्य' के आधार पर 'न्यायप्रवेशवृत्तिपञ्जिका' में किए गए वैं० द० के पदार्थों का विवरण भी प्रशस्तदेवकृत विवरण से सर्वथा साम्य रखता है।

किन्तु प्रशस्तदेव के अनुसरण का यह अर्थ नहीं है कि 'उपस्कार' में उनका अन्धानुकरण किया गया है। शङ्कर मिश्र की अद्वितीय प्रतिभा स्थान-स्थान पर अपना चमत्कार दिखलाने में पीछे नहीं रही है। उपस्कारकार ने अपने शास्त्रान्तर के, विशेषतः नव्यन्यायशास्त्र के, प्रौढ पाण्डित्य का प्रदर्शन गूढ विषयों के परिष्कार के लिए निश्छलरूप में किया ही है। इसका प्रमाण 'उपस्कार' में पदे-पदे उपलब्ध है और विशेष रूप में मङ्गलवाद (उप० १।१।१ ॥), मुक्तिवाद (उप० १।१।४ ॥), संशयनिरूपण (उप० २।२।१७ ॥), व्याप्तिवाद (उप० ३।१।१४ ॥), पाकप्रक्रिया (उप० ७।१।६ ॥), द्वित्वप्रक्रिया (उप० ७।२।८ ॥) तथा बहुत्वसंख्यास्वरूप (उप० ७।२।८ ॥) के विवेचन द्रष्टव्य हैं।

शङ्कर मिश्र का पाण्डित्य चिर-विप्रतिपन्न विषयों में स्वतन्त्र एवम् प्रशस्त विचार प्रस्तुत करता है। 'मङ्गलाचरण का प्रधान फल कार्यसमाप्ति है' इस प्राचीन मत का

किन्तु प्रथमाध्याय से दशमाध्याय तक के 'उपस्कार' में वृत्तिकार के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि 'वृत्ति' शङ्कर मिश्र के समय में सम्पूर्णतया उपलब्ध अवश्य थी। हाँ, इस आधार पर यह कल्पना नितान्त युक्तिसङ्गत होगी कि 'वृत्ति' महत्त्वपूर्ण, कम से कम शङ्कर मिश्र की दृष्टि में, नही थी। यह सम्भावना भी असङ्गत न होगी कि 'वृत्ति' की रचना शङ्कर मिश्र से बहुत पहले नहीं हुई थी।

१. दर्शनशास्त्र में प्राचीन तथा नवीन शब्द का कोई व्यवस्थित अर्थ नहीं है। यद्यपि 'तत्त्वचिन्तामणि' में प्राचीन मत के रूप में उद्धृत मङ्गलविषयक मत को मीमांसकों का मत माना जाता है (और 'किरणावली' में भी प्राचीन मत का ही अनुवाद है) तथापि मङ्गल के फल के विषय में उभयविध मत अत्यन्त प्राचीन हैं। ई० पू० प्रथम शतक के

गङ्गेशोपाध्याय द्वारा अपनी अक्षय्य कृति—'तत्त्वचिन्तामणि' में साटोप खण्डन तथा 'विघ्नध्वंस ही मङ्गल का मुख्य फल है' इस मत के सयुक्तिक व्यवस्थापन के बाद भी उपस्कारकार ने पुनः अपनी प्रौढ़ प्रतिभा से प्राचीन मत का ही समर्थन किया है।

'उपस्कार' वृत्तिकार के कुछ मतों के अवगम में तो सहायक है ही, साथ ही, कुछ प्रचीन ग्रन्थों की विषमताओं को सुलझाने में भी यह बहुत ही उपयोगी है। उदाहरणार्थं, हम 'पदार्थधर्मसंग्रह' की द्वित्वप्रक्रिया के उस प्रसङ्ग को ले सकते हैं जहाँ विरोध के दो स्वरूप—सहानवस्थान तथा वध्यघातक—बतलाए गए हैं। वर्त्तमान 'पदार्थधर्मसंग्रह' का स्वरूप ऐसा अस्पष्ट है कि साधारणतः पाठकों का चित्त विचलित होने लग जाता है। किन्तु 'उपस्कार' का यह कथन—'इयञ्च प्रक्रिया ज्ञानयोर्वध्यघातकपक्षे परमुपपद्यते, स एव च पक्षः प्रामाणिकः'[1] उपर्युक्त व्यामोह को सर्वथा निरस्त[2] कर देता है।

संशयप्रकरण (वै० सू० २।२।१७) में नैयायिकों के मत के निराकरण में भी उपस्कार-कार की सूक्ष्मेक्षिका स्पष्ट है।

उपर्युक्त कारणों से ही पण्डितमण्डली में 'पदार्थधर्मसंग्रह' के बाद महत्त्वपूर्ण स्थान 'उपस्कार' को ही प्राप्त है। वर्त्तमान समय में वै० सू० की अनेकानेक प्राचीन—'चन्द्रानन्द वृत्ति' तथा 'मिथिला विद्यापीठ वृत्ति' और अर्वाचीन—'वैदिक वृत्ति', 'विवृत्ति' (जयनारायण पञ्चानन) एवम् 'चन्द्रकान्त-भाष्य' आदि—व्याख्यासम्पत्ति के सुलभ होने पर भी 'उपस्कार' के महत्त्व में कोई अन्तर नहीं पड़ा है—यह तथ्य सुस्पष्ट है।

'उपस्कार' की टीका-सम्पत्ति

'उपस्कार' की जनप्रियता तथा प्रामाणिकता ने परवर्त्ती युग के मनीषियों को व्याख्या लिखने के लिए भी बाध्य कर दिया। किन्तु यह दुःखद अवश्य है कि लगभग ३०० वर्षों तक इस ग्रन्थ पर कोई व्याख्या नहीं लिखी गई।

सम्प्रति 'उपस्कार' की एक व्याख्या—'परिष्कार' महामहोपाध्याय पञ्चानन तर्करत्न की लेखनी से निकली हुई उपलब्ध है। इसका प्रकाशन कुछ दिन पूर्व कलकत्ते से हो चुका है।

दूसरी व्याख्या है पण्डितराज विश्वनाथ झा जी की, जिसकी हस्तलिपि व्याख्याकार के पौत्र पं० श्री रुद्रधर झा जी, रीडर, न्यायविभाग, का० हि० वि० वि० वाराणसी, के

महाकवि कालिदास के 'कुमारसम्भव' में यह मतद्वय स्पष्टरूप में उल्लिखित है :—

विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा ॥ (कुमारसम्भव—५।)

षष्ठ शतक के महावैयाकरण भर्तृहरि ने भी महाभाष्यटीका में समाप्ति को ही मङ्गल का फल माना है :—

'अगर्हिताभीष्टार्थसिद्धिर्मङ्गलम्' (महाभाष्यटीका, पृ.)

अतः निश्चित रूप में यह कहना कठिन है कि प्राचीन मत से किस आचार्य का मत विवक्षित है।

१. उपस्कार—७।२।८ ॥

२. इस प्रसङ्ग में विशेष स्पष्टता के लिए मेरी दूसरी कृति—वैशेषिकदर्शन : एक अध्ययन, पृ० ११४–११५ द्रष्टव्य है।

पास है। इस व्याख्या की उपलब्धि का सर्वाधिक श्रेय पं० श्री नन्दिनाथ मिश्र जी, हस्तलेख-विभाग, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी को है। पं० श्री विश्वनाथ झा जी मिथिला के दरभङ्गा जिले के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध 'ठाढ़ी' ग्राम के निवासी थे। इनकी अद्वितीय प्रतिभा पर केवल मिथिला को ही नहीं प्रत्युत समस्त भारत देश को उस समय भी गर्व था और आज भी है। इनके विशेष विवरण के लिए History of Navya-Nyaya in Mithila द्रष्टव्य है।

वर्त्तमान संस्करण

'उपस्कार' के कई संस्करण हो चुके हैं जिनमें बिब्लियोथिका इण्डिका संस्करण—१८६१, जीवानन्द विद्यासागर-संस्करण तथा हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला-संस्करण—१९२३ प्रमुख हैं। सम्प्रति उक्त सभी संस्करण अप्राप्य हैं। अत एव एक नवीन संस्करण की आवश्यकता हुई और उसी की पूर्त्ति के लिए यह संस्करण प्रस्तुत है। इस संस्करण की विशेषता है व्याख्यात्मक हिन्दी अनुवाद। काशी के प्रतिष्ठित विद्वान् स्व० पं० ढुण्ढिराज शास्त्री ने हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला सं० ३ के अन्तर्गत १९२३ ई० में प्रकाशित 'उपस्कार' में स्थल-विशेष में संस्कृत भाषा में एक बृहदाकार टिप्पणी जोड़ दी थी। किन्तु आजकल संस्कृत टिप्पणी का उपयोग अत्यल्प है। इसीलिए स्व० शास्त्री जी ने अपने जीवन के अन्तिम अंश में 'उपस्कार' का हिन्दी भाषा में व्याख्यात्मक अनुवाद किया था। यद्यपि इसके प्रकाशन के समय शास्त्री जी हम लोगों के बीच नहीं रहे तथापि उनका यशःशरीर (उनकी अन्यान्य कृतियों के साथ) इस अक्षय्य कीर्त्ति के माध्यम से हमारे समक्ष आज भी प्रस्तुत है और भविष्य में भी प्रस्तुत रहेगा।

'उपस्कार' के निगूढ आशय को समझने में यह अनुवाद अत्यन्त ही उपयोगी होगा। यद्यपि शास्त्री जी की भाषा पुराने ढंग की है और इसलिए आज के लोगों के लिए बहुत रुचिकर नहीं है तथापि दर्शनशास्त्र में भाषा से अधिक विषयवस्तु की महत्ता होती है। अतएव भाषा या शैली की प्राचीनता से इस अनुवाद की गरिमा को विनष्ट नहीं माना जा सकता है।

इस सानुवाद 'उपस्कार' के प्रकाशन के लिए हम चौखम्बा प्रकाशन के अध्यक्ष को भी धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकते, क्योंकि आज के युग में प्राचीन संस्कृत ग्रंथों का समयानुरूप प्रकाशन का भारवहन एक असाधारण कार्य है।

आशा है, देववाणी के समाराधक विद्वान् प्रस्तुत संस्करण की सारी त्रुटियों की उपेक्षा कर इसका स्वागत करेंगे और प्रकाशक को उत्तरोत्तर ऐसे उपयोगी ग्रंथों के संस्करण के लिए प्रोत्साहित भी करते रहेंगे।

संस्कृत-पालि-विभाग,
का० हि० वि० वि० वाराणसी,
अगहन शु० ७, १९६९ ई०

विनीत—
श्री नारायण मिश्र

भूमिका

प्रकाश्यते कणादस्य श्रीवैशेषिकदर्शनम् ।
'प्रशस्तपादभाष्येणोपस्कारेण च संयुतम् ॥ १ ॥

श्रीमान् कश्यपवंशेऽभून्मुनिर्योगविभूतिमान् ।
भक्षयित्वा धान्यकणांश्चक्रे यस्तप उत्तमम् ॥ २ ॥

तत एव हि काणाद इति ख्यातोऽभवद् भुवि ।
तस्याद्भुततपश्चर्यापरितुष्टो महेश्वरः ॥ ३ ॥

कृपयाऽखिलवस्तूनां ज्ञानदृष्टिं व्यधाच्छुभाम् ।
तेनैवाखिलमर्त्यानामुपकाराय निर्मितम् ॥ ४ ॥

दर्शनं कृत्स्नशास्त्रेषु प्रधानं युक्तिसंभृतम् ।
"योगाचारविभूत्या यस्तोषयित्वा महेश्वरम् ॥ ५ ॥

चक्रे वैशेषिकं शास्त्रं तस्मै कणभुजे नमः ॥"
इति प्रशस्तपादीयभाष्यान्तिमवचोबलात् ॥ ६ ॥

"कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत् ।
गौतमेन तथा न्यायं सांख्यन्तु कपिलेन वै" ॥ ७ ॥

इति पद्मपुराणीयवाक्यजातबलादपि ।
सूत्रकारस्योक्तमुनेः कस्मिंदेशे कदा ह्यभूत् ॥ ८ ॥

स्थितिरित्यधुनाऽशक्यं निर्णेतुं चर्मचक्षुषाम् ।
मिथिलायां कश्यपस्य गोत्रेऽभूदिति केचन ॥ ९ ॥

अस्यैवाभूदुलूकेति संज्ञाऽन्या कौतुकावहा ।
यतस्तद्दर्शनं प्रोक्तमौलूक्यापरसंज्ञया ॥ १० ॥

माधवेन स्वके ग्रन्थे सर्वदर्शनसङ्ग्रहे ।
विस्तृतानामनेकत्र सूत्राणामर्थसङ्ग्रहम् ॥ ११ ॥

कृत्वा प्रशस्तदेवस्तु व्यरचीद्भाष्यलक्षणम् ।
वैशेषिकपदार्थानां धर्मसङ्ग्रहनामकम् ॥ १२ ॥

निबन्धं सूत्रसमितं लोकानुग्रहकारकम् ।
कालाद्यनिर्णयेऽप्यस्य भाष्यकारस्य धीमतः ॥ १३ ॥

---

१. प्रशस्तपादभाष्यसहितं हिन्दीव्याख्योपेतं च वैशेषिकदर्शनस्य द्वितीयं संस्करणं संवत्सरेऽस्मिन् पृथक् प्रकाशितम् ।

परमर्षि[1]त्वमेवाहुर्वात्स्यायनमुनेरिव ।
कन्दल्यां श्रीधराचार्यैर्मुनिरित्यादिकीर्तनात् ॥ १४ ॥

मुक्तावल्यां विश्वनाथैराकरेति[2] च शंसनात् ।
सूत्रकारस्य समये भाष्यकारोऽप्यजायत ॥ १५ ॥

इत्याहुः केचन ततोऽप्यस्य प्राचीनता ध्रुवम् ।
व्याख्याश्चोदयनादीनामाचार्याणामनेकशः ॥ १६ ॥

साक्षात्परम्पराप्राप्ताः सन्ति भाष्यस्य मुद्रिताः ।
सूत्राणां त्वधुनाप्येका लभ्यते शङ्करोदिता ॥ १७ ॥

राजकीयपरीक्षासु स्थापितोपस्कराह्वया ।
भारद्वाजकृताप्यन्या वृत्तिः, सा नोपलभ्यते ॥ १८ ॥

स चोपस्कारकृत कस्मिन्देशे काले ह्यभूदिति ।
विचार्यतेऽधुना युक्त्या पारम्पर्यक्रमेण वै ॥ १९ ॥

श्रीमान् श्रीश्रीधराचार्यः कन्दलीं व्यदधान्मुदा ।
गजाम्बुधिखभूवर्षे किरणावलिमाश्रयन् ॥ २० ॥

कन्दलीकारतः पश्चान्मिश्रोपाधिस्तु शङ्करः ।
विदुषामग्रणीर्न्यायशास्त्रपारङ्गतः सुधीः ॥ २१ ॥

विक्रमस्य चतुर्दश्यां शताब्द्यामास इत्ययम् ।
निर्णयो वङ्गविदुषां तत्र शास्त्रार्थसङ्ग्रहः ॥ २२ ॥

कथ्यते साम्प्रतं तावत् प्रेक्षावत्कौतुकप्रदः ।
उच्चावचानां लोकेषु प्रथितानामनेकशः ॥ २३ ॥

पदार्थानान्तु कार्त्स्न्येनावगतिर्दुर्लभा भुवि ।
ततस्तान् क्रमशो बद्ध्वा ज्ञानसौकर्यहेतवे ॥ २४ ॥

दर्शयामास शास्त्रेऽस्मिन् मत्युत्कर्षबलान्मुनिः ।
शुक्लादिभेदभिन्नानां घटादीनां घटत्वतः ॥ २५ ॥

यथा ज्ञानं हि सुलभं तथा सर्वत्र बुध्यताम् ।
पदार्थतत्त्वज्ञानं वै[1] मननादिक्रमेण हि ॥ २६ ॥

---

१. प्रशस्तस्य ऋषित्वं प्रवररत्नग्रन्थे आंगिरसगणे गौतमवर्गे पठित्वादपि बोध्यम् ।

२. तद्ग्रन्थस्येति शेषः । तस्य चतुर्थी विधा प्राणादिरित्युक्तमाकरे इति विश्वनाथभट्टाचार्याः । आकरे भाष्ये इत्यर्थः ।

शास्त्रेऽत्राङ्गीकृतं निःश्रेयसहेतुकरं परम् ।
द्रव्यं गुणाश्च कर्माणि तथा जातिविशेषकौ ॥ २७ ॥

समवाय इतीमे षट् पदार्था भावसंज्ञिताः ।
अभावः सप्तमोऽप्यस्य मुनेः सम्मतिमाश्रितः ॥ २८ ॥
प्रतियोगिकथाधीननिरूपणतया त्वसौ ।
साक्षान्नोक्तो न तुच्छत्वादित्याचार्यमतन्तथा ॥ २९ ॥

क्रियागुणेत्यादिसूत्रैर्नवामाद्याह्निकस्थितैः ।
इत्थं राद्धान्तितं श्रीमच्छिरोमणिमहाशयैः ॥ ३० ॥

कैलासचन्द्रैर्गुरुभिर्भाष्यालोचनतत्परैः ।
शक्तिसादृश्यसंख्यादिपराभिमतवस्तुषु ॥ ३१ ॥

एतेषां लक्षणायोगो व्यवच्छेद्यो मुनेर्मते ।
गौतमोक्तप्रमाणादिपदार्थानाञ्च सप्तसु ॥ ३२ ॥

अन्तर्भावस्तथा लोकप्रसिद्धानां समन्ततः ।
तत्र क्रियागुणाधारं द्रव्यं नवविधं स्मृतम् ॥ ३३ ॥
क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमकालदिग्देहिनो मनः ।
क्षितिर्गन्धवती या स्यात् गन्धस्त्वन्यत्र तद्गतः ॥३४॥

शुक्लरूपं च माधुर्यं समवेतं जले ननु ।
आश्रयोपाधिकं नीलरूपं स्याद्यमुनाजले ॥ ३५ ॥

आम्लादिजम्बीररसोऽप्येवं स्यादिति तद्विदः ।
उष्णस्पर्शाश्रयं द्रव्यं तेजो भास्वररूपवत् ॥ ३६ ॥
जलस्पर्शेनाभिभवान्नेन्द्वंशुस्पर्शप्रत्ययः[१] ।
अपाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शस्तु पवने मतः ॥ ३७ ॥

आकाशं शब्दहेतुः स्यात्कालो [१]ज्येष्ठादिधीकरः ।
परस्मिन्परमन्यस्मिन्न परं युगपच्चिरम् ॥३८॥
क्षिप्रमेतादृशी बुद्धिः काललिङ्गमिति स्मृतम् ।
सर्वोत्पत्तिमतामेष निमित्तमिति कथ्यते ॥ ३९ ॥

[२]इदमस्मादितीयं धीर्दिश्यं लिङ्गमिहेष्यते ।
संयोगोपनयायैव तदेषा सिद्धिमेष्यति ॥ ४० ॥

---

१. मननं युक्तिरनुमानप्रयोग इत्यर्थः । अस्मिन्नेव शास्त्रे तस्य मुख्यतया प्रतिपादितत्वात् ।   २. ग्रहः ।

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम् ।
इन्द्रियार्थप्रसिद्धिस्तु गुणत्वात्क्वचिदाश्रिता ॥ ४१ ॥

रूपवच्चेत्यनुमितौ द्रव्यं यन्नवमं पुनः ।
प्रसिध्यति तदेवात्रात्मशब्देनोपपादितम् ॥ ४२ ॥

आत्मेन्द्रियार्थसम्बन्धाज्ज्ञानमुत्पद्यते तु यत् ।
तदन्तःकरणा[3]दन्यत् अन्यच्चानपदेशतः ॥ ४३ ॥

ज्ञानवत्सुखदुःखेच्छाद्वेषयत्नाः पृथक्पृथक् ।
आत्मनो लिङ्गतां यान्ति मनसोऽपि गतिस्तथा ॥४४॥

शरीरादि न चात्मा स्यान्मृतादिव्यभिचारतः ।
चक्षुः श्रोत्रादिकरणं सकर्तृकमपेक्ष्यते ॥ ४५ ॥

वास्यादिवदिति व्याप्त्या तदधिष्ठातृतात्मनि ।
एवं प्राणादिभिर्लिङ्गैर्मनसः प्रेरणाच्च वै ॥ ४६ ॥

अभिप्रेतेषु विषयेष्वतिरिक्तः स देहतः ।
इन्द्रियेभ्यश्चेति सिद्धं न्यायवैशेषिके मते ॥ ४७ ॥

वन्धमोक्षादिव्यवस्थाहेतोर्नानात्वमीरितम् ।
सोऽयमात्माऽनादिमिथ्याज्ञानवासनयाऽवशः ॥ ४८ ॥

देहादीन् स्वात्मरूपांश्च मत्वा रागादिवृत्तिभिः ।
दुःखसंघातानुभवं कुर्वन् संसरति स्फुटम् ॥ ४९ ॥

वैशेषिकपदार्थानां तत्त्वज्ञानं यदा भवेत् ।
तेन मिथ्याज्ञाननाशे रागद्वेषाद्यभावतः ॥ ५० ॥

प्रवृत्त्यपाये तु जन्मापाय ईशानुकम्पया ।
जन्मापाये दुःखनाश आत्यन्तिक इतीदृशः ॥ ५१ ॥

निःश्रेयसपदार्थस्तु शास्त्रादस्माच्च नान्यतः ।
अतोऽस्य दर्शनस्याहुरारम्भ इति तार्किकाः ॥ ५२ ॥

आत्मेन्द्रियार्थसम्बन्धे भावाभावो मतेर्मतम् ।
मनोलिङ्गं यौगपद्याभिमानो भ्रान्त इष्यते ॥ ५३ ॥

---

१. तथा च ज्येष्टादिसूर्यक्रियाघटकसम्बन्ध एव काल इत्यर्थः ।

२. इदमस्मात्पूर्वमिदमस्माद्दक्षिणमित्यादिवुद्धिरित्यर्थः । संयोगेति । तथा चासमवायिकारणसंयोगाश्रयतया कालवद्दिग्सिद्धिरित्यर्थः ।

३. सांख्यव्यावृत्तिरनेन वोध्या ।

सुखादिप्रत्यये हेतुरणुत्वाद् युगपन्न हि।
अनेकैरिन्द्रियैर्बद्धं मनस्तस्मान्न चैकदा ॥ ५४ ॥

अनेकेषाञ्च ज्ञानानां सम्भवोऽस्ति कदाचन।
अन्धकारस्तु न द्रव्यं तेजोऽभावः स ईरितः ॥ ५५ ॥

आरोपितं रूपमिति कन्दलीकारसंमतम्।
द्रव्याश्रयी चागुणवानित्येतद्गुणलक्षणम् ॥ ५६ ॥

रूपं रसस्तथा गन्धः स्पर्शः संख्या तथैव च।
परिमाणपृथक्त्वे तु संयोगश्च विभागकः ॥ ५७ ॥

परत्वमपरत्वञ्च बुद्धयः सुखमेव च।
दुःखमिच्छा द्वेषयत्नौ मुनिकण्ठाद्विनिर्गताः ॥ ५८ ॥

चशब्देन गुरुत्वञ्च द्रवत्वं स्नेह एव च।
संस्कारश्च तथा धर्माधर्मौ शब्दः समुच्चिताः॥ ५९ ॥

प्रसिद्धगुणभावत्वादेते नोक्तास्तु कण्ठतः।
चक्षुर्मात्रग्राह्यगुणो रूपं नीलादिभेदतः ॥ ६० ॥

भवेत्सप्तविधं तत्र चित्रं नव्यैर्न मन्यते।
रसनेन्द्रियग्राह्यस्तु गुणः स्याद्रससञ्ज्ञकः ॥ ६१ ॥

मधुराम्लादिभेदेन षड्विधः परिकीर्तितः।
घ्राणग्राह्यो भवेद्गन्धोऽसुरभिः सुरभिर्द्विधा ॥ ६२ ॥

त्वगिन्द्रियग्राह्यगुणः स्पर्शः शीतादिभेदतः।
त्रिविधस्तत्र रूपं स्याच्चाक्षुषे सहकारि तु ॥ ६३ ॥

रसनादौ रसादीनामेवं हेतुत्वमिष्यताम्।
एतेषां पाकजत्वन्तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित् ॥ ६४ ॥

पच्यन्ते वह्निसंयोगात्स्वतन्त्राः परमाणवः।
पीलुपाकमते, नैवावयविष्वस्ति मध्यगः ॥ ६५ ॥

दुर्घटस्तन्न मन्यन्ते इतरेऽक्षपदानुगाः।
गणनाव्यवहारस्य हेतुः संख्याऽभिधीयते ॥ ६६ ॥

सा चैकादिपरार्धान्ता नित्याऽनित्या च संमता।
मानव्यवहृतौ हेतुः परिमाणं प्रचक्षते ॥ ६७ ॥

चतुर्धाऽणु महद्दीर्घं ह्रस्वञ्चेति प्रकीर्तितम्।
अस्मात्पृथगिदं नेति वैजात्यात्प्रत्ययस्य हि ॥ ६८ ॥

पृथक्त्वमेव तद्धेतुर्भेदनोऽपि विभिद्यते ।
अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगस्त्रिविधः स्मृतः ॥ ६९ ॥

श्येनशैलौ यथा तेषु प्रथमस्त्वेककर्मजः ।
भवेद्द्वितीय उभयकर्मजो मेषयोरिव ॥ ७० ॥

अङ्गुलीतरुसंयोगात् संयोगस्तरुहस्तयोः ।
तृतीयस्तत्प्रतिद्वन्द्वी विभागोऽपि गुणान्तरम् ॥ ७१ ॥

इदं विभजते तस्मादित्येव हि प्रतीयते ।
संयोगाभावतो नास्य चरितार्थत्वसंभवः ॥ ७२ ॥

संयोगवदमुष्यापि त्रैविध्यं स्वयमूह्यताम् ।
विभागजविभागस्तु द्विविधः परिकीर्तितः ॥ ७३ ॥

हेतुमात्रविभागोत्थो हेत्वहेतुविभागजः ।
दैशिकं कालिकञ्चेति परत्वं द्विविधं मतम् ॥ ७४ ॥

तद्वदेवापरत्वं स्याद्, बुद्धिः साम्प्रतमुच्यते ।
कृत्स्नव्यवहृतेर्हेतुस्सा तावद्द्विविधा स्मृता ॥ ७५ ॥

संशयो निश्चयश्चेति कोटिद्वयकषन्तु यत् ।
अनिर्णयात्मकं स्थाणुः पुरुषो वेति जायते ॥ ७६ ॥

साधारणादिधर्माणां दर्शनात्संशयस्य तु ।
तद्विरुद्धो निर्णयः स्याज्ज्ञानं निर्धारणं परम् ॥ ७७ ॥

पुनः सा द्विविधा प्रोक्ता प्रमाप्रमेति भेदतः ।
यथार्थानुभवो यस्तु प्रमा सा द्विविधा भवेत् ॥७८॥

प्रत्यक्षमप्यनुमितिरिन्द्रियेभ्यश्च यद्भवेत् ।
तत्प्रत्यक्षं षड्विधं स्याच्चाक्षुषादिप्रभेदतः ॥ ७९ ॥

व्याप्तिज्ञानात्साहचर्यनियमाख्यात्तु यद्भवेत् ।
ज्ञानं सानुमितिः स्वार्था परार्थेति च भेदतः ॥ ८० ॥

द्विविधाऽन्त्या तु जायेत पञ्चावयवयोगतः ।
तत्र लिङ्गं तु त्रिविधमन्वयव्यतिरेकतः ॥ ८१ ॥

तदाभासः पञ्चविधो व्यभिचारादिभेदतः ।
निर्णयस्य प्रमाणत्वं खण्डितं तार्किकैः खलु ॥ ८२ ॥

शब्दादीनां प्रमाणानामन्तर्भावोऽनयोर्भवेत् ।
वैशेषिकमतेऽस्यास्तु भिन्ना स्यादप्रमा द्विधा ॥ ८३ ॥

विपर्ययः संशयश्च, पूर्वं प्रोक्तस्तु संशयः ।
मिथ्याज्ञानं विपर्यासः स एव स्याद्विपर्ययः ॥ ८४ ॥
यथा शंखः पीत इति भूयो बुद्धिर्विभज्यते ।
अनुभूतिः स्मृतिश्चेति तत्रानुभव ईरितः ॥ ८५ ॥
संस्कारजन्यं ज्ञानन्तु स्मृतिधीः संप्रकीर्तिता ।
भाष्यकारमते बुद्धिर्विद्याविद्येति वै द्विधा ॥ ८६ ॥
विद्या चतुर्धा प्रत्यक्षलैङ्गिके स्मृतिरार्षजा ।
प्रत्यक्षलैङ्गिके प्रोक्ते स्मृतिश्चोक्तानुभूतिवत् ॥ ८७ ॥
लिङ्गादिदर्शनाज्जाता शेषानुव्यवसायकृत् ।
आर्षन्त्वाम्नायकर्तॄणां ज्ञानं त्रैकालिकं हि यत् ॥ ८८ ॥
अविद्यैवं चतुर्धा तु संशयादिप्रभेदतः ।
आलोचनात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षेऽनुमितौ तथा ॥ ८९ ॥
स्यादनध्यवसायस्तु स्वप्नज्ञानं तु लोकवत् ।
त्रिविधं तत्र कथितः संशयश्च विपर्ययः ॥ ९० ॥
इति बुद्धिप्रपञ्चोऽयं न्यायशास्त्रे सुविस्तृतः ।
अनुकूलतया वेद्यं सुखमात्मनि जायते ॥ ९१ ॥
प्रतिकूलतया दुःखं धर्माधर्मादिहेतुकम् ।
इच्छाद्वेषावात्मगुणावात्मानुभवगोचरौ ॥ ९२ ॥
फलोपायप्रभेदेन सा त्विच्छा द्विविधा भवेत् ।
प्रवृत्तेर्हेतुरिच्छा स्यान्निवृत्तेर्द्वेष उच्यते ॥ ९३ ॥
प्रयत्नस्त्रिविधः प्रोक्तो न्यायशास्त्रविशारदैः ।
प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम् ॥ ९४ ॥
श्वासप्रश्वासहेतुः स्याद्यत्नो जीवनहेतुकः ।
गुरुत्वमाद्यपतनक्रियाहेतुर्गुणः स्मृतः ॥ ९५ ॥
तथाऽऽद्यस्यन्दने हेतुर्द्रवत्वमपि कीर्तितम् ।
चूर्णादिपिण्डीकरणहेतुः स्नेह उदाहृतः ॥ ९६ ॥
वेगश्च भावना चापि स्थितिस्थापक एव च ।
संस्कारस्त्रिविधः प्रोक्तः तत्राद्यो नोदनाच्छरे ॥ ९७ ॥
स्मृतिहेतुर्भावनाख्यः संस्कारश्च द्वितीयकः ।
पूर्वावस्थापादको यः स स्थितिस्थापको यथा ॥ ९८ ॥

आकृष्टद्रुमशाखादिपरित्यागे प्रदृश्यते ।
सुखस्य कारणं धर्मो जन्यते शुभकर्मभिः ॥ ९९ ॥

अन्यथा चिरनष्टेभ्यः कथं तेभ्यः फलोदयः ।
अधर्मो दुःखहेतुः स्यादसौ निन्दितकर्मजः ॥ १०० ॥

अदृष्टशब्दितावेतौ न्यायशास्त्रे प्रकीर्तितौ ।
श्रोत्रेण गृह्यते योऽर्थः स शब्दो द्विविधः स्मृतः ॥ १०१ ॥

ध्वनिवर्णविभेदेन मृदङ्गादिभवो ध्वनिः ।
कण्ठाद्यन्योन्याभिघाताज्जातो वर्ण इतीष्यते ॥ १०२ ॥

एकद्रव्यं निर्गुणं च यत्संयोगविभागयोः ।
अनपेक्षनिमित्तं तत्कर्म तत्कर्मलक्षणम् ॥ १०३ ॥

उत्क्षेपणादिभेदेन तत्स्यात्पञ्चविधं यथा ।
ऊर्ध्वसंयोगफलकं कर्मोत्क्षेपणमुच्यते ॥ १०४ ॥

विपरीतमवक्षेपस्तद्द्वयं मुसलादिषु ।
सत्यारम्भकसंयोगेऽप्यन्यसंयोगकारणम् ॥ १०५ ॥

अङ्गकौटिल्यजनकं कर्माकुञ्चनमीरितम् ।
एवमाकुञ्चिताङ्गानां यत्कर्मोत्पद्यते पुनः ॥ १०६ ॥

अनारम्भकसंयोगनाशकं तत्प्रसारणम् ।
एतच्चतुष्टयादन्यत् यत्किञ्चित्कर्म जायते ॥ १०७ ॥

तत्सर्वं गमनं प्राहुर्भ्रमणाद्येवमूह्यताम् ।
अनेकसमवेतं यन्नित्यं सा जातिरुच्यते ॥ १०८ ॥

अनुवृत्तित्वबुद्धिस्तु प्रमाणं तत्र कीर्तितम् ।
परापरादिभेदेन द्विविधा सा प्रकीर्तिता ॥ १०९ ॥

एकस्मिन्नेव सत्तावद्भिन्नो यः समवैति सः ।
विशेषः प्रोच्यते सोऽयं नानाविध इतीष्यते ॥ ११० ॥

सर्वेषां ह्यणुकान्तानां तत्तदङ्गविभेदतः ।
भेदोऽसौ परमाणूनां विशेषादेव केवलम् ॥ १११ ॥

व्यावृत्तबुद्धिस्तत्र स्यात्प्रमाणमिति तद्विदः ।
यस्मादयुतसिद्धानामिहेदमिति धीर्भवेत् ॥ ११२ ॥

आधार्याधारभूतानां समवायस्स ईरितः ।
अभावो भावभिन्नः स्यात्स चतुर्विध उच्यते ॥ ११३ ॥

प्रागभावस्तथा ध्वंसोप्यत्यन्ताभाव एव च ।
अन्योन्याभाव इत्येवं कार्योत्पत्तेः पुरस्त्विदम् ॥ ११४ ॥

कार्यं भविष्यतीत्येवं प्रत्यक्षं सार्वलौकिकम् ।
स चायं प्रागभावः स्वप्रतियोगिनि कारणम् ॥ ११५ ॥

उत्पन्नपुनरुत्पत्तिर्वार्यतां कथमन्यथा ।
विनाशकस्य दण्डादेर्व्यापारादप्यनन्तरम् ॥ ११६ ॥

पूर्वं सदप्यसत्कार्यं ध्वंसः सोऽयं प्रगीयते ।
ध्वस्तो घटः पटो नष्टः श्रुतपूर्वो न विद्यते ॥ ११७ ॥

गकार इत्येवमादि स्फुटं प्रत्यक्षमीक्ष्यते ।
त्रैकालिको योऽभावस्तु सोऽत्यन्ताभाव इष्यते ॥११८॥

नास्तीत्येवं प्रतीत्या यत्प्रत्यक्षमुपजायते ।
सदप्यसद्भवेत्सोऽयमन्योन्याभाव उच्यते ॥ ११९ ॥

अयं तदात्मनाऽभावो नास्ति कुम्भः पटात्मना ।
अघटो गौरगौरश्च इत्यादि प्रत्ययाद्ध्रुवम् ॥ १२० ॥

सिद्ध्यतीति, पदार्थानां संग्रहोऽयमुदीरितः ।
सङ्क्षेपतो गौतमोक्तसूत्राणां प्रतिभाकरः ॥ १२१ ॥

तत्र वैशेषिके शास्त्रे प्रशस्तेन कृतं शुभम् ।
भाष्यं श्रीशङ्करकृत उपस्कारश्च वै चिरात् ॥ १२२ ॥

राजकीयपरीक्षासु स्थापितः किन्तु दुर्लभौ ।
कन्दल्यादिसमेतस्य भाष्यस्य बहुमूल्यतः ॥ १२३ ॥

उपस्कारस्यापि ततः काशीस्थेन सुधीमता ।
चौखम्बासंस्कृतग्रन्थश्रेण्याः सम्पादकेन हि ॥ १२४ ॥

श्रेष्ठिवंशावतंसेन हरिदासात्मजेन वै ।
श्रीजयकृष्णदासेन विदुषामुपकारिणा ॥ १२५ ॥

प्रोत्साहितोऽहं व्यदधां भाष्योपस्कारयोरिमाम् ।
टीकां विवरणाख्यान्तु कन्दल्यादिसमाश्रयात् ॥ १२६ ॥

विषमस्थलमात्रेषु मूलसाहाय्यकारिणीम् ।
श्रीमद्भट्टाचार्यगुरोर्न्यायतत्त्वविवेदिनः ॥ १२७ ॥

न्यायाचार्यस्य कृपया शास्त्रिणामप्यनुग्रहात् ।
अन्यथा क्व च तच्छास्त्रं क्व मेऽल्पविषया मतिः ॥ १२८ ॥

तथापि मे साहसमिदं क्षमिष्यन्ते विचक्षणाः ।
हित्वेर्ष्यां दयया चैनां करिष्यन्त्यात्मसाद्ध्रुवम् ॥ १२९ ॥

ये केचिदत्र दोषाः स्युः सूचयिष्यन्ति माम्प्रति ।
येन स्यामनुकम्प्योहं श्रीमतां विदुषां सदा ॥ १३० ॥

छात्राणामुपकारोलं भविता बहुधा खलु ।
एकत्र भाष्यसूत्राणां सम्बन्धस्य प्रदर्शनात् ॥ १३१ ॥

सूत्रपाठस्य चान्यत्राङ्कसंख्यापरिदर्शनात् ।
मुद्रणेऽस्मिन्समावेशाद्भाष्योपस्कारयोरपि ॥ १३२ ॥

अल्पमूल्येन लभ्यत्वात्सुलभोऽयं भविष्यति ।
सङ्ग्राह्योयमतः सर्वैरन्ते च कुसुमाञ्जलिः ॥ १३३ ॥

नाथान्त्यबटुकाह्वस्य पितुः पादाम्बुजन्मनोः ।
अर्पितोऽयं सविनयं ढुण्ढिराजेन शास्त्रिणा ॥ १३४ ॥

वाराणसी
ई० १९२३

—ढुण्ढिराज शास्त्री

विषयसूची

प्रथमाध्याय का प्रथम आह्निक

प्रथमाध्याय का द्वितीय आह्निक

द्वितीयाध्याय का प्रथम आह्निक

द्वितीयाध्याय का द्वितीय आह्निक

तृतीयाध्याय का प्रथम आह्निक

तृतीयाध्याय का द्वितीय आह्निक

चतुर्थाध्याय का प्रथम आह्निक

चतुर्थाध्याय का द्वितीय आह्निक

पञ्चमाध्याय का प्रथम आह्निक

पञ्चमाध्याय का द्वितीय आह्निक

षष्ठाध्याय का प्रथम आह्निक

षष्ठाध्याय का द्वितीय आह्निक

सप्तमाध्याय का प्रथम आह्निक

सप्तमाध्याय का द्वितीय आह्निक

अष्टमाध्याय का प्रथम आह्निक

अष्टमाध्याय का द्वितीय आह्निक

नवमाध्याय का प्रथम आह्निक

नवमाध्याय का द्वितीय आह्निक

दशमाध्याय का प्रथम आह्निक

वैशेषिकसूत्रोपस्कारः

'प्रकाशिका' हिन्दीव्याख्योपेतः

प्रथमाध्याये प्रथमाह्निकम्

ऊर्ध्वबद्धजटाजूटक्रोडक्रीडत्सुरापगम् ।
नमामि यामिनीकान्तकान्तभालस्थलं हरम् ॥ १ ॥
याभ्यां वैशेषिके तन्त्रे सम्यग् व्युत्पादितोऽस्म्यहम् ।
कणादभवनाथाभ्यां ताभ्यां मम नमः सदा ॥ २ ॥
सूत्रमात्रावलम्बेन निरालम्बेऽपि गच्छतः ।
खे खेलवन्ममाप्यत्र साहसं सिद्धिमेष्यति ॥ ३ ॥

तापत्रयपराहता विवेकिनस्तापत्रयनिवृत्तिनिदानमनुसन्दधाना नाना-

॥ श्रीरुक्मिणीपाण्डुरङ्गाभ्यां नमः ॥

कणाद महर्षि प्रणीत वैशेषिकदर्शनसूत्रों की प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों के मत के अनुसार उपस्कार नामक व्याख्या का आरंभ करते हुए शिष्टाचार परंपरा से प्राप्त शिवनमस्काररूप मंगलाचरण विद्वत्प्रकाण्ड नैयायिक शङ्करमिश्र इस प्रकार करते हैं कि 'जिन शिवजी के मस्तक पर ऊँचे बंधे हुए जटासमूह के मध्य में श्रीगंगाजी क्रीड़ा कर रही हैं, तथा रात्रि के स्वामी चन्द्रमा से जिनका भाल-स्थल अलंकृत है ऐसे शिवजी को मैं प्रणाम करता हूँ' ॥ १ ॥

इस प्रकार देवतानमस्काररूप मङ्गलाचरण करने के पश्चात् जिन गुरुओं के अनुग्रह से वैशेषिकदर्शन का रहस्य ज्ञात हुआ उन गुरुओं को भी प्रणामरूप मंगलाचरण करते हुए शङ्करमिश्र कहते हैं कि 'जिन कणादमहर्षि तथा भवनाथ गुरु ने मुझे वैशेषिकदर्शन में अच्छी तरह बोध कराया उन दोनों गुरुओं को मेरा सदा प्रणाम है' ॥ २ ॥

इस प्रकार उपस्कार ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति होने के लिये देवता तथा गुरु-प्रणामरूप मंगलाचरण करने के पश्चात्, 'उपस्कार व्याख्या रचनारूप कार्य यद्यपि केवल सूत्र के आधार पर अर्थात् सूत्रों को छोड़कर किसी दूसरी प्राचीन सूत्र-व्याख्या का आश्रय न करने के कारण आकाश में बिना आधार के खेल (क्रीडा) के समान मैं संपूर्ण प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों के मतों का संग्रह करनेवाली उपस्कार नामक व्याख्या कर रहा हूँ। यह मेरा साहस उन परमात्मा तथा गुरुओं की कृपा से अवश्य सिद्ध होगा' इस तृतीय पद्य में शङ्करमिश्र ने और व्याख्याकारों के समान मैं उच्छिष्टभोजी नहीं हूँ, यह प्रगट किया है ॥ ३ ॥

इस प्रकार मंगलाचरण तथा अपने व्याख्याग्रन्थ की विशेषता को वर्णन रकने के पश्चात् प्रथम सूत्र की भूमिका (प्रसंगसंगति) का वर्णन करते हुए

श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेष्वात्मतत्त्वसाक्षात्कारमेव तदुपायमाकलयाम्बभूवुः। तत्प्राप्तिहेतुमपि पन्थानं जिज्ञासमानाः परमकारुणिकं कणादं मुनिमुपसेदुरथ कणादो मुनिस्तत्त्वज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः षण्णां पदार्थानां साधर्म्य-

---

शंकरमिश्र कहते हैं कि 'इस संसार में आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक ऐसे तीन प्रकार के दुःखों से पीडित बुद्धिमान ज्ञानी प्राणी जब उक्त दुःखत्रय के आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक निवृत्ति के उपाय का अनुसंधान करते हुए नाना प्रकार के श्रुति, स्मृति, इतिहास तथा पुराण ग्रन्थों को अध्ययन कर उनके रहस्य का ज्ञान प्राप्त करते हैं तब उन्हें यह निश्चय होता है कि आत्मारूप मुख्य पदार्थ के साक्षात्कार से ही ऐकान्तिक, आत्यन्तिक दुःखत्रयनिवृत्ति हो सकती है, दूसरे उपायों (प्रत्यक्ष अथवा अदृष्टसाधक) से नहीं हो सकती। अतः आत्मतत्त्व का साक्षात्कार ही तापत्रय का निवर्तक उपाय है, ऐसा जानकर उसकी प्राप्ति के मार्ग की जिज्ञासा से अनेक बुद्धिमान प्राणी, परमदयालु, कण-कण बटोर कर भोजन निर्वाह करने के कारण कणाद नाम से प्रसिद्ध महर्षि के समीप उपस्थित हुए। अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक ऐसे तीन प्रकार के दुःख हैं, जिनमें प्रथम दुःख वह है जो आत्मा तथा शरीर के संबंध से होता है, जिनमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद तथा प्रियपदार्थ का अदर्शन आत्मसंबंधी, और वात, पित्त, कफ इन तीनों के प्रकोप से उत्पन्न व्याधियों से उत्पन्न दुःख शरीरसम्बन्धी है। द्वितीय दुःख चोट, व्याघ्र इत्यादि हिंसक जीवों से उत्पन्न भूत (प्राणियों) के सम्बन्ध से उत्पन्न होने के कारण आधिभौतिक कहा जाता है तथा तीसरा दुःख अग्नि, पर्जन्य इत्यादि देवताप्रयुक्त दाह, शीत इत्यादि से तथा यक्ष, राक्षस, विनायक, शनि आदि ग्रहों से उत्पन्न होने के कारण आधिदैविक कहा जाता है। यद्यपि मनोहर स्त्री, माला, सुस्वादु भोजन इत्यादि प्रियवस्तु भोगरूप प्रत्यक्ष उपाय से मानस तथा रसायनादि ओषधियों के सेवन से शारीरिक दुःख निवृत्त होते हैं, तथा नीतिशास्त्र का अध्ययन, निर्बाधस्थल में निवास इत्यादिकों से आधिभौतिक एवं मणि, मन्त्र, ओषधि आदिकों से आधिदैविक दुःख की भी प्रत्यक्ष उपायों से निवृत्ति होती है, तथापि उक्त दृष्ट उपायों से उक्त दुःखत्रय अवश्य निवृत्त होते हैं तथा एक बार निवृत्त होने पर भी पुनः कालान्तर में उक्त दुःख नहीं होते ऐसा भी नियम न होने के कारण वह दुःखत्रय की निवृत्ति क्रम से ऐकान्तिक (अवश्य होनेवाली) अथच आत्यन्तिक (पुनः न होनेवाली) नहीं है, इसी कारण विवेकी पुरुषों को ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक दुःखत्रय निवृत्ति के उपाय का अनुसंधान करने के लिये श्रुति, स्मृति आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ता है। दृष्ट उपायों के समान वैदिक (वेदोक्त) कर्म यागादि कर्मरूप अदृष्ट स्वर्गसुखादिप्रापक कर्मों से भी आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक दुःखत्रय की निवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उनमें भी निवृत्तिमार्ग के विरोधी पशु

वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानमेवात्मतत्त्वसाक्षात्कारप्राप्तये परमः पन्था इति मनसि कृत्वा तच्च निवृत्तिलक्षणाद्धर्मादेतेषामनायासेन सेत्स्यतीति लक्षणतः स्वरूपतश्च धर्ममेव प्रथममुपदिशाम्यनन्तरं षडपि पदार्थानुद्देशलक्षणपरीक्षाभिरुपदेक्ष्यामीति हृदि निधाय तेषामवधानाय प्रतिजानीते—

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अथेति शिष्याकाङ्क्षानन्तर्यमाह। अत इति। यतः श्रवणादिपटवोऽनसूय-

---

हिंसादिरूप अशुद्धि, तथा 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इस अभियुक्तों की उक्ति के अनुसार यागादि कर्म से उत्पन्न पारलौकिक स्वर्गसुखादि भोग के अनन्तर नाश, तथा वैदिक कर्मों के स्वर्गादि रूप फलों में तरतमभाव (किसी कर्म से केवल स्वर्ग, किसी ज्योतिष्टोम यागादिकर्म से उससे अधिक पारलौकिक सुख) इस प्रकार के मूल वैषम्य के कारण ईर्ष्या आदि दोषों का संभव होने से भी वास्तविक पूर्वोक्त दुःखत्रय-निवृत्ति दृष्टफलक तथा अदृष्टफलक किसी कर्म से नहीं हो सकती, यह निश्चय कर जिज्ञासु शिष्यवर्गों ने शास्त्रों के अध्ययन से शास्त्र द्वारा आत्मतत्त्वज्ञान से ही आत्यन्तिक तथा ऐकान्तिक दुःख-निवृत्ति हो सकती है यह समझ कर महर्षि कणाद की शरण ली, यह यहाँ पर तात्पर्य है। आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि उनकी आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूप तापत्रय-निवर्तक उपाय की प्राप्ति का क्या मार्ग है, ऐसी प्रार्थना सुनकर तत्त्वज्ञान, वैराग्य तथा अणिमादि-ऐश्वर्यसंपन्न कणादमहर्षि ने द्रव्यगुण आदि षट्पदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्यरूप धर्मज्ञानद्वारा वास्तविक ज्ञानरूप तत्त्वज्ञान ही आत्मारूप मुख्य तत्त्व के साक्षात्कार—प्राप्ति का श्रेष्ठ मार्ग है यह मन में निश्चय कर, वह तत्त्वज्ञान निवृत्तिरूप धर्म से ही इन जिज्ञासु शिष्यों को अनायास सिद्ध हो जायगा, इस कारण धर्म ही के स्वरूप तथा लक्षण का मैं इन्हें उपदेश करता हूं, पश्चात् द्रव्यादि षट् पदार्थों का उद्देश तथा लक्षण और परीक्षा द्वारा उपदेश करूँगा, ऐसा विचार कर शिष्यों को सावधान होकर सुनने के लिये प्रतिज्ञा करते हुए प्रथम सूत्र का इस प्रकार वर्णन किया—

पद्पदार्थ—अथ = शिष्यजिज्ञासा के अनन्तर, अतः = शिष्यों के उपस्थित होने के कारण, धर्मं = धर्म की, व्याख्यास्यामः = व्याख्या करेंगे ॥

भावार्थ—शिष्यों की आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःखत्रय की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति के उपाय की जिज्ञासा से श्रवणादि करने में सावधान शिष्यों के उपस्थित होने के कारण हम धर्म ही की प्रथम व्याख्या करते हैं क्योंकि वही तत्त्वज्ञान द्वारा आत्मसाक्षात्कार से दुःखत्रय-निवर्तक श्रेष्ठमार्ग (उपाय) का मूल है ॥

उपस्कार—इस कणाद महर्षि के प्रथम सूत्र की शङ्करमिश्र इस प्रकार व्याख्या

काश्चान्तेवासिन उपसेदुरित्यर्थः। यद्वा अथशब्दो मङ्गलार्थः। तदुक्तम्—

"ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ" ॥ इति ॥

युक्तञ्चैतत्। कथमन्यथा सदाचारपरम्पराप्राप्तकर्तव्यताकस्य मङ्गलस्य वैशेषिकशास्त्रं प्रणयतो महामुनेरनाचरणं सम्भाव्यते। न च कृतमङ्गलस्यापि

करते हैं कि सूत्र में 'अथ' इस पद से शिष्यों की आकांक्षा (जिज्ञासा) अर्थ बोधित होता है। जिस कारण श्रवण-मननादि करने में समर्थ तथा असूयारहित शुद्धचित्त शिष्य उपस्थित हैं इस कारण ऐसा 'अत.' शब्द का अर्थ है। अथवा 'अथ' यह शब्द मङ्गलबोधक है। इसी कारण विद्वानों ने कहा है—'ओंङ्कार तथा अथ शब्द ये दोनों सृष्टि के उत्पत्ति समय में ब्रह्मा के कण्ठ को भेद कर निकले हैं। अत: ये दोनों मंगलफलक हैं। ऐसा। यही पक्ष संगत भी है, अन्यथा ग्रन्थ के आरम्भ में शिष्टों की सदाचार परम्परा से कर्त्तव्यताप्राप्त मङ्गलाचरण का अनुष्ठान वैशेपिक-दर्शन की रचना करने वाले महर्षि कणाद ऐसे विद्वान् न करें यह असम्भव है। अर्थात् शंकरमिश्र को मंगलार्थक अर्थ शब्द का प्रयोग करना यही पक्ष सम्मत है, किन्तु यहाँ पर यह विचारणीय है कि इस पक्ष में अथ शब्द मंगलवाचक है या नहीं ? प्रथम पक्ष में 'अथातो' इस पद में दूसरे पदों से अथ शब्द का अन्वय नहीं हो सकेगा, तथा ओंकार तथा अथ शब्द 'माङ्गलिक' अर्थात् मंगल के वाचक हैं यह कहा भी नहीं है, क्योंकि मङ्गल शब्द से स्वार्थमात्र में टिकन् प्रत्यय हुआ है न कि वाचकता अर्थ में। द्वितीय पक्ष में 'अथ' शब्द के अव्यय होने के कारण पद न होने से शास्त्र (सूत्र) में उसका प्रयोग न बन सकेगा। इस पर कुछ विद्वान् ऐसा कहते हैं कि 'यह अथ शब्द सूत्रग्रन्थातर्गत नहीं है किन्तु ग्रन्थकार ने शिष्टपरंपरा के अनुरोध से प्रारंभ में गलाचरण किया है। परन्तु अन्वयानुपपत्ति दोष का इस पक्ष में वारण होने पर अथ शब्द के मंगलरूपता के बोधक 'तेन मांगलिकावुभौ' इत्याकारक प्रमाण-ग्रंथ के असंगति दोष की निवृत्ति न होने के कारण यह पक्ष भी संगत नहीं है। अतः वास्तविक समाधान यही हो सकता है कि यह अथ शब्द दूसरे के लिए ले जाते हुए जलपूर्ण घट का दर्शन जिस प्रकार गृह से यात्रा के निमत्त प्रस्थित पुरुष के लिये मंगलसूचक होता है, उसी प्रकार आनन्तर्य अर्थ का वाचक होता हुआ भी अथ शब्द प्रयोगमात्र से मंगलाचरण रूप है। अतः कोई दोष नहीं हो सकता। मङ्गलाचरण करनेवाले बाणभट्ट आदि कादम्बरी ग्रन्थादिकर्ताओं को ग्रन्थसमाप्तिरूप फल न होने से (अन्वय-व्यभिचारदोष के कारण) तथा मङ्गलाचरण न करनेवाले नास्तिक-ग्रन्थकर्ताओं को समाप्तिरूप फल होने से (व्यतिरेक व्यभिचारदोष के कारण) आरम्भ में मंगलाचरण करना अनुचित्त है, क्योंकि प्रेक्षावान् प्राणिमात्र की फलरहित कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती, अतएव 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोपि न प्रवर्त्तते' अर्थात् विना प्रयोजन

फलादर्शनादकृतमङ्गलस्यापि फलदर्शनादननुष्ठानं न हि निष्फले प्रेक्षावान् प्रवर्तत इति वाच्यम् अकरणस्थले जन्मान्तरीयस्य करणस्थले चाङ्गवैगुण्यस्य कल्पनया सफलत्वनिश्चयात् । न हि शिष्टाचारानुमितश्रुतिबोधितकर्तव्यताकस्यापाततः फलादर्शनमात्रेणाकारणत्वशङ्कापि । न चैहिकमात्रफलकत्वान्न जन्मान्तरीयानुमानं पुत्रेष्टिवदैहिकफलकत्वानुपपत्तेः । कारीर्यादौ तु तथा

के मन्दबुद्धि प्राणी भी किसी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता ऐसी लोकप्रसिद्धि है— इस प्रकार आक्षेप मंगलाचरण के सिद्धान्त पर पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि नास्तिकग्रंथों में जहाँ मंगलाचरण नहीं है वहाँ समाप्तिरूप फल से जन्मान्तर में किये मंगलाचरण के, तथा कादम्बर्यादि ग्रन्थों में जहाँ मंगलाचरण है, अङ्गों में वैगुण्य (न्यूनता) की कल्पना (अनुमान[1]) से सफलता का निश्चय होने से पूर्वदर्शित अन्वय तथा व्यतिरेक व्यभिचाररूप दोनों दोष नहीं आ सकते। क्योंकि प्राचीनतम काल से ग्रंथारम्भ में मङ्गलाचरण करने के शिष्टाचार से अनुमान[2] किये 'समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्' अर्थात् ग्रन्थसमाप्ति की इच्छा करनेवाला मङ्गलाचरण करे— इस प्रकार वेदवाक्य से जिस मङ्गलाचरण की कर्त्तव्यता निश्चित है ऐसे मंगल का सामान्यरूप से कहीं फल न दिखाने से मंगल समाप्ति में कारण नहीं है, ऐसी शंका करना अनुचित है। मङ्गलाचरण इस जन्म के फल का ही कारण होने से नास्तिकग्रन्थों में जन्मान्तर में उसने मंगल किया ऐसा अनुमान नहीं हो सकता, ऐसी पूर्वपक्षी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि पुत्रफलदायक पुत्रेष्टियाग के समान मङ्गलाचरण केवल इस जन्म में ही फल देता है। यह नियम नहीं हो सकता। केवल धान्यादि समृद्धि के लिए किये जाने वाले कारीरी आदि नाम के याग ही इसी जन्म में धान्यादिप्राप्ति की कामना से

---

१. यह ग्रन्थसमाप्ति मङ्गल से उत्पन्न है, अन्तिमवर्णध्वंसरूप समाप्ति के प्रतियोगी चरम वर्ण के अनुकूल कृतिमत्ता सम्बन्ध से समाप्ति कारण होने से, शिष्टाचार से की हुई समाप्ति के समान इस मंगल के अकरणस्थल में, तथा कादम्बर्यादि मंगल करने के स्थल में यह मङ्गल अपने भिन्न कारणों की सामग्री से रहित है, समाप्ति को उत्पन्न करने की योग्यता रहते समाप्ति का जनक न होने से, अरण्य में रहनेवाले घटानुत्पादक दण्ड के समान, इस प्रकार के अनुमान की कल्पना से पूर्वोक्त अन्वय तथा व्यतिरेकव्यभिचार का वारण होने से, मंगल, सफल है, अनिंदित शिष्टों के आचार का विषय होने से, दर्शपूर्णमासादि इष्टि के समान, इस अनुमान से सफलता सिद्ध हो सकती है, यही यहाँ शंकरमिश्र का आशय है।

२. मंगल, वेद से बोधित समाप्ति की साधनता वाला है, समाप्ति के उद्देश से किये अवगति अविगीत शिष्टों के आचार का विषय होने से, जो जिसके उद्देश से शिष्टों सेकिया जाता है वह वेदबोधित उस कर्म का 'साधन' होता है जिस प्रकार दर्शपूर्णमास याग, इस प्रकार वेद के अनुमान का प्रकार है।

ामनयैवानुष्ठानादैहिकमात्रफलकत्वम् । अत्र च समाप्तिकामोऽधिकारी स्वर्ग-
ाम इव यागे तत्रापूर्वं द्वारमिह तु विघ्नध्वंस इति विशेषः निर्विघ्नमारब्धं
माप्यतामिति कामनया प्रवृत्तेः। न च विघ्नध्वंसमात्रं फलं समाप्तिस्तु स्वकारणादे-
ति वाच्यम्, तस्य स्वतोऽपुरुषार्थत्वात् समाप्तेस्तु सुखसाधनतया पुरुषार्थत्वात्
उपस्थितत्वाच्च। किञ्च दुरितध्वंसमात्रं न फलं तस्य प्रायश्चित्तकीर्तनकर्म्मनाशा-
पारगमनादिसाध्यतया व्यभिचारात्। प्रारब्धपरिसमाप्तिप्रतिबन्धकदुरि-
तध्वंसत्वेन फलत्वे समाप्तेरेव फलत्वोचितत्वात्। तत्रापि च हिरण्य-
दानप्रयागस्नानादिजन्यत्वेन व्यभिचारात् तेषामपि मङ्गलत्वाभिधानं
साहसम्। किञ्च मङ्गले सति समाप्तेरावश्यकत्वमित्येवं मङ्गलस्य कारणता।

किये जाने के कारण केवल इस जन्म के फल के देने वाले हैं यह हो सकता है।

इस मङ्गलाचरण में ग्रंथ की समाप्ति की इच्छा करनेवाला ग्रंथकार अधिकारी है, जिस प्रकार स्वर्ग की इच्छा करनेवाला यागादि कर्म में, कालान्तर में स्वर्गरूप फल देने वाला वहाँ 'अपूर्व' अदृष्ट नामक मध्य में व्यापार माना गया है, यहाँ कालान्तर में समाप्ति फल देनेवाला विघ्नध्वंस इतनी ही विशेषता है, क्योंकि विघ्न-ध्वंसपूर्वक यह आरम्भ किया ग्रंथ समाप्त हो इस कामना से ग्रन्थादिनिर्माण में प्रवृत्ति होती है।

'मङ्गलाचरण का फल विघ्नों का नाश होना ही है, समाप्ति तो अपनी बुद्धि, प्रतिभा इत्यादि कारण से ही होती हैं' ऐसा नव्यनैयायिकों के मत से नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह विघ्नध्वंस समाप्ति के इच्छा के अधीन इच्छा का विषय होने से स्वयंपुरुषार्थ नहीं है, अन्य की इच्छा के अधीन इच्छा का जो विषय नहीं होता वही स्वर्थ पुरुषार्थ कहा जाता है। ग्रंथ की समाप्ति तो, स्वयं सुख का साधन होने से तथा समाप्ति के उद्देश से ग्रन्थारम्भ में मङ्गलाचरण होने से समाप्ति ही उपस्थित भी है, अतः स्वयं पुरुषार्थ है। यदि नवीन मत से 'प्रारब्धकर्म में विघ्न न हों इस कामना से मङ्गलाचरण में प्रवृत्ति होने से समाप्ति कैसे उपस्थित हो सकती है' ऐसी शंका हो तो शङ्करमिश्र प्राचीन मत से नवीन मत पर दोष देते हैं कि केवल विघ्ननाश मङ्गल का फल हो नहीं सकता, क्योंकि प्रायश्चित्त से, किये पाप के कथन से, अथवा कर्मनाशा नदी के पार जाने से भी पापरूप विघ्नों का नाश होता है वह मंगलजन्य न होने के कारण व्यभिचार दोष आ जायगा। प्रायश्चित्तादिकों को मंगल मानना भी साहसमात्र है। क्योंकि सुवर्णदान, प्रयाग-स्नानादिकों से भी पापनाश होने के कारण एक से हुए पापनाश में दूसरे कारण के न होने से व्यभिचारदोष आ जायगा। यहाँ पर पूर्वपक्षी ऐसा आक्षेप कर सकता है कि 'यदि पूर्वोक्त सिद्धान्तमत से नास्तिक ग्रंथों में जन्मान्तर के

तदुक्तम् "श्रौतात् साङ्गात् कर्म्मणः फलावश्यम्भावनियमात्" इति। अत एव विकल्पितमपि कारणं कारणमेव फलानन्तर्य्यनियमस्यैव वैदिककारणत्वात्। विकल्पे तु वैजात्यकल्पनं वैजात्यमेव यत्रान्वयव्यतिरेकगम्या कारणता तत्र फलपूर्वभावनियमो ग्राह्यो न तु वेदेऽपि तत्र व्यतिरेकभागस्य गुरुत्वेनानुपस्थितेः तथा च साङ्गे मङ्गले समाप्तिरावश्यकीति न व्यभिचारः।

मंगल की अनुमान से सिद्धि की जाय तो दूसरे जन्म में ग्रन्थसमाप्ति होने के उद्देश से पूर्वजन्म में मङ्गलाचरण करने की आपत्ति आवेगी तथा पूर्वोक्त समाप्ति मंगलजन्य है, समाप्ति होने से, इस अनुमान में स्वयंसिद्ध विघ्नाभाव वाले ग्रंथकर्ता की ग्रन्थसमाप्ति में मंगलजन्यता न होने से समाप्तिरूप हेतु में व्यभिचार-दोष भी आ जायगा, क्योंकि उसमें मङ्गलजन्यता नहीं है—इस आक्षेप का उपस्कार-कार ऐसा उत्तर करते हैं कि मंगलाचरण करने पर समाप्ति आवश्यक है इस कारण मंगल की कारणता है, इसी कारण कहा है कि श्रौत साङ्गकर्म से फल अवश्य होता है यह नियम है। और इसी कारण विकल्प से बोधित कारण भी कारण ही होता है, क्योंकि फल का पश्चात् होने का नियम ही वैदिक (वेदोक्त) कारणता है। अर्थात् कार्य के पूर्व रहने का नियम ही यदि कारणता हो तो 'व्रीहिभिः यवैर्वा यजेत' धान या जौ से याग करे, इस विकल्प कारणस्थल में धान से होनेवाले याग के स्थल में यागजन्य अदृष्ट तथा स्वर्गादि फल के पूर्व में यवकरणक याग तथा यव से होनेवाले याग के स्थल में याग से उत्पन्न अदृष्ट स्वर्गादि फल के पूर्वकाल में व्रीहिकरण याग की भी सत्ता माननी पड़ेगी, वह नहीं है, अतः वैदिक स्थलों में पश्चात् फल होना ही कारणता है, जो प्रत्येक में भी वर्तमान ही है। यह शङ्करमिश्र का यहाँ गूढ आशय है। यदि 'कारणभेद के समान उस-उस याग से उत्पन्न अदृष्ट तथा स्वर्गादि रूप कार्य में विलक्षणता मानकर उस-उस भिन्न कारण में अपने-अपने कार्य के अव्यहित पूर्वकाल में वर्तमानतारूप कारणता क्यों न मानी जाय, जिससे पूर्वप्रदर्शित वैदिक स्थल में भी पूर्व में नियम से रहना यह भी कारणता संगत हो जायगी, ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे तो इसके उत्तर में उपस्कारकर्ता कहते हैं कि विकल्पकारणतास्थल में कार्य में विजातीयता मानना तो विरुद्ध होने से साहसमात्र है, क्योंकि यदि फल में विलक्षणता मानी जाय तो दोनों कारणों से सम्पन्न हुए याग से भी विलक्षण फल की उत्पत्ति होने लगेगी।

यद्यपि पूर्वपक्षी कह सकता है 'कि तो भी पूर्वोक्त व्यभिचार का वारण कैसे होगा' तो उसके उत्तर में शङ्करमिश्र कहते हैं कि जिस लौकिक स्थल में अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों प्रकार की व्याप्ति से कारणता का बोध होता है वहीं पर फल के पूर्वकाल में कारण के रहने का नियम होता है, वेदोक्त कारणस्थल में व्यतिरेक भाग के गुरु होने से उपस्थित नहीं होता, अतः साङ्ग मङ्गलाचरण होने पर समाप्ति-

समाप्तिस्तु यस्मिन् अनुष्ठिते सम्पूर्णमिदं कर्म्मेति प्रमा सा च ग्रन्थादौ चरमवाक्यलिखने यागादौ चरमाहुतौ पटादावन्त्यतन्तुसंयोगे ग्रामगमनादौ ग्रामचरणचरमसंयोगे एवं तत्र तत्रोहनीयमिति। मङ्गलजन्यसमाप्तौ वैजात्यकल्पनेऽपि नोभयथा व्यभिचारः। मंगलञ्च विघ्नध्वंसद्वारकसमाप्तिफलकं कर्म्म तच्च देवतानमस्कारादिरूपमेव स्वतःसिद्धविघ्नाभावस्थलेऽपि सामान्यतो गृहीतस्य विघ्नध्वंसद्वारकत्वस्थानपायात् नमस्कारादीनां ताद्रूप्येणैव विघ्नध्वंस द्वारकत्वप्रतिपत्तेर्नाव्याप्तिरिति दिक्॥ १॥

रूप कार्य आवश्यक है, इस कारण पूर्वोक्त व्यभिचारदोष नहीं हो सकता, अर्थात् वेदोक्त कारणतास्थल में व्यतिरेकव्यभिचार दोषजनक नहीं होता यह अभिप्राय उत्तर ग्रन्थ का है।

समाप्ति ही वह पदार्थ है जिसके होने पर 'यह कार्य संपूर्ण हो गया' ऐसा ज्ञान होता है, और यह ज्ञान ग्रन्थों में अन्तिम वाक्य लिखने पर, याग (हवन) आदि कर्मों में अन्तिम आहुति पड़ने पर, पट आदि कार्यों में अन्तिम तन्तु संयोग होने पर, ग्रामगमनादि कर्मों में ग्राम तथा चरण के अन्तिम संयोग होने पर होता है, इसी प्रकार अन्य-अन्य कर्मों मे भी स्वयं जान लेना चाहिये।

यदि वैकल्पिक कारणतास्थल में एक अभाव से युक्त दूसरे को कारण मानें, अर्थात् व्रीहि यवादि करणक यागस्थल में प्रत्येक को कारण मानें, न कि दोनों को, तो विजातीय फल मानने पर भी कोई दोष न होगा, इस अभिप्राय से शङ्करमिश्र दूसरा कल्प (प्रकार) कहते हैं कि प्रस्तुत में मङ्गल से उत्पन्न समाप्तिरूप फल में विजातीयता मानने पर भी पूर्वोक्त दोनों व्यभिचारदोष न आ सकेंगे। अर्थात् समाप्ति मंगलजन्य विघ्नध्वंसवत्ता-सम्बन्ध से मंगलविशिष्ट, और उससे भिन्न दो प्रकार की होती है। जिनमें से प्रथम समाप्ति मंगल से उत्पन्न होती है, और दूसरी विघ्नात्यन्ताभाव से, इस प्रकार समाप्ति में विजातीयता मानने से नास्तिकादि ग्रन्थसमाप्ति के उपरोक्त सम्बन्ध से मङ्गलविशिष्ट न होने के कारण उसमें विघ्नात्यन्ताभावजन्यता होने से तथा कादम्बरी आदि ग्रंथों में ग्रंथकर्ता की बुद्धि, प्रतिभा इत्यादि दूसरे कारणों के न रहने से व्यतिरेक, तथा अन्वय दोनों के व्यभिचारदोष नहीं आ सकते। इस प्रकार दोनों व्यभिचारदोषों का समाधान कर देवतानमस्कारादि सकलसाधारण मंगल का लक्षण दिखाते हैं—मंगल उस कर्म का नाम है, जो विघ्नध्वंस द्वारा समाप्तिरूप फल को उत्पन्न करता है और वह है देवतानमस्कारादि रूप। 'इस लक्षण से जिन्होंने स्वयं विघ्नों के न रहने पर भी ग्रंथ के प्रारंभ में मंगलाचरण किया है, उस मंगल से विघ्ननाश द्वारा समाप्ति न होने के कारण अव्याप्ति दोष आ जायगा' ऐसे आक्षेप के परिहारार्थ उपस्कारकार कहते हैं कि स्वयंसिद्ध विघ्नों के अभावस्थल में भी सामान्यरूप से

अथ प्रतिज्ञातार्थमाह—

यतोऽभ्युदयनिश्रेःयससिद्धिः स धर्म्मः ॥ २ ॥

अभ्युदयस्तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः तदुभयं यतः स धर्म्मः। अभ्युदयद्वारकं निःश्रेयसमिति मध्यमपदलोपी समासः, पञ्चमीतत्पुरुषो वा। स च धर्म्मो निवृत्तिलक्षणो वक्ष्यते। यदि तु निदिध्यासनादियोग-

---

ज्ञात विघ्नध्वंसद्वार (व्यापार) के होने से दोष न होगा क्योंकि नमस्कारादिकों में उसी रूप (विघ्ननाशजनकतानियामक नमस्कारत्व) से विघ्नध्वस द्वारा समाप्ति जनकत्व का ज्ञान हुआ है, अतः उक्त अव्याप्ति दोष न आयगा, अर्थात् उक्त स्थल में विघ्नध्वंसद्वारकता न होने पर भी विघ्नध्वंसजनकतानियामक नमस्कार-त्वादिरूप सामान्य धर्म के होने से विघ्नध्वंसद्वारता की हानि नहीं हो सकती ॥१॥

आत्मतत्त्वसाक्षात्कार का पदार्थतत्त्वज्ञान ही मार्ग है जो निवृत्तिरूप धर्म से ही प्राप्त होता है, इस कारण उसका लक्षण तथा स्वरूप से निरूपण करने की प्रथम सूत्र में प्रतिज्ञा कर धर्म का स्वरूप तथा लक्षण का स्वरूप दिखलाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि सूत्रकार ने प्रतिज्ञा की। धर्मरूप पदार्थ को कहते हैं—

पदपदार्थ—यतः = जिससे, अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः = अभ्युदय (ऐहिक तथा पारलौकिक सुख) तथा अपवर्ग की सिद्धि (प्राप्ति) हो, सः = वह, धर्मः = धर्म कहलाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस कर्मजन्य अधर्म तथा धर्मरूप अदृष्ट से कालान्तर में ऐहिक तथा पारलौकिक सुख एवं मोक्षप्राप्त हो उसे धर्म कहते हैं। यह सामान्यरूप से प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप दोनों धर्मों का लक्षण है ॥ २ ॥

उपस्कार—अभ्युदय नाम पदार्थतत्त्वज्ञान तथा निःश्रेयस नाम आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति यह दोनों जिससे हों वह धर्म होता है। अथवा अभ्युदय (तत्त्वज्ञान) द्वारा निःश्रेयस हो इस प्रकार द्वाररूप मध्यमपद का लोप कर यह 'अभ्युदयनिःश्रेयसपद' लेना, या 'अभ्युदयात् निश्रेयसं' ऐसा पंचमीतत्पुरुष समास करना, ऐसे दो पक्ष शंकर-मिश्र ने और दिखाए हैं जिससे यदि उक्त समासविशेष न मानें तो कार्यसामान्य के कारणकाल में उक्त धर्मलक्षण में अतिव्याप्ति दोष आ जायगा, अतः उक्त समास मानें तो धर्मजन्य तत्त्वज्ञानवत्ता-सम्बन्ध से काल में निःश्रेयसंजनकता न रहने से अति-व्याप्ति दोष दूर हो जायगा, एवं च यह सूत्रोक्त धर्म का सामान्य लक्षण नहीं है, किन्तु तत्त्वज्ञान के कारण धर्मविशेष का लक्षण है, यह शंकरमिश्र का यहाँ गूढ़ आशय है, इसी कारण वह आगे कहते हैं कि 'धर्म निवृत्तिरूप ही है', यह आगे कहा जायगा। मतविशेष से शंकरमिश्र धर्म का स्वरूप ऐसा वर्णन करते हैं कि यदि निदिध्यासनादिरूप योगबल से उत्पन्न होने वाला धर्म अदृष्ट ही लिया जाय तो वह 'निदिध्यासितव्यः' इस श्रुति में प्रतिपादित विधिरूप ही लेना होगा।

साध्यो धर्म्मोऽदृष्टमेव तदा विधिरूपः।

वृत्तिकृतस्तु अभ्युदयः सुखं निःश्रेयसमेककालीनसकलात्मविशेषगुणध्वंसः। प्रमाणञ्च धर्म्मे देवदत्तशरीरादिकं भोक्तृविशेषगुणप्रेरितभूतपूर्वकं कार्यत्वे सति तद्भोगसाधनत्वात्तन्निर्म्मितस्रग्वदित्याहुः।

तदेतद्व्याख्यानं प्रत्येकसमुदायाभ्यां न व्यापकम् इत्यर्वाचीनैरुपेक्षितम्।

वस्तुतस्तु को धर्म्मः किंलक्षणश्चेति सामान्यतः शिष्यजिज्ञासायां यतोऽभ्यु-

---

यहाँ पर निदिध्यासनादि योगजन्य भी धर्म वैराग्य द्वारा मुक्तिफल देने से निवृत्तिरूप हो सकता है, इसलिये 'यदि' पद को शंकरमिश्र ने उसके वारणार्थ प्रयोग किया है। प्रवृत्तिलक्षण के समान निवृत्तिरूप धर्म भी अदृष्ट ही है, अतः यह सूत्र धर्मसामान्यलक्षण का ही बोधक है ऐसा मानने वाले वृत्तिकार के मत को उपस्कार में दिखाते हैं कि "अभ्युदयनाम सुख, तथा एक काल में होने वाले आत्मा के संपूर्ण ज्ञानादि विशेष गुणों का नाशरूप निःश्रेयस (मुक्ति)" (जिससे हो वह धर्म कहाता है ऐसा द्वितीय सूत्र का अर्थ वृत्तिकार के मत में है) संसारावस्था में कालान्तर के संपूर्ण विशेष गुणों के ध्वंस को लेकर मुक्तिव्यवहार की आपत्ति के वारण के लिये 'एक काल में होने वाले' यह विशेषण, एवं संसारी जीव को भी कुछ आत्मा के गुणों के नाश के होने से अतिव्याप्तिदोष वारण के लिये 'सम्पूर्ण' ऐसा विशेष गुणों में विशेषण दिया है। मुक्तात्मा में संयोगादि सामान्यगुण रहने से निःश्रेयसव्यवहार न होगा, इसलिये विशेष पद दिया है तथा अन्तिम अदृष्ट के नाशक्षण में भी विनश्यदवस्था वाले अन्तिम दुःख के रहने से उसमें मुक्तिव्यवहार का निवारण करने के लिये संपूर्ण अदृष्ट ध्वंस को छोड़कर संपूर्ण विशेष गुण ध्वंस को मुक्ति कहा है। किन्तु सम्पूर्ण उस आत्मा का दुःखध्वंस ही निःश्रेयस है ऐसा लक्षण क्यों नहीं किया यह सूक्ष्म विचार से विचारणीय है।

वृत्तिकार के मत से धर्म की सत्ता में अनुमानप्रमाण दिखाते हुए शङ्करमिश्र कहते हैं कि देवदत्त आदि मनुष्यों का शरीर, भोक्ता आत्मा के विशेष गुण से प्रेरित पृथिवी आदि भूत से निर्मित है, कार्य होते हुए देवदत्तादि आत्मा के सुखदुःखादि भोग का साधन होने से, देवदत्तादिकों से वनाए हुए मालादिकों के समान, यह अनुमानप्रमाण है। ऐसा वृत्तिकार कहते हैं। किन्तु यह व्याख्यान सुखजनकत्व तथा निःश्रेयसजनकत्व दोनों प्रत्येक लक्षण धर्म का मानने से प्रथम लक्षण की निवृत्तिरूप धर्म में तथा अन्तिम लक्षण की प्रवृत्तिरूप धर्म में अव्याप्तिदोष होगा। सुख तथा निःश्रेयसजनक को धर्म कहते हैं, ऐसा लक्षण किया जाय तो केवल एक के जनक धर्म में अव्याप्तिदोष हो जायगा, इस कारण नवीनों ने इस वृत्तिकार की व्याख्या की उपेक्षा की है।

अग्रिम में 'धर्मविशेषप्रसूतात्' इत्यादि चतुर्थ सूत्र में निवृत्तिरूप धर्म का ग्रहण न हो सकेगा, क्योंकि सामान्यरूप से धर्म का ज्ञान नहीं है, इस कारण धर्म की

दयनिःश्रेयससिद्धिरित्युपतिष्ठते तथा च यतोऽभ्युदयसिद्धिर्यतश्च निःश्रेयससिद्धिस्तदुभयं धर्म्मः। एवं पुरुषार्थसाधारणकारणं धर्म्म इति वक्तव्ये परमपुरुषार्थयोः सुखदुःखाभावयोर्विशेषतः परिचयार्थमभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिरित्युक्तं स्वर्गापवर्गयोरेवान्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वेन परमपुरुषार्थत्वात्। साधयिष्यते च दुःखाभावस्यापि पुरुषार्थत्वम् ॥ २ ॥

ननु निवृत्तिलक्षणो धर्म्मस्तत्त्वज्ञानद्वारा निःश्रेयसहेतुरित्यत्र श्रुतिः प्रमाणम्। श्रुतेरेव प्रामाण्ये वयं विप्रतिपद्यामहे अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः। पुत्रेष्टौ कृतायामपि पुत्रानुत्पादादनृतत्वम् "उदिते जुहोति अनुदिते जुहोति समयाध्युषिते जुहोति" इति विधेः प्राप्त एवोदितादिकाले होमो व्याहन्यते "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति शबलोऽस्याहुतिमभ्य-

---

सामान्य रूप से व्याख्या करते हुए उपस्कार में कहते हैं कि—वस्तुतः धर्म क्या है? उसका क्या लक्षण है? इस प्रकार सामान्यरूप से शिष्यों को जिज्ञासा होने से 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः' यह पूर्वप्रदर्शित सूत्र उपस्थित होता है, ऐसा होने से जिससे अभ्युदय सिद्ध होता है, और जिससे निःश्रेयस सिद्ध होता है, वह दोनों धर्म हैं। अतः पुरुषार्थ का विशेष कारण धर्म होता है ऐसा कहना प्राप्त रहते परमपुरुषार्थ सुख तथा दुःखाभाव इन दोनों का विशेष रूप से परिचय होने के लिये 'अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः' अर्थात् 'अभ्युदय निःश्रेयससिद्धि' ऐसा कहा है, क्योंकि स्वर्ग तथा अपवर्ग ही अन्य की इच्छा के अधीन इच्छावाले न होने से परमपुरुषार्थ हैं। 'धर्मविशेषात्' इत्यादि चतुर्थ सूत्रमें दुःखाभाव भी पुरुषार्थ है यह सिद्ध किया जायगा ॥२॥

उपोद्घातसंगति से तृतीय सूत्र की अवतरणिका देते हुए शङ्करमिश्र पूर्वपक्षमत से शंका करते हैं कि निवृत्तिरूप धर्म तत्वज्ञान द्वारा निःश्रेयस (मुक्ति) का कारण है इस विषय में श्रुति ही प्रमाण हो सकती है, किन्तु हम तो श्रुति के प्रमाण होने में विप्रतिपत्ति (विवाद) करते हैं, क्योंकि उसमें अनृतत्व (असत्यता), व्याघात (परस्पर वचनों का विरोध) तथा पुनरुक्त (पुनर्वचन) रूप तीन दोष होते हैं। क्योंकि पुत्रप्राप्ति के लिये 'पुत्रेष्टि' नामक याग करने पर भी पुत्र की उत्पत्ति नहीं होती, अतः प्रथम अनृतत्वदोष आता है। तथा 'उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति, समयाध्युषिते जुहोति' अर्थात् सूर्योदय होने पर, सूर्योदय के पूर्व तथा सन्धिकाल में हवन करना चाहिये, इस विधि वाक्य से सूर्योदयादि त्रिकाल में हवन की प्राप्ति होने पर ही उक्त त्रिकाल में होम का व्याघात (निषेध) भी 'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति, शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति, श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति' अर्थात् 'श्याव नामक देवताओं का कुत्ता उसके आहुति को खा जाता है जो सूर्योदय होने पर आहुति देता है शबल नामक कुत्ता उसकी आहुति को खा जाता है जो सूर्योदय के पूर्व आहुति को देता है, तथा श्याव और शबल दोनों

वहरति योऽनुदिते जुहोति श्यावशवलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति" इत्यादिना । तथा "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामन्वाह" इत्यनेन प्रथमोत्तमसामिधेन्योस्त्रिरुच्चारणाभिधानात् पौनरुक्त्यमेव। न चाम्नायप्रतिपादकं किञ्चिदस्ति नित्यत्वे विप्रतिपत्तौ नित्यनिर्दोषत्वमपि सन्दिग्धम् पौरुषेयत्वे तु भ्रमप्रमादविप्रतिपत्तिकरणापाटवादिसम्भावनया आप्तोक्तत्वमपि सन्दिग्धमेवेति न निःश्रेयसं न वा तत्र तत्त्वज्ञानं द्वारं न वा धर्म्म इति सर्वमेतदाकुलमत आह—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥ ३ ॥

तदित्यनुपक्रान्तमपि प्रसिद्धिसिद्धतयेश्वरं परामृशति, यथा "तदप्रामाण्यम-

---

कुत्ते उसकी आहुति खा जाते हैं जो सन्धिकाल में हवन करता है' इत्यादि वाक्य से विरोधदोष भी आता है। तथा उसी प्रकार 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामन्वाह' अर्थात् तीन बार प्रथम मंत्र को कहे और तीन ही बार उत्तम (अन्तिम) मन्त्र को कहे, इस विधिवाक्य से प्रथम तथा अन्तिम सामिधेनी[1] मंत्रों के तीन बार उच्चारण के कथन से पुनरुक्त दोष भी आता है। और नहीं है आम्नाय (वेदरूप आगम) के प्रामाण्य को वर्णन करने में कोई प्रमाण। क्योंकि उसकी नित्यता में विवाद होने से, नित्य निर्दोष होना भी वेद में संदिग्ध है। यदि वेद को पौरुषेय (पुरुष से युक्त) माना जाय तो, भ्रान्ति, असावधानता, अज्ञान तथा इन्द्रियों का असामर्थ्य इत्यादि प्राणिमात्र में होनेवाले दोषों की संभावना होने से आप्त पुरुष से वेद कथित है यह भी सन्दिग्ध है, अतः आगम में प्रामाण्य का निश्चय न होने के कारण निःश्रेयसरूप फल अथवा तत्वज्ञानरूप उसका व्यापार, तथा धर्म यह संपूर्ण सिद्धान्ती का वर्णन करना असंगत है—इस पूर्वपक्षीशंका के समाधान में कणाद महर्षि का तृतीय सूत्र वर्णन करते हैं—

पदपदार्थ—तद्वचनात् = ईश्वर से निर्मित होने के कारण, आम्नायस्य=वेदरूप आगम को, प्रामाण्यम् = प्रमाणता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—नित्यानिर्दोष ईश्वररूप परमआप्त से प्रणीत होने के कारण वेद को अवश्य धर्म में प्रमाण मानना होगा, अतः उसके निर्मित आगम में 'अनृतत्व' आदि कोई दोष नहीं हो सकते यह सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया जायगा ॥ ३ ॥

उपस्कारः—प्रस्तुत अर्थ के न होने पर भी 'तत्' यह पद प्रसिद्धिवाचकतापक्ष को लेकर साधारण प्रसिद्धि से सिद्ध होने के कारण ईश्वरवाचक है। इस कारण ईश्वर से निर्मित होने के कारण आम्नाय (वेद) को प्रामाण्य है, अर्थात् ईश्वरप्रणीत होने से वेद प्रमाण है। यदि द्वितीय सूत्र में प्रस्तुत संनिहित धर्म को लेकर वेद में प्रामाण्य

---

१. अग्नि को प्रज्वलित करने के मन्त्र को सामधेनी मन्त्र कहते हैं। अतएव कोश में कहा है—'ऋक् सामधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने' अर्थात् 'अग्नि प्रज्वलित करने के मंत्र का नाम है सामधेनी।

नृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः" इति गौतमीयसूत्रे तच्छब्देनानुपक्रान्तोऽपि वेदः परामृश्यते। तथा च तद्वचनात्तेनेश्वरेण प्रणयनादाम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम्। यद्वा तदिति सन्निहितं धर्ममेव परामृशति तथाच धर्मस्य वचनात् प्रतिपादनात् आम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम्, यद्धि वाक्यं प्रामाणिकमर्थं प्रतिपादयति तत्प्रमाणमेव यत इत्यर्थः। ईश्वरस्तदाप्तत्वञ्च साधयिष्यते। यच्चोक्तम्—"अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः" इति तत्रानृतत्वे जन्मान्तरीयफलकल्पनम्, कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यकल्पनं वा, श्रौतात् साङ्गात् कर्मणः फलावश्यम्भावनिश्चयात्। न च कारीरीवदैहिकमात्रफलकत्वम् तत्र हि शुष्यच्छस्यसञ्जीवनकामस्याधिकारः पुत्रेष्टौ पुत्रमात्रकामस्येति विशेषात्। न च व्याघातोऽपि उदितादिहोमं विशेषतः प्रतिज्ञाय तदन्यकाले होमानुष्ठाने "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति" इत्यादिनिन्दाप्रतिपादनात्। नच पुनरुक्ततादोषोऽपि एकादशसामि-

---

का निर्वाह हो सकता है तो असंनिहित (अप्रस्तुत) ईश्वर को 'तत्' पद से सूत्र में ग्रहण करना अयुक्त है ऐसा माना जाय तो इस पक्ष से भी वेद का प्रामाण्य सिद्ध करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि अथवा 'तत्' यह पद सन्निहित धर्म का ही ग्रहण करता है, तथा च धर्म के वचन (प्रतिपादन) से आम्नाय (वेद) को प्रामाण्य है, अर्थात् वेद में धर्म का वर्णन होने से वेद प्रमाण है, क्योंकि जो वाक्य प्रमाणविषय (प्रामाणिक) अर्थ को प्रतिपादन करता हैं वह प्रमाण ही होता है। ईश्वर तथा उसकी आप्तता (यथार्थ वक्तृता) यह दोनों अग्रिम ग्रन्थ में सिद्ध किया जायगा। और जो पूर्वपक्षी और ने कहा कि अनृतत्व, व्याघात तथा पुनरुक्त ऐसे तीन दोष आने के कारण वेद अप्रमाण है। उसमें से अनृतत्व दोष जन्मान्तर में पुत्ररूप फल मानने से अथवा कर्म (यागादि) कर्म कर्त्ता तथा साधनों में विगुणता रूप अंगहीनता होने के कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वेदोक्त साङ्गकर्म से फल अवश्य होता है यह निश्चित है। यहां शंकरमिश्र ने दिया हुआ 'यद्वा' इसमें वाकार विकल्परूप अर्थ का ही बोधक है न कि अनास्था (अश्रद्धा) का। इस कारण पुत्रेष्टि याग का ऐहिक (इस लोक में) ही पुत्रप्राप्तिरूप फल न होने के कारण जन्मान्तर में पुत्रप्राप्तिरूप फल की कल्पना हो सकती है, इसी आशय से आगे 'नच' इत्यादि शंका ग्रंथ संगत होता है। वृष्टिप्रतिबन्ध के कारण धान्य शुष्क होने पर कारीरी नामक याग जिस प्रकार केवल इस जन्म ही में वृष्टि द्वारा धान्य को देता है, उस प्रकार वैदिक कर्म ऐहिक फलदायक ही होता है, अतः पुत्रेष्टियाग ऐहिक फलमात्र का उत्पादक है यह पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि कारीरी याग में शुष्क (सूखने वाले) धान्य को पुनर्जीवित करने की इच्छा करने वाले पुरुष को अधिकार है, और 'पुत्र याग में सामान्य रूप से पुत्रमात्र की कामना रखने वाले पुरुष को अधिकार है यह विशेषता है। तथा पूर्व पक्षी से कहा हुआ व्याघात दोष भी नहीं आ सकता, क्योंकि सूर्योदय आदि तीन

धेनीनां प्रकृतौ पाठात् "पञ्चदशावरेण वाग्वज्रेणावबाधे तमिमं भ्रातृव्यम्" इत्यत्र सामिधेनीनां पञ्चदशत्वस्य प्रथमोत्तमसामिधेन्योस्त्रिरभिधानमन्तरेणानुपपत्तेस्तथाभिधानात् ॥ ३ ॥

शिष्याकाङ्क्षानुरोधेन स्वरूपतो लक्षणतश्च धर्मं व्याख्यायाभिधेयसम्बन्धप्रतिपादनाय सूत्रम्—

धर्म्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्म्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥ ४ ॥

कालों में से किसी काल में हवन करने की विशेष रूप से प्रतिज्ञा कर जो हवनकर्ता उससे भिन्न काल में हवन करता है उसके हव्यभाग को देवताओं के कुत्ते श्याव तथा शवल खा जाते हैं इत्यादि रूप से निन्दा का प्रतिपादन 'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति' इत्यादि तीन वाक्यों में किया है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी का दिया हुआ तृतीय पुनरुक्ततादोष भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रकृत (मुख्य) याग में एकादश (ग्यारह) ही सामधेनी मंत्रों का पाठ होने से, 'पंचदश (पन्द्रह) आवरण वाले, वाणी (मन्त्र) रूप वज्र से पीड़ा देता हूं, उस इस शत्रु को' इस अर्थवाद वाक्य में सामधेनी मन्त्रों का पञ्चदश संख्या होना प्रथम, तथा अन्तिम मन्त्र को तीन बार कहे विना संगत नहीं हो सकता इस कारण पुनरुक्तिदोष भी नहीं आ सकता, क्योंकि सप्रयोजन पुनर्वचन दोष वह नहीं होता किन्तु निष्प्रयोजन पुनर्वचन ही पुनरुक्तिदोष कहाता है ॥ ३ ॥

प्रथमसूत्र में वैशेषिकदर्शन के निर्माण का प्रयोजन, अधिकारी, विषय तथा सम्बन्धरूप अनुबन्धचतुष्टय सूचित होने पर भी उसमें शिष्यों की उत्कट जिज्ञासा को निवृत्त करने के लिये स्वयं सूत्रकार ने उसका प्रतिपादन किया है, इस अभिप्राय से शंकरमिश्र उपस्कार में कहते हैं कि शिष्यों की जिज्ञासा के अनुरोध (आग्रह) से स्वरूप तथा लक्षण द्वारा धर्म की व्याख्या कर अभिधेय (विषय), तथा सम्बन्ध का वर्णन करने के लिये चतुर्थ सूत्र कणाद महर्षि ने इस प्रकार कहा है। यहां पर विषय और सम्बन्ध यह दोनों अवशिष्ट प्रयोजन तथा अधिकारी का भी उपलक्षण (जनाने वाला) है, अतः प्रेक्षावानों की वैशेषिकदर्शन के अध्ययन करने की प्रवृत्ति प्रदर्शित अनुबन्ध चतुष्टय होने से संगत है। अथवा निःश्रेयसरूप प्रयोजन सूत्र में स्पष्ट होने से शंकर मिश्र ने नहीं किया है, अधिकारी तो अर्थात् प्राप्त होता है, कि जो पदार्थ तत्त्वज्ञान प्राप्ति द्वारा निःश्रेयस का अर्थी होता है।

पदपदार्थः—धर्मविशेषप्रसूतात् = धर्मविशेष से उत्पन्न, द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां = द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक, पदार्थानां = षट्पदार्थों के, साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां = समान धर्म तथा विरुद्ध धर्म रूप धर्मों से, तत्त्वज्ञानात् = वास्तविक ज्ञान से, निःश्रेयसम् = मोक्ष होता है ॥ ४ ॥

एतादृशं तत्त्वज्ञानं वैशेषिकशास्त्राधीनमिति तस्यापि निःश्रेयसहेतुत्वं दण्डापूपायितम्। तत्त्वं ज्ञायतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या शास्त्रपरत्वे धर्मविशेषप्रसूतादित्यनेनानन्वयापत्तेः। सर्वपदार्थप्रधानो द्वन्द्वश्चात्र समासः सर्वपदार्थतत्त्वज्ञानस्य निःश्रेयसहेतुत्वात्। तदत्र शास्त्रनिःश्रेयसयोर्हेतुहेतुमद्भावः, शास्त्रतत्त्वज्ञानयोर्व्यापारव्यापारिभावः, निश्रेयसतत्त्वज्ञानयोः कार्यकारणभावः, द्रव्यादिपदार्थशास्त्रयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धोऽवगम्यते। एतेषाञ्च

भावार्थ—वैशेषिकदर्शन के मत से विशेष धर्म द्वारा उत्पन्न द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय नामक षट्पदार्थों के वास्तविक (यथार्थ) ज्ञान से जो उनके परस्पर समान (साधारण) धर्मों तथा विरुद्ध (विशेष) धर्मों के ज्ञानरूप धर्मज्ञान से ही उत्पन्न होता है, वही आत्यन्तिक आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखों की निवृत्तिरूप निःश्रेयस का जनक है। इस सूत्र में वैशेषिकदर्शन का अभिधेय द्रव्यादि षट्पदार्थ हैं, तथा दर्शनसूत्रों का तथा षट्पदार्थों का प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्ध है यह भी सूचित होता है ॥ ४ ॥

उपस्कार—इस चतुर्थ सूत्र में 'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां' इस पद में जिस प्रकार तृतीया विभक्ति का अभेद अर्थ है, जिससे 'धान्येन धनवान्' इस वाक्य में धान्येन इस तृतीया विभक्ति से धान्यरूप धनवाला ऐसा अर्थ होता है, उसी प्रकार साधर्म्य तथा वैधर्म्यरूप तत्त्वज्ञान से ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिये। इस आशय से शंकरमिश्र सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ऐसा सूत्रोक्त तत्त्वज्ञान वैशेषिकदर्शनशास्त्र के अधीन है इस कारण शास्त्र में भी निःश्रेयस की कारणता दण्डापूप अथवा कैमुतिकन्याय से सिद्ध होती है, अर्थात् चूहे ने दण्डे को खाया तो उस में लगे हुए मालपूओं को खाया यह जैसे अर्थात् प्राप्त होता है, उसी प्रकार शास्त्र से पदार्थ तत्त्वज्ञान होता है इससे शास्त्र भी निःश्रेयस में कारण है यह अर्थात् सिद्ध होता है, यदि 'तत्त्व जिससे जाना जाता है' इस प्रकार करणअर्थ की व्युत्पत्ति को लेकर तत्त्वज्ञानपद का शास्त्र ऐसा अर्थ किया जाय, तो तत्त्वज्ञानपद का सूत्र में 'धर्मविशेषप्रसूतात्' इस पद के साथ अन्वय न बनेगा, क्योंकि वैशेषिकशास्त्र से होनेवाला पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान धर्मविशेष से उत्पन्न होता है। इस सूत्र में 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां' इस समस्त पद में द्रव्य इत्यादि षट्पदार्थों को प्रधान मान कर द्वन्द्वसमास करना चाहिए, क्योंकि द्रव्यादि सम्पूर्ण पदार्थों का तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का कारण है। तस्मात् इस सूत्र में शास्त्र तथा निःश्रेयस का कारणकार्यभाव, शास्त्र तथा तत्त्वज्ञान का व्यापारव्यापारिभावः, निःश्रेयस और तत्त्वज्ञान का कार्यकारणभाव, एवं द्रव्य आदि षट्पदार्थ तथा शास्त्र का प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावरूप सम्बन्ध है यह बोधित होता है। इन सम्पूर्ण सम्बन्धों के ज्ञान से मोक्ष चाहनेवाले प्राणियों की इस वैशेषिकदर्शनशास्त्र में प्रवृत्ति

सम्बन्धानां ज्ञानान्निःश्रेयसार्थिनामिह शास्त्रे प्रवृत्तिः, मोक्षमाणाश्च मुनेर्गृहोतात्पभावा एव शास्त्रे प्रवर्त्तन्ते। निःश्रेयसमात्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः। दुःखनिवृत्तेश्चात्यन्तिकत्वं समानाधिकरणदुःखप्रागभावासमानकालोनत्वं युग-

---

होती है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि उक्त साधर्म्य तथा वैधर्म्यरूप तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का कारण है इसमें क्या प्रमाण ? तो शंकरदेव ऐसा उत्तर देते हैं कि मुक्ति की इच्छा करनेवाले शिष्य प्राणी महर्षि कणाद को आप्तहितकारी समझ कर ही शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् आप्तोक्तताहेतुक अनुमान ही तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का कारण है इसमें प्रमाण है।

इस प्रकार वैशेषिकदर्शनशास्त्र में प्रवृत्ति के कारण विषय तथा सम्बन्ध का वर्णन करने के पश्चात् साक्षात् सूत्र में निर्दिष्ट निःश्रेयसरूप प्रयोजन का लक्षण वर्णन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि आत्यन्तिक (अवश्य होनेवाली) दुःखत्रय-निवृत्ति का नाम है निःश्रेयस। उस दुःखनिवृत्ति की आत्यन्तिकता यह है कि एक ही आत्मारूप आश्रय में दुःख के प्रागभाव की समानकालता न होना, अर्थात् एक ही आत्मा में जो दुःखों का नाश अग्रिम दुःखों के प्रागभाव के समान काल में न होता हो (यहाँ इस लक्षण में प्रलयसमय के दुःखध्वंसों के अन्य आत्मा के दुःख प्रागभाव के समान काल में होने से अव्याप्तिदोष के वारणार्थ स्वसमानाधिकरण यह विशेषण दिया गया है। तथा इस काल के दुःख-ध्वंस में अतिव्याप्तिदोष के वारणार्थ दुःख प्रागभाव के असमकालीन ऐसा विशेषण दिया गया है यह जान लेना।)

शंकरमिश्र कहते हैं अथवा जो अभावों में प्रागभाव नहीं मानते उनके मत से 'एक काल में उत्पन्न एक ही आत्मा में होने वाले सम्पूर्ण आत्मा के विशेष गुणों के नाश की समानकालीनता ही दुःखनिवृत्ति की आत्यन्तिकता कहाती है', अर्थात् एक ही मुक्त होने वाले आत्मा के एक ही समय में उत्पन्न सम्पूर्ण आत्मा के बुद्ध्यादि विशेष गुणों के नाशों की समानकालता आत्यन्तिकता है। (तात्पर्य यह है कि एक काल में उत्पन्न अपने से भिन्न एक अधिकरण में योग्य विशेषगुण की उत्पत्ति के लक्षण में उत्पन्न होने वाले जो एक आश्रय में वर्तमान सम्पूर्ण संस्कार अदृष्टादि रूप गुण, (दूसरे आत्मविशेषगुणों के समानाधिकरण योग्य गुणोत्पत्ति क्षण में उत्पन्न न होने से) उनके जो ध्वंस उनकी समानकालीनता ही आत्यन्तिकता कहाती है। यहां पर उस आत्मा भिन्नकाल में होनेवाले उस आत्मा के विशेष गुण के ध्वंस के भी उस उत्पत्ति के क्षण में उत्पन्न न होने से अव्याप्तिदोष हो जायगा, क्योंकि वह आत्मविशेषगुणध्वंस भी समूहान्तर्गत है, इसलिये युगपदुत्पन्न ऐसा विशेषण दिया है तथा उसी ध्वंस के उत्पत्ति के क्षण में उत्पन्न दूसरे आत्मा के विशेषगुणों का ध्वंस भी समूहान्तर्गत होने से तत्समानकालीनता को लेकर आत्मा में अतिव्याप्ति-दोष वारण के लिये समानाधिकरण यह विशेषण दिया है। यदि 'सर्व' यह विशेष-

पदुत्पन्नसमानाधिकरणसर्वात्मविशेषगुणध्वंससमानकालीनत्वं वा। अशेषविशेषगुणध्वंसावधिकदुःखप्रागभावो वा मुक्तिः। न चासाध्यत्वान्नायं पुरुषार्थः कारणविघटनमुखेन प्रागभावस्यापि साध्यत्वात्। न च तस्य प्रागभावत्वक्षतिः प्रतियोगिजनकाभावत्वेन तथात्वात्। जनकत्वञ्च स्वरूपयोग्यता मात्रम्, नहि प्रागभावश्चरमसामग्री येन तस्मिन् सति कार्य्यमवश्य-

---

गुण में विशेषण न दिया जाय तो किसी दुःख-ध्वंस के साथ एक काल में उत्पन्न होने से कुछ आत्मा के विशेष गुणों के ध्वंस को लेकर अतिव्याप्तिदोष आ जायगा अतः सर्वपद दिया गया है।

(संपूर्ण विशेषगुणध्वंसरूप अवधि होना है लाघव हो सकता है इस अभिप्राय से लघुरूप दुःखनिवृत्ति को आत्यन्तिकता के आशय से शङ्करमिश्र निःश्रेयस का लक्षण ऐसा कहते हैं कि) सम्पूर्ण आत्मा के विशेषगुणों का ध्वंस जिसकी अवधि हो ऐसे दुःख के प्रागभाव ही को मुक्ति कहते हैं। (इस लक्षण में विशेषगुणपद से उसी मुक्त होनेवाले आत्मा के विशेषगुण लेना चाहिये नहीं तो महाप्रलय के पूर्वक्षण में निःश्रेयस अप्रसिद्ध हो जायगा। विशेषगुणध्वंस की अवधि वह पदार्थ है जो उस आत्मविशेष विशेषगुणों के ध्वंस के आधारक्षण में वर्तमान अवधि का निरूपण करना, इसमें स्वरूपसम्बन्धरूप है अवधिता, अर्थात् संपूर्ण आत्मा के विशेषगुण के ध्वंसकाल को प्रारम्भ कर जितना समय है तन्मात्रवृत्तिता को लेकर उस आत्मा की मुक्ति में लक्षण समन्वय हो जायगा। यहाँ पर पूर्वपक्षी ऐसी शंका नहीं कर सकता कि प्रागभाव के अनादि होने से उसमें साध्यता न होने के कारण उक्त दुःखप्रागभाव मुक्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि दुःखों के कारणों के निवृत्ति द्वारा अर्थात् दुःखप्रागभाव के प्रतियोगी दुःखादिकों के कारण के अभावसंपादन द्वारा दुःखप्रागभाव अनादि होने पर भी साध्य हो सकता है (साध्यरूप से व्यवहार किया जा सकता है) क्योंकि सिद्ध पदार्थ में ही इच्छाविषय साध्यतारूप विषयता नहीं होती। ऐसा मानने से उसमें प्रागभावस्वरूप की हानि भी न होगी, क्योंकि प्रतियोगी को उत्पन्न करनेवाले अभाव को प्रागभाव कहते हैं यह प्रागभाव का लक्षण उक्त दुःखाभावरूप मुक्तिलक्षण में भी वर्तमान ही है, क्योंकि जनकता (कारणता) यहां पर कार्य को उत्पन्न करने की स्वरूपयोग्यतामात्र है न कि फलजनकता, कारण यह कि प्रागभाव कोई अन्तिम कार्य की सामग्री नहीं है जिससे उसके रहने पर कार्य अवश्य होगा, यदि ऐसा हो तो कार्य भी अनादि हो जायगा। अर्थात् 'जनकत्वं च' इस व्याख्यान में शंकरमिश्र ने प्रागभाव साधारण जकनता का उपपादन किया है, अतः उस व्यक्ति के प्रति उस व्यक्ति के प्रागभाव की कारणता जो सर्ववादियों को अभिमत है, जिससे 'यद्विशेषयोस्तत्सामान्ययोः' अर्थात् जिनके विशेषों का उनके सामान्यों का (कार्यकारणभाव होता है) इस न्याय से विलक्षण प्रतियोगिता-

म्भवेत् तथा सति कार्यस्याप्यनादित्वप्रसङ्गात्, तथा च यथा सहकारि- विरहादियन्तं कालं नाजीजनत् तथाग्रेऽपि तद्विरहान्न जनयिष्यति, हेतूच्छेदे पुरुषव्यापारात्' इत्यस्यापि प्रागभावपरिपालन एव तात्पर्यात्। अत एव गौतमीयद्वितीयसूत्रे "दुःख जन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः इत्यत्र कारणाभावात् कार्य्याभावाभिधानं दुःखप्रागभावरूपामेव मुक्तिं द्रढयति। नहि दोपापाये प्रवृत्त्यपायः, प्रवृत्त्यपाये जन्मापायः, जन्मापाये दुःखापाय इत्यपायो ध्वंसः, किन्त्वनुत्पत्तिः। सा प्रागभाव एव। नच प्रतियोग्यप्रसिद्धिः सामान्यतो दुःखत्वेनैव प्रतियोगिप्रसिद्धेः प्रायश्चित्तवत्,

---

विशिष्ट में प्रागभावत्वरूप अखण्डधर्म में कारणता अवश्य माननी पड़ेगी ऐसा यहाँ उनके उपस्कारग्रथ का आशय है। अतः शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि 'तथा च' ऐसा होने से जिस प्रकार सहायक के अभाव से इतने समय तक प्रागभाव ने कार्य को उत्पन्न नहीं किया उसी प्रकार आगे भी सहायक के विरह से कार्य को उत्पन्न न करेगा। क्योंकि 'हेतूच्छेदे पुरुषव्यापारात्' अर्थात् दुःख-कारणों के नाश करने में पुरुष प्रयत्न करते हैं इस सूत्र का भी प्रागभाव के परिपालन में तात्पर्य है और इसी कारण गौतम के द्वितीय न्यायसूत्र में 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' इस सूत्र में मिथ्याज्ञानादिरूप कारणों के अभाव से दोपादिरूप कार्यों के अभाव का कथन दुःखप्रागभावरूप मुक्ति को ही निश्चयरूप से सिद्ध किया है, क्योंकि 'रागद्वेपादि दोषों के निवृत्ति से प्रवृत्ति की निवृत्ति तथा प्रवृत्ति की निवृत्ति से जन्म की निवृत्ति तथा जन्म की निवृत्ति से दुःख की निवृत्ति' इस स्थल में अपाय शब्द का अर्थ ध्वंस नहीं है, किन्तु अग्रिमजन्म के न होने से अग्रिमदुःखों की अनुत्पत्ति (न होना) वह प्रागभाव रूप ही है। इस दुःखप्रागभावरूप निःश्रेयस की सिद्धि में जो प्रथम 'हेतूच्छेदे' यह सूत्र प्रमाण दिया है, उसका यदि दुःखप्रागभाव में तात्पर्य न हो तो दुःखध्वंस के ही पुरुषव्यापार से साध्य होने के कारण उक्त सूत्र में 'हेतूच्छेदे' यह पद व्यर्थ हो जायगा, किन्तु इस दुःखप्रागभावरूप मुक्ति के पक्ष मे यह विचारणीय है कि सामान्यरूप से उत्तरकाल में सम्बद्ध दुःखप्रागभाव संसारदशा साधारण होने से दुःखप्रागभाव के अधिकरण आत्मा में वर्तमान तथा दुःख के असमानकाल के दुःखध्वंस से विशिष्ट ही दुःखप्रागभाव को मुक्ति कहना पड़ेगा, जो मुक्त पुरुष को आगे दुःख उत्पन्न न होने के कारण मुक्तिकाल में इसका प्रागभाव नहीं है, तथा भविष्य ही दुःखप्रागभाव का प्रतियोगी होता है, इस कारण उक्त विशिष्ट प्रागभाव अप्रसिद्ध है। यदि कहो कि 'तब तो मुझे दुःख न हो इस कामना के निर्विषय होने से प्रेक्षावान् प्राणियों की पूर्वकृत कर्मजन्य अग्रिम दुःखफल की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्तादि कर्म में प्राणियों की प्रवृत्ति न होगी' तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि वह प्रवृत्ति उत्तरोत्तरकाल में होनेवाले दुःखों के अत्यन्ताभाव

तत्रापि प्रत्यवायध्वंसद्वारा दुःखानुत्पत्तेरेवापेक्षितत्वात् लोकेऽप्यहिकण्टकादिनिवृत्तेर्दुःखानुत्पत्तिफलकत्वदर्शनात् दुःखसाधननिवृत्त्यर्थमेव प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः।

केचित्त दुःखात्यन्ताभाव एव मुक्तिः। स च यद्यपि नात्मनिष्ठस्तथापि लोष्टादिनिष्ठ एवात्मनि साध्यते। सिद्धिश्च तस्य दुःखप्रागभावासहवर्तिदुःखध्वंस एव तस्य तत्सम्बन्धतयोपगमात्, तस्मिन् सति तत्र दुःखात्यन्ताभावप्रतीतेः। एवञ्च सति "दुःखेनात्यन्तं विमुक्तश्चरति" इत्यादिश्रुतिरप्युपपादिता भवतीत्याहुः।

को विषय करती है, ऐसा मानने से निर्वाह हो जायगा। यदि कहो कि 'अत्यन्ताभाव नित्य होने से उसमें साध्यता विरुद्ध है' तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि प्रागभाव के समान अत्यन्ताभाव भी साध्य हो सकता है। इसी अरुचि से शंकरमिश्र ने 'वामुक्तिः' यहाँ पर वा शब्द का अनादर में प्रयोग किया है, क्योंकि असाध्यतादोष अत्यन्ताभाव तथा प्रागभाव दोनों पक्ष में समान होने के कारण दुःखध्वंस ही मुक्तिपदार्थ है ऐसा शंकरमिश्र ने आगे सिद्धान्त किया है। उक्त प्रकार के दो प्रमाणों से सिद्ध दुःखप्रागभावरूप मुक्ति के पक्ष में शंकरमिश्र कहते हैं कि प्रायश्चित्त के समान सामान्यरूप से दुःखत्वरूप से दुःख प्रसिद्ध होने के कारण दुःखप्रागभाव के प्रतियोगि दुःख की अप्रसिद्धि है ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि प्रायश्चित्त करने में प्रत्यवाय (पापजन्यदोष) के नाश के द्वारा अग्रिमदुःख की अनुत्पत्ति (प्रागभाव) ही अपेक्षित होता है, तथा लोकव्यवहार में सर्प, कण्ठक आदिकों के निवृत्ति करने का भी अग्रिम सर्पादिजन्य दुःखों से निवृत्त होना ही फल देखने में आता है, इससे यह सिद्ध होता है कि प्रेक्षावान् पुरुषों की दुःखों के साधनों से निवृत्ति होने के लिए ही प्रवृत्ति होती है।

(इस प्रकार दुःखप्रागभावरूप मोक्ष को दिखाकर प्राचीन नैयायिकों के एकदेशिमत से दुःखात्यन्ताभावरूप मुक्ति का वर्णन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)— दुःखों का अत्यन्ताभाव ही कुछ नैयायिकों के मत से निःश्रेयस है, वह दुःखात्यन्ताभाव यद्यपि आत्मा में नहीं हो सकता, क्योंकि दुःखप्रागभाव के साथ न रहनेवाले दुःखध्वंसरूप उसके सम्बन्ध के आश्रय आत्मा में ध्वंस तथा प्रागभाव का अत्यन्ताभाव के साथ विरोध होने से अत्यन्ताभाव या असंभव है, तथापि मृत्तिकादि द्रव्यों में वर्तमान दुःखात्यन्ताभाव का ही आत्मा आश्रय है, दुःखप्रागभाव के साथ न रहने वाले दुःखध्वंसरूप सम्बन्ध के आश्रय होने से, इस अनुमान से सिद्धि हो सकती है। जिस दुःखात्यन्ताभाव की सिद्धि की दुःखप्रागभाव के साथ न रहनेवाले दुःखध्वंस में ही है, क्योंकि उसे दुःखात्यन्ताभाव का सम्बन्ध माना गया है। उसके रहने से आत्मा में दुःखात्यन्ताभाव प्रतीत होता है और ऐसा होने से अर्थात् दुःखात्यन्ताभाव के मोक्ष मानने से 'दुःखेनात्यन्तं विमुक्तश्चरति'—'दुःख से अत्यन्त मुक्त होकर रहता है' इस अभिप्राय वाली श्रुति भी संगत हो जाती है ऐसा प्राचीननैयायिक कहते

तन्न दुःखात्यन्ताभावस्यासाध्यत्वेनापुरुषार्थत्वात्। दुःखध्वंसस्य च न तत्र सम्बन्धत्वं परिभाषापत्तेः "दुःखेनात्यन्तं विमुक्तश्चरति" इति श्रुतेर्दुःखप्रागभावस्यैव कारणविघटनमुखेनात्यन्ताभावसमानरूपत्वतात्पर्यकत्वात्। नन्वयं न पुरुषार्थः निरुपाधीच्छाविषयत्वाभावात् दुःखकाले सुखं तावन्नोत्पद्यते इति सुखार्थिनामेव दुःखाभावार्थं प्रवृत्तेरिति चेन्न वैपरीत्यस्यापि सुवचत्वात् सुखेच्छापि दुःखाभावौपाधिकीत्येव किं न स्यात्, शोकाकुलानां सुखविमुखानामपि दुःखाभावमात्रमभिसन्धाय विषभक्षणोद्बन्धनादौ प्रवृत्तिदर्शनात्। ननु पुरुषार्थोऽप्ययं ज्ञायमान एव मुक्तेस्तु दुःखाभावस्य ज्ञायमानतैव नास्ति अन्यथा

हैं। (इस प्रकार के दुःखात्यन्ताभावरूप मुक्तिपक्ष का खण्डन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि) यह नहीं हो सकता, क्योंकि दुःखात्यन्ताभाव भी नित्य होने के कारण असाध्य होने से पुरुषार्थ नहीं हो सकता। (यदि कहो कि 'पूर्वोक्त दुःखध्वंसरूप सम्बन्ध के साध्य होने से दुःखात्यन्ताभाव भी साध्य हो जायगा' तो शंकरमिश्र कहते हैं कि) प्राचीनमत में ध्वंस के अधिकरण में अत्यन्ताभाव की सत्ता विरुद्ध होने से सम्बन्धिसमानदेशता नहीं हो सकती, तथा दुःखध्वंस अत्यन्ताभाव का सम्बन्ध हो भी नहीं सकता, यदि हो तो वह पारिभाषिक भी हो जायगा, अर्थात् कल्पनिक होगा, क्योंकि उपरोक्त 'दुःखेनात्यन्तं विनुक्तश्चरति' इस श्रुति का दुःख कारणों के निवृत्ति द्वारा दुःखप्रागभाव ही दुःखात्यन्ताभाव के समान हो जाता है ऐसा तात्पर्य है। यहाँ पर दुःखध्वंसरूप मुक्तिपदार्थ के विषय में पूर्वपक्षी पुनः शंका करता है कि—'यह दुःखध्वंस भी पुरुषार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वह निरूपाधिक अन्येक्षानधीन इच्छा का विषय नहीं है कारण यह कि दुःख के समय सुख उत्पन्न नहीं होता, इस कारण सुखार्थियों की ही दुःखनिवृत्ति के लिये प्रवृत्ति होती है'। (इस शका का समाधान शंकरमिश्र ऐसा करते हैं कि)—नहीं, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि इसके विपरीत कहा जा सकता है कि—सुख की इच्छा दुःखाभावरूप उपाधि से होती है ऐसा क्यों न हो, कारण यह है कि अत्यन्त शोक से व्याकुल प्राणियों को सुख की इच्छा न होने पर भी केवल हम इस दुःख से छुटकारा पावें इस इच्छा से विषभक्षण, फांसी इत्यादि कर्मों में प्रवृत्ति देखने में आती है, इस कारण दुःखध्वंसरूप मुक्ति के निरूपाधिक इच्छाविषय होने से पुरुषार्थता सिद्ध ही है। इस पर पुनः पूर्वपक्षी ऐसा आक्षेप करता है कि 'ज्ञायमान (जाना हुआ) ही कोई पुरुषार्थ हो सकता है, दुःखाभावरूप मुक्ति तो ज्ञान का विषय ही नहीं है, तो वह पुरुषार्थ कैसे होगा', यदि ज्ञात न हुआ भी पुरुषार्थ हो तो, मूर्च्छा (वेहोशी) आदि अवस्था प्राप्ति के लिये भी प्राणियों की प्रवृत्ति होने लगेगी, अर्थात् फल की इच्छा में फल का ज्ञान कारण है, प्रकृतदुःखाभावरूप निःश्रेयस तो ज्ञात नहीं है, अतः उस विषय की इच्छा न होने के कारण उसमें पुरुषार्थं तो नहीं हो सकता, ऐसा पूर्वपक्षी का अभिप्राय है।

मूर्च्छाद्यवस्थार्थमपि प्रवर्त्तेतेति चेन्न श्रुत्यनुमानाभ्यां ज्ञायमानस्यावेद्यत्वानुपपत्तेः। अस्ति हि श्रुतिः "दुःखेनात्यन्तं विमुक्तश्चरति" "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" इत्यादिका। अनुमानमप्यस्ति–दुःखसन्ततिरत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वात् प्रदीपसन्ततिवदित्यादि। चरमदुःखध्वंसस्य दुःखसाक्षात्कारेण क्षणं विषयीकरणात् प्रत्यक्षवेद्यताऽपि। योगिनां योगजधर्मबलेनागामिनो दुःखध्वंसस्य प्रत्यक्षोपगमाच्च। तथापि तुल्यायव्ययतया नायं पुरुषार्थो दुःख-

---

इस आक्षेप का समाधान करते हुए उपस्कार में कहते हैं कि श्रुति तथा अनुमान-प्रमाण से दुःखध्वंसरूप मोक्ष के ज्ञात होने के कारण ज्ञान में अविषयतारूप अवेद्यता नहीं हो सकती। क्योंकि "दुःखेनात्यन्तं विमुक्तश्चरति" "तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति" अर्थात् दुःख से अत्यन्त रहित हो जाता है, उसको जान कर ही संसार से छुटकारा पाता है इत्यादि श्रुति से दुःखध्वंसरूप मुक्ति है यह जाना जाता है। तथा चिन्तामणि ग्रन्थकार गंगेशोपाध्याय ने वर्णन किया हुआ दुःखों का समुदाय, अत्यन्त विनाशी है, समुदायरूप होने से, दीप के सन्तान (ज्वालसमूह) के समान इत्यादि अनुमानों से भी आत्यन्तिक दुःखनिवृतिरूप मोक्ष जाना गया है अतः उक्त मोक्ष में अज्ञातत्व नहीं हो सकता। वहां पर अपने (दुःख के) आधार के असमकालिक ध्वंस की प्रतियोगिता अत्यन्त उच्छेद शब्द का अर्थ है, जिससे दुःखत्व, अपने आश्रय के असमकालीन दुःखध्वंस का प्रतियोगी है, सन्तान होने से, प्रदीप सन्तान के समान यह उक्त अनुमान का सारअर्थ निकलता है। यहां पर संततित्व जातिविशेष है, जो उन-उन आत्माओं के अधर्मरूप अदृष्ट से उत्पन्न दुःखसमुदाय में वर्तमान होने से 'यह दुःख है' इत्यादि रूप से अनुगत बुद्धि से ही प्राणिमात्र को मानसप्रत्यक्ष से होने के कारण प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। अर्थात् भिन्न-भिन्न नानाकाल के कार्यमात्र में रहनेवाले धर्म को सन्तान कहते हैं।

इस प्रकार दुःखध्वंसरूप मुक्ति की श्रुति तथा अनुमानप्रमाण द्वारा ज्ञातता सिद्ध करने के पश्चात् उसमें प्रत्यक्षप्रमाण दिखाते हैं कि अन्तिम दुःखध्वंस का दुःख के प्रत्यक्ष से (जहां मरण के पूर्वकाल में दुःखध्वंस के प्रत्यक्ष की सामग्री हो ऐसे स्थल में) क्षणमात्र विषय होने के कारण दुखःध्वंस का प्रत्यक्ष से भी अनुभव होने के कारण भी दुःखध्वंसरूप मोक्ष ज्ञात ही है। कार्यसहभाव ही विषय में कारणता होती है, नकि पूर्ववर्तमानता इस मत से यह कहा गया है (यदि ऐसा दुःखध्वंस के विषय में प्रत्यक्ष न माना जाय तो भी शंकरमिश्र कहते हैं कि) योगियों को योग-समाधि से उत्पन्न धर्म के बल से दुःखध्वंस का प्रत्यक्ष होता है यह भी माना गया है इससे प्रत्यक्षप्रमाण भी दुःखध्वंस में श्रुति तथा अनुमान के समान प्रमाण हैं यह सिद्ध होने के कारण दुःखध्वंस से अज्ञायमान होने से पुरुषार्थ नहीं हो सकता यह पूर्वपक्षी का अक्षेप असंगत है। इस पर पुनः पूर्वपक्षी शंका करता है कि 'तथापि आप

वत् सुखस्यापि हानेः द्वयोरपि समानसामग्रीकत्वादिति चेत् उत्सर्गतो वीतरागाणां दुःखदुर्दिनभीरूणां सुखखद्योतिकामात्रेऽलम्प्रत्ययवतां तत्र प्रवृत्तेः। ननु तथापि दुःखनिवृत्तिर्न पुरुषार्थः अनागतदुःखनिवृत्तेरशक्यत्वात् अतीतदुःखस्यातीतत्वात् वर्त्तमानदुःखस्य पुरुषप्रयत्नमन्तरेणैव निवृत्तेरिति चेन्न हेतूच्छेदे पुरुषव्यापारात् प्रायश्चित्तवत्। तथाहि सवासनं मिथ्याज्ञानं संसारहेतुस्तदुच्छेदश्चात्मतत्त्वज्ञानात् तत्त्वज्ञानञ्च योगविधिसाध्यमिति तदर्थं प्रवृत्त्युपपत्तेः।

ननु नित्यसुखाभिव्यक्तिरेव मुक्तिर्नतु दुःखाभाव इति चेन्न नित्यसुखे

(प्राप्ति) तथा व्यय (हानि) इन दोनों की समानता होने के कारण यह दुःखध्वंस पुरुषार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि दुःख के समान सुख की भी हानि (नाश) हो जायगा, क्योंकि दुःख तथा सुख दोनों की शरीर इन्द्रियादिरूप सामग्री समान ही है, अर्थात् इष्ट (सुख) तथा अनिष्ट (दुःख) दोनों के समान होने से दुःख की हानि होना इष्ट होने पर भी सुख की हानि अनिष्ट होने पर भी दुःख की उपरोक्त सामग्री से उत्पन्न होने के कारण उस सुख के हानि के लिये किसी प्राणी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः दुःख का ध्वंस पुरुषार्थ नहीं हो सकता'। (इस शंका के उत्तर में शंकरमिश्र ऐसा समाधान करते हैं कि) सामान्यरूप से रागरहित विरक्त पुरुषों की जो दुःखरूप दुर्दिन (मेघाच्छन्न दिन) से भय करनेवाले अतएव जुगनू के समान चमकवाले सुख के लेशमात्र को न भी चाहने वाले प्राणियों की दुःखध्वंसरूप मोक्ष के लिये प्रवृत्ति हो सकती है। इस पर पुनः आक्षेप करनेवाला यदि ऐसा आक्षेप करे कि—'तथापि दुःखध्वंस इस कारण पुरुषार्थ नहीं हो सकता, कि भविष्य में होनेवाले दुःखों के वर्तमान में न रहने से उनकी निवृत्ति नहीं हो सकती, व्यतीत दुःख तो नष्ट हो ही चुके हैं, वर्तमान दुःख बिना पुरुष के प्रयत्न के भोग से निवृत्त हो ही जायँगे, अतः दुःखनिवृत्ति पुरुषार्थ नहीं हो सकती'। (तो इस आक्षेप का समाधान शंकरमिश्र ऐसा देते हैं कि) अग्रिमदुःख के निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त के समान दुःख के कारणों के उच्छेद के लिये पुरुष प्रयत्न करते हैं, अतः यह दोष नहीं हो सकता। तथाच वासनासहित मिथ्याज्ञान संसारबंधन का कारण है जिसका नाश आत्मा के वास्तविक ज्ञान से (विरोधी होने के कारण) होगा, जो आत्मा का तत्त्वज्ञान योगदर्शनोक्त योग (समाधि) से होता है, अतः उसके लिये प्रवृत्ति हो सकती है।

(मीमांसकाभिमत मुक्ति का खण्डन करने के लिये उनके मत से मुक्तिपदार्थ की शंका दिखाते हैं कि) 'नित्यसुख का आविर्भाव होना ही मोक्ष है, नकि दुःखध्वंस'। किन्तु यह संगत नहीं है क्योंकि इस नित्यसुख में कोई प्रमाण नहीं है। यदि

प्रमाणाभावात्, भावे वा नित्यं तदभिव्यक्तेर्मुक्तसंसारिणोरविशेषापातात् अभिव्यक्तेरुत्पाद्यत्वेन तन्निवृत्तौ पुनः संसारापत्तेश्च ।

ब्रह्मात्मनि जीवात्मलयो मुक्तिरिति चेन्न लयो यद्येकीभावस्तदा बाधात् नहि द्वयमेकं भवति । लिङ्गशरीरापगमो लयो लिङ्गञ्चैकादशेन्द्रियाणि तेषां शरीरस्य च विगमो लय इति चेन्न एतावता दुःखसामग्रीविरहस्योक्तत्वात् तथाच दुःखाभाव एव मुक्तिरिति पर्यवसानात् ।

एतेनाविद्यानिवृत्तौ केवलात्मस्थितिर्मुक्तिः आत्मा च विज्ञानसुखात्मक इत्येकदण्डिमतमपास्तम् । आत्मनो ज्ञानत्वे सुखत्वे च प्रमाणाभावात् । न

मीमांसक कहे कि 'आनन्द ब्रह्मणो रूपं नित्यं विज्ञानमानंदं ब्रह्म अर्थात् आनन्द ब्रह्म का रूप है, वह नित्य, ज्ञान तथा आनन्दरूप ब्रह्म है, इत्यादि श्रुति ही मुक्ति में नित्य-सुख है इस विषय में प्रमाण है' तो यह मानने पर भी नित्य उस सुख की अभिव्यक्ति के नित्य होने से मुक्त आत्मा तथा संसारी आत्मा से कोई विशेषता न होगी। अभि-व्यक्ति को उत्पत्तियोग्य अनित्य माना जाय तो उसकी निवृत्ति आवश्यक होगी, जिससे मुक्त आत्मा को पुनः संसारबन्धन प्राप्त होने लगेगा। यह दोष नित्यसुख के समान नित्यज्ञान भी मीमांसक को समानन्याय से मानना होगा जिससे नित्यज्ञा-नाश्रय ईश्वर भी उन्हें स्वीकार करना होगा जो अनीश्वरवादी भी मीमांसक के लिये अपसिद्धान्त हो जायगा इस दोष को भी सूचित करता है। अतः नित्यसुखाभि-व्यक्तिरूप निःश्रेयस पक्ष असंगत है।

प्रथम (त्रिदंड नामक वेदान्तिमत का खण्डन करते हुए शङ्करमिश्र कहते हैं कि)— 'ब्रह्मरूप आत्मा में जीवरूप आत्मा के लय को मुक्ति कहते हैं, ऐसा वेदान्तिविशेष का मत भी अयुक्त है, क्योंकि यहाँ पर लय शब्द का अर्थ यदि एकतारूप प्राप्ति ऐसा किया जाय तो बाध दोष आजायगा, कारण यह कि दो पदार्थ एक नहीं हो सकते। यदि लिङ्गशरीर (सूक्ष्म शरीर) की निवृत्ति होना लय शब्द का अर्थ है लिङ्ग शब्द का अर्थ है मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रिय ऐसे एकादश इन्द्रिय एवं शरीर इनके नाश को लय कहते हैं' ऐसा वेदान्ती कहे तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा लय मानने से तो उक्त दुःख की सामग्री का अभाव ही लय शब्द का अर्थ होगा, तथाच दुःख की निवृत्ति ही मुक्ति है यह तात्पर्य वेदान्ती का भी है यह सिद्ध होने से नैयायिकमत ही सिद्ध होगा ।

द्वितीय (एकदंडि वेदान्ति मत का भी खंडन करते हुए शङ्करमिश्र कहते हैं कि)— इसीसे 'अविद्या के निवृत्त होने पर केवल आत्मारूप में स्थित होना मुक्तिपदार्थ है, और आत्मा, विज्ञान तथा सुखरूप है, ऐसा एकदण्डिवेदान्तियों का मत भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि आत्मा के ज्ञान तथा सुखरूप होने में कोई प्रमाण नहीं है। (अर्थात् उक्त दोनों वेदान्तिमतों में माया के अधीन होने वाले प्रपंच (संसार) की माया के निवृत्ति

च "नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति श्रुतिर्मानम् तस्या ज्ञानवत्त्वानन्दवत्त्व-प्रतिपादकत्वात् भवति हि अहं जाने अहं सुखीतिप्रतीतिः नत्वहं ज्ञानम् अहं सुखमिति। किञ्च ब्रह्मण इदानीमपि सत्त्वात् मुक्तसंसारिणोरविशेषापत्तिः अविद्यानिवृत्तेश्चापुरुषार्थत्वात् ब्रह्मणश्च नित्यत्वेनासाध्यत्वात्, तत्साक्षात्कारस्य तदात्मकत्वेनासाध्यत्वात्, एवमानन्दस्यापि तदात्मकत्वेनासाध्यत्वमेवेति तदर्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तिरेव।

से ही निवृत्ति होने के कारण मोक्षकाल में माया की निवृत्ति आवश्यक है। त्रिदण्डि नामक प्रथमवेदान्तिमत में भी 'लिङ्गशरीरापगमः' इत्यादि ग्रन्थ में अविद्या ही की माया रूप से पारिभाषिक व्याख्या की है, एवं च दोनों मत में अविद्या ही के दुःख के कारण होने से दुःखाभाव ही मुक्तिपदार्थ है यह सार निकलता है जो दोनों मत आत्मा के ज्ञान तथा सुखरूप होने में कोई प्रमाण न होने से असंगत है यह कह चुके हैं। यदि वेदान्ति कहे कि 'नित्यं विज्ञानं ब्रह्म' यह श्रुति ही ब्रह्म अभिन्नआत्म के ज्ञान तथा सुख-रूप होने में प्रमाण है तो यह नहीं ही सकता, क्योंकि उक्त श्रुति, आत्मा ज्ञानगुण तथा आनन्द (सुख) का आश्रय है यह प्रतिपादन करती है, इसी कारण प्राणिमात्र को 'मैं जानता हूँ मैं सुखी हूं' ऐसा अनुभव होता है नकि मैं ज्ञान हूँ मैं सुख हूं। यदि वेदा-न्त कहे कि मैं ज्ञान हूं इत्यादि प्रतीति 'मैं गौरवर्ण हूँ' इत्यादि प्रतीति के समान भ्रम-रूप है' तो शंकरमिश्र वेदान्तिमत पर दूसरा ऐसा दोष देते हैं कि ब्रह्म के इस समय में भी वर्तमान होने से मुक्त आत्मा तथा संसारी आत्मा में अविशेषता दोष आ जायगा। या अविद्या में प्रमाण न होने से अविद्या की निवृत्ति पुरुषार्थ भी नहीं हो सकती, और ब्रह्म नित्य होने से साध्य न होने के कारण पुरुषार्थ भी नहीं हो सकता, उसका साक्षात्कार भी अद्वैत के कारण ब्रह्मरूप होने से साध्य न होने के कारण पुरुषार्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार आनन्द भी ब्रह्मरूप होने के कारण असाध्य होने से पुरुषार्थ नहीं हो सकता अतः आनन्दरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिये प्रेक्षावान् पुरुषों की प्रवृत्ति न हो सकेगी (यहाँ पर नैयायिकों का यह तात्पर्य है कि प्रमाणाभाव से अविद्या अदृष्ट को छोड़कर कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। अतः अदृष्टनिवृत्ति अथवा अदृष्ट के अधीन दुःखों की निवृत्ति ही मोक्ष है। यदि वेदन्ती-जगत्, माया से निर्मित है, मिथ्या होने से, इन्द्रजाल के खेल के समान, ऐसा अनुमान अविद्या (माया) में प्रमाण दे, तो जगत में मिथ्यात्वरूप हेतु ही असिद्ध होने के कारण उससे मायानिर्मितत्व कैसे सिद्ध होगा। यदि वेदान्ति जगत्, मिथ्या है, ब्रह्म भिन्न होने से इस अनुमान से जगत् में मिथ्यात्व सिद्ध करे, तो ब्रह्मभिन्नत्वहेतु मिथ्यात्व का साधक नहीं हो सकता ऐसी उसमें अप्रयोजकत्व शंका हो सकती है, अन्यथा जगत् सत्य है, काल में रहनेवाले अभाव का अप्रतियोगि होते हुए, ब्रह्म भिन्न है, इस अनुमान से जगत् में सत्यता ही क्यों न मानी जाय, क्योंकि काल में जगत् (संसार) का अभाव तो उपलब्ध होता ही नहीं।

निरुपप्लवा चित्सन्ततिर्मुक्तिरिति चेन्न। दुःखादिरूपस्य उपप्लवस्य विगमो यदि निरुपप्लवत्वम् तदा तन्मात्रस्यैव पुरुषार्थत्वेन चित्सन्ततेरनुवृत्तौ प्रमाणाभावः तदनुवृत्तेरपि शरीरादिसाध्यत्वेन संसारानुवृत्तेरावश्यकत्वादिति सिद्धं दुःखनिवृत्तिरेवोक्तरूपा निःश्रेयसमिति ।

तत्त्वस्य ज्ञानमिति कर्मणि षष्ठी। साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामिति प्रकारे तृतीया। तत्र साधर्म्यमनुगतो धर्मः, वैधर्म्यञ्च व्यावृत्तो धर्मः। यद्यपि क्वचित् साधर्म्यमपि कुतश्चिद्वैधर्म्यं कुतश्चिद्वैधर्म्यमपि केषाञ्चित् साधर्म्यम् तथापि ताद्रूप्येण ज्ञानं विवक्षितम्। अत्र च द्रव्यादिपदार्थानामुद्देश एव विभागः पर्यवसन्नः। स च न्यूनाधिक-

---

तस्मात् अविद्या में प्रमाण न होने से वेदान्तिमत असंगत है। (इस प्रकार वेदान्तिमत का खण्डन कर बौद्धमतसिद्धमुक्तिपदार्थ का खण्डन करने के लिये प्रथम उनका मत शंकरमिश्र दिखाते हैं कि)—सांसारिक उपद्रवरूप बाधारहित क्षणिक विज्ञान संतानधारा ही मुक्ति पदार्थ है, न कि नित्यविज्ञानरूप ब्रह्म। इस मत का शङ्करमिश्र ऐसा खंडन करते हैं कि यदि इस लक्षण में दुःखादिरूप सांसारिक उपप्लवों (उपद्रवों) की निवृत्ति ही निरुपल्यवता कही जाय तो सांसारिक दुःखादिराहित्य ही मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध होने से, ऐसे मुक्तिकाल में क्षणिक विज्ञान संतानधारा रहती है इसमें क्या प्रमाण है। और यह विज्ञानसंतानधारा शरीर तथा इन्द्रियादिकों से ही उत्पन्न होती है, इसलिये मुक्तिकाल में बौद्ध को संसारानुवृत्ति (संसार में पुनः आगमन) को अवश्य मानना पड़ेगा, अत. यही सिद्ध होता है कि पूर्वप्रदर्शित आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति ही निःश्रेयण है।

'धर्मविशेषप्रसूतात्' इत्यादि चतुर्थ सूत्र के पदों का अक्षरार्थ वर्णन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि 'तत्त्वज्ञानात्' इस समस्तपद में 'तत्त्वस्य ज्ञानं' ऐसी कर्म में षष्ठी है तथा 'साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां' यह तृतीया विभक्ति प्रकार अर्थ में है। जिससे साधर्म्य तथा वैधर्म्य प्रकार के तत्त्वविषयक ज्ञान से निःश्रेयस होता है। ऐसा सूत्रांश का अर्थ होता है। उसमें अनुगत धर्म को साधर्म्य तथा व्यावृत्तधर्म को वैधर्म्य (विशेष) कहते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं साधर्म्य (समानधर्म) भी किसी-किसी पदार्थ से विरुद्धधर्म (वैधर्म्य) तथा किसी पदार्थ से वैधर्म्य (विशेष) भी कुछ पदार्थों का साधर्म्य (अनुगत धर्म) होता है, तथापि साधर्म्य तथा वैधर्म्यरूप से ज्ञान होना यहाँ विवक्षित होने के कारण कोई दोष न होगा, क्योंकि जिसका साधर्म्यरूप से ज्ञान है अथवा वैधर्म्यरूप से ज्ञान है वही वहां गृहीत होता है (आगे असम्बन्ध की व्यावृत्ति करना ही जिसका फल है ऐसे चतुर्थ सूत्र में कहे हुए द्रव्यगुण आदि पदार्थों के विभाग का विवेचन करने के लिये पूर्वपक्षिमत से शंका करते हैं कि) इस सूत्र में द्रव्यगुण इत्यादि पदार्थों का उद्देश्य (नाममात्र से कथन) ही पदार्थों का विभाग सूचित करता है जिसका द्रव्यादिकों से न्यून, तथा अधिक पदार्थ नहीं है, यह प्रयोजन बोधित होता

सङ्ख्याव्यवच्छेदफलकस्तेन षडेव पदार्था इति नियमः पर्य्यवस्यति, स चानुपपन्नः व्यवच्छेद्यस्य पदार्थान्तरस्य प्रतिपत्तौ नियमानुपपत्तिः, अप्रतीतौ व्यवच्छेदानुपपत्तिः। ननु नायमन्ययोगव्यवच्छेदः किन्त्वयोगव्यवच्छेदः पदार्थेषु षड्लक्षणायोगो व्यवच्छिद्यत इति चेन्न पदार्थपदेन प्रसिद्धपदार्थमात्रोपसंग्रहे सिद्धसाधनात् अन्यस्य चाप्रतीतेरेव। किञ्च लक्षणानां मिलितानामयोगो व्यवच्छेद्यः प्रत्येकं वा ? आद्ये मिलितायोगः सर्वत्रेति व्यवच्छेदानुपपत्तिः। अन्त्येऽपि प्रत्येकायोगः परस्परं सर्वत्रेति व्यवच्छेदानुपपत्तिरेवेति चेन्न। शक्तिसङ्ख्यासादृश्यादिषु पदार्थेषु पराभिमतेषु षड्लक्षणायोगः परैरुच्यते

है, जिससे द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय ऐसे षट् ही पदार्थ हैं यह नियम है ऐसा सिद्ध होता है, किन्तु यह नियम नहीं हो सकता, क्योंकि पदार्थ षट् ही हैं इससे व्यावृत्तियोग्य (निषेधयोग्य) दूसरे पदार्थ का ज्ञान होता हो तो षट् ही पदार्थ हैं यह नियम नहीं बन सकता, क्योंकि इनसे अतिरिक्त सप्तम पदार्थ भी वर्तमान है यह सिद्ध होता है। यदि सिद्धान्ती कहे कि उस व्यावृत्तियोग्य दूसरे सातवें पदार्थ की प्रतीति (ज्ञान) नहीं है, तो अभाव का प्रतियोगी के ज्ञानपूर्वक ज्ञान होने का नियम होने से उसकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती। यहां पर यदि सिद्धान्ती ऐसी शंका करे कि यह पदार्थविभाग न्यूनाधिक संख्या की व्यावृत्ति नहीं करता, अर्थात् इसका दूसरे पदार्थ में पदार्थत्व जाति के सम्बन्ध की निवृत्ति करना फल नहीं है, किन्तु द्रव्यादि षट् पदार्थों में पदार्थत्वजाति के असम्बन्ध (न रहने की) व्यावृत्ति करना फल है, अर्थात् द्रव्यादि षट् पदार्थों में द्रव्यादि षट् पदार्थों के लक्षणों का असम्बन्ध (न रहना) व्यावृत्त होता है। जिससे षट् द्रव्यादिकों से अतिरिक्त पदार्थ नहीं हो सकते। यह तात्पर्य सिद्धान्ती का है। इस सिद्धान्ती की शङ्का पर पूर्वपक्षी पुनः आक्षेप करता है कि ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ पर पदार्थपद से यदि प्रसिद्ध पदार्थमात्रों को संग्रह किया जाय, तो उनके सिद्ध होने से उनकी सिद्धि इस सूत्र से यदि हो तो सिद्धसाधन दोष हो जायगा, उनसे भिन्न पदार्थ की प्रतीति होती ही नहीं, तथा हम सिद्धान्ती से यह भी प्रश्न करते हैं कि उक्त द्रव्यादि षट् पदार्थों में मिलित (एकत्रित) सम्पूर्ण द्रव्यादि षट् पदार्थों के लक्षणों के असम्बन्ध की व्यावृत्ति करना सिद्धान्ती का अभिमत है अथवा प्रत्येक लक्षण की। प्रथमपक्ष में मिलित सम्पूर्ण द्रव्यादिकों के लक्षणों को असम्बन्ध द्रव्यादि संपूर्ण पदार्थों में होने से व्यावृति न बन सकेगी। अन्तिमपक्ष में भी प्रत्येक द्रव्यादि लक्षण का असम्बन्ध परस्पर द्रव्यादि षट् पदार्थों में सर्वत्र है इस कारण भी असम्बन्ध की व्यावृत्ति नहीं हो सकती। अतः सिद्धान्ती का षट् पदार्थों में पदार्थ-जाति के असम्बन्ध की व्यावृत्ति भी विभाग का फल मानना असंगत है। (इस प्रकार की पूर्वपक्षी की शङ्का का समाधान शंकरमिश्र इस प्रकार करते हैं कि)—अन्य दार्शनिकों का अभिमत शक्ति, सादृश्य इत्यादि पदार्थों में

तद्व्यवच्छेदो नियमार्थः, तथाच षडेव पदार्था इत्यस्य प्रतीयमानेषु षण्णां लक्षणानां मध्ये अन्यतमलक्षणयोगोऽस्त्येव न त्वयोग इत्यर्थः। तत्र विशेष्यसङ्गतस्यान्ययोगव्यवच्छेदो विशेषणसङ्गतस्यायोगव्यवच्छेदः क्रियासङ्गतस्य चात्यन्तायोगव्यवच्छेदस्तावत् प्रतीयते। तत्र शक्तित्रयमेवकारस्येत्येके व्यवच्छेदमात्रे शक्तिरयोगान्ययोगादयस्तु व्यवच्छेद्याः समभिव्याहारलभ्या इत्यपरे।

धर्मविशेषप्रसूतादिति तत्त्वज्ञानादित्यस्य विशेषणम्। तत्र धर्मविशेषो

द्रव्य आदि षट् पदार्थों के लक्षणों का सम्बन्ध नहीं है, ऐसा उनका कहना है उनकी व्यावृत्ति करना पूर्वोक्त विभाग नियम का प्रयोजन है, जिससे 'षट् एव पदार्थाः' षट् ही पदार्थ हैं, इस नियम से अन्य दार्शनिकों के मत से प्रतीत होनेवाले शक्ति, सादृश्यादि पदार्थों में द्रव्यादि षट् लक्षणों में से किसी न किसी एक लक्षण का सम्बन्ध अवश्य है, न कि असम्बन्ध, जिससे पदार्थ षट् ही हैं यह सिद्ध होता है। यहाँ शंकरमिश्र ने 'प्रतीयमानेषु' प्रतीत होनेवाले पदार्थों में ऐसा इसलिये कहा कि जिससे पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता कि अभाव पदार्थ में द्रव्यादि षट् लक्षणों का असम्बन्ध होने से असम्बन्ध व्यावृत्तिरूप नियम नहीं बन सकता—क्योंकि भावरूप पदार्थों में ही द्रव्यादि षट् लक्षणों के असम्बन्ध की व्यावृत्ति करना ही प्रस्तुत है, अभावपदार्थ तो भावपदार्थों की अपेक्षा करने से सूत्रमत से अन्य पदार्थ होने पर भी अप्रधान होने के कारण यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया है, किन्तु वह परिशेष से सिद्ध होता है ऐसा आगे कहेंगे। (अवधारणार्थक व्यवच्छेद के बोधक एवकार का प्रसंग से अर्थ का वर्णन शंकरमिश्र इस प्रकार करते हैं कि)—उसमें ये विशेष्यपद के साथ वर्तमान एवकार का अन्य में सम्बन्ध की व्यावृत्ति करना अर्थ होता है, जैसे 'पार्थएव धनुर्धरः' अर्जुन ही धनुषधारी है इस वाक्य में पार्थरूप (विशेष में संगत एवकार से अर्जुन से भिन्न में धनुषधारिता नहीं है यह अर्थ होता है।) विशेषण के साथ वर्तमान एवकार का 'असम्बन्धव्यावृत्ति' अर्थ होता है। जैसे 'पीत एव पटः' पीला ही वस्त्र है, इस वाक्य में पीतगुण का वस्त्र में सम्बन्ध नहीं है यह व्यावृत्त होता है तथा क्रिया में सम्बद्ध एवकार से अत्यन्त असम्बन्ध की व्यावृत्ति होना प्रतीत होता है, जैसे 'पचति एव देवदत्तः' देवदत्त पकाता ही है, इस वाक्य से देवदत्तादि पुरुषों में पाकक्रिया के अत्यन्त व्यावृत्ति का बोध होता है। इसमें कुछ विद्वानों का उक्त प्रकार से एवकार की तीन अर्थों में तीन शक्ति हैं ऐसा मत है, जिसमें तीन अर्थ में शक्ति मानने से गौरव होगा, अतः कुछ दार्शनिकों का ऐसा मत है कि केवल व्यवच्छेदरूप व्यावृत्ति ही में एवकार की एक शक्ति है, अन्य में सम्बन्ध की व्यावृत्ति इत्यादि प्रदर्शित अर्थों का ज्ञान तो समभिव्याहृत साथ में उच्चारण किये हुए विशेषादिकों के सम्बन्ध से ही लब्ध होता है।

(पुनः अवशिष्ट चतुर्थ सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—'धर्मविशेषप्रसूतात्' धर्मविशेष से उत्पन्न यह पद 'तत्त्वज्ञानात्' तत्त्वज्ञान से इस अर्थ

निवृत्तिलक्षणो धर्मः। यदि तु तत्त्वं ज्ञायतेऽनेनेति तत्त्वज्ञानं शास्त्रमुच्यते तदा धर्मविशेष ईश्वरनियोगप्रसादरूपो वक्तव्यः। श्रूयते हीश्वरनियोगप्रसादावधिगम्य कणादो महर्षिः शास्त्रं प्रणीतवानिति। तत्त्वज्ञानमात्मतत्त्वसाक्षात्कार इह विवक्षितस्तस्यैव सवासनमिथ्याज्ञानोन्मूलनक्षमत्वात्। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इत्यत्र "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये"

के पद का विशेषण है उसमें धर्मविशेष यहां पर निवृत्तिरूप धर्म ग्रहण करना चाहिये।

(पूर्व में कथित रीति से यदि तत्त्व जिससे जाना जाय ऐसे अर्थ से तत्त्वज्ञान शब्द का शास्त्ररूप अर्थ किया जाय, तो पूर्वप्रदर्शित अन्वय को अनुपपत्तिरूप दोष का उद्धार करने के लिये धर्मविशेषपद का अन्य अर्थ हो सकता है इस अभिप्राय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—यदि 'तत्त्वं ज्ञायते अनेन' जिससे तत्त्व जाना जाय। इस कारण व्युत्पत्ति से तत्त्वज्ञानपद से शास्त्र कहा जाता है ऐसा पक्ष पूर्वप्रदर्शित पक्ष लिया जाय तो चतुर्थ सूत्रोक्त धर्मविशेष ईश्वर की आज्ञा तथा अनुग्रह कहना होगा, क्योंकि सुनने में आता है कि (पाणिनि महर्षि के समान) ईश्वर की आज्ञा तथा अनुग्रह को प्राप्त कर महर्षि कणाद ने भी वैशेषिकदर्शनरूप शास्त्र का निर्माण किया। (अर्थात् साधर्म्य तथा वैधर्म्यरूप धर्मविशिष्ट द्रव्यादि षट् पदार्थों का निरूपण करनेवाला वैशेषिकदर्शनशास्त्र साधर्म्य तथा वैधर्म्य से द्रव्यादि षट्पदार्थों का निरूपण करता है।) यहाँ पर धर्म के ईश्वरकृत आज्ञा तथा अनुग्रह के कारण होने पर भी कारण तथा कार्य के अभेद के कहने की इच्छा से धर्म में ईश्वर की आज्ञा तथा अनुग्रहरूपता कही है यह जानना चाहिये। इस सूत्र में (उक्त सूत्रस्थ तत्त्वज्ञान शब्द के शास्त्र प अर्थ के पक्ष में आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि) तत्त्वज्ञान शब्द से अपनी आत्मा के स्तविक साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) का ग्रहण करना चाहिये, (नकि इस सूत्र में, क्योंकि इस सूत्र की व्याख्या के अन्त तक इसी पक्ष का विस्तार किया गया है, अतः यदि मध्य में पूर्वप्रदर्शित पक्ष को लिया जाय तो क्रमभंग दोष आ जायगा) क्योंकि उस स्वात्म तत्त्व साक्षात्कार ही को वासनासहित मिथ्याज्ञान के समूल उच्छेद करने में सामर्थ्य है। कारण यह कि स्वात्माविषय में उत्पन्न हुए मिथ्याज्ञान के संसारबन्धन के कारण होने से स्वात्मविषय ही तत्त्वज्ञान उसका विरोधी है। यहाँ 'एव' पद से शंकरमिश्र का इसी पक्ष में आशय सूचित होता है (यदि कहो कि सूत्र में 'तत्त्वज्ञान शब्द में ज्ञानपद सामान्यरूप से ज्ञानवाचक होने के कारण साक्षात्काररूप विशेष ज्ञानरूप अर्थ की वाचकता मानना विरुद्ध है' तो इसके उत्तर में शंकरमिश्र श्रुतिप्रमाण से ज्ञानपद विशेषार्थक हो सकता है यह सिद्ध करते हुए कहते हैं कि) 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेतिनान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय' अर्थात् उस परमात्मा को जानकर ही संसार से उत्तीर्ण होता है दूसरा मोक्ष का मार्ग नहीं है, इस श्रुति में तथा 'द्वे ब्रह्मणी

इत्यत्र च वेदनपदस्य साक्षात्कारपरत्वात्, "पश्यत्यचक्षुः" इत्यत्रापि तथा। स च शास्त्रान्मननिदिध्यासनादिपरम्परयेति हेतुपञ्चम्या तथैवाभिधानात्॥४॥

इदानीमपवर्गभागितया सर्वपदार्थाश्रयतया च प्रथमोद्दिष्टस्य द्रव्यपदार्थस्य विभागं विशेषोद्देशञ्च कुर्वन्नाह—

वेदितव्ये' दो ब्रह्म जानना, इस श्रुति में भी वेदन पद का साक्षात्काररूप ज्ञान ऐसा प्रतिपादन किया है, इसी प्रकार 'पश्यत्यचक्षुः' विना चक्षुइन्द्रिय के देखता है, इस श्रुति में चाक्षुपप्रत्यक्ष का ज्ञानरूप अर्थ किया जाता है। (अर्थात् यद्यपि दृशिधातु का चाक्षुप्रत्यक्ष अर्थ है तथापि 'पश्यति अचक्षु.' इत्यादि श्रुति में दृशिधातु के सामान्यज्ञानरूप अर्थ होने के कारण योग्यता से 'तत्त्वज्ञान' इस पद के ज्ञानधातु का भी साक्षात्काररूप अर्थ लेना भी विरुद्ध नहीं है।) और वह स्वात्मतत्त्व का साक्षात्कार वैशेषिकदर्शनरूप शास्त्र से मनन तथा निदिध्यासन आदि की परम्परा से प्राप्त होता है। इति इसलिये जिस कारण आत्मसाक्षात्कार शास्त्र से प्रयोज्य है इस णकार यहाँ पर आत्मसाक्षात्कार ही सूत्रकार को विवक्षित है। क्योंकि हेतुबोधक 'तत्त्वज्ञानात्' इस पंचमी विभक्ति से ऐसा ही कहा गया है। अतः यह शंका नहीं हो सकती कि आत्मसाक्षात्कार के प्रयोजक वैशेषिकशास्त्र को उक्त रूप से परम्परया मुक्ति में कारण माना जाय तो सूत्र में 'तत्त्वज्ञानात्' इस हेतु पंचमी विभक्ति के मुक्ति में साक्षात् कारणता का कथन असंगत हो जायगा, क्योंकि प्रदर्शित परम्परया मुक्ति में शास्त्र कारण है यही सूत्र में वर्णित है, (अर्थात् जिस प्रकार द्रव्यादिषट्पदार्थों का तत्त्वज्ञान मुक्ति में आत्मसाक्षात्कारादि संपादन द्वारा प्रयोजक है उसी प्रकार वैशेषिकशास्त्र भी उसी के द्वारा प्रयोजक कारण है ॥ ४ ॥

इस प्रकार चतुर्थ सूत्र में वैशेषिकदर्शनशास्त्र के अभिधेय तथा सम्बन्ध का वर्णन करने के पश्चात् द्रव्यादिषट्पदार्थरूप अभिधेयों (विषयों) में से द्रव्यों के प्रथम उद्देश का बीज दिखाते हुए क्रमानुसार उनके विभाग तथा विशेष उद्देशों का वर्णन करने के लिये पंचम सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)— अपवर्ग (मोक्ष) के भागी अधिकारी होने से तथा गुण, कर्म आदि अवशिष्ट संपूर्ण पदार्थों के आधार होने के कारण भी षट्पदार्थों में प्रथम उद्दिष्टद्रव्यपदार्थ का विभाग तथा विशेष उद्देश को करते हुए सूत्रकार कहते हैं—इस शङ्का के कथन से पूर्वग्रंथ के अनन्तर उत्तरग्रन्थ वर्णन करने में इस प्रकार उपोद्घात संगति दिखाई है कि मोक्ष ही मुख्य प्रयोजन है, जिसका आत्मा ही अधिकारी है, इस कारण उसके ज्ञान की इच्छा अन्य पदार्थों के ज्ञान की इच्छा के प्रतिबन्धक होने के कारण तथा आत्मा के द्रव्य पदार्थ होने से प्रथम षट्पदार्थों में द्रव्यों का उद्देश किया गया है। कणादप्रोक्त पंचम सूत्र में इस प्रकार है—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥ ५ ॥

इतिकारोऽवधारणार्थः। तेन नवैव द्रव्याणि नाधिकानि न न्यूनानि वेत्यर्थः। ननु विभागबलादेव न्यूनाधिकसङ्ख्याव्यवच्छेदसिद्धौ किमिति कारेणेति चेत् उद्देशमात्रपरतयाऽपि सूत्रसम्भवे विभागतात्पर्य्यस्फोरणार्थमेवेतिकाराभिधानात्। सुवर्णादीनामीश्वरस्य चात्रैवान्तर्भावात् अन्धकारस्य चाधिकत्वेनाशङ्क्यमानस्याभावत्वव्युत्पादनादेतदध्यवसेयम्। असमासकरणन्तु सर्वेषां प्राधान्य-

---

पदपदार्थ—पृथिवी = पृथिवी, आपः = जल, तेजः = तेज, वायुः = वायु, आकाशं = आकाश, कालः = काल, दिग् = दिशा, आत्मा = जीवात्मा, मन = अन्तःकरण, इति ऐसे, द्रव्याणि = द्रव्यपदार्थ नौ हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—वैशेषिकदर्शन में पृथिवी १, जल २, तेज ३, वायु ४, आकाश ५, काल ६, दिशा ७, आत्मा ८ तथा मन ९ ऐसे नव ही पदार्थ हैं जिनमें पृथिव्यादिकों के आन्तर्गणिक भेदों का समावेश होने से तथा परस्पर विरुद्ध होने से न्यून या अधिक द्रव्यों की शंका नहीं हो सकती जो व्याख्या में उपस्कारकार स्वयं वर्णन करेगें ॥ ५ ॥

(इस पंचम सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—इस सूत्र के अन्त में आये हुए इति इस शब्द का अर्थ है अवधारण जिससे पृथिवी आदि सूत्र में वर्णन किये नव ही द्रव्य हैं न उससे अधिक न न्यून (कम) यह अर्थ होता है। यहाँ पूर्वपक्षी ऐसा पूर्वपक्ष करता है कि 'पृथिवी आदि नौ द्रव्यों के विभाग के उक्ति से ही जब न्यून तथा अधिक द्रव्यों के होने की संख्या का निरास हो सकता है तो उसके ज्ञान के लिये अवधारणार्थं इति शब्द की क्या आवश्यकता है' तो इसके उत्तर में शङ्करमिश्र कहते हैं कि सूत्र में केवल पृथिवी आदि द्रव्यों का केवल विशेष उद्देश भी हो सकता है, अतः सूत्र का विशेष उद्देश के समान द्रव्यपदार्थ के विभाग के वर्णन से भी तात्पर्य है यह सूचित करने के लिये अवधारणार्थक इति शब्द को सूत्रकार ने प्रयोग किया है।

(इस प्रकार इति शब्दार्थ का विचारकर उक्त द्रव्यादिषट्पदार्थ में ही अतिरिक्त कल्पित पदार्थों का अन्तर्भाव होता है इस आशय से शंकरमिश्र कहते हैं कि) सुवर्ण इत्यादिकों का तथा ईश्वर का भी इन्हीं षट्पदार्थों में अन्तर्भाव होने से तथा षट्पदार्थों से अतिरिक्त पदार्थ अन्धकार है ऐसी शंका किये जाने वाले अन्धकार के तेज के अभावरूप है ऐसा वैशेषिकदर्शन में प्रतिपादित होने से भी द्रव्यादि षट् ही पदार्थ हैं यह निश्चय से जानना चाहिये। इस सूत्र में पृथिवी आदि द्रव्यों के बोधक पृथिवी आदि पदों का समास सूत्रकार ने क्यों नहीं किया ? इस संदेह के निवारणार्थ शङ्करमिश्र कहते हैं—कि पृथिवी इत्यादि सम्पूर्ण नौ द्रव्य प्रधान हैं यह बोध होने के लिये सूत्रकार ने समास

न्यप्रदर्शनाय । लक्षणमेतेषान्तु वैधर्म्यावसरे सूत्रकृदेव दर्शयिष्यति । ननु सुवर्णं न तावत् पृथिवी निर्गन्धत्वात्, न जलं स्नेहसांसिद्धिकद्रवत्वशून्यत्वात्, न तेजो गुरुत्ववत्त्वात्, अत एव न वायुर्न वा कालादि, ततो नवभ्यो भिद्यत इति चेन्न, आद्यद्वितीययोरनाभासत्वम् तृतीयस्य स्वरूपासिद्धत्वं ततः परं सिद्धसाधनं हेतोः स्वरूपासिद्धिश्च। साधयिष्यते च सुवर्णस्य तैजसत्वमिति ॥ ५ ॥

गुणत्वेन रूपेण गुणानां सर्वद्रव्याश्रितत्वं द्रव्याभिव्यङ्ग्यत्वं द्रव्याभिव्यञ्जकत्वञ्चेति द्रव्यान्तरं गुणानामुद्देशं विभागञ्चाह—

नहीं किया है । इन पृथिवी आदि नौ द्रव्यों का लक्षण वैधर्म्य के निरूपण के अवसर में स्वयं सूत्रकार ही कहेंगे । (सुवर्ण अधिक दशम द्रव्य हो सकता है । इस प्रकार पूर्वपक्षी के मत से शंका दिखाते हैं कि)—सुवर्ण पृथिवी नहीं हो सकता, क्योंकि गन्धरहित है, तथा जल नहीं हो सकता क्योंकि स्नेह तथा स्वाभाविक द्रवत्व सुवर्ण में नहीं है । (यह दो भिन्न-भिन्न हेतु हैं, अन्यथा स्नेह या द्रवत्व इन दोनों में से एक व्यर्थ हो जायगा), तथा सुवर्ण गुरुत्वाश्रय होने से तेज भी नहीं हो सकता, और गुरुत्वाधार होने से ही सुवर्ण न वायु हो सकता है—न काल, न आकाश, न दिशा, न आत्मा, न मन, इस कारण पृथिवी आदि नौ द्रव्यों से भिन्न है, अर्थात् सुवर्ण के अधिक द्रव्य होने के कारण नौ ही द्रव्य हैं यह सिद्धान्त असंगत है । (इस शंका का समाधान करते हुए उक्त अनुमानों में हेतुदोष दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—निर्गन्धतारूप प्रथम तथा स्नेह और स्वाभाविक द्रवत्वशून्यतारूप द्वितीय हेतु में कोई दोष नहीं है क्योंकि सुवर्ण तेजद्रव्य है । तृतीय गुरुत्वाश्रयतारूप हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष है, क्योंकि उस सुवर्ण में गुरुत्व पार्थिवभाग के मिश्रण से पार्थिवभाग प्रयुक्त है नकि तेजोभाग प्रयुक्त । आगे के वायु आदि के निषेधसाधक गुरुत्वाधारता हेतु में जो सिद्ध होने से सिद्ध का साधन करने के कारण सिद्धसाधनता दोष होने से सिद्धसाधक दुष्टहेतु है । तथा सुवर्ण के तेजोभाग में गुरुत्व न होने के कारण हेतु का स्वरूप सिद्ध न होने से स्वरूपासिद्ध दुष्टहेतु है । तथा अग्रिम तेजोनिरूपण ग्रन्थ में सुवर्ण तेजोद्रव्य है यह सिद्ध किया जायगा ॥ ५ ॥

(द्रव्य के उद्देश के पश्चात् कर्मसामान्य इत्यादि पदार्थों के उद्देश के पूर्व गुणपदार्थों के उद्देश में बीज दिखाते हुए षष्ठ सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—गुणत्व सामान्यरूप से अग्रिम चतुर्विंशति गुण सम्पूर्ण नौ द्रव्यों में आश्रित होते हैं तथा द्रव्य पदार्थों में अभिव्यक्त (प्रगट) होते हैं, और अभिव्यञ्जक (प्रगट करनेवाले) भी होते हैं, इस विशेष के कारण द्रव्यों के पश्चात् गुणपदार्थों का उद्देश तथा विभाग सूत्रकार कहते हैं—

रूपरसगन्धस्पर्शाः सङ्ख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥ ६ ॥

चकारेण गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारधर्माधर्मशब्दान् समुच्चिनोति ते हि प्रसिद्ध-गुणभावा एवेति कण्ठतो नोक्ताः। गुणत्वञ्चामीषां यथास्थानं लक्षणतः स्वरूपतश्च वक्ष्यति। रूपरसगन्धस्पर्शानां समानकालीनरूपरसगन्धस्पर्शसामानाधिकरण्यं नास्तीति सूचनार्थं समासः। सङ्ख्यापरिमाणयोस्तु समानकालीन-

---

पदपदार्थ—रूपरसगन्धस्पर्शाः = रूप,[1] रस[2], गन्ध[3], स्पर्श,[4] संख्या,[5] परिमाण,[6] पृथक्त्व,[7] संयोग,[8] विभाग,[9] परत्व,[10] अपरत्व,[11] बुद्धि,[12] सुख,[13] दुःख,[14] इच्छा,[15] द्वेष,[16] प्रयत्न[17] भी, गुणाः = गुण हैं ॥

भावार्थ—वैशेषिकमत में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि (ज्ञान) सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ऐसे सूत्रकार के कण्ठ से कहे हुए सत्रह, तथा चकार से लोक-व्यवहार में गुणरूप से प्रसिद्ध गुरुत्व-द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म तथा शब्द ऐसे संपूर्ण चतुर्विंशति (चौबीस) गुण हैं ॥ ६ ॥

उपस्कार—इस गुण-विभाजक सूत्र में चकार से गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म, तथा शब्दनामक सात गुणों संग्रह होता है, क्योंकि ये लोकव्यवहार में गुणरूप से प्रसिद्ध हैं इस कारण सूत्रकार ने रूपादि गुणों के समान सूत्र में कण्ठ से उच्चारण नहीं किया है। यह चतुर्विंशति (चौबीस) गुण पदार्थ हैं। इनका उचित स्थानों में क्रम के अनुसार लक्षण तथा स्वरूप से वर्णन किया जायगा। इनमें से रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्शनामक चार गुणों के बोधकरूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श शब्दों का, एक काल मे रहनेवाले दूसरे रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुणों का सामानाधिकरण्य (एक आश्रय में रहना) नहीं है, यह सूचित करने के लिये सूत्रकार ने द्वन्द्व समास किया है।

यहां शंकरमिश्र ने 'स्वकालीन' अपने काल के ऐसा न कहकर 'समानकालीन' एक काल में रहनेवाले ऐसा क्यों कहा ? ऐसी शंका के निवारण में यह उत्तर होगा कि अपने काल में वर्तमान अपने से भिन्न रूपादिकों का बोध होने के लिये समानकालीन ऐसा कहा है, अन्यथा अपने साथ अभेद से समानकालीनता तथा सामानाधिकरण्य को लेकर दोष हो जायगा। भिन्न काल में रूपादि गुणों का दूसरे रूपादि गुणों से सामानाधिकरण्य रहता ही है, अतः समानकालीन ऐसा विशेषण रूपादि गुणों में दिया है। यहां पर 'समासः' इस पद से पदान्तर के व्यवधान से रहित अपने उच्चारण करनेवाले से उच्चारण किये शब्द से प्रतिपादित होना रूप सहचरितता सूचित की गई है, यदि समास न किया जाय तो रूप आदि शब्द के उत्तर आनेवाली विभक्ति

सङ्ख्यापरिमाणसामानाधिकरण्यसूचनायासमासो बहुवचननिर्देशश्च । यद्यप्येकत्वसमानाधिकरणं नैकत्वान्तरं न वा महत्त्वदीर्घत्वसमानाधिकरणं महत्त्वदीर्घत्वान्तरम् तथापि द्वित्वादीनामन्योन्यं सामानाधिकरण्यं महत्त्वदीर्घत्वादीनाञ्च विजातीयपरिमाणयोः सामानाधिकरण्यमस्त्येव । पृथक्त्वञ्च यद्यपि द्विपृथक्त्वादिसमानाधिकरणं तेन सङ्ख्यावद् बहुत्वेनैव निर्देष्टुमर्हति तथाप्यवधिव्यङ्ग्यत्वलक्षणं सङ्ख्यातो वैधर्म्यं सूचयितुमेकवचननिर्देशः ।

से व्यवधान होने के कारण उक्त साहचर्यरूप समास सगत न होगा—यह सूचित किया है । इस प्रकार 'रूपरसगंधस्पर्शाः' इस पद में समास का प्रयोजन दिखाकर 'संख्याः परिमाणानि' इन दो पदों को पृथक् रखने में, अर्थात् इनका समास न रखने का सूत्रकार का क्या आशय है (यह दिखाने के लिये शंकरमिश्र कहते हैं कि)–संख्या तथा परिमाण का समानकाल में रहनेवाली एक संख्या तथा परिमाण गुण के क्रम से दूसरी संख्या तथा परिमाण गुण के साथ एक अधिकरण में वर्तमानता होती है, अर्थात् एक काल में एक आधार में दो संख्या तथा परिमाण रहते हैं यह सूचित करने के लिये परस्पर समास नहीं किया है, तथा बहुवचन भी सूत्रकार ने दोनों में दिखाया है ।

(संख्या तथा परिमाण के विषय में जो समास न करने का प्रयोजन कहा उसमें आपत्ति देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)–यद्यपि एकत्व संख्या के आश्रय में दूसरी एकत्व संख्या, अथवा महत् तथा दीर्घपरिमाण के आश्रय में क्रम से दूसरा महत् तथा दीर्घ परिमाण नहीं रहता, तथापि द्वित्वादि संख्याओं का परस्पर में (त्रित्वादिकों के साथ) तथा महत् और दीर्घ आदि परिमाणों का विजातीय परिमाणों के साथ सामानाधिकरण्य होता ही है, अर्थात् दो पदार्थों में द्वित्व संख्या तथा तीसरे पदार्थ को लेकर त्रित्व संख्या, एवं महत् परिमाणवाले पदार्थ में विजातीय दीर्घ परिमाण (और अणु परिमाणवाले पदार्थ में विजातीय ह्रस्व परिमाण रहता है, अतः संख्या तथा परिमाण गुणों में समानकालीन संख्या तथा परिमाणों का सामानाधिकरण्य सिद्ध होता है । (इस प्रकार संख्या तथा परिमाण के समास न करने का तथा बहुवचन का प्रयोजन दिखाकर पृथक्त्व गुण में 'पृथक्त्वं' इस पद में एकवचन के प्रयोग का प्रयोजन उपस्कार में दिखाते हैं कि)—यद्यपि पृथक्त्व गुण द्विपृथक्त्वादि गुणों के आश्रय में रहता है (अर्थात् जिसमें एकपृथक्त्व तथा द्विपृथक्त्वादि रहता है, क्योंकि यह एक दूसरे से पृथक् हैं यह दो से पृथक् है इत्यादि प्रतीति होती है) अतः संख्या गुण के समान उसमें भी 'पृथक्त्वानि' ऐसा सूत्र में बहुवचन कहना उचित था, तथापि संख्यागुण से यह पदार्थ उस पदार्थ से पृथक् है, इस प्रकार 'उस पदार्थ से' इस पंचमी से पृथक्त्व गुण में अवधि का बोध होने के कारण

संयोगविभागयोर्द्वयोरप्येककर्मजन्यत्वसूचनाय द्विवचनम्। परत्वापरत्वयो-रन्योन्याश्रयनिरूप्यतया दिक्काललिङ्गत्वाविशेषसूचनाय च द्विवचनम्। बुद्धीनां विद्यादिभेदेन साङ्ख्याभिमतैकमात्रबुद्धिनिराकरणसूचनाय बहुवचनम्। सुख-दुःखयोर्द्वयोरपि भोगत्वावच्छेदेनैककार्य्यजनकत्वम् अविशेषेण चादृष्टोन्नाय-कत्वम्, सुखस्यापि दुःखत्वेन भावनञ्च ख्यापयितुं द्विवचनम्। इच्छाद्वेषयोर्द्व-

---

वैलक्षण्य (वैधम्य) है यह सूचित करने के लिये एकवचन का सूत्रकार ने निर्देश किया है। संयोग तथा विभाग इन दोनों गुणों में एक क्रिया से उत्पन्न होना समान है यह सूचित करने के लिये द्विवचन का प्रयोग समास में किया है। परत्व तथा अपरत्व गुण में परस्पर आधारों से निरूपण होना, (अर्थात् दूर की अपेक्षा से समीपस्थ पदार्थ का बोध होना तथा ज्येष्ठ प्राणी की अपेक्षा से कनिष्ठ का बोध होना रूप क्रम से दैशिक तथा कालिक परत्व और अपरत्व गुण का परस्पर की अपेक्षा से बोध होने के कारण) एवं दिशा तथा कालरूप परत्व तथा अपरत्व गुण के साधक हेतुओं का समान होना भी सूचित करने के लिये 'परत्वापरत्वे' इस पद में द्विवचन दिया है। बुद्धि (ज्ञान) के विद्या-अविद्यादि भेद के प्रदर्शन से सांख्यशास्त्र में अभिमत बुद्धि पदार्थ का निराकरण करने के लिये 'बुद्धयः' इस पद में बहुवचन दिया है। सुख तथा दुःख दोनों गुणों में भोगरूप साधारण एक कार्य को उत्पन्न करना समान है, और साधारणरूप से प्राणी के सुख-दुःखभोग से उनके धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट की सिद्धि भी होती है, एवं (मुमुक्षु पुरुष को सुख भी दुःखरूप समझना चाहिये यह भी सूचित करने के लिये 'सुखदुःखे' इस पद में द्विवचन का प्रयोग किया है। इच्छा तथा द्वेष दोनों कायिकादि तीन प्रकार की प्राणी की प्रवृत्ति होने में कारण हैं यह सूचित करने के लिये 'इच्छाद्वेषौ' यह द्विवचन दिया है। शास्त्र में विधान किये तथा निषिद्ध प्रयत्न गुणों के, जो दशविध (दस प्रकार) पुण्य के कारण होते हैं और दस ही पाप के कारण होते हैं यह सूचित करने के अभिप्राय से 'प्रयत्नाः' ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया है।

(यहाँ पर शास्त्र में विहित तथा निषिद्ध पुण्य और पाप के दस प्रकार के होने के कारण उसके कारण प्रयत्न भी दस प्रकार है। जिसमें से दान, रक्षा, सेवा ऐसे तीन शारीरिक तथा सत्य, हित, प्रिय तथा स्वाध्याय ऐसे चार वाचिक एवं क्षोभ न करना, दया और श्रद्धा ऐसे तीन मानसिक ऐसे दस विहित पुण्यकर्म हैं। तथा हिंसा, स्तेय (चोरी) निषिद्ध विषय मैथुनादि भोग ऐसे तीन शारीरिक, मिथ्या, कठोर, चुगलीखोरी तथा असम्बद्ध वचन ऐसे चार वाचिक एवं दूसरे का द्रोह करना, दूसरे का धन चाहना एवं नास्तिकपना ये तीन मानसिक ऐसे दस पापजनक कर्म हैं यह जान लेना।)

योरपि प्रवृत्तिं प्रति कारणत्वसूचनाय द्विवचनम्। प्रयत्नानां विहितनिषिद्धगोचराणां दशविधानां पुण्यहेतुत्वं दशविधानाञ्च पापहेतुत्वमभिसन्धाय बहुवचनमित्युन्नेयम्।

यद्वा रूपरसगन्धस्पर्शानां भौतिकेन्द्रियव्यवस्थाहेतुत्वज्ञापनार्थं पाकजप्रक्रियाव्यवस्थापनार्थं वा ते समस्योक्ताः। सङ्ख्यायां द्वित्वबहुत्वादौ विप्रतिपत्तिरिति तन्निराकरणसूचनार्थं बहुत्वेनाभिधानम्। पृथक्त्वे तु सङ्ख्याबहुत्वेनैवास्यापि बहुत्वमिति सूचनायावधिज्ञानव्यञ्जनीयत्वं सङ्ख्यातो वैधर्म्यमिति सूचनाय च पृथगभिधानम्। परिमाणे तु दीर्घत्वह्रस्वत्वादिविप्रतिपत्तिनिरासाय बहुवचनम्। संयोगविभागयोरन्योन्यविरोधज्ञापनाय द्विवचनम्। परत्वापरत्वयोर्दैशिककालिकभेदेन भिन्नजातीयत्वसम्भवेन चतुष्ट्वापत्तौ गुणविभागो न्यूनः स्यात् इति तत्रापि द्विवचनमित्याद्युन्नेयम्। एतेषाञ्च लक्षणमग्रे वक्ष्यते ॥ ६ ॥

(उक्त प्रकार का सामानाधिकरण्य समानरूपता का प्रयोजन न स्वीकार करने के पक्ष से उक्त सूत्र का दूसरा अर्थ करते हुए शंकरदेव कहते हैं कि)–अथवा रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श इन चार गुणों के भौतिक चक्षु आदि इन्द्रियों की व्यवस्था (चक्षु तेजस ही है। रसनेन्द्रिय जलीय ही है) के कारण हैं यह सूचित करने के लिये तथा यह पाकज होते हैं, इस पाकज प्रक्रिया की व्यवस्थापना के लिये भी इन चारों में द्वन्द्वसमास सूत्र में दिखलाया है। संख्या में द्वित्वादि संख्याओं के विषय में वादियों का विवाद है। (अर्थात् कुछ विद्वान् द्वित्वादि संख्या को नहीं मानते) अतः उस (न मानने) के पक्ष का निरास करने के लिए संख्याः ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया है। पृथक्त्वनामक गुण में संख्या की अनेकता से ही बहुत्व संख्या सिद्ध होती है यह सूचित करने के लिये तथा पूर्वप्रदर्शित रीति से पृथक्त्व गुण में 'यह इससे पृथक् है' इस प्रकार अवधि से प्रकट होने के कारण संख्या से विलक्षणता है, अतः पृथक्त्वगुण को समास न कर 'पृथक्त्वं' इस प्रकार उसे संख्या से पृथक् कह गया है। परिमाण गुण में तो दीर्घ तथा ह्रस्व परिमाण को कुछ विद्वानों ने महत् तथा अणु परिमाण से भिन्न नहीं माना है उसका निरास करने के लिए बहुवचन दिया गया है। संयोग तथा विभाग गुण का परस्पर में विरोध है यह बतलाने के लिए 'संयोगविभागी' ऐसा द्विवचन दिया है। परत्व पथा अपरत्व दो गुणों का दैशिक तथा कालिक भेद से विभिन्न जाति के होने से चार संख्या प्राप्त होने पर गुणों का चतुर्विंशतिरूप विभाग न्यून हो जायगा इस कारण 'परत्वापरत्वे' इस पद में भी द्विवचन दिया गया है इत्यादि जान लेना चाहिये। यहाँ पर 'इत्यादि' इस आदि पद से प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा जीवनयोनि नाम के तीन भेद से प्रयत्न गुण भी तीन प्रकार का है यह जान लेना चाहिये। शंकरमिश्र कहते हैं कि इन चतुर्विंशति गुणों का लक्षण आगे कहा जायगा ॥ ६ ॥

कर्मणां द्रव्यजन्यतया गुणजन्यतया च रूपवद्रव्यसमवायाच्च प्रत्यक्षतेति द्रव्यगुणाभिधानानन्तरं कर्मोद्देशविभागावाह—

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥ ७ ॥

उत्क्षेपणम् अवक्षेपणम् आकुञ्चनं गमनमिति कर्माणि। इतिरवधारणार्थः, भ्रमणादेरपि गमनान्तर्गतत्वात्। अत्र च उत्क्षेपणत्वावक्षेपणत्वाकुञ्चनत्व-प्रसारणत्वगमनत्वानि कर्मत्वसाक्षाद्व्याप्याः पञ्च जातयः। नन्वेतदनुपपन्नं गमनस्य कर्मपर्य्यायत्वात् सर्वत्र गच्छतीति बुद्धेर्दृष्टत्वादुत्क्षेपणत्वादीनां चतसृणां जातीनां परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणानां सामानाधिकरण्या-ननुभवात् चतस्र एव कर्मत्वव्याप्या जातय इति चेत्। सत्यं कर्मपर्य्याय एव

(सङ्गति दिखाते हुए द्रव्य तथा गुणों के उद्देश के अन्त में कर्म के निरूपण करने में बीज स्फुट करते हुए शंकरमिश्र सप्तमसूत्र का अवतरण देते हैं कि)—कर्म पदार्थों के द्रव्य से उत्पन्न होने तथा गुणों से भी उत्पन्न होने के कारण एवं रूप के आधार-द्रव्यों में समवेत होने के कारण भी द्रव्य तथा गुणों के वणन के पश्चात् क्रमप्राप्त कर्म पदार्थ का उद्देश तथा विभाग सप्तमसूत्र में महर्षि कणाद इस प्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—उत्क्षेपणं = ऊर्ध्वप्रदेश में फेंकना, अवक्षेपणं = अधोदेश में फेंकना, आकुञ्चनं = अपनी ओर खींचना, प्रसारणं = फैलाना, गमनं = गमन करना, इति = इस प्रकार, कर्माणि = पांच कर्मपदार्थ हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—वैशेषिकमत में ऊपर फेंकना, नीचे फेंकना, सिकोडना, फैलाना, चलना-फिरना इत्यादिरूप गमन ऐसे पांच ही कर्मपदार्थ हैं ॥ ७ ॥

उपस्कार—उत्क्षेपण ऊपर फेंकना[1] अवक्षेपण (नीचे फेंकना[2]) आकुञ्चन (अपनी ओर खींचना[3]) प्रसारण (फैलाना[4]) तथा गमन (चलना-फिरना[5]) इत्यादि ऐसे पांच कर्म हैं। इस सूत्र मे भी इति यह पद अवधारणा (निश्चय) बोधक है. क्योंकि भ्रमण, स्यन्दन आदि कर्मों का गमन कर्म में अन्तर्भाव है। यहाँ पर उत्क्षेपणत्व, अवक्षेपणत्व, आकुञ्चनत्व, प्रसारणत्व तथा गमनत्व ऐसी पांच जातियाँ कर्मत्व सामान्य जाति की साक्षात् व्याप्य (कम देश मे रहनेवाली) अपर जातियाँ हैं। यहाँ पूर्व-पक्षी शंका करता है कि—यह पांच प्रकार के सिद्धान्ति से कहे हुए कर्म के भेद नहीं हो सकते क्योंकि गमन तथा कर्म ये दोनों पर्यायवाचक शब्द हैं, क्योंकि सम्पूर्ण उत्क्षेपणादि कर्मों में 'गच्छति' जाता है यह ज्ञान देखने में आता है, तथा उत्क्षेपणत्व, अवक्षेपणत्व इत्यादि चार जातियों का जो परस्पर जैसे उत्क्षेपण के आश्रय में वर्तमान उत्क्षेपणत्व जाति के जो अवक्षेपण के अत्यन्ताभाव के अधिकरण में रहती है, इस प्रकार भिन्न-भिन्न में रहनेवाली उत्क्षेपणत्वादि जातियों के एक आश्रम में रहने का अनुभव न होने के कारण चार ही कर्मत्व की व्याप्य (अपर) जातियाँ हैं यह सिद्ध होता

गमनं पृथगभिधानन्तु भ्रमणरेचनस्यन्दनोर्ध्वज्वलननमनोन्नमनादीनां भिन्न-भिन्नबुद्धिव्यपदेशभाजामेकेन शब्देन सङ्ग्रहार्थम्। यद्वा गमनत्वमपि कर्मत्वव्याप्या पञ्चमो जातिरेव तेन भ्रमणरेचनादिष्वेव गमनप्रयोगो मुख्यः उत्क्षेपणावक्षेपणादिषु यदि गमनप्रयोगस्तदा भाक्तः। स्वाश्रयसंयोगविभागासमवायिकारणत्वमेव गौणमुख्यसाधारणो धर्मः। गमनत्वजातेस्त्वनियतदिग्देशसंयोगविभागासमवायिकारणत्वमेव व्यञ्जकम्, तच्च भ्रमणादिषु सर्वत्रेति

है। (इस शंका का समाधान शंकरमिश्र इस प्रकार करते हैं कि)—पूर्वपक्षी का का यह कहना सत्य है, क्योंकि गमन शब्द कर्म का पर्याय ही है। तथापि उसको पृथक् इस कारण कहा है कि भिन्न-भिन्न ज्ञान तथा व्यवहार जिनका होता है ऐसे भ्रमण, रेचन, स्यन्दन, ऊर्ध्वज्वलन, नमन (झुकना) उन्नमन (ऊपर उठना) इत्यादि कर्मों का संग्रह एक गमन पद से हो। (अर्थात् उत्क्षेपणादि चार कर्मों से भिन्न कर्म ही यहाँ गमनशब्द का अर्थ है जिससे भ्रमणादि कर्मों का संग्रह होता है।) पूर्वपक्षी यहाँ ऐसी शंका नहीं कर सकता कि तब तो उत्क्षेपणादि चार कर्मों का भी गमन-पद से ही संग्रह हो सकने से उनको भी पृथक् कहना व्यर्थ हो जायगा—क्योंकि महर्षि कणाद मुनि की इच्छा के अधीन होने से इस विषय में प्रश्न (आपत्ति) नहीं हो सकती। (गमनत्व कर्मत्व की साक्षात् व्याप्य (अपर) जाति नहीं है, इस प्रथम उत्तर का अनादर कर दूसरे प्रकार से उत्तर देते हुए शङ्करमिश्र कहते हैं कि)—अथवा गमनत्व जाति भी कर्मत्व की उत्क्षेपणत्वादि जातियों के समान पंचम व्याप्य (अपर) जाति ही है, जिससे भ्रमण-रेचन आदि कर्मों में ही गमन शब्द का प्रयोग मुख्य होता है, और उत्क्षेपणादि चार कर्मों में यदि गमनशब्द का प्रयोग हो तो वह भाक्त (गौण) होगा। अपने (क्रिया के) आधार द्रव्य में संयोग तथा विभाग का असमवायिकारण होना ये ही मुख्य तथा गौण कर्मों में गमनशब्द के प्रयोग का सामान्य धर्म है। (क्योंकि भ्रमणादि मुख्य तथा उत्क्षेपणादि गौण कर्म भी अपने आधार द्रव्य में सयोग तथा विभाग को उत्पन्न करते हैं)। (कहे हुए गमनपद का भ्रमणादि कर्मों में मुख्य प्रयोग होने का कारण दिखाते हुए आगे शङ्करमिश्र कहते हैं कि) गमनत्व जाति का अनियमित दिशाप्रदेश के साथ संयोग तथा विभाग का असमवायिकारण होना ही व्यञ्जक (बोधक) है, और वह भ्रमण, रेचन आदि सम्पूर्ण कर्मों में है, इस कारण गमनपद के ग्रहण से ही उनका ग्रहण हो जाता है। निष्क्रमणत्व (निकलना) प्रवेशनत्व (प्रवेश करना) इत्यादिक जाति नहीं हो सकती, क्योंकि एक ही कर्म में एक गृह से दूसरे गृह में जानेवाले मनुष्य में किसी देखनेवाले पुरुष को 'प्रविशति' प्रवेश करता है, तथा किसी दूसरे देखनेवाले पुरुष को 'निष्कामति' निकलता है ऐसा ज्ञान होता है, इस कारण जातिबाधक सांकर्यदोष हो जायगा।

गमनग्रहणेनैव तेषां ग्रहणमिति। निष्क्रमणत्वप्रवेशनत्वादिका तु न जातिः एकस्मिन्नेव कर्मणि गृहाद् गृहान्तरं गच्छति पुरुषे कस्यचित् द्रष्टुः प्रविशतीति प्रत्ययः कस्यचित्तु निष्क्रामतीति तत्र जातिसङ्करः स्यात् तथा भ्रमणादेरेकस्या जलप्रणाल्या निष्क्रम्यापरां प्रविशति निष्क्रामति प्रविशतीति प्रत्ययद्वयदर्शनादुपाधिसामान्यमेवैतद्व्यवसेयम्। उत्क्षेपणादौ तु मुषलमुत्क्षिपामीतीच्छाजनितेन प्रयत्नेन प्रयत्नवदात्मसंयोगादसमवायिकारणाद्धस्ते तावदुत्क्षेपणं तत उत्क्षेपणविशिष्टहस्तनोदनादसमवायिकारणात् मुषलेऽप्युत्क्षेपणाख्यं कर्म युगपद्वा। तत ऊर्ध्वमुत्क्षिप्तयोर्हस्तमुषलयोरवक्षेपणेच्छाजनितप्रयत्नवदात्मसंयोगाद्धस्तनोदनाच्च युगपदेव हस्ते मुषले चावक्षेपणम् उलूखल-

---

(अर्थात् उपरोक्त एक कर्म में प्रवेश तथा निर्गम ऐसे दोनों ज्ञानों के होने से एवं केवल गृह में प्रवेश करनेवाले पुरुष में केवल प्रवेशज्ञान तथा गृह से केवल निकलनेवाले पुरुष के केवल निर्गमनज्ञान होने के कारण भिन्न-भिन्न में वर्तमान होते हुए एक में दोनों का समावेश होने के कारण भूतत्व तथा मूर्तत्व के समान सांकर्यदोष होने के कारण जातिशंकरदोष होने से निष्क्रमण-प्रवेशनत्वादि जाति के गमन से भिन्न कर्म नहीं हो सकते। इसी प्रकार आगे भी जानना।)

(निष्क्रमणत्व-प्रवेशनत्वादि जातियों के समान भ्रमणत्वादि जातियों में भी साङ्कर्य दोष दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—उसी प्रकार भ्रमणादि कर्मों में भी एक जल बहने की एक नाली से निकल कर दूसरी नाली में प्रवेश करनेवाले जल में निकलता है, तथा प्रवेश करता है ऐसे दोनों ज्ञान किसी द्रष्टा को होते हैं, तथा किसी को केवल निकलता है, और किसी द्रष्टा को प्रवेश करता है ऐसे भिन्न २ ज्ञान होने से जाति का बाधक सांकर्य दोष होने के कारण भ्रमणत्वादि कभी जाति नहीं है, किन्तु अखण्ड उपाधिरूप जाति से भिन्न धर्म हैं। (इस प्रकार सामान्यरूप से कर्म पदार्थ का विवेचन करने के पश्चात् पांच कर्मों में से प्रथम उत्क्षेपण कर्म का निरूपण उपस्कारकर्ता इस प्रकार करते हैं कि)—उत्क्षेपणादि कर्मों में तो मुसल के व्रीहीनवहन्ति इत्यादि विधि के अनुसार (यज्ञसम्बन्धी धान को कूटने के लिये) हस्त को ऊपर उठाता हूँ ऐसी इच्छा से उत्पन्न प्रयत्न से प्रयत्नवान् आत्मा के संयोगरूप असमवायिकारण से समवायिकारणरूप हस्त में उत्क्षेपण होता है जिससे हस्त ऊर्ध्वदेश में जाता है इसके पश्चात् उत्क्षेपण सहित हस्त के नोदन संयोग से जो मुसल में उत्क्षेपण का असमवायिकारण है मुसलरूप समवायिकारण में भी उत्क्षेपण क्रिया होती है, अथवा एक ही समय में हस्त तथा मुसल में उत्क्षेपण क्रिया होती है (किन्तु इस पक्ष में हस्तमात्र का नोदन-संयोग मुसल के उत्क्षेपण में असमवयिकारण होता है)।

(इस प्रकार उत्क्षेपण कर्म का वर्णन कर शंकरमिश्र अवक्षेपण कर्म का वर्णन

पातानुकूलं सञ्जायते। ततो दृढतरद्रव्यसंयोगाद् यद् कस्मान्मुषलस्योर्ध्वगमनं भवति तत्र नेच्छा न वा प्रयत्नः कारणं किन्तु संस्कारमात्रादेव मुषलस्योत्पतनम् तच्च गमनमात्रं नतूत्क्षेपणं भाक्तस्तत्रोत्क्षेपणव्यवहारः। एवमनुलोमप्रतिलोमवायुद्वयसङ्घट्टवशाद्वाय्वोस्तत्प्रेरित-तूलकादौ चोत्क्षेपणव्यवहारो भाक्तः। एवं स्रोतोद्वयसङ्घट्टवशाज्जलोर्ध्वगमनेऽपि एवमुत्क्षेपणावक्षेपणव्यवहारः शरीरतदवयवतत्संयुक्तमुषलतोमरादिष्वेव मुख्यः भवति हि हस्तमुत्क्षिपति मुषलमुत्क्षिपति तोमरमुत्क्षिपतीति एवमवक्षिपतीत्यपि। आकुञ्चनन्तु सत्स्वेवावयवानामारम्भकसंयोगेषु परस्परमवयवानामनारम्भकसंयोगोत्पादकं वस्त्राद्यवयविकौटिल्यो-

---

करते हैं कि)–इसके पश्चात् ऊर्ध्वप्रदेश में गये हुए हस्त तथा मुसल दोनों की नीचे फकने की इच्छा से उत्पन्न प्रयत्नवान् आत्मा के संयोग तथा हस्त के नोदनसंयोग से भी एक ही समय में हस्त तथा मुसल में अवक्षेपण नीचे जाने की क्रिया होती है, जो ऊखल में ही मूसल के गिरने के अनुकूल होती है। इसके पश्चात् अत्यन्त दृढ ऊखल द्रव्य के संयोग से जो अकस्मात् (निष्कारण) मुसल ऊपर जाता है, उसमें न इच्छा कारण है न प्रयत्न कारण है, किन्तु (ऊखल के टक्कर खाने से उत्पन्न) केवल वेगनामक संस्कार से ही मुसल का उत्पतन (ऊपर उठना) रूप कर्म होता है अतः वह गमना माना है न कि उत्क्षेपण कर्म, अतः उसमें होनेवाला उत्क्षेपण है, व्यवहार उसमें गौण है। इसी प्रकार अनुकूल तथा प्रतिकूल (अर्थात् परस्पर विरुद्ध) दो वायु द्रव्यों के परस्पर संघर्ष के कारण दो वायु तथा उनसे ही लाये हुए रुई आदि लघु द्रव्यों में भी उत्क्षेपण आदि व्यवहार इच्छा तथा प्रयत्न के न होने से गौण हैं, न कि मुख्य। इसी प्रकार दो जल-प्रवाहों के परस्पर संघर्ष (टक्कर खाने) से जल के ऊर्ध्वादि गति में उत्क्षेपणादि व्यवहारों को गौण जानना चाहिये एवं इससे यह सिद्ध होता है कि उत्क्षेपण तथा अपक्षेपण का व्यवहार शरीर तथा उसके अवयव हस्तादिकों में संयुक्त मुसल, तया तोमर आदि शस्त्रों में ही आत्मा की इच्छा तथा प्रयत्न का संभव होने से मुख्य है, क्योंकि हस्त ऊपर की ओर फेंकता है मुसल को ऊपर फेंकता है, तोमर को ऊपर फेंकता है ऐसा ज्ञात होता है। इसी प्रकार नीचे फेंकता है इत्यादिक भी प्रतीति होती है।

(इस प्रकार उत्क्षेपण तथा अपक्षेपण का प्रयत्नपूर्वक तथा बिना प्रयत्न के ऐसे दो प्रकार से वर्णन कर क्रमप्राप्त आकुञ्चन कर्म का स्वरूप वर्णन करते हैं कि)–आकुंचन कर्म तो अवयवि-द्रव्य के आरम्भ करनेवाले अवयवों के संयोग के रहते हुए ही परस्पर में अवयवों के (द्रव्यादिक को) उत्पन्न न करनेवाले संयोग को उत्पन्न करनेवाली वस्त्रादि अवयवि-द्रव्यों में कुटिलता (संकोच) की उत्पादक क्रिया होती है, जिससे कमल संकुचित होता है, वस्त्र संकुचित होता है, चर्म (चमड़ा)

त्पादकं कर्म यतो भवति सङ्कुचति पद्मं सङ्कुचति वस्त्रं सङ्कुचति चर्मेतिप्रत्ययः। एवमवयवानां पूर्वोत्पन्नानारम्भकसंयोगविनाशकं कर्म प्रसारणं यतो भवति प्रसरति वस्त्रं प्रसरति चर्म प्रविकसति पद्ममित्यादिप्रत्ययः। एतच्चतुष्टयभिन्नं यत् कर्मजातं तत्सर्वं गमनविशेषः। तत्र भ्रमणं प्रयत्नवदात्मसंयोगाद्धस्ते कर्मवता हस्तेन नोदनाख्यसंयोगादवघट्टनाच्च चक्रादौ तिर्य्यक्संयोगानुकूलं कर्म। रेचनाद्यपि व्याख्येयम्। स्फुटीकरिष्यति चाग्रे तदेतेषां कर्मणां विहितयागस्नान-दानादिषु धर्मानुकूलप्रयत्नवदात्मसंयोगजन्यत्वं निषिद्धदेशगमनहिंसाकलञ्ज-भक्षणादिषु चाधर्मानुकूलप्रयत्नवदात्मसंयोगजन्यत्वमध्यवसेयमिति ॥ ७ ॥

द्रव्यादीनामुद्देशानन्तरं त्रयाणां साधर्म्यप्रकरणमारभते। तत्र द्रव्यादीनां

सिकुड़ता है इस प्रकार प्रतीति होती है। (यहाँ वस्त्रादि समवायिकारण और असमवायिकारण अवयवारंभक संयोग, आकुंचन कार्य है यह जानना)। इसी प्रकार अवयवों के पूर्व में उत्पन्न द्रव्य के न उत्पन्न करनेवाले आकुंचन में हुए संयोग को नष्ट करनेवाली क्रिया का नाम प्रसारण है, जिससे कपड़ा फैलता है, चमड़ा फैलता है, कमल विकसित होता है, ऐसी प्रतीति होती है। इन चार कर्मों से भिन्न जो २ कर्म हैं वे सम्पूर्ण गमन कर्म के ही विशेष हैं। उनमें से प्रयत्नविशिष्ट आत्मा के संयोग से हस्त में, तथा कर्मवान् हस्त के नोदनात्मक संयोग, अवघट्टन (जोर से चलाने) से तथा चक्र आदिकों में तिरछे संपूर्ण दिशाओं में संयोग होने के अनुकूल क्रिया को भ्रमण कहते हैं। इसी प्रकार रेचन स्पन्दन इत्यादि क्रिया भी गमन-विशेष हैं। आगे भी इनका स्पष्टीकरण करेंगे (गुरुत्वरूप असमवायिकारण से नैमित्तिक द्रवत्व के आधार द्रव्य से होनेवाले उत्तरसंयोगानुकूल कर्म को रेचन तथा द्रवत्वरूप असमवायिकारणवाली उत्तरसंयोगानुरूप क्रिया को स्यन्दन कहते हैं, जो गमनत्व जाति की व्याप्य जातियां हैं, यह स्वय जान लेना चाहिये ॥)

(शंकरमिश्र उक्त कर्मों में शास्त्रीय उपयोगिता का वर्णन करते हैं कि)— उक्त कर्मों में शास्त्रों मे विधान किये याग, स्नान तथा दान आदि पुण्य कर्मों में धर्म के अनुकूल प्रयत्न करनेवाले आत्मा के संयोग से उत्पन्न होना तथा शास्त्र से निषिद्ध देशगमन, हिंसा, कलंज (पियाज-लहसून) इत्यादिकों के भक्षण, अस्पृश्य का स्पर्श करना आदि पापकर्मों में अधर्म के अनुकूल प्रयत्न करनेवाले आत्मा के संयोग से उत्पन्न होना निश्चित होता है ॥ ७ ॥

इस प्रकार द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थ के उद्देश (नामकीर्त्तन) के पश्चात् उसके साधर्म्य (समानधर्म) के निरूपण प्रकरण का सूत्रकार प्रारम्भ करते हैं। (यहाँ पर कर्म के वर्णन के पश्चात् क्रमप्राप्त सामान्य पदार्थ का उद्देश करना संगत होने के कारण मध्य में साधर्म्य का वर्णन करना असंगत है इस शंका का उत्तर देते हुए शंकर-

त्रयाणां साधर्म्यस्य तत्त्वज्ञानानुकूलतया प्रथमं शिष्याकाङ्क्षितत्वात् सामान्यादिपदार्थत्रयस्य उद्देशात् प्रागेव त्रयाणां साधर्म्यमाह—

सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः ॥ ८ ॥

विशेषे सत्यपि अयमविशेषशब्दः साधर्म्यपरः सदिति । सदाकारप्रत्ययव्यपदेशविषयत्वम् त्रयाणामेव सत्तायोगित्वात् । अनित्यमिति । ध्वंसप्रतियोगित्वं यद्यपि न परमाण्वादिसाधारणं तथापि ध्वंसप्रतियोगिवृत्तिपदार्थ-

---

मिश्र कहते हैं कि)—उनमें से द्रव्यगुण तथा कर्मपदार्थ के समानधर्म के तत्त्व-ज्ञान के अनुकूल होने के कारण सामान्यादि पदार्थ के ज्ञान के प्रथम द्रव्य, गुण तथा कर्म-पदार्थ के साधर्म्य क्या हैं ? इस प्रकार शिष्यों को जिज्ञासा होने के कारण सामान्य, विशेष तथा समवाय ऐसे तीन पदार्थों के उद्देश के पूर्व ही द्रव्यादि तीन पदार्थों का साधर्म्य दिखाते हुए अष्टम सूत्र कणाद महर्षि कहते हैं—

पदपदार्थ—सत्=सत्ताजातिमान, अनित्यं=अनित्य, द्रव्यवत् समवायिकारण जिसका द्रव्य हो, कार्यं=कार्य, कारणं=कारण, सामान्यविशेषवत्=अनुगत बुद्धि से सिद्ध सामान्य तथा व्यावृत्तिबुद्धि से सिद्ध विशेष का आधार, इति=इस प्रकार, द्रव्यगुण-कर्मणां = द्रव्य, गुण तथा कर्म तीन पदार्थों का, अविशेषः = समान धर्म हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों पदार्थों के सत् इत्याकारक बुद्धि विषय होना, अनित्यता, द्रव्यरूप समवायिकरण की आधारता, कार्यता (कार्य होना), कारणता (कारण होना) तथा अनुगतबुद्धि से सिद्ध सामान्य, तथा व्यावृत्तिबुद्धि से विशेष की आधारता इतने समान धर्म हैं ॥ ७ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में द्रव्यादित्रय में विशेष होने पर भी यह अविशेष शब्द समान धर्म का बोधक है । द्रव्यादि तीन पदार्थों ही में सत्तानामक परजाति का सम्बन्ध होने के कारण 'सत है' इत्याकारक व्यवहार का विषय होना इन तीनों का समान-धर्म है तथा इन तीनों का अनित्यता समान धर्म है । ध्वंस का प्रतियोगी होना रूप अनित्यता यद्यपि पृथिव्यादि परमाणुओं में नहीं है तथापि ध्वंस-प्रतियोगित्व शब्द को ध्वंस के प्रतियोगी पदार्थ में वर्तमान पदार्थ के विभाग करनेवाले उपाधि (धर्म) की आधारता अर्थ करना चाहिये (जिससे ध्वंस के प्रतियोगी अनित्य घटादिकों में वर्तमान द्रव्यस्वरूप पदार्थविभाजक धर्म के परमाणुओं में भी रहने के कारण अनित्य का लक्षण सगत होने से अव्याप्तिदोष न होगा।) (यहाँ पर ध्वंसप्रतियोगी)। में वर्तमान जाति की आधारतामात्र इतना ही ध्वंसप्रतियोगित्व शब्द का अर्थ करने से भी परमाणु में दिया दोष निवृत्त हो सकता है, तो पदार्थविभाजक उपाधि-मत्ता पर्यन्त का शंकरमिश्र ने अनुधावन क्यों किया, यह विचारणीय है । इस प्रकार

विभाजकोपाधिमत्त्वं विवक्षितम्। द्रव्यवदिति। द्रव्यं समवायिकारणं यस्याऽस्यास्तीति द्रव्यवत्, एतदपि परमाण्वादौ नास्तीति द्रव्यसमवायिकारणकवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं विवक्षितम्। कार्य्यमिति। प्रागभावप्रतियोगिवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं विवक्षितम्। कारणमिति। ज्ञानेतरकार्य्यनियतपूर्ववर्त्तिजातीयवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वम् तेन स्वसाक्षात्कारे विषयतया कारणे गोत्वादौ नातिप्रसक्तिर्न वा पारिमाण्डल्यादावजनकेऽव्याप्तिः। सामान्यविशेषवदिति। सामान्यं सद्विशेषोऽन्योन्यव्यावर्तकतया द्रव्यत्वगुणत्व-

---

अनित्यत्वसाधर्म्य के अर्थ के वर्णन के पश्चात् तीसरे द्रव्यवत् इस साधर्म्य का शंकरमिश्र अर्थ दिखाते हैं 'जिसका समवायिकरण द्रव्य ही उसे द्रव्यवत् कहते हैं', किन्तु यह भी नित्य तथा कारणरहित परमाणु आदिकों में नहीं है इस कारण द्रव्यवत् शब्द का द्रव्यरूप समयाविकारणवालों में वर्तमान पदार्थविभाजक धर्म का आश्रय होना ऐसा जातिघटित अर्थ विवक्षित है। ऐसा अर्थ करने से पूर्वप्रदर्शित प्रकार से अव्याप्ति दोष हट जायगा, क्योंकि घटादिरूप कार्य जो कपालादिरूप द्रव्य समवायिकारण से उत्पन्न हैं उनमें वर्तमान द्रव्यत्वजाति की आधारता परमाणु आदि में भी हैं।)

(चतुर्थ कार्यत्वरूप समानधर्म का शंकरमिश्र अर्थ कहते हैं कि)—प्रागभाव के प्रतियोगि द्रव्यादिकों में वर्तमान पदार्थविभाजक द्रव्यादि जातिमत्त्व ऐसा कार्यत्व शब्द का अर्थ यहां कहना इष्ट है, (क्योंकि केवल प्रागभाव की प्रतियोगिता नित्य होने के कारण परमाणु आदिकों में नहीं हो सकती, अतःपदार्थविभाजकधर्मवत्ता परमाणुकों में रहनेसे अव्याप्तिदोष न आवेगा, यह पूर्वोक्तरीत्या जान लेना चाहिए)। (पाचवें कारणत्वरूप साधर्म्य का अर्थ शंकरमिश्र इस प्रकार पदकृत्य सहित दिखाते हैं कि)—कारणता शब्द के ज्ञान से भिन्न कार्यों के नियम से पूर्व में वर्तमान पदार्थ में रहनेवाली जातिवाले में वर्तमान पदार्थविभाजक धर्मवत्ता—ऐसा अर्थ है, ऐसा लक्षणार्थ करने से गोत्वादि जाति के प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय होनेके कारण ज्ञानरूप कार्यके पूर्ववृत्ति गोत्वादि जाति में लक्षण जाने से अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा (क्योंकि वह कार्य ज्ञानभिन्न नहीं है अतः उक्त लक्षण से ज्ञानेतर पद दिया है तथा परमाणु परिमाण जो किसी का कारण नहीं है उसमें अव्याप्तिदोष भी नहीं होगा (क्योंकि घटादि कार्य द्रव्य के रूपादि के नियम से पूर्ववर्ति कपालादि रूप कारणों में वर्तमान गुणत्व जाति की आधारता परमाणुपरिमाण में भी है)। (षष्ठ 'सामान्यविशेषवान्' इस साधर्म्य का अर्थ शंकरमिश्र स्वयं ऐसा करते हैं कि) सामान्य अनुगतरूप होते हुए परस्पर में भेद-साधन करने के कारण द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्वादि जातियां सामान्य विशेष हैं। (उनकी अधिकरणता द्रव्य, गुण तथा कर्म में क्रम से होने से लक्षण संगत होता है)। (यहां पर पांचवें कारणत्वरूप साधर्म्य में अतिव्याप्तिदोष देने के आशय से पूर्वपक्षिमत से शंकरमिश्र शंकादिखाते हैं कि)-

कर्मत्वादि तद्वत्त्वमित्यर्थः। ननु "गां दद्यात्" "गौः पदा न स्प्रष्टव्या" इति श्रुतेर्धर्माधर्मजनकत्वं जातेरपीति कारणत्वमतिव्यापोति चेन्न अवच्छेदकतामात्रेण जातेर्विनियोगात्। उपलक्षणञ्चैतत् स्वसमवायार्थशब्दाभिधेयत्वमपि त्रयाणां साधर्म्यं द्रष्टव्यम्। यदि तु कार्य्यत्वानित्यत्वेकारणवतामेव "कारणत्वञ्चान्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्यः" इति प्रशस्तदेवाचार्य्यव्यवस्थितं साधर्म्य-

---

गां दद्यात् (गोदान करे) 'गौः पदा न स्प्रष्टव्या'–गौ को पैर से स्पर्श न करे इत्यादि शास्त्र से क्रमशः धर्म तथा अधर्मकी कारणता सामान्यरूप से गोमात्र के दान तथा पैर से स्पर्श न करना अभिप्रेत होनेके कारण द्रव्यादि-त्रय का कारणता-साधर्म्य जाति पदार्थ में भी जाने से अतिव्याप्ति दोष हो जायगा–(इस शङ्का का समाधान इस प्रकार करते हैं)–उक्त शास्त्र में केवल विशेषण रूप से गोत्वजाति का प्रयोग किया गया है, अतः दोष न होगा। (अर्थात् न्यायमत में जाति तथा आकृति विशिष्ट व्यक्ति ही पद का अर्थ होने के कारण उक्तरूप व्यक्ति ही के दान तथा स्पर्श की योग्यता होने के कारण गोत्वरूप जाति का केवल विशेषणरूप से ही ज्ञान होता है) ।

इस प्रकार सूत्रोक्त द्रव्य, गुण तथा कर्म के साधर्म्यों का वर्णन कर उक्त साधर्म्य से भिन्न और भी साधर्म्यों का सूचक है यह दिखाते हुए आगे कहते हैं कि (यह सूत्रस्थ साधर्म्य उपलक्षण सूचक है, अतः द्रव्यादि-त्रय पदार्थ में समवेत शब्द से कहा जाना तथा उक्त त्रय पदार्थ में समवेत अर्थ को कहना यह भी दोनों साधर्म्य हैं। (कोई २ पुस्तक में 'स्वसमयार्थ शब्दाभिधेयत्वं' ऐसा भी पाठ है, जिसका वैशेषिकदर्शन में संकेत किये अर्थशब्द से द्रव्य, गुण तथा कर्म ही का बोध होता है, यह साधर्म्य द्रव्यादि-त्रय का है यह सरल अर्थ होता है) (इस प्रकार स्वमत से अष्टम सूत्र की व्याख्या कर प्रशस्तपादभाष्य के मतानुसार उक्त सूत्र के कुछ साधर्म्यों का शंकरमिश्र विचार करते हुए आगे कहते हैं कि)–यदि कार्यत्व तथा अनित्यत्व कारणवान् पदार्थों का ही साधर्म्य है, यह 'कारणता परमाणु परिमाण आदिकों को छोड़कर अन्य पदार्थों में ही रहती है' ऐसा प्रशस्तदेव आचार्य का निश्चित किया हुआ साधर्म्य सूत्र में कहा जाय तो विशेष में पदार्थ-विभाजक उपाधिमत्तारूप विशेषण देने की सूत्रकार के मतानुसार आवश्यकता नहीं है। (अर्थात् आकाशादिकों में 'अन्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्यः' इस उक्ति से ही अतिव्याप्ति-दोष का निवारण होने से जातिघटित पूर्वोक्त लक्षण करने की आवश्यकता नहीं, यही सूत्रकार को भी अभिमत है)। (सूत्र के कार्य तथा कारणपद की विशेष अर्थबोधक व्याख्या करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)–द्रव्यादि पदार्थत्रय का गुणजनकत्व तथा गुणजन्यत्व भी 'अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः' इस भाष्योक्ति से साधर्म्य है यह सिद्ध होता है। (यहां पर सुख-दुःख के साक्षात्कार से भिन्न अनुभव में न रहनेवाली गुण में वर्तमान जन्यता से निरूपित (कही गई) कारणता नियामक धर्म की आधारता गुणजनकता

मुच्यते तदा पदार्थविभाजकोपाधिमत्तया न विशेष्यं सूत्रोक्तरीत्या। त्रयाणां गुणजनकत्वं गुणजन्यत्वञ्चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इति ॥ ८ ॥

इदानीं द्रव्यगुणयोरेव साधर्म्यमाह—

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥ ९ ॥

एतदेव सूत्रान्तरेण स्पष्टयति—

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥ १० ॥

शब्द का अर्थ जानना चाहिए। जिसमें सुख-दुःख के साक्षात्कार से अभिन्न गुण की जनकता न होने के कारण सुख-दुःख साक्षात्कार से भिन्न ऐसा विशेषण दिया है। अणुपरिमाण के ज्ञान में वर्तमान जन्यता से निरूपित कारणता का नियामकत्व होनेसे अतिव्याप्तिदोष निवारण के लिए अनुभवावृत्ति पद दिया है सूत्रकार के मत से यह साधर्म्य है, क्योंकि 'अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः' ऐसी भाष्योक्ति को लेकर शंकरमिश्र ने यह अर्थ कहा है। इसी प्रकार उपस्कार के गुणजन्यत्व का भी गुण में वर्तमान कारणता से निरूपित कार्यतानियामकताश्रय धर्म की अधिकरणता ऐसा अर्थ जानना चाहिये। (यदि कहो कि यह भाष्यकार को अभिप्रेत अर्थ है यह सूत्र से कैसे बोधित होता है तो अन्यत्र ऐसा कहने से अर्थात् सदनित्यं इस सूत्र के एकदेश का 'नित्यसद्विशेषभिन्न' नित्य सत्-विशेष से भिन्न ऐसा अर्थ करने से नित्य द्रव्यों से भिन्नों का यह साधर्म्य है यह अभिप्राय है) ॥ ८ ॥

इस प्रकार अष्टम सूत्र की व्याख्या कर नवम सूत्र का उपस्कारकार अवतरण देते हुए कहते हैं कि, साम्प्रत द्रव्य तथा गुण दो ही पदार्थों का समान धर्म सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्यगुणयोः=द्रव्य तथा गुण पदार्थ का, सजातीयारम्भकत्वं = अपने समान जाति के पदार्थ को उत्पन्न करना, समान धर्म है ॥ ९ ॥

भावार्थ—द्रव्य समान जाति के द्रव्यों को, गुण अपने समान जाति के गुणों को ही उत्पन्न करते हैं, अतः द्रव्य तथा गुणपदार्थ का समान जाति के कार्य को उत्पन्न करना साधर्म्य है ॥ ९ ॥

नवम सूत्र की स्वयं दशम सूत्ररूप से कणाद महर्षि ने व्याख्या की है, अतः स्पष्टार्थक होने से शंकरमिश्र दशम सूत्र का अवतरण देते हैं कि इसी नवम सूत्र को दूसरे (दशम) सूत्र से सूत्रकार स्पष्ट करते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्याणि = पृथिवी आदि द्रव्य, द्रव्यान्तर=दूसरे द्रव्यों को, आरभन्ते=उत्पन्न करते हैं, गुणाः च = और गुणपदार्थ, गुणान्तरं = दूसरे गुण को (उत्पन्न करते हैं) ॥ १० ॥

अन्त्यावयविविभुद्रव्याणि तथान्त्यावयविगुणान् द्वित्वद्विपृथक्त्वपरत्वापरत्वादीन् गुणांश्च विहाय सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यं द्रष्टव्यम्। सजातीयारम्भकवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमत्त्वं वा विवक्षितं तेनाजनकद्रव्यव्यक्तीनामप्युपग्रहः ॥ १० ॥

ननु कर्माणि कुतो न कर्मान्तरमारभन्त इत्यत आह—

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥ ११ ॥

विदिरयं ज्ञानार्थो न तु सत्ताभिधायी। सजातीयारब्धद्रव्यगुणयोरिव

भावार्थ—पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में से कुछ द्रव्य दूसरे द्रव्यों को जैसे कपाल, तन्तु आदि क्रम से घट-पट आदि द्रव्यों को, तथा गुणरूपादि के दूसरे गुणों को (जैसे तन्तुओं के रक्त आदि रूप पट के रक्त आदि रूपों को उत्पन्न करते हैं), अतः द्रव्य तथा गुण में नवम सूत्र में सूचित सजातीयारम्भकत्व साधर्म्य सिद्ध होता है ॥१०॥

उपस्कार—अन्तिम घटादिरूप अवयवि द्रव्य, तथा आकाशादि व्यापक द्रव्य, तथा अन्त्यावयवि घटादि द्रव्यों के रूपादिगुण, एवं द्वित्वादिसंख्या, द्विपृथक्त्व, परत्व, अपरत्व इत्यादि गुणों को भी छोड़कर नवम सूत्र में कहा हुआ द्रव्य तथा गुणों का समान धर्म जानना अथवा समान जाति के उत्पादक में वर्तमान पदार्थविभाजक धर्म की आधारता ऐसा सजातीयारंभकत्व का जातिघटित अर्थ करने से उपरोक्त अन्त्यावयवि आदि द्रव्यों में जो सजातीयों को उत्पन्न नहीं करते उनका भी संग्रह हो जाता है (अर्थात् उनमें सजातीयारंभकत्व न रहने से जो अव्याप्ति दोष होता था उनमें भी कपालादिसजातीयारंभक द्रव्यादिकों में वर्तमान द्रव्यत्व के रहने से उक्त दोष निवृत्त हो जायगा, इसी प्रकार अन्तिम गुणों में भी जान लेना ॥ १० ॥

एकादश सूत्र का उपस्कार में अवतरण देते हैं कि—शंका है कि–कर्मपदार्थ दूसरे कर्मों को क्यों नहीं उत्पन्न करते। इस पर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कर्म = कर्मपदार्थ, कर्मसाध्य = कर्म से उत्पन्न, न विद्यते = नहीं ज्ञात होता ॥ ११ ॥

भावार्थ—द्रव्य तथा गुणपदार्थ के समान एक क्रिया से दूसरी क्रिया उत्पन्न होती है इसमें प्रमाण नहीं है ॥ ११ ॥

उपस्कारकार भी इस सूत्र में 'विद्यते' इस पद में 'विद' यह धातुरूप प्रकृति 'विद ज्ञाने' इस धातुपाठ से ज्ञान अर्थ में लेना नकि 'विदसत्तायाम्' इस धातुपाठ का सत्ता अर्थ का वाचक। अर्थात् जिससे समानजातीय के आरम्भ करनेवाले द्रव्य तथा गुण के समान कर्म से कर्म उत्पन्न होता है इसमें प्रमाण नहीं है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानार्थकत्व पक्ष में ही शंकरमिश्र से कहे हुए प्रमाण नहीं हैं इस अर्थ से ही शिष्यों की हेतु की आकांक्षा निवृत्त होती है, अतः विदधातु का सत्तारूप अर्थ नहीं लेना यह सूत्र का अर्थ है।

कर्मसाध्ये कर्मणि प्रमाणं नास्तीत्यर्थः। इदमत्राकूतम्। कर्म यदि कर्म जनयेत् स्वोत्पत्त्यनन्तरमेव जनयेत् शब्दवत्। तथाच पूर्वकर्मणैव यावत्संयोगिद्रव्येभ्यो विभागे जनिते द्वितीयं कर्म केन सह विभागं जनयेत् विभागस्य संयोगपूर्वकत्वात् संयोगान्तरस्य च तत्राधिकरणेऽनुत्पन्नत्वात्, विभागाजनने तु कर्मलक्षणक्षतेः। न च क्षणान्तरे कर्मान्तरं जनयिष्यतीति वाच्यम् समर्थस्य क्षेपायोगात्, अपेक्षणीयान्तराभावात्, पूर्वसंयोगनाशक्षणेऽपि जनने विभागजनकत्वानुपपत्तिरेव, उत्तरसंयोगोत्पत्तिकालेऽपि जनने तथैव। उत्तरसंयोगोत्पत्त्यनन्तरकालन्तु कर्मनाश एव। तथा च सुष्ठूक्तं 'कर्मसाध्यं न विद्यते' इति ॥ ११ ॥

गुणकर्मभ्यां द्रव्यस्य वैधर्म्यमाह—

न द्रव्यं कार्यं कारणञ्च वधति ॥ १२ ॥

यहां यह अभिप्राय है कि एक कम यदि दूसरे कर्म को उत्पन्न करेगा तो शब्द के समान अपनी उत्पत्ति के पश्चात् ही करेगा, और ऐसा होने से प्रथम क्रिया से ही जितने संयुक्त द्रव्य थे उनसे उसी क्रिया से विभाग उत्पन्न होने पर द्वितीय क्रिया किन संयुक्त द्रव्यों से दूसरे विभाग को उत्पन्न करेगी, क्योंकि विभाग संयोगपूर्वक ही होता है, दूसरा कोई संयोग उस आधार में उत्पन्न हुआ ही नहीं है, यदि द्वितीय क्रिया विभाग को उत्पन्न न करे तो (संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्म—संयोग तथा विभाग के निरपेक्ष कारण को कर्म कहते हैं, यह कर्मलक्षण द्वितीय कर्म में न रहने से) अव्याप्ति दोष हो जायगा)। 'दूसरे क्षण में प्रथम क्रिया दूसरी क्रिया को उत्पन्न करेगी' ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि प्रथम क्रिया द्वितीय क्रिया को उत्पन्न करने में समर्थ है, तो वह (क्षेप) कालविलम्ब को सहन नहीं कर सकती। क्योंकि उसे दूसरे किसी की क्रियान्तर को उत्पन्न करने में अपेक्षा (आवश्यकता) नहीं है। पूर्वसंयोग के नाश के तृतीय क्षण में प्रथम क्रिया द्वितीय क्रिया को उत्पन्न करे तो भी पूर्वोक्त रीति से विभागजनकता नहीं हो सकती। यदि उत्तर संयोग के उत्पत्ति के चतुर्थ क्षण में प्रथम क्रियान्तर को उत्पन्न करे, तो भी वही विभागजनकता न होना दोष आ ही जायगा। उत्तरसंयोग के उत्पत्ति के पश्चात् पंचम क्षण में प्रथम क्रिया स्वयं नष्ट हो जाती ही है। तथा च—'कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते' एक क्रिया से दूसरी क्रिया उत्पन्न होती है इसमें प्रमाण नहीं हैं—ऐसा सूत्र में ठीक ही कहा है ॥ ११ ॥

इस प्रकार ११ वें सूत्र की व्याख्या कर उपस्कार में द्वादश सूत्र का अवतरण ऐसा देते हैं कि—गुण तथा कर्म इन दो पदार्थों से द्रव्य का विरुद्ध धर्म सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न = नहीं, द्रव्यं = द्रव्यपदार्थं, कार्यं = कार्य को, कारणं च = और

द्रव्यं न स्वकार्य्यं हन्ति न वा स्वकारणं हन्ति, कार्य्यकारणभावापन्नयोर्द्रव्ययोर्वध्यघातकभावो नास्तीत्यर्थः। आश्रयनाशारम्भकसंयोगनाशाभ्यामेव द्रव्यनाशादिति भावः। वधतीति सौत्रो निर्देशः॥ १२॥

गुणस्य कार्य्यकारणवध्यत्वमाह—

उभयथा गुणाः ॥ १३ ॥

कार्य्यवध्याः कारणवध्याश्चेत्यर्थः। आद्यशब्दादीनां कार्य्यवध्यत्वं चरमस्य तु कारणवध्यत्वम्, उपान्त्येन शब्देन अन्त्यस्य नाशात्॥ १३॥

कारण को भी, वधति=नष्ट करता है। (इस सूत्र में गणपाठ में उपलब्ध न होने के कारण 'वधति' यह आर्ष प्रयोग है यह जानना चाहिये)॥ १२॥

भावार्थ—शब्द ज्ञानादि गुणों के समान दो द्रव्यों का परस्पर में नाश्यनाशकभाव नहीं है, अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का नाशक तथा कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य से नष्ट नहीं होता॥ १२॥

उपस्कार—शब्दादि गुणों के समान कोई द्रव्य अपने कार्य द्रव्य को अथवा अपने कारण द्रव्य को नष्ट नहीं करता। यदि पूर्वपक्षी यहाँ पर ऐसी शंका करे—कि द्रव्य में कर्मपदार्थ का वैधर्म्य नहीं हो सकता, क्योंकि 'कार्यविरोधि कर्म' इस अग्रिम १४ सूत्र से कर्म में कार्य से नाश होने की, और इस सूत्र में कार्य के नाशक न होने की उक्ति है—तो उसके उत्तर मे शंकरमिश्र कहते हैं कि कार्यता तथा कारणतावस्था प्राप्त दो द्रव्यों का परस्पर वध्यघातकभाव नहीं है यह अर्थ है। आश्रय का नाश तथा उत्पादक संयोग के नाश ही से द्रव्यनाश होता है यह भाव है। 'वधति' यह सूत्रोक्त निर्देश है (प्रकृतव्याकरणानुसार न होने से॥ अर्थात् कार्य द्रव्य में नाश्यता, कारणद्रव्य में नाशकत्व, तथा कारण द्रव्य में नाश्यता तथा कार्य द्रव्य में नाशकता नहीं है ऐसे सूत्र क्रम के अनुसार अर्थ के क्रम से अर्थ करने पर द्रव्य में कार्य से नाश्यता के अभाव का भी लाभ होने से वैधर्म्य की उपपत्ति हो सकती है। इस पक्ष में सूत्र में द्रव्य पद द्वितीयान्त कर्म, कार्य और कारण पद प्रथमान्त कर्तृ पद हैं यह भी जानना चाहिये॥ १२॥

त्रयोदश सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरदेव कहते हैं कि गुणपदार्थ कार्य तथा कारण दोनों से नष्ट होते हैं, यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—उभयथा = कार्य तथा कारण दोनों से, गुणाः = गुणपदार्थ (नष्ट होते हैं)॥ १३॥

भावार्थ—किन्तु गुणपदार्थ कार्यगुण तथा कारणगुण दोनों से नष्ट होते हैं॥ १३॥

उपस्कार—गुणपदार्थ कार्य गुणों से नष्ट होते हैं तथा कारणगुणों से भी नष्ट होते हैं। क्योंकि प्रथम आदि कारण शब्दों का द्वितीय आदि कार्य शब्दों से नाश होता

गुणानां कार्य्यकारणोभयविरोधित्वमुक्त्वा कर्मणः कार्य्यविरोधित्वमाह—

कार्य्यविरोधि कर्म ॥ १४ ॥

कार्य्यं विरोधि यस्येति बहुव्रीहिः, स्वजन्योत्तरसंयोगनाश्यत्वात् कर्मणः। द्रव्याणां कार्य्यकारणाविरोधित्वं नियतमेव। गुणकर्मणोस्त्वनियमः, आश्रयनाशासमवायिकारणनाशनिमित्तनाशविरोधिगुणानां नाशकत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥ १४ ॥

शिष्याकाङ्क्षानुरोधेन त्रयाणां साधर्म्यमभिधायेदानीं त्रयाणां लक्षणमारभमाण आह—

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥ १५ ॥

है, और अन्तिम शब्द कारण शब्द से नष्ट होता हैं, क्योंकि उपान्त्य (अन्तिम के पूर्व) शब्द से अन्तिम शब्द का नाश होता है (यही प्रक्रिया ज्ञान सुख आदि आत्मगुणों के नाश में जाननी चाहिये) ॥ १३ ॥

(चतुर्दश सूत्र का अवतरण उपस्कार में ऐसा देते हैं कि) त्रयोदश सूत्र में गुण पदार्थों में कार्य तथा कारण गुणों से नाश होता हैं यह कहकर कर्मपदार्थ कार्य से (उत्तर संयोग से) नष्ट होता है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कार्यविरोधि = कार्य से नष्ट होता है, कर्म = कर्म पदार्थ ॥१४॥

भावार्थ—कर्मपदार्थ अपने उत्तर संयोग रूप कार्य से नष्ट होता है ॥ १४ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में 'कार्य विरोधि' इस विशेषण पद में कार्य विरोधी है जिसका ऐसा अन्य (कर्म) पदार्थ प्रधान वहुव्रीहि समास करना, क्योंकि क्रिया से चतुर्थ क्षग में उत्पन्न उत्तर संयोग क्रिया का नाश करता है। द्रव्यपदार्थों में कार्य तथा कारण द्रव्यों से नाश न होना यह १२ सूत्र में उक्त साधर्म्य नियमित है। गुण तथा कर्मपदार्थ में कार्य तथा कारण से नष्ट होने का नियम नहीं है, क्योंकि आश्रय रूप समवायिकारण का नाश, संयोगादि रूप असमवायिकारण का नाश तथा निमित्त कारण का नाश, तथा विरोधी गुण गुणों के नाशक होते हैं यह कहा जायगा ॥ १४ ॥

शिष्यों की जिज्ञासा के अनुसार द्रव्य, गुण, तथा कर्म इन तीनों पदार्थों के साधर्म्य का वर्णन कर सूत्रकार संप्रति उक्त तीनों पदार्थों का क्रम से लक्षण कहने के लिये यह सूत्र कहते हैं—क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥ १५ ॥

पदपदार्थ—क्रियागुणवत् = कर्म और गुण का आश्रय होना, समवायिकारणं = समवायि कारण होना, इति = यह तीन, द्रव्यलक्षणम् = द्रव्य पदार्थों का सामान्य लक्षण है ॥ १५ ॥

भावार्थ—क्रिया तथा गुण के आश्रय, और समवायिकारण को द्रव्य कहते हैं ॥ १५ ॥

क्रियाश्च गुणाश्च विद्यन्तेऽस्मिन्निति क्रियागुणवत्। अत्र लक्षणशब्दश्चिह्न-वचनः, समानासमानजातीयव्यवच्छेदकव्यतिरेकिलिङ्गविशेषवचनश्चलक्ष्यतेऽने-नेतिव्युत्पत्तिबलात्। क्रियया कर्मणा द्रव्यमिदमिति लक्ष्यते गुणवत्त्वेन च समाना-समानजातीयेभ्यो व्यावृत्तं द्रव्यं लक्ष्यते, तत्र समानजातीया भावत्वेन गुणाद-यः पञ्च, असमानजातीयस्त्वभावः, तेन द्रव्यं गुणादिभ्यो भिन्नं गुणवत्त्वात् यन्न गुणादिभ्यो भिद्यते तन्न गुणवत् यथा गुणादीति। गुणवत्त्वं यद्यप्याद्यक्षणेऽ-वयविनि नास्ति तथापि गुणात्यन्ताभावविरोधिमत्त्वं विवक्षितम् गुणप्राग-भावप्रध्वंसयोरपि गुणात्यन्ताभावविरोधित्वात्। एवं समवायिकारणत्वमपि

उपस्कार—क्रिया और गुण भी जिसमें वर्तमान हो वह क्रिया तथा गुणवान् होता है। इसमें द्रव्यलक्षणं इस पद में लक्षणशब्द चिह्न का बोधक है। (तथा चिह्न पद का लिङ्ग का बोधक होने से व्यतिरेकि हेतुक ही यहाँ पर इतर गुणादि पदार्थों से भेद साधक लिङ्ग होगा इस आशय से शंकरमिश्र कहते हैं कि) समानजातीय तथा असमानजातीय पदार्थों से भेद सिद्ध करने वाले व्यतिरेकि लिङ्ग विशेष का बोधक भी चिह्न शब्द है, क्योंकि 'अनेन' जिससे 'लक्ष्यते' लक्षित पदार्थ (लक्षण से जाना जाय) ऐसी व्युत्पत्ति के बल से चिह्न शब्द लिङ्गबोधक हो सकता है। क्रिया से-कर्म से 'द्रव्यं इति' यह द्रव्य है 'इति' ऐसा 'लक्ष्यते' लक्षण से जाना जाता है, 'गुणवत्त्वेन च' और गुणाधारता से भी भिन्न द्रव्य पदार्थ अनुमित होता है, क्योंकि उसमें द्रव्य के भावरूप से समानजातीय गुण आदि पाँच पदार्थ तथा असमानजातीय अभाव पदार्थ हैं उससे द्रव्यपदार्थ, गुणादिपदार्थों से भिन्न हैं, गुणाधार होने से, जो गुणादिकों से भिन्न नहीं होता वह गुणवान् नहीं होता, जैसे गुणादि पदार्थ (इस व्यतिरेकि अनुमान से द्रव्य गुणादि पदार्थों से भिन्न है यह सिद्ध होता है)। अर्थात् 'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षण-स्य प्रयोजनम्' इस उक्ति से इतर भेदरूप साध्य में उसकी अन्यत्र प्रसिद्धि न होने के कारण अन्वयव्याप्ति न होने से केवल व्यतिरेक व्याप्ति मात्र से उत्पन्न अनुमिति का कारण होने से यह प्रदर्शित व्यतिरेकिलिङ्गरूप लक्षण है यह सिद्ध होता है॥ (गुणवत्त्व शब्द के अर्थ का विचार करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि) यहाँ पर गुणाधारता रूप द्रव्य का लक्षण प्रथम उत्पत्ति क्षण में यद्यपि घटादि द्रव्यों में न रहने से अव्याप्ति दोष आ सकता है, तथापि गुणों के अत्यन्ताभाव का विरोधी होना ऐसा गुणवत्त्व शब्द का अर्थ विवक्षित है, जिससे उत्पत्ति क्षण में घट में गुणप्रागभाव होने से गुणों के ध्वंस तथा प्रागभाव का प्राचीन मत में ही विरोध होने के कारण गुणात्यन्ताभाव विरोधित्व के रहने से उक्त दोष निवृत्त हो जायगा। अर्थात् गुणवत्त्व लक्षण का गुणवान् में वर्त्तमान पदार्थ विभाजक धर्मवत्ता ऐसा अर्थ करना चाहिये, नहीं तो नव्यमत में गुण प्रागभाव तथा गुण ध्वंस का उसके अत्यन्ता-

षट्पदार्थभेदकमेव द्रव्यपदार्थस्य लक्षणम् । न च साध्याप्रसिद्धिर्गुणादिभेदस्य घटादावेव प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । नचात्र सिद्धसाधनं घटत्वावच्छेदेनेतरभेदस्य सिद्धत्वेऽपि द्रव्यत्वावच्छेदेन साध्यत्वात्, पक्षतावच्छेदकभेदे न सिद्धसाधनं यथा नित्ये वाङ्मनसो इत्यत्र इति केचित्तन्न पक्षतावच्छेदका-

---

भाव से विरोध होने में प्रमाण न होने से प्रथम क्षण में घटादि अवयवी द्रव्य में अव्याप्तिदोष फिर भी बना रहेगा। (आगे तृतीय समवायिकारणत्व रूप लक्षणार्थ के विषय में शंकरमिश्र कहते हैं कि समवायिकारणत्व भी गुणादि षट् पदार्थों से द्रव्यों में भेद सिद्ध करने वाला ही द्रव्यपदार्थ का लक्षण है। यहाँ इस उक्त अनुमान में इतर भेदरूपसाध्य अप्रसिद्ध है यह पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि गुणादि पदार्थों का भेद घट आदि द्रव्यों में प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है। तब तो 'घटादिकों में प्रत्यक्ष से सिद्ध ही गुणादि भेद को घटादि द्रव्यों में गुणादि भेद साधक हेतु सिद्ध की सिद्धि करने के कारण सिद्ध साधन दोष आ जायगा' ऐसा भी पूर्वपक्षी नहीं कह सकता क्योंकि घटत्वविशिष्ट घटादि विशेष द्रव्यों में गुणादि पदार्थों का भेद सिद्ध होने पर भी द्रव्यत्वविशिष्टसामान्य रूप से सम्पूर्ण द्रव्यों में इतर भेद साध्य ही है न कि सिद्ध, अतः पक्षतानियामक धर्म का भेद होने पर सिद्धसाधन दोष नहीं होता, जिस प्रकार 'वाङ्मनसी नित्ये' वाग् इन्द्रिय तथा मन नित्य हैं, ऐसा यहाँ पर कुछ विद्वान् कहते हैं। अर्थात् जिस प्रकार मनमात्र में मनस्त्वधर्म से नित्यता सिद्ध होने पर भी वाग् तथा मन उभय में उभयत्वेन नित्यता सिद्ध नहीं है उसी प्रकार घटत्वादिविशिष्ट घटादिकों में गुणादि भेद सिद्ध होने पर भी द्रव्यत्वरूप से संपूर्ण द्रव्यों में गुणादि भेद सिद्ध नहीं है, अतः सिद्ध साधन दोष न होगा।

शंकरमिश्र कहते हैं कि यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि पक्षतावच्छेदधर्मविशिष्ट किसी भी पक्ष मे अर्थात् 'सामानाधिकरण्येन' साध्यसिद्धि रहने पर भी पक्षता नहीं हो सकती (अर्थात् उक्त मतविशेष के उत्तर में अभाव साध्यक स्थल में साध्यज्ञान का न रहना ही पक्ष की पक्षता होती है और भाव तथा अभावसाधारण एकरूपपक्षता माननेवाले सिद्धान्ती के मत में तो पक्षमात्र में अनुमिति होने में किसी एक पक्ष में साध्य की सिद्धि भी अनुमिति की प्रतिबन्धक होती है, प्रकृतमें द्रव्य, गुणादिकों से भिन्न है, यह अनुमिति भी द्रव्यत्वधर्मविशिष्ट संपूर्ण द्रव्यों में अवच्छेदावच्छेदेन अनुमिति है, तो कैसे सिद्धसाधन दोष होगा, अथवा उसके परिहार के लिए धर्मितावच्छेदक के भेद के दिखाने के लिये मतविशेष से द्रव्यत्व तथा घटत्वरूप के प्रदर्शन का आयास किया जायगा। ऐसा 'पक्षतावच्छेदकावच्छिन्ने' इत्यादि शंकरमिश्र के उत्तर का भाव है। उक्त मतान्तर में व्यतिरेकि अनुमान में पक्षता का असम्भव होने के कारण 'व्यतिरेकिलिङ्गविशेषवचनः' इसमें व्यतिरेकि पद केवल व्यतिरेकि तथा अन्वयव्यतिरेकि दोनों का बोधक है, क्योंकि अन्य परामर्श भी हो सकता है। यह जानना चाहिये।

वच्छिन्ने क्वचिदपि साध्यसिद्धौ पक्षताक्षतेस्तथाप्यावश्यकत्वात्। इतिशब्दश्च इत्यादिपरस्तेन सङ्ख्यावत्त्वपरिमाणवत्त्वपृथक्त्ववत्त्वसंयोगवत्त्वविभागवत्त्वान्यपि द्रव्यलक्षणत्वेन संगृह्यन्ते ॥ १५॥

द्रव्यानन्तरं गुणानामुद्देशात् तल्लक्षणमाह—

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥ १६ ॥

द्रव्यमाश्रयितुं शीलमस्येति द्रव्याश्रयी। एतच्च द्रव्येऽपि गतमत आह—अगुणवानिति। तथापि कर्मण्यतिव्याप्तिरित्यत आह संयोगविभागेष्वकारणम्। तथापि संयोगविभागधर्माधर्मेश्वरज्ञानादीनामसंग्रहः स्यादत उक्तमनपेक्ष इति। अत्रानपेक्ष इत्यनन्तरं गुण इति पूरणीयम्, संयोगविभागे-

---

(आगे १५ वें सूत्र की अवशिष्ट व्याख्या करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—सूत्र में इति शब्द का अर्थ है इत्यादि इस अर्थ से संख्याश्रयता, परिमाणाधारता, पृथक्त्ववत्ता, संयोग तथा विभाग की आधारतारूप भी द्रव्य सामान्य के लक्षणों का संग्रह होता है ॥ १५ ॥

द्रव्य के अनन्तर क्रमप्राप्त गुणों का उद्देश होने से गुणों का लक्षण सूत्र में ऐसा कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्याश्रयी = द्रव्यों में आश्रित, गुणरहित, तथा संयोग और गुणों में दूसरे की अपेक्षा न करता हुआ जो कारण नहीं होता, इति = यह, गुणलक्षणम् = गुणों का सामान्य लक्षण है ॥ १६ ॥

भावार्थ—द्रव्य में आश्रित होनेवाले, गुणरहित, तथा संयोग और विभाग में कारण न हों और निरपेक्ष हों, अर्थात् संयोग तथा विभागों में निरपेक्ष होते हुए जो कारण न हों उन्हें गुण कहते हैं, ऐसा गुणों का सामान्य लक्षण है ॥ १६ ॥

उपस्कार = द्रव्यों में आश्रित होना जिसका स्वभाव है उसे गुण कहते हैं। किन्तु यह लक्षण द्रव्यों, कर्म तथा जाति आदिकों में भी द्रव्याधारता होने से अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त हो जायगा। जिसके वारण के लिए 'अगुणवान्' ऐसा दूसरा लक्षण किया है। तथापि (द्रव्यादिकों में अगुणवत्ता न रहने के कारण उक्त दोष का निवारण होने पर भी) कर्मपदार्थ में द्रव्याश्रितता तथा अगुणवत्ता होने से अतिव्याप्ति दोष होगा, अतः उसके वारण के लिये 'संयोगविभागेषु अकारणं' संयोग तथा विभागों में कारण न हो ऐसा कहा है। (कर्म के संयोग तथा विभाग में कारण होने से दोष नहीं होगा) तथापि उक्त दोष का वारण होने पर भी संयोग, विभाग, धर्म, अधर्म, ईश्वर का ज्ञान इत्यादि गुणों में लक्षण के न जाने से अव्याप्ति दोष होगा अर्थात् इनका संग्रह गुणों में न होगा, अतः 'अनपेक्ष' यह विशेषण दिया है (अर्थात् 'संयोग तथा विभाग गुणसंयोग

ष्वनपेक्षः सन् कारणं यो न भवति सगुण इत्यर्थः। संयोगविभागादीनां संयोगविभागौ प्रति सापेक्षत्वात्। नित्यवृत्तिनित्यवृत्तिसत्ताव्याप्यजातिमत्त्वं गुणत्वम्। संयोगविभागौ मिलितौ प्रतिसमवायिकारणत्वासमवायिकारणत्वरहिते सामान्यवति यत् कारणत्वं तद्गुणत्वाभिव्यञ्जकम्। संयोगविभागयोः प्रत्येकमेव संयोगविभागकारण- कत्वं न मिलितयोः धर्माधर्मेश्वरज्ञानादीनां द्वयोर्निमित्त-

---

तथा विभागविशेषों में कारण होते हैं ऐसा कहेंगे, और धर्म, अधर्म तथा ईश्वर का ज्ञान एवं प्रयत्न तो कार्यसामान्य में कारण होने से इनमें उक्त गुणलक्षण का अव्याप्ति दोष होगा)।

शंकरमिश्र कहते हैं कि यहाँ पर 'अनपेक्षः' इस पद के आगे गुणः ऐसा पदपूरण करना चाहिये, जिससे संयोग तथा विभागों में निरपेक्ष होता हुआ जो कारण नहीं होता (अर्थात् सापेक्ष ही संयोग तथा विभाग में कारण होता है उसे गुण कहते हैं। यह अर्थ है, क्योंकि संयोगविभाग इत्यादि गुण संयोग तथा विभाग दो गुणों में सापेक्ष कारण होते हैं। (यहां पर केवल संयोग का प्रवेश किया जाय तो कारण तथा अकारण के संयोग में संयोग के निरपेक्ष कारण होने से, तथा केवल विभाग का प्रवेश माना जाय तो कारण तथा अकारण के विभाग में विभाग के निरपेक्ष कारण होने से अव्याप्ति दोष आ जायगा। अतः दोनों का प्रवेश किया है तथा च संयोग को विभाग में तथा विभाग को संयोग में भी निरपेक्ष कारणता न होने से अव्याप्ति दोष न होगा। इस पर यह नहीं शंका हो सकती कि—तब तो संयोग विभाग में तथा विभाग संयोग में सामान्यरूप से कारण न होने से ही उक्त अव्याप्ति दोष का वारण हो सकता है तो अनपेक्ष पद देने की क्या आवश्यकता है, जिससे वह व्यर्थ हो जायगा—क्योंकि धर्म, अधर्म इत्यादिकों को संयोगादि कार्यों की उत्पत्ति में नियम से संयोगादिकों की अपेक्षा होने से उनमें अव्याप्ति दोष के वारण के लिये अनपेक्ष पद सार्थक हो सकता है। इससे संयोग तथा विभाग कार्य में जो निरपेक्ष कारण हो उससे भिन्न होते हुए गुणवान् से भिन्न होता हुआ द्रव्यों के आश्रित हों उन्हें गुण कहते हैं। यह गुणों का निष्कृष्ट लक्षण दिखलाया गया है।

(सूत्र के इतिपद से सूचित दूसरा गुणों का लक्षण शंकरमिश्र इस प्रकार दिखाते हैं कि)—नित्य परमाणुओं में वर्तमान, नित्य अणुपरिमाण में वर्तमान न तथा सत्ताजाति व्याप्य गुणत्वरूप जाति का आश्रय होना भी गुणों का सामान्य लक्षण है (परमाणुओं में वर्तमान द्रव्यत्वजाति को लेकर द्रव्यों में अतिव्याप्ति वारणार्थ यहाँ प्रथम नित्यपद दिया है। यदि द्वितीय नित्यपद न दिया जाय तो द्व्यणुक में वर्तमान द्रव्यत्वजाति के द्रव्यों में वर्तमान होने से पुनः अतिव्याप्ति हो जायगी जिसके वारणार्थ द्वितीय नित्यपद दिया है। सत्ताजाति को लेकर द्रव्य तथा कर्म में

कारणत्वमात्रं न समवायिकारणत्वं नाप्यसमवायिकारणत्वमिति तेषां संग्रहः। यद्वा संयोगविभागसमवायित्वासमवायिकारणत्वशून्यत्वं सामान्यसमानाधिगुणत्वव्यञ्जकम्। सामान्यवत्त्वे सति कर्मान्यत्वे च सत्यगुणवत्त्वमेव वा गुणलक्षणम् ॥ १६ ॥

गुणानन्तरमुद्दिष्टस्य कर्मणो लक्षणमाह—

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥१७॥

उक्त दोष के निवारण के लिये 'सत्ताव्याप्य' यह विशेषण दिया है। अन्यतरत्वधर्म को लेकर उक्त दोष के वारण के लिये जातिपद दिया है यह भी जान लेना। (अथवा शंकरमिश्र कहते हैं कि)—मिले हुए संयोग तथा विभाग के प्रति समवायिकारण तथा असमवायिकारण न होनेवाले जातिमान् पदार्थ में जो कारणता है वही गुणत्व-जाति की अभिव्यञ्जक है, संयोग तथा विभाग प्रत्येक ही भिन्न-भिन्न में संयोग तथा विभाग क्रम से कारण होते हैं न मिले हुए संयोग तथा विभाग में धर्म अधर्म, तथा ईश्वर ज्ञानादि गुण, संयोग तथा विभाग में केवल निमित्त कारण होते हैं, न समवायिकारण होते हैं, न असमवायिकारण इस कारण इनका भी संग्रह हो जाता है (अर्थात् अव्याप्ति दोष न होगा।) (यहाँ पर द्रव्य में गुणत्व की आपत्ति के वारणार्थ समवायिकारणतारहित तथा प्रागभाव में आपत्तिवारणार्थ सामान्यवान् ऐसा विशेषण अथवा कल्प में दिया है। यदि कारणत्व पद न दिया जाय तो प्रमेयत्व धर्म को लेकर सभी पदार्थों में गुणत्व प्राप्त होगा। अतः कारणत्व पद दिया है। धर्मादि निमित्त कारणों के संग्रहार्थ यह समवायि तथा असमवायिपद का लक्षण में देने का प्रयोजन दिखाया है)। (किन्तु अणुपरिमाण में कारणता न स्वीकृत होने से उसका संग्रह इस अथवा कल्प के लक्षण में भी न होगा इसलिये अन्य प्रकार से गुण का लक्षण उपस्कार में करते हैं कि)—अथवा संयोग तथा विभाग में समवायि तथा असमवायिकारणता से शून्य होते हुए जो जाति के आधार हों उन्हें गुण कहते हैं, अर्थात् उक्तरूप गुणत्व का व्यञ्जक है।

इससे भी और लघुलक्षण करते हैं कि जाति का आधार होते हुए तथा कर्म से भिन्न होते हुए जो गुणवान् नहीं होते उन्हें गुण कहते हैं। (इसमें जात्यादिकों में कर्म में तथा द्रव्यों में अतिव्याप्ति दोष के परिहार के लिये क्रम से दो विशेषण तथा विशेष्य दिया है यह जान लेना चाहिये ॥ १६ ॥

क्रमप्राप्त कर्मलक्षण की अवतरणिका देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि गुण पदार्थ के पश्चात् उद्देश किये कर्म पदार्थ का सूत्रकार इस प्रकार लक्षण कहते हैं—

पदपदार्थ—एकद्रव्यं = एक ही द्रव्य में आश्रित, निर्गुण तथा संयोग और विभाग को उत्पन्न करने में निरपेक्ष कारण. इति=इस प्रकार, कर्मलक्षणम् = कर्मपदार्थ का लक्षण है ॥ १७ ॥

एकमेव द्रव्यम् आश्रयो यस्य तदेकद्रव्यम्, न विद्यते गुणोऽस्मिन्नित्यगुणम्, संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति स्वोत्पत्त्यनन्तरोत्पत्तिकभावभूतानपेक्षमित्यर्थः। तेन समवायिकारणापेक्षायां पूर्वसंयोगाभावापेक्षायाञ्च नासिद्धत्वम्। स्वोत्पत्त्यनन्तरोत्पत्तिकानपेक्षत्वं वा विवक्षितम् पूर्वसंयोगध्वंसस्यापि स्वोत्पत्त्यनन्तरानुत्पत्तिकत्वात्, अभावत्वेन तस्याद्यक्षणसम्बन्धा-

---

भावार्थ—द्रव्य तथा गुणपदार्थों के पश्चात् उद्दिष्ट कर्म पदार्थ वह है जो एक द्रव्य में ही आश्रित एवं गुणरहित तथा संयोग और विभागगुणों को उत्पन्न करने में किसी अन्य की आवश्यकता न रक्खे ।। १७ ।।

उपस्कार—जिसका एक द्रव्यपदार्थ आधार हो वह एक द्रव्य कहाता है तथा गुण जिसमें न हो उसे अगुण कहते हैं तथा संयोग और विभाग को उत्पन्न करने में निरपेक्ष कारण हो, अर्थात् अपनी (क्रिया की) उत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्न होनेवाले भावपदार्थ की अपेक्षा न करे वह कर्मपदार्थ है। (यहां पर) अनेक द्रव्यों को आश्रय करनेवाले कारण तथा अकारण के संयोग तथा विभाग में अतिव्याप्ति दोष होने के कारण 'एकद्रव्य' ऐसा विशेषण दिया है जिसका अनेक द्रव्याश्रयभिन्नत्व अर्थ है, संयोग तथा विभाग के अनेक द्रव्याश्रित होने से उक्त दोष न होगा। परमाणु के अनाश्रय होने के कारण उसमें अनेक द्रव्याश्रितभिन्नता है, अतः उसमें अतिव्याप्ति दोष के परिहार के लिये अगुणं विशेषण दिया है। परमाणु में रूपादि गुण होने से उक्त दोष न होगा। रूप इत्यादि एक एक गुण में अतिव्याप्ति दोष आ जायगा क्योंकि वे भी एक द्रव्य में आश्रित तथा गुण होने से निर्गुण भी हैं, अतः अन्तिम संयोग तथा विभाग में निरपेक्षकारणत्व विशेषण दिया है, (अर्थात् मिलित संयोग तथा विभाग में जो निरपेक्षकारण हो उसे कर्म कहते हैं. यह कर्मपदार्थ का निष्कृष्ट (साररूप) लक्षण का अर्थ है। संयोग अथवा विभाग उन दोनों में निरपेक्ष कारण नहीं होते, अतः उक्त दोष न होगा। कुछ विद्वानों का यहां ऐसा मत है कि संयोग का निरपेक्षकारण, तथा विभाग का निरपेक्षकारण इस प्रकार प्रत्येक तीनों विशेषणों से युक्त दो लक्षण हैं दोनों में अन्तिम विशेषण न देने से रूपादि एक-एक गुणों में अतिव्याप्ति दोष आ जायगा)। (सूत्र के अनपेक्षपद की स्वयं व्याख्या शंकरमिश्र ने जो उपरोक्त की है उसमें नित्यज्ञान में अतिव्याप्ति दोष के परिहारार्थ सविषयक से भिन्न ऐसा विशेषण भी देना चाहिये।)

'अनपेक्षकारणं' इस विशेषण के किये हुए अर्थ के पदों का सार्थक्य दिखाते हुए शंकरमिश्र स्वयं कहते हैं कि—उससे (अर्थात् द्वितीय उत्पत्तिपद के देने से) समवायिकारण क्रियाश्रय द्रव्य की अपेक्षा करने पर भी (उस द्रव्यकी क्रिया की उत्पत्ति के पश्चात् उत्पत्ति न होने के कारण तथा भावभूत पद के देने से। पूर्व संयोग के नाश की अपेक्षा करनेसे भी असिद्धि दोष न होगा क्योंकि वह पूर्वसंयोग का नाश भावपदार्थ नहीं है)।

भावात्। नित्यावृत्तिसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं कर्मत्वम्, चलतीतिप्रत्यया-साधारणकारणतावच्छेदकजातिमत्त्वं वा, गुणान्यनिर्गुणमात्रवृत्तिजातिमत्त्वं

(भावभूतपद न देने के कारण ऐसा भी लघु दूसरा लक्षण हो सकता है इस अभिप्राय से शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—अथवा 'अपनी (क्रिया की) उत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्न हुए की अपेक्षा न करना' यह 'संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणं' इसका अर्थ हो सकता है, क्योंकि पूर्वसंयोग नाशवाली क्रिया की उत्पत्ति के पश्चात् उत्पत्ति नहीं होती है, कारण यह कि अभाव होने से उसमें आदिक्षण का सम्बन्ध नहीं हो सकता। (अर्थात् ध्वंसरूप अभाव आदिक्षणसम्बन्ध से रहित है, अभाव होने से, प्राग् अभाव के समान इस प्रकार अनुमान से ध्वंसमें भी आदिक्षण का सम्बन्ध नहीं है यह सिद्ध हो सकता है। यहां पूर्वपक्षी ऐसी शंका नहीं कर सकता कि 'तो ध्वंस उत्पन्न हुआ—ऐसा व्यवहार कैसे होता है' क्योंकि घटादि रूप प्रतियोगियों के सम्बन्ध से होने के कारण 'उत्पन्न हुआ' यह व्यवहार गौण है। यहां पर 'वा' पद देने से शंकरमिश्र को यह लक्षणार्थपक्ष अभिमत नहीं है यह सूचित होता है, क्योंकि घटादि द्रव्यों मे आदिक्षण के सम्बन्धके-समान उनके नाश में भी आदिक्षणसम्बन्ध प्रत्यक्ष सिद्ध होने से उक्त अनुमान में दिया हुआ अभावत्व हेतु व्यभिचारी होने से आदिक्षणसम्बन्ध के अभाव का साधक नहीं हो सकता। तथा यदि प्रतियोगि सम्बन्ध की उत्पत्ति मानी जाय तो सम्बन्ध भी अतिरिक्त पदार्थ मानना पड़ेगा यह विषय यहां पर विचार योग्य है।) (कर्मपदार्थ का शंकरमिश्र दूसरा लक्षण दिखाते हैं कि)—नित्यपदार्थों में न रहने वाली तथा सत्ताजाति की साक्षात् व्याप्य (अपर) जाति का आश्रय होना ही कर्मों का लक्षण है। (यहां पर द्रव्यपदार्थ में भी सत्ता की साक्षात् व्याप्य द्रव्यत्वजाति के रहने से, तथा घटत्व आदि जाति को लेकर घटादि द्रव्यों में लक्षण जाने से अतिव्याप्ति दोष आ जायगा, अतः उसके वारणार्थ क्रम से नित्यवृत्ति तथा सत्ता साक्षात् व्याप्य यह दोनों जाति में विशेषण दिये हैं, द्रव्यत्वजाति के परमाणु आदि द्रव्यों में रहने से तथा घटत्वजाति के सत्तासाक्षात् व्याप्य न होने से उक्त दोष निवृत्त हो जाता है। यह जान लेना चाहिये)। (कर्मत्वजाति प्रत्यक्ष सिद्ध है इस आशय से शंकरमिश्र दूसरा भी कर्म का लक्षण दिखाते हैं कि)—'चलति चलता है इत्याकारक लोकसिद्ध ज्ञान के विशेष कारणता की नियामक जाति का आधार होना भी कर्म का लक्षण है। 'तथा अगुणं' इस सूत्र से पद के अनुसार गुणभिन्न तथा निर्गुणमात्र में वर्तमान जाति के अधार को कर्म कहते हैं। इस लक्षण में गुण में अतिव्याप्ति वारणार्थ गुणान्य तथा द्रव्य में अतिव्याप्ति वारणार्थ निर्गुण पद दिया है, तथा उन दोनों में उक्त दोष के निरासार्थ मात्र पद दिया है जिसका उससे भिन्न में न रहना ऐसा अर्थ है यह जानना। (सूत्र में दिये हुए संयोगविभाग इत्यादि

वा, स्वोत्पत्त्यव्यवहितोत्तरक्षणवृत्तिविभागकारणतावच्छेदकजातिमत्त्वं वा। स चायं चलतीतिप्रत्ययसाक्षिकः पदार्थो नाविरलदेशोत्पादनादिनोपपाद्यः, क्षणभङ्गस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वात्। लक्षणस्य इतरभेदसाधकताप्रकारः पूर्वोक्त एव ॥ १७ ॥

इदानीं कारणमुखेन त्रयाणामेव साधर्म्यप्रकरणमुपक्रमते—

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥ १८ ॥

विशेषण के अनुसार शंकरमिश्र कर्म का लक्षणान्तर ऐसा करते हैं कि)—अपनी (क्रिया) उत्पत्ति के व्यवधानरहित उत्तरक्षण में वर्तमान विभाग की कारणता की नियामक-जाति का आधार होना भी कर्म का लक्षण हो सकता है। (इस लक्षण में उत्पत्ति-पद न दिया जाय तो विभाग के प्रागभाव में अतिव्याप्ति दोष होगा, क्योंकि उसके अव्यवहित उत्तरक्षण में उत्पन्न होने वाले विभाग में वह कारण है, प्रागभाव की अनादिता के कारण उत्पत्ति न होने से दोष न होगा। (उक्त कर्मलक्षणों से सिद्ध कर्मपदार्थ के विषय में क्षणभंगवादि बौद्धों के आशय से शंका कर उसका समाधान करते हुए शंकरमिश्र आगे कहते हैं, कि)—वह यह कर्मपदार्थ जिसमें 'चलति' चलता है इत्यादि प्रतीति ही साक्षि (प्रमाण) है, बौद्धमत से अविरल देशोत्पादन (निरन्तर देश में उत्पत्ति) इत्यादिकों से उपपादन सिद्ध करने योग्य नहीं है, क्योंकि हम क्षण क्षण में पदार्थों का नाश होता है इसका आगे खण्डन करेंगे। (अर्थात् क्षण-विनाशी चलनकर्म के आधार पदार्थ की समानजाति के ज्ञान से ही सिद्धि हो सकने के कारण उसके कारणता की नियामक कर्मत्व जाति मानने की क्या आवश्यकता है यह यहां पर बौद्धों की शंका का आशय है। जिसका आगे विस्तार से खण्डन किया जायगा)। (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—उक्त कर्म के लक्षण से कर्म-पदार्थ में द्रव्यादि पदार्थ से भेदसिद्धि करने का प्रकार वही पूर्वोक्त है जो द्रव्य, गुणादि लक्षणों में कहा गया है ॥ १७ ॥

अट्ठारहवें सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि साम्प्रत कारण द्वारा द्रव्य, गुण, तथा कर्म इन तीन पदार्थों का ही साधर्म्य (समानधर्म) निरूपण का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है—

पदपदार्थ—द्रव्यगुणकर्मणां = द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थ का, द्रव्यं = द्रव्य, कारणं=समवायिकारण होता है, सामान्यम्=समान (एक) ॥ १८ ॥

भावार्थ—नौ द्रव्य, चतुर्विंशति गुण तथा उत्क्षेपणादि पांच कर्मपदार्थों में द्रव्य ही एक समवायिकारण होते हैं, अतः द्रव्य समवायित्व द्रव्य, गुण तथा कर्म का समान धर्म है ॥ १८ ॥

समानमेव सामान्यम् एकमित्यर्थः, अनयोः समाना मातेतिवत्। एकस्मिन्नेव द्रव्ये समवायिकारणे द्रव्यगुणकर्माणि वर्त्तन्ते इत्यर्थः। द्रव्यसमवायिकारणकवृत्तिजातिमत्त्वं त्रयाणां साधर्म्यम् ॥ १८ ॥

गुणासमवायिकारणकत्वं त्रयाणां साधर्म्यमाह—

तथा गुणः ॥ १९ ॥

गुणासमवायिकारणकवृत्तिजातिमत्त्वं त्रितयसाधर्म्यम्। द्रव्याणां संयोगोऽसमवायिकारणम्, कार्य्यगुणानां रूपरसगन्धस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वादीनां सजातीयकारणगुणासमवायिकारणकत्वम्, बुद्ध्यादीनामात्मगुणानां

उपस्कार—(सूत्र की व्याख्या करते हुए सूत्र के सामान्य शब्दका अर्थ कहते हैं कि) समान ही का नाम है सामान्य अर्थात् एक, जिस प्रकार इन दोनों की माता समान (एक) है वह व्यवहार होता है, उसी प्रकार एक ही द्रव्य में जो समवायिकारण है, द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थ रहते हैं यह अर्थ सूत्र का है। द्रव्यरूप समवायिकारण वाले द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों में क्रम से वर्तमान द्रव्यत्व, गुणत्व, तथा कर्मत्व जाति की आधारता द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहती है यह द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों का साधर्म्य है ॥ १८ ॥

(इस प्रकार अट्ठारहवें सूत्र की व्याख्या कर उन्नीसवें सूत्र की व्याख्या करने के लिये उसका अवतरण देते हैं कि—गुणासमवायिकारणवत्ता अर्थात् गुणपदार्थ जिनमें असमवायिकारण होते हैं, यह भी द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीन पदार्थों का साधर्म्य है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा=उसी प्रकार, गुणाः=चतुर्विंशति रूपादि गुण—द्रव्य, गुण तथा कर्म में असमवायिकारण होते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—द्रव्य, गुण तथा कर्मों के द्रव्य में समवायिकारणत्व के समान गुणासमवायिकारणकत्व भी साधर्म्य है ॥ १९ ॥

उपस्कार—गुण जिनमें असमवायिकारण होते हैं ऐसे द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों में वर्तमान द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्वजाति की आधारता द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहती है, अतः गुणासमवायिकत्व भी द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों का साधर्म्य है। जिसमें द्रव्यपदार्थों का संयोग गुण असमवायिकारण होता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण तथा पृथक्त्व इत्यादि कार्य के गुणों में समानजाति के रूपादि कारणों के गुण असमवायिकारण होते हैं (जैसे पटरूप में तन्तुरूप इत्यादि)। ज्ञान, सुख इत्यादि आत्माओं के विशेष गुणों में मन तथा आत्मा का संयोग असमवायिकारण होता है। पृथिवी के परमाणुओं के पाकज रक्तादिरूपगुणों में अग्निसंयोग असमवायिकारण होता है। कर्मपदार्थों में ब्रह्मादिकों का नोदन तथा अभिघात नामक संयोग, गुरुत्व,

मनःसंयोगासमवायिकारणकत्वम् । पार्थिवपरमाणुगुणानामग्निसंयोगासमवायिकारणकत्वम् । कर्मणान्तु वह्न्यादिनोदनाभिघातगुरुत्वद्रवत्वसंस्कारादृष्टवदात्मसंयोगप्रयत्नवदात्मसंयोगाद्यसमवायिकारणकत्वं यथायथं स्वयमूहनीयम् । क्वचिदेकस्यापि गुणस्य त्रयाणां द्रव्यगुणकर्मणामारम्भकत्वम् । तद्यथा वेगवत्तूलपिण्डसंयोगस्तूलपिण्डान्तरे कर्म करोति द्वितूलकञ्च द्रव्यमारभते तत्परिमाणञ्च । क्वचिदेको गुणो द्रव्यगुणावारभते यथा तूलपिण्डसंयोग एव वेगानपेक्षप्रचयाख्यो द्वितूलकं द्रव्यं तत्परिमाणञ्चारभते ॥ १९ ॥

द्रवत्व, संस्कार, धर्माधर्मरूप अदृष्टवाले आत्मा का संयोग तथा प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग इत्यादि असमवायिकारण होते हैं यह यथोचित स्वयं जान लेना चाहिये (अर्थात् आत्मा के प्रयत्न के बिना वाह्य पृथिवी आदि चार भूतद्रव्यों में नोदनादि संयोगों से कर्म होता है, जिस प्रकार कीचड़ पर धीरे से रक्खी हुई पत्थर या ईंट की गोली क्रम से कीचड़ के साथ नीचे जाती है, वह गुरुत्व के अधीन गोली का संयोग नोदन है, उसमें अधोगमनरूपा क्रिया गोली में होती है, उसमें नोदन संयोगरूप गुण असमवायिकारण होता है। इसी प्रकार वेग की अपेक्षा करनेवाले विभाग के जनक कर्म के कारण अभिघात नामक संयोग से पत्थर आदि कड़े पदार्थ पर गोली के गिरने से जो कर्म होता है उसमें अभिघात असमवायिकारण है। तथा गुरुत्व के प्रतिबन्धक हस्तसंयोगादिकों के न रहते मुसल के अधोगमनरूप कर्म में गुरुत्व तथा जल के पृथ्वी पर से गढ़े में बह कर जाने में द्रवत्व तथा वाणादिकों की गति में वेग संस्कार असमवायिकारण होते हैं। एवं प्राणवायु के श्वासप्रश्वासादि कर्मों में इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्नपूर्वक आत्मा का संयोग असमवायि कारण होता है। इसी प्रकार उपभोग से पूर्वशरीर के उपभोग के सहचारी धर्माधर्मरूप अदृष्ट का क्षय होकर दूसरे आत्ममनःसंयोग की सहायतावाले धर्माधर्म से मृत शरीर से बाहर जाने की जो क्रिया होती है उसमें अदृष्टवान् आत्मा का संयोग असमवायिकारण होता है यह यहां पर जान लेना चाहिये जिसका प्रशस्तपादभाष्य में विस्तार से वर्णन किया गया है।) (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—किसी स्थल में एक भी गुण, द्रव्य गुण तथा कर्म इन तीनों पदार्थों को उत्पन्न करता है, अर्थात् तीनों का एक ही गुण असमवायिकारण होता है, जैसे वेगवान् तूल (रुई) के पिण्ड (गोले) का संयोग दूसरे तूलपिण्ड में चलनक्रिया को करता है[1] और इन दो तूलपिण्डोंवाले एक अवयवि (एक गोलेरूप) द्रव्य[2], तथा उसके दूसरे महत् परिमाण को[3] भी उत्पन्न करता है। किसी स्थल में एक गुण द्रव्य तथा गुण दो को उत्पन्न करता है। जैसे तूलपिण्ड का संयोग ही जो वेग की अपेक्षा न करनेवाला प्रचय संयोग कहा जाता है, केवल द्वितूलकपिण्डरूप द्रव्य तथा उसके परिमाण का जनक होता है जहां चलनक्रिया नहीं होती ॥ १९ ॥

क्वचिदेकस्य कर्मणोऽनेककार्य्यकारित्वमाह—

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥ २० ॥

कारणमित्यनुषङ्गः। यत्र द्रव्ये कर्मोत्पन्नं तेन समं यावद्द्रव्यं संयुक्तमासीत् तावत्सङ्ख्याकान् विभागान् जनयित्वा तावतः संयोगानपि पुनरन्यत्र जनयति, वेगं पुनरेकमेव स्वाश्रये करोति वेगपदं स्थितिस्थापकमप्युपलक्षयति ॥ २० ॥

ननु क्रियावता द्रव्येणारम्भकसंयोगे जनिते तेन च द्रव्यमारब्धं यत्तदपि कर्मजन्यमेव कर्मणस्तत्पूर्ववर्त्तित्वादत आह—

न द्रव्याणां कर्म ॥ २१ ॥

इस प्रकार उन्नीसवें सूत्र की व्याख्या कर बीसवें सूत्र का अवतरण देते हैं कि—कहीं पर एक कर्म अनेक कार्यों को करता है यहां कर्मपदार्थ का साधर्म्य है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संयोगविभागवेगानां = संयोग तथा विभाग और वेगों का, कर्म=क्रिया, समान = एक (कारण है) ॥ २० ॥

भावार्थ—कर्मपदार्थ संयोग, विभाग तथा वेगसंस्कार इन तीनों गुणों को उत्पन्न करता है अतः कर्मपदार्थ का संयोग विभाग वेगजनकत्व साधर्म्य है ॥ २० ॥

उपस्कार—सूत्र की व्याख्या करते हुए सूत्र में न दिये कारणपद की १८ वें सूत्र से अनुवृत्ति कर सूत्र को पूरण करते हैं कि 'कारणं' ऐसी १८ वें सूत्र से अनुवृत्ति करनी चाहिये। जिस द्रव्य में उत्पन्न क्रिया उस द्रव्य में जितने द्रव्य पूर्व में संयुक्त थे उतने विभागों को उत्पन्न कर उतने ही दूसरे में संयोगों को उत्पन्न करती है, किन्तु वेग को एक ही अपने आधारद्रव्य में उत्पन्न करती है। यहाँ वेगपद स्थितिस्थापक नामक संस्कार को भी सूचित करता है। यहाँ पर 'यत्र' इत्यादि व्याख्या में द्रव्यादिकों के समान कर्म भी अनेक कार्यों को करता है इस कथन से जातिघटित धर्मविशिष्ट नानाकार्यता से निरूपण की हुई कारणता के आधार में वर्तमान जाति की आधारता तीनों का साधर्म्य है, एवं 'वेगं' इत्यादि व्याख्या में दूसरे वेग के गुणजन्यत्व की सूचना से गुण तथा कर्म का संयोगादिकों के असमवायिकारण में वर्तमान पदार्थविभाजक कर्मत्व रूप धर्म की आश्रयता समान धर्म है यह भी सूचित होता है ॥ २० ॥

(एक्कीसवें सूत्र के अवतरण का अर्थ करते हुए पूर्ववादीमत से शङ्का दिखाते हैं कि)—क्रियावाले अवयव द्रव्य से आरंभकसंयोग उत्पन्न होकर उससे जो द्रव्य उत्पन्न हुआ वह भी क्रियाजन्य ही है, क्योंकि क्रिया उसके पूर्वकाल में वर्तमान है इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं।

पदपदार्थ—न = नहीं होता, द्रव्याणां = द्रव्यों का, कर्म = कर्मपदार्थ कारण नहीं होता ॥ २१ ॥

कर्म द्रव्याणां न कारणमित्यर्थः ॥ २१ ॥

कुत एवमत आह--

व्यतिरेकात् ॥ २२ ॥

व्यतिरेकादिति । निवृत्तेरित्यर्थः । उत्तरसंयोगेन कर्मणि निवृत्ते द्रव्यमुत्पद्यते इति न कर्मणो द्रव्यकारणत्वं विनश्यदवस्थञ्च कर्म न द्रव्यकारणम् । किञ्च कर्म द्रव्यस्यासमवायिकारणं वा भवेन्निमित्तकारणं वा? न तावदाद्यः द्रव्यस्यासमवायिकारणनाशनाश्यत्वेन अवयवकर्मनाशादेव द्रव्यनाशापत्तेः । न द्वितीयः महापटनाशेऽवस्थितसंयोगेभ्य एव खण्डपटोत्पत्तौ निष्कर्मणामेवावयवानां द्रव्यारम्भदर्शनाद्व्यभिचारात् ॥ २२ ॥

बहूनामेकस्यारम्भकत्वमुक्त्वा इदानीमेकस्मिन् कार्य्ये बहूनामारम्भकत्वमाह—

भावार्थ—प्रदर्शित पूर्वपक्षी की शंका का उत्तर यह है कि कर्मपदार्थ द्रव्यों का कारण नहीं होता ॥ २१ ॥

उपस्कार—कर्म द्रव्यों का कारण नहीं होता ॥ २१ ॥

ऐसा क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार स्वयं कहते हैं—

पदपदार्थ—व्यतिरेकात् = अभाव होने से ॥ २२ ॥

भावार्थ—उत्तरसंयोगरूप कार्यकर कर्म के निवृत्त हो जाने के कारण द्रव्य का कर्म कारण नहीं हो सकता ॥ २२ ॥

उपस्कार—व्यतिरेकात् इस पद का अर्थ है निवृत्ति । उत्तरसंयोगरूप कार्य को उत्पन्न कर क्रिया के निवृत्त होने पर द्रव्य की उत्पत्ति होती है इस कारण क्रिया द्रव्य की कारण नहीं हो सकती, विनाशावस्था में रहने वाली क्रिया द्रव्य की कारण नहीं होती । (यदि 'नियामक न होने से संयोग के समान क्रिया भी द्रव्य में कारण क्यों न मानी जाय' ऐसी आपत्ति पूर्वपक्षी करे तो शंकरमिश्र दूसरा दोष देते हैं कि)—पूर्वपक्षी यह बतावे कि क्रिया द्रव्य की असमवायकारण होगी, या निमित्तकारण? इनमें से प्रथमपक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि असमवायिकारण के नाश से द्रव्य का नाश होने से अवयवों की क्रिया का नाश होने से ही द्रव्यनाश होने लगेगा । द्वितीय (निमित्तकारण) पक्ष भी नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ वस्त्र के नष्ट होने पर जितने तन्तु संयोग बचे हैं उन्हीं से खण्डवस्त्र की उत्पत्ति होने में क्रियारहित ही अवयवों से द्रव्य की उत्पत्ति देखने में आती है अतः व्यभिचार हो जाता है ॥ २२ ॥

समानजाति के एककार्य के उत्पादक अनेक कारणों में वर्तमान पदार्थविभाजक धर्मवत्ता द्रव्य तथा गुण दो ही का साधर्म्य है न कि कर्म का । इस प्रकार के अग्रिम सूत्र के तात्पर्य का विवरण करते हुए शंकरमिश्र २३ वें सूत्र का अवतरण देते हैं

द्रव्याणां द्रव्यं कार्य्यं सामान्यम् ॥ २३ ॥

द्रव्ये च द्रव्याणि चेति द्रव्याणि तेषां द्रव्याणाम् । तत्र द्वाभ्यां तन्तुभ्यां द्वितन्तुकः पटो बहुभिरपि तन्तुभिरेकः पट आरभ्यते नन्वेकतन्तुकोऽपि पटो दृश्यते यत्रैकेनैव तन्तुना तानप्रतितन्त्रौ भवत इति चेन्न तत्रैकस्य संयोगाभावेनासमवायिकारणाभावात् पटानुत्पत्तेः । न चांशुकतन्तुसंयोगोऽसमवायिकारणम् अवयवावयविनोरयुतसिद्धत्वेन संयोगाभावात् आरभ्यारम्भकभावानभ्युपगमात् , मूर्त्तानां समानदेशताविरोधात् । दृश्यते तावदेवमिति चेन्न

कि)—इस प्रकार अनेक कार्यों का एक कारण होता है यह वर्णन कर सम्प्रति एक कार्य के अनेक कारण उत्पादक होते हैं इस आशय से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्याणां = अनेक द्रव्यों का, द्रव्यं = एक द्रव्य, कार्यं = कार्य होता है, सामान्यम् = यह साधारण (साधर्म्य) है ।। २३ ।।

भावार्थ—अनेक कार्यों के एक की उत्पादकता के समान एक द्रव्य कार्य में अनेक द्रव्य कारण होते हैं, जैसे दो तन्तुओं से एक द्वितन्तुक पट तथा अनेक तन्तुओं से भी एक पट उत्पन्न होता है ।। २३ ।।

उपस्कार—दो तन्तुओं में एकभिन्नतारूप अनेकता होने के कारण शंकरमिश्र 'द्रव्याणां' इस सूत्ररूप पद का विग्रह दिखाते हुए सूत्र की व्याख्या करते हैं कि—दो द्रव्य और बहुत द्रव्य प्रथम द्रव्य शब्द से सूत्र में लेना । उसमें से दो तन्तु द्रव्यों से एक दो तन्तुवाला पट, तथा बहुत से तन्तुओं से एक पट उत्पन्न होता है । यहाँ पर पूर्वपक्षी शंका करता है कि 'जहाँ पर एक ही तन्तु में तानावाना होता है, वहाँ एक तन्तु से भी एक पट की उत्पत्ति दीखती है (अतः दो तथा अनेक तन्तुओं से ही पट की उत्पत्ति होती है यह सिद्धान्त असगत है' इस शंका का उत्तर यह है कि)—ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि एक का संयोग होना असंगत होने के कारण असमवायिकारण के न रहने से पटरूप कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती । पूर्वपक्षी 'तन्तु के अवयव अंशुओं के तथा अवयवि तन्तुओं के संयोग को उस पट में असमवायिकारण है' ऐसा नहीं कह सकता, क्योंकि अवयव तथा अवयवि के अयुत सिद्ध होने के कारण उनका संयोग-सम्बन्ध नहीं हो सकता । (अर्थात् अयुतसिद्ध दो का अप्राप्तों की प्राप्तिरूप संयोग होना असंभव है ।) तथा पट और एकतन्तु में उत्पाद्य उत्पादकभाव स्वीकृत भी नहीं है, एवं मूर्त अनेक द्रव्यों की समानदेशता का विरोध भी है (अर्थात् अयुतसिद्धि रहित मूर्तद्रव्य एकदेश में नहीं रहते, प्रकृत में अंशु तथा तन्तुओं में समानदेशता होने से अयुतसिद्धि है । अतः पूर्वपक्षी के कथनानुसार अंशुतन्तुसंयोग उक्त पट की उत्पत्ति में असमवायिकारण नहीं हो सकता) यदि पूर्वपक्षी कहे कि—'ऐसा (एकतन्तु में ही तानेबाने से पटोत्पत्ति) होना दिखता है' तो यह नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ

तत्र वेमाद्यभिघातेन महावयविनस्तन्तोर्नाशात् खण्डावयविनानातन्तूत्पत्तौ तेषामन्योन्यसंयोगात् पटोत्पत्तेः, वस्तुगत्या तत्र नानाभूतेषु तन्तुषु एकत्वाभिमानात् ॥ २३ ॥

ननु यथा द्रव्याणां द्रव्यं कार्य्यं गुणानाञ्च गुणस्तथा किं कर्मणामपि कर्म कार्य्यमित्यत आह—

गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ॥ २४ ॥

कार्य्यमिति शेषः। द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यमुक्तम्। तत्र कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते इति सूत्रेण कर्मणां कर्मजनकत्वं प्रतिषिद्धमेव तदिहानूद्यते इति भावः ॥ २४ ॥

पर वेमा (बुनने के साधन) से अभिघात नामक संयोग से महा अवयवि तन्तु के नाश से खण्ड अवयवि) नाना तन्तुओं की उत्पत्ति होने पर उनके परस्पर संयोग से पट की उत्पत्ति होती है, वस्तुतः वहाँ नानारूप तन्तुओं में एकता का अभिमान (भ्रमात्मक ज्ञान) होता है॥ २३ ॥

इस सूत्र पर पूर्वपक्षी के संदेह को दिखाते हुए शंकरमिश्र अग्रिम सूत्र का ऐसा अवतरण देते हैं कि पूर्वपक्षी यहाँ पर ऐसा सदेह करता है कि)—जिस प्रकार अनेक द्रव्यों का एकद्रव्य तथा अनेकगुणों का एक गुण कार्य होता है उसी प्रकार अनेक कर्मों का भी एक कर्म कार्य होता है, इस संदेह पर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—गुणवैधर्म्यात् = गुणों के विरुद्धधर्मों के होने के कारण, न = नहीं होता, कर्मणां = अनेक कर्मों का, कर्म = दूसरा कर्म (कार्य) ॥ २४ ॥

भावार्थ—गुणों के विरुद्ध धर्मवान् होने से अनेक गुणों का एक गुण कार्य होने के समान अनेक कर्मों का एक कर्म कार्य नहीं होता है ॥ २४ ॥

उपस्कार—सूत्र में कार्यपद की योजना करते हुए शंकरमिश्र सूत्र का आशय दिखाते हैं कि कर्म कार्य है ऐसे शेष अवशिष्ट भाग की योजना करना। द्रव्य तथा गुणपदार्थों का समान जातीय को उत्पन्न करना समानधर्म कह चुके हैं, उसमें कर्म कर्म से उत्पन्न होता है, इसमें प्रमाण नहीं है इस अभिप्राय को कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते' इस सूत्र में कर्मपदार्थ कर्मजनक होते हैं ऐसा निषेध कर चुके हैं उसी का इस सूत्र में कणाद ने अनुवाद किया है यह भाव है। (अर्थात् उक्त अर्थ के प्रयोजन वाले अर्थ को पुनःकथन को अनुवाद कहते हैं, अतः 'कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते' इस सूत्र से सामान्यतः कर्म में कर्मसाध्यता का निषेध होने पर भी अनेक कर्म से कर्मसाध्य नहीं होते ऐसा निषेध न होने के कारण उसका ज्ञान होने के लिये इस सूत्र में अनुवाद किया गया है ॥ २४ ॥

इदानीं व्यासज्यवृत्तीनां गुणानाम् अनेकद्रव्यारभ्यत्वं दर्शयन्नाह—

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च ॥ २५ ॥

अनेकद्रव्यारभ्या इति शेषः । द्वित्वादिसमभिव्याहृतं पृथक्त्वपदमपि द्विपृथक्त्वादिपरम् । एवञ्च द्वित्वादिकाः परार्धपर्य्यन्ताः सङ्ख्या द्विपृथक्त्वादीनि च संयोगा विभागाश्च द्वाभ्यां बहुभिश्चैव द्रव्यैरारभ्यन्ते इत्यनेकवृत्तित्वमभीषाम् । तच्च समवाय्यन्योन्याभावसामानाधिकरण्यम् ॥ २५ ॥

नन्ववयविद्रव्याणां गुणानाञ्चोक्तानां यथा व्यासज्यवृत्तित्वं तथा कर्मणामपि किं न स्यादत आह—

(पचीसवें सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—साम्प्रत व्यासज्य (मिलकर) वृत्ति (रहनेवाले) गुणों की अनेक द्रव्यों से उत्पत्ति होती है । यह व्यासज्य वृत्तिगुणों का साधर्म्य है यह सूत्रकार दिखाते हुए कहते हैं—

पदपदार्थ—द्वित्वप्रभृतयः = द्वित्व (दो-तीन) आदि संख्या, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग (अनेक द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं) ॥ २५ ॥

भावार्थ—दो से परार्धपर्यंत संख्या, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग इतने गुण अनेक द्रव्यों से ही उत्पन्न होते हैं एक में नहीं ॥ २५ ॥

उपस्कार—(सूत्र की न्यूनता पूर्ति करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—सूत्रोक्त द्वित्वादि संख्या पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग नामक, गुण 'अनेकद्रव्यारभ्या' इति शेषः अनेक द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं ऐसा अवशिष्ट पद रख कर सूत्र की व्याख्या करनी चाहिये और इस सूत्र में द्वित्वादिपद के साथ उच्चारण किया पृथक्त्वपद भी द्विपृथक्त्वादिकों का ही बोधक है, जिससे द्वित्व (दो) से लेकर परार्ध तक संख्या, द्विपृथक्त्व त्रिपृथक्त्वादि रूप पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग इतने गुण दो तथा अनेक द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं अतः इन गुणों का अनेक वृत्तित्व (एक भिन्न में वर्तमानता) साधर्म्य है । (अर्थात् अनेक द्रव्यों से उत्पन्न एक कार्य में वर्तमान पदार्थ विभाजक धर्माधारता द्रव्य तथा गुणों का साधर्म्य है) उस अनेक वृत्तित्व शब्द का समवायिपदार्थों के परस्पर भेद के आश्रय में वर्तमान होना अर्थ है । (जैसे दो घड़ों का परस्पर में भेद है । जिसमें द्वित्व संख्या रहती है) ॥ २५ ॥

पूर्वपक्षिमत से आक्षेप दिखाते हुए अग्रिम सूत्र का अवतरण शंकरमिश्र देते हैं कि-यहाँ पूर्वपक्षी ऐसा आक्षेप करता है कि—'अवयविरूप द्रव्यों तथा द्वित्वादि गुणों को भी जिस प्रकार अनेक वृत्तित्व है, अर्थात् यह जैसे अनेक ही में वर्तमान होते हैं, उसी प्रकार कर्मपदार्थ भी अनेक वृत्ति क्यों नहीं होते—इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कर्म में गुण द्रव्यों का वैधर्म्य कहते हैं—

असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ॥ २९ ॥

असमवायादित्यत्र द्रव्ययोर्द्रव्येष्विति योज्यम्, तथा च न द्रव्ययोरेकं कर्म समवैति न वा द्रव्येष्वेकं कर्म समवैति, तेन सामान्यस्य समुदायस्य कार्यं कर्म न विद्यते। अत्रापि विदिर्ज्ञानार्थो न सत्तावचनः। यदि कर्म व्यासज्यवृत्ति स्यात् एकस्मिन् द्रव्ये चलति द्वयोर्द्रव्ययोर्बहुषु च द्रव्येषु चलतीति प्रत्ययः स्यात्, न चैतत् तस्मान्न कर्म व्यासज्यवृत्तीत्यर्थः। ननु शरीरतदवयवानां कर्म शरीरतदवयवैर्बहुभिरारभ्यत एव कथमन्यथा शरीरे चलति करचरणादावपि चलतीति-प्रत्ययः एवमन्यात्राप्यवयविनोति चेन्न अवयविकर्मसामग्र्या अवयवकर्मसामग्र्योव्याप्तत्वात् तथोपलब्धेः, न तु वैपरीत्यं, न ह्यवयवे चलति सर्व-

---

पदपदार्थ—असमवायात् = समवेत न होने से, सामान्य कार्यं, कर्म समुदाय का कार्य, कर्म = एक कर्म, न विद्यते = नहीं जाना जाता ॥ २९ ॥

भावार्थ—अवयविद्रव्य तथा द्वित्वादि गुणों के अनेकवृत्तिता के समान, कर्म-पदार्थों में भी अनेक द्रव्यसमवेतता है इसमें प्रमाण नहीं है ॥ २९ ॥

उपस्कार—(सूत्र मे न्यूनतापूर्ति करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—सूत्र के 'असमवायात्' इस पद के साथ 'द्रव्ययोः द्रव्येषु' दो द्रव्यों में तथा अनेक द्रव्यों में ऐसी योजना करनी चाहिये, तथा च ऐसा होने से, दो द्रव्यों में अथवा अनेक द्रव्यों में एकक्रिया समवेत नहीं होती, अतः समुदाय (समूह-अनेक) का कर्मपदार्थ कार्य नहीं है। इम सूत्र में भी 'विद्यते' इस पद में विदि धातु का ज्ञानरूप अर्थ है न कि विदधातु सद्भाववाचक है। यदि कर्मपदार्थ भी पूर्वोक्त द्रव्य तथा गुणों के समान अनेक वृत्ति हों तो एक द्रव्य के चलने पर दो द्रव्यों तथा अनेकद्रव्यों में चलते हैं यह प्रतीति होने लगेगी, ऐसी प्रतीति नहीं होती, अतः कर्मपदार्थ अनेक वृत्ति नहीं है। यहाँ पर पूर्वपक्षी ऐसी शंका करता है कि शरीर तथा उसके हस्तपाद इत्यादिकों की क्रिया शरीर तथा अवयव हस्तपाद इत्यादि अनेकों से उत्पन्न होती है, अन्यथा नहीं तो शरीर के चलने से हस्तपाद आदि अवयवों में भी चलनक्रिया का ज्ञान कैसे होगा? इसी प्रकार अन्य अवयवि स्थलों में भी (अनेकवृत्ति क्रिया भी द्वित्वादि संख्या के समान हो सकती है') तो उसका उत्तर शंकरमिश्र ऐसा देते हैं कि—ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि अवयवि में वर्तमान क्रिया की सामग्री अवयवों की क्रियाओं की सामग्री से व्याप्त होने के कारण ऐसी उपलब्धि (ज्ञान) होता है, नकि इसके विपरीत, क्योंकि हस्तपादादि अवयवों के चलने से सर्वत्र शरीररूप अवयवी में चलनप्रतीति नहीं होती, अन्यथा ऐसा न हो तो कारण तथा अकारण के संयोग से कार्य तथा अकार्य का संयोग भी न होगा, क्योंकि कारण की क्रिया से ही कार्य का संयोग हो सकता है। (अर्थात् अवयवो शरीरादिकों की क्रिया की सामग्री जहाँ होती है वहाँ अवयवों

त्रावयविनि चलतीति प्रत्ययः, अन्यथा कारणाकारणसंयोगात् कार्य्याकार्य-संयोगोऽपि न स्यात् कारणकर्मणव कार्यस्यापि संयोगोपपत्तेः ॥ २६ ॥

पुनर्बहूनामेकं कार्यमाह

संयोगानां द्रव्यम् ॥ २७ ॥

बहूनां संयोगानां द्रव्यमेकं कार्य्यमित्यर्थः। निःस्पर्शानां द्रव्याणाम् अन्त्यावयविनां विजातीयद्रव्याणाञ्च ये संयोगास्तान् विहायेति द्रष्टव्यम् ॥ २७ ॥

इदानीं बहूनां गुणानामेकं गुणकार्य्यमाह—

रूपाणां रूपम् ॥ २८ ॥

(हस्तपादादि) में क्रिया होने की सामग्री अवश्य होती है यह नियम है, नकि अवयवों में क्रिया की जहाँ सामग्री होती है वहां अवयवी शरीरादिकों में क्रिया होने की सामग्री होती है यह नियम है, इसी कारण शरीर के चलने से हस्तपादादिकों में चलन प्रतीत होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो अवयवरूप कारण की क्रिया से ही निर्वाह होने से हस्त अवयवरूप कारण तथा अकारण पुस्तक के संयोग से शरीररूप कार्य तथा अकार्य पुस्तक का संयोग मानने की कोई आवश्यकता न होगी) ॥ २६ ॥

(सत्ताइसवें सूत्र का अवतरण शंकरमिश्र देते हुए कहते हैं कि)—पुनः अनेकों का एककार्य होता है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संयोगानां = अनेक संयोगों का, द्रव्यं = द्रव्य (एक कार्य होता है ॥

भावार्थ—अनेक द्रव्यों के एकद्रव्यरूप कार्य के समान अनेक संयोगरूप गुणों का भी एकद्रव्य कार्य होता है ॥ २७ ॥

उपस्कार—बहुत से संयोगों का द्रव्यपदार्थ एककार्य होता है। स्पर्शशून्य द्रव्य, तथा अन्तिम अवयविरूप द्रव्य, तथा विरुद्ध जाति के द्रव्यों के संयोगों को छोड़कर जो दूसरे संयोग हैं उनका यह साधर्म्य जानना चाहिये। (इस सूत्र में द्रव्यपद उपलक्षण है क्योंकि नाना गुण से उत्पन्न एक कार्य में वर्तमान जाति का आधार होना यह द्रव्य गुण तथा कर्म तीनों पदार्थों का साधर्म्य हो सकता है। तथा संयोगानां इस सूत्रस्थ पद में बहुवचन विवक्षित नहीं है, क्योंकि स्पर्शादिरहित द्रव्यों के संयोग कारण नहीं होते, यही शंकरमिश्र ने 'निःस्पर्शनां' इत्यादि व्याख्या में स्पष्ट किया है यह जान लेना चाहिये ॥ २७ ॥

(अट्ठाइसवें सूत्र का अवतरण शंकरमिश्र ऐसा देते हैं कि)—साम्प्रत अनेक गुणों का एक गुण कार्य होता है इस अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—रूपाणां = अनेकरूपों का, रूपं = एकरूप गुण कार्य होता है ॥

भावार्थ—अनेक संयोग के एकद्रव्य कार्य होने के समान अनेकरूप गुणों का एकरूप गुण कार्य होता है ॥ २८ ॥

रूपमेकं कार्यमित्यन्वयः। रूपपदमुभयमपि लाक्षणिकम्, अजहत्स्वार्था चेयं लक्षणा। कारणैकार्थसमवायप्रत्यासत्त्या जन्यजनकभावाश्रयत्वञ्च शक्य-लक्ष्यसाधारणो धर्मस्तेन रूपरसगन्धस्पर्शस्नेहसांसिद्धिकद्रवत्वैकत्वैकपृथक्त्वानि संगृह्यन्ते। एते हि कारणे वर्त्तमानाः कार्येषु समानजातीयमेकमेव गुणमारभन्ते। द्विधा ह्यसमवायिकारणानाङ्गतिः। केचित् कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या जनयन्ति, कारणमिह समवायिकारणं तच्च जन्यस्य रूपादिलक्षणस्य कार्यस्य तेन रूपादिलक्षणकार्यस्य यत् समवायिकारणं घटादि तेन सह कपाले वर्तमानं रूपं कारणैकार्थसमवायेन घटरूपमारभते, एवं रसाद्यपि। क्वचित्तु कार्यैकार्थ-प्रत्यासत्त्याऽसमवायिकारणत्वम् यथा कारणमपि शब्दो नभसि कार्यमपि

उपस्कार—अनेकरूपों का एकरूप गुण कार्य होता है। ऐसा सूत्र में अन्वय करना। रूपपद षष्ठयन्त तथा प्रथमान्त दोनों ही लाक्षणिक हैं, और यह 'अजहत्स्वार्था' नामक अपने मुख्यार्थ का परित्याग न करनेवाली लक्षणा है। 'अर्थात् अजहत्स्वार्थलक्षणा से रूपपद से 'कारणैकार्थप्रत्यासत्ति' कारण के साथ एक अर्थ में सन्निकृष्टसम्बन्ध से घटादिको में वर्तमान स्नेहादि गुणों का भी संग्रह होता है, एवं च कारण के गुण अनेक कार्यों में एक ही समानजाति के गुण उत्पन्न करते हैं यह तात्पर्य है)। (प्रदर्शित लक्षणा के संपादकधर्म का वर्णन करते हैं कि)—समवायिकारण रूप एक द्रव्य में सम्बन्धरूप संनिकर्ष से कार्यकारणभाव का आधार होना यह शक्य (मुख्यार्थ) तथा लाक्षणिक अर्थ में वर्तमान साधारण धर्म है, जिससे रूप (मुख्यार्थ) तथा रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व, एकत्वसंख्या, एक पृथक्त्व इतने गुणों का संग्रह होता है, क्योंकि यह सम्पूर्ण गुण कारण में वर्तमान होते हुए कार्यों में समानजाति के एक ही गुण को उत्पन्न करते हैं। असमवायिकारण दो प्रकार के होते हैं। कोई अपने समवायिकारणरूप एक द्रव्य में संनिहित होकर (कार्य को उत्पन्न करते हैं) यहाँ पर कारण शब्द से समवायिकारण लेना और वह जन्यरूप कार्य के लेना, इससे रूपादि-स्वरूप कार्य का जो समवायिकारण घटादि द्रव्य है उसके साथ समवायिकारण कपाल में वर्तमान रूप कारणैकार्थ समवायसम्बन्ध से घट के रूप को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार रसादि कार्य को भी। किसी-किसी स्थल में कार्य के साथ एक अर्थ में संनिहित होना रूप कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति से असमवायिकारण होता है, जैसे कारणरूप भी शब्दगुण आकाश में दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है (यहाँ कार्यरूप द्वितीय शब्द आकाश में वर्तमान है और आकाश अर्थ में उत्पादक प्रथम शब्द भी हैं अतः कार्यैकार्थप्रत्यासत्ति है) आकाश के समान पार्थिवपरमाणुओं में अग्निसंयोग से रूपादि गुण भी कार्यैकार्थ सम्बन्ध ही से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् कार्य परमाणुरूप तथा अग्निसंयोग दोनों एक

शब्दान्तरमारभते, नभस्येव रूपाद्यपि पार्थिवपरमाणावग्निसंयोगेन कार्यकार्थसमवायप्रत्यासत्त्या जन्यते ॥ २८ ॥

एकस्य कर्मणोऽनेककार्यत्वमाह—

गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम् ॥ २९ ॥

उत्क्षेपणमेकं कार्यमेषामित्यर्थः। अत्र गुरुत्वस्य हस्तलोष्ठादिवर्त्तिनो निमित्तकारणत्वम्, प्रयत्नवदात्मसंयोगस्यासमवायिकारणत्वं हस्तनिष्ठोत्क्षेपणस्य, लोष्ठनिष्ठोत्क्षेपणस्य तु हस्तनोदनमसमवायिकारणम्। अत्राप्युत्क्षेपणपदमवक्षेपणादावपि लाक्षणिकम् ॥ २९ ॥

ननु मूर्त्तगुणानां कार्याणां कारणगुणपूर्वकत्वं स्वाश्रयगुणपूर्वकत्वञ्चोक्तम्, द्रव्यकर्मणोश्च न कर्म कारणमित्युक्तम् तथाच कर्मणः किमपि न कार्य्यमित्यायातम्, तथाचातीन्द्रियाणां सूर्य्यादिगतीनाम् अनुमानमपि दुर्लभं लिङ्गाभावात् अतः संयोगविभागवेगानां कर्मेति सूत्रोक्तमेव स्मारयन्नाह—

ही पार्थिव परमाणुओं में वर्तमान होने से कार्यकार्थसंनिकर्ष से असमवायिकारण है ॥ २८ ॥

(उन्तीसवें सूत्र का शंकरमिश्र अवतरण देते हैं कि)—एकक्रिया अनेककार्यों को उत्पन्न करती है इस आशय से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानां=गुरुत्व, प्रयत्न तथा संयोग गुणों का, उत्क्षेपणं ऊर्ध्व फेंकना (एककार्य है) ॥ २९ ॥

भावार्थ—अनेक संयोगों के एकद्रव्यकार्य के समान गुरुत्व, प्रयत्न तथा संयोग इन तीनों गुणों का उत्क्षेपण कर्म एककार्य होता है ॥ २९ ॥

उपस्कार—उत्क्षेपणक्रिया गुरुत्व, प्रयत्न तथा संयोग इन तीनों गुणों का एककार्य होती है, यह सूत्र का अर्थ है। यहाँ पर हस्त तथा मृत्तिका के ढेले में वर्तमान गुरुत्व उत्क्षेपणक्रिया में निमित्त कारण है, प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग (असमवायिकारण हाथ में होने वाली उत्क्षेपणक्रिया का) है, मृत्तिका के ढेले में होनेवाली उत्क्षेपण क्रिया का तो हस्त का नोदन नामक संयोग असमवायिकारण है। इस सूत्र में भी उत्क्षेपणपद अपक्षेपणादि क्रिया का उपलक्षण (सूचक) होने से लाक्षणिक है ॥ २९ ॥

(३०वें सूत्र का अवतरण शंकापूर्वक शंकरमिश्र दिखाते हैं कि)—यहाँ पूर्वपक्षी ऐसा आक्षेप करता है कि 'मूर्तद्रव्यों के गुण जो कार्य होते हैं उनमें कारण गुणपूर्वकता तथा अपने आधार के गुणपूर्वकता होती है, यह पूर्वग्रन्थ में प्रतिपादित है, तथा द्रव्य और क्रिया में कर्म कारण नहीं होता यह भी कहा है, जिससे कर्म का कोई भी कार्य नहीं होता ऐसा प्राप्त होता है, एवं च ऐसा होने से अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष न होने वाली) सूर्यादि ग्रहों के गति का अनुमान भी न हो सकेगा, क्योंकि कोई उसका साधक

संयोगविभागाश्च कर्मणाम् ॥ ३० ॥

जन्या इति शेषः । व्यक्त्यभिप्रायेण बहुवचनं संस्कारोऽप्युपलक्षणीयः ॥ ३० ॥

ननु द्रव्यकर्मणी न कर्मकार्ये इति पूर्वमुक्तम्, संयोगविभागौ तु संयोगविभागकार्य्यावेव तथाचेदानीं कर्मणः कारणत्वाभिधानं विरुद्धमित्यत आह—

कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम् ॥ ३१ ॥

कारणसामान्यपदेन तत्प्रकरणमुपलक्ष्यते तेन कारणसामान्याभिधानप्रकरणे

हेतु नहीं है (अर्थात् कर्मपदार्थ का कोई कार्य न होने के कारण क्रियावत्त्वरूप हेतु से सूर्य के गति का अनुमान न हो सकेगा ।" इस आशंका के समाधानार्थ 'संयोगविभागानां कर्म' इस सूत्र में कही हुई उक्ति को स्मरण कराते हुए सूत्र कार कहते हैं—

पदपदार्थ—संयोगविभागाः = संयोग तथा विभागगुण, कर्मणां = कर्मपदार्थों के, (कार्य हैं) ॥ ३० ॥

भावार्थ—गुरुत्वादिकों के उत्क्षेपण कार्य के समान । संयोग तथा विभागगुण कर्मपदार्थ के कार्य हैं ॥ ३० ॥

उपस्कार—(सूत्र की न्यूनतापूर्ति करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—संयोग तथा विभागगुण 'जन्याः' कार्य हैं ऐसा अवशिष्टपद देकर व्याख्या करना । इस सूत्र में 'संयोगविभागौ' न कह कर व्यक्तियों के आशयसे इस सूत्र में 'संयोग विभागाः कर्मणां' ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया है । तथा संयोग और विभाग से संस्कार भी उपलक्षण रूप से अथवा चकार से ग्रहण करना चाहिये ॥ ३० ॥

(पूर्वपक्षी की शंकापूर्वक अन्तिम सूत्र का अवतरण उपस्कार में ऐसा है कि) पूर्वग्रंथ में द्रव्य तथा कर्म क्रिया के कार्य नहीं होते ऐसा कहा गया है (२१ सू०) संयोग तथा विभाग संयोग तथा विभाग के कार्य ही हैं. तो यहाँ कर्म को संयोगविभाग का कारण कहना विरुद्ध है इस शंका का समाधान सूत्रकार ऐसा करते हैं—

पदपदार्थ—कारणसामान्ये = कारणसामान्य के वर्ण में, द्रव्यकर्मणां = द्रव्य तथा कर्मों का, कर्म = कर्मपदार्थ, अकारणं = कारण नहीं होता, उक्तम् = कहा है ॥ ३१ ॥

भावार्थ—सामान्यरूप से कारण के कथनप्रकरण में द्रव्य तथा कर्म में कर्म कारण नहीं होता यह कहा गया है न कि सर्वथा कारण नहीं ही होता यह कहा है ॥ ३१ ॥

उपस्कार—(सूत्र की व्याख्या में शंकरमिश्र पूर्वपक्षी की शंका का उत्तर देते हैं कि) सूत्र में कारणसामान्य इस पद से उसका प्रकरण सूचित होता है, इससे कारण-

द्रव्यकर्मणो प्रति कर्मणोऽकारणत्वमुक्तं न तु सर्वथाप्यकारणमेव कर्मेति विवक्षितम् । येन 'संयोगविभागाश्च कर्मणामिति' सूत्रं व्याहन्येतेति भावः ॥ ३१ ॥

इति शाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे प्रथमाध्यायस्य
प्रथमाह्निकम् ।

सामान्य के कथन प्रकरण में द्रव्य तथा कर्म में कर्मपदार्थ कारण नहीं होता यह कहा है न कि सर्वथा (किसी प्रकार) वह कारण नहीं होता यह सूत्रकार का विवक्षित है, जिससे 'संयोगविभागाश्च कर्मणाम्' इस सूत्र में उक्त कर्मों की कारणता कथन का विरोध आवेगा यह भाव है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार प्रथमाध्याय प्रथमाह्निक में वैशेषिकसूत्रों की
उपस्कार व्याख्या समाप्त हुई ।



प्रथमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

नन्वनेन प्रघट्टकेन द्रव्यादीनां त्रयाणां पदार्थानां कार्यैकत्वघटितं कारणैकत्वघटितञ्च साधर्म्यमुक्तम्, तच्चानुपपन्नं कार्यकारणभावस्यैवासिद्धे-रित्यत आह—

कारणाभावात्कार्याभावः ॥ १ ॥

दृश्यते हि मृच्चक्रसलिलकुलालसूत्रादौ समवहितेऽपि दण्डाभावाद् घटाभावः, भूसलिलादौ समवहितेऽपि बीजाभावादङ्कुराभावः, स च दण्डघटयो-र्बीजाङ्कुरयोर्वा कार्यकारणभावमन्तरेणानुपपन्नः । अन्यथा वेमाद्यभावेऽपि

(प्रथम सूत्र का शंकापूर्वक अवतरण शंकरमिश्र देते हैं कि)—इस पूर्वोक्त सन्दर्भ में द्रव्य गुण तथा कर्म इन तीन पदार्थों के कार्य की एकता को लेकर तथा कारण की एकता को लेकर भी साधर्म्य वर्णन किया गया है, किन्तु वह असंगत है क्योंकि कार्यकारणभाव ही असिद्ध है क्योंकि उसमें प्रमाण नहीं है। ऐसी शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—(अर्थात् 'चिन्तां प्रकृतसिद्धयर्थामुपोद्‌घातं विदुर्बुधाः' प्रस्तुत विषय विचाररूप उपोद्‌घात सङ्गति से कार्य कारणभाव सिद्ध करते हैं—

पदपदार्थ—कारणाभावात् = कारण के अभाव से, कार्याकारणभावः = कार्य का अभाव होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—तन्तु आदि कारणों के न रहने पर वस्त्र आदि कार्य नहीं होते, ऐसा प्रत्यक्ष सिद्ध होने से विना तन्तु के वस्त्र का न होना तन्तु वस्त्र के कारण हैं तथा पट कार्य है यह कार्यकारणभाव सिद्ध होता है ॥ १ ॥

उपस्कार—मृत्तिका, चक्र, पानी, कुम्भार, सूत्र इत्यादिकों के समीप होने पर भी चक्र चलाने का दण्ड न हो तो घट नहीं होता यह दिखाई पड़ता है। पृथिवी, जल इत्यादि समीप होने पर भी बीज के न रहने पर अङ्कुर नहीं होता, यह दोनों दण्ड तथा घट के एवं बीज तथा अङ्कुर के कार्यकारणभाव के विना नहीं हो सकता, अन्यथा विना कार्यकारणभाव के पट वुनने के साधन वेमा के अभाव में भी घट का अभाव, तथा कंकड़ों के अभाव में भी अङ्कुर का अभाव होता है ऐसा कहा जायगा। (अतः कार्यकारणभाव प्रत्यक्षसिद्ध है, केवल प्रत्यक्ष से ही नहीं अनुमान से भी कार्यकारण-भाव सिद्ध होता है इस आशय से शंकरमिश्र कहते हैं)—किञ्च और घट पट आदि कार्य कदाचित् होते हैं यह भी अनुभवसिद्ध है, वह कदाचित् होना भी कारण कार्य-भाव माने विना नहीं वन सकता, क्योंकि किसी काल में न रह कर किसी काल में

घटाभावः शिलाशकलाद्यभावेऽप्यङ्कुराभावः स्यात्। किञ्च घटपटादीनां कादाचित्कत्वमनुभूयते तदपि हेतुफलभावमन्तरेणानुपपन्नम्, नहि किञ्चित्कालासत्त्वे सति किञ्चित्कालसत्त्वरूपं कादाचित्कत्वं भावानां कारणापेक्षामन्तरेण सम्भवति तदा हि स्यादेव न स्यादेव वा नतु कदाचित् स्यात् न हि भावो न भवत्येव नाप्यहेतोर्भवति नाप्यकस्मादेव भवति, न वा निरुपाख्यादेव शशविषाणादेर्भवति, किन्तु दण्डवेमादेः सोपाख्यस्यावधेर्घटपटादौ कार्ये दर्शनात् अवधिस्तु कारणमेव। एवं कार्यकारणभावाभावे प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्याताम् तथा च निरीहं जगज्जायेत न हीष्टसाधनताज्ञानमन्तरेण प्रवृत्तिरनिष्टसाधनताज्ञानमन्तरेण निवृत्तिः ॥ १ ॥

ननु सदेवोत्पद्यते नासत् "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिश्रुति-

---

वर्तमानतारूप कदाचित्कता पदार्थों में कारण की आवश्यकता के विना संगत नहीं हो सकती। (यहाँ घटादि कार्य) सकारण हैं, कदाचित् होने से जो कदाचित् नहीं होता वह कारणवान् नहीं होता, जैसे आत्मा ऐसा अनुमान करना चाहिये)। क्योंकि यदि कारण की अपेक्षा न हो तो घटादि कार्य ही होगा, या नहीं ही होगा, न कि कदाचित् होगा। (अर्थात् कारण की अपेक्षा न होने से घटादि कार्यों की सत्ता तथा उनके अभाव में कालविशेष का नियम न होना अनुचित होने से कादाचित्कता न बनेगी)। क्योंकि कार्य भावपदार्थ नहीं ही होता ऐसा नहीं है, न विना कारण के होता है, न अकस्मात् होता है, अथवा असिद्ध होने से निरुपाख्य शशविषाण आदिकों से होता है, किन्तु दण्ड, वेमा, इत्यादि प्रसिद्ध कारणरूप अवधि घटादि कार्य के होने में देखी जाती है, कारण ही तो कार्य की अवधि होती है अर्थात् नियमित (अवधि) कारण वाले ही कार्यों के दिखाने से घटादि कार्य की उत्पत्ति तथा उनके कारणादिकों का निषेध नहीं हो सकता, इसी कारण उदयनाचार्य ने कहा है।

हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च। स्वभाववर्णनानैवमवधेर्नियतत्वतः॥

अर्थात् कार्य के कारण तथा उत्पत्ति का निषेध नहीं हो सकता तथा अलीक (असिद्ध कारण से भी कार्य नहीं हो सकते, एवं स्वभाव से भी कार्य नहीं हो सकते, क्योंकि संसार के संपूर्ण कार्यों में कारणरूप अवधि नियमित है)। (इसी प्रकार कार्यकारणभाव न मानने में दूसरा भी बाधक दिखाते हुए उपस्कार में कहते हैं कि)— यदि कार्यकारण भाव न माना जाय तो प्राणीमात्रों की हितकर्मों में प्रवृत्ति तथा अहित कर्मों से निवृत्ति भी न हो सकने से प्राणिमात्र निरीह—(इच्छारहित) हो जायेंगे, क्योंकि यह मेरे हित का साधन है ऐसे ज्ञान के विना हितकर्मों में प्रवृत्ति तथा यह मेरे अहित का साधन है ऐसे ज्ञान के विना अहितकर्मों से प्राणिमात्र की निवृत्ति दोनों नहीं होती ॥ १ ॥

(सांख्यमत से शंका करते हुए द्वितीय सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—सत् ही

प्रामाण्यात् अन्यथाऽसत्त्वाविशेषे तन्तुभ्य एव पटो न कपालेभ्य इति नियमो न स्यादिति चेत् परिणामवादिभिरपि स्वीकृतकारणकैरयं नियमोऽभ्युपगन्तव्य एव, अन्यथा घटाभिव्यक्तिः कपालेष्वेव न तन्तुष्विति कथं स्यात्। किञ्च यद्यभिव्यक्तिरपि पूर्वमासीदेव तदा तस्या अपि नित्यत्वे आविर्भावतिरोभावावेवोत्पादविनाशाविति रिक्तं वचः। अथाविर्भावतिरोभावौ कारणापेक्षौ, तदा घटपटादीनामपि कारणापेक्षैवासतामप्युत्पत्तिरित्यायातम्। यत्तु कारणं प्रति नियमानुपपत्तिरित्युक्तम्, तत्र स्वभावनियमेनैवोत्तरम्। स च स्वभावनियमोऽन्वयव्यतिरेकावगम्यो भवति, भवति हि दण्डमन्तरेण न घटो दण्डे सति घट इति सर्वसाक्षिकोऽनुभवः। एवञ्चानन्यथासिद्धनियतपूर्ववर्त्तिजातीयत्वं सह-

---

कार्य उत्पन्न होता है न कि पूर्व में असत्, क्योंकि 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् सृष्टि के पूर्व सत् ही था, इत्यादि श्रुति इस विषय में प्रमाण है, अन्यथा यदि उत्पत्ति के पूर्व कार्य असत् हो तो असत्ता के समान होने के कारण तन्तुओं से ही पटकार्य उत्पन्न होता है कपालों से नहीं होता यह नियम न हो सकेगा, इस प्रकार सांख्यमतावलम्वी शंका करे, तो परिणामवादी सांख्यमतावलम्बियों को भी जिनने कार्य का कारण स्वीकार किया है यह पूर्वोक्त कार्यकारणभाव का नियम मानना ही पड़ेगा, अन्यथा न मानने से घट की अभिव्यक्ति (प्रगटता) कपालों में ही होती है तन्तुओं में नहीं होती यह नियम न बन सकेगा। (यदि जहाँ अभेदसम्बन्ध से कार्य सत् होता है वहीं कार्य की अभिव्यक्ति होती है ऐसा नियम होने से कपालों में ही घट की अभिव्यक्ति होगी ऐसा सांख्यवादी कहें तो उस पर शंकरमिश्र न्यायमत से कहते हैं कि)—वह सांख्यों को अभिमत घटादिकार्यों की अभिव्यक्ति यदि पूर्व में थी तो उसके भी नित्यसत् होने से आविर्भाव (अभिव्यक्ति) तथा तिरोभाव ही उत्पाद तथा विनाश हैं यह कहना व्यर्थ हो जायगा। और यदि कार्य के आविर्भाव तथा तिरोभाव कारण की अपेक्षा करते हैं, तो घट-पट इत्यादि कार्यों को भी कारण की अपेक्षा है, अतः असत् घटादि कार्यों की ही उत्पत्ति होती है यह सिद्ध होता है। और जो शंका में सांख्यवादी ने असत्ता समान होने से तन्तुओं से ही पट उत्पन्न होता है इस नियम की असंगति दिखाई, उसमें स्वभावनियम द्वारा ही उत्तर होता है, (अर्थात् सांख्यों ने जिस प्रकार शब्द आकाश का गुण होता है मन का नहीं ऐसा माना है, उस पर ऐसा क्यों? ऐसा प्रश्न करने पर स्वभावनियम ही इसका कारण सांख्यों को कहना पड़ेगा, उसी प्रकार यहाँ भी घट का कारण कपाल ही है न तन्तु ऐसा स्वभावनियम ही नैयायिक उत्तर देगा)। (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—वह स्वभावनियम अन्वय (कारण के रहने से कार्य का रहना), तथा (व्यतिरेक) कारण के न रहने से कार्य का न होना, इस प्रकार अन्वय तथा व्यतिरेक ही से जाना जाता है, क्योंकि दण्ड के न

कारिवैकल्यप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं वा कारणत्वम्। यद्यपि "यवैर्यजेत व्रीहिभिर्वा" इत्यादौ नियतपूर्ववर्त्तित्वं नास्ति न हि यवकरणकयागनिष्पाद्ये फले व्रीहिकरणकयागस्य पूर्ववर्त्तित्वम् तथापि विकल्पितं विहितकारणं कारणमेव, फलैकजात्येऽपि द्वयोः कारणत्वोपपत्तेः। तथा च सहकारिवैकल्यप्रयुक्तकार्य्याभाववत्त्वं लोकवेदसाधारणी कारणता, नियतपूर्ववर्त्तित्वन्तु अन्वयव्यतिरेकगम्या कारणता लौकिकी, नहि "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादौ व्यतिरेकभागोऽपि विषयः प्रवृत्तेर-

---

रहने से घट कार्य नहीं होता, दण्ड के रहने से घट होता है, ऐसा प्राणिमात्र को प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अतः अन्वयव्यतिरेकघटित कारणत्व का यह सार अर्थ है कि अन्यथासिद्ध न होते हुए जो कार्य के नियम से पूर्व में वर्तमान हों उनके समान-जाति के होना, अथवा कारण के अभाव से कार्य का अभाववान् होना ही कारणता पदार्थ है। (यहां प्रथम लक्षण में दण्डत्वादिरूप अन्यथा सिद्धों में कारण का लक्षण न जाय इसलिये अनन्यथासिद्धत्व विशेषण दिया है। उस घट में अन्यत्र क्लृप्त इत्यादि अन्यथासिद्धिवाले भी घटमात्र में अन्यथासिद्ध न होनेवाले तद्दण्डत्वादिकों में अतिव्याप्ति निवारणार्थ निनियतिपद दिया है तथा अरण्य में वर्तमान दण्ड में उक्त दोषवारणार्थ जातीयत्वपर्यन्त अनुसरण किया है)। (शंकरमिश्र ने वैदिकस्थल में 'यवैर्व्रीहिभिर्वा' इत्यादि विकल्पस्थल की कारणता में नियतपूर्ववृत्तिता न होने के कारण उस स्थल के साधारण कारणता को 'अथवा' इस कल्प में कहा है। तथा 'यवैः' इत्यादि वैकल्पिक कारणतास्थल में व्रीहिकरणकयाग के न रहने पर भी यवकरणक याग से फल की उत्पत्ति होने के कारण कारणाभाव तथा कार्याभाव की अनुभवसाक्षिक प्रयोज्य प्रयोजक प्रतीति के न होने से सहकारी पद यहां दिया है। उदासीन में अनन्यथासिद्धता के विरह से वह हेतु न हो सकेगा यह भी यहाँ जान लेना चाहिये)। (उक्त दोनों प्रकार के कारण के लक्षणों की समालोचना करते हुए शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—यद्यपि 'यवैर्यजेत व्रीहिभिर्वा' इत्यादि वैकल्पिक कारणता स्थल में नियत पूर्ववृत्तित्वरूप प्रथम कारण का लक्षण नहीं है, क्योंकि यवकरणक याग से उत्पन्न फल के पूर्व में व्रीहिकरणक याग नहीं है, तथापि शास्त्र में विधान किया हुआ विकल्पित कारण भी कारण होता ही है, क्योंकि फल एक जाति का होने पर भी दोनों कारण हो सकते हैं, इससे यहाँ सिद्ध होता है कि सहकारि विकलता प्रयुक्त कार्याभाववत्तारूप कारणता लोक तथा वेद उभय साधारण कारणता है, और कर्म नियतपूर्ववृत्तितारूप अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों सहचारों से जाननेयोग्य कारणता केवल लौकिक स्थल में होती है, क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' स्वर्ग चाहनेवाला पुरुष याग करे इत्यादि वैदिक कारणता स्थल में व्यतिरेक (याग के के न रहने से स्वर्ग नहीं होता) भाग भी कारणता का विषय होता है, क्योंकि स्वर्गार्थी पुरुष की याग में प्रवृत्ति केवल याग होने से स्वर्ग होता है। इस अन्वय-

न्वयमात्रज्ञानादेवोपपत्तेः, अत एव "विकल्पे उभयमशास्त्रार्थः" इत्यपि घटते, तज्जातीयस्य फलस्य एकेनैवोपपत्तेरपरानुष्ठानवैयर्थ्यात्। अत एव "श्रौतात् साङ्गात् कर्मणः फलावश्यम्भावनियमः" इत्यप्युचितम् "आगममूलत्वाच्चास्यार्थस्य व्यभिचारो न दोषाय" इत्याचार्याभिधानमृज्वर्थतात्पर्यकमेव। तृणारणिमणिस्थले तु कार्यवैजात्यमावश्यकं तत्रान्वयव्यतिरेकगम्यत्वात् कारणताया व्यतिरेकाद्व्यतिरेकस्यावश्यकत्वात्। विकल्पस्थले तु फलवैजात्यकल्पने राजसूयवाजपेयादावपि वैकल्पिको कारणता स्यादिति कार्यकारणभावनियममेवोपपादयन्नाह—

व्याप्तिज्ञान से ही हो सकती है, (इस अन्वयज्ञान से प्रवृत्ति होने के कारण ही 'विकल्पे उभयमशास्त्रार्थः' अर्थात् विकल्पस्थले अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों शास्त्र के विषय नहीं हैं, यह भी संगत होता है (अन्यथा व्यतिरेक की अपेक्षा होने से उक्त विकल्प स्थल में दोनों शास्त्र के विषय होने लगेंगे) क्योंकि उस जाति का फल दो में से एक के करने से जब हो सकता है तो दूसरे के करने की आवश्यकता नहीं है अर्थात् दूसरा व्यर्थ है।

इसी कारण 'श्रौतात्साङ्गात्कर्मणः फलावश्यम्भावनियमः' अर्थात् "वेदोक्त साङ्ग कर्म करने से फल अवश्य होता है यह नियम है"—यह कहना भी उचित है। किन्तु "आगममूलत्वाच्चास्यार्थस्य व्यभिचारो न दोषाय" वैकल्पिक कारणता आगम (शास्त्र) प्रमाण से सिद्ध होने के कारण एक के न रहने पर भी फल की उत्पत्ति होने के कारण आनेवाला व्यतिरेक व्यभिचार दोषजनक नहीं हो सकता ऐसा आचार्य उदयन का इस विषय में सरल तात्पर्य ही है (इस उपस्कारग्रन्थसे यहां यह स्पष्ट होता है कि शंकरमिश्र वैदिक कारणतास्थल में केवल कारण के होने से कार्य होना यह अन्वय ज्ञान ही प्रयोजक मानते हैं, और (उदयनाचार्य दोनों अन्वय तथा व्यतिरेक के ज्ञान को प्रयोजक मानकर व्यतिरेक व्यभिचार शास्त्रमूलक होने से दोषजनक नहीं होता ऐसा मानते हैं) । "यदि वैकल्पिक उक्त कारणतास्थल में कार्य की विलक्षणता न हो तो तृणादिजन्य वह्निस्थल में भी अग्निरूप कार्य में वैचित्र्य न माना जायगा" इस शंका के उत्तर में शंकरमिश्र कहते हैं कि—तृण, अरणि, मणि इत्यादिकों से अग्नि की उत्पत्तिस्थल में तो अग्निरूप कार्य में विलक्षणता मानना आवश्यक है, क्योंकि वहां कारणता अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों से बोधित होती है, अतः कारण के अभाव में कार्य का अभाव होना आवश्यक है। किन्तु 'यवैर्वा' इत्यादि विकल्प स्थलों में तो कार्य में वैलक्षण्य की कल्पना करे तो राजसूय वाजपेय आदि यागों में भी वैकल्पिककारणता माननी पड़ेगी (इस प्रकार है जब कार्यकारणभाव अनुभव सिद्ध है) इस कारण, कार्यकारणभावरूप नियम ही को सिद्ध करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

न तु कार्याभावात् कारणाभावः ॥ २ ॥

यदि कार्यकारणभावनियमो न भवति तदा कार्याभावादपि कारणाभावः स्यात्। कार्याभावः कारणाभावं प्रत्यतन्त्रं कारणाभावस्तु कार्याभावं प्रति तन्त्रम्, तेन दुःखाभावार्थं जन्माभावे, जन्माभावार्थं प्रवृत्त्यभावे, तदर्थञ्च दोषाभावे, तदर्थं मिथ्याज्ञाननिवृत्तये, तदर्थञ्चात्मसाक्षात्काराय मुमुक्षूणां प्रवृत्तिः प्रयोजनमौपोद्घातिकस्याप्यस्य द्विसूत्रकप्रकरणस्य ॥ २ ॥

पदार्थत्रयोद्देशलक्षणानन्तरमिदानीमुद्दिष्टस्य सामान्यपदार्थस्य लक्षणमाह—

पदपदार्थ—नतु = नकि, कार्याभावात् = कार्य के अभाव से, कारणाभावः = कारण का अभाव होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—यदि कार्यकारणभावनियम न माना जाय तो जैसे कारण का अभाव कार्य के अभाव का प्रयोजक होता है उसी प्रकार कार्य का अभाव भी कारण के अभाव का प्रयोजक होने लगेगा, अतः कार्यकारणभावनियम मानना आवश्यक है ॥२॥

उपस्कार—यदि कार्यकारणभाव का नियम न हो तो कार्य के अभाव से भी कारण का अभाव होगा। कार्य का न होना कारण के न होने में प्रयोजक नहीं है, किन्तु कारण का न होना कार्य के न होने में प्रयोजक है। (इस कार्यं कारणभाव रूप नियम के दो सूत्र के प्रकरग का शिष्यों के सावधान होने के लिये साक्षात् प्रयोजन को दिखाते हैं कि)—–इस कार्यकारणभाव के नियम के होने के कारण ही दुःख का भाव होने के लिये जन्म के अभाव में, जन्म के अभाव के लिये पुण्य-प्रापकर्मों में प्रवृत्ति न होने के लिये और उसके लिए राग द्वेषादि दोषोंके न होने के लिये और उनके लिये मूलकारण मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने के लिये, और उसके लिये आत्मारूप मुख्य पदार्थ के साक्षात्कार रूप ज्ञान के लिये मोक्षेच्छु प्राणियों की शास्त्राध्ययन में प्रवृत्ति होती है यही उपोद्घात संगति से प्राप्त भी इस प्रथम दो सूत्रों का प्रकरण का प्रयोजन (अर्थात् 'चिन्तां प्रकृतसिद्धयर्थामुपोद्धातं विदुर्बुधाः' प्रस्तुत विषयक विचार को उपोद्घात कहते हैं इस लक्षण के अनुसार प्रस्तुत में उपयोगी कार्यकारणभाव का ज्ञान न हो तो वैशेषिक दर्शनरूप इस शास्त्र के अध्ययन में मुमुक्षुओं की प्रवृत्ति न होगी) ॥ २ ॥

(इस प्रकार कार्यकारणभाव के दिखाने के पश्चात् सामान्य तथा विशेषपदार्थ के वर्णन करने में अवसर संगति की सूचना देते हुए शंकरमिश्र तृतीय सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों पदार्थों के उद्देश क्रमानुसार लक्षण करने के पश्चात् साम्प्रतकाल में क्रमप्राप्त प्रथम उद्देश किये सामान्यपदार्थ का लक्षण सूत्रकार करते है—

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥ ३ ॥

सामान्यं द्विविधं परमपरञ्च । तत्र परं सत्ता अपरं सत्ताव्याप्यं द्रव्यत्वादि । तत्र सामान्यस्य तद्विशेषस्य च लक्षणं बुद्धिरेव । अनुवृत्तबुद्धिः सामान्यस्य व्यावृत्तबुद्धिर्विशेषस्य । इतिना द्वयमवच्छिद्य परामृश्यते तेन बुद्ध्यपेक्षमिति नपुंसकनिर्देशः । वृत्तिकारस्तु विशेषान्वयमाह परन्तु "नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्" इत्यनेनैकवद्भावो नपुंसकता चेत्याह— बुद्धिरपेक्षा लिङ्गं लक्षणं वा यस्य तद्बुद्ध्यपेक्षम् । तत्र नित्यमनेकव्यक्तिवृत्ति

पदपदार्थ—सामान्यं = जातिपदार्थ. विशेषः = विशेषजातिपदार्थ, इति = यह दोनों, बुद्ध्यपेक्षम् = अनुगत तथा व्यावृत्तिरूप बुद्धि की अपेक्षा से सिद्ध होता है ।।३।।

भावार्थ—इस सूत्र में सामान्य तथा विशेष पद विभागसहित लक्ष्यबोधक हैं, तथा इति बुध्यपेक्षं यह लक्षण है । इति पद का उभयविशिष्ट ऐसा अर्थ है, तथा च अनुवृत्तिव्यावृत्ति बुद्धिरूप दो प्रकार के सामान्य हैं यह सूत्र का अर्थ होता है ।। ३ ।।

उपस्कार—सामान्य पर तथा अपर ऐसा दो प्रकार का है । उनमें से सत्ता नामक सामान्य परसामान्य है, तथा द्रव्यत्व, गुणत्व आदि अपर सामान्य हैं । उनमें सामान्य तथा उसके विशेषों का भी बुद्धि ही लक्षण है । जिनमें अनुगत ज्ञान सामान्य का तथा व्यावृत्त (भेद) ज्ञान विशेष का लक्षण है । यहाँ पर इतिपद से सामान्य तथा विशेष द्वयरूप का ग्रहण होने के कारण 'बुद्धयपेक्षं' ऐसा सामान्य में नपुंसकलिंग का निर्देश है ।

प्राचीन वृत्तिकार ने इतिपद का प्रत्येक सामान्य तथा विशेष में अन्वय किया है । (किन्तु उनके पक्ष में सूत्र के इतिपद का कोई विशेष प्रयोजन नहीं आता ऐसी 'आह' इस पद से शंकरमिश्र ने वृत्तिकार के मत में अश्रद्धा सूचित की है (यह वृत्तिकार कौन है यह अभी तक ठीक-ठीक मालूम नहीं हुआ है) । (अपने पक्ष में 'बुध्यपेक्षम्' इस पद में नपुंसकलिंग तथा एकवचन प्रयोग की संगति दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—परन्तु 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' अर्थात् नपुंसकलिंगभिन्न से नपुंसकलिङ्ग तथा एकवचन विकल्प से होता है, इस पाणिनीय व्याकरण सूत्र के अनुसार सूत्रकार ने इस सूत्र में 'बुद्ध्यपेक्षं' यह नपुंसकलिङ्ग तथा एकवचन कहा है— बुद्धि ही है । अपेक्षा-लिङ्ग सूत्र के अथवा लक्षण जिसका वह बुद्ध्यपेक्ष कहाता है । (अर्थात् सामान्यरूप पक्ष में, परत्व तथा अपरत्व को सिद्ध करने में क्रम से अनुगत तथा व्यावृत्त बुद्धि लिङ्ग हैं । (अर्थात् इतर पदार्थों से व्यावृत्ति करनेवाला यही हेतु है । अथवा व्यवहारसाधकपक्ष से शंकरमिश्र ने लक्षणं वा ऐसा पक्षान्तर दिखाया है) । उसमें नित्य होता हुआ जो अनेक व्यक्तियों में समवायसम्बन्ध से वर्तमान हो, अथवा नित्य होता हुआ जो अपनी आधार व्यक्तियों के परस्पर अन्योन्याभाव के आश्रयों में वर्तमान हो उसे सामान्य कहते हैं । इन शंकरमिश्र ने किये दो लक्षणों में

सामान्यम् , नित्यत्वे सति स्वाश्रयान्योन्याभावसामानाधिकरण्यं वा। परमपि सामान्यमपरमपि तथाऽपरन्तु सामान्यं विशेषसंज्ञामपि लभते यथा द्रव्यमिदमित्यनुवृत्तप्रत्यये सत्येव नायं गुणो नेदं कर्मेति विशेषप्रत्ययः तथा च द्रव्यत्वादीनां सामान्यानामेव विशेषत्वम् ।

ननु विधिरूपं सामान्यं नास्त्येव अनुगतमतेरतद्व्यावृत्त्यैवोपपत्तेः भवति हि गौरयमिति प्रतीतेरगोव्यावृत्तोऽयमिति विषयः जातिवादिनाऽपि गोत्वादि-

---

सूत्र के सामान्यपद ही के समानों के धर्मरूप अवयवार्थ से नित्य यह अर्थ आता है। इस प्रथम लक्षण में संयोगादिकभी अनेक वृत्ति होते हैं, अतः उनमें अतिव्याप्तिदोष के निरासार्थ धर्मवाचक यत् प्रत्यय का धर्मविशेष नित्यता ही है। अतः संयोग नित्य न होने से उक्त दोष नहीं होगा । नित्यआकाश के परिमाण में अतिव्याप्ति निरास के लिये समानपद से प्राप्त अनेक वृत्तिपद दिया है, आकाशपरिमाण एकवृत्ति होने से उक्त दोष नहीं होगा । अत्यन्ताभाव में नित्यता तथा अनेकवृत्तिता होने से उक्त दोष वारणार्थ वृत्तिपद से समवेत ऐसा अर्थ करना जिससे अभाव समवायसम्बन्ध से वृत्ति न होने से उक्त दोष का निराश हो जायगा । द्वितीय लक्षण समानपद के भेद घटित अभिप्राय से शंकरमिश्र ने किया है । इसमें भी नित्यत्वादी विशेषण का फल प्रथम लक्षण के समान जान लेना चाहिये । (आगे अपरसामान्य जिस प्रकार सामान्यपद से बोधित होते हैं उसी प्रकार विशेपपद से भी बोधित होते हैं इस अभिप्राय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—परसत्तारूप सामान्य भी उक्त लक्षण है, तथा अपर द्रव्यत्वादि सामान्य भी, किन्तु अपरसामान्य द्रव्यत्वादि विशेष संज्ञा को भी प्राप्त करता है, क्योंकि जैसे यह द्रव्य है, इस प्रकार अनुगत प्रतीति होते हुए भी यह गुण नहीं है यह कर्म नहीं है इस प्रकार विशेष ज्ञान भी होता है, अतः द्रव्यत्व गुणत्वादि सामान्यों को ही विशेपता भी है। (किन्तु बौद्धों का यहाँ ऐसा पूर्वपक्ष है)—कि भावपदार्थरूप जातिपदार्थ है नहीं, क्योंकि अनुगत ज्ञान अतद्व्यावृत्ति (तद्भिन्न के अभाव ही) से हो सकता है, क्योंकि यही गो है इस ज्ञान का गो गोभिन्न अश्वादिकों से भिन्न है यही विषय है, कारण यह कि जातिवादि नैयायिकों को भी गोत्वजातिविशिष्ट गोज्ञान में गोभिन्न अश्वादिकों का भेद अवश्य ही मानना पड़ेगा, क्योंकि गो में गोत्वजाति का वैशिष्ट्य गोभिन्न अश्वादि भेद को छोड़कर दूसरा नहीं हो सकता तथा गोपद की गोरूप अर्थ में प्रवृत्त होने का निमित्त भी गोभिन्न अश्वादि भेद ही है। (अर्थात् प्राचीन नैयायिकों के मत में अभाव का अभाव जिस प्रकार प्रथम अभाव के प्रतियोगिता के नियामक सम्बन्धरूप होता है, इसी प्रकार इतर पदार्थ का भेद भी प्रथम भेद प्रतियोगिता के नियामक सम्बन्धरूप होता है इस कारण जातिवादी नैयायिकों ने माना हुआ गोत्वादि जातियों का गो आदि व्यक्तियों में समवाय गोभिन्न अश्वादि भेद

विशिष्टप्रत्ययस्य तद्विषयत्वाभ्युपगमात् न हि वैशिष्ट्यमतद्व्यावृत्तेरन्यत्, गवादिपदप्रवृत्तिनिमित्तेऽप्यगोव्यावृत्त्यादिरेव । किञ्च गोत्वं कुत्र वर्त्तते न तावद् गवि गोत्ववृत्तेः पूर्वं तस्याभावात्, नाप्यगवि विरोधात्, यत्र गोपिण्ड उत्पद्यते तत्र कुत आगत्य गोत्वं वर्त्तते, न तावत् तत्रैवासीत् देशस्यापि तस्य गोत्वापत्तेः । नापि गोत्वमपि तदानीमेवोत्पन्नं नित्यत्वाभ्युपगमात्, नाप्यन्यत आगतं निष्क्रियत्वाभ्युपगमात्, न च एकस्यैव नित्यस्य नानाव्यक्तिवृत्तित्वं कात्स्न्यैकदेशविकल्पानुपपत्तेः । न हि कृत्स्नमेकत्रैव वर्तते अन्यत्र तद्विशिष्ट-प्रत्ययानुदयप्रसङ्गात् । नाप्येकदेशेन, जातेरेकदेशस्याभावात् । तदुक्तं—

न याति न च तत्रासोन्नचोत्पन्नं न चांशवत् ।

से अतिरिक्त नहीं है, अतः अतद्व्यावृत्ति से ही निर्वाह होने के कारण अनुगत बुद्धि को नियामक भावरूप जातिपदार्थ के मानने की आवश्यकता नहीं है ऐसा बौद्धों के शंका का आशय है । (तथा सामान्य एवं विशेष के खंडन द्वारा भी जातिपदार्थ का खण्डन करते हुए बौद्धों का मत आगे शंकरमिश्र ऐसा कहते हैं कि)—नैयायिकमत से सिद्ध गोत्वजाति कहाँ रहती है ? गोत्व के रहने के पूर्व गोव्यक्ति के न रहने से गोव्यक्ति में गोत्व रहता है यह नहीं हो सकता, न गोत्वजाति गोभिन्न अश्वादिकों में रहती है, क्योंकि विरोध है । तथा जहाँ गोशरीर उत्पन्न होता है वहाँ कहाँ से आकर गोत्व उसमें रहता है, वही गोत्वजाति नहीं थी, यदि होती, तो वह देश भी गोत्वजातिमान् हो जायगा (अर्थात् यदि गोशरीर के उत्पन्न होनेवाले देश में पहिले से ही वर्तमान गोत्वजाति उत्पन्न होनेवाले गोशरीर का आश्रय करे तो उस देश (स्थल) का भी यह गो है ऐसा व्यवहार होने लगेगा) गोत्वजाति भी गोशरीर के उत्पत्तिकाल में ही उत्पन्न होती है, यह भी नहीं मान सकते, क्योंकि उसे नैयायिक नित्य मानते हैं । न गोत्वजाति दूसरे गौ से आती है यह भी हो सकता है क्योंकि जातिपदार्थ में क्रिया नहीं होती । और नित्य तथा एक जातिपदार्थ नाना आधार व्यक्तियों में नहीं रह सकता है, क्योंकि वह जातिपदार्थ संपूर्णरूप से अथवा एकदेश से व्यक्ति में रहती है ये दोनों पक्ष नहीं माने जा सकते, क्योंकि एक गोत्वादि जातिपदार्थ संपूर्णरूप से एक ही व्यक्ति में नहीं रह सकता, यदि रहे तो दूसरी गौ में गोत्व की प्रतीति न होगी । तथा जातिरूप अखण्ड पदार्थ का एकदेश न होने के कारण गोत्वजाति व्यक्ति में एकदेश से भी नहीं रह सकती । इसमें बौद्धमत में यह उक्ति प्रमाण है—

न याति नच तत्रासीन्न चोत्पन्नं न चांशवत् ।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसंततिः ।।

अर्थात् जातिपदार्थ कहीं जाता नहीं, न पूर्व में उस व्यक्ति स्थल में रहा, न उत्पन्न होता है, न सावयव है, प्रथम आधार व्यक्ति को न छोड़ता है, अतः

जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥ इति ।

सामान्यमस्ति तच्च संस्थानमात्रव्यङ्ग्यं गोत्वघटत्वादिवत् न तु गुण-कर्मगतमपीति सगोत्रकलहः ।

अत्रोच्यते सामान्यं नित्यं व्यापकञ्च व्यापकत्वमपि स्वरूपतः सर्वदेश-सम्बद्धत्वम् । न देशानां गोव्यवहारापत्तिः समवायेन तद्व्यवहारस्याभ्युपगमात् काले रूपादिमत्त्वेऽपि कालो रूपवानित्यप्रतीतिव्यवहारवत् । न च कालो नास्त्येव पञ्चस्कन्धसंज्ञाभेदमात्रमित्यभ्युपगमादिति वाच्यम् कालस्य साधयि-

---

आश्चर्य है । ऐसा जातिपदार्थ मानने का नैयायिकों को एक प्रकार का व्यसन लग गया है । (इस प्रमाण में पद्य में 'न याति' इससे यदि जाति में गमन माना जाय तो वह सक्रिय हो जायगी, तथा 'तत्रासीत्' इस वाक्य से देश में गोत्व की आपत्ति, तथा 'नचोत्पन्न' इस वाक्य से अनित्यता की आपत्ति एवं 'न चांशवत्' तथा जहाति इस वाक्य से भी कात्स्न्यैकदेशविकल्प की अनुपपत्ति नैयायिक मत पर सूचित की है) । (इस प्रकार बौद्धमत से जातिपदार्थ मानने में आपत्ति दिखाकर गुण-त्वादि जाति को नहीं माननेवाले, किन्तु वेद को प्रमाण मानने से समान गोत्र-वाले मीमांसकों की भी जातिपदार्थ के विषय में आपत्ति दिखाते हुए शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि—जाति पदार्थ है, किन्तु वह केवल अवयवसंस्थानरूप आकार से प्रगट होता है जैसे गौ के आकार से गोत्व, घट के आकार से घटत्व, गुण कर्म आकाररहित होने से गुणत्व कर्मत्वादि जातियाँ नहीं है ऐसा सगोत्र मीमांसकों का भी झगड़ा है ।

(दोनों मतों का क्रम से समाधान करते हैं कि)—यहां ऐसा हमारा कहना है कि सामान्य पदार्थ पूर्वकथित प्रकार से नित्य तथा व्यापक भी है । जिसमें संपूर्ण देशों में सम्बन्ध होना भी व्यापकता है । देशों में गोव्यवहार की बौद्ध की दिखाई हुई आपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि नैयायिक समवायसम्बन्ध से व्यक्तियों में जाति का व्यवहार मानते हैं, जिस प्रकार कालिकसम्बन्ध से रूपाश्रय भी काल में 'काल रूपवान् है' ऐसी प्रतीति तथा व्यवहार समवायसम्बन्ध से उसमें रूप न रहने से नहीं होते । (अर्थात् काल के समान दैशिकसम्बन्ध से देश में गोत्वजाति के रहने पर भी समवायसम्बन्ध से देश में गोत्व न होने के कारण वह देश गौ नहीं हो सकता ।) काल का दृष्टान्त ही असिद्ध है क्योंकि काल ही में प्रमाण नहीं है । इस आशय से बौद्ध की पुनः शंका दिखाकर उसका खण्डन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—'रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार नामक पांच स्कन्धमात्र काल हैं ऐसा हम बौद्ध मानते हैं' ऐसा भी बौद्ध नहीं कह सकते क्योंकि हम आगे अतिरिक्त कालपदार्थ की सिद्धि करेंगे ।

ष्यमाणत्वात्। तथा च यत्र पिण्ड उत्पद्यते तत्रस्थमेव गोत्वं तेन सम्बध्यते जातः सम्बद्धश्चेत्येकः काल इत्यभ्युपगमात्। एतेन कीदृश्याश्रये वर्त्तते इत्यत्र यत्र प्रतीयते इत्युत्तरम्। कुत्र प्रतीयते इत्यत्र यत्र वर्तते इत्युत्तरम्। गोत्ववृत्तेः पूर्वं स पिण्डः कीदृगासीदित्यत्र नासीदित्येवोत्तरम्। एवञ्च "न याति न च तत्रासीत्" इत्यादिकं परिदेवनमात्रम्। अतद्व्यावृत्तिरेव गोत्वमित्यत्र गौर्यमिति विधिमुखः प्रत्यय एव बाधकः। न ह्यनुभवोऽपि व्याख्यायते तदुक्तम्—

अर्थात् उपरोक्त पंचस्कन्ध के अन्तर्गत आलयविज्ञान ही क्षण समुदायादिरूप कालपदार्थ होने से बौद्धमत से कालिकसम्बन्ध के न होने से 'इस समय घट है' इत्यादि प्रतीति बौद्धमत में संयोगसम्बन्ध से घटाधारदेश ही को विषय करती है, कालिकसम्बन्ध से नहीं, तथा कालरूप रसादि विज्ञान में रूपसम्बन्ध न होने से भी काल रूपवान् है इत्यादि प्रतीतियों की आपत्ति न आ सकेगी।

(पूर्वप्रदर्शित बौद्धमत के जातिपदार्थ विषय में आपत्तियों का क्रम से उत्तर देते हुए आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—ऐसा होने से जिस स्थल में गोशरीर उत्पन्न होता है वहां रहनेवाला ही गोत्वसामान्य उस गोशरीर से सम्बद्ध होता है क्योंकि गोशरीर उत्पन्न हुआ और गोत्वजाति से सम्बद्ध हुआ यह एक ही काल है ऐसा नैयायिकों का मत है। इस कथन से किस प्रकार के आधार में जाति रहती है? इस पूर्वोक्त बौद्ध के प्रश्न में जहां गोत्वजाति की प्रतीति होती है वहां रहती है, यह उत्तर नैयायिकों का है तथा कहां जातिकी प्रतीति होती है? इस प्रश्न का जहां जाति रहती है वहां प्रतीति होती है यह उत्तर है। गोत्वजाति के रहने के पूर्व वह गो कैसी थी? इस प्रश्न का उत्तर है कि वह गो नहीं ही थी। एवं च ऐसा होने से 'न याति न च तत्रासीत्' इस प्रमाण द्वारा बौद्धों का जातिपदार्थ का खण्डन करना केवल अवहेलना (अपमान) मात्र करना है। (यहाँ पर नैयायिकों के खंडन का यह आशय है कि जिस प्रकार क्षणिकविज्ञानवादी बौद्धों के मत में असत् रूप भी पूर्वविज्ञान उत्तरविज्ञान में अदृष्टफल को उत्पन्न करता हुआ प्रगट होता है उसी प्रकार 'व्यक्त्याकृतिजातयः पदार्थः' न्या० सू० व्यक्ति, आकृति तथा जाति तीनों के अनुसार समुदाय को पद का अर्थ मानने वाले नैयायिकमत में भी व्यक्ति की उत्पत्ति के समय उसमें वर्तमान ही जाति प्रगट होती है ऐसा मानने में कोई दोष नहीं है)। (इसी प्रकार भावरूप जातिपदार्थ न मानकर बौद्धमतानुसार अभावरूप जाति मानने में बाधक प्रमाण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—'अतद्व्यावृत्ति' ही गोभिन्न अश्वादि में भेद ही गोत्वजाति है इस बौद्धमत में 'यह गो है' इस प्रकार भावपदार्थ को वर्णन करनेवाला जातिज्ञान ही बाधक है। क्योंकि इस प्राणिमात्र के अनुभव से

विधिजः प्रत्ययोऽन्योऽयं व्यतिरेकासमर्थकः" इति।

न हि गोरयमिति प्रत्ययेऽगोव्यावृत्तिरपि भासते। कार्त्स्न्यैकदेशविकल्पस्तदा भवेत् यद्येकस्य सामान्यस्य कार्त्स्न्यं भवेदेकदेशो वा। कृत्स्नता ह्यनेकाशेषता सा चैकस्मिन्नोपपन्ना। गौरयमित्याद्यनुभव एवासद्विषयो न वस्तुव्यवस्थापनक्षम इति। अत्रोत्तरं वक्ष्यते।

प्राभाकरास्तु संस्थानमात्रव्यङ्ग्यं सामान्यमाचक्षते। तद्यद्यनुगतप्रतीतिसाक्षिकं तदा किमपराद्धं गुणकर्मगतैः सामान्यैः भवति हि रूपरसादावनुगतधीः सा च जातिव्यवस्थापिकैव बाधकाभावात्। रूपत्वादिजातिषु न तावद्व्यक्त्य-

---

सिद्ध भावरूप जातिज्ञान की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। अतएव प्राचीन नैयायिकों ने कहा है—'विधिजः प्रत्ययोऽन्योऽन्यव्यतिरेकासमर्थकः' इति अर्थात् विधि (भावरूप) से उत्पन्न, प्रत्ययः = ज्ञान, अन्यः = दूसरा, अयं = यह, व्यतिरेकासमर्थकः = अभावरूप का समर्थन नहीं कर सकता, ऐसा। गो है इस ज्ञान में गोभिन्न के भेद की प्रतीति भी नहीं होती। बौद्ध का दिखाया हुआ साकल्य से जाति व्यक्ति में रहती है कि एकदेश से इस प्रकार का विकल्प तो तब होगा यदि एक अखण्ड जातिपदाथ में सकलतारूप कार्त्स्न्य हो अथवा उसका एकदेश हो, क्योंकि अनेकों की कृत्स्नता सम्पूर्णता होती है (अर्थात् उद्देश्यता नियामक का व्यापक यावत्त्व ही है अशेषत्व) वह एक में नहीं हो सकता। (तथा अखण्ड एक होने से उसका एकदेश (अंश) भी नहीं हो सकता। यदि बौद्ध कहे कि यह गो है इत्याकारक अनुभव ही गोभिन्न भेदरूप अभावविषय में होता है न कि सत् (भाव) रूप जातिविषय में तो इसका उत्तर असद्वाद के खण्डन के समय आगे कहेंगे।

वेद को प्रमाण मानने के कारण हमारे सगोत्र प्रभाकर मीमांसक ने जो आकारमात्र ही से जाति व्यक्त होती है ऐसा कहा है उसमें हम यह कहते हैं कि वह आकार व्यंग्य जाति यदि अनुगत बुद्धि से सिद्ध होती है तो गुण तथा कर्मगत गुणत्व, कर्मत्व जातियों ने क्या अपराध किया है, क्योंकि रूपरसादि गुण में भी यह गुण है। ऐसी प्रतीति होती है, और वह जाति गुणत्वादि जातियों की भी व्यवस्थायक है, क्योंकि उसकी जातिता में व्यक्त्य भेदादि कोई दोष बाधक नहीं है। कारण यह कि—

> 'व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
> रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः॥'

अर्थात् आधार व्यक्ति का एक होना, समानता, सांकर्य, अनवस्था, रूपहानि, असम्बन्ध, इतने जाति के बाधक होते हैं इस उदयनाचार्य की उक्ति से जातिबाधकों के विशेषों के अभाव से गुणत्वादिक भी जाति हो सकती हैं इस अभिप्राय से क्रम से गुणत्व कर्मत्वादि जातियों में जातिबाधकों का निरास करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि—रूपत्व-रसत्वादि जातियों में आकाश एक व्यक्ति में रहनेवाली आकाशत्वजाति के

भेदो बाधकः आकाशत्वादिवत् , रूपरसादिव्यक्तीनामनेकत्वात् । नापि बुद्धित्वज्ञानत्वादिवत् घटत्वकलसत्वादिवद्वा तुल्यत्वं बाधकम् । तच्चान्यूनानतिरिक्तव्यक्तिकत्वम् गुणत्वापेक्षया न्यूनव्यक्तिकत्वात् नीलत्वाद्यपेक्षया चाधिकव्यक्तिकत्वात् । अत एव न सङ्करः भूतत्वमूर्त्तत्ववत् , परस्परात्यन्ताभावसामानाधिकरण्ये सति जात्यन्तरेण सामानाधिकरण्याभावात् । नाप्यनवस्था रूपत्वदिगतसामान्यान्तरानभ्युपगमात् । नापि रूपहानिर्विशेषत्ववत् , यदि विशेषाः द्रव्याश्रितत्वे सति जातिमन्तः स्युः गुणाः कर्माणि वा स्युः विभुवृत्तित्वे सति यदि जातिमन्तः स्युर्गुणाः स्युरिति यथा विशेषपदार्थस्वरूपहानिस्तथा प्रकृतेऽभावात् । नापि समवायत्ववदसम्बन्धः समवाये समवायाभ्युपगमेऽनवस्थाभयात्त-

---

समान रूपत्वादि जातियों का आधार व्यक्तियों का अभेद बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि रूपरस इत्यादि गुण व्यक्ति अनेक हैं तथा बुद्धित्व तथा ज्ञानत्व, घटत्व तथा कलशत्व के पर्याय (नाम) मात्र का भेद होने से जिस प्रकार ज्ञानत्व तथा बुद्धित्व अथवा घटत्व तथा कलशत्व दो जाति नहीं होतीं, उसी प्रकार रूपत्व-रसत्वादि जाति में समानता भी बाधक नहीं है। क्योंकि न्यून तथा अधिक व्यक्तियों में न रहना ही समानता होती है । प्रकृत में ऐसा नहीं है, क्योंकि गुणत्वजाति की अपेक्षा से रूपत्वादि जातियाँ न्यून व्यक्तियों में रहती हैं तथा नीलत्वादि जातियों की अपेक्षा से वह अधिक रक्तादि-व्यक्तियों में रहती हैं । इसीसे भूतत्व तथा मूर्तत्व के समान सांकर्यदोष भी नहीं है, (परस्पर अभाव के आश्रय में रहते हुए एक आश्रय में रहना यह सांकर्य दोष कहाता है, जिस प्रकार भूतत्व के अभाववाले मन में मूर्तत्व है, तथा मूर्तत्व के अनधिकरण आकाश में भूतत्व है, और भूतत्व मूर्तत्व दोनों पृथिवी, जल, तेज तथा वायु इन चारों में रहते है, अतः सांकर्य है । उसी प्रकार परस्पर के अभाव के आश्रय में रहते हुए दूसरे जाति से एक आश्रय में वर्तमानता न होने से (रूपत्वादि जातियों में सांकर्य भी बाधक नहीं है) तथा रूपत्वादि जातियों में रूपत्वत्व उसमें भी रूपत्वत्वत्व इत्यादि दूसरी जातियाँ न मानने के कारण अनवस्था (अप्रामाणिक अनन्तपदार्थ कल्पना) दोष भी नहीं हो सकता । एवं विशेषत्व जाति मानने के समान रूपत्वादि जाति मानने में स्वरूपहानि दोष भी नहीं है, यदि विशेष पदार्थ द्रव्याश्रित होते हुए जाति के आश्रय हों तो वे गुण अथवा कर्मपदार्थ में अन्तर्गत हो जायेंगे, एवं व्यापकों में रहते हुए जाति के आधार हों तो गुण में अन्तर्गत हो जायेंगे, इस प्रकार जैसे विशेषपदार्थ के स्वरूप की हानिरूप दोष आता है उस प्रकार रूपत्वादि जाति मानने में स्वरूपहानिरूप दोष नहीं आ सकता और नहीं समवायत्व के जातिबाधक के समान समवायसम्बन्ध न होना रूपत्वादि जाति मानने में बाधक हो सकता है क्योंकि समवाय में दूसरा समवाय मानने से अनवस्थादोष के भय से असम्बन्ध समवायत्व जाति मानने में बाधक हो सकता है, प्रकृत में रूपत्वादि

थास्तु, प्रकृते तु समवायस्यैव सम्बन्धस्याभ्युपगमात्। यद्यपि समवायत्वजातिबाधको व्यक्त्यभेद एव तथापि यन्मते उत्पादविनाशशीलाः बहवः समवायास्तन्मते द्रष्टव्यम्। अभावत्वादिजात्यभ्युपगमे वा बाधकमेतत्। विवादपदमनुगतबुद्धिः अनुगतनिमित्तसाध्या अबाधितानुगतमतित्वात् दामकुसुमबुद्धिवत् इति जातौ मानमिति वृत्तिकारास्तच्चिन्त्यम् ॥ ३ ॥

सामान्यं विशेष इति द्वैविध्यं यदुक्तं तदुपपादयन्नाह—

भावोऽनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥ ४ ॥

भावः सत्ता अनुवृत्तेरेव हेतुः न तु व्यावृत्तेरपि हेतुः। तथा च विशेषसंज्ञां न लभते ॥ ४ ॥

जातियों का रूपादि आधार व्यक्तियों में समवाय ही मानने के कारण असम्बन्ध रूपत्वादि जातियों के स्वीकार करने में बाधक नहीं हो सकता। यद्यपि समवायत्व जाति मानने में समवायरूप आधार व्यक्ति के एक होने से व्यक्ति का अभेद होना ही बाधक हो सकता है, तथापि जिनके मत में उत्पत्ति तथा विनाशस्वभाव अनेक समवाय माने जाते हैं उनके मत से असम्बन्ध को समवायत्व जाति का बाधक कहा है। अथवा अभाव में अभावत्व जाति के मानने में असम्बन्ध को बाधक मानकर यह कहा है क्योंकि अभाव का भी समवायसम्बन्ध नहीं होता किन्तु स्वरूपसम्बन्ध। विवादग्रस्त अनुगतज्ञान, अनुगत (एक) निमित्त से होता है, बाधारहित अनुगतज्ञान अनुगत (एक निमित्त) से होता है। बाधारहित अनुगतज्ञान न होने से माला में गूथे पुष्पों के ज्ञान के समान, (यहाँ भ्रमात्मक ज्ञान के वारणार्थ अबाधित पद दिया है) ऐसा अनुमान ही जातिपदार्थ अतिरिक्त मानने में प्रमाण है ऐसा वृत्तिकार का मत है, जो विचारणीय है। (यहाँ शंकरमिश्र ने 'विचारणीय हैं' इस उक्ति से उक्त अनुगत धर्मप्रकारक ज्ञान प्रत्यक्ष सिद्ध होने से उसमें अनुमानप्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है, तथा इस अनुमान से वह अनुगत बुद्धि का निमित्त बौद्धों द्वारा माना हुआ अतद्व्यावृत्ति ही क्यों न सिद्ध होगा ऐसी वृत्तिकार के मत में अपनी अश्रद्धा सूचित की है) ॥ ३ ॥

(चतुर्थ सूत्र का अवतरण इस प्रकार शंकरमिश्र दिखाते हैं कि)—सामान्य तथा विशेष इस प्रकार जातिपदार्थ जो दो प्रकार के पूर्व में कहे हैं उसी का सम न क हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—भावः=सत्ता, अनुवृत्तेः एव = अनुगत बुद्धि का ही, हेतुत्वात् = कारण होने से, सामान्यं एव = सामान्य ही है।

भावार्थ—सामान्य तथा विशेष नामक दो प्रकार की जातियों में सत्ता नामक जाति अनुगत बुद्धि का ही कारण होने से वह केवल सामान्यरूप ही जाति है नकि विशेषरूप ॥ ४ ॥

केषां सामान्यानां विशेषसंज्ञेत्यपेक्षायामाह—

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वञ्च सामान्यानि विशेषाश्च ॥ ५ ॥

चकारः पृथिवीत्वादीनि—द्रव्यगतजातीः, रूपत्वादीनि—गुणगतजातीः उत्क्षेपणत्वादीनि—कर्मगतजातीः समुच्चिनोति। द्रव्यत्वमित्यादावसमासः परस्परं व्याप्यव्यापकभावाभावसूचनार्थः। सामान्यानि विशेषाश्चेत्यत्राऽसमासः सामान्यत्वे सत्येव विशेषत्वं यथा ज्ञायेत तदर्थम्, अन्यथा सामान्यविशेषा इति षष्ठीसमासभ्रमः स्यात्, तथा च सामान्यत्वे सति विशेषत्वं न प्रतीयेत। ननु द्रव्याकारानुगतमतिसाक्षिकं न द्रव्यत्वम्, पृथिव्यादौ कथञ्चित् तत्-सत्त्वेऽपि वाय्वाकाशादौ तदसम्भवात्। न च गुणत्वावच्छिन्नकार्य्यसमवायिकारणतावच्छेदकतया तत्सिद्धिः नित्यानित्यवृत्तितया गुणत्वस्य कार्य्यतानवच्छेद-

---

उपस्कार—भाव नाम सत्ता अनुवृत्ति ही की कारण है, नकि व्यावृत्ति (भेद) की भी कारण। इस कारण विशेष संज्ञा को नहीं प्राप्त करती ॥ ४ ॥

किन जातियों की विशेष संज्ञा है? इसे जानने की अपेक्षा मे सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्यत्वं=द्रव्यत्व, गुणत्वं=गुणत्व, कर्मत्वं च = और कर्मत्व भी, सामान्यं = सामान्य नामक, विशेषाः च = और विशेष नामक भी हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—द्रव्यत्व, गुण तथा कर्मत्व एवं चकार से संगृहीत पृथिवीत्व, रूपत्व, उत्क्षेपणत्वादि जातियाँ भी सामान्य तथा विशेष नामक भी हैं ॥ ५ ॥

उपस्कार—(सूत्र में) चकार पृथिव्यादि नौ द्रव्यों में रहनेवाली पृथ्वीत्व, जलत्वादि जाति तथा रूपादि चतुर्विंशति गुणों में वर्तमान रूपत्वादि जाति तथा उत्क्षेपणादि पांच कर्मों में वर्त्तमान उत्क्षेपणत्वादि जातियों का संग्रह करता है। सूत्र में 'द्रव्यत्वगुणत्व कर्मत्वानि' ऐसा समस्त पद, द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व जातियों का परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है यह सूचित करने के लिए नहीं रक्खा। तथा 'सामान्यानि-विशेषाश्च' यहाँ पर सामान्यरूप होते हुए ये विशेषरूप भी होते हैं यह जानने के लिए 'सामान्यविशेषाः' ऐसा समस्तपद नहीं दिया है। नहीं तो 'सामान्य विशेषाः' इस समस्त-पद में 'सामान्यस्यविशेषाः' ऐसा षष्ठीतत्पुरुष समास का भ्रम होने से द्रव्यत्वादि जातियाँ सामान्यरूप होते हुए विशेषरूप भी हैं यह ज्ञान न होगा। यहाँ पर पूर्वपक्ष ऐसा हो सकता है कि 'द्रव्य है द्रव्य है' इत्याकारक अनुगतज्ञानरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से (द्रव्यत्व जाति) सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि पृथ्वी, जल आदि द्रव्यों में किसी प्रकार द्रव्यत्वजाति के होने पर भी वायु, आकाश, काल इत्यादि द्रव्यों 'द्रव्यं द्रव्य' ऐसा प्रत्यक्ष न होने के कारण (द्रव्यत्वजाति कैसे सिद्ध हो सकती है)। गुणत्व-विशिष्ट सम्पूर्ण गुणरूप काय के समवायिकारण द्रव्यों में वर्तमान समवायि-कारणता के नियामकरूप होने से द्रव्यत्वजाति की सिद्धि हो सकती है, ऐसा नहीं कह सकते, नित्य तथा अनित्य दोनों प्रकार के गुणों में गुणत्वजाति के रहने के कारण

कत्वात्, गुणत्वार्थमपि पर्यनुयोगस्य तादवस्थ्यात्। मैवम् संयोगत्वावच्छिन्नकार्यसमवायिकारणतावच्छेदकतया द्रव्यत्वसिद्धेः। सा हि न पृथिवीत्वाद्यवच्छेद्या न्यूनवृत्तित्वात्, नापि सत्तावच्छेद्याऽधिकवृत्तित्वात् अवश्यं ह्यवच्छेदकेन भवितव्यम्, अन्यथाकस्मिकतापत्तेः। तत्रपरमाणुषु द्व्यणुकासमवायिकारणत्तया द्व्यणुकेषु त्र्यणुकासमवायिकारणत्तया विभुचतुष्टयस्य सर्वमूर्त्तसंयोगितयैव सिद्धेः नभसि इन्द्रियमनःसंयोगाधारतया वायौ तृणादिनोदनाश्रयतया प्रत्यक्षद्रव्येषु प्रत्यक्षतयैव संयोगाभ्युपगमस्यावश्यकत्वात्। अजस्तु

गुणत्वजाति द्रव्यरूप कारणों में वर्त्तमान कारणता को निरूपित करनेवाली गुणों में वर्तमान कार्यता की नियामक नहीं हो सकती, (क्योंकि न्यून तथा अधिक में न रहनेवाला ही धर्म नियामक होता है, नित्यगुणों में रहने से जो किसी के कार्य नहीं होते गुणत्व अधिक में रहने से द्रव्यनिष्ठ कारणतानिरूपित गुणनिष्ठकार्यता का नियामक नहीं हो सकता) तथा गुणत्वजाति के लिए भी प्रश्न उसी प्रकार हो सकता है (अर्थात् गुणत्व जाति कैसे सिद्ध होती है यह प्रश्न समान ही है) तस्मात् द्रव्यत्वजाति सिद्ध नहीं हो सकती। (इस पूर्वपक्ष के समाधान में शंकरमिश्र कहते हैं कि)—ऐसा नहीं, क्योंकि सामान्यरूप से संपूर्ण संयोगरूप कार्यों में वर्तमान कार्यता से निरूपित द्रव्यों में वर्तमान समवायि कारणता के नियामक होने से द्रव्यत्वजाति सिद्ध होती है। अर्थात् संयोगत्वविशिष्ट संपूर्णसंयोग में वर्तमान कार्यता से निरूपित द्रव्यों में वर्तमान कारणता किसी धर्म से युक्त है, कारणता होने से, घटकार्य निरूपित दण्ड में वर्तमान कारणता के समान इस अनुमान से वह अन्यूनानतिरिक्त में वर्तमान धर्म द्रव्यत्व ही होगा इस प्रकार द्रव्यत्वजाति की सिद्धि होती है। (इसी का आगे शंकरमिश्र स्पष्टीकरण करते हैं कि)—इस संयोग में वर्तमान कार्यता निरूपित द्रव्य में वर्तमान कारणता का नियामक धर्म पृथिवीत्वादिक नहीं हो सकता, क्योंकि न्यून में वर्तमान है, न सत्ता जाति उस कारणता की नियामक हो सकती है, क्योंकि वह गुण तथा कर्मों में रहने से अधिक में रहती है। उक्त कारणता का नियायक धर्म तो अवश्य मानना पड़ेगा, नहीं तो संयोगरूप कार्य आकास्मिक होने लगेगा, (अर्थात् द्रव्यों को छोड़कर गुणादिकों में संयोगरूप कार्य क्यों नहीं होता यह आपत्ति आ जायगी। उसमें परमाणुरूप द्रव्योंमें द्व्यणुकरूप कार्य के असमवायिकारण होने से द्वयणुकों में त्र्यसरेणुरूप कार्यों के असमवायिकारण होने से तथा आकाश,काल, दिक् तथा आत्मा इन चार व्यापक द्रव्यों में सम्पूर्ण मूर्तद्रव्यों की संयोगिता होने से एवं मन में इन्द्रिय तथा मन के संयोग का आश्रय होने से, वायु में तृणादिकों के नोदन नामक सयोग के आधार होने से तथा प्रत्यक्ष द्रव्यों में प्रत्यक्ष से ही संयोग मानना आवश्यक है। नित्यसंयोग तो है नहीं, यदि होता तो कर्म तथा नित्य दोनों प्रकार के संयोगों में वर्तमान होने के कारण संयोगत्वजाति अधिक वृत्ति होने से संयोग में वर्तमान कार्यता की नियामक न होती। यदि नित्य संयोग माना

संयोगो नास्त्येव येन संयोगत्वस्यापि कार्य्याकार्यवृत्तितया कार्यतावच्छेदकता न स्यात्। एवं विभागसमवायिकारणतावच्छेदकतयाऽपि द्रव्यत्वसिद्धेः सुप्रतिपदत्वात्।

गुणत्वन्तु संयोगविभाग समवायिकारणत्वासमवायिकारणत्वशून्ये सामान्यवति यत् कारणत्वं तदवच्छेदकतयैव सिद्धमित्युक्तत्वात्। कर्मत्वमपि प्रत्यक्षद्रव्येषु चलतीति प्रत्ययसाक्षिकम्। अन्यत्र तु संयोगविभागानुमेयम् संयोगविभागोभयासमवायिकारणतावच्छेदकतयाऽपि कर्मत्वसिद्धेरावश्यकत्वात्। अत एवादित्यस्य देशान्तरप्राप्त्या गत्यनुमानम्, तत्र च देशान्तरस्याकाशादेरतीन्द्रियत्वेऽपि तत्किरणसंयोगविभागयोस्तन्मण्डलेन प्रत्यक्षत्वात् तत एव गत्य-

---

ही जाय तो भी हम द्रव्यत्वजाति की सिद्धि इस प्रकार कर सकते हैं। (इस आशय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—विभागरूप कार्य में वर्तमान कार्यता से निरूपित द्रव्य में वर्तमान समवायिकारणता के नियामक होने से भी द्रव्यत्वजाति की सिद्धि हो सकत है, (क्योंकि जिस प्रकार संयोगरूप कार्य में द्रव्य ही समवायिकारण होते हैं अर्थात् द्रव्यों में ही संयोग होता है उसी प्रकार विभागरूप कार्य भी द्रव्यों में ही होता है यह नियम है)। यहाँ भी संयोग के समान अनुमान का प्रयोग जानना चाहिये।

(इसी प्रकार गुणत्वजाति की सिद्धि दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—संयोग तथा विभाग कार्य में जो समवायि तथा असमवायिकारण न हों तथा सामान्याश्रय हों। ऐसे गुणों में वर्तमान जो कारणता उस कारणता के नियामक धर्मरूप से गुणत्वजाति की सिद्धि होती है (यहाँ भी पूर्वोक्त प्रकार से मिलित संयोग तथा विभाग की कारणता से शून्य ऐसा अर्थ लेना चाहिए नहीं तो संयोगविशेष में कारण संयोग में अव्याप्ति दोष आ जायगा। इसी प्रकार विभाग में भी यह जान लेना चाहिए। (इसी प्रकार कर्मत्वजाति की सिद्धि करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—कर्मत्वजाति तो 'चलति' चलता है, जाता है इत्यादि कर्मों के प्रत्यक्ष सिद्ध होने के कारण प्रत्यक्ष द्रव्यों में प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, अप्रत्यक्ष द्रव्यों में संयोग तथा विभागरूप क्रिया के कार्यों से क्रिया की अनुमान से सिद्धि हो सकती है, क्योंकि संयोग तथा विभागरूप कार्यों में वर्तमान कर्यता से निरूपित क्रिया में वर्तमान कारणता के नियामक धर्मरूप से भी कर्मत्वजाति की सिद्धि होना आवश्यक है। कर्म के संयोगादि कार्य में कारण होने से ही सूर्यनारायण की गति का देशान्तर संयोगरूप प्राप्ति से सूर्य गतिवाले हैं देशान्तरप्राप्ति होने से ऐसा अनुमान होता है। उस अनुमान में आकाशादिरूप देशान्तर (भिन्न देश) के रूपरहित होने के कारण अप्रत्यक्षहोने पर सूर्य के किरणों के संयोग तथा विभागों का सूर्यमण्डल से प्रत्यक्ष होता है, उसी देशान्तरप्राप्ति से सूर्य की गति का पूर्वोक्त अनुमान होता है। अर्थात् आकाशरूप देशान्तर के अतीन्द्रिय होने पर यहाँ सूर्यमण्डल ही देशान्तर है उससे उसके किरणों के संयोग तथा विभाग के प्रत्यक्ष होने

नुमानम्। देशान्तरप्राप्तिमान् आदित्यः अविनाशित्वे द्रव्यत्वे च सति प्राङ्मुखोपलब्धस्य प्रत्यङ्मुखेन तेनैवोपलभ्यतया प्रत्यभिज्ञायमानत्वादिति देशान्तर प्राप्त्या अनुमितया आदित्यगत्यनुमानमित्युद्द्योतकराचार्याः ॥ ५ ॥

ननु य एव विशेषपदार्थ उद्दिष्टः स एव किं सामान्यविशेषत्वेनाभिधीयते इति शिष्याकाङ्क्षामपनयन्नाह—

अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः ॥ ६ ॥

अन्त्या विशेषा नित्यद्रव्यवृत्तयो येऽभिहिताः तान् वर्जयित्वा सामान्यविशेषाभिधानमित्यर्थः। अन्तेऽवसाने भवन्तीत्यन्त्या, यतो न व्यावर्त्तकान्तरमस्ती-

---

के कारण देशान्तरप्राप्ति से सूर्यगति के अनुमान में कोई बाधा नहीं आ सकती। आकाश के अतीन्द्रिय होने से उसके संयोग तथा विभागों के भी अतीन्द्रिय होने से प्रत्यक्ष न होने के कारण लिङ्ग (साधक) न होने पर भी अनुमान हो सकता है। (इस आशय से न्यायवार्तिककार के मत से सिद्ध अनुमान दिखाते हुए शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—सूर्य, देशान्तरप्राप्ति वाले हैं, अविनाशी तथा द्रव्य होते हुए जिस पूर्वाभिमुख पुरुष को दिखाई पड़कर पश्चिमाभिमुख होने पर उसी पुरुष को वही सूर्य हैं ऐसी प्रत्यभिज्ञा होने से इस प्रकार अनुमान से सिद्ध देशान्तरप्राप्तिरूप हेतु से पूर्वोक्त सूर्यगति का अनुमान होता है ऐसा उद्योतकर भारद्वाज आचार्य कहते हैं। यहाँ तेल तथा बत्ती के विकार के कारण प्रतिक्षण में विनाशी पूर्वाभिमुख तथा पश्चिमाभिमुखी पुरुष से देखे हुए तथा वही यह दीप है इस प्रत्यभिज्ञा विषय भी दीप में व्यभिचार निरासार्थ अविनाशी होते हुए यह विशेषण दिया है तथा सूर्य के रूप में उक्त दोष परिहारार्थ द्रव्य होते हुए यह विशेषण दिया है, इस अनुमान में प्रथम पूर्वदिशा में स्थित पश्चात् किसी द्वारा पश्चिम में ले आया हुआ मणि इत्यादिक दृष्टान्त जान लेना चाहिये ॥५॥

(षष्ठ सूत्र का अवतरण प्रश्नशंकापूर्वक देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—प्रश्न है कि जो अन्त्य विशेष पदार्थ कहा गया है क्या वही सामान्यविशेषरूप सूत्रकार ने कहा है? ऐसी शिष्यों की जिज्ञासा के निवृत्त्यर्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अन्यत्र = छोड़कर, अन्त्येभ्यः = अन्त्य, विशेषेभ्यः = विशेष पदार्थों को ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमाणु आदि नित्यद्रव्यों के परस्पर भेद से 'साधक' अन्त्यविशेष पदार्थों से यह सामान्यरूप होते हुए विशेष सामान्य भिन्न हैं ॥ ६ ॥

उपस्कार—नित्य द्रव्यों में वर्तमान अन्त्यविशेष पदार्थ जो कहे हैं उनको छोड़कर सामान्य होते हुए विशेष कहे गये हैं यह अर्थ है। किन्तु अन्त में (अवसान में) होते हैं वे अन्त्य अर्थात् जिनका दूसरा भेदक नहीं है ऐसी यहाँ उदयनाचार्य की व्याख्या है। (अर्थात् एकमात्र में वर्तमान तथा जातिशून्य विशेष कहाते हैं। इसमें गुण के भी एकमात्र

त्याचार्य्याः। उत्पादविनाशयोरन्तेऽवसाने भवन्तीत्यन्त्या नित्यद्रव्याणि तेषु भवन्तीत्यन्त्या विशेषा इति वृत्तिकृतः। ते हि विशेषा एव व्यावृत्तिबुद्धिहेतवो न तु सामान्यरूपा अपीति ॥६॥

सत्तासामान्यमित्यत्र बहूनां विप्रतिपत्तिरतस्तत्र प्रमाणमाह—

सदिति यतोद्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥ ७ ॥

इतिकारेण यतो प्रत्ययव्यवहारयोः प्रकारमुपदिशति। तथा च द्रव्यादिषु त्रिषु सत्सदिति-प्रकारको यतः प्रत्ययः सदिदं सदिदमित्याकारकः शब्दप्रयोगो वा यदधीनः सा सत्ता ॥ ७ ॥

ननु द्रव्यगुणकर्मभ्यः पृथग्भावेन सत्ता नानुभूयतेऽतो द्रव्याद्यन्यतममेव

वृत्ति होने से तथा अभाव के जातिशून्य होने से उनमें अतिव्याप्तिवारणार्थ दो पद दिये हैं। यदि कोई अभाव एकमात्र मे रहता हो तो उसमें उक्त दोषवारणार्थ वृत्तिता समवायसम्बन्ध से लेने से दोष न होगा यह उदयन का आशय है)। (वृत्तिकार के मत से इस सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—उत्पत्ति तथा विनाश के अन्त (अवसान) में होनेवाले अन्त्य नाम नित्यद्रव्य उनमें जो हों वे अन्त्य—विशेष ऐसा वृत्तिकार कहते हैं। वे विशेष ही हैं। भेद बुद्धिमात्र के कारण नकि द्रव्यत्वादिकों के समान सामान्य-रूप होते हुए विशेषरूप भी। (यहाँ पर वृत्तिकार के मत में सूत्र के अन्त्य इस पद में 'अन्त्या नित्याः, अन्त्याश्च नित्यद्रव्यवृत्तयश्च' ऐसे एक शेष समास मानने से नित्य होते हुए नित्य द्रव्यों में वर्तमान होना ऐसा विशेषों का लक्षण सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

(सप्तम सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—सत्ताजाति के विषय में अनेक विद्वानों का विवाद है अतः सत्ताजाति में सूत्रकार का प्रमाण देते हैं कि—

पदपदार्थ—सत् = सत् है, इति = इस प्रकार (ज्ञान तथा व्यवहार), यतः = जिससे (होता है), द्रव्यगुणकर्मसु = द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों में, सा = वह, सत्ता = सत्ता नामक सामान्य है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस जाति को लेकर नो पृथ्वी आदि द्रव्य, रूप आदि चतुर्विंशति गुण तथा उत्क्षेपण आदि पाँच कर्मों में 'सत् है सत् है' ऐसा ज्ञान तथा व्यवहार होता है वह सत्ता नामक सामान्य कहाता है, अर्थात् 'सत् है सत् है' यह अनुगत बुद्धि ही सत्ता-जाति में प्रमाण है ॥ ७ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में 'इति' इसपद से ज्ञान तथा व्यवहार दोनों का प्रकार सूत्रकार ने कहा है। ऐसा होने से द्रव्यगुण तथा कर्मों में 'सत् है सत् है' इस प्रकार का ज्ञान जिसके अधीन होता है, अथवा 'यह सत् है यह सत् है' इत्याकारक शब्द का प्रयोग (व्यवहार) भी जिसके अधीनता से होता है वह सत्ताजाति कहती है ॥ ७ ॥

(शंकापूर्वक अष्टम सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—यहाँ ऐसी शंका है कि द्रव्य,

सत्ता यतो हि यद् भिन्नं भवति तत्तो भेदेनानुभूयते यथा घटः पटात्, न च सत्ता तेभ्यो भेदेनानुभूयते इति तदात्मिकैवेत्यत आह—

द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥ ८ ॥

द्रव्यादयोऽननुगताः सत्ता चानुगता। तथा च अनुगतत्वाननुगतत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेन तेभ्यो भेदस्य सिद्धत्वात्। यत्तु तेभ्योऽन्यत्र नोपलभ्यते तदयुतसिद्धिबलात् घटपटयोस्तु युतसिद्धिः। न च व्यक्तिस्वरूपमेव सत्ता, व्यक्तीनामननुगमात्। स्वरूपत्वं यद्यनुगतं तदा सैव सत्ता, अननुगतैरपि स्वरूपैरनुगतव्यवहारश्चेत्तदा गोत्वादिभिरपि गतम्। अत एव यत्र सत्ता समवैति ताद्-

---

गुण तथा कर्मों से भिन्न सत्ता जाति के अनुभव नहीं होता, अतः द्रव्यादित्रय में ही कोई एक द्रव्य, गुण या कर्म सत्ता हो सकती है, क्योंकि जो जिससे भिन्न होता है वह उससे भिन्नरूप से जाना जाता है, जैसे घट पट से भिन्न ज्ञात होता है प्रकृत में द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों के स्वरूप से सत्ताजाति का पृथक् अनुभव नहीं होता, अतः सत्ताजाति द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप ही है, इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—द्रव्यगुणकर्मभ्यः = द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों से, अर्थान्तरं = दूसरा पदार्थ है, सत्ता = सत्ता नामक जाति ॥ ८ ॥

भावार्थ—सत्ता नामक जाति, नो पृथिव्यादि द्रव्य, रूपादि चतुर्विंशति गुण तथा उत्क्षेपण आदि पंच कर्म पदार्थों से भी अतिरिक्त है, अर्थात् द्रव्यादि आधार (व्यक्ति) स्वरूप नहीं है।

उपस्कार—नो द्रव्य चौबीस रूपादिगुण तथा उत्क्षेपण आदि पंच कर्मरूप व्यक्ति अनुगत नहीं हैं, अर्थात् व्यक्तियों में अनुगम नहीं है, और सत्ता 'सत् सत्' इस प्रकार की अनुगत ज्ञान की कारण होने से अनुगत है, अतः अनुगतता तथा अननुगततारूप विरुद्धधर्म के भेदक होने से द्रव्यादि व्यक्तियों से सत्ता जाति में भेद सिद्ध होता है। अर्थात् यदि सत्ताजाति के अननुगत (भिन्न-भिन्न) द्रव्यादि व्यक्तिरूप माना जाय तो 'सत् सत्' इत्याकारक अनुगत ज्ञान नहीं हो सकेगा। शंकरमिश्र कहते हैं कि—जो द्रव्यादिकों से भिन्न सत्ता उपलब्ध नहीं होती इसका कारण यह है कि, द्रव्य आदि व्यक्ति तथा सत्ताजाति यह अयुतसिद्ध (पृथक् सिद्ध नहीं) है. घट और पट ये दोनों युतसिद्ध (पृथक् सिद्ध) है तथा द्रव्यादि-व्यक्ति अनुगत नहीं हैं इस कारण व्यक्तियों का स्वरूप सत्ताजाति नहीं हो सकती। यदि द्रव्यादि व्यक्तियों के स्वरूप में वर्तमान स्वरूपत्व धर्मअनुगत (संपूर्ण स्वरूपों में वर्तमान) होने से अनुगत हो तो वही सत्ता कही जायगी और यदि अनुगमरहित भी व्यक्तियों के स्वरूपों से ही 'सत् सत्' ऐसा व्यवहार विना सत्ताजाति के माना जाय तो गो आदि व्यक्तियों में गोत्वादि जातियाँ

शैराधारैरेव तद्व्यवहारोपपत्तौ किं सत्तयेत्यपास्तम्। अत एवार्थक्रियकारित्वं वा प्रामाणिकत्वं सत्त्वमित्ययुक्तं तदननुसन्धानेऽपि सन् इति प्रत्ययात् ॥ ८ ॥

भेदकान्तरमाह—

गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः ॥ ९ ॥

न गुणो न कर्मेति वक्तव्ये व्यत्ययेनाभिधानं न द्रव्यमित्यपि सूचयति। न हि कर्म कर्मसु वर्त्तते न वा गुणो गुणेषु न वा द्रव्यं गुणे कर्मणि वा, सत्ता तु गुणे कर्मणि च वर्त्तते तेन द्रव्यगुणकर्मवैधर्म्यादेभ्यो भिन्नैव सत्ता ॥ ९ ॥

भेदकान्तरमाह—

भी न सिद्ध होंगी। 'सत् सत्' ऐसे अनुगत व्यवहार होने के कारण ही जिस द्रव्यादि व्यक्ति में सत्ताजाति समवायसम्बन्ध से वर्तमान होती है, उन व्यक्तिरूप आधारों से ही 'सत् सत्' ऐसा व्यवहार सिद्ध हो जायगा, सत्ता जाति मानने की क्या आवश्यकता है ऐसा किसी पूर्वपक्षी का यहाँ कहना भी खण्डित हो जाता है और इसी कारण अर्थक्रिया को करना अर्थात् किसी कार्य को करना, अथवा 'प्रामाणिकत्व' प्रमाण से सिद्ध होना यही द्रव्यादिकों में सत्ताजाति कहाती है। ऐसा कुछ बौद्धादि दार्शनिकों का मत भी असंगत है, क्योंकि कार्यकारी है अथवा प्रमाणसिद्ध है ऐसा ज्ञान न होने पर भी 'सत्' हैं ऐसा ज्ञान होता ही है ॥ ८ ॥

इस (सत्ताजाति द्रव्यादि व्यक्तियों से भिन्न है) विषय में दूसरा हेतु सूत्रकार देते हैं—

पदपदार्थ—गुणकर्मसु च = और गुण तथा कर्मपदार्थों में भी, भावात् = रहने के कारण, न = नहीं है, कर्म = कर्मपदार्थ, न = नहीं है, गुणः = गुणपदार्थ ॥ ९ ॥

भावार्थ—सत्ता नाम का जातिपदार्थ चौबीस गुण तथा पाँच उत्क्षेपणादि कर्मरूप पदार्थों में भी रहने के कारण भी गुण या कर्मपदार्थ में अन्तर्भूत नहीं हो सकता, क्योंकि कर्मपदार्थ कर्म में तथा गुणपदार्थ गुणों में नहीं रहता ॥ ९ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में क्रम के अनुसार 'न गुणो न कर्म' गुण नहीं है कर्म नहीं है ऐसा कहना प्राप्त रहते व्यत्यय (क्रम के उल्लंघन) से न कर्म है न गुण है ऐसा कहने से 'न द्रव्यं' द्रव्य भी नहीं है यह सूचित होता है। जिस कारण कर्मपदार्थ कर्मों में नहीं रहता है अर्थात् एक क्रिया दूसरे क्रिया की आधार नहीं होती, तथा गुणपदार्थ गुणों में नहीं रहते, एवं द्रव्यपदार्थ, गुण अथवा कर्म में नहीं रहते, और सत्ताजाति गुण और क्रिया में भी रहती है, इस कारण द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थ के विरुद्धधर्माश्रय होने से द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप आधार व्यक्तियों से भिन्न है ॥ ९ ॥

उक्त विषय में दूसरा सत्ता को व्यक्तियों से भिन्न करनेवाला हेतु सूत्रकार देते हैं—

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १० ॥

यदि सत्ता द्रव्यं गुणः कर्म वा स्यात् तदा सामान्यविशेषवती स्यात्। न च सत्तायां सामान्यविशेषा द्रव्यत्वादय उपलभ्यन्ते न हि भवति सत्ता द्रव्यं गुणः कर्म वेति केषाञ्चिदनुभवः ॥ १० ॥

एवं सत्ताया द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरत्वमभिधाय द्रव्यत्वस्य तेभ्योऽर्थान्तरत्वमाह—

अनेकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥ ११ ॥

अनेकं द्रव्यं समवायितया यस्यास्ति तदनेकद्रव्यवत्। अनेकपदमिह सर्वपरं तेन पृथिवीत्वादिभ्यो भेदः, नित्यत्वन्तु सामान्यलक्षणप्राप्तमेव तेनावयवि-

---

पदपदार्थ—सामान्यविशेषाभावेन च = और सामान्य तथा विशेष के सत्ता में न होने से भी ॥ १० ॥

भावार्थ—सत्ता को व्यक्तिरूप माना जाय तो द्रव्यादिकों में द्रव्यत्वादिकों के समानसामान्यविशेषरूप धर्मवान् हो जायगी. अतः वह व्यक्तिरूप नहीं है ॥ १० ॥

उपस्कार—'गुणादि रूप सत्ताजाति को तादात्म्यसम्बन्ध से गुणादि व्यक्तियों में वर्तमानता मानी जायगी' इस शंका के समाधानार्थ दूसरा भेदक हेतु 'सामान्यविशेषाभावेन' इस सूत्र में दिखाते हुए शंकरमिश्र सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—यदि सत्ताजाति द्रव्य, गुण अथवा कर्म हो तो वह द्रव्यादिकों के समान सामान्यविशेषाधिकरण होगी, किन्तु सत्ता में द्रव्यत्व गुणत्व आदि सामान्यविशेषों की उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि सत्ताजाति द्रव्य है, गुण है अथवा कर्म है ऐसा किसी को अनुभव नहीं होता। (अर्थात् सत्ताजाति द्रव्यादि व्यक्तिरूप मानी जाय तो उसमें द्रव्यादिकों के समान द्रव्यत्वादि विशेषणविशिष्ट ज्ञान होने लगेगा ॥ १० ॥

(एकादश सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—इस प्रकार सत्ताजाति का द्रव्यगुण तथा कर्मरूप आधार व्यक्तियों से भेद कहकर द्रव्यत्वजाति का भी आधार व्यक्तियों से भेद सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अनेकद्रव्यवत्त्वेन = अनेक द्रव्य समवायिकारणवान् होने से, द्रव्यत्वं द्रव्यत्वजाति, उक्तं = कही गयी ॥ ११ ॥

भावार्थ—अनेक द्रव्यमात्र में समवेत नित्य द्रव्यत्वजाति होती है यह सत्ता के समान कहा गया है, (अर्थात् द्रव्यत्वजाति सिद्ध कर चुके हैं) ॥ ११ ॥

उपस्कार—अनेक (बहुत से) द्रव्यजिसके समवायि हों वह अनेक द्रव्यवान् होता है। यहाँ अनेक पद से संपूर्ण नौ द्रव्य अर्थ लेना, जिससे केवल पृथिवी आदि द्रव्यों में वर्तमान पृथिवीत्वादि जातियों से द्रव्यत्व में भेद सिद्ध होता है। इस द्रव्यत्वजाति में भी नित्यता पूर्वप्रदर्शित जातिसामान्यलक्षण से ही प्राप्त होती है। जिससे अवयवियों

भ्यो भेदः, अनेकद्रव्यवत्त्वञ्च अनेकद्रव्यमात्रसमवेतत्वं तेन सत्ताया भेदः। तेन नित्यमनेकद्रव्यमात्रसमवेतं द्रव्यत्वम्, अजः संयोगो नेष्यत इत्युक्तम्। द्रव्यत्वञ्च साधितमेव। द्रव्यत्वमुक्तमिति। द्रव्यत्वमपि सत्तावदेव व्याख्यातमित्यर्थः॥ ११॥

ननु द्रव्यत्वमपि जातिः स्याश्रयादभिन्नमेव स्यात् को दोष इत्यत आह—

सामान्यविशेषाभावेन च॥ १२॥

में अनेक द्रव्यसमवेतता होने पर भी उनसे द्रव्यत्वजाति से भेद सिद्ध होता है। (इस कथन से—'अवयविद्रव्य में व्यभिचारदोषवारणार्थ ही अनेक पद का सर्व ऐसा अर्थ करना ऐसा सर्वपद के देने का सार्थक्य हो सकता है, तो पृथिवीत्व के भेद के लिये यह कहना शंकरमिश्र का असंगत है।' ऐसी शंका नहीं हो सकती, यह सूचित होता है। क्योंकि सामान्यजातिलक्षण के नित्यपद ही से उक्त दोष का वारण हो सकने से पृथिवीत्व के भेद तक का शंकरमिश्र ने अनुसरण किया है। (तथापि अनेक पद का सर्व अर्थ करना असंगत है, क्योंकि इसका सत्ता में व्यभिचार होने से दूसरे जाति से भेद की सिद्धि नहीं हो सकती। इस शंका के समाधानार्थ शंकरमिश्र कहते हैं कि)—यहाँ पर अनेक द्रव्यवत्त्व का अर्थ है, अनेक केवल द्रव्यमात्र से समवेत, ऐसा कहने से सत्ता में द्रव्यत्व का भेद सिद्ध हो जायगा (अर्थात्, जैसे इस हेतु में द्रव्यादि व्यक्तियों से भेद सिद्ध होता है वैसे दूसरी जातियों से भेद सिद्ध करना भी संगत हो जायगा)। (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—इस प्रकार अवयवि से भेद सिद्ध होने के लिये नित्यपद देने से नित्य तथा केवल अनेक द्रव्यों में समवेत जाति का नाम द्रव्यत्व है ऐसा सिद्ध होता है। नित्यसंयोग नहीं ही मानते ऐसा कह चुके हैं (जिससे नित्यसंयोग में अतिव्याप्तिदोष न होगा)। (ऐसे द्रव्यत्वसामान्य मानने में क्या प्रमाण है? इस प्रश्न के उत्तर में शंकरमिश्र कहते हैं कि)—द्रव्यत्वजाति भी सिद्ध कर चुके हैं। सूत्र के द्रव्यत्वमुक्तम् इस वाक्य का द्रव्यत्वसामान्य भी सत्ताजाति के समान व्याख्या किया गया ऐसा अर्थ है॥ ११॥

उपस्कार—(शंकापूर्वक १२ सूत्र का अवतरण शंकरमिश्र दिखाते हैं कि)—द्रव्यत्वरूप जाति भी अपने आधार द्रव्यव्यक्तियों से अभिन्न अर्थात् व्यक्तिस्वरूप ही क्यों न मानी जाय, मानने में क्या दोष होगा? इस शंका का समाधान सूत्रकार करते हैं कि—

पदपदार्थ—सामान्यविशेषभावेन च = सामान्य तथा विशेष के द्रव्यत्व में न होने से भी॥ १२॥

भावार्थ = द्रव्यत्वजाति को पृथ्वी आदि द्रव्यव्यक्तिरूप माना जाय तो उसमें सामान्य तथा विशेषों की आधारता आ जायगी॥ १२॥

यदि द्रव्यत्वं जातिर्द्रव्याद्यात्मिकैव स्यात् तदा तस्यां पृथिवीत्वजलत्वतेजस्त्वादयः सामान्यविशेषाः स्युरित्यर्थः। न हि भवति द्रव्यत्वं पृथिवी जलं तेजो वेति केषाञ्चित् प्रत्यय इत्यर्थः ॥ १२ ॥

गुणत्वमाह—

तथा गुणेषु भावाद् गुणत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥

गुणेष्वेव भावात् समवायात् गुणत्वं द्रव्यगुणकर्मभ्यो भिन्नं सत्तावदेवोक्तमित्यर्थः ॥ १३ ॥

भेदकान्तरमाह—

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १४ ॥

उपस्कार—यदि द्रव्यत्वरूप जाति पृथ्वी, जल इत्यादि आधारद्रव्यव्यक्तिस्वरूप हों तो उनमें पृथ्वीत्व, जलत्व, तेजत्व आदि सामान्यविशेष होंगे यह सूत्र का अर्थ है, क्योंकि द्रव्यत्व, पृथिवी है, जल है, या तेज है ऐसा किसी को ज्ञान नहीं होता यह तात्पर्य है ॥ १२ ॥

गुणत्वजाति को सूत्रकार सिद्ध करते हैं—

पदपदार्थ—गुणेषु = रूपादि चतुर्विंशति गुणों में, भावात् = वर्तमान होने से, गुणत्व गुणत्वजाति, उक्तम्—कही गयी ॥ १३ ॥

भावार्थ—पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में वर्तमान द्रव्यत्वजाति के समान रूप रस इत्यादि चौबीस गुणों में समवायसम्बन्ध से वर्तमान गुणत्वसामान्य भी कहा है यह जान लेना ॥ १३ ॥

उपस्कार—रूपादि चतुर्विंशति गुण में ही समवायसम्बन्ध से वर्तमान द्रव्य, गुण तथा कर्म व्यक्तियों से भिन्न गुणत्वजाति भी सत्ता के समान कही गयी यह सूत्र का अर्थ है। (यहाँ गुणेषु इस बहुवचन तथा 'एवं' इस एवकार से शंकरमिश्र ने सम्पूर्णता तथा इतर में न रहना इन दोनों के लाभ से गुणभिन्नों में अवर्तमान होते हुए सम्पूर्ण गुण में वर्तमानता यह गुणत्वजाति का अर्थ सूचित किया है इसी प्रकार आगे भी जान लेना ॥ १३ ॥

द्रव्यादि व्यक्तियों से गुणत्वजाति भी भिन्न है यह सिद्ध करनेवाला सूत्रकार दूसरा हेतु देते हैं—

पदपदार्थ—सामान्यविशेषाभावेन च सामान्य तथा विशेष न होने से भी ॥ १४ ॥

भावार्थ—गुणत्वजाति को द्रव्यादि व्यक्तिरूप माना जाय तो उससे सामान्य तथा विशेषरूप धर्म की आधारता आ जायगी ॥ १४ ॥

यदि द्रव्यगुणकर्मभ्यो गुणत्वमतिरिक्तं न भवेत्तदा द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वं तदवान्तरजातिमत्तया उपलभ्येतेत्यर्थः ॥ १४ ॥

द्रव्यगुणकर्मभ्यो भेदकं कर्मत्वस्याह—

कर्मसु भावात् कर्मत्वमुक्तम् ॥ १५ ॥

कर्मस्वेव भावात् समवायात् कर्मत्वमपि जात्यन्तरं द्रव्यगुणकर्मभ्यो भिन्नमुक्तं सत्तावदित्यर्थः ॥ १५ ॥

भेदकान्तरमाह—

सामान्यविशेषाभावेन च ॥ १६ ॥

कर्मत्वं यदि द्रव्याद्यात्मकं भवेत्तदा द्रव्यत्वादिसामान्यविशेषस्तत्र समवेयादित्यर्थः। सेयमेकाकारा चतुःसूत्री सत्ताद्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वानां चतसृणां

उपस्कार—यदि द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप आधार व्यक्तियों से गुणत्वजाति अतिरिक्त न हो तो द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व उसकी अवान्तरजातियों का आश्रयरूप उपलब्ध होने लगेगा, अर्थात् गुणत्व पृथिवी है, रूप है अथवा कर्म है ऐसी प्रतीति नहीं होती अतः गुणत्व भी व्यक्तिरूप नहीं है ॥ १४ ॥

इसी प्रकार कर्मत्वजाति में भी सूत्रकार द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप आश्रमों से भेद सिद्ध करते हैं—

पदपदार्थ—कर्मसु = उत्क्षेपणदि पंचकर्मों में, भावात् = वर्तमान होने से, कर्मत्वं= कर्मत्वजाति, उक्तम्=कही गई ॥ १५ ॥

भावार्थ—उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों में ही समवायसम्बन्ध से वर्तमान होने के कारण कर्मत्वरूप जाति भी आधारव्यक्तियों से भिन्न कही है ॥ १५ ॥

उपस्कार—उत्क्षेपणादि पाँच कर्मपदार्थों में ही समवायसम्बन्ध से वर्तमान होने के कारण कर्मत्वजाति भी द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप आधारव्यक्तियों से सत्ताजाति के समान भिन्न है यह कहा गया यह सूत्र का अर्थ है ॥ १५ ॥

इसी विषय में दूसरा भेदसाधक हेतु सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सामान्यविशेषाभावेन च=सामान्य तथा विशेष के न होने से ॥१६॥

भावार्थ—कर्मत्वजाति को द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप आधारव्यक्तिरूप माना जाय तो इसमें द्रव्यत्वादि सामान्यविशेषों का ज्ञान होने लगेगा ॥ १६ ॥

उपस्कार—कर्मत्वजाति यदि द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप आधारव्यक्ति स्वरूप हो तो द्रव्यत्व, गुणत्व आदि सामान्यविशेषों का उसमें सम्बन्ध होने लगेगा। इस प्रकरण में 'यहाँ पर 'सामान्यविशेषाभावेन च' इस सूत्र के चार बार कहने से पुनरुक्तिदोष के निवारणार्थं शंकरमिश्र कहते हैं कि)—यह एक भी आकारवाले चार सूत्र क्रम से

जातीनां द्रव्यगुणकर्मभेदप्रतिपादनाय एकप्रकरणेनोक्तेत्यवधेयम् ।। १६ ।।

ननु सत्ता द्रव्यगुणकर्मसु वर्त्तमाना द्रव्यत्वाद्यवच्छेदभेदेन भिन्नैव कथं न स्यादत आह—

सदितिलिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावः ।। १७ ।।

सदित्याकारकं ज्ञानं शब्दप्रयोगो वा सत्ताया लिङ्गम् । तच्च द्रव्यगुणकर्मसु समानमविशिष्टम् । तेन भावः सत्ता एकैव तेषु वर्त्तते अन्यथा द्रव्यत्वादिभिस्तुल्यव्यक्तिकतया सत्ता वा न स्यात् तानि वा न स्युः । विशेषलिङ्गाभावाच्चेति । विशेषो भेदस्तत्र यल्लिङ्गमनुमानं तदभावाच्च न भेद इत्यर्थः । भवति हि स

सत्ता द्रव्यत्व, गुणत्व, तथा कर्मत्व नाम की चार जातियों का द्रव्यगुण तथा कर्मरूप आधार व्यक्तियों से भेद-प्रतिपादनार्थ सूत्रकार ने एक प्रकरण में दिये हैं अतः पुनरुक्ति दोष न होगा यह जानना चाहिये । (ऐसा होने से सत्ता आदि भिन्न भिन्न पक्ष वाले द्रव्यादि भेदरूप साध्यवाले पृथिवीत्व आदि विशेषणकज्ञानविशेष्यत्व के अभावरूप हेतुवाले अनुमानों के पक्षहेतुभेद से भिन्न होने के कारण पुनरुक्ति दोष नहीं है यह यहाँ तात्पर्य है) ।। १६ ।।

(शंकापूर्वक १७ वें सूत्र का अवतरण ऐसा शंकरमिश्र देते हैं—शंका है सत्ताजाति द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों से वर्तमान द्रव्यत्वादिरूप विशेषण के भेद से भिन्न-भिन्न क्यों न मानी जाय ? इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सत् इति = सत् है इस प्रकार, लिङ्गाविशेषात्=लिङ्ग में विशेष न होने से, विशेषलिङ्गाभावात् च=और भेदसाधक विशेषलिङ्ग न होने से भी, एकः = एक है, भावः = सत्ताजाति ।। १७ ।।

भावार्थ—'सत् सत् है 'इत्याकारक ज्ञान तथा व्यवहार रूप सत्ता जाति साधक लिङ्ग से सर्वत्र समान होने से तथा सत्ता के भेदसाधक विशेष लिङ्ग के न होने से भी सत्ता जाति एक ही है ।। १७ ।।

उपस्कार—'सत् है' इत्याकारक ज्ञान अथवा शब्दप्रयोगरूप व्यवहार सत्ताजाति का साधक लिङ्ग (हेतु) है । और वह द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों में अविशिष्ट (समान) है । तस्मात् एक ही भाव (सत्ता) जाति द्रव्यादि तीन पदार्थों में रहती है, नहीं तो द्रव्यादि पदार्थत्रय के समान व्यक्ति (आधार) होने के कारण पर्याय होने से घटत्व तथा कलशत्व के समान या तो सत्ता जाति न होगी अथवा द्रव्यत्व गुणत्व तथा कर्मत्व दूसरी जातियां न होगी । (यदि कहो कि सत्ता ही दूसरी जाति उक्त दोष के कारण न मानेंगे, तो इसका उत्तर द्वितीय हेतु से शंकर मिश्र ऐसा देते हैं कि)—विशेष लिङ्ग न होने से भी (अर्थात् विशेष (भेद) में जो लिङ्ग (अनुमान) उसके

एवायं दीप इत्यनुगमस्तत्र यथा विशेषलिङ्गं दीर्घह्रस्वत्वादिपरिमाणभेदस्तथात्र विशेषलिङ्गं नास्तीति भावः ॥ १७ ॥

इति श्रीभगवत्कणादसूत्रोपस्कारे शाङ्करे प्रथमाध्यायस्य
द्वितीयमाह्निकम् ।

न रहने से भी) सत्ताजाति का भेद नहीं है । जिस प्रकार वही यह दीपक है ऐसा अनुगत प्रत्यभिज्ञा ज्ञान होता है उससे जैसे विशेष लिङ्ग (हेतु) लम्बा (दीर्घ) ह्रस्व (छोटा) इत्यादि परिमाण का भेद है इस प्रकार सत्ता भिन्न-भिन्न होने में कोई विशेष साधक हेतु नहीं है ॥ १७ ॥

इस प्रकार भगवत्कणाद महर्षिकृत सूत्रोपस्कार की
शंकरमिश्रकृत उपस्कार व्याख्या में प्रथमाध्यायका
द्वितीयाह्निक समाप्त हुआ ।

द्वितीयाध्याये प्रथमाह्निकम्

द्वितीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकस्य नवानां द्रव्याणां लक्षणमर्थः। तत्र पृथिव्यप्तेजसां लक्षणप्रकरणम्, ईश्वरसिद्धिप्रकरणम्, आकाशानुमानप्रकरणम्। तत्र प्रथमोद्दिष्टायाः पृथिव्या लक्षणमाह—

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥ १ ॥

रूपं नीलपीताद्यनेकप्रकारं पृथिव्या एव, तथाच नीलरूपसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणम्। एवं रसः कटुकषायाद्यनेकप्रकारकः पृथिव्या-

---

(द्वितीयाध्याय प्रथमाह्निक)

उपस्कार —द्वितीयाध्याय के प्रथमाह्निक का पृथिवी आदि नौ द्रव्यों का लक्षण करना विषय है। (१) उसमें भी पृथिवी, जल तथा तेज इन तीन द्रव्यों के लक्षण के प्रकरण हैं, (२) ईश्वर के सिद्धि का प्रकरण तथा (३) आकाश के अनुमान का प्रकरण (ऐसे तीन प्रकरण हैं) उसमें (पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में प्रथम उद्दिष्ट क्रमप्राप्त पृथिवी के द्रव्य का लक्षण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—रूपरसगन्धस्पर्शवती = रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शगुण की आश्रय पृथिवी = पृथिवी नामक द्रव्य है ॥ १ ॥

भावार्थ—शुक्ल, रक्तादि भेद से सात प्रकार के रूप, मधुर, अम्ल इत्यादि छ प्रकार के रस तथा सुगन्ध और दुर्गन्ध नाम के दो गन्ध, तथा उष्ण-शीत आदि नाम के तीन प्रकार के स्पर्शों में से अनुष्णाशीत नामक स्पर्श का भी समवायसम्बन्ध से आधार द्रव्य को पृथिवी कहते हैं ॥ १ ॥

उपस्कार—नील, पीत, रक्त, शुक्ल, हरित, कपिश तथा चित्र नाम के अनेक (सप्त) प्रकार का रूप नामक गुण पृथिवी द्रव्य का ही है। अतः नीलरूप के आश्रय में वर्तमान द्रव्यत्व की व्याप्य (अपर) पृथिवीत्व नामक जाति के आश्रय को पृथिवी कहते हैं, यह पृथिवी का जातिघटित लक्षण जानना। (इस लक्षण में केवल द्रव्यत्वव्याप्यवायुत्व जाति की आधारता वायुद्रव्य में होने से अतिव्याप्ति दोष के निरासार्थ नीलरूप के आश्रय में वर्तमान ऐसा विशेषण दिया है, नीलरूपाश्रय में वायुत्वजाति के न रहने से उक्त दोष का निरास हो जायगा। रूप समानाधिकरण इतना ही कहने से शुक्लरूप में रहने के कारण जलत्वजाति को लेकर जल में उक्त दोष वारणार्थ 'नील' पद दिया है जल में नीलरूप न रहने से अतिव्याप्ति का निरास होजायगा। द्रव्यत्व जाति को लेकर फिर भी जलादिकों में उक्त दोषवारणार्थ द्रव्यत्वव्याप्य पद तथा पृथिवीजलान्यतरत्वधर्म को लेकर जल में उक्त दोष के निरासार्थ जातिपद दिया है, अन्यतरत्व जाति न होने से उक्त दोष का वारण हो जायगा। इसी प्रकार

मेव, तथाच कटुरससमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणम्। एवं कषायादिपदप्रक्षेपेण लक्षणान्यूहनीयानि। गन्धो द्विविधः सुरभिरसुरभिश्च, तथाच गन्धसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणम् तथा गन्धसमानाधिकरण-गन्धासमानाधिकरणगुणासमानाधिकरण-जात्यधिकरणद्रव्यत्वं द्रष्टव्यम्। न च पाषाणादौ गन्धरसयोरननुभवात् तत्राव्यापकमिदमुभयमपीति वाच्यम्

आगे भी ऐसे पदों के जो लक्षणघटक हैं फल जान लेना चाहिए, अधिक विशेष उन-उन लक्षणों में दिखावेंगे)। (आगे रूपपदघटित लक्षण के समान रसपदघटित लक्षण दिखाते हुये शंकरमिश्र कहते हैं कि)—इसी प्रकार मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय तथा तिक्त इस भेद से अनेक प्रकार का रस भी पृथिवी द्रव्य में ही है, अतः कटुरस के आधार में वर्तमान द्रव्यत्व की व्याप्य पृथिवीत्वजाति को समवायसम्बन्ध से आश्रय द्रव्य को भी पृथिवी कहते हैं यह पृथिवी का लक्षण है। इसी प्रकार कषाय इत्यादि रस शब्दों को लेकर भी पृथिवी के जातिघटित लक्षण स्वयं जान लेना चाहिये। गन्ध नामक गुण सुरभि (सुगन्धि) तथा असुरभि (दुर्गन्धि) इस भेद से दो प्रकार है, अतः गन्ध के आधार में वर्तमान द्रव्यत्व की व्याप्य पृथिवीत्व जाति के आश्रय को पृथिवी कहते हैं, यह गन्धगुण को लेकर पृथिवी का जातिघटित लक्षण जानना (इस लक्षण में द्रव्य के उत्पत्तिकाल में घटादि द्रव्यों में गन्ध गुण न होने के कारण अतिव्याप्तिदोष-वारणार्थ 'गन्धवत्व' ऐसा न कहकर गन्ध के आधार में वर्तमान ऐसा कहा है द्वितीय क्षण में उसी घट में गन्ध के रहने से उसमें वर्तमान पृथिवीत्व के प्रथम क्षण में भी होने से उक्त दोष निवृत्त हो जायगा)।

(शंकरमिश्र इस प्रकार दूसरा जातिघटित लक्षण ऐसा करते हैं कि)—गन्धाधार में वर्तमान तथा गन्ध के आश्रय में न रहने वाले जलादि गुणों के आश्रय में वर्तमान पृथिवीत्वरूप जाति के आधार द्रव्य का पृथिवी नाम है। (इस लक्षण में गन्धासमानाधिकगुणासमानाधिकरण आत्मत्व जाति को लेकर आत्मा में अतिव्याप्ति-वारणार्थ गन्धसमानाधिकरण पद जाति में विशेषण दिया है। गन्धसमानाधिकरण द्रव्यत्वजाति को लेकर जलादि द्रव्यों में उक्त दोषवारणार्थ गुणासमानाधिकरण विशेषण जाति में दिया है। गन्धसमानाधिकरण होने पर भी पृथिवी रूपगुण की आश्रय है, अतः पृथिवी में लक्षण न जाने से अव्याप्तिदोष के वारणार्थ गन्धसमानाधिकरण ऐसा गुण में विशेषण दिया है रूप के गन्धसमानाधिकरण होने से जलादिकों में रहने वाले शीतस्पर्शादिक ही लेने पड़ेंगे उनकी पृथिवीत्वजाति असमानाधिकरण है पृथिवीत्वजाति को लेकर पृथिवी में लक्षण जाने से उक्त दोष न होगा) तथा यहाँ जात्यधिकरण तक ही पृथिवी का लक्षण है, द्रव्यत्वपद पृथिवी द्रव्य है यह सूचित करने के लिये दिया हैं), (उक्त पृथिवी लक्षण में अव्याप्ति दोष दिखकर उसका वारण करते हुए शंकर,

तत्रापाततो गन्धरसयोरननुभवेऽपि तदीयभस्मसु तदुपलम्भात्, य एवावयवाः पाषाणारम्भकास्त एव तद्भस्मारम्भका अपीति नाव्याप्तिः। कथं तर्हि सुरभिः समीरणः तिक्तं कारवेल्लजलमिति—प्रतीतिरिति चेन्न पार्थिवोपाधिकत्वात् तयोर्गन्धरसयोः। स्पर्शोऽप्यनुष्णाशीतः पाकजः पृथिव्यामेव तथाच पाकजस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं लक्षणम्। पाकजत्वञ्च विशेषान्तरव्यङ्ग्यं पृथिवीस्पर्श एव, विशेषान्तरञ्च शिरीषलवङ्गीकुसुमादौ स्पर्शविशेषे स्फुटतरम् न त्वेवं जलादिस्पर्शे। यद्यप्यवयविनि पाकादग्निसंयोगात् स्पर्शादयो नजायन्ते तथापि तत्परम्पराप्रभवतया तत्रापि वैजात्यविशेषोऽनुसरणीयः।

मिश्र कहते हैं कि)—यहाँ पर पूर्वपक्षी ऐसी शंका नहीं कर सकता कि पाषाण इत्यादि पृथिवी में गन्ध तथा रस का अनुभव न होने से यह लक्षण न जाने से अव्याप्ति दोष रसवत्त्व तथा गन्धवत्त्व दोनों में हो जायगा' क्योंकि सामान्यरूप से उनमें गन्ध तथा रस का अनुभव न होने पर भी पाषाण के भस्म में गन्ध तथा रस की उपलब्धि होती है, जो ही अवयव पाषाणरूप पृथिवी के उत्पादक हैं वही उसके भस्म के भी उत्पादक हैं, इस कारण अव्याप्ति ही दोष न होगा। (अर्थात् जो द्रव्य जिस द्रव्य के नाश से उत्पन्न होता है वह उसके समवायिकारण का कार्य होता है इस व्याप्ति से भस्म में पाषाण के समवायिकारण पृथिवीपरमाणुओं का कार्य है यह सिद्ध होने से पाषाणपरमाणुओं के पृथिवी होने से उनसे उत्पन्न पाषाण में भी उसी पृथिवीत्व हेतु से गन्धगुण की अनुमान से सिद्धि हो जायगी)। (पुनः पूर्वपक्षित-मत से शंका करते हुये शंकरमिश्र कहते हैं कि)—'यदि गन्धगुण तथा छ प्रकार का रस पृथिवी में ही है तो सुगन्धि वायु है ऐसी वायु में गन्धगुण की एव तीता करैला का पानी है ऐसी जल में तिक्तरस की प्रतीति क्यों होती है' इसका उत्तर यह है कि—उक्त दोनों प्रतीतियों में वायु तथा जल में गन्ध तथा रस औपाधिक है न वास्तविक है क्योंकि वायु में तथा करैले के जल में क्रम से सुगन्धि की प्रतीति गुलाब तथा करैलारूप पृथिवी के सम्बन्ध से प्रतीत होती है अतः वह स्वाभाविक नहीं है। इसी प्रकार अग्नि संयोग से परिवर्तित होने के कारण पाकज, अनुष्णाशीतस्पर्श भी पृथिवी द्रव्य में ही है, जिसका पाकज स्पर्श के आधार में वर्तमान तथा द्रव्यत्व की व्याप्य पृथिवीत्वजातिमत्ता भी पृथिवी का जातिघटित लक्षण जानना चाहिये।

कठिनता (कडापन) तथा मृदुत्व (मोलायमपन रूप विशेषस्पर्श) से प्रगट होनेवाला पाकजत्व भी पृथिवी का स्पर्श ही है। जो उक्त विशेषता गुलाब के फूल तथा लौंग के फूल इत्यादिकों के विशेष स्पर्श से स्पष्ट प्रतीत होती है, जो जलादिकों के स्पर्श में नहीं है। यद्यपि अवयविद्रव्य में अग्निसंयोगरूप पाक से स्पर्श आदि गुण नहीं होते तथापि अवयवों की परम्पराक्रम से उत्पन्न होने के कारण उसमें भी विलक्षण स्पर्श मानना पड़ेगा (अर्थात् अवयविद्रव्य के स्पर्श में अवयवों का स्पर्श

ननु लक्षणमिदं व्यतिरेकिलिङ्गमितरभेदसाधकं व्यवहारसाधकं वा ? तत्र पृथिवीतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात् यन्नेतरभिन्नं तन्न गन्धवत् यथा जलादि, इतरभेदाभावव्यापकाभावप्रतियोगिगन्धवती चेयं, तस्मादितरभिन्ना। तत्रेतरभेदस्य साध्यस्य प्रसिद्धौ ततो हेतोर्व्यतिरेके सपक्षविपक्षव्यावृत्ततयाऽसाधारण्यम् अव्यतिरेके चान्वयित्वम्। अप्रसिद्धौ च अप्रसिद्धविशेषणः पक्षः; तथा च तत्र न सन्देहो, न वा सिषाधयिषा न वा तद्विशिष्टज्ञानरूपाऽनुमितिः। किञ्च व्यति-

---

कारण है और उसमें पाक कारण है, इस कारण अवयविद्रव्य के स्पर्श में भी परम्परा (क्रम) से पाकजन्यता होने से अवश्य विजातीयता स्वीकार करनी पड़ेगी)॥

(यहाँ शंकरमिश्र पूर्वपक्षी का आक्षेप दिखाते हैं कि)—यह पृथिवी का व्यतिरेकिलिङ्गरूप लक्षण क्या जलादित्रयोदश (जल से मन तक आठ, तथा गुण से समवाय तक के ५) पदार्थों से पृथिवी में भेद सिद्ध करता है, अथवा 'यह पृथिवी है' ऐसा व्यवहार सिद्ध करता है। उसमें पृथिवी, जलादिकों से भिन्न है, गन्धाश्रय होने से, जो जलादि, जलादिकों से भिन्न नहीं होता, वह गन्धाश्रय नहीं होता, जैसे जलादिकजलादि भेद के अभाव के व्यापक गन्धाभाव के प्रतियोगी गन्धवाली यह पृथिवी है, तस्मात् गन्धाश्रय होने से जलादिकों से भिन्न है। (अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमनरूप पाँच अवयव वाक्ययुक्त पृथिवी में जलादि भेदसाधक अनुमान होगा)। इस अनुमान में जलादि भेदरूप साध्य यदि प्रसिद्ध है तो जिसमें साध्य प्रसिद्ध है उस सपक्ष में यदि गन्धवत्त्व हेतु नहीं रहता ऐसा माना जाय तो निश्चित साध्यवाले सपक्ष तथा निश्चित साध्याभावाश्रय विपक्ष दोनों से गन्धवत्त्व हेतु के व्यावृत्त होने के कारण असाधारण दोष आने के कारण गन्धवत्त्व हेतु असाधारण नामक व्यभिचारी दुष्ट हेतु हो जायगा। और यदि साध्य प्रसिद्धिवाले सपक्ष में गन्धवत्त्व हेतु वर्तमान हो तो गन्धवत्त्वहेतु अन्वयव्याप्तिवाला होने से अन्वयि हो जाने के कारण व्यतिरेकी हेतु न हो सकेगा। और यदि जलादि भेदरूप साध्य प्रसिद्ध न हो तो पृथिवीरूप पक्ष (उद्देश्य) अप्रसिद्ध विशेषण हो जायगा, क्योंकि पृथिवीरूप विशेष्य में जलादि भेदरूप विशेषण असिद्ध है, और ऐसा होने से वहाँ (अनुमिति का कारण) संशय न हो सकेगा या न साध्यसिद्धि करने की इच्छारूप सिषाधयिषा होगी तथा 'जलादिभेदयुक्त पृथिवी है' इत्याकारक विशिष्ट ज्ञानस्वरूप अनुमिति यान होगी। (अर्थात् साध्यनिर्णय के अधीन, साध्य तथा उसके अभाव के साथ रहने वाले धर्म के आश्रय धर्मिज्ञान रूप (संशय का कारण) के न होने से सन्देहरूप पक्षता (सन्दिग्ध साध्यवाले को पक्ष कहते हैं ऐसा पक्षलक्षण) न रहने के कारण संशयपक्षतावादी मत से अनुमिति न होगी) तथा जो केवल पक्ष में साध्य के साधन की इच्छा (सिषाधयिषा) रूप पक्षता को अनुमिति का कारण मानते हैं उनके मत में भी जलादि भेद-

रेकयोर्व्याप्तिस्तथा च न व्याप्तस्य पक्षधर्मत्वं पक्षधर्मस्य न व्याप्तत्वमिति वैषम्यम् । अत एवोपनयवैयर्थ्यमपि व्याख्यायते न त्वगृहीतव्याप्तिकमपि । तदुक्तम्—

साध्याप्रसिद्धिर्वैषम्यं व्यर्थतोपनयस्य च ।
अन्वयेनैव सिद्धिश्च व्यतिरेकिणि दूषणम् ।। इति ।

एवं व्यवहारसाध्यकेऽपि । तत्र यद्यपि व्यवहारः पृथिवीपदवाच्यत्वम् तच्च पृथिवीत्वजातावप्यस्ति तत्र च पृथिवीत्वं हेतुर्नास्तीत्यसाधारण्यम् तथापि पृथि-

---

रूप साध्य अप्रसिद्ध होने के कारण सिषाधयिषा न रहने से अनुमिति न होगी । यह दोनों मत अयुक्त हैं क्योंकि घर में पड़े २ घनगर्जना सुनकर मनुष्य को 'आकाश बादल-वाला है' ऐसा अनुमान होता है, जिसे न आकाश में मेघों का सन्देह है, न मेघ सिद्ध करने की इच्छा है, अतः सिषाधयिषा के अभाव स युक्त सिद्धज्ञानरूप प्रतिबंधक का अभाव ही पक्षता है ऐसा सिद्धांतिमत से सिषाधयिषा विरह विशिष्ट सिद्धयभाव को पक्षता मानने के मत में भी पक्षतानियामक व्यापक इतरभेद प्रतियोगिकताविशिष्ट संसर्गवाली पृथिवी पक्ष के इतरभेद साध्य के अर्थात् सम्पूर्ण पृथिवी में जलादिभेदसाधक अनुमिति न हो सकेगी, यह यहां पर शंकरमिश्र का आशय है । यदि सम्पूर्ण पक्ष (पृथिवीमात्र) में इतरभेद साध्य के अनुमिति होने में साध्यांश में विशेषण रूप से पक्षतावच्छेदक पृथिवीत्व का भान होता है नकि उसकी व्याप्ति ऐसा कहें तो शंकरमिश्र पूर्वपक्षिमत से ऐसा दूसरा भी दोष देते हैं कि इस पूर्वोक्त अनुमान में जलादिभेदाभावरूप साध्याभाव तथा गन्धाभावरूप हेतु के अभाव की व्याप्ति दिखाई गई है, ऐसा होने से हेत्वभाव की व्याप्ति से युक्त साध्याभाव (जलादिभेदाभाव) पक्ष का धर्म नहीं है, अर्थात् प्रस्तुत अनुमान में वह हेतु नहीं है और जो पक्ष का धर्म है गन्धवत्त्व, वह व्यतिरेक व्याप्ति का आधार है, अतः वैषम्यदोष भी आ जायगा (अर्थात् जिसमें व्याप्तिज्ञान है वह हेतु नहीं है और जो हेतु है उसमें व्याप्ति-ज्ञान ही है इस विषमता से व्याप्ति तथा पक्षधर्मताविशिष्ट हेतु का प्रतिपादन करना रूप उपनय वाक्य भी न बन सकेगा । इसी अभिप्राय से शंकरमिश्र पूर्वपक्षिमत से कहते हैं कि)—इसी कारण उपनय वाक्य की व्यर्थता प्राचीनों ने वही की है नकि अगृहीतव्याप्तिकत्व भी, अर्थात् व्याप्ति का ग्रहण न होना (अर्थात् अगृहीत व्याप्तिकता उपनय से नहीं कही जाती) अतएव प्राचीनों ने यह कहा है—

साध्यप्रसिद्धिः = साध्य की असिद्धि, वैषम्यं = पूर्वोक्त वैषम्य, व्यर्थता = व्यर्थ होना, उपनयस्य च = और उपनय वाक्य का, अन्वयेन एव = अन्वय व्याप्ति से ही, सिद्धिः = सिद्धि होना, व्यतिरेकिणि = व्यतिरेकि अनुमान में, दूषणं = दोष है ।।

इसी प्रकार पृथिवीत्व ऐसे व्यवहारसाध्यक व्यतिरेकि अनुमान में भी उक्त दोष जानना । उसमें यद्यपि 'पृथिवीव्यवहार' शब्द का अर्थ होगा पृथिवीपद से कहा

वीत्वप्रवृत्तिनिमित्तकपृथिवीपदवाच्यत्वं साध्यमिति नासाधारण्यम्। यद्वा पृथिवीत्वं काचित्कपदप्रवृत्तिनिमित्तं जातित्वात् घटत्ववदिति सामान्यतः सिद्धौ पृथिवीपदं पृथिवीत्वप्रवृत्तिनिमित्तकम् इतराप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति सप्रवृत्तिनिमित्तकत्वात् यन्नैवं तन्नैवमिति साध्यम्। तथाचात्रापि साध्याप्रसिद्धिरेवेति चेत्।

मैवम् इतरेषां जलादीनाम् भेदस्य घट एव प्रसिद्धेः। वाय्वादेरतीन्द्रियस्यापि भेदस्य अन्योन्याभावस्य घटादौ प्रत्यक्षत एव सिद्धत्वात् अन्योन्याभावग्रहे अधिकरणयोग्यतामात्रस्य तन्त्रत्वात् स्तम्भः पिशाचो न भव-

---

जाना, और वह पृथिवीत्व जाति में है, (क्योंकि जातिविशिष्ट व्यक्ति शब्द का अर्थ होता है) उस (पृथिवीत्व) में पृथिवीत्व हेतु नहीं है (अतः प्राचीनमत से सपक्षविपक्षव्यावृत्तत्वरूप) असाधारण्य दोष गन्धवत्त्व में आने से वह असाधारण व्यभिचारी दुष्ट हेतु हो जायगा। पूर्वपक्षी कहता है कि 'तथापि पृथिवीरूप पक्ष में पृथिवी ऐसा व्यवहार करना चाहिए इस साध्य का पृथिवीत्व जिसके प्रवृत्ति का निमित्त है ऐसे पृथिवी पद से कहा जाय ऐसा अर्थ करने से पृथिवीत्व जाति में उक्त साध्य न रहने से असाधारण दोष न आवेगा। (यदि अभी तक पृथिवीपदवाच्यता की पृथिवीत्वनिमित्तक होने की सिद्धि ही नहीं हुई है, तो ऐसा विशेष साध्य का अर्थ कैसे किया जा सकता है ऐसा कहो तो पूर्वपक्षी दूसरे प्रकार से साध्याप्रसिद्धि दिखाने के लिये अनुमान करता है) कि पृथिवीत्व, किसी न किसी पद के प्रवृत्ति का कारण है, जाति होने से घट पद के प्रवृत्ति के निमित्त घटत्वजाति के समान, इस प्रकार सामान्य व्याप्ति के बल से सामान्यरूप से किसी पद की प्रवृत्तिनिमित्तता पृथिवीत्व जाति में सिद्ध होने पर पृथिवी पद, पृथिवीत्वप्रवृत्तिनिमित्त वाला है, पृथिवी को छोड़कर दूसरे किसी जलादि पदों को प्रवृत्ति के निमित्त न होता हुआ समान्यतः प्रवृत्तिनिमित्त वाला होने से जो ऐसा नहीं होता (वह पृथिवीत्वप्रवृत्तिनिमित्तक नहीं होता) वह ऐसा नहीं होता (इतर के प्रवृत्ति का निमित्त न होते हुए सप्रवृत्तिनिमित्त नहीं होता) ऐसा साध्य है ऐसा होने से इस व्यवहारसाधक अनुमान में भी साध्याप्रसिद्धि इतरभेद साधक अनुमान के समान दोष आता ही है (इसी प्रकार वैषम्यदि दोष भी इसमें जान लेना चाहिये।)

(इस प्रकार के पूर्वपक्षी के आक्षेप का समाधान शंकरमिश्र ऐसा करते हैं कि)—ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि पृथिवी भिन्न जलादि त्रयोदश पदार्थों का भेद घटरूप पृथिवी में ही प्रसिद्ध है। अप्रत्यक्ष भी वायु आकाशादि पदार्थों का भेद अर्थात् परस्पर अभाव घट आदिकों में प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, क्योंकि परस्पराभाव (भेद) के ग्रहण करने में आधार की प्रत्यक्षता ही प्रयोजक है, कारण यह कि 'स्तंभ पिशाच नहीं है' इत्यादि अन्योन्याभाव के पिशाचरूप प्रतियोगी के प्रत्यक्ष न होने पर भी

तीत्यादौ तथा दर्शनात् ।। न चैवं घट एवह दृष्टान्तोऽस्तु किं व्यतिरेकिणा ।

ऋजुमार्गेण सिद्ध्यन्तं को हि वक्रेण साधयेत् ।

इति वाच्यम् अव्यतिरेकिलिङ्गं चेदनाभासं, तदाऽयमपि मार्गो वक्ररुचिं प्रत्यप्रतिहत एव । साध्याप्रसिद्धेर्निरासे तन्मूलकदोषाणां निरस्तत्वात् । व्यतिरेकसहचारेण अन्वयव्याप्तेरेव ग्रहात् व्यतिरेकव्याप्त्याऽन्वयव्याप्तेरनुमानाद्वा न वैधर्म्यम् । नचोपनयवैयर्थ्यम् , गृहीतव्याप्तेरेव हेतोः पक्षे उपसंहारात् । तदुक्तम्—

स्तंभ प्रत्यक्ष के योग्य ही है ऐसा देखने में आता है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि तब तो घट ही को दृष्टान्त लेकर पृथिवी इतरभिन्न है, गन्धाश्रय होने से घट के समान, ऐसा अन्वयी ही अनुमान हो जायगा, तब पूर्वोक्त व्यतिरेकी अनुमान करने की क्या आवश्यकता है इसी कारण कहा है कि ऋजुमार्गेण (सीधे मार्ग से), सिध्यन्तं=सिद्ध होने वाले विषय को, कः = कौन, हि = निश्चय से, वक्र (टेढ़) मार्ग से, साधयेत् = सिद्ध करेगा, तो यह कहना अयुक्त है क्योंकि यह घट दृष्टान्त से अन्वयव्याप्तिवाला हेतु यदि निर्दुष्ट हो (अर्थात् इसमें घट में भी पृथिवीपदवाच्यतारूप साध्य के सन्देह से पक्षता होने से दृष्टान्तासिद्धिरूप दोष व्यतिरेकिलिङ्गरूप वक्रमार्ग से चल वाले आप देंगे इसी कारण यह व्यतिरेकिलिङ्ग से साध्यसिद्धि रूप मार्ग स्वीकृत किया है इसी अभिप्राय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—तो यह मार्ग भी वक्रमार्ग से जाने वाले के लिये निर्बाध ही है (अर्थात् प्राणायामसाधन में सीधे नाक को न दबाकर हाथ को परिश्रम देते हुए घुमाकर हस्त से प्राणायाम साधन करनेवाला सीधे हस्त से नाक नहीं दबाता उसी प्रकार प्रसिद्ध घटादिकों में प्रत्यक्ष से जलादि भेद गृहीत न होने पर भी उसके दृष्टान्त से अन्वयी हेतु न मानकर व्यतिरेकि द्वारा ही पृथिवी में जलादि भेद सिद्ध करना यह वक्रमार्ग में प्रेम रखनेवाले के मन से संगत है) (आगे पूर्वोक्त संपूर्ण दोषों का निरास करने के लिये शंकरमिश्र कहते हैं कि)। इस प्रकार साध्याप्रसिद्धिरूप दोष का निराकरण होने से उसके कारण आये हुए वैषम्य आदि संपूर्ण दोषों का निरास हो गया। अथवा 'पृथिवी जलादि भिन्न हैं' इस अनुमान में जहाँ इतर भेद नहीं होता, वहां गंधाश्रयता नहीं होती इस प्रकार के साध्याभाव तथा हेत्वभाव के साहचर्य ज्ञान से जहाँ-जहाँ गन्धवत्त्व होता है वहाँ २ इतर भेद रहता है इस प्रकार के अन्वयव्याप्ति का ही ग्रहण होने से, अथवा साध्याभाव तथा हेत्वभाव के (व्यतिरेक व्याप्ति से साध्य तथा हेतु के अन्वयव्याप्ति का अनुमान करने के कारण वैषम्य दोष भी न होगा) (गदाधर भट्टाचार्य ने व्यतिरेक सहचार से उत्पन्न भी अन्वयव्याप्तिज्ञान से अन्वयव्याप्तिवाली अनुमिति स्वीकृत की है, इस कारण यहाँ गन्धवत्त्व हेतु में व्यतिरेकिता संगत ही है। यहाँ पर ऐसा कहो कि यदि

नियम्यत्वानियन्तृत्वे भावयोर्यादृशो मते ।
त एव विपरीते तु विज्ञेये तदभावयोः ॥ इति ।

व्यवहारस्तु गन्धवती पृथिवीत्युपदेशादेव यथा कम्बुग्रीवादिमान् घटपदवाच्य इति। तथा कुत्रचिदेव घृतादौ मृदादौ च गन्धवत्त्वेनोपलक्षणेन पृथिवीत्वे पृथिवीपदप्रवृत्तिनिमित्तत्वं येनोपदेशाद् गृहीतम्, गन्धवत् सर्वं पृथिवीत्वेन प्रवृत्तिनिमिमित्तेन पृथिवीपदवाच्यं गन्धवत्त्वात् यन्नैवं तन्नैव-

---

व्यतिरेक सहचार व्यतिरेक व्याप्ति ज्ञान के विना ही अन्वयव्याप्तिज्ञान को करे तो अन्वयव्याप्तिग्राहक उदाहरणादिकों की क्या आवश्यकता है ? तो इसी दोष के वारणार्थ शंकरमिश्र ने अनुमानवाला उपरोक्त दूसरा पक्ष दिखाया है। अर्थात् इस प्रकार भी गन्धवत्त्व हेतु में व्यतिरेकिता बनी ही रहेगी इस कारण वैषम्य दोष न आयेगा) (वैषम्य के समान उपनयव्यर्थत्व दोषों का भी निरास करते हैं कि)—उपनय भी व्यर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि व्याप्तिज्ञान जिसमें हुआ है ऐसे ही हेतु का पक्ष में उपसंहार उपनय वाक्य से किया गया है अतएव उदयनाचार्य ने कहा है कि—नियम्यता (व्याप्यता) तथा नियन्तृता (व्यापकता) भावयोः = भावरूप साध्य तथा साधन दोनों की, यादृशी = जैसी, मते = मानी गई हैं, तएव = वे ही दोनों, विपरीते = विपरीत तु, विज्ञेये = किन्तु जाननी चाहिये, तदभावयोः = उनके अभाव—साध्यभाव और हेत्वभाव की ॥ (अर्थात् धूम तथा वह्नि आदि पदार्थों का जिस प्रकार धूम व्याप्य है तथा वह्नि व्यापक है ऐसा व्याप्यव्यापक भाव, है उसके अभावों धूमाभाव तथा वह्न्यभाव उसके विपरीत वह्न्यभाव व्याप्य है और धूमाभाव व्यापक है ऐसा व्याप्यव्यापकभाव होता है)। (आगे गन्धवत्त्व हेतु में पूर्वोक्त व्यवहारसाधक व्यतिरेकहेतुक अनुमिति की कारणता स्थापन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—पृथिवी है ऐसा शब्दप्रयोगरूप व्यवहार तो 'गन्धवाली पृथिवी होती है, इस प्रकार के उपदेश से सिद्ध होता है, जिस प्रकार घट पदार्थ को न जाननेवाले पुरुष को 'कम्बुग्रीवादिमान्' शंखाकार गर्दनवाले आदि लक्षणवाला, घटपद का वाच्य (अर्थ) है (इसी प्रकार गन्धवाली पृथिवी होती है यह भी व्यवहार सिद्ध हो जायगा)। (इसी का स्पष्टीकरण करते हुये शंकरमिश्र कहते हैं कि)—उसी प्रकार किसी घृत आदि तथा मृत्तिकादि पार्थिव द्रव्यों में गन्धाश्रयता के सूचन से आप्तोपदेश द्वारा पृथिवीत्व जाति इन घृतादिकों में पृथिवी कहलाने के प्रवृत्ति का निमित्त है ऐसा ज्ञान जिस पुरुष को हुआ, उसे गन्धाश्रय संपूर्ण द्रव्य पृथिवीरूप प्रवृत्तिनिमित्त से पृथिवी कहलाने योग्य हैं, गन्धाश्रय होने से, जो उक्त निमित्त से पृथिवी नहीं कहलाता वह गन्धवान् नहीं होता, जैसे जल इस प्रकार व्यतिरेकी अनुमान होता ही है।

(किन्तु यहाँ पर पूर्वपक्षी पुनः ऐसा आक्षेप करता है कि)—पूर्वोक्त भेदसाधक

मिति व्यतिरेकी तस्याप्यवतरत्येव। ननु भेदसाधकव्यतिरेकिणि भेदो वैधर्म्यं स्वरूपभेदो वा अन्योन्याभावो वा ? न तावदाद्यौ प्रत्यक्षत एव तदवगमात्। न तृतीयः अभावभेदस्यापि साध्यत्वेन तदन्योन्याभावस्य तत्राभावात्, तेन सह स्वरूपभेदे साध्ये साध्याननुगमादिति चेन्न अभावप्रतियोगिकान्योन्याभावस्यापि साध्यत्वात् स यद्यतिरिक्तस्तदाऽस्त्येव न चेत् स्वरूपमादाय तत्पर्य्यवसानात्। वस्तुतो भिन्न एव तद्वैधर्म्यस्य तदन्योन्याभावव्याप्यत्वात्, न चानवस्था यावत्येवानुभवस्तावत्येवाविश्रामात् अन्यत्र

व्यतिरेकी अनुमान में भेद शब्द का १—वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म), अथवा २—स्वरूप का भेद, अथवा ३—अन्योन्याभाव (परस्पर का अभाव अर्थ है) वैधर्म्य तथा स्वरूपभेद ये दोनों प्रथम के पक्ष नहीं हो सकते, क्योंकि पृथिवी जल का विरुद्ध धर्म है और उनका स्वरूप भी प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है (तो उनके अनुमान की क्या आवश्यकता है) अन्योन्याभावरूप तृतीय पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि पृथिवी में जलादि पदार्थों के भेद के समान अभावपदार्थ का भेद भी साध्य होने से पृथिवी में अभावभेदका भेद नहीं है। (यहाँ पर यदि पृथ्वीतरता अभाव में ही होने से अभावभेदरूप साध्य के पृथिवी में वर्तमान होने से उसका अभाव उसमें अनिष्ट ही है ऐसा मध्यस्थ प्रश्न करे तो इसी के समाधानार्थ शंकरमिश्र ने अभावभेद के अन्योन्याभाव का ग्रहण किया है, अर्थात् अभाव भेद का भेद भी यत्किञ्चिद्भावभेदरूप होने से साध्य होने के कारण उसे भी पृथिवी पक्ष में रहना आवश्यक होगा, किन्तु अभावभेद के अधिकरणरूप होने से पृथिवीस्वरूप होने के कारण उसका (पृथिवी का) भेद पृथिवी में नहीं है। यह उपरोक्त उपस्कारग्रन्थ का तात्पर्य है)। (पूर्वपक्षी के मत से शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—पृथिवी से इतरान्तर्गत अभाव के साथ-साथ स्वरूप का भेद भी यदि साध्य (इतरभेद) का अर्थ किया जाय तो अभाव के साथ स्वरूपभेद तथा जलादिकों से अन्योन्याभाव का ग्रहण होने के कारण इतरभेदरूप साध्य अनुगत (एक) न होगा—(इस आक्षेप का समाधान करते हैं कि)—अभावप्रतियोगीवाला अन्योन्याभाव भी साध्य है, अर्थात् जलादि भेद के समान अभावभेद भी साध्य है)। और वह अभाव को अधिकरण रूप न माननेवालों के पक्ष से यदि अतिरिक्त है तो वह भी पृथिवी में वर्तमान हा है, और नहीं है तो अभावस्वरूप को लेकर पृथिवीरूप पक्ष में वृत्तित्व आ ही जायगा (अर्थात् अभावभेद का भेद भी अपने आधार अभावसामान्यरूप होने के कारण पृथिवीरूप पक्षवृत्तिता आने में कोई दोष नहीं है यह उपस्कार का यहाँ तात्पर्य है)। अभावभेद का भेद अभावरूप नहीं हो सकता क्योंकि यदि अभाव (के केवलान्वयि (सर्वत्रविद्यमान) होने के कारणवह भी केवलान्वयि हो जायगा ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो शंकरमिश्र कहते हैं कि वास्तविक में तो अभावप्रतियोगीवाला भेद अधिकरण से

त्वननुभवेनैव विश्रामात्। यत्तु त्रयोदशान्योन्याभावास्त्रयोदशसु प्रसिद्धाः मिलिताः पृथिव्यांसाध्यन्ते इति तत्तुच्छं प्रत्येकं प्रसिद्धेरतन्त्रत्वात् मिलितप्रसिद्धेरभावात् किन्तु निर्गन्धत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकान्योन्याभावः साध्येत प्रतियोगितावच्छेदकभेदेनाभावभेदस्यावश्यकत्वात् स च घटादावेव प्रत्यक्षसिद्ध इत्युक्तत्वात्। आकाशादौ का गतिरिति चेत् आकाशमितरभिन्नं शब्दाश्रयत्वात् यन्नैवं तन्नैवमित्यादौ पक्षैकदेशे यद्यपि न साध्यं प्रसिद्धम् तथापि यद् यद्वैधर्म्यवत् तत् तत्प्रतियोगिकान्योन्याभाववदिति सामान्यप्रवृत्तव्याप्तिबलेन शब्दाश्रयत्वात्यन्ताभाववत्प्रतियोगिकान्योन्याभावस्य पूर्वमेव सिद्धौ केवलं पक्षनिष्ठतया

भिन्न ही है, क्योंकि जिसमें जिसका विरुद्ध धर्म रहता है उसमें उसका भेद अवश्य रहता है ऐसी व्याप्ति है, (अर्थात् यदि अभावभेद पृथिवीरूप हो तो भावरूपता तथा अभावरूपता रूप उनमें विरुद्धधर्म न बनेगा। इसी प्रकार अभावभेद के पृथिवीरूप मानने से भेद का भेद उसका भेद मानने से प्राप्त अनवस्थादोष के वारणार्थ शंकरमिश्र कहते हैं कि)—जहाँ तक भेद का अनुभव होता है उनमें ही विश्राम मानने से यह दोष न आयेगा। भेदधारा मानने का अनुभव न होने से विश्राम हो जायगा।

और जो कोई विद्वान् 'पृथिवी जलादि त्रयोदश पदार्थों से भिन्न है' इस अनुमान में 'त्रयोदश पदार्थों के अन्योन्याभाव तेज जल नहीं है' इत्यादि रूप से त्रयोदश पदार्थों में प्रसिद्ध हैं उनका समुदाय पृथिवी में सिद्ध किया जाता है'—ऐसा कहते हैं (अर्थात् जलत्वादिविशिष्टाभाव कूट (समूह) को वे साध्य करते हैं) वह भी युक्त नहीं है क्योंकि प्रत्येक के भेद की प्रसिद्धि उक्तानुमान में प्रयोजक नहीं है, और मिलित जलादि भेदकूट कहीं प्रसिद्ध नहीं है, अतः गन्धाभाववान् जितने जलादिक हैं उन संपूर्णों का भेद उक्तानुमान में साध्य रखना होगा, क्योंकि पृथिवी गन्धाभाववालों से भिन्न है इस अभाव के प्रतियोगी गन्धाभाववान् में रहनेवाली प्रतियोगिता के नियामक निर्गन्धत्वरूप के भिन्न होने से अभावभेद मानना आवश्यक है, और वह गन्धशून्यों का सामान्यभेद घटादि पृथिवी में प्रत्यक्ष से सिद्ध है यह कह चुके हैं। यदि पूर्वपक्षी ऐसी शंका करें कि—'आकाश, पृथिवी आदिकों से भिन्न है' इस अनुमान में आकाश की पृथिवी के एकदेश घट के समान एकदेश न होने से क्या उपाय होगा अर्थात् कहाँ प्रसिद्धि होगी तो यद्यपि आकाश, पृथिव्यादिकों से भिन्न है, शब्दाश्रय होने से, 'जो पृथिव्यादि, पृथिव्यादिकों से भिन्न नहीं होते वे शब्दाश्रय नहीं होते' इस अनुमान में आकाश का प्रदेश न होने से पक्ष के एकदेश में साध्य प्रसिद्ध नहीं है, तथापि जो जिसके विरुद्धधर्म का आधार होता है वह उस प्रतियोगिवाले अन्योन्याभाव का आधार होता है (जैसे घट पट के विरुद्ध (घटत्व) धर्म का आश्रय होने से वह पट से भिन्न है) इस सामान्यरूप से ज्ञात व्याप्ति के सामर्थ्य से शब्द के आधार के अत्यन्ताभाव के आधार पृथिव्यादि प्रतियोगीवाले अन्योन्याभाव

इदानीं बोध्यते वह्निरिव पर्वतनिष्ठतया इत्यन्योऽस्मत्सिद्धान्तः तद्वैधर्म्यस्य तदन्योन्याभावव्याप्यत्वात् । शब्दाश्रयत्वात्यन्ताभाववत्त्वमेव विपक्षे न गृहीतमितिचेत् तर्हि शब्दाश्रयत्वस्य न लक्षणत्वं न वा लिङ्गत्वं विपक्षगामित्व शङ्काग्रस्तत्वादिति ॥ १ ॥

पृथिव्यनन्तरमुद्दिष्टानामेषां लक्षणमाह—

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥ २ ॥

शुक्लमधुरशीता एव रूपरसस्पर्शाः द्रव्यत्वञ्च सांसिद्धिकं स्नेहस्तु स्व-

---

(आकाश पृथिव्यादि नहीं है) की प्रथम ही सिद्धि होने के कारण केवल उक्त अनुमान के आकाशरूपपक्ष में ही केवल पृथिव्यादि भेद-सिद्धि जो पूर्वसामान्य व्याप्ति से सिद्ध नहीं थी वह 'आकाश पृथिव्यादिकों में भिन्न है' इस अनुमान से कही जाती है, जिस प्रकार महानस में धूमसामान्य की वह्निसामान्य के साथ प्रथम व्याप्ति ही ग्रहण होने पर पर्वत में धूमदर्शन से पर्वत में वह्नि की सिद्धि की जाती है (यह शंकरमिश्र कहते हैं) हमारा दूसरा सिद्धान्त है। (अर्थात् पक्ष के एकदेश में साध्य-प्रसिद्धि के समान सामान्यरूप से व्याप्ति के सामर्थ्य से जहाँ किसी पदार्थ में साध्य की प्रसिद्धि कर अनुमान का निर्वाह हो सकता है ऐसा शंकरमिश्र का अपने सिद्धान्त का गूढ अभिप्राय है)। (इस सिद्धान्त में हेतु दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—क्योंकि पृथिव्यादिकों का आकाश में शब्दाश्रयत्वरूप विरुद्धधर्म पृथिव्यादिकों के भेद से व्याप्त है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि विपक्ष पृथिव्यादिकों में शब्दाधारता नहीं है यही ज्ञात नहीं है (तो उनका भेद आकाश में कैसे गृहीत होगा), तो शंकरमिश्र कहते हैं कि तब तो 'शब्दाश्रयत्व' आकाश का लक्षण अथवा इतरभेदसाधक व्यतिरेकलिङ्ग भी न हो सकेगा, क्योंकि शब्दाश्रयत्व की पृथिव्यादिकों में रहने की शङ्का ही उसे खा डालेगी, (अर्थात् शब्दाश्रत्वरूप हेतु वि पक्ष में रहने की शंका से दुष्ट हो जायगा) ॥१॥

(प्रथम सूत्र की व्याख्या के पश्चात् क्रमप्राप्त जललक्षण सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—पृथिवी के पश्चात् उद्दिष्ट जलपदार्थ का सूत्रकार लक्षण करते हैं—

पदपदार्थ—रूपरसस्पर्शवत्यः = रूप, रस तथा स्पर्शगुणवाला, आपः = जल होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—चतुर्विंशति गुणों से विशेषरूप रस, तथा स्पर्श नामक विशेष गुण के समवायसम्बन्ध से आधारद्रव्य को जल कहते हैं ॥ २ ॥

उपस्कार—क्रम से शुक्ल, मधुर तथा शीत ही जल में रूप, रस तथा स्पर्शगुण (रहते हैं) तथा स्वाभाविक द्रवत्व भी (जल में रहता है) किन्तु स्नेह स्वरूप से रहता है (अर्थात् सूत्र के रूपादि पद उनके विशेष शुक्लादिकों के जैसे बोधक हैं उस प्रकार स्नेहपद उसके किसी विशेष को नहीं कहा है किन्तु यथाश्रुत स्नेह ही को)।

रूपतः। ननु शुक्लमेव रूपमपामित्ययुक्तम् कालिन्दीजलादौ नैल्यस्योपलम्भात्। मधुर एव रस इत्यप्ययुक्तम् जम्बीरकरवीररसादौ आम्ल्यतैक्त्यादेरुपलम्भात्। शीत एव स्पर्श इत्यप्यनुपपन्नम् मध्यन्दिने औष्ण्यस्यैवोपलम्भात्। सांसिद्धिकञ्च द्रवत्वमव्यापकम् हिमकरकादावभावात्। स्नेहस्तु स्वरूपासिद्धोऽतिव्यापकश्च जलेऽननुभवात् घृतादौ पार्थिवेऽनुभवाच्च। न च जलत्वं जातिरेव जललक्षणम् व्यवस्थापकाभावेन तदनुपपत्तेः। न च स्नेहसमवायिकारणतावच्छेदकत्वेन तत्सिद्धिः स्नेहत्वस्य कार्य्याकार्यवृत्तितया कार्यतानवच्छेदकत्वात् तस्माद्भेदकाभावाद् जलं न भिद्यत इति, चेन्मैवम् अभास्वरशुक्लमात्र-

---

यहाँ पर पूर्वपक्षी ऐसा आक्षेप करता है कि जल का शुक्ल ही रूप है यह कहना असंगत है, क्योंकि यमुना नदी के जल में नीलरूप उपलब्ध होता है। तथा जल का मधुर ही रस है यह भी अयुक्त है, क्योंकि जामुन करेला आदि के जलांश में खट्टा तथा तीतारस उपलब्ध होता है। एवं स्वाभाविक द्रवत्व गुण भी ओले तथा वर्फ में न रहने से अव्यापक होने से जल का लक्षण नहीं हो सकता (अर्थात् रूपादि चार गुणों से किये हुए जल के लक्षणों में अव्याप्ति दोष आता है) स्नेह (चिकनाहट) नामक गुण भी जल में स्वरूपतः असिद्ध है (क्योंकि जल में स्नेह उपलब्ध नहीं होता) तथा घृत, तेल आदि पृथिवीद्रव्य में उपलब्ध होने से अतिव्याप्तिदोष भी आता है। जलत्वजाति का आधार होना भी जल का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि जलत्वजाति की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है। स्नेहरूप कार्य का समवायिकारण है जल, उसमें वर्तमान कारणता के नियामक होने से जलत्वजाति की अनुमानप्रमाण से सिद्धि हो सकती है (अर्थात् स्नेह में वर्तमान कार्यता से निरूपित जल में वर्तमान समवायिकारणता किसी नियामकधर्म से युक्त है, कारणता होने से, दण्ड में वर्तमान घटकार्य की कारणता के नियामक दण्डत्वजाति के समान इस अनुमान से जलत्वजाति की सिद्धि होगी) ऐसा सिद्धान्ती नहीं कह सकता, क्योंकि 'स्नेहत्वजाति नित्य तथा अनित्य दोनों प्रकार के स्नेहों में वर्तमान होने से नित्यरूप अधिक स्नेह में वर्तमान होने के कारण कार्यतानियामक नहीं हो सकती, अतः जल द्रव्य का पृथिवी आदि द्रव्यों से भेद सिद्ध करनेवाला लक्षणरूप व्यतिरेकिलिङ्ग न होने के कारण जलद्रव्य पृथिव्यादि द्रव्यों से भिन्न नहीं है।' (इस आक्षेप का उत्तर शंकरमिश्र ऐसा देते हैं कि)—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि परप्रकाशक न होनेवाला श्वेतरूप ही जलद्रव्य का पृथिव्यादिकों से भेद सिद्ध करनेवाला उक्त दोषरहित लक्षण हो सकता है। यमुना जलादिकों में पृथिवी के सम्बन्ध से औपाधिक (अस्वाभाविक) नीलिमा प्रतीत होती है, क्योंकि आकाश में फेंकने पर उसी यमुना के जल में श्वेत ही रूप का ग्रहण होता है। यदि कहो कि 'तथापि स्फटिकादि मणिरूप पृथिवी में शुक्लरूप होने से अतिव्याप्तिदोष

रूपस्यैव तद्भेदकत्वात् कालिन्दीजलादौ नैल्यस्याश्रयोपाधिकत्वात् वियद्विकीर्ण-कालिन्दीजले धावल्यस्योपलम्भात्। तेनाभास्वरशुक्लेतररूपासमानाधिकरणरूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वम् अपां लक्षणम्। रसोऽपि मधुर एव जम्बीरकरवीररसाम्ल्यतैक्त्यादेः पार्थिवोपाधिकत्वात्। जले माधुर्य्यं नानभूयत एवेति चेन्न कषायद्रव्यभक्षणानन्तरं तदभिव्यक्तेः। न च हरीतक्या एव तन्माधुर्य्यं जलाभिव्यङ्ग्यम् तत्र कषायरसस्यैवोपलम्भात् हरीतक्याश्चामलक्यामिव कषाय एव रसः तस्यैवानुभवात्। न च गुणविरोधेन तत्र रसानारम्भः। अवयवानामपि तत्र कषायरसवत्त्वात् षड्रसत्वप्रवादस्तु तत्तद्रस-

---

होगा' तो उसके कारण के लिए शुक्लरूपवत्त्व लक्षण का शंकरमिश्र जातिघटित लक्षण करते हुए कहते हैं कि)—उस (शुक्लरूपवत्त्व) से अभास्वर शुक्लरूप से भिन्न रूपों के आधार में अवर्तमान तथा रूपाश्रय में वर्तमान एवं द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जलत्व जाति का आश्रय होना यही जल का लक्षण है यह आता है (इसमें पृथिवी में रूपवद्वृत्तिद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्य पृथिवीत्वजातिमत्ता होने के कारण अतिव्याप्ति दोष-निरासार्थ अभास्वरशुक्लरूपेतररूप समानाधिकरण विशेषण दिया है, पृथिवी में अभास्वर शुक्लरूप भिन्न रक्तादि रूप होने से उक्त दोष न होगा। जल में शुक्ल रूप समानाधिकरण जलत्व जाति के रहने से असंभव दोष-वारणार्थ शुक्लेतर, तथा तेज में उक्त दोषवारणार्थ आभास्वरपद दिया है यह जानना। वायुत्व जाति को लेकर वायु में अतिव्याप्ति-वारणार्थ रूपवद्। वृत्ति तथा द्रव्यत्व को लेकर पृथिवी में उक्त दोष के निरासार्थ द्रव्यत्व साक्षात् व्याप्य ऐसा विशेषण जाति में दिया है। परत्वादि के वारणार्थ साक्षात् तथा जलघटान्यतरत्व को लेकर घट में अतिव्याप्ति-वारणार्थ जातिपद दिया है यह भी जान लेना चाहिये)। (आगे रस को लेकर पूर्वपक्षी के दिये दोषों का वारण करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं)—कि जल में रस भी मधुर ही है, जामुन आदि पृथिवी के जलांश में खट्टा-तीता आदि रस का ग्रहण जामुन आदि पृथिवी के सम्बन्ध से गृहीत होने के कारण वह औपाधिक है न कि स्वाभाविक। यदि 'कहो कि जल में मधुर रस का अनुभव नहीं होता' तो ऐसा नहीं, क्योंकि कषाय रसवाली हर्रे इत्यादि भक्षण करने के पश्चात्। जल पीने से उसमें जल की मधुरता प्रकट होती है। 'हर्रे की ही वह मधुरता है जो जल पीने से प्रकट होती है' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि हर्रे में कषायरस ही उपलब्ध होता है, हर्रे में भी आँवले के समान कषाय ही रस है, क्योंकि उसी का अनुभव होता है। 'हर्रे में गुणविरोध के कारण कोई रस उत्पन्न नहीं होता' ऐसी पूर्वपक्षी शंका नहीं कर सकता (अर्थात् एक हर्रे के अवयव में कषाय और दूसरे में मधुर रस, एवं च दो अवयवों में एक रस के न होने से हर्रेरूप द्रव्य में एक रस कैसे होगा' यह शंका नहीं हो सकती) क्योंकि

कार्य्यकारित्वनिबन्धनः। चित्ररसस्तु प्रमाणाभावादेव निरस्तः चित्ररूपे तु पटोपलम्भ एव प्रमाणम् सुरभ्यसुरभ्यवयवारम्भस्तु गुणविरोधनिरस्त एव चित्रगन्धे प्रमाणाभावात्। तस्माद्धरीतकीभक्षणानन्तरं यन्माधुर्य्यमुपलभ्यते तत् जलस्यैव, उल्बणता तु द्रव्यविशेषसन्निधानाधीना श्रीखण्डसन्नियोगाज्जले शैत्योल्बणतेव। कर्कटीभक्षणानन्तरन्तु तिक्तता याऽनुभूयते सा कर्कट्या एव तदवयवे जलपानमन्तरेणापि तिक्ततोपलम्भात्, रसनाग्रवर्त्तिपित्तद्रव्यतिक्तताया वा तत्रानुभवात्। तथा च मधुरेतररसासमानाधिकरणरससमाना-

---

हरँ के अवयव भी कषायरसवाले ही हैं। पृथिवी में षट् रस रहते हैं यह (प्रवाद) कहना तो उन-उन षट् प्रकार के रसरूप कार्य को पृथिवी द्रव्य उत्पन्न करता है इस कारण है (नकि संपूर्ण पृथिवी में छ रस रहते हैं इस अभिप्राय से है)। चित्ररूप के समान चित्र नामक सातवें रस में प्रमाण न होने से नहीं माना गया है (क्योंकि नाना जाति के रसवाले अवयवों से उत्पन्न अवयवि द्रव्यों में रस नहीं है क्योंकि उस अवयविद्रव्य में जिह्वा से अवयवों के ही रस का ग्रहण होता है, द्रव्य का ग्रहण नहीं होता' कारण जिह्वा को द्रव्यग्रहण में सामर्थ्य नहीं है, अतः अवयवि द्रव्य में अवयवरस से भिन्न होने से भी कोई दोष नहीं हो सकता। (आगे शंकरमिश्र शुक्लादि रूप से भिन्न चित्ररूप स्थापित करते हुए कहते हैं कि)—चित्ररूप में तो विचित्र रंग के पट का प्रत्यक्ष से ग्रहण होना ही प्रमाण है (अर्थात् चित्ररूप न माने तो नील आदि तन्तुओं के पीतादि रूप के उत्पत्ति में प्रतिबन्धक होने से पटरूप धर्मी में पीतादि रूप न हो सकने के कारण उस विचित्र अनेक रंग के पट का चाक्षुष प्रत्यक्ष जो होता है वह न हो सकेगा। अतः शुक्लादि रूप भिन्न चित्ररूप मानना आवश्यक है।) (चित्रगन्ध के विषय में शंकरमिश्र करते हैं कि)—अतिरिक्त चित्रगन्ध मानने में प्रमाण न होने के कारण सुगन्धि तथा दुर्गन्धि अवयवों से चित्रगन्धवाले अवयवि द्रव्य की उत्पत्ति होती है, यह परस्पर गन्धों के विरोध होने से ही खण्डित हो जाता है क्योंकि सुगन्धि अवयव दुर्गन्धि तथा दुर्गंधि अवयव सुगन्धि अवयवी को उत्पन्न नहीं कर सकता) (रस वर्णन का उपसंहार करते हुए शंकर मिश्र कहते हैं कि)—तस्मात् हरँभक्षण के पश्चात् जो जल में मधुरता प्रतीत होती है वह जल ही की है, जिस प्रकार जल के शीत स्पर्श की उत्कटता चन्दन के मिलने से प्रकट होती है उसी प्रकार हरँ रूपी द्रव्य के सम्बन्ध से हरँ खाकर पानी पीने से जल की मधुरता अधिक प्रतीत होती है। खीरा भक्षण के पश्चात् जो जलांश में तीते रस का अनुभव होता है यह खीरे का ही तीतापन है, क्योंकि उसके अवयवों में जलपान के विना भी तीतापन गृहीत होता है। अथवा जिह्वा के अग्रभाग में वर्तमान पित्त द्रव्य (पित्ती) की तिक्तता को खीरे में अनुभव होता है। (यदि कर्कटी की तिक्तता जल के माधुर्य को दबाने वाली

धिकरणद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वमपां लक्षणम्। एवं शीतस्पर्शसमानाधिकरणद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वमपां लक्षणम्। मध्यन्दिने तु यदौष्ण्यं तत्तेजस एव तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्। एवं सांसिद्धिकद्रवत्वं स्वरूपत एव लक्षणम् सांसिद्धिकद्रवत्ववद्वृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं वा जलत्वम्। स्नेहस्तु गुणविशेषो न तु दुग्धत्वदधित्ववत् सामान्यविशेषः स्निग्धस्निग्धतरस्निग्धतमेति तारतम्यप्रतीतेः। न च जातौ तारतम्यं सम्भवति। ननु भवतु स्नेहो गुणः स तु जले

होती है ऐसा न माने तो 'अथवा' पक्ष से शंकरमिश्र ने खीरे में तिक्तता सिद्ध की है। पित्तदोष वाले रोगी पुरुष को शक्कर आदि द्रव्य के मधुर रस को दबाने वाले तीते रस का अनुभव होता है यह अनुभव सिद्ध है इसलिये पित्तद्रव्य का तीतापन ही ऐसे स्थान में जल के माधुर्य को दबाने वाली है यह तात्पर्य यहाँ शंकरमिश्र का है)। (रस तथा स्पर्शगुण को भी लेकर जातिघटित लक्षण नवीन नैयायिकों के मत में दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—मधुर रस से भिन्न तिक्तादि रस के अधिकरण में न रहने वाली तथा रस के आश्रय में वर्तमान तथा द्रव्यत्व की साक्षात् व्याप्य जाति का आश्रय होना यह जल का लक्षण है। एवं शीत स्पर्श के आश्रय में वर्तमान तथा द्रव्यत्व की साक्षाद् व्याप्य जलत्व-जातिमत्ता भी जल का लक्षण है। (इन सब जातिघटक लक्षणों में पूर्वोक्त के समान पदों का सार्थक्य स्वयं जान लेना। इनमें से गुडत्व जाति को लेकर गुडरूप पृथिवी में अतिव्याप्ति-दोषनिरासार्थं 'द्रव्यत्व साक्षात्पद' प्रथम रसघटित लक्षण में जानना)। (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—यद्यपि जल का शीत ही स्पर्श है, तथापि मध्याह्न में जो जल उष्ण प्रतीत होता है वह सूर्यकिरणरूप तेज द्रव्य ही का है, क्योंकि तेज रहने से उष्णता होती है न रहने से नहीं ऐसा तेजोद्रव्य तथा उष्णस्पर्शरूप कार्य का अन्वय तथा व्यतिरेक है।

(इसी प्रकार उत्पत्तिकाल में जल में स्वाभाविक द्रव्यत्वगुण न होने के कारण उसको लेकर भी जातिघटित लक्षण शंकरमिश्र ऐसा करते हैं कि)—स्वाभाविक द्रवत्व जल का स्वरूप से लक्षण है जिसका स्वाभाविक द्रवत्व के आधार जल में वर्तमान जलत्व जाति का आधार जल होता है। ' ऐसा अर्थ करने से द्वितीय क्षण में जल में स्वाभाविक द्रव्यत्व होने से उसमें वर्तमान जलत्व जाति को लेकर प्रथमक्षण में जल में अव्याप्तिदोष न रहेगा। (स्नेहगुण के विषय में विवाद का निराकरण करते हैं कि)—स्नेह एक जल का विशेष गुण है, दुग्ध में दुग्धत्व तथा दधि में दधित्व के समान सामान्य विशेषरूप जाति नहीं है, क्योंकि स्निग्ध स्निग्धतर, स्निग्धतम इत्यादि रूप से स्नेह में तरतमभाव (अधिक तथा न्यून) की प्रतीति होती है, दुग्धत्वादिक सामान्य में तरतम भाव नहीं हो सकता। (अर्थात् जाति पदार्थ नित्य होने से उसमें अधिक न्यूनभाव की प्रतीति न होगी)। (शंकरमिश्र कहते हैं कि)—पूर्वपक्षी ऐसी शंका यहाँ नहीं कर सकता कि—स्नेह गुण अवश्य है किन्तु वह जल में है इसमें क्या

वर्तत इत्यत्र किं प्रमाणमिति चेन्न सक्तुसिकतादौ जलेन संग्रहे तदनुमानात्। सङ्ग्रहो हि स्नेहद्रवत्वकारितः संयोगविशेषः स हि न द्रवत्वमात्राधीनः काचकाञ्चनद्रवत्वेन सङ्ग्रहानुपपत्तेः, नापि स्नेहमात्रकारितः स्त्यानैर्घृतादिभिः सङ्ग्रहानुपपत्तेः, तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्नेहद्रवत्वकारितः। स च जलेनापि सक्तुसिकतादौ दृश्यमानः स्नेहं जले द्रढयति। इयञ्च प्रत्यक्षोपष्टम्भिकैव युक्तिः स्नेहस्य प्रत्यक्षत्वात्। घृतादौ तु स्नेह उपष्टम्भकजलनिष्ठः संयुक्तसमवायेन तद्गततया भानात्। एवं तैलरसादिष्वपि। उपष्टम्भकञ्चातिशयितस्नेहमेव जलम्, स्नेहाधिक्यादेव तस्य जलस्य नानलविरोधित्वम्। यदि पृथिवीविशेष-

---

प्रमाण ?—क्योंकि सतुआ, आटा इनमें जल पड़ने से उनका संग्रह (बटुरना) से जल, स्नेहाश्रय है, सत्तु आदिकों को बटोरने से, इस अनुमान से जल में स्नेह गुण सिद्ध हो सकता हैं। स्नेह तथा द्रवत्व से उत्पन्न एक विशेष संयोग का नाम है संग्रह, वह संग्रह केवल द्रवत्व गुण से नहीं हो सकता, क्योंकि कांच, सुवर्ण इत्यादिकों को टिघलाने से उनके द्रवत्व से सतुआ आदिकों का संग्रह होने लगा। (अर्थात् पानी के समान अग्निसंयोग से पतले हुए सुवर्णादिकों से भी सतुआ, आटा आदि बटुरने लगेंगे।) तथा संग्रह केवल स्नेह से भी नहीं हो सकता, यदि हो तो गाढ़े घी इत्यादि को स्नेह होने से बिना (द्रवत्व) के टिघलाये बिना आटा आदि में संग्रह नहीं होता, अतः अन्वय—स्नेह तथा द्रवत्व के रहते संग्रह का होना व्यतिरेक (न रहने पर न होना) होने से संग्रह स्नेह तथा द्रवत्व दोनों से मिलकर होता है यह सिद्ध होता है। केवल जल से भी सत्तू, बालू आदि में दिखाई देने से जल में स्नेह गुण (चिकनापन) है यह निश्चित होता है। यह प्रदर्शित युक्ति स्नेह के प्रत्यक्ष होने के कारण प्रत्यक्षप्रमाण से ही सिद्ध है। (यदि घृतादि पृथिवी में भी स्नेह होने से अतिव्याप्ति दोष होगा। ऐसी शंका पूर्वपक्षी करे तो शंकरमिश्र कहते हैं कि)—घृत, तेल आदिकों में जो स्नेह उपलब्ध होता है वह उसमें मिले हुए (उपष्टम्भक) स्वरूप-संपादक जलांश का ही है अतः घृत में संयुक्त जल में समवेत होने से 'संयुक्त समवाय' रूप परंपरा सम्बन्ध से घृतादिकों में स्नेह की प्रतीति होती है। एवं इसी प्रकार तेल रस इत्यादिकों में भी जानना। उपष्टम्भक तेल इत्यादिकों के स्वरूप का सम्पादक उनमें वर्तमान तिल आदि द्रव्य के सम्बन्ध के कारण अधिक स्नेह वाला जल ही है। तथा स्नेह के अधिक होने से ही उस तेल आदि में संयुक्त जल अग्नि के विनाशक न होकर बल्कि उसके वर्धक होते हैं।

(यदि यहाँ पर 'स्नेह को केवल जल में माना जाय तो घृतादिकों में उसके रहने के लिये संयुक्त संयोगरूप परंपरा सम्बन्ध मानना पड़ेगा, इसके अपेक्षया साक्षात् समवायसम्बन्ध से घृतादिकों में ही क्यों न माना जाय' ऐसी शंका हो तो उसका उत्तर शंकर मिश्र करते हैं कि)—यदि स्नेह पृथिवी का विशेष गुण हो तो सम्पूर्ण

गुणः स्नेहः स्यात् सर्वपार्थिववृत्तिः स्यात् गन्धवत्। जलत्वं च द्रव्यत्वसाक्षाद्-व्याप्यजातिः स्नेहवन्मात्रवृत्तिसंयोगगसमवायिकारणतावच्छेदिकाया जातेः परमाणुसाधारण्येन सिद्धत्वात् ॥ २ ॥

उद्देशक्रमानुरोधेन तेजोलक्षणमाह—

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥ ३ ॥

रूपं भास्वरं स्पर्शश्चोष्णस्तद्वत्तेज इत्यर्थः। ननु भास्वरत्वं परप्रकाशकत्वं तादृशञ्च रूपं नोष्मणि न वा चामीकरस्थे भर्जनकपालस्थे वारिस्थे वा तेजसि, शुक्लञ्च रूपमुक्तेषु न क्वापि, उष्णश्च स्पर्शो न चान्द्रे न वा चामीकरे तत्

पार्थिव द्रव्यों में वर्तमान होगा जैसे गन्धगुण (सब पार्थिव द्रव्यों में रहता है)। वह जलत्व जाति द्रव्यत्व जाति की साक्षात् व्याप्य जाति है, क्योंकि स्नेहगुण वाले संपूर्ण में वर्तमान संयोगरूप कार्य के समवायिकारण जल में वर्तमान समवायिकारणता की नियामकरूप जाति जल-परमाणुओं को लेकर सिद्ध होती है (यहाँ पर जल परमाणुओं में स्नेहकार्य की समवायिकारणता के न होने से स्नेहवान् मात्र में वर्तमान संयोगतक का अनुसरण किया है। नवीन नैयायिकों का ऐसा यहाँ मत है कि स्नेह रूप कार्य का समवायि कारण है कार्य जल, अतः उसके नियामक धर्मरूप से जन्य जलत्व जाति सिद्ध होने पर, जन्य जल में वर्तमान कार्यता-निरूपित कारणतावच्छेदक रूप से जलत्व जाति सिद्ध होगी, जो परमाणुओं में भी है) ॥ २ ॥

(तृतीय सूत्र का शंकरमिश्र अवतरण देते हैं कि)—उद्देशक्रम के अनुसार तेज द्रव्य का सूत्रकार लक्षण करते हैं

पदपदार्थ—तेजः = तेजनामक द्रव्य, रूपस्पर्शवत् = रूप तथा स्पर्शगुणवाला होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परप्रकाशक शुक्लरूप, तथा उष्ण स्पर्श विशेषगुण के आश्रय द्रव्य का नाम है तेज ॥ ३ ॥

उपस्कार—प्रकाशक शुक्लरूप तथा उष्णस्पर्श नामक विशेषगुण के आधार द्रव्य को तेज कहते हैं यह सूत्र का अर्थ है। यदि यहाँ पर 'भास्वरताशब्दार्थ है पर को प्रकाशित करना किन्तु ऐसा रूप गर्मीरूप तेज तथा सुवर्ण के तेजोभाग एवं भुंजवे के घड़े में वर्तमान तथा उष्णजल में वर्तमान तेज में भी में न होने से एवं इन सम्पूर्णों में श्वेतरूप भी कहीं न होने से, अव्याप्तिदोष होगा। एवं चन्द्रमा के किरण तथा सुवर्ण में उष्णस्पर्श न होने से भी अव्याप्ति दोष आ जायगा' ऐसा पूर्व-पक्षी कहेतो शंकरमिश्र उत्तर देते हैं कि गरमी इत्यादिकों में ऊष्मा, भास्वररूपवान् है, तेज होने से प्रदीप के समान इत्यादि अनुमान से उनमें भास्वररूप सिद्ध होगा।

कथमेतदिति चेन्न ऊष्मादौ तेजस्त्वेन भास्वररूपानुमानात्। तेजस्त्वमेव तत्र स्वरूपासिद्धमिति चेन्न उष्णस्पर्शवत्त्वेन तदनुमानात्। चामीकरे कथमिति चेत् तत्र भास्वररूपाभावेऽपि अत्यन्तानलसंयोगेनानुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वाधिकरणत्वेन व्यतिरेकिणा तेजस्त्वानुमानादिति वक्ष्यमाणत्वात्, भर्जनकपालादिनिष्ठे चोष्णस्पर्शवत्त्वेन तेजस्त्वानुमानात्। चतुर्विधं हि तेजः किञ्चिदुद्भूतरूपस्पर्शं यथा सौरादि, किञ्चिदुद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं यथा चान्द्रम्, किञ्चिदनुद्भूतरूपस्पर्शं यथा नायनम्, किञ्चिदनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शं यथा नैदाघं वारिभर्जनकपालादिगतञ्च तेजः। नायनमग्रे साधयिष्यते ॥ ३ ॥

क्रमप्राप्तं वायुलक्षणमाह—

स्पर्शवान् वायुः ॥ ४ ॥

१—रूपासमानाधिकरणस्पर्शसमानाधिकरणजातिमत्त्वम् २—रसासमान

यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'उनमें तेजस्त्वरूप हेतु ही असिद्ध है' तो ऊष्मा, तेज है, उष्णस्पर्शाश्रय होने से वह्नि के समान इस अनुमान से तेजस्त्व सिद्ध होता है यह उत्तर है। यदि कहो कि—सुवर्ण में उष्णस्पर्श न होने से उसमें तेजस्त्व कैसे सिद्ध होगा'—तो सुवर्ण में भास्वररूप तथा उष्णस्पर्श के न होने पर भी अत्यन्त अग्निसंयोग होने पर भी सुवर्ण के नैमित्तिक द्रवत्व का नाश नहीं होता, अतः अत्यन्त अनलसंयोग से अनुच्छिद्यमान (न नष्ट होनेवाले) द्रवत्व के आधार होने रूप व्यतिरेकी हेतु से उसमें तेजस्त्व का अनुमान हो सकता है ऐसा आगे कहेंगे। भुंजवे के भूंजने के बालूवाले तपे घड़े में वर्तमान तेज में उष्णवत्ता हेतु से तेजस्त्व का अनुमान करने से उसमें भी अव्याप्ति दोष न होगा। उक्त लक्षणवाला तेजद्रव्य चार प्रकार का होता है—प्रथम तेज वह है जो उद्भूतरूप तथा स्पर्श का आधार होता है जैसे सूर्यादि तेज (१), कोई तेज ऐसा है जिसका रूप प्रकट है, किन्तु स्पर्श प्रकट नहीं होगा जैसे चन्द्रकिरण का तेज (२), कोई तेज वह है जिसके रूप तथा स्पर्श दोनों अप्रकट हों जैसे चाक्षुष तेज (३) तथा कोई तेज वह है जिसका रूप अप्रकट तथा स्पर्श प्रकट है जैसे ग्रीष्मऋतु की उष्णता का तेज तथा जल एवं भुंजवे के घड़े का तेज। जिससे चाक्षुष तेज आगे सिद्ध करेंगे ॥ ३ ॥

क्रमप्राप्त वायुद्रव्य का सूत्रकार लक्षण कहते हैं—

पदपदार्थ—स्पर्शवान् = स्पर्शगुणाश्रय, वायुः = वायु नामक द्रव्य है ॥ ४ ॥

भावार्थ—अनुष्णाशीत तथा अपाकज स्पर्शरूप विशेषगुणाश्रय द्रव्य का वा- नाम है ॥ ४ ॥

उपस्कार—इस सूत्र के प्रदर्शित स्पर्शवत्त्वरूपलक्षण के चार प्रकार के जातिघटित लक्षण हो सकते हैं—(१) जो रूप के आश्रय में अवर्त्तमान तथा स्पर्श के आधार

धिकरणानुष्णाशीतस्पर्शसमानाधिकरणजातिमत्त्वम् ३—गन्धासमानाधिकरणानुष्णाशीतस्पर्शसमानाधिकरणजातिमत्त्वम् । ४—स्पर्शेतरविशेषगुणासमानाधिकरणविशेषगुणसमानाधिकरणजातिमत्त्वं वा वायुलक्षणम् ॥ ४ ॥

नन्वाकाशकालदिगात्मनामपि रूपादिमत्त्वं कथं न लक्षणमत आह—

त आकाशे न विद्यन्ते ॥ ५ ॥

अत्र विदिरुपलब्धिवचनः नोपलभ्यन्ते यतोऽतो न ते रूपादयो नियोगतः—समुच्चयतो विकल्पतो वा वर्तन्ते नभःप्रभृतिषु द्रव्येष्वित्यर्थः । ननु दधिधवलमाकाशमिति कथं प्रतीतिरिति चेन्न मिहिरमहसां विशदरूपाणामुपलम्भात्तथा·

वर्तमानजाति का आश्रय होना, (२) तथा रस के आधार में अवर्तमान तथा अनुष्ण शीत स्पर्श के आधार में वर्तमान जाति का आश्रय होना, (३) तथा गन्ध के आधार में अवर्तमान तथा अनुष्णशीतस्पर्श के आधार में वर्तमान जाति का आश्रय होना (४) एवं स्पर्शभिन्न विशेषगुणों के आधार में अवर्तमान विशेषगुण के आश्रय में वर्तमान जाति का आश्रय होना ऐसे ४ हैं । (इन संपूर्ण लक्षणों में पृथिवी आदि तीन द्रव्यों में अतिव्याप्ति निरास के लिये असमानाधिकरण तक विशेषण पद जाति में दिया है । तथा आत्मा में उक्त दोषवारणार्थं समानाधिकरणान्त दूसरा विशेषण दिया है । द्वितीयलक्षण में तेज में उक्त दोष ही के निरासार्थं स्पर्श में अनुष्णाशीत पद विशेषण है । तथा तृतीय लक्षण में जल में उक्त दोष के ही निरासार्थ अनुष्णाशीत पद स्पर्श में विशेषण दिया है । एवं चतुर्थ लक्षण में मन में अतिव्याप्ति दोष के निरासार्थ विशेषगुणपर्यन्त अनुसरण किया है । ऐसे चारों लक्षण हो सकते हैं, न कि एक २ को छोड़कर दूसरा लक्षण करने में कोई बीज है यह भी यहाँ जान लेना चाहिये ॥ ४ ॥

(पंचम सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—शंका है कि आकाश, काल, दिशा तथा आत्मा का भी रूपरसादिगुण की आधारता रूप लक्षण क्यों नहीं हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—ते = रूपरसादि गुण, आकाशे = आकाशनामक द्रव्य में, न = नहीं, विद्यन्ते = उपलब्ध हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—आकाशद्रव्य में रूप, रस गन्ध, तथा स्पर्श नाम का चारों विशेष गुण उपलब्ध नहीं होते ॥ ४ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में 'विद्यते' इस आख्यात पद में 'विद्' का उपलब्धि अर्थ है जिस कारण उपलब्ध नहीं होते अतः रूपादि चारों विशेष गुण मिलकर अथवा पृथक् २ भी आकाश, काल, दिग् तथा आत्मा द्रव्य में नहीं रहते यह सूत्र का अर्थ है । शंका है—यदि आकाश में रूप नहीं है तो दधि के समान आकाश श्वेतवर्ण

भिमानात्। कथं तर्हि नीलं नभ इति प्रतीतिरिति चेन्न सुमेरोर्दक्षिणदिशमाक्रम्य स्थितस्येन्द्रनीलमयशिखरस्य प्रभामालोकयतां तथाभिमानात्। यत्तु सुदूरं गच्छच्चक्षुः परावर्तमानं स्वचक्षुःकनीनिकामाकलयत्तथाभिमानं जनयतीति मतं-तदयुक्तम् पिङ्गलसारनयनानामपि तथाभिमानात्। इहेदानीं रूपादिकमिति-प्रत्ययात् दिक्कालयोरपि रूपादिचतुष्कमिति चेन्न समवायेन पृथिव्यादीनां तल्लक्षणस्योक्तत्वात् न तु सम्बन्धान्तरेणापि इहेदानीं रूपात्यन्ताभाव इत्यपि प्रतीतेः सर्वाधारतैव दिक्कालयोः ॥ ५ ॥

नन्वपां द्रवत्वं लक्षणमुक्तं तदयुक्तम् पृथिव्यामपि द्रवत्वोपलम्भादित्यत आह—

सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥६॥

है ऐसा ज्ञान कैसे होता है ? उत्तर—ऐसा नहीं, क्योंकि सूर्य के किरणों के जो निर्मल रूप हैं उनका ग्रहण होने के कारण आकाश श्वेत है यह अभिमान (भ्रम) होता है।

शंका—तो आकाश नीलवर्ण है ऐसा ज्ञान कैसे होता है ? उत्तर—सुमेरु नामक पर्वत जो दक्षिण दिशा को आक्रमण कर स्थित है तथा जिसके शिखर (-इन्द्रनील) नीलम रत्न से भरे हैं, उसकी नील कान्ति को देखने वालों को आकाश नील है ऐसा अभिमान (भ्रम) होता है। इसका दार्शनिक विद्वान् ऐसा उत्तर देते हैं कि बहुत दूर तक ऊपर गया हुआ चक्षु इन्द्रिय लौटकर अपने चक्षु इन्द्रिय की नीली आँख की पुतली को ग्रहण करने के कारण आकाश नोलवर्ण है ऐसा भ्रम होता है, किन्तु यह उत्तर ठीक नहीं है क्योंकि पीले रंग की आँख की पुतली वाले मनुष्यों को भी आकाश नील है ऐसा भ्रम होता है (ऐसे पीत पुतलीवाले पुरुषों की कनीनिका (आँख की पुतली) में नीलरूप न होने से उन्हें आकाश नील है ऐसा भ्रम न होगा)। शंका—'इस स्थल में इस समय रूप-रसादिक हैं।' ऐसा ज्ञान होने के कारण दिशा तथा काल दोनों द्रव्यों में रूप रस, गन्ध, तथा स्पर्श चारों गुण सिद्ध होते हैं ? उत्तर—समवाय-सम्बन्ध से रूपादि गुणों का आधार होना पृथिव्यादिकों का लक्षण पूर्व में कथित है। न कि उससे भिन्नकालिक विशेषणता अथवा दैशिक विशेषणता सम्बन्ध से इस समय यहाँ रूप नहीं है ऐसी भी प्रतीति होती है इस कारण दिशा तथा काल द्रव्यों में सर्वाश्रयता ही सिद्ध होती है ॥ ५ ॥

शंका है—जल का जो स्वाभाविक द्रवत्व लक्षण पूर्व में कहा गया है, वह घृतादि पृथिवी में भी द्रवत्व की उपलब्धि होने से अतिव्याप्ति दोषग्रस्त होने से अयुक्त है—इस शंका का सूत्रकार उत्तर देते हैं—

पदपदार्थ—सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानां = घी, लाह, शहद का छत्ता इनमें, अग्निसंयो-

सर्पिरादीनां यद्द्रवत्वमस्ति तदग्निसंयोगान्निमित्तात् न तु सांसिद्धिकम् तादृशञ्चापां लक्षणम् द्रवत्वमात्रन्तु पृथिव्या अद्भिः सामान्यं न तु सांसिद्धिकं द्रवत्वमपीति नातिव्याप्तिरित्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु तथापि त्रपुसीसलोहादौ तेजसि गतत्वेन तदवस्थैवातिव्याप्तिरित्यत आह—

त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥ ७ ॥

उपलक्षणञ्चैतत् कांस्यताम्रारकूटपारदादीनामप्युपसंग्रहः। शक्यलक्ष्यसा-

---

गात् = तेज के संयोग से, द्रवत्वं = द्रवत्वगुण, अद्भिः = जल के साथ, सामान्यं = साधारण है ॥ ६ ॥

भावार्थ—घी, लाह तथा शहद के छत्तों में अग्नि के संयोग से उत्पन्न होने के कारण नैमित्तिक, (निमित्त से होनेवाला) द्रवगुण होता है, न कि जल के समान स्वाभाविक द्रवत्व घृतादियों में है, अतः अतिव्याप्ति दोष न होगा, सामान्यरूप से द्रवत्व का आश्रय होना पृथिवी तथा जल का समानधर्म हो सकता है ॥ ६ ॥

उपस्कार—घृत, लाह, मधूच्छिष्ट इत्यादि पार्थिव द्रव्यों में जो द्रवत्व होता है वह अग्निसंयोगरूप निमित्त से होता है, न कि उनमें स्वाभाविक द्रवत्व है, और स्वाभाविक द्रवत्व जल का लक्षण है, केवल द्रवत्व तो पृथिवी तथा जल में समान है (अर्थात् केवल द्रवत्वगुण पृथिवी तथा जल का समानधर्म है) किन्तु स्वाभाविक द्रवत्व पृथिवी तथा जल का समानधर्म नहीं है इस कारण अतिव्याप्ति दोष न आयेगा ॥ ६ ॥

(शंकापूर्वक सप्तम सूत्र का अवतरण शंकरमिश्र देते हैं कि)—शंका है तथापि (जल में अतिव्याप्ति दोष का निराकरण होने पर भी) तेजद्रव्य में जलद्रव्य के द्रवत्व लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति दोष उसी प्रकार है ही ? इस शंका का सूत्रकार ऐसा वारण करते हैं—

पदपदार्थ—त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानां = जस्ता, सीसा, लोहा, चाँदी, सुवर्ण इन तेजो द्रव्यों का, अग्निसंयोगात् = अग्निसंयोग से, द्रवत्वं = द्रवगुण, अद्भिः = जल से, सामान्यं = साधारण है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जस्ता, सीसा, लोहा, चाँदी, सोना इन तेजद्रव्यों में अग्निसंयोग रूप निमित्त से द्रवत्वगुण उत्पन्न होने से उनमें नैमित्तिक द्रवत्व है न कि जल के समान स्वाभाविक द्रवत्व जस्ता आदि तेजद्रव्य में है, अतः अतिव्याप्ति दोष न होगा, सामान्यरूप से द्रवत्व का आधार होना तेज तथा जल का समानधर्म हो सकता है ॥७॥

उपस्कार—त्रपु (जस्ता) सीसा इत्यादि सूत्र में प्रदर्शित तेजोद्रव्य कांसा; तांबा, पीतल, पारा इत्यादि तेजोद्रव्यों के भी लक्षणावृत्ति से सूत्र कहें। सूत्र में शब्द से

धारणञ्च अत्यन्ताग्निसंयोगानुच्छिद्यमानजन्यद्रवत्वाधिकरणत्वमेव तथाच सुवर्णादीनामपि द्रवत्वं नैमित्तिकमेव निमित्तस्याग्निसंयोगस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्, परन्तु पूर्वसूत्रेऽग्निपदमौष्ण्यप्रकर्षवत्तेजःपरम्, इह तु वह्निपरमिति विशेषः। ननु सुवर्णादीनामपि पार्थिवत्वमेव द्रव्यान्तरत्वं वा पीतिमगुरुत्वादेः पार्थिवत्वव्यवस्थापकत्वाद् द्रवत्वानुच्छेदस्य पृथिवीवैधर्म्यस्याप्यनुभवात् द्रव्यान्तरत्वव्यवस्थापकत्वादिति चेन्न सुवर्णं तैजसम् अत्यन्ताग्निसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा पृथिवीति व्यतिरेकिणा तैजसत्वसिद्धेः। न च जलपरमाणौ विरुद्धता द्रवत्वस्यानित्यत्वेन विशेषणीय-

---

कहे त्रपु आदि तथा लक्षणा से बोधित कांसा, तांबा, इत्यादि लक्ष्य तेजद्रव्यों में समानरूप से रहने वाला (जिसके कारण सूत्र के त्रपु आदि द्रव्यों से कांसा आदि द्रव्य लिये जाते है उभय (दोनों में साधारण) धर्म हैं—अत्यन्त अग्निसंयोग होने पर (अनुच्छिद्यमान) नष्ट न होने वाले द्रवगुण का आश्रय होना (जो त्रपु आदि सूत्रोक्त तथा लक्षणा से बोध्य कांसा आदि तेजो द्रव्य में भी समान है), तथाच ऐसा होने से सुवर्ण, लोह इत्यादि तेजोद्रव्यों का भी द्रवत्वगुण नैमित्तिक ही है, क्योंकि अग्निसंयोगरूप अन्वय (अग्निसंयोग रहते द्रवत्व होना (व्यतिरेक) (न रहते न होना) दोनों से सिद्ध है। किन्तु 'सर्पिर्जतु' इत्यादि पूर्वसूत्र में अग्निपद अधिक उष्णतेज का बोधक है (क्योंकि घाम में भी घी इत्यादि टिघल जाते हैं) और त्रपुसीस इत्यादि इस सूत्र में 'अग्नि' को ही लेता है। क्योंकि त्रपु आदि बिना अग्निसंयोग के नहीं टिघलते यह विशेष है। ननु (शंका है)—सुवर्ण, लोह इत्यादिक भी पार्थिव द्रव्य अथवा तेजोभिन्न दूसरे द्रव्य होंगे, क्योंकि उसमें पीतवर्ण तथा गुरुत्वादिगुण पार्थिव द्रव्य के व्यवस्थापक हो सकते हैं, तथा द्रवत्व का नाश न होना रूप पृथिवी के विरुद्ध धर्म का अनुभव होने से पृथिवी तथा तेज से सुवर्णादि भिन्न है यह भी सिद्ध हो सकता है।

उत्तर—ऐसा नहीं क्योंकि सुवर्ण तेजोद्रव्य है, अत्यन्त अग्निसंयोग होने पर भी अविनाशी, द्रवत्व का आधार होने से जो पृथिवी आदि (ऐसा तैजस) नहीं होता वह अत्यन्त अग्निसंयोग से अविनाशी द्रवत्व का आश्रय नहीं होता जैसे घृतादि पृथिवी द्रव्य इस प्रकार के व्यतिरेकी अनुमान से सुवर्ण में तैजसद्रव्यता सिद्ध होती है। 'जलपरमाणुओं में तैजसतारूप साध्य न होने पर भी उसके द्रवत्व का नित्य होने से नाश न होने के कारण साध्याभाव का व्याप्य होने से उक्त हेतु विरुद्ध है' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता क्योंकि द्रवत्व में अनित्यता विशेषण देने से जलपरमाणुओं के द्रवत्व के नित्य होने से विरोधदोष न होगा। 'प्रदीप आदि बिम्बित तेजरूप सपक्ष द्रव्य तथा निश्चित तेजो द्रव्याभावरूप विपक्ष पृथिवी आदि में भी उक्त हेतु के न रहने के कारण उक्त हेतु में असाधारणता दोष भी पूर्वपक्षी नहीं दे सकता;

त्वात्। न च प्रदोपादेः सपक्षाद्धेतोर्व्यावृत्तेरसाधारण्यम् सुवर्णं न पार्थिवमिति साध्यार्थत्वात्। न चात्र गुरुत्वाधारस्य पक्षत्वे बाधः तदतिरिक्तस्य पक्षत्वे चाश्रयासिद्धिः, द्रवत्वाधिकरणत्वेन पक्षत्वात्। न चात्यन्तिकत्वं दुर्वचम्, प्रहरपर्य्यन्तमग्निसंयोगेऽप्यनुच्छिद्यमानानित्यद्रवत्वाधिकरणत्वादिति विवक्षितत्वात्। न च तरतमादिप्रत्ययादाश्रयनाशाच्च द्रवत्वनाशोऽप्यवश्यं वाच्य इति वाच्यम् समानाधिकरणद्रवत्वसामग्र्यसमवहिताग्निसंयोगजन्यध्वंसप्रति-

---

क्योंकि सुवर्ण पार्थिव द्रव्य नहीं है ऐसा 'तेजसत्व' रूप साध्य का अर्थ है। (इस पक्ष में अनित्यत्वरूप विशेषण देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जलपरमाणुओं में व्यभिचार नहीं आता) किन्तु हेतुनिष्ठ साध्य का व्यापक अभाव प्रतियोगित्व असाधारण दोष माननेवाले नवीन नैयायिकों के मत में तैजसत्वसाध्यक ही अनुमान होता है उसमें उक्त विरोध दोष के निरासार्थ अनित्यत्व विशेषण देना ही होगा। तथा जल संयुक्त घृत में व्यभिचारदोष-निरासार्थ 'असति प्रतिबन्धके—प्रतिबन्धक न रहते' यह भी विशेषण देना होगा तथा घृतादिकों में उक्त दोषवारणार्थ 'अत्यन्ताग्निसंयोगे सति' यह विशेषण दिया है। 'न पार्थिवं' ऐसा साध्य करने से सुवर्ण तेज से अतिरिक्त द्रव्य होगा' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि सुवर्ण पार्थिव नहीं है, जलीय नहीं है। (इस प्रकार अतिरिक्त उन-उन द्रव्यों से भेद सिद्ध होने पर परिशेष से तेजोद्रव्यत्वसिद्धि होने के कारण द्रव्यान्तरता सिद्ध नहीं हो सकती) (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—उक्त अनुमान में सुवर्ण के गुरुत्वाश्रयभाग के पक्ष करने से पृथिवी भाग में तैजसत्व न होने से बाधदोष, तथा तद्भिन्न भाग को पक्ष मानने से तेजोभाग सिद्ध न होने से आश्रयासिद्धि दोष होगा' ऐसा भी पूर्वपक्षी नहीं कह सकता क्योंकि द्रवत्वाश्रय तैजस है ऐसा अनुमान करेंगे (अर्थात् अत्यन्तसयोग होने पर भी अविनाशी द्रवत्व का आश्रय ऐसा पक्ष करने से आश्रयासिद्धि दोष न आवेगा' इससे अवच्छेदकावच्छेदेन सामान्यानुमिति में भी आंशिक बाध दोष नहीं होता यह जान लेना चाहिये)

(आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—इस अनुमान में 'अत्यन्ताग्निसंयोगे' इस हेतु के विशेषण में अत्यन्तता शब्द का अर्थ दुर्वच (कहने अयोग्य) नहीं है, क्योंकि एक पहर तक अग्निसंयोग रहने पर भी जिसके द्रवत्व का नाश नहीं होता ऐसे अनित्य द्रवत्व का आश्रय हो यह हेतु का अर्थ विवक्षित है। यह पूर्वपक्षी नहीं कह सकता कि 'द्रुत (टिघला) द्रुततर (अधिक टिघला) द्रुततम (बहुत अधिक टिघला है) इत्यादि सुवर्ण द्रवत्व में ज्ञान होने के कारण तथा आधार का नाश होने से भी द्रवत्व का नाश अवश्य मानना पड़ेगा' 'क्योंकि एक अधिकरण में वर्तमान द्रवत्व की सामग्री के असन्निहित अग्निसंयोग से उत्पन्न ध्वंस के प्रतियोगी में अवर्तमान द्रवत्वत्व जाति के आधार द्रवत्व के आश्रय होने से' यह हेतु का अर्थ है (अर्थात् ऐसा हेतु का अर्थ मानने से

योग्यवृत्तिद्रवत्वसामान्यवद्द्रवत्ववत्त्वादित्यस्य हेत्वर्थत्वात्। यद्वा पीतिमगुरुत्वाश्रयः पीतरूपभिन्नरूपप्रतिबन्धकद्रवद्रव्यसंयुक्तः प्रहरपर्य्यन्तमनलसंयोगेऽपि पीतरूपभिन्नरूपानाश्रयत्वात् अनलसंयुक्तजलमध्यस्थितपीतपटवत्। ननु चान्धकारे सुवर्णरूपग्रहापत्तिस्तदानीं तद्रूपस्याभिभवाभावात् बलवत्सजातीय-

---

पार्थिव द्रवत्व में वर्तमान जो द्रवत्वविशेष अग्निसंयोग से नष्ट होने वाले द्रवत्व में रहता है वह अग्निसंयोग उसी आधार में वर्तमान द्रवत्व की सामग्री के सन्निहित नहीं है, यदि हो तो उसमें उसके पश्चात् द्रवत्व उत्पन्न होगा, और सुवर्ण का द्रवत्व उक्त ध्वंस के प्रतियोगी में नहीं रहता, अतः उसके (सुवर्ण के) तेजोभाग में व्यभिचार दोष न आवेगा। अन्य काल को लेकर संपूर्ण अग्निसंयोग में अन्य आश्रय में वर्तमान द्रवत्व की सामग्री का सन्निधान होने से असिद्धिदोष-वारणार्थ समानाधिकरण पद, तथा सुवर्ण द्रवत्व का भी तरतम आदि प्रतीति होने के कारण, तथा आश्रयनाश से भी अग्निसंयोग से नाश होने के कारण असिद्धि दोष-वारणार्थ 'अत्यन्ताग्निसंयोग में' 'समानाधिकरण द्रवत्वसामान्यसमवहितत्व' ऐसा विशेषण दिया है। (यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'पक्षतानियामक तथा हेतु के ऐक्य होने से सामानाधिकरण्य से (किसी एक पक्ष में) सिद्धिज्ञान होगा जो पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन (संपूर्ण पक्षों में) अनुमिति में प्रतिबंधक होता है' तो इसी मत के साधारण मानने योग्य सुवर्ण में तैजसतासाधक अनुमान शंकरमिश्र दिखाते हैं कि)—अथवा पीतगुण तथा द्रवत्वाधार, पीतरूप से भिन्न रूप का प्रतिबन्ध करने वाले द्रव द्रव्य (टिघले हुये द्रव्य) से संयुक्त है, एक प्रहरपर्यंन्त अग्निसंयोग होने पर भी पीतरूप से भिन्नरूप का आधार न होने से, अग्नि से संयुक्त जल में वर्तमान पीतवस्त्र के समान, (इस अनुमान से सुवर्ण में तेजसत्व सिद्ध होता है)। (अर्थात् जिस प्रकार अग्नि पर उष्ण होनेवाले पीले वस्त्र में जलरूप द्रव द्रव्यके संयोग के कारण पीतरूप वस्त्र का नहीं बदलना किन्तु और पक्का ही जाता है, उसी प्रकार सुवर्ण के पीतरूप तथा द्रवत्वाधार पृथिवी भाग में भी प्रहर-पर्यन्त अग्निसंयोग रहने पर भी पीतरूप से भिन्नरूप नहीं होता, इस कारण उसका प्रतिबन्धक किसी द्रव द्रव्य का संयोग मानना पड़ेगा, जो द्रव्य पृथिवी तथा जल न होने से तेजरूप ही द्रव द्रव्य है यह सिद्ध होता है)। (पुनः यहाँ पूर्वपक्षी की ऐसी शंका शंकरमिश्र दिखाते हैं कि)—सुवर्ण यदि तेजद्रव्य है तो उसका परप्रकाशक रूप होने से अन्धकार में सुवर्ण के रूप का ग्रहण होना पड़ेगा, क्योंकि उस समय उसका रूप अभिभूत नहीं है, क्योंकि बलवान् तथा समानजाति के ग्रहण से होनेवाले अग्रहण को ही अभिभव कहते हैं, (अतः सुवर्ण में रहनेवाले पार्थिव द्रव्य के रूप के गृहीत न होने से प्रतिबन्धक के न रहने के कारण अंधेरे में सुवर्ण का रूप क्यों नहीं गृहीत होता)। (उत्तर में शंकरमिश्र कहते हैं)—नहीं ऐसा हो सकता है क्योंकि

ग्रहणकृतस्याग्रहणस्याभिभवपदार्थत्वात् इति चेन्न तत्र फलबलेन बलवत्सजातीयसम्बन्धमात्रस्याभिभवपदार्थत्वात्। तदुक्तम्—

भूसंसर्गवशाद्यान्यद्रूपं नैव प्रकाशते।

इति दिक् ॥ ७ ॥

एवं स्पर्शवद्द्रव्यचतुष्कलक्षणप्रकरणं समाप्य वायोर्लक्षणमाश्रयासिद्धमिति तत्परिजिहीर्षया आदावनुमानं प्रमाणमुपन्यस्यानुमानस्यैव प्रथमं दृष्टानुसारेण प्रमाण्यमुपपाद्य वायुसाधनप्रकरणमारभते—

विषाणी ककुद्मान् प्रान्तेबालधिः सास्नावान् इति गोत्वे दृष्टं लिङ्गम् ॥ ८ ॥

बलवान् तथा समानजातीय पार्थिव द्रव्य का सम्बन्ध ही अभिभव पदार्थ है, अतएव कहा है 'पृथिवी के सम्बन्ध के कारण अन्य (सुवर्ण) का रूप अन्धकार में प्रकाशित नहीं होता' यह प्रकार है (अर्थात् बलवान् तथा समानजातीय जो पृथिवी का रूप उसका सम्बन्ध 'स्वसमवायिसंयुक्तत्व' अपने में समवेत पार्थिव द्रव्य में संयुक्त तेज (सुवर्ण) द्रव्य में सम्बद्ध रूप है सुवर्ण के रूप में रहने के कारण अन्धकार में सुवर्णरूप का ग्रहण नहीं होता ॥ ७ ॥

(अष्टम सूत्र का अवतरण शंकरमिश्र देते हैं कि)—इस प्रकार स्पर्शाधिकरण पृथिवी आदि वायुपर्यन्त चार द्रव्यों के लक्षण के प्रकरण को समाप्त कर वायु का लक्षण वायु में प्रमाण न होने से आश्रयासिद्ध है। इस दोष के परिहार की इच्छा से प्रथम अनुमानप्रमाण को कहकर अनुमान में प्रत्यक्ष के अनुसार प्रमाणता सिद्ध कर, वायुसिद्धि का प्रकरण प्रारम्भ करते हुये सूत्रकार कहते हैं—(अर्थात् पूर्वोक्त 'स्पर्शवान् वायुः' यह वायु का लक्षण लक्ष्य वायुद्रव्य के सिद्ध न होने के कारण अयुक्त है, क्योंकि रूप न होने से वायु का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, अतः वायु में अनुमानप्रमाण दिखाने के लिये प्रथम अनुमान में ही प्रामाण्यस्थापन सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—विषाणी=शृंगवाली, ककुद्मान्=कन्धे की हड्डीवाली, प्रान्तेबालधिः=अन्त में बालवाली पुच्छ की आश्रय, सास्नावान् = गले में कम्बलवाली, इति = यह संपूर्ण गोत्वे=गो में वर्तमान गोत्व जाति के आश्रय गो में, लिङ्गम् = साधक है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार गोत्वविशिष्ट गोव्यक्तियों की सिद्धि में सामान्यरूप से देखे हुए लोकप्रसिद्ध शृंग, ककुद्, आदि सूत्रोक्त साधक लिङ्ग होते हैं, उसी प्रकार अप्रत्यक्ष भी वायु में स्पर्श, शब्द इत्यादिक सामान्यतोदृष्ट साधक लिङ्ग होते हैं, ऐसा अन्तिम सूत्रसहित इस सूत्र का अर्थ है। अतः यह गो है, शृंगवान् होने से, या पुच्छविशेष का आश्रय होने से, तथा सास्नावान् होने से प्रथम देखे गो के समान ऐसा इस सूत्र में अनुमान प्रयोग जानना चाहिये ॥ ८ ॥

यथा गोत्वं प्रति विषाणादीनि लिङ्गानि गृहीतव्याप्तिकानि तथाऽतीन्द्रियवायवादिद्रव्यपञ्चकलिङ्गान्यपि सामान्यतो दृष्टानि प्रमाणभावमासादयन्तीति भावः। अत्र यद्यपि विषाणित्वमात्रं न गोत्वे लिङ्गं महिषादौ व्यभिचारात्, न च सास्नादिमत्त्वं विशेषणम् विशेष्यस्य व्यर्थत्वापत्तेः तथापि गोविषाणे महिषमेषादिविषाणापेक्षया वैलक्षण्यमाकलयतां धूम इव ते ते विशेषा लिङ्गभावमासादयन्त्येव विषाणेष्वपि ऋजुत्ववक्रत्वकठिनत्वसुकुमारत्वह्रस्वत्वदीर्घत्वादयः। ते च विशेषाः निपुणतरवेद्याः सन्त्येव तथाच व्यवहितविप्रकृष्टगोपिण्डे अयं गौर्विषाणविशेषवत्त्वात् पूर्वानुभूतगोपिण्डवदित्यनुमानमप्रत्यूहमेव। एवं कुकुद्वत्तापि लिङ्गं गोत्वे। प्रान्तेवालधिमत्त्वमपि स्वतन्त्रमेव लिङ्गं गोत्वे, प्रान्ते बाला आधीयन्तेऽस्मिन्निति प्रान्तेवालधिः-पुच्छविशेषः अलुक्समासात् गोपुच्छ

उपस्कार—जिस प्रकार पूर्व में अनुभूत व्याप्तिवाले शृंग इत्यादि गौ की सिद्धि में साधक लिङ्ग होते हैं, उसी प्रकार अप्रत्यक्ष वायु से लेकर आत्मा तक पाँचद्रव्यों के सामान्यतोदृष्ट नामक साधक लिङ्गप्रमाण होते हैं, यह सूत्र का भाव (अभिप्राय) है। यहाँ पर केवल शृङ्ग इत्यादि होना ही गौका यद्यपि महिषादियों में व्यभिचारके कारण साधक लिङ्ग नहीं हो सकता, यदि सास्नावान् होते हुए ऐसा विशेषण दिया जाय तो उतने से ही महिषादिकों में व्यभिचार दोष निवृत्त हो जाने से 'शृङ्गवान् होना' यह विशेष व्यर्थ हो जायगा, तथापि गौओं के शृङ्गों में महिषादिकों के शृङ्गों से विलक्षणता को जानने वालों के लिये काष्ठादि वह्निजन्य धूमों में विशेषता के समान गौओं में रहने वाले शृंगों में भी ऋजुता (सीधा होना) वक्रता (टेढ़ा होना), कठिनता (कड़ा होना), सुकुमार होना, ह्रस्वता, (अखुड़े होना) दीर्घता (लम्बा होना) इत्यादि विशेष भी साधक लिङ्ग हो सकते हैं।) ये सब विशेषण अत्यन्त निपुण (चतुर) पुरुषों से जानने योग्य गौओं के शृंगों में वर्तमान ही है, इस कारण व्यवधानयुक्त दूरस्थ गौ के शरीर में यह, गौ है, विशेष शृंगवाली होने से प्रथम देखे हुए गोशरीर के समान, इस प्रकार निर्दुष्ट अनुमान हो सकता है। इसी प्रकार यह गौ है, ककुद (कंधे के ऊपर मांस का गोला) होने से, पूर्वदृष्ट गौ के समान, इस अनुमान में ककुदवत्ता भी गौ का साधक लिङ्ग है। नीचे के हिस्सों में केशमय पुच्छ होना रूप 'प्रान्तेवालधिता' अर्थात् ऐसा पुच्छविशेष, यहाँ 'प्रान्तेवालधि' शब्द में प्रान्ते इस सप्तमी का लोप न होने से गौ का पुच्छ ही 'प्रान्तेवालधि' शब्द से कहा जाता है, क्योंकि जिस प्रकार गौओं के पुच्छों में अन्तिम पुच्छ के भागों में केश व्याप्त होते हैं उस प्रकार अश्व-मेढा (मेढा) इत्यादि पशुओं के पुच्छों में केश व्याप्त नहीं होते और गौ के पुच्छ सम्पूर्ण केशमय होते हैं, एवं महिषों के पुच्छ के अन्त में केश व्याप्त होने पर भी वे गौ के पुच्छ के समान लम्बे नहीं होते, इस प्रकार और पशुओं के पुच्छों से गौ के पुच्छ में

एवान्ते बालधिशब्देनोच्यते, न हि यथा गोपुच्छेषु प्रान्तेबालधित्वं तथाऽश्वमेषादिपुच्छेषु, तेषां सामस्त्येन बालमयत्वात्, महिषादिपुच्छे तादृशी प्रलम्बता नास्तीति वैलक्षण्यात्। अन्तेबालधिमत्त्वमपि गोत्वे लिङ्गं मतुब्लोपात् गोपिण्ड उच्यते, तथा चायं गौः प्रान्तेबालधिमत्त्वात् पूर्वानुभूतगोपिण्डवत्। सास्नावत्ता तु प्रसिद्धैव गोत्वे लिङ्गम् ॥ ८ ॥

एवं सकललोकयात्रावाहिनोऽनुमानस्य दृष्टानुसारेण प्रामाण्यमभिधाय वायुसाधनप्रकरणमारिप्समान आह—

स्पर्शश्च वायोः ॥ ९ ॥

लिङ्गमिति शेषः। चकारात् शब्दधृतिकम्पाः समुच्चीयन्ते। ननूपलभ्यमानस्पर्शः पृथिव्या एवानुद्भूतरूपायाः स्यादिति चेन्न उद्भूतस्य पृथिवीस्पर्शस्योद्भूतरूपनान्तरीयकत्वात्। तथाच योऽयं स्पर्शोऽनुभूयते स क्वचिदाश्रितः स्पर्शत्वा-

---

विलक्षणता है। अतः 'अन्तेबालधिमत्ता' भी गोत्व का अनुमापक है। यहाँ पर 'अन्ते बालधि शब्द के उत्तर 'मतुप्' प्रत्यय का लोप करने से 'अन्तेबालधि' शब्द का गोशरीर अर्थ होता है, अतः यह गौ है, अन्तेबालधि 'पुच्छ का आधार होने से पूर्वदृष्ट गौ के समान ऐसे पूर्वदर्शित अनुमान से गोसिद्धि होने के कारण प्रान्तेबालधिमत्त्व भी गौ का लिङ्ग है। गलकम्बलादिरूप सास्नादिमत्ता तो लोकप्रसिद्ध ही गोसाधक लिङ्ग है ॥ ८ ॥

(नवम सूत्र का शंकरमिश्र अवतरण ऐसा देते हैं कि)—इस प्रकार सम्पूर्ण संसार के व्यवहारों में उपयोगी अनुमान का प्रत्यक्षानुसार प्रामाण्य स्थापन कर प्रस्तुत वायुप्रकरण आरम्भ करने की इच्छा करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—स्पर्शः च=और स्पर्शगुण भी, वायोः = वायुनामक द्रव्य का लिङ्ग है ॥९॥

भावार्थ—स्पर्शगुण तथा चकार से शब्द, धृति तथा कम्प क्रिया वायुद्रव्य के साधक हेतु हैं ॥ ९ ॥

उपस्कार—सूत्र में वायु का 'लिङ्गं' साधक है ऐसा अवशिष्ट आकांक्षित पद देना सूत्र के चकार से शब्द, धृति तथा कम्प इनका संग्रह किया जाता है। शंका—शरीर में उत्पन्न होनेवाला स्पर्शगुण अप्रगटरूपवाली पृथिवी का ही होगा।' (उत्तर)—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रगट पृथिवीस्पर्श के साथ प्रगटरूप की व्याप्ति है (अर्थात् जो पार्थिव द्रव्य उद्भूत स्पर्शाश्रय होता है, वह उद्भूत रूपवाला अवश्य होता है। अतः यदि शरीर में लगनेवाला स्पर्श पृथिवी का हो तो उसे दिखाई पड़ेगा नहीं दीखने से पृथिवी का नहीं है यह सिद्ध होता है)। (अतः शंकरमिश्र कहते हैं कि)—ऐसा होने से जो यह स्पर्श अनुभूत होता है, वह किसी द्रव्य के आश्रित

त् पृथिव्यादिस्पर्शवदिति सामान्यतोदृष्टेन स्पर्शाश्रयसिद्धौ स्पर्शाश्रयो न पृथिव्यादित्रयात्मकः नीरूपत्वात् नाकाशादिपञ्चात्मकः स्पर्शवत्त्वादितीतरबाधसहकृतेनाष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यसिद्धिः। एवं शब्दविशेषोऽपि वायौ लिङ्गम्, तथाहि असति रूपवद्द्रव्याभिघाते योऽयं पर्णादिशब्दसन्तानः स स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्याभिघातनिमित्तकः अविभज्यमानावयवद्रव्यसम्बन्धिशब्दसन्तानत्वात् दण्डाभिघातजभेरीशब्दसन्तानवत्। रूपवद्द्रव्याभिघातव्यतिरेकस्तु योग्यानुपलब्धिगम्यः। तच्च स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्यमष्टद्रव्यातिरिक्तमेव परिशेषात्। एवं धृतिविशेषोऽपि वायोर्लिङ्गम् तथाहि तृणतूलस्तनयित्नुविमानानां नभसि धृतिः स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्यसंयोगजा चेतनानधिष्ठितद्रव्यधृतित्वात् प्रवाहे तृण-

---

है स्पर्श होने से, पृथिवी जल आदि के स्पर्श के समान इस प्रकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान से स्पर्शगुण का आश्रय है यह सिद्ध होने पर वह स्पर्शाधार पृथिवी, जल तथा तेजरूप तीन द्रव्यस्वरूप नहीं है, रूपरहित होने से तथा आकाश से मन तक पाँच द्रव्यस्वरूप नहीं है, स्पर्शाश्रय होने से इन दोनों अनुमानों से वायु से भिन्न द्रव्यों की आधारता के बाध की सहायता से उक्त अनुमान से पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों से भिन्न स्पर्शगुण का आधार वायु सिद्ध होता है। (यहाँ पर 'योयम्' इत्यादिक से पृथिवी आदिकों में असम्बद्ध स्पर्श प्रदर्शित अनुमान में पक्ष है यह सूचित होता है, जिससे सिद्धसाधन दोष की शंका निरस्त हो जाती है। इसी बात को शंकरमिश्र ने 'न पृथिव्यादित्रयात्मक' इत्यादि आगे अनुमानों में कहा है)। (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—इसी प्रकार शब्दविशेष भी वायु का साधक लिङ्ग इस प्रकार है—रूपाश्रय द्रव्य का अभिघात नामक संयोग न रहते जो यह वृक्ष के पत्रादिकों में शब्द का सन्तान ('सन् सन्' ऐसा शब्द समूह) होता है, वह स्पर्श वेगवाले द्रव्य के अभिघातरूप निमित्त से उत्पन्न है, न विभक्त अवयववाले द्रव्य के शब्दसंतान होने से डण्डे से ताडित (अभिहृत) भेरी (नगाड़े) के शब्दसन्तान के समान योग्य जिसमें रूप वाले पृथिवी आदि द्रव्यों का अभिघात नहीं है यह उस प्रत्यक्षयोग्य रूपवान् द्रव्य के अभिघात की उपलब्धि न होने से जाना जाता है, अतः वह स्पर्श तथा वेगाश्रय द्रव्य पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न है यह स्पर्श तथा वेगवान् द्रव्य, पृथिवी आदि रूप नहीं हैं, रूपरहित होने से इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से परिशेषानुमान से जानना चाहिये। इसी प्रकार धृति (धारण) विशेष भी वायु का साधक लिङ्ग ऐसा है कि तृण, तूल (रूई), मेघ, विमान इत्यादिकों की आकाश में धृति (धारण), स्पर्श तथा वेगाश्रय द्रव्य के संयोग से उत्पन्न है, चेतन प्राणियों से आश्रितन होनेवाली धृति होने से जल के प्रवाह में तृण, काष्ठ तथा नौका के धृति के समान॥ (इस अनुमान में मन्त्रपाठादिकों से विषादि रोकने की धृति में उक्त संयोग से उत्पत्ति न होने के कारण व्यभिचारदोष-वारणार्थ हमारे ऐसे चेतन प्राणियों से आश्रित नहीं ऐसा हेतु में विशे-

काष्ठनौकादिधृतिवत् । अभिध्यानकृतविषादिधृतौ च अस्मदाद्यधिष्ठानमेव । एवं पक्षिकाण्डादिधृतावपि । न चेश्वराधिष्ठितत्वेन हेतुविशेषणासिद्धिः चेतनपदेन तदितरस्य विवक्षितत्वात् । एवं कम्पोऽपि वायुसत्त्वे लिङ्गम् तथाहि इदं रूपवद्-द्रव्याभिघातमन्तरेण तृणादौ कर्म स्पर्शवद्वेगवद् द्रव्याभिघातजं गुरुत्वप्रयत्न-वदात्मसंयोगाजन्यकर्मत्वात् नदीपूराहतवेतसवनकर्मवदिति । गुरुत्वपदेनादृष्टव-दात्मसंयोगद्रवत्वसंस्काराणामुपग्रहः तेनं तदजन्यकर्मत्वं हेतुः । ननु प्रत्यक्ष एव वायुः किमत्र लिङ्गगवेषणयेति चेन्न वायुर्न प्रत्यक्षः नीरूपबहिर्द्रव्यत्वात् गगन-वदित्यनुमानादतीन्द्रियत्वस्यैव सिद्धेः । ननु वायुः प्रत्यक्षः स्पर्शाश्रयत्वाद् घट-वदिति प्रत्यक्षत्वानुमानमिति चेन्न उद्भूतरूपवत्त्वस्यात्रोपाधित्वात् च । न रूपा-

---

पण दिया गया है । वृक्ष में भी भास होना, क्षतों (घावों) का संरोहण (पुनः ठीक होना) इत्यादिकों से अनुमित प्राणवायु की आधारता के कारण चेतनता शास्त्रोक्त होनेसे आकाश में पक्षिकाण्ड आदि की धृति में भी व्यभिचार न होगा । यदि कहो कि 'ईश्वर रूप-चेतन से आश्रित होने के कारण, प्रदर्शित अनुमान में 'अस्मदाद्यनधिष्ठितत्व' विशेषण ही असिद्ध है । (अतः असिद्धि दोष होगा) तो वह यह नहींकह सकते हैं क्योंकि हेतु में चेतनपद से ईश्वर भिन्न चेतन लिये जाते हैं) । इसी प्रकार कम्प भी वायु की सत्ता में साधक लिङ्ग है, अतः यह रूपवान् द्रव्य के अभिघात के विना होनेवाली तृणादिकों में कम्पनक्रिया स्पर्श तथा वेगवान् द्रव्य के अभिघात से उत्पन्न है । गुरुत्व तथा प्रयत्नवान् आत्मा के संयोग से न उत्पन्न क्रिया होने से, नदी के प्रवाह में अभिहत वेतस (बेंत) के वन में कम्पक्रिया के समान ऐसा अनुमान हो सकता है । (इस अनुमान में पतन क्षेपण (फेंकना) आदि कर्मों में व्यभिचारवारणार्थ 'अजन्य' तक हेतु में विशेषण दिया है) । इसमें चोर को खींचने वाले काँसे के पात्र की चोर के सामने जाने की गमन क्रियाओं में व्यभिचार-वारणार्थ गुरुत्वपद लक्षणावृत्ति से अदृष्टवान् आत्मा के संयोगादिके का बाधक है इस आशय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—गुरुत्वपद से यहाँ पर अदृष्टवान् आत्मा के संयोग, द्रवत्व तथा वेगादि संस्कार का संग्रह होता है अतः इनसे भी न उत्पन्न क्रिया हेतु का अर्थ है ऐसा जानना । किन्तु यहाँ पर पूर्व-पक्षी ऐसी शंका करता है कि वायु द्रव्य प्रत्यक्ष सिद्ध ही है तो उसमें साधक लिङ्ग को खोजने की क्या आवश्यकता है ? (उत्तर)—वायु प्रत्यक्ष नहीं है, रूपरहित बहिर्द्रव्य होनेसे आकाश के समान, इस अनुमान से वायु में अतीन्द्रियता ही सिद्ध होती है । यदि पूर्वपक्षी 'वायु प्रत्यक्ष है, स्पर्शाश्रय होने से, घट के समान' ऐसी वायु में प्रत्यक्षता का अनुमान करे, तो यह नहीं हो सकता क्योंकि उक्त पूर्वपक्षी के अनुमान में उद्भूतरूपाश्रयता उपाधि होने से (हेतुव्याप्यत्वासिद्ध है) ।

रूपादि गुण तथा आत्मा में प्रत्यक्षतारूप साध्य रहने पर रूप न होने से उद्भूत-

दावात्मनि च साध्याव्यापकमेतत्, पक्षधर्मबहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नस्य साधनधर्मावच्छिन्नस्य वा साध्यस्य व्यापकत्वात्। न च चाक्षुषप्रत्यक्षत्वे तत्तन्त्रं तत्रैव तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् स्पार्शनप्रत्यक्षत्वे तु योग्यस्पर्शवत्तामात्रस्य तन्त्रतेति वाच्यम् रूपान्वयव्यतिरेकयोरुभयत्रापि तन्त्रत्वात्. न ह्युभयसिद्धस्पर्शेनैव प्रत्यक्षता रूपस्य ग्रहमन्तरेण दृष्टा। किञ्च यदि वायुः प्रत्यक्षः स्यात् सङ्ख्यादिसामान्यगुणोपलम्भेऽपि तन्त्रं स्यात्। नन्वस्त्येव फूत्कारादौ सङ्ख्यायाः परिमाणस्य च हस्तवितस्त्यादेः उभयपार्श्ववर्तिनोर्वाय्वोः पृथक्त्वस्य च परत्वापरत्वयोश्च प्रत्यक्षता वायुजातीयस्य व्यक्तिपरतया तु न तत्रापि नियमः पृष्ठलग्नवस्त्रादौ तदनुपलम्भादिति चेन्न व्यक्तिपरतयैव नियमात् पृष्ठलग्नवस्त्रादौ चार्जवावस्थाने सङ्ख्यादीनां ग्रहणात्, अनार्जवावस्थानदोषात्तु तदग्रहः। उद्भूतरूपस्पर्शौ मिलितावेव बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षत्वे तन्त्रे प्रभाया नयनगतपीतद्रव्यस्य चन्द्रमहसश्च स्पर्शानुद्भवादप्रत्यक्षत्वम् निदाघोष्मणोर्विभक्तावयवाप्यद्रव्याणाञ्च

रूपवत्ता उपाधि नहीं होगा; क्योंकि साध्य का व्यापक तथा साधन का अव्यापक ही उपाधि होता है)। ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि केवल साध्य का व्यापक न होने पर भी पक्ष (वायु) के बहिर्द्रव्यतारूप धर्म से युक्त अथवा साधनधर्मविशिष्ट साध्य का व्यापक है (ऐसा उपाधि का लक्षण होने के कारण आत्मा में बहिर्द्रव्यता तथा रूप में द्रव्यता न होने से उद्भूतरूपवत्ता में उपाधि लक्षण आजायगा, क्योंकि यह श्याम है, मित्र का पुत्र होने से इत्यादि अनुमान में शाकपाकजन्यता रूप उपाधि में अव्याप्ति-वारण के लिये साध्यव्यापक का 'पक्षधर्मविशिष्ट साध्यव्यापक' ऐसा अर्थ करना आवश्यक है।), (शंकरमिश्र कहते हैं कि पूर्वपक्षी यह यहाँ नहीं कह सकता कि)—उद्भूतरूप चाक्षुष प्रत्यक्ष ही में कारण है, क्योंकि चाक्षुषप्रत्यक्ष में ही रूप होने से प्रत्यक्ष का होना, न होने से न होना यह अन्वय तथा व्यतिरेक का अनुसरण होता है, स्पार्शनप्रत्यक्ष में तो प्रत्यक्षयोग्य स्पर्शगुण का होना ही प्रयोजक है—क्योंकि रूपगुण का अन्वय तथा व्यतिरेक चाक्षुष तथा स्पार्शन दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष में कारण है। क्योंकि प्राचीन तथा नवीन दोनों मत से सिद्ध स्पर्शगुण ही से द्रव्य का प्रत्यक्ष विना रूप के ग्रहण से दिखाना है। (अर्थात् प्राचीन तथा नवीन मत से सिद्ध स्पार्शगुण स्पर्शनप्रत्यक्ष से कारण होने पर भी रूप को भी कारणता है ऐसा प्राचीन नैयायिक कहते हैं, अतः उनके मत में बहिर्द्रव्यों के प्रत्यक्ष मात्र में रूप को कारणता है यह आशय यहाँ शंकरमिश्र का है।)। (यदि इस पर ऐसी शंका हो कि 'बहिर्द्रव्यों के प्रत्यक्षमात्र से स्पर्श ही को कारण क्यों न माना जाय, क्योंकि प्रभा (प्रकाश) को देखता हूँ, इस प्रकार के ज्ञान के समान वायु को स्पर्श करता हूँ' ऐसा भी अनुभव होता है, उसका अपलाप (न मानना) नहीं हो सकता, इस कारण बहि-

रूपानुद्भवादप्रत्यक्षत्वमिति न्यायवार्त्तिकतात्पर्य्यटीकाकृतः। स्पर्शानुद्भवेऽपि प्रभादीनां प्रत्यक्षतैव अत एव चान्द्रालोके नभसि पक्षिकाण्डादिसंयोगविभागयोः प्रत्यक्षतैवेति सम्प्रदायविदः। न चोद्भूतस्पर्शवत्त्वं सामान्यतो बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षताप्रयोजकमिति वाच्यम्, इन्द्रनीलप्रभाया अप्रत्यक्षतापत्तेः। न चोद्भूतविशेषगुणवत्त्वमेव तन्त्रम् आकाशस्यापि प्रत्यक्षतापत्तेः। न च जन्यमहत्त्व-

---

द्रव्यों के सम्पूर्ण प्रत्यक्षों में रूप को कारण नहीं मान सकते तो इस दोष के ही कारण शंकरमिश्र वायु का प्रत्यक्ष मानने में दूसरा ऐसा दोष देते हैं कि)—और यदि वायु का प्रत्यक्ष माना जाय तो उसके संख्या सामान्य गुणों की भी उपलब्धि होगी।

शंका—फूत्कारादिकों में 'यह एक वायु है ये दो हैं' इस प्रकार संख्या का तथा 'एक हाथ है या एक वित्ता है' इस प्रकार परिमाण का, और पार्श्वभाग (बगलों) से आये दो वायु द्रव्यों के पृथक्त्व गुण का, तथा 'यह वायु दूर है यह समीप है' इत्यादि रूप से परत्व तथा अपरत्वगुण का भी ग्रहण होता ही है वायुत्व जाति के सम्पूर्ण वायु में ऐसा नियम तो आपके मत से भी नहीं हो सकता, क्योंकि पीठ पर लगे हुए वसन आदि में संख्यादि गुण का ग्रहण नहीं होता।

उत्तर—वायुत्व जातिवाले सम्पूर्ण वायु व्यक्तियों में संख्यादि गुणों को ग्रहण का नियम है, पीठ पर लगा हुआ वस्त्र यदि सीधा है तो संख्यादि गुणों का ग्रहण होता है। वस्त्र सीधा न रहने रूप दोष के कारण संख्यादिकों का ग्रहण नहीं होगा। (यहाँ पर यदि रूप गुण को बहिर्द्रव्य प्रत्यक्ष में कारण माना जाय तो प्रभा के संख्यादि गुणों का ज्ञान होने लगेगा, स्पर्श को कारण मानें तो वायु में संख्यादिकों का ज्ञान होने लगेगा, तो बहिर्द्रव्य सामान्यरूप से प्रत्यक्ष में क्या कारण है इसमें एक पक्ष में नियामक न होने के कारण भारद्वाज (वार्तिककार) तथा वाचस्पतिमिश्र का मत दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—उद्भूतरूप तथा उद्भूतस्पर्श दोनों ही मलिन बहिर्द्रव्य प्रत्यक्ष में प्रयोजक हैं, प्रभा (प्रकाश तथा चक्षु में वर्तमान पित्ती रूप पीतद्रव्य तथा चन्द्रमा के स्पर्श के अनुद्भूत होने के कारण उनके स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं होता। निदाघ (ग्रीष्मऋतु) तथा ऊष्मा (गरमी) के तथा विभक्त अवयववाले जलद्रव्यों के भी रूप के उद्भूत न होने से प्रत्यक्ष नहीं होता। ऐसा न्यायवार्तिक के कर्त्ता उद्योतकर (भारद्वाज) एवं न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका के कर्त्ता वाचस्पतिमिश्र दोनों का मत है।

वायु का प्रत्यक्ष न मानने वाले प्राचीन नैयायिकों का ऐसा मत है कि स्पर्श गुण के उद्भूत न होने पर भी प्रभा इत्यादि प्रत्यक्ष ही हैं, इसी कारण चन्द्रमा के प्रकाश वाले आकाश में पक्षी तथा शरकाण्ड इत्यादिकों का संयोग तथा विभाग प्रत्यक्ष होते ही हैं, ऐसा न्यायशास्त्र के सम्प्रदाय को जानने वाले कहते हैं। (किन्तु नवीन नैयायिक ऐसा कहते हैं कि प्रभा के प्रत्यक्ष के समान वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष भी

समानाधिकरणोद्भूतविशेषगुणवत्त्वं तथा रसनाग्रवर्त्तिपित्तद्रव्यस्य तैक्तयोद्भवेऽप्यप्रत्यक्षत्वात्, तस्मादुद्भूतरूपवत्त्वमेवात्मेतरद्रव्यप्रत्यक्षतातन्त्रम् तच्च वायौ नास्तीत्यप्रत्यक्षो वायुः ॥ ९ ॥

ननु प्रत्यक्षतो दृष्टमिह लिङ्गं नास्ति न हि वह्निधूमयोरिवेह प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहः। किञ्च पृथिव्याद्यन्यतमस्यैव स्पर्शोऽप्ययं भविष्यतीत्यत आह—

न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः ॥ १० ॥

अनुभवसिद्ध होने के कारण रूप तथा स्पर्श दोनों में से वहिर्द्रव्य प्रत्यक्ष में कोई कारण नहीं है। तब बहिर्द्रव्य प्रत्यक्षमात्र में सामान्य कारण क्या है। इस प्रश्न के उत्तर में नवीनों का कहना है कि कुछ भी नहीं। अथवा आत्मा में न रहने वाले शब्दभिन्न विशेष गुणों का आधार होना ही प्रयोजक है। वायु तथा प्रभा के संख्यादि गुणों का कहीं-कहीं दोष से ग्रहण नहीं होता।

(उक्त प्राचीन मत पर शंका दिखाते हुए शंकरमिश्र आगे ऐसा कहते हैं कि) 'सामान्य रूप से बहिर्द्रव्यों के प्रत्यक्ष में उद्भूत स्पर्श की आधारता होना प्रयोजक है' ऐसा नवीन मत से नहीं कह सकते क्योंकि इन्द्रनील (नीलम) मणि में उद्भूत स्पर्श के न होने से उसकी प्रभा का प्रत्यक्ष होता है वह नहीं होगा यह आपत्ति आ जायगी। यदि इस दोष के वारणार्थ उद्भूत विशेष गुण का होना बहिर्द्रव्य प्रत्यक्ष में प्रयोजक है, ऐसा कहा जाय तो (इन्दनील में उद्भूत रूप विशेष गुण होने से उसका प्रत्यक्ष तो हो जायगा) किन्तु जिह्वा के अग्र में वर्तमान पित्त द्रव्य के तिक्ततारूप विशेष गुण उद्भूत होने पर उसका जो प्रत्यक्ष नहीं होता वह होने लगेगा। अतः उद्भूत रूप ही आत्मा से भिन्न द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने में कारण है, और वह वायु द्रव्य में नहीं है इस कारण वायु का प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ ९ ॥

(दशम सूत्र का अवतरण शंकरमिश्र देते हैं कि—) शंका है—'इस वायु द्रव्य की सिद्धि होने में प्रत्यक्ष से देखा हुआ कोई साधक लिङ्ग नहीं है, क्योंकि वह्नि तथा धूम के समान प्रत्यक्ष से स्पर्शादि वायुसाधक लिङ्गों का व्याप्तिज्ञान नहीं होता। तथा यह अनुभूयमान स्पर्श पृथिव्यादि द्रव्यत्रय में से ही किसी एक का हो सकेगा'— इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—न च = और नहीं, दृष्टानां = दीखने वाले द्रव्यों का, स्पर्श = स्पर्श गुण है, इति = इस कारण, अदृष्टलिङ्गः = अप्रत्यक्ष लिङ्गवाला है, वायुः = वायु नामक द्रव्य ॥ १० ॥

भावार्थ—वायुसाधक अनुमान में पक्ष किया हुआ अनुभूयमानस्पर्श प्रत्यक्ष होने वाले पृथिवी, जल तथा तेज इन तीन द्रव्यों का नहीं है, रूप के साथ गृहीत न होने से इस कारण अप्रत्यक्ष व्याप्तिज्ञान वाले स्पर्श लिङ्ग से वायु की सिद्धि होती है ॥१०॥

अयं स्पर्शो यः पक्षः क्रियते स दृष्टानां पृथिव्यप्तेजसां न भवति रूपासहचरत्वात्, तथा चायं स्पर्शः क्वचिदाश्रित इत्यनुमेयमित्यदृष्टलिङ्गः। सामान्यतोदृष्टलिङ्गोऽपि पक्षधर्मताबलादायात इत्यर्थः। यद्यपि दृष्टमेव स्पर्शादिचतुष्कं लिङ्गमिति तथापि वायुना सहागृहीतव्याप्तिकत्वाददृष्टलिङ्गत्वमुक्तम् न ह्ययं धर्मी वायुरिति प्रतिज्ञाय वायुः साधयितुं शक्यते, तथाच सामान्यतोदृष्टादेवेतरबाधसहकृताद्वायुसिद्धिरिति भावः॥ १०॥

उपलभ्यमानस्पर्शाश्रयमवयविनं साधयित्वा परमाणुलक्षणं वायुं साधयितुमाह—

अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम्॥ ११॥

द्रव्यमाश्रयभूतमस्यास्तीति द्रव्यवत् न द्रव्यवत् अद्रव्यवत् द्रव्यानाश्रित-

---

उपस्कार—यह जो सर्वानुभव शरीर के त्वगिन्द्रिय से अनुभूयमानस्पर्श वायुसाधक अनुमान में पक्ष किया जाता है, वह प्रत्यक्ष होनेवाले पृथिवी, जल तथा तेज द्रव्यों का नहीं है, (क्योंकि इनका स्पर्श रूप के साथ होता है) और पक्षरूप स्पर्शरूप के साथ नहीं है, तथाच ऐसा होने से यह अनुभूयमानस्पर्श, किसी आधार में आश्रित है ऐसा अनुमान करना पड़ेगा, इस कारण वायुद्रव्य अप्रत्यक्ष लिंग वाला है। (अर्थात् सामान्यतोदृष्ट अनुमान काल के प्राप्त हुए स्पर्श गुण से (जो पृथिव्यादिकों का नहीं हो सकता) उसका कोई आश्रय अवश्य है इस प्रकार प्राप्त हुआ पक्षवृत्तिता के बल से वायुद्रव्य सिद्ध होता है। यद्यपि पूर्वप्रदर्शित वायुद्रव्य के साधक स्पर्श, शब्द, धृति तथा कम्प चारों लिंगों का प्रत्यक्ष होता है, तथापि उनकी वायुद्रव्य के साथ (वह्नि तथा धूम की महानस में प्रत्यक्ष से व्याप्तिग्रह के समान) व्याप्ति का ग्रहण न होने के कारण अप्रत्यक्षलिङ्गता कही है, क्योंकि यह वायु है ऐसी प्रतिज्ञा कर वायुद्रव्य की सिद्धि नहीं की जा सकती, ऐसा होने से पृथिव्यादि द्रव्यत्रय के पूर्वोक्त प्रकार बाधज्ञान की सहायता वाले प्रदर्शित सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान से ही वायुद्रव्य की सिद्धि होती है॥ १०॥

इस प्रकार उपलब्ध होने वाले स्पर्शगुण के आधार अवयवि (कार्य) रूप वायु की सिद्धि कर, परमाणु (नित्य) रूप वायु की सिद्धि करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अद्रव्यवत्त्वेन = द्रव्याश्रित न होने से, द्रव्यम् = परमाणुरूप वायु द्रव्य है॥ ११॥

भावार्थ—जिस प्रकार आकाशद्रव्य किसी द्रव्य में आश्रित न होने से नित्य है उसी प्रकार किसी द्रव्य के आश्रित न होने से परमाणुरूप (वायु द्रव्य भी नित्य है यह सिद्ध होता है)॥ ११॥

उपस्कार—द्रव्य जिसका आश्रय है उसे 'द्रव्यवत्' द्रव्याधार वाला कहते हैं,

मित्यर्थः। तथा चाकाशवत् परमाणुलक्षणो वायुर्द्रव्यम् अन्येषां पदार्थानां द्रव्याश्रितत्वात्। आश्रितत्वञ्चान्यत्र नित्यद्रव्येभ्य इत्यभिधानात् परमाणुभ्यां द्व्यणुकारम्भात् द्व्यणुकादिप्रक्रमेणावयविनो महत आरम्भस्योपपादनीयत्वादिति ॥ ११ ॥

वायुपरमाणोर्द्रव्यत्वसाधकं हेतुद्वयं समुच्चिन्वन्नाह—

क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ॥ १२ ॥

वायुपरमाणुर्द्रव्यमिति शेषः। यद्यपि द्रव्यत्वे सिद्धे क्रियावत्त्वं गुणवत्त्वञ्च सिध्यति तत्सिद्धौ च द्रव्यत्वसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः तथाप्युपलभ्यमानस्पर्शाश्रयस्यावयविनो मूलभूतस्य परमाणोरसमवायिकारणसंयोगान्यथानुपपत्त्या क्रिया-

---

जो द्रव्याश्रित नहीं वह 'अद्रव्यवत्' अर्थात् द्रव्यानाश्रित (द्रव्य में न रहनेवाला) होता है। ऐसा होने से परमाणुरूप वायु द्रव्य है, द्रव्यानाश्रित होने से, आकाश के समान इस अनुमान से परमाणुस्वरूप वायु भी नित्य है यह सिद्ध होता है। क्योंकि कार्यरूप पदार्थ द्रव्याश्रित होते हैं तथा 'आश्रितता नित्यद्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्यों में रहती है' ऐसा प्रशस्तदेव ने भी भाष्य में कहा है, अतः दो परमाणुओं से द्व्यणुक की उत्पत्ति होकर द्व्यणुक से त्र्यणुक इत्यादि क्रम से महत्परिमाण वाले अवयविद्रव्य की उत्पत्ति होती है यह सिद्ध भी करना है। (प्रदर्शित अनुमान से द्रव्यानाश्रितत्व हेतु से परमाणु द्रव्य की सिद्धि करने पर द्रव्यत्व के व्याप्त अवयत्व के न रहने से बाध दोष आ जायगा' ऐसी शंका निरस्त हो जाती है, क्योंकि आकाश में व्यभिचार होने के कारण जो द्रव्य होता है वह अवयव का ही आधार होता है ऐसी व्याप्ति नहीं हो सकती)॥ ११ ॥

(द्वादशसूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—परमाणुरूप वायु में द्रव्यत्व की सिद्धि के लिये दो हेतुओं का सूत्रकार संग्रह करते हुए कहते हैं, अर्थात् द्रव्यानाश्रितत्व हेतु व्यभिचारी होने वाली निष्क्रियता तथा निर्गुणता हेतु से परमाणु में द्रव्यत्वाभाव सिद्ध हो जायगा ऐसी शंका कर द्रव्यत्व-साधन द्वारा उक्त हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—क्रियावत्त्वात् = क्रिया के आधार होने से, गुणवत्त्वात् च = और गुणों के आधार होने से भी (वायु परमाणु द्रव्य है)॥ १२ ॥

भावार्थ—क्रियावत्ता तथा गुणाधारता रूप द्रव्यसामान्य के लक्षण के अनुसार परमाणु रूप वायुद्रव्य में भी क्रिया तथा गुणों की आधारता होने से परमाणुरूप वायु भी द्रव्य है यह सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

उपस्कार—सूत्र में वायु परमाणु द्रव्य है ऐसा आकांक्षित (अपेक्षित) अवशिष्ट भाग देना अर्थात् सूत्र की ('क्रियावान् तथा गुणवान् होने से परमाणुरूप वायुद्रव्य है' (ऐसी व्याख्या करना)। यद्यपि वायु में द्रव्यता सिद्ध होने पर क्रियाधारता तथा

वत्त्वम्, अवयविस्पर्शरूपादेः कारणगुणपूर्वकत्वनियमाद् गुणवत्त्वञ्च सिद्धं ताभ्याञ्च द्रव्यत्वमित्यदोषः। तत्र क्रियावत्त्वं सपक्षैकदेशवृत्ति गुणवत्त्वञ्च सपक्षव्यापकम्। चकारात् समवायिकारणत्वं द्रव्यत्वसाधकं समुच्चिनोति। ननु परमाणावेव न प्रमाणं कस्य द्रव्यत्वं साध्यत इति चेन्न स्थूलकार्य्यस्य क्रियाविभागादिन्यायेन भज्यमानस्याल्पतरतमादिभावात् यतो नाल्पीयः स एव परमाणुः। अवयवावयविप्रसङ्गस्यानवधित्वे अनन्तावयवत्वाविशेषे सुमेरुसर्षपादीनां परिमाणाविशेषापत्तिः कारणसंख्याविशेषमन्तरेण परिमाणप्रचययोरपि परिमाणभेदं प्रत्यतन्त्रत्वात्। न च विनाशावधिरेवायम् अवयवावयविप्रसङ्गः

गुणाधारता सिद्ध होती है और उनके सिद्ध होने पर ही (द्रव्यलक्षण आने से) द्रव्यत्व सिद्ध होगा, इस प्रकार अन्योन्याश्रय (परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होना) दोष आ सकता है, तथापि उपलब्ध होने वाले स्पर्शगुण के आधार अवयवि (कार्यरूप) वायु के मूल कारण रूप परमाणु के असमवायिकारणरूप परस्पर संयोग के न बन सकने के कारण परमाणुओं में क्रियावत्त्व अवश्य मानना पड़ेगा, तथा अवयवि वायु द्रव्य के स्पर्शरूप आदि गुण कारण गुण से ही होते हैं ऐसा नियम होने से गुणवत्ता भी सिद्ध है, इस प्रकार क्रियावत्त्व तथा गुणवत्ता से द्रव्यत्व सिद्ध होता है। (अर्थात् द्रव्यत्वसिद्धि के विना गुणवत्त्व तथा क्रियावत्त्व सिद्ध होने से उक्त अन्योन्याश्रय दोष न होगा) उनमें से क्रियावत्त्वरूप हेतु आकाशादिकों में न होने से सपक्ष के एक देश में रहता है और गुणवत्त्वरूप हेतु सम्पूर्ण द्रव्यों में रहने से सपक्ष व्यापक है। सूत्र के चकार से समवायिकारण होना भी द्रव्यत्वजाति का साधक है ऐसा क्रियावत्त्व तथा गुणवत्त्वरूप द्रव्यतासाधक तृतीय द्रव्य लक्षण का संग्रह करता है।

शंका—परमाणु के सद्भाव में ही प्रमाण नहीं है तो किसमें द्रव्यत्व की सिद्धि करेंगे?

उत्तर—ऐसा नहीं, क्योंकि स्थूल अवयविरूप कार्य द्रव्यों का प्रथम क्रिया उत्पन्न होती है क्रिया से विभाग उत्पन्न होता है। इस नियम के अनुसार नष्ट होने वाले अवयवि द्रव्यों के अल्प (छोटा), अल्पतर (उससे छोटा) इस प्रकार अवयवों की परम्परा में जिससे अधिक अल्प (छोटा) अवयव नहीं होता वही परमाणु कहाता है। यदि इस अवयवि का यह अवयव है, इसका यह इस परम्परा की परमाणु अवयवरूप अवधि (मर्यादा) न मानी जाय तो संपूर्ण अवयवि द्रव्यों के अनन्त अवयवतारूप समानता के होने से सुमेरुपर्वतरूप अवयवि द्रव्य तथा सर्षप (सरसों) रूप अवयवि आदि द्रव्यों का समान परिमाण हो जायँगे यह आपत्ति आ जायगी। क्योंकि विना संख्या के विशेष के परिमाण तथा प्रचय नाम शिथिलताप्रापक संयोगविशेष भी परिमाण के भेद में कारण नहीं हो सकता। शंका—उक्त अवयवावयविधारा का नाश

अन्त्यस्य निरवयवत्वेन विनाशानुपपत्तेः सावयवत्वे च निरवधित्वापत्तेस्तत्र च दोषस्योक्तत्वात्। ननु त्रुटिरेवावधिर्दृश्यमानत्वाददृश्यमानकल्पनायां माना-भावादिति चेन्न तस्य चाक्षुषद्रव्यत्वयोरावश्यकत्वात् तस्मात् त्रसरेण्ववयवाव-यव एव परमाणुर्यथा पृथिव्यादौ तथा वायावपीति सिद्धो वायुपरमाणुः ॥१२॥

ननु क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च घटादिवत् परमाणोरनित्यत्वमनुमेयमत आह–

अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥ १३ ॥

परमाणुलक्षणवायोरिति शेषः। द्रव्यं हि समवायिकारणासमवायिकारणा-न्यतरनाशान्नश्यति परमाणोस्तु निरवयवतया न तदुभयमस्ति तथाच विनाश-

---

होना ही अवधि क्यों न माना जाय ? (उत्तर)—अन्तिम अवयव के निरवयव (अवयव-हीन) होने से विनाश नहीं हो सकता। यदि अन्तिम अवयव को अवयवसहित माना जाय तो उसका भी अवयव उसका भी अवयव इस प्रकार (निरवधिता) अवधि न होना यह आपत्ति आने के कारण पूर्वोक्त (मेरु-सर्षप के समान परिमाण होना) दोष वैसे ही रहेगा। शंका—तीन द्व्यणुकों से तथा छ परमाणुओं से उत्पन्न (झरोखों में) सूक्ष्म रज (धूल) रूप त्र्यणुक नामक घटादि द्रव्यों का कारण में ही अवयवावयवधारा की विश्रान्ति क्यों न मानी जाय ? क्योंकि वह दृष्टिगोचर होता है, अतः अदृश्य (न दीखने वाले) परमाणु मानने की क्या आवश्यकता है। (उत्तर)—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि त्र्यणुक में चाक्षुष प्रत्यक्ष की योग्यता होने से महत् परिमाण तथा उद्भूत रूप गुण होना आवश्यक है, इस कारण अणु के अवयव द्व्यणुक का अवयव ही जिस प्रकार पृथिवी आदि परमाणु कहाता है उसी प्रकार वायु में भी वायुपरमाणु सिद्ध होते हैं अर्थात् त्र्यणुक अवयववान् है, चाक्षुष प्रत्यक्ष होने से घट के समान इस अनुमान से त्र्यणुक के अवयव द्व्यणुक की सिद्धि होने पर द्व्यणुक सावयव है, अपने से बड़े को उत्पन्न करने के कारण कपाल के समान इस अनुमान से परमाणु सिद्ध होते हैं ॥ १२ ॥

यदि 'क्रियावत्त्व तथा गुणवत्त्वरूप द्रव्यत्वसाधक दोनों हेतु स्वरूपासिद्ध हैं नहीं तो इन्हीं दोनों हेतुओं से घटादिकों को उदाहरण रखकर परमाणुओं में अनित्यता भी सिद्ध होगी' ऐसी शंका हो तो उसके समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अद्रव्यत्वेन=द्रव्याश्रित न होने से, नित्यत्वं = नित्यता, उक्तम्=कही है

भावार्थ—परमाणु वायु के द्रव्याश्रित न होने के कारण उन्हें नित्य मानना आव-श्यक है अर्थात् घटादि दृष्टान्त से परमाणुओं में क्रियावत्त्वादि हेतुद्वय से अनित्यता-साधन करने में सामवयवत्व उपाधि होने से निरुपाधिक उपाधि रहित द्रव्यत्व हेतु से नित्यता ही मानना उचित है ॥ १३ ॥

उपस्कार—सूत्रके 'उक्त' इस पद के अर्थ की परमाणुरूप वायु की ऐसा अवशिष्ट

काभावान्न विनश्यति। क्रियावत्त्वे गुणवत्त्वे च हेतौ सावयवत्वमुपाधिः। स च पक्षधर्मद्रव्यत्वावच्छिन्नसाध्यव्यापकः केवलसाध्यव्यापकस्तु प्रागभाव-प्रतियोगित्वमुपाधिः ॥ १३ ॥

द्व्यणुकादिप्रक्रमेणारम्भसिद्धौ सिद्धमपि वायुनानात्वं प्रकारान्तरेणापि साधयितुमाह—

वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्वलिङ्गम् ॥ १४ ॥

वायुसंमूर्च्छनमिति। वाय्वोर्वायूनां वा संमूर्च्छनं संयोगविशेषः। स च समान-

---

पद लेकर परमाणुरूप वायु की अनित्यता कही है ऐसा अर्थ करना। क्योंकि समवायि अथवा असमवायि कारण इन दो में से एक किसी के नाश से द्रव्य का नाश होता है, किन्तु परमाणु अवयवरहित होने से उनका न कोई समवायिकारण न असमवायि-कारण है अतः नाशक के न होने से परमाणुओं का नाश नहीं होता। पूर्वोक्त घटादि दृष्टान्त से परमाणुओं में अनित्यतासाधक क्रियाश्रयत्व तथा गुणाश्रयत्व रूप दोनों हेतुओं में सावयवत्व उपाधि है, (किन्तु क्रिया को लेकर अनित्यता साध्य का अव्यापक है अतः शंकरमिश्र कहते हैं)—कि वह सावयवत्व रूप उपाधि पक्ष (परमाणु वायु द्रव्य) के धर्म द्रव्यत्व से विशिष्ट अवयवत्वरूप उपाधि अनित्यता साध्य का व्यापक है (क्रिया में द्रव्यत्व न होने से उसको लेकर साध्य की अव्यापकता नहीं दे सकते), और केवल अनित्यता साध्य का व्यापक तो प्राग् अभाव का प्रतियोगी होना ही उपाधि होता है ॥ १३ ॥

द्व्यणुक से त्र्यणुक इत्यादि क्रम से वायुकार्यद्रव्य की उत्पत्ति सिद्ध होने के कारण यद्यपि वायुद्रव्य अनेक हैं यह सिद्ध है तथापि प्रकारान्तर से सिद्ध करने के लिये अथवा आकाश के समान वायुद्रव्य भी एक ही क्यों न माना जाय ? इस शंका पर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—वायोः = वायुद्रव्य का, वायुसम्मूर्च्छनं = वायु का संयोग, नानात्व-लिङ्गम् = अनेकता का साधक है ॥ १४ ॥

भावार्थ—एक वायुद्रव्य में दूसरे वायुओं का संयोगविशेषरूपसंमूर्च्छन ही साधक लिङ्ग है, अतः वायुत्व यह वायु इस वायु से भिन्न है इस प्रकार भेद के प्रतियोगी तथा अनुयोगी दोनों वायुओं में वर्तमानता रूप दोनों सम्बन्ध से भेदाधार है, उक्त दोनों सम्बन्ध से, संमूर्च्छनवान् होने से, नदीप्रवाह के समान, ऐसा अनुमान सूत्रकार को अभि-प्रेत है। संमूर्च्छन में ही क्या प्रमाण है, इस प्रश्न के उत्तर में वायु, संमूर्च्छनवान् है, तृणादिकों के ऊर्ध्वगमन से यह अनुमान ही प्रमाण है यह भी सूत्रकार को अभिमत जानना ॥ १४ ॥

उपस्कार—(सूत्र के 'वायुसंमूर्च्छनं' इस पद की व्याख्या उसकी प्रतीक लेकर

वेगयोर्विरुद्धदिक्क्रिययोः सन्निपातः। स च तृणतूलकादेरूर्ध्वगमनेनानुमीयते। वाय्वोरूर्ध्वगमनस्य सन्निपातस्य चातीन्द्रियत्वात्। तृणादीनान्तु प्रत्यक्षाणामूर्ध्वगमनलक्षणायाः क्रियायाः प्रत्यक्षायाः स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्याभिघातनोदनान्यतरजन्यत्वमनुमीयते। तथाहि तिर्यग्गमनस्वभावस्य वायोरूर्ध्वगमनं परस्परप्रतीघातमन्तरेणानुपपद्यमानं परस्परप्रतीघातं साधयति नदीपयःपूरयोस्तथादर्शनात् तदूर्ध्वगमनञ्च तृणाद्यूर्ध्वगमनानुमेयं न हि तृणादीनामूर्ध्वगमनं स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्याभिघातनोदनान्यतरद् विनेति ॥ १४ ॥

नन्वदृष्टलिङ्गो वायुरित्युक्तं तथा च कथमेतदित्यत आह—

वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ॥ १५ ॥

शंकरमिश्र करते हैं कि)—दो वायु अथवा अनेक वायुओं के संयोगविशेष को संमूर्च्छन कहते हैं। और वह समान वेग वाले तथा विरुद्ध दिशाओं में क्रिया होने से चलने वाले दो वायुओं का सन्निपात (मिलन) कहाता है। और उस मिलन का तृण (तिनका) रूई इत्यादि लघु (हलके) द्रव्यों की ऊर्ध्वगति से अनुमान किया जाता है, क्योंकि दो वायुओं का ऊर्ध्वगमन तथा मिलन अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष नहीं) है। किन्तु प्रत्यक्ष दीखने वाले तृणादिकों की प्रत्यक्ष दिखाने वाली ऊर्ध्वगतिरूप क्रिया से स्पर्शवान् तथा वेगाश्रय द्रव्य के अभिघात संयोग से वह उत्पन्न है ऐसा अनुमान किया जाता है। वह इस प्रकार है कि तिर्यग् (तिरछे) गमनस्वभाव वाले वायु की ऊर्ध्वप्रदेश में गति परस्पर के प्रतिघात (टक्कर) के विना न होने के कारण वायुओं के परस्पर प्रतिघात को सिद्ध करती है, क्योंकि नदी के जल के दो प्रवाहों में ऐसा देखने में आता है कि (विना दोनों प्रवाहों के टक्कर के प्रवाहों का ऊर्ध्वगति नहीं होती। तो भी इससे वायु की ऊर्ध्वगति कैसे सिद्ध होगी, इस प्रश्न के उत्तर में तो शंकरमिश्र आगे कहते हैं)—कि वायु की ऊर्ध्वगति भी तृणादिकों की ऊर्ध्वगति से अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्ध हो सकती है, क्योंकि तृणादिकों की ऊर्ध्वगति स्पर्श तथा वेगाश्रय द्रव्य के अभिघात तथा नोदन नामक संयोगों में से किसी एक संयोग के विना नहीं हो सकती। (अर्थात् तृणादिकों का ऊर्ध्वगमन, रूपवान् द्रव्य के अभिघात न रहते स्पर्श तथा वेगाधार द्रव्य के अभिघात से उत्पन्न है, ऊर्ध्वगमन होने से, हस्त से चलाये हुये गेंद की ऊर्ध्वगति के समान, इस अनुमान से स्पर्श तथा वेगाधार वायु नामक द्रव्य में ऊर्ध्वगमन सिद्ध होता है ॥ १४ ॥

शंका—वायु द्रव्य प्रत्यक्ष न होने वाली व्याप्तिवाले लिङ्ग से जाना जाता है ऐसा दशम सूत्र में कहा है, अतः वायु में ऊर्ध्वगति की सिद्धि कैसे हो सकती है ? इस शंका का उत्तर सूत्रकार देते हैं—

पदपदार्थ—वायुसन्निकर्षे = वायु के सम्बन्ध में, प्रत्यक्षाभावात् = प्रत्यक्ष न होने से, दृष्टं = प्रत्यक्ष, लिङ्गं = साधक हेतु, न = नहीं, विद्यते=है ॥ १५ ॥

दृष्टं हि लिङ्गं यत्र प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहस्तदुच्यते यथा धूमोऽग्नेः । वायुसन्निकर्षे च वायुना सहाविनाभावे प्रत्यक्षं नास्ति न हि भवति यो यः स्पर्शकम्पादिमान् स वायुरिति कस्यचित् प्रत्यक्षं वायोरेवाप्रत्यक्षत्वादत एव तादृशं प्रत्यक्षगृहीतव्याप्तिकं लिङ्गं नास्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

तर्हि वायोरनुमानमेव कथमित्यत उक्तमेव द्रढयितुमाह—

सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥ १६ ॥

अनुमानं हि त्रिविधं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टम् । तथा चायमनुभूयमानस्पर्शः क्वचिदाश्रितः स्पर्शत्वात् गुणत्वाद्वेति समान्यतोदृष्टादेवेतरबाधसह-

---

भावार्थ—वायु द्रव्य के साथ अनुभूयमान स्पर्शादि लिङ्ग (हेतुओं) के व्याप्ति का वह्नि तथा धूम के समान प्रत्यक्ष न होने के कारण प्रत्यक्ष से गृहीत व्याप्ति वाला वायुसाधक लिङ्ग नहीं है ॥ १५ ॥

उपस्कार—प्रत्यक्ष लिंग वही होता है जिसमें प्रत्यक्ष से, महानसादिकों में प्रत्यक्ष होने वाले वह्नि तथा धूम के समान व्याप्ति का ज्ञान हो । किन्तु वायुद्रव्य के सन्निकर्ष अर्थात् वायुद्रव्य के साथ स्पर्श आदि उसके साधक हेतुओं के व्याप्ति का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि जो-जो स्पर्श तथा कम्पादि क्रियावान् होता है वह वायु है ऐसा किसी भी प्राणी को प्रत्यक्ष नहीं होता, इसी कारण वायु द्रव्य का साधक प्रत्यक्ष से गृहीत होने वाली व्याप्ति से विशिष्ट लिङ्ग नहीं है यह सूत्रार्थ है ॥ १५ ॥

तो गृहीतव्याप्तिक लिङ्ग न होने से वायु का अनुमान कैसे होगा ? इस शंका के उत्तर में उक्त ही विषय को दृढ़ करने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सामान्यतोदृष्टात् च = और सामान्यतोदृष्ट अनुमान से, अविशेषः = कोई विशेष नहीं आता ॥ १६ ॥

भावार्थ—स्पर्श के गुण होने से वह किसी न किसी द्रव्य के आश्रित (जो पृथिवी आदि आठ द्रव्यों का नहीं है) इस प्रकार के बाध सहित अनुमान से अष्टद्रव्यातिरिक्त कोई न कोई द्रव्य अनुभूयमान स्पर्श का आधार है ऐसा सामान्यदृष्ट अनुमान से सिद्ध होता है । वह वायु ही है यह विशेषता नहीं आती ॥ १६ ॥

उपस्कार—पूर्ववत् १, शेषवत् २ तथा सामान्यतोदृष्ट ३ ऐसे तीन प्रकार के अनुमान होते हैं । इसी से यह अनुभूत होने वाला स्पर्श, किसी द्रव्य में आश्रित है, स्पर्श होने से, अथवा-गुण होने से इस प्रकार जो इतर बाधसहित सामान्यतोदृष्ट अनुमान से पृथिवी आदि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य के वह वह आश्रित है यह सिद्ध होता है । यदि इस प्रकार पृथिव्यादिकों के बाध सहित यह अनुमान सामान्यतोदृष्ट अनुमान हो तो शेषवद् अनुमान व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि शब्द में गुणत्वसाधक इतर बाधसहित अनुमान भी सामान्यतोदृष्ट अनुमान ही हो सकता

कृतात् अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वं सिध्यतीत्यर्थः। गतं तर्हि केवलव्यतिरेकिणेति चेन्न इतरबाधानन्तरं यत्र सामान्यतो दृष्टं प्रवर्त्तते तत्राष्टद्रव्यानाश्रितत्वं पक्षविशेषणं सिद्धमादाय अष्टद्रव्यानाश्रितोऽयं स्पर्शः क्वचिदाश्रित इति प्रतिज्ञार्थोऽष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वमनादाय न पर्य्यवस्यतीति—प्रतीत्यर्थापर्य्यवसन्नतयाऽन्वयिन एव तत्सिद्धिः। यत्र तु पूर्वमेव बाधावतारात् सामान्यतोदृष्टं तत्र प्रतीत्यर्थपर्य्यवसानात् केवलव्यतिरेकीत्यभ्युपगमात्। प्रकारार्थं केवलव्यतिरेकीति तु तुच्छमेव उक्तस्थले प्रकारस्यान्वयिन एवोपस्थितेः। व्यापकतावच्छेदकप्रकारिकैवानुमितिरितिनियमस्त्वप्रामाणिकः सामग्रीविशेषसाचिव्यात् प्रकारान्तरभानस्यापि सम्भवात्॥ १९॥

है, अतः शेषवत् नामक केवल व्यतिरेक अनुमान निर्मूल हो जायगा। इस प्रकार शंका दिखाकर शंकरमिश्र उत्तर करते हैं कि ऐसी शंका नहीं कर सकते, क्योंकि जिस स्थल में इतरों के बाध ज्ञान के पश्चात् सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है। उस स्थल में अष्टद्रव्य के आश्रित नहीं है ऐसा सिद्धपक्ष में विशेषण लेकर पृथिव्यादि अष्टद्रव्यों में न रहने वाला यह स्पर्श किसी द्रव्य में आश्रित है ऐसा प्रतिज्ञा का अर्थ पृथिव्यादि अष्टद्रव्यों से भिन्न द्रव्य को स्पर्श भी आधारता विना माने संगत नहीं हो सकती, इस प्रकार प्रतिज्ञा के अर्थ के संगत न होने के कारण अन्वयी अनुमान से ही स्पर्शाश्रय पृथिव्यादि भिन्न वायुद्रव्य की सिद्धि होती है। किन्तु जिस स्थल में पृथिव्यादि अष्टद्रव्यों का स्पर्श गुण नहीं है ऐसे बाधज्ञान के पूर्व ही पूर्वोक्त सामान्यतोदृष्ट अनुमान होता है, उस स्थल में स्पर्श किसी में आश्रित है इस प्रतिज्ञा के अर्थ की संगति होने से केवल व्यतिरेकि-नामक शेषवत् अनुमान होगा ऐसा नैयायिक मानते हैं। (अर्थात् शब्द पृथिव्यादिकों का गुण नहीं है ऐसा इतर बाध निश्चय प्रथम होने के कारण 'प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे संप्रत्ययः परिशेषः' प्राप्तों का निषेध करने पर अन्य पदार्थों में प्रसंग न होने के कारण जो शेष हो उसमें गतार्थ करना रूप परिशेष के प्रसंग के कारण के न देखाने से ही किसी अन्य की प्राप्ति न होने के कारण अवशिष्ट के ज्ञान के न होने से ही असंभव है। और जहाँ पूर्व में इतर बाध न होने से शब्द किसी में आश्रित है गुण होने से ऐसा अनुमान होता है, पश्चात् पृथिव्यादिकों में आश्रित नहीं है ऐसा बाध ज्ञान होता है, वहीं पर उक्त परिशेष का संभव हो सकता है, इसी आशय से उपस्कारकार ने 'अष्टद्रव्यानाश्रित' इत्यादि उपस्कार में उक्त दोनों प्रकारों का समर्थन किया है।) (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—किसी का प्रकार ज्ञान के लिये ही व्यतिरेकी अनुमान होता है—यह कहना, तुच्छ है क्योंकि उक्त स्थल में अन्वयीरूप प्रकार ही उपस्थित है। अनुमिति व्यापकतानियामक प्रकारक ही होती है, यह भी नियम प्रमाणरहित है, क्योंकि इतर बाधज्ञानरूप सामग्रीविशेष की सहायता से अन्य प्रकारक ज्ञान भी हो सकता है॥ १९॥

ननु चाविशेष इति वायुरयमित्याकाराऽनुमितिर्न भवति किन्त्वष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वेनैव प्रकारेणेति विवक्षितं यदि तदा तस्य द्रव्यस्य वायुसंज्ञायां किं मानमत आह—

तस्मादागमिकम् ॥ १७ ॥

यस्माद्विशेषाकारेण नानुमितिः तस्माद्वायुरिति नाम आगमिकम्, आगमो वेदस्ततः सिद्धमित्यर्थः। 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' 'वायव्यं श्वेतं छागलगालभेत'

वायुश्च सर्ववर्णोऽयं सर्वगन्धवहः शुचिः।

इत्यादि-विधिशेषीभूतार्थवादादेव वायुसंज्ञाधिगतिः। यथा—

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।

इत्याद्यर्थवादात् स्वर्गसंज्ञायाः।

सामान्यतोदृष्टानुमान से विशेष न होने के कारण यह वायु है ऐसे आकार की अनुमिति तो होती नहीं, किन्तु स्पर्श पृथिव्यादि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य के आश्रित है इसी प्रकार होती है, यदि सिद्धान्ती ऐसा कहने की इच्छा रखता है तो उस अतिरिक्त द्रव्य का वायु यह नाम है इसमें क्या प्रमाण ? इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—तस्मात् = इस कारण (सामान्यरूप से पृथिव्यादि अष्टद्रव्य-भिन्न द्रव्य के आश्रित है ऐसा ज्ञान होने से, आगमिकम् = वायु संज्ञा शब्दप्रमाण से सिद्ध है ॥ १७ ॥

भावार्थ—सामान्यतोदृष्टानुमान से विशेष आकार का (पृथिव्यादि भिन्न स्पर्शाश्रय द्रव्य का) ग्रहण न कर अनुमिति होती है इस कारण उस द्रव्य का वायु यह नाम शब्द प्रमाण से सिद्ध होता है ॥ १७ ॥

उपस्कार—सामान्यतोदृष्टानुमान से उस पृथिव्यादिभिन्न स्पर्शाधार द्रव्य के विशेष आकार का ग्रहण कर अनुमान नहीं होता इस कारण उसका वायु यह नाम वेदरूप आगमप्रमाण से सिद्ध होता है। अर्थात् 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' वायु बहुत शीघ्र गति वाली देवता है, 'वायव्यं श्वेतं छागलभालमेत'—वायु देवता वाले श्वेतवर्ण छाग (बकरा) की हिंसा अथवा स्पर्श करे, 'वायुश्च सर्वऽवर्णोयं सर्वगन्धवहः शुचिः, सर्व वर्ण वाला सम्पूर्ण गन्धों को बहाने वाला यह वायु शुद्ध है—इत्यादि ('वायव्यं' इत्यादि यागविधि के तथा वायुर्वै, वायुश्च इत्यादि अवशिष्ट (प्रशंसा करने वाले) अर्थवाद वाक्योंसे ही 'वायु' है यह संज्ञा (नाम) का ज्ञान होता है। जिस प्रकार 'यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्'—जिसमें दुःख न मिला हो तथा जिसका प्राप्त होने के पश्चात् नाश न हो उसे स्वर्ग कहते हैं इत्यादि अर्थवाद वाक्यों से स्वर्ग के नाम का ज्ञान होता है, तथा 'वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम्। मोदमानाश्च

वसन्ते सर्वशस्यानां जायते पत्रशातनम् ।
मोदमानाश्च तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः ॥

इत्यर्थवादात् यवसंज्ञायाः, 'अम्बुजो वेतसः' इत्यर्थवादात् वेतससंज्ञायाः, 'वराहं गावोऽनुधावन्ति' इत्यर्थवादात् वराहसंज्ञायाः । अन्यथा 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादौ विशिष्टसुखानुपस्थितौ यागादिषु स्वर्गार्थिनां प्रवृत्तिर्न स्यात् न स्याच्च 'यवमयश्चरुर्भवति' 'वैतसे कटे प्राजापत्यं धिनोति' 'वाराही चोपानत्' इत्यादौ म्लेच्छप्रसिद्धिमनुरुध्य प्रवृत्त्यनध्यवसायः । म्लेच्छा हि यववराह-वेतसशब्दान् कङ्गुवायसजम्बुषु प्रयुञ्जते तथाचार्थवादमन्तरेण सन्देहः स्यादि-त्यागमादेव तत्तदर्थप्रतीतिरिति भावः । नाममात्रमागमिकं द्रव्यसिद्धिस्तु सामा-न्यतो दृष्टादेव ॥ १७ ॥

एवं वायुप्रकरणं समाप्य तत् किमुन्मादिजल्पित-डित्थडवित्थसंज्ञावत् वायु-

---

तिष्ठन्ति यवाः कणिशशालिनः' ॥ अर्थात् वसन्तऋतु में सम्पूर्ण धान्यों के पत्र गिर जाते हैं किन्तु कंगूरे वाले दानों से भरे हुए यवाङ्कुर खिले हुए खड़े रहते हैं, इस अर्थवाद वाक्य से 'यव' इस नाम के अर्थ का ज्ञान होता है, एवं 'अम्बुजो वेतसः' वेत पानी से उत्पन्न होता है इस अर्थवाद से 'वेतस' नाम का ज्ञान होता है और 'वराहं गावोऽ-नुधावन्ति'—गो सूअर के पीछे दौड़ती हैं । इस अर्थवाद वाक्य से 'वराह' इस नाम का ज्ञान होता है । इस प्रकार अर्थवाद आदि आगमप्रमाणों से नामज्ञान होता है। यदि आगमप्रमाण से स्वर्गादि नाम का ज्ञान न हो तो 'स्वर्गकामो यजेत' स्वर्ग की इच्छा करने वाला याग करे, इत्यादि विधिवाक्यों से स्वर्गसुखरूप फल के ज्ञान न होने से स्वर्गसुख की इच्छा करने वाले मनुष्यों की यागादि कर्म करने में प्रवृत्ति न होगी। तथा 'यवमयश्चरुर्भवति' जो का चरु (भात) होता है, 'वैतसे कटे प्राजापत्यं-धिनोति' वेंत के चटाई पर प्रजापति देवता वाले को तृप्त करता है, 'वाराही चोपानत्' वराह की जूती होती है' इत्यादि वाक्यों में म्लेच्छों के अर्थ के अनुसार प्रवृत्ति न होने का निश्चित ज्ञान न होगा, क्योंकि म्लेच्छों ने यव, वराह तथा वेतस शब्द का क्रम से कङ्गु (ककुनी), 'काक' (कौआ) तथा जम्बू (जामुन) अर्थ माना है अतः विना अर्थवाद वाक्यों के 'म्लेच्छों का अर्थ लेना कि आर्यों का' यह संशय ही बना रहेगा, अतः अर्थवाद वाक्यरूप आगम प्रमाण से ही उक्त स्थलों में विशेष अर्थों का ज्ञान होता है । किन्तु अनुभूयमान स्पर्शगुण के आश्रय द्रव्य का वायु नाम है इतना ही उक्त आगमप्रमाण से जाना जाता है, वायुरूप द्रव्य की सिद्धि तो पूर्वोक्त सामान्यतो दृष्टानुमान ही से होती है ॥ १७ ॥

इस प्रकार वायुप्रकरण को समाप्तकर, तो क्या यह वायु नाम भी, उन्मत्त पुरुष के द्वारा लकड़ी का हाथी बनाकर उसका 'डित्थ' नाम अथवा काष्ठ का ही मृग बनाकर उसका ('डवित्थ') नाम रखने के समान है इस शंका के समाधानार्थ आगम

संज्ञापीत्यागमस्य सर्वज्ञप्रणीतत्वमुपपादयन् औपोद्घातिकमीश्वरप्रकरणमारि-त्समान आह—

संज्ञा कर्म्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् ॥ १८ ॥

तुशब्दः स्पर्शादिलिङ्गव्यवच्छेदार्थः। संज्ञा—नाम, कर्म—कार्य्यं क्षित्यादि, तदुभयमस्मद्विशिष्टानाम् ईश्वर—महर्षीणां सत्त्वेऽपि लिङ्गम् ॥ १८ ॥

कथमेतदित्यत आह—

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ॥ १९ ॥

अत्रापि संज्ञा च कर्म चेति समाहारद्वन्द्वादेकवद्भावः संज्ञाकर्त्तुर्जगत्कर्त्तु-श्चाभेदसूचनार्थः। तथाहि यस्य स्वर्गापूर्वादयः प्रत्यक्षाः स एव तत्र स्वर्गापूर्वा-

---

(वेद) सर्वज्ञ ईश्वर से रचित है यह वर्णन करने के लिये प्रस्तुत उपयोगी विचार रूप उपोद्घात-संगति से ईश्वर-निरूपण प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संज्ञा कर्म तु = नाम, तथा कार्य तो, अस्मद्विशिष्टानां = हम जीवों से विशिष्ट योगी ईश्वररूप आत्माओं का, लिङ्गम् = साधक हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—संसारिक पदार्थों का नाम रखना, तथा जगत् रूप कार्य की रचना करना यह दोनों हम ऐसे सांसारिक प्राणियों से अतिशयित शक्ति वाले ईश्वर तथा योगी आदिकों का साधक लिङ्ग है ॥ १८ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'तु' यह शब्द, स्पर्श, रूप आदि गुणों की व्यावृत्ति के लिए है। सूत्र में संज्ञा शब्द का अर्थ है नाम, कर्म शब्द का अर्थ है पृथिवी आदि कार्य, यह दोनों हमारे ऐसे जीवों से विशिष्ट (अधिक) ईश्वर तथा महर्षियों की सत्ता में भी लिङ्ग (साधक) है ॥ १० ॥

ऐसा क्यों ? इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् = प्रत्यक्ष से प्रवृत्ति होने के कारण, संज्ञाकर्मणः = नाम तथा कार्य के ॥ १९ ॥

भावार्थ—जिस पुरुष को जिस पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है वही उसका नाम रख सकता है, तथा वही उस कार्य को कर सकता है, अतः चतुर्दश भुवन के अन्तर्गत हमारे ऐसे जीवों के अप्रत्यक्ष स्वर्ग आदि पदार्थों के नाम रखने वाले तथा पृथिवी, जल आदि सम्पूर्ण जगत् कार्य की रचना करने वाले उन कार्यों के समवायिकारणों का ज्ञान, करने की इच्छा, तथा कृति वाले ईश्वर तथा योगियों की सिद्धि होती है ॥१९॥

उपस्कार—इस सूत्र में भी 'संज्ञाकर्मणः' इस समस्तपद में 'संज्ञा च कर्म च' संज्ञा और कार्य ऐसा समाहार द्वन्द्वसमास होने से षष्ठी विभक्ति का एकवचन है। जो नाम रखने वाला तथा जगत् कार्य का करने वाला एक ही है यह सूचित करता

दिसंज्ञाः कर्तुमोष्टे प्रत्यक्षे चैत्रमैत्रादिपिण्डे पित्रादेश्चैत्रमैत्रादिसंज्ञानिवेशनवत्। एवञ्च घटपटादिसंज्ञानिवशेनवत्। एवञ्च घटपटादिसंज्ञानिवेशनमपि ईश्वरसङ्केताधोनमेव यः शब्दो यत्रेश्वरेण सङ्केतितः स तत्र साधुः यथा या काचिदोषधिर्नकुलदंष्ट्राग्रस्पृष्टा सा सर्वाऽपि सर्पविषं हन्तीत्येतादृशी संज्ञा अस्मदादिविशिष्टानां लिङ्गमनुमापकं, याऽपि मैत्रादिसंज्ञा पित्रा पुत्रे क्रियते साऽपि 'द्वादशेऽहनि पिता नाम कुर्य्यात्' इत्यादिविधिना नूनमोश्वरप्रयुक्तैव तथाच सिद्धं संज्ञाया ईश्वरलिङ्गत्वम्। एवं कर्मापि कार्य्यमपीश्वरे लिङ्गम् तथाहि क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्य्यत्वात् घटवदिति। अत्र यद्यपि शरीराजन्यं जन्यं वा जन्यप्रयत्नाजन्यं जन्यं वा सकर्तृकत्वासकर्तृकत्वेन विवादाध्यासितं वा सन्दिह्यमानकर्तृ-

---

है। वह इस प्रकार है कि जिस विशिष्ट आत्मा को स्वर्ग अदृष्ट (धर्म तथा अधर्म) प्रत्यक्ष होते हैं वही उनका स्वर्ग अदृष्ट इत्यादि नाम रख सकता है, क्योंकि चैत्र, मैत्र इत्यादि नाम के शरीरों में उनके माता-पिताओं ने ही उनका चैत्र, मैत्र ऐसा नाम रक्खा है यह देखने में आता है। ऐसा होने से घट, पट इत्यादि सांसारिक पदार्थों का नाम रखना भी ईश्वर की इच्छारूप संकेत (इशारों) के ही अधीन है, जो शब्द जिस पदार्थ में ईश्वर ने 'इसे घट कहना इसे पट कहना' इत्यादि इच्छारूप संकेत से सूचित किया है वही उस अर्थ के बोध में साधु (व्याकरण से संस्कृत होने से) शुद्ध है जिस प्रकार जो कोई औषधि (दवा) नेउरे की दाढ़ के अग्रभाग से स्पर्श की जाती है वह संपूर्ण औषधि सर्प के विष को नष्ट करती है ऐसी संज्ञा (नाम) करना हमारे ऐसे जीवात्माओं से अधिक शक्तिवाले आयुर्वेदप्रवर्तक धन्वन्तरि आदिकों के सिद्धि का साधक है तथा जो मैत्र-चैत्र इत्यादि नाम पुत्र का पिता से रक्खा जाता है वह भी 'द्वादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्' बारहवें दिन पिता पुत्र का नामकरण करे इत्यादि सामान्यरूपसे धर्मशास्त्र की विधि से ईश्वर-प्रेरित ही है यह निश्चित है। अतः यह सिद्ध होता है कि नाम रखना ईश्वर का साधक लिङ्ग है। (अर्थात् स्वर्गादि नाम-कर्ता के प्रत्यक्षविषय पदार्थ में समर्थ है, नाम होने से देवदत्तादि नाम के समान, इस अनुमान से स्वर्गादि नाम रखना ईश्वर का साधक लिङ्ग है यह सिद्ध होता है)। इसी प्रकार जगत् रूप कार्य भी ईश्वर में साधक लिङ्ग है, वह इस प्रकार है कि—पृथिवी आदि कार्य, कर्तासहित है कार्य होने से घट कार्य के समान (इस अनुमान से पृथिवी आदि कार्य की, हमारे ऐसे जीवात्मारूप कर्त्ताओं से उत्पत्ति का असंभव होने से उनका कर्त्ता ईश्वर सिद्ध होता है) (इस प्रकार ईश्वर रूप धर्मी के ग्राहकप्रमाण-बल से ईश्वरसाधक सिद्धान्ती के दिये कार्यत्व हेतु आदि में व्यभिचार दोष दिखाते हुए पूर्वपक्षी के मत से शंकरमिश्र आक्षेप दिखाते हैं कि—) 'क्षित्यादि सकर्तृक है, कार्य होने से' इस अनुमान में क्षित्यादि-

कत्वं वा क्षित्यादित्वेन न विवक्षितम् अदृष्टद्वारा क्षित्यादेरपि जन्यप्रयत्नजन्यत्वात् विवादसन्देहयोश्चातिप्रसक्तत्वेन पक्षतानवच्छेदकत्वात्, किञ्च सकर्तृकत्वमपि यदि कृतिमज्जन्यत्वं तदाऽस्मदादिना सिद्धसाधनम् अस्मदादिकृतेरप्यदृष्टद्वारा क्षित्यादिजनकत्वात्, उपादानगोचरकृतिमज्जन्यत्वेऽपि तथा अस्मदादिकृतेरपि किञ्चिदुपादानगोचरत्वात्, कार्यत्वमपि यदि प्रागभावप्रतियोगित्वं तदा ध्वंसे व्यभिचार इति । तथापि क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वात् । अत्र च

पक्षपद से (१) शरीर से न उत्पन्न कार्य, (२) प्रयत्न से अजन्य कार्य, (३) कर्तासहित है तथा कर्तासहित नहीं है इस विवाद से युक्त क्षित्यादि कार्य, (४) अथवा जिसके कर्ता का संदेह है ऐसा कार्य सिद्धान्ती को संमत है । इन चार पक्षों में से जीवात्माओं के अदृष्ट से उनके भोग के लिये संपूण जगत् कार्य की रचना होने के कारण उनके अदृष्ट द्वारा पृथिव्यादि कार्यों के उनके शरीर तथा जन्य प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण दो प्रथमपक्ष नहीं हो सकते तथा विवादग्रस्तता संदेहविषयता अन्यत्र विद्यमान होने के कारण तृतीय पक्ष तथा चतुर्थपक्ष भी नहीं हो सकता (अर्थात् प्रदर्शित प्रकार से ऐसे किसी प्रकार के कार्यों में ही सिद्धान्ती को सकर्तृकता कार्यत्वहेतु से सिद्ध करनी होगी, क्योंकि पृथिवीमात्र में सकर्तृकता सिद्ध करें तो परमाणुरूप पृथिवी आदिकों में नित्यता होने से हेतु में आंशिक बाध दोष आ जायगा, किन्तु उक्त रीति से यह चारों प्रकार से अनुमान नहीं हो सकता) । (यदि जन्य पृथिवीत्व को पक्षतावच्छेदक मानें तो उक्त दोष न होंगे । इसलिये पक्षदोष को छोड़कर पूर्वपक्षिमत से साध्य में दोष दिखाते हैं कि)—और उक्त सिद्धान्त के अनुमान में कृतिवाले आत्मा से उत्पन्न ऐसा सकर्तृकत्वसाध्य पद का अर्थ करें, तो हमारे ऐसे जीवात्माओं को लेकर सिद्धसाधनदोष आ जायगा, क्योंकि जीवों के अदृष्ट द्वारा हमारे ऐसे जीवात्माओं की कृति भी पृथिवी आदि कार्य की जनक है यह सिद्ध ही है । यदि समवायिकारण विषय की कृति वाले कर्ता से क्षित्यादि उत्पन्न है, ऐसा सकर्तृकता साध्य का अर्थ किया जाय तो भी यही दोष आयेगा, क्योंकि हमारे ऐसे जीवात्माओं की कृति कुछ कार्यों के समवायिकारणों में होती ही है (जैसे घट के समवायिकारण कपाल की कृति कुलाल में है) । (यदि हमारे ऐसे जीवों की कृति कुछ समवायिकारणों में होने पर भी त्रसरेणु आदि उपादान विषय में न होने से सिद्धसाधन दोष न होगा, तब तो सकर्तृकत्वसाध्य के होने में कोई क्षति न होगी, इसलिये साध्यदोष से भिन्न हेतु में दोष दिखाते हैं कि)—प्रागभाव का प्रतियोगी यह यदि कार्यत्वहेतु का अर्थ करे तो ध्वंस में उक्त कार्यता होने पर भी सकर्तृकतासाध्य न होने के कारण व्यभिचार दोष होगा । तस्मात् सिद्धान्ती का अनुमान ईश्वरसाधक नहीं हो सकता ।

इस आक्षेप का समाधान करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि—तथापि पृथ्वी,

सकर्तृकत्वमदृष्टाद्वारकक्कृतिमज्जन्यत्वं कार्य्यत्वञ्च प्रागभावावच्छिन्नसत्ताप्रतियोगित्वम् । न चाङ्कुरादौ सन्दिग्धानैकान्तिकत्वम् साध्याभावनिश्चये हेतुसदसत्त्वसन्देहे सन्दिग्धानैकान्तिकत्वस्य दोषत्वात् अन्यथा सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् न च पक्षातिरिक्ते दोषोऽयमिति वाच्यम् राजाज्ञापत्तेः, नहि दोषस्यायं महिमा यत् पक्षं नाक्रामति । तस्मादङ्कुरस्फुरणदशायां निश्चितव्याप्तिकेन हेतुना तत्र साध्यसिद्धेरप्रत्यूहत्वात् क सन्दिग्धानैकान्तिकता तदस्फुरणदशायान्तु सुतरामिति संक्षेपः ।। १९ ।।

एवं सूत्राभ्यामीश्वरप्रकरणं समाप्याकाशप्रकरणमारिप्समान आह—

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् ।। २० ।।

सकर्तृक है, कार्य होने से (ऐसा अनुमान हो सकता है) इस अनुमान में अदृष्टद्वारसहित कृतिवाले आत्मा से उत्पन्न होना यह सकर्तृकत्वसाध्य का अर्थ है, तथा प्रागभावविशिष्ट सत्ता का प्रतियोगी (सम्बन्धी) होना कार्यत्व हेतु का अर्थ है। (ध्वंस में प्रागभावप्रतियोगित्व होने पर भी सत्ताप्रतियोगित्व न होने से व्यभिचार दोष, तथा हमारे ऐसे जीवों की कृति में अदृष्टद्वार होने के कारण सिद्धसाधनदोष भी न होगा ।) इस अनुमान में कार्य पृथिवी ही पक्ष है । पक्षघटित कार्यता आद्यक्षण संबन्ध रूप तथा हेतुरूप कार्यता प्रागभावप्रतियोगिरूप होने से पक्ष तथा हेतु का भेद होगा ।

शंकरमिश्र कहते हैं कि उक्त अनुमान के कार्यत्व हेतु में अंकुरादि रूप कार्य में कार्यत्व का संदेह होने से संदिग्धानैकान्तिकता दोष नहीं हो सकता, क्योंकि जिस स्थल में साध्य के अभाव का निश्चय रहते हेतु की सत्ता तथा असत्ता का संदेह होता है वही संदिग्धानैकान्तिकता दोष होता है, यदि ऐसा न मानें तो सर्वत्र उक्त दोष होने से सम्पूर्ण अनुमान का उच्छेद हो जायगा (अर्थात् कोई भी अनुमान न हो सकेगा)। यदि कहो कि 'पक्ष को छोड़कर अन्यत्र ही यह दोष होता है पक्ष में नहीं' ऐसा कहना तो राजा की आज्ञा के समान मानना पड़ेगा, क्योंकि दोष का यह सामर्थ्य नहीं है कि वह पक्ष में न हो । इस कारण बीज से अंकुर के प्रगट होने की अवस्था में सकर्तृकता के साथ निश्चित व्याप्ति (जो कार्य होता है वह सकर्तृक होता है) वाले कार्यत्व हेतु से क्षिति (अंकुर) में सकर्तृकतारूप साध्यसिद्धि होने में कोई बाधा नहीं है तो संदिग्धानैकान्तिकता दोष कैसे होगा । अंकुर के अस्फुरण दशा में तो अर्थात् उक्त दोष हो ही नहीं सकता । ऐसा संक्षिप्त अर्थ है ।। १९ ।।

इस प्रकार दो सूत्रों से ईश्वर की सिद्धि का प्रकरण समाप्त कर क्रमप्राप्त आकाश प्रकरण को आरम्भ करने की इच्छा से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—निष्क्रमणं = निकलना, प्रवेशनं = प्रवेश करना, इति = यह, आकाशस्य = आकाशद्रव्यका, लिङ्गं = साधक है ।। २० ।।

इतिशब्दः प्रकारार्थः, उत्क्षेपणादीन्यपि कर्माणि संगृह्णाति । स्पर्शवद्द्रव्यसञ्चारो निष्क्रमणं प्रवेशनञ्च तदकार्यस्याकाशस्य लिङ्गमिति साङ्ख्याः ॥ २० ॥

तदेतद् दूषयितुमाह—

तदलिङ्गमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः ॥ २१ ॥

निष्क्रमणप्रवेशनादिकर्म न तावत् समवायिकारणतया आकाशमनुमापयति कर्मण एकद्रव्यत्वात् एकमात्रमूर्त्तसमवायिकारणकत्वात्, न कर्मापि व्यासज्यवृत्तीत्युक्तं न वाऽमूर्त्तवृत्तीति ॥ २१ ॥

ननु चासमवायिकारणतयैवाकाशमनुमापयिष्यति निष्क्रमणप्रवेशनादीत्यत आह—

कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च ॥ २२ ॥

भावार्थ—सांख्यमत से उत्क्षेपण, निष्क्रमण, प्रवेश इत्यादि सम्पूर्ण क्रिया आकाशद्रव्य के साधक लिङ्ग हैं ॥ २० ॥

उपस्कार—इस सूत्र में इति शब्द का अर्थ है प्रकार, जिससे उत्क्षेपण, अपक्षेपण इत्यादि मुख्य पाँच कर्मों का भी संग्रह होता है । स्पर्श वाले द्रव्य के संचरण को निष्क्रमण तथा प्रवेशन कहते हैं, वह नित्य आकाशद्रव्य का सिद्धि करने वाला लिङ्ग है ऐसे सांख्यमतावलम्बी कहते हैं (अर्थात् निष्क्रमणादि क्रिया से उत्पन्न विलक्षण संयोग का आधार होने से आकाश सिद्ध होता है न कि शब्दगुणरूप लिङ्ग से, क्योंकि शब्द पृथिवी आदि द्रव्यों में भी रहने से व्यभिचारी है ऐसा सांख्यों का अभिप्राय है, अतः निष्क्रमण से उत्पन्न संयोग स्पर्शनाधार द्रव्य से हुआ है, विलक्षण संयोग होने से ऐसा सांख्यवादी यहाँ अनुमान करते हैं) ॥ २० ॥

इस मत का खण्डन सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—तत् = वह निष्क्रमणादि, अलिङ्गम् = साधक नहीं है, एकद्रव्यत्वात् = एकद्रव्य के आश्रित होने से, कर्मणः = कर्म पदार्थ के ॥ २१ ॥

भावार्थ—क्रिया के एकमात्र मूर्तद्रव्य समवायिकारण वाली होने के कारण निष्क्रमण-प्रवेशनादि क्रिया आकाशद्रव्य का साधक लिङ्ग नहीं हो सकती ॥ २१ ॥

उपस्कार—निष्क्रमण-प्रवेशनादि क्रिया का समवायिकारण आकाश द्रव्य है इस कारण उसका अनुमान नहीं करा सकती, क्योंकि क्रिया का केवल मूर्तद्रव्य ही समवायिकारण होता है, क्रिया व्यासज्यवृत्ति (एकभिन्न दो या अनेक में वर्तमान) नहीं होती यह कह चुके हैं, तथा अमूर्त (इयत्तारहित परिमाण वाले) द्रव्यों में नहीं रहती यह भी कह चुके हैं ॥ २१ ॥

शंका—उक्त निष्क्रमणादि क्रिया का आकाश असमवायिकारण होने से उसकी अनुमान से सिद्धि करायेगी ? उत्तर—

पदपदार्थ—कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्यात् च = और दूसरे असमवायिकारण के

अनुक्लृप्तिर्लक्षणम् अनुकल्प्यते ज्ञाप्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या, कारणान्तरस्य असमवायिकारणस्य याऽनुक्लृप्तिर्लक्षणं तद्वैधर्म्यादित्यर्थः। द्रव्यन्तावदसमवायिकारणं न भवत्येव। असमवायिकारणता च कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या कार्य्यैकार्थप्रत्यासत्त्या च। प्रथमा तन्तुरूपाणां पटरूपं प्रति, इयञ्चासमवायिकारणता महतीतिसंज्ञां लभते गुरुप्रतिपत्तिकत्वात्। द्वितीया च यथा आत्ममनःसंयोगस्य ज्ञानादिकं प्रति, इयञ्चासमवायिकारणता लघ्वीति संज्ञां लभते लघु-

---

लक्षण के विरुद्ध धर्म होने से भी (निष्क्रमणादि क्रिया आकाशसाधक नहीं हो सकती) ॥ २२ ॥

भावार्थ—असमवायिकारण के लक्षण के विरुद्ध धर्म वाले होने के कारण निष्क्रमणादि क्रिया का आकाश द्रव्य असमवायिकारण नहीं हो सकता, इस कारण भी निष्क्रमणादि कर्म आकाश का साधक नहीं है ॥ २३ ॥

उपस्कार—सूत्र में अनुक्लृप्ति शब्द का 'अनुकल्प्यते ज्ञायतेऽनेन' 'जिससे जनाया जाय' इस व्युत्पत्ति से अनुकृति शब्द का अर्थ है लक्षण, अतः कारणान्तर-असमवायिकारण रूप जो दूसरा कारण उसकी अनुक्लृप्ति नाम लक्षण, उसके विरुद्ध धर्म होने से यह सूत्र का अर्थ है। प्रथम द्रव्य तो असमवायिकारण होता ही नहीं। और वह असमवायिकारणता कार्य के समवायिकारण के साथ एक पदार्थ में प्रत्यासत्ति सम्बन्ध होने से होती है, तथा कार्य के साथ एक अर्थ में सन्निकर्ष होने से (ऐसे दो प्रकार की होती है)। (इन दो प्रकार की असमवायिकारणताओं में से कारणैकार्थ सम्बन्ध वाली प्रथम असमवायिकारणता द्रव्य में नहीं है इस आशय से शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—उक्त दो असमवायिकारणताओं में से प्रथम असमवायिकारणता है तन्तुओं के रूप को पट के रूप में, और इस असमवायिकारणता का 'महती' बड़ी है ऐसा नाम है, क्योंकि यह गुरुप्रतिपत्तिक है अर्थात् (परम्परा) सम्बन्ध रूप गौरव से इसका ज्ञान होता है। (अर्थात् द्रव्य में साक्षात् तादात्म्य सम्बन्ध से समवायिकारणता के रहने पर भी असमवायिकारणता के दो समवाय से युक्त सामानाधिकरण्यरूप परम्परा सम्बन्ध घटित होने के कारण द्रव्य में प्रथम असमवायिता नहीं हो सकती। तात्पर्य यह है कि घटरूप कार्य का घट समवायिकारण तथा और भी द्रव्य एक स्थल में एक समय में समवेत नहीं होता जिससे द्रव्य में भी उक्त परम्परा सम्बन्ध से असमवायिकारणता आ सकेगी)। (दूसरी कार्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध वाली असमवायिकारणता भी द्रव्य में नहीं हो सकती इस अभिप्राय से शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—द्वितीय असमवायिकारणता वह होती है जैसे ज्ञान तथा इच्छादि रूप गुण कार्य में आत्मा तथा मन का संयोग, इस असमवायिकारणता का 'लघ्वी' छोटी ऐसा नाम है। क्योंकि साक्षात् सम्बन्ध से होने के कारण लघुप्रतिपत्तिक (साक्षात् सम्बन्ध के कारण लाघव से ज्ञान होता है। (अर्थात् साक्षात् समवाय

प्रतिपत्तिकत्वात्। आकाशस्य तु निष्क्रमणप्रवेशनादौ कर्मणि न समवायिकारणता नाप्यसमवायिकारणता। तथा च न च कर्माकाशसत्त्वे लिङ्गमिति ॥ २२ ॥

ननु निमित्तकारणमस्तु कर्मण्याकाशम्, दृश्यते ह्याकाशे पक्षिकाण्डादीनां सञ्चरणमत आह—

संयोगादभावः कर्मणः ॥ २३ ॥

मूर्त्तसंयोगेन कर्मकारणस्य वेगगुरुत्वादेः प्रतिबन्धात् कर्मणोऽभावोऽतुलादौ न त्वाकाशाभावात् तस्य व्यापकत्वात्। तस्मादाकाशान्वयोऽन्यथासिद्ध एव नाकाशनिमित्ततां साधयतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

सम्बन्ध से होने के कारण लघु ज्ञान है, कपाल के रूप में घटादि द्रव्य नियत पूर्ववृत्ति न होने के कारण नहीं हो सकता, घट के अव्यवहित पूर्व क्षण में कपाल में कोई दूसरा द्रव्य नहीं रहता इस कारण घट में भी द्रव्य असमवायिकारण नहीं हो सकता)। (इस प्रकार प्रसंग से दो प्रकार के असमवायिकारणों का लक्षण वर्णन कर प्रस्तुत वर्णन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—आकाश द्रव्य तो उक्त प्रकार से निष्क्रमण-प्रवेशनादि कर्मों में न समवायिकारण हो सकता है न असमवायिकारण, अतः सांख्यमत से क्रिया आकाश की सत्ता में साधक नहीं हो सकती ॥ २२ ॥

शंका है—'आकाश को क्रिया में निमित्तकारण ही मानेंगे, क्योंकि आकाश में पक्षी-काण्ड इत्यादिकों की संचरण क्रिया दिखाई पड़ती है' इस शंका के समाधानार्थं सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संयोगात् = प्रतिबंधक संयोग से, अभावः = अभाव होता है, कर्मणः = क्रिया का ॥ २३ ॥

भावार्थ—वृक्ष से गिरने वाले फलादिकों का बीच में प्रतिबंधक द्रव्य का संयोग होने से अग्रिम भूमिपतन रूप क्रिया के न होने से प्रतिबन्धक संयोगविशेष के अभाव से ही क्रिया का कारण है न कि आकाश, क्योंकि आकाश व्यापक होने से आकाश रूप निमित्त कारण के न होने से कर्मरूप कार्य नहीं होता ऐसी कारणताप्रयोजक व्यतिरेक व्याप्ति नहीं हो सकती ॥ २३ ॥

उपस्कार—मूर्तद्रव्यों के संयोग से प्रवेश, पतन आदि क्रिया के कारण वेग संस्कार तथा गुरुत्वादिकों के प्रतिबन्ध (रुकावट) होने के कारण प्रवेश, पतन आदि क्रिया का अभाव अर्थात् उत्पत्ति नहीं होती, न कि आकाशरूप निमित्त कारण के अभाव से क्योंकि आकाश व्यापक द्रव्य है। इस कारण आकाश का अन्वय (सम्बन्ध) अन्यथा सिद्ध ही है (अन्यथा सिद्ध होने से कारण नहीं है) इसलिए आकाश द्रव्य में निमित्तकारणता का साधक नहीं है यह सूत्र का अर्थ है ॥ २३ ॥

एवं साङ्ख्यमते दूषिते शब्दमाकाशे लिङ्गमुपपादयिष्यन् परिशेषानुमानाय पीठमारचयन्नाह—

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ॥ २४ ॥

पृथिव्यादिलक्षणे कार्ये ये विशेषगुणा रूपादयस्ते कारणगुणपूर्वका दृष्टाः शब्दोऽपि विशेषगुणः जातिमत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियमात्रग्राह्यत्वात् रूपादिवत् तथा च तादृशं कार्यं नोपलभ्यते यत्र कारणगुणपूर्वकः शब्दः स्यादित्यर्थः ॥२४॥

ननु वीणावेणुमृदङ्गशङ्खपटहादौ कार्ये शब्द उपलभ्यते तथाच तत्कारणगुणपूर्वकः स्यादत आह—

कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः ॥ २५ ॥

इस प्रकार सांख्यमत के खण्डन करने पर, शब्द गुण को आकाश का साधक सिद्ध करने के लिये परिशिष्ट अनुमान करने के उद्देश से भूमिका रचते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कारणगुणपूर्वकः = समवायिकारण के गुणों से उत्पन्न होने वाला, कार्यगुणः = कार्य का गुण, दृष्टः = देखा गया है ॥ २४ ॥

भावार्थ—पृथिवी जल आदि कार्यद्रव्य में जो रूपादि विशेष गुण होते हैं, वे अपने परमाणु आदि कारण के गुण रूपादिकों से उत्पन्न हुआ उनके अनुसार होते हैं यह देखा गया है। शब्द गुण कारण गुणपूर्वक हो ऐसा कोई कार्य उपलब्ध नहीं होता अतः वह पृथिव्यादिकों का गुण नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

उपस्कार—पृथिवी, जल आदि कार्य द्रव्य में रूप-रस आदि जो विशेष गुण उपलब्ध होते हैं वे अपने अपने परमाणु रूप कारणों से उत्पन्न होते हैं, यह देखा गया है। शब्द भी, विशेष गुण है, जाति का आधार होते हुए। बाह्य एक इन्द्रिय (श्रोत्र) से गृहीत होने के कारण, रूप गुण के समान। ऐसा होने से ऐसा कोई कार्य उपलब्ध नहीं होता जिसमें कारण गुणपूर्वक शब्द गुण हो (इस अनुमान से श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत शब्दत्व जाति में अतिव्याप्ति-वारणार्थ जातिमत्तारूप विशेषण पद, तथा चक्षु एवं त्वक् इन्द्रिय से ग्राह्य संख्यादि सामान्य गुणों में उक्त दोष-वारणार्थ बाह्य एक इन्द्रिय से गृहीत होना ऐसा विशेष्य पद हेतु में दिया गया है) ॥ २४ ॥

(उत्तरसूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र शंका करते हैं कि 'वीणा, वेणु—(बांसुरी) मृदङ्ग, शख, तथा पटह (नगाड़ा) इत्यादि रूप कार्य में शब्द सुनाई देता है, इसलिये वीणा आदि कारण गुग से उत्पन्न शब्द कारण गुणपूर्वक हो जायगा' इस शंका का सूत्रकार समाधान देते हैं कि—

पदपदार्थ—कार्यान्तराप्रादुर्भावात् च = वीणा-वेणु आदि अवयवि द्रव्यों में दूसरे शब्दरूप कार्य के प्रगट न होने से भी, शब्दः = शब्द गुण, स्पर्शवतां = स्पर्शवान् पृथिव्यादिकों का, अगुणः = गुण नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

भवेदेवं यथा तन्तुकपालादिषु रूपरसाद्यनुभूयते तत्सजातीयञ्च रूपरसान्तरं पटघटादावुपलभ्यते तथा वीणावेणुमृदङ्गाद्यवयवेषु यः शब्द उपलब्धस्तत्सजातीयश्चेत् वीणावेणुमृदङ्गाद्यवयविन्युपलभ्येत न चैवम्। प्रत्युत निःशब्दैरेवावयवैर्वीणाद्यारम्भदर्शनात्, नीरूपैस्तु तन्तुकपालादिभिः पटघटाद्यारम्भस्यादर्शनात्। किञ्च यदि शब्दः स्पर्शवतां विशेषगुणः स्यात् तदा तत्र तार–तारतर–मन्द–मन्दतरापद्भावो नानुभूयेत न ह्येकावयव्याश्रिता रूपादयो वैचित्र्येणानुभूयन्ते तस्मान्न स्पर्शवद्विशेषगुणः शब्दः ॥ २५ ॥

भावार्थ—पटादि द्रव्यों में तन्तु आदिकों के रूपादि गुणों के उपलब्धि के समान वीणादिकों में उनके अवयवों के अनुसार शब्दरूप कार्य के न होने से भी स्पर्शाश्रय-पीयादिद्रव्यों का शब्द विशेष गुण नहीं हो सकता ॥ २५ ॥

उपस्कार—ऐसा तब होगा यदि जिस प्रकार तन्तु तथा कपाल आदि द्रव्यों में जैसे रूप रस आदि गुणों का अनुभव होता है, उनके समान जाति के ही रूप रस आदि गुणों की तन्तु कपाल आदि अवयवों से उत्पन्न पट, घट आदि कार्यों में उपलब्धि होती है, इसी प्रकार वीणा, वेणु, मृदङ्ग आदि द्रव्यों के अवयव (काष्ठ) आदिकों में शब्द गुण अनुभूत हुआ है। उसी के समान जाति का शब्द गुण वीणा, वेणु, मृदङ्ग आदि अवयवि द्रव्यों में उपलब्ध हो, किन्तु ऐसा नहीं होता, बल्कि शब्दरहित ही वीणादिकों के अवयवों से वीणादि अवयवि द्रव्यों की उत्पत्ति देखने में आती है, किन्तु रूपरहित तन्तु तथा कपाल आदि अवयवों से पट-घट आदि अवयवि द्रव्यों की उत्पत्ति देखने में नहीं आती। (यदि अनुद्भूत शब्द वीणादिकों के अवयवों में माना जाय, तो शंकरमिश्र दूसरा दोष देते हैं) कि—और यदि शब्दस्पर्शाश्रय पृथिव्यादि द्रव्यों का गुणविशेष हो तो उसमें तार (ऊँचा), तारतम (अति ऊंचा) तथा मन्द, मन्दतर इत्यादि रूपता जो शब्द में अनुभूत होती है वह न होगी, अर्थात् 'शब्द, स्पर्शवान् द्रव्यों का विशेष गुण नहीं है, पाकज न होते हुए कारण गुणपूर्वक प्रत्यक्ष न होने से सुख के समान' इस अनुमान से शब्द पृथिव्यादि स्पर्शवान् द्रव्यों का गुण नहीं है यह सिद्ध होता है। इसमें अपाजकरूप में व्यभिचारवारणार्थं सत्यन्त तथा पटरूप में उक्त दोष-वारणार्थं विशेष्य पद जानना व्यतिरेकी अनुमान सूचित करने के लिये शंकरमिश्र ने नहीं इत्यादि यहाँ कहा है। जिससे एक अवयवि में रहते हुए विलक्षण अनुभव होने से रूप के समान व्यतिरेकी दृष्टान्त आवा है। तार, तारतर इत्यादि अनुभव की उक्त आपत्ति में शंकरमिश्र युक्ति देते हैं क्योंकि एक अवयवि द्रव्यों में वर्तमान रूप रस इत्यादि गुण विचित्र रूप से अनुभूत नहीं होते (अर्थात् एक घटादि द्रव्यों का रूपादिगुण विलक्षण नहीं होता। इस कारण शब्द स्पर्शाश्रय पृथिव्यादिकों की विशेषगुण नहीं है यह सिद्ध होता है) ॥ २५ ॥

नन्वात्मगुणो मनोगुणो वा शब्दो भविष्यतीत्यत आह—

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः ॥ २६ ॥

शब्दो यद्यात्मगुणः स्यात् तदाऽहं सुखीयते जाने इच्छामीत्यादिवत् अहं पूर्य्ये अहं वाद्ये अहं शब्दवानित्यादि धीः स्यात् नत्वेवमस्ति, किन्तु शङ्खः पूर्य्यते वीणा वाद्यते इति प्रतियन्ति लौकिकाः। किञ्च शब्दो नात्मगुणः बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् रूपादिवत् अपि च शब्दो यद्यात्मयोग्यविशेषगुणः स्याद्बधिरेणाप्युपलभ्येत दुःखादिवत् तस्मात् सुष्ठूक्तं परत्र समवायादिति। अमनोगुणत्वे हेतुमाह—प्रत्यक्षत्वादिति। नात्ममनसोर्गुण इति समासे कर्त्तव्ये यदसमासकरणं तेन तुल्यन्यायतया प्रत्यक्षत्वादित्यनेनैव हेतुना दिक्कालयोरपि गुणत्वं शब्दस्य प्रतिषिद्धमिति सूचितम् ॥ २६ ॥

'शब्द आत्मा अथवा मन द्रव्यका ही गुण मानेंगे ऐसी शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—परत्र = अन्य में, समवायात् = समवेत होने से, प्रत्यक्षत्वात् च = और प्रत्यक्ष होने से भी, न = नहीं है, आत्मगुणः=आत्मा का गुण, न = नहीं, मनोगुणः= मन द्रव्य का गुण है ॥ २६ ॥

भावार्थ—आत्मा से भिन्न द्रव्यों में सम्बद्ध होने से तथा बाह्य नेत्र इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण भी शब्द आत्मा तथा मन द्रव्य का विशेष गुण नहीं है ॥ २६ ॥

उपस्कार—शब्द यदि आत्मा द्रव्य का गुण हो तो 'अहं सुखीयते, इच्छति' मैं सुखी हूं, मैं यत्न करता हूँ, मैं इच्छा करता हूँ, इत्यादि प्रतीति के समान 'अहं शब्दवान्' मैं शब्दवाला हूँ इत्यादि ज्ञान होने लगेगा, ऐसा ज्ञान नहीं होता, किन्तु शंख बजाया जाता है, वीणा बजायी जाती है ऐसा व्यवहार में प्रसिद्ध है। तथा 'शब्द, आत्मा का गुण नहीं है, बाह्य श्रोत्र इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण रूपादिगुणों के समान' इस अनुमान से भी शब्द आत्मा का गुण नहीं हैं यह सिद्ध होता है। (इस प्रकार अनुमान से शब्द आत्मा का गुण नहीं है यह सिद्ध कर इसी विषय को तर्क से सिद्ध करते हैं)—कि—यदि शब्द आत्मा का प्रत्यक्ष योग्य विशेष गुण हो तो बधिर (बहिरे) को भी (सुखादि गुणों के समान), शब्द सुनाई देगा अतः सूत्रकार ने 'परत्र समवायात्' अन्य में समवेत होने से यह ठीक कहा है। मन का शब्द गुण नहीं है इसमें प्रत्यक्षत्वात्-प्रत्यक्ष होने से यह हेतु सूत्र में दिया है। इस सूत्र में 'नात्ममनसोर्गुणः' ऐसा समस्त पद न देकर जो समास नहीं किया इससे समान न्याय से 'प्रत्यक्ष होने से' इसी हेतु से दिशा तथा काल द्रव्य का भी शब्द गुण नहीं है यह सूचित होता है (अर्थात् शब्द, दिशा, काल तथा मन का गुण नहीं है प्रत्यक्ष होने से रूप के समान इस अनुमान से दिशादि तीन द्रव्यों का शब्द गुण नहीं है यह सिद्ध होता है ॥ २६ ॥

यदर्थमयं परिशेषस्तदाह—

परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य ॥ २७ ॥

शब्द इति शेषः। अत्रापि शब्दः क्वचिदाश्रितो गुणत्वात् रूपादिवदिति सामान्यतोदृष्टादष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यसिद्धिः। गुणश्चायं बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यजातीयत्वात् रूपादिवत्, अनित्यत्वे सति विभुसमवेतत्वात् ज्ञानादिवत्। अनित्यत्वञ्च साधयिष्यते। परिशेषसिद्धस्य द्रव्यस्यावयवकल्पनायां प्रमाणाभावान्नित्यत्वं सर्वत्र शब्दोपलब्धेर्विभुत्वम् ॥ २७ ॥

शब्दलिङ्गस्य द्रव्यस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे अतिदेशेन साधयन्नाह—

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ २८ ॥

जिस लिये ऐसा पृथिव्यादि आठ द्रव्यों से परिशेष (अवशिष्ट द्रव्य) सूचित किया उसे दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि—

पदपदार्थ—परिशेषात् = परिशेष (अवशिष्ट) होने से, लिङ्गं = साधक है, आकाशस्य = आकाश नामक द्रव्य का ॥ २७ ॥

भावार्थ—उक्त प्रकार से पृथिव्यादि आकाश से भिन्न द्रव्यों का बाधा होने के कारण शब्द आकाश नामक नवम द्रव्य का साधक है ॥ २७ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित पद का ग्रहण करते हैं कि परिशेष से आकाश का साधक 'शब्द' है ऐसा सूत्र में अवशिष्ट पद देना। यहाँ भी शब्द, किसी द्रव्य में आश्रित है, गुण होने से, रूपादि गुणों के समान, इस प्रकार सामान्यतोदृष्ट अनुमान से पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों से भिन्न द्रव्य की सिद्धि होती है। यह शब्द गुण है, बाह्य (श्रोत्ररूप) एक इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण, रूपादि गुणों के समान, (अथवा) अनित्य होते हुए व्यापक में समवेत होने से, ज्ञान-इच्छादि गुणों के समान। (इन अनुमानों से शब्द में गुणत्व सिद्ध होता है)। (अन्तिम अनुमान में हेतु विशेषण) अनित्यता को आगे सिद्ध करेंगे। (सूत्र के परिशेष शब्द का अर्थ 'शेषवत् अनुमान' है यह सूचित करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—इस प्रकार परिशेष से सिद्ध पृथिव्यादि अष्टद्रव्यभिन्न द्रव्य के अवयव मानने से प्रमाण न होने से वह नित्य है, तथा सर्वत्र शब्द की उपलब्धि होने से शब्दाश्रय आकाश नामक द्रव्य विभु(व्यापक) है यह भी सिद्ध है ॥ २७ ॥

इसी शब्दलिङ्ग से सिद्ध आकाश द्रव्य की द्रव्यता, तथा अनित्यता वायु परमाणुओं के दृष्टान्त द्वारा भी सिद्धि होने की सूचना सूत्र में करते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्यत्वनित्यत्वे = द्रव्यत्वजातिमत्ता तथा नित्यता, वायुना = परमाणु रूप वायु द्रव्य से, व्याख्याते = व्याख्या की गई है ॥ २८ ॥

अद्रव्यवत्त्वाद्यथा वायोर्नित्यत्वं तथाकाशस्यापि, गुणवत्त्वाद् यथा वायोर्द्रव्यत्वं तथाकाशस्यापीत्यर्थः ॥ २८ ॥

तत् किं बहून्याकाशानि एकमेव वेत्यत आह—

तत्त्वम्भावेन ॥ २६ ॥

व्याख्यातमिति विपरिणतेनान्वयः। भावः सत्ता सा यथैका तथाकाशमप्येकमेवेत्यर्थः ॥ २९ ॥

नन्वनुगतप्रत्ययमहिम्ना सत्ताया एकत्वं सिद्धम् आकाशे कथमेकत्वं तद्दृष्टान्तेन सेत्स्यतीत्यत आह—

शब्दलिङ्गाविशेषाद्विशेषलिंगाभावाच्च ॥ ३० ॥

भावार्थ—उक्त प्रकार से अवयव में प्रमाण न होना तथा सर्वत्र उपलब्ध होना जैसे आकाश द्रव्य के नित्य होने में तथा व्यापक होने में साधक है, उसी प्रकार परमाणुरूप वायु में द्रव्याश्रितता न होने से जैसे उसमें नित्यता है एवं गुणवान् होने से जैसे वायु परमाणु द्रव्य होने के समान द्रव्यानाश्रित होने से तथा शब्दगुणाश्रय होने से आकाश भी नित्य तथा द्रव्यत्वजातिमान् द्रव्य है यह सिद्ध होता है ।। २८ ।।

उपस्कार—द्रव्याश्रित न होने से जैसे वायु परमाणु नित्य है उसी प्रकार द्रव्याश्रित न होने से आकाश भी (नित्य है), एवं रूपादिगुणाश्रय होने से जिस प्रकार परमाणुरूप वायु जैसे द्रव्य है उसी प्रकार आकाश द्रव्य भी शब्द गुण का आधार होने से द्रव्य है यह सूत्र का अर्थ है ।। २८ ।।

तो क्या वह आकाश अनेक है अथवा एक ? इस सन्देह के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत्त्वं = एकतारूप तत्त्व, भावेन=सत्ताजाति से, (व्याख्यात है)।।२६।।

भावार्थ—उक्त संदेह का निवारण यह है कि आकाश द्रव्य सत्ताजाति के समान एक है न कि अनेक ।। २९ ।।

उपस्कार—अट्ठाइसवें सूत्र के 'व्याख्याते' इस द्विवचनान्त पद का 'व्याख्यातं' ऐसा एकवचन में परिणामकर 'तत्त्वंभावेन' इस सूत्र में 'तत्त्वं' पद एकवचन होने से अन्वय करना (भाव) सत्ताजाति, वह जिस प्रकार एक है उसी प्रकार आकाश द्रव्य भी एक ही है यह सूत्र का अर्थ है ।। २९ ।।

शंका—'सत् सत्' इस अनुगत बुद्धि के सामर्थ्य से सत्ताजाति में एकत्व सिद्ध है तो एक आकाश होने से सत्ता के दृष्टान्त से इसमें एकत्व कैसे होगा' इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—शब्दलिङ्गाविशेषात् = शब्दरूप आकाश साधक हेतु की विशेषता

तत्त्वमाकाशस्य सिद्धमित्यर्थः। वैभवे सति सर्वेषां शब्दानां तदेकाश्रयतयैवोपपत्तावाश्रयान्तरकल्पनायां कल्पनागौरवप्रसङ्गः। अन्यदपि यदाकाशं कल्पनीयम् तत्रापि शब्द एव लिङ्गम् तच्चाविशिष्टम् न च विशेषसाधकं भेदसाधकं लिङ्गान्तरमस्ति। आत्मनां यद्यपि ज्ञानादिकमविशिष्टमेव लिङ्गं तथापि व्यवस्थातो लिङ्गान्तरादात्मनानात्वसिद्धिरिति वक्ष्यते ॥ ३० ॥

नन्वाकाशस्य एकत्वं तावदस्तु, वैभवात् परममहत्त्वमप्यस्तु, शब्दासमवायिकारणत्वात् संयोगविभागावपि स्याताम् एकपृथक्त्वं कथमत आह—

न होने से, विशेषलिङ्गाभावात् च = और भेदसाधक विशेष हेतु के न रहने से भी (आकाश एक है) ॥ ३० ॥

भावार्थ—यद्यपि आकाश के एक होने से उसमें अनेकाश्रित सत्ता के समान एकत्व नहीं हो सकता, किन्तु आकाशसाधक शब्दरूपलिङ्ग में कोई विशेषता न होने, तथा आकाश में अनेकता का साधक विशेष हेतु न होने से भी आकाश एक ही है यह सिद्ध होता है ॥ ३० ॥

उपस्कार—(सूत्र में आकांक्षित पद की पूर्तिकर शंकरमिश्र व्याख्या करते हैं कि)—'तत्त्वंभावेन' इससूत्र से 'तत्त्वं' इस पद की अनुवृत्ति कर सूत्र की शब्दलिङ्ग समान होने तथा भेदसाधक हेतु न रहने के कारण भी आकाश की एकता सिद्ध है। आकाश के व्यापक होने से संपूर्ण जगत् के शब्दों की आकाश के आश्रय से ही उत्पत्ति सिद्ध हो सकने के कारण शब्द का एक आकाश को छोड़कर दूसरा आकाश आधार मानने में गौरव दोष आ जायगा, और जो दूसरा आकाश मानेंगे उसमें भी शब्द ही साधक हेतु होगा, जो सर्वत्र समान ही है। और न आकाश के अनेकता का साधक शब्दको छोड़कर दूसरा कोई साधक हेतु है। जीवात्माओं के साधक ज्ञान इच्छादि गुण यद्यपि सर्वत्र समान हैं, तथापि व्यवस्था (कोई सुखी है कोई दुःखी) इत्यादि व्यवस्था रूप दूसरे साधक हेतु से आत्मा अनेक हैं यह सिद्ध होता है, ऐसा सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम्' (३ अ० २ आ० २९ सूत्र) अर्थात् सुख-दुःख इत्यादि आत्मसाधक हेतुओं के समान होने से आत्मा एक ही इस पूर्वपक्ष सूत्र के उत्तर में 'व्यवस्थातो नाना' इस सिद्धान्तसूत्र में सिद्ध करेंगे ॥ ३० ॥

(शंकापूर्वक शंकरमिश्र अग्रिम सूत्र का अवतरण देते हैं)—शंका है कि आकाश में एकत्व मानेंगे, व्यापक होने से परममहत् परमाण भी सिद्ध हो, तथा शब्द कार्य का असम-वायिकारण होने से संयोग तथा विभाग गुण भी आकाश में रहे, किन्तु एक पृथक्त्व से (आकाश काल से पृथक् है इत्यादि रूप) गुण कैसे सिद्ध होगा,—इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि—

तदनुविधानादेकपृथक्त्वञ्चेति ॥ ३१ ॥

नियमेनैकपृथक्त्वमेकत्वमनुविधत्ते इत्येकपृथक्त्वसिद्धिः। इतिराह्निकपरिसमाप्तौ मानसप्रत्यक्षाविषयविशेषगुणवद्द्रव्यलक्षणमाह्निकार्थः। तेन पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां प्रसङ्गत ईश्वरात्मनश्च लक्षणमस्मिन्नाह्निके। तेन चतुर्दशगुणवती पृथिवी, ते च गुणा रूपरसगन्धस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वसंस्काराः। तावन्त एव गन्धमपास्य स्नेहेन सहापाम्। एत एव रसगन्धस्नेहगुरुत्वान्यपास्य तेजसः। गन्धरसरूपगुरुत्वस्नेहद्रवत्वान्यपास्य वायोः। शब्देन सह सङ्ख्यादिपञ्चगुणवत्त्वमाकाशस्य।

पदपदार्थ—तदनुविधानात् = एकत्वसंख्यानुसारी होने से, एकपृथक्त्वं च=एक पृथक्त्व गुण भी, (है) इति=इस कारण ॥ ३१ ॥

भावार्थ—एकत्वादि शंका में प्रदर्शित गुणों के समान जहाँ एकत्व संख्या रहती है वहाँ नियम से (अवश्य ही) एक पृथक्त्व गुण रहता है, इस कारण आकाश में एक पृथक्त्व गुण भी है ॥ ३१ ॥

उपस्कार—नियम से एक पृथक्त्व नामक पृथक्त्व गुण एकत्व संख्या को अनुसरण करती है इस कारण आकाश में एक पृथक्त्व सिद्ध होता है। सूत्र में 'इति' शब्द २ अ० के आह्निक प्रथम की समाप्ति का सूचक सूत्रकार ने दिया है। इस सम्पूर्ण प्रथम आह्निक का मानसप्रत्यक्ष के अविषय रूप-रस-गन्ध स्पर्शादि गुणों के आधार पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि द्रव्यों का लक्षण करना विषय है। इस कारण इस द्वितीयाध्याय के प्रथम आह्निक में क्रम से पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश द्रव्य का लक्षण प्रारम्भ में करने के पश्चात् प्रसङ्ग से ईश्वररूप विशिष्ट आत्मा का लक्षण भी इस प्रथमाह्निक में किया है। इससे चतुर्दशगुण वाली पृथिवी द्रव्य है यह सिद्ध होता है। वे चतुर्दशगुण हैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व तथा संस्कार। इतने ही चतुर्दशगुण पृथिवी के गुणों में से गन्ध को निकालकर उसके स्थान में स्नेह के साथ जल के होते हैं। और इन्हीं चतुर्दश गुणों में से रस, गन्ध, स्नेह तथा गुरुत्व को छोड़कर रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व तथा संस्कार ऐसे एकादशगुण तेज द्रव्य के हैं। तथा गन्ध, रस, रूप, गुरुत्व, स्नेह तथा द्रवत्व को छोड़कर स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा संस्कार ऐसे नो गुण वायु के हैं। शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग ऐसे छ गुण आकाश द्रव्य के हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग ऐसे पाँच ही। दिशा तथा काल दोनों द्रव्यों के हैं। परत्व, अपरत्व तथा वेगसहित संख्या,

सङ्ख्यादिपञ्चकमात्रं दिक्कालयोः । परत्वापरत्ववेगसहितं सङ्ख्यादिपञ्चकं मनसः। सङ्ख्यादिपञ्चकं ज्ञानेच्छाप्रयत्नाश्चेश्वरस्य ॥ ३१ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे द्वितीयाध्याय-
स्याद्यमाह्निकम् ॥

परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग ऐसे आठ मन के गुण हैं। नित्यज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, एवं संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग तथा विभाग ऐसे आठ गुण ईश्वर के हैं। ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, तथा विभाग ऐसे चतुर्दशगुण जीवात्माओं के हैं ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्री शंकरमिश्र कृत वैशेषिक सूत्रों की उपस्कार व्याख्या में
द्वितीयाध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त है।

द्वितीयाध्याये द्वितीयाह्निकम्

इदानीं भूतानां लक्षणानि गन्धादीनि परीचिक्षिपुर्गन्धादीनां स्वाभाविकत्वमौपाधिकत्वञ्च व्यवस्थापयन्नाह—

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभावलिङ्गम् ॥ १ ॥

रूपरसगन्धस्पर्शा यत्र कारणगुणप्रक्रमेणोत्पद्यन्ते तत्र स्वाभाविकाः सन्तो लक्षणतामुपयन्ति नान्यथा, न हि समीरण उपलभ्यमानं सौरभं शिलातले उपलभ्यमानं शैत्यं जले उपलभ्यमानमौष्ण्यं वा लक्षणं भवति तदेतदाह—

(द्वितीयाध्याय द्वितीयाह्निक)

साम्प्रत पृथिवी आदि भूतद्रव्यों के गन्ध, रस आदि प्रदर्शित लक्षणों के यह लक्षण युक्त हैं या नहीं इस प्रकार परीक्षा करने की इच्छा रखते हुए गन्धादि गुण किन द्रव्यों में स्वाभाविक हैं तथा किन द्रव्यों में उपाधि प्राप्त (गौण) हैं इस व्यवस्था को दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—पुष्पवस्त्रयोः = पुष्प तथा वस्त्र का, सति = रहते, सन्निकर्षे = संयोग सम्बन्ध, गुणान्तराप्रादुर्भावः = कारण गुण से उत्पत्ति न होना, वस्त्रे = वस्त्र में, गन्धाभावलिङ्गं = गन्ध के अभाव का साधक है ॥ १ ॥

भावार्थ—चम्पा आदि सुगन्धित पुष्प तथा वस्त्र का संयोग होने पर वस्त्र में अपने तन्तुरूप कारण के गन्धरूपगुण से वस्त्र में गन्धरूप कार्य का न आना सिद्ध करता है कि वस्त्र में जो सुगन्ध उपलब्ध होता है वह वस्त्र का स्वाभाविक गुण नहीं है, किन्तु सुगन्धित पुष्प के संयोग से आने के कारण औपाधिक (गौण) है और पुष्परूप पृथिवी का स्वभाव-सिद्ध है ॥ १ ॥

उपस्कार—रूप, रस गन्ध तथा स्पर्श नामक विशेष गुण ही कारण गुण के क्रम से अवयवि द्रव्यों में उत्पन्न होते हैं, इसी कारण उन द्रव्यों में स्वाभाविक होते हुए वे लक्षण होते हैं अन्यथा स्वाभाविक नहीं होते, क्योंकि वायु में उपलब्ध होने वाला सुगन्ध पाषाण में गृहीत होनेवाली शीतता, जल में अनुभूयमान उष्णता उनका लक्षण नहीं होता इसी अभिप्राय से सूत्रकार 'पुष्पवस्त्रयोः' ऐसा सूत्र में कहते हैं। जिस कारण सुवर्ण चम्पकनाम के सुगन्धि पुष्प के संनिहित वस्त्र में अनुभूत होनेवाली सुवर्ण चम्पक पुष्प की सुगन्धि वस्त्र की नहीं है (यदि "वह्नि के अभाव में धूम के अभाव के समान कारण के अभाव में कार्य का अभाव साधक होता है ऐसा देखने में आता है अतः प्रस्तुत में केतकी (केवड़े) पुष्प के गन्ध का अभाव भी वस्त्र के गन्ध के अभाव में साधक लिङ्ग हो जायगा, एवं च केतकीपुष्प के गन्ध से ही वस्त्र में भी

पुष्पवस्त्रयोरिव । न हि कनककेतकीकुसुमसन्निकृष्टे वाससि कनककेतकी-सौरभमनुपलभ्यमानं वासवः । न हि वाससः कारणगुणप्रक्रमेण तदुत्पन्नम्, किन्तर्हि ? कनककेतकीसन्निधानादौपाधिकं, न हि वस्त्रे गन्धाभावे केतकी-गन्धाभावो लिङ्गम् । किं लिङ्गमत उक्तं गुणान्तराप्रादुर्भाव इति । गुणान्त-रात् कारणगुणात् अप्रादुर्भावोऽनुत्पत्तिः यदि हि वस्त्रे यो गन्ध उपलभ्यते स तस्य स्वाभाविकः स्यात्तदा तदवयवेषु तन्तुषु केतकीसन्निकर्षात् पूर्वं तत्र वस्त्रे चोपलभ्येत न चैवमित्यर्थः । तथाच विवादाध्यासितो गन्धो न वस्त्रसमवेतः तदवयवगुणाजन्यविशेषगुणत्वात् शीतोष्णस्पर्शादिवत् ॥ १ ॥

स्वाभाविकं गन्धं पृथिव्या लक्षणमाह—

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥ २ ॥

उसी जाति का सुगन्ध उत्पन्न होगा तो वह वस्त्र का स्वाभाविक गुण क्यों न होगा" ऐसी शंका पूर्वपक्षी करे तो उसके उत्तर में शंकरमिश्र कहते हैं कि)—वह गन्ध वस्त्र के कारण-गुण के क्रम से उत्पन्न नहीं है । शंका—तो कैसा है ? उत्तर—सुवर्ण केतकी पुष्प के सन्निहित होने से वस्त्र में वह गुण औपाधिक (पुष्प के सम्बन्ध से आया गौण है) क्योंकि वस्त्र के गन्ध के अभाव में केतकीपुष्प के गन्ध का अभाव साधक नहीं है । (अर्थात् वस्त्र के गन्ध न होने में केतकीपुष्प के गन्ध का अभाव यदि लिङ्ग हो तब तो उक्त पुष्प तथा वस्त्र गन्धों के कार्यकारण-भाव की शंका होगी यह उत्तर का तात्पर्य है ।) (यदि वस्त्र में गन्ध न होने में केतकी गन्ध का अभाव लिङ्ग नहीं है तो क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—इसी कारण सूत्र में 'गुणान्तराप्रादुर्भावः' ऐसा कहा है (जिसका अर्थ ऐसा शंकरमिश्र करते हैं) कारण गुण रूप गुणान्तर (दूसरे गुण) से अप्रादुर्भाव (उत्पन्न न होना) यदि वस्त्र में जो सुगन्ध अनुभूत होता है वह उसका स्वभावसिद्ध गुण हो तो उसके तन्तुरूप अवयवों में केतकीपुष्प के सन्निहित होने के पूर्वकाल में तन्तुरूप अवयव तथा वस्त्र मे भी सुगन्धि उपलब्ध होने लगेगी, किन्तु ऐसा नहीं है । तथा च विवादविषयक गन्ध गुण, वस्त्र में सम्बद्ध नहीं है, वस्त्र के अवयवों के गुणों से उत्पन्न न हुये विशेष गुण होने से शीतोष्ण स्पर्श के समान (इस अनुमान से गन्ध वस्त्र का स्वाभाविक गुण नहीं है यह सिद्ध होता है) इस अनुमान में वस्त्ररूप में व्यभिचार-वारणार्थं अजन्य तक विशेषण तथा कर्मजन्य संयोग में उक्त दोष-वारणार्थं विशेष्य पद दिया है ॥ १ ॥

स्वाभाविक गन्ध गुण पृथिवी का लक्षण है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—व्यवस्थितः = समानजातीय तथा असमानजातीय से व्यावृत्त, पृथि-व्यां = पृथिवीद्रव्य में, गन्धः=गन्ध गुण है ॥ २ ॥

भावार्थ—द्रव्यरूप से समान जातीय जल, तेज आदिकों से तथा असमान-

पृथिव्यां व्यवस्थितोऽयोगान्ययोगाभ्यां परिच्छिन्नः समानासमानजातीयव्यावर्त्तकतया गन्धो लक्षणमित्यर्थः। भवति हि पृथिवी गन्धवत्येव, पृथिव्येव गन्धवतीति, तदेवं समानजातीयेभ्यो जलाद्यष्टभ्योऽसमानजातीयेभ्यो गुणादिपञ्चभ्यो व्यावर्त्तकः स्वाभाविकः पृथिव्यां गन्ध इति व्यवस्थितम् ॥ २ ॥ ॥

गन्धस्य स्वाभाविकत्वव्यवस्थापनप्रकारमुष्णतायां तेजोलक्षणेऽप्यतिदिशन्नाह—

एतेनोष्णता व्याख्याता ॥ ३ ॥

अबादिलक्षणे शैत्यादावप्ययमतिदेशो द्रष्टव्यः ॥ ३ ॥

तेजोलक्षणं परीक्षते—

जातीय गुण, कर्म आदि पदार्थों से व्यावृत्ति (भेद) करने वाला गन्धरूप गुण पृथिवी का लक्षण होने से गन्ध पृथिवी का स्वाभाविक गुण है यह सिद्ध होता है ॥ २ ॥

उपस्कार—पृथिवी द्रव्य में गन्ध के असम्बन्ध, तथा जलादिकों में सम्बन्ध दोनों से व्यावृत्त तथा द्रव्यरूप से समानजातीय जलादिकों से तथा गुणादि रूप असमानजातीय पदार्थों से भेद-साधक होने के कारण व्यवस्थित गन्ध गुण पृथिवी का लक्षण है। क्योंकि पृथिवी गन्धाश्रय होती ही है, तथा पृथिवी ही गन्धाश्रय है। (यहाँ गन्धवती ही है इस कथन से पृथिवी में जलदि भेदसाधक अनुमान में भागासिद्धि दोष न होगा, तथा पृथिवी है इस वचन से व्यभिचार दोष का वारण जानना) ॥

तो इस प्रकार द्रव्यत्वरूप से समान जाति के जल, तेज आदि आठ द्रव्य तथा असमानजातीय गुण-कर्मादि पांच पदार्थों से भेद सिद्ध करने वाला स्वाभाविक गुण पृथिवी में है यह सिद्ध होता है ॥ २ ॥

गन्ध गुण की स्वाभाविकता-सिद्धि का उक्त प्रकार तेज द्रव्य के उष्णतारूप स्वाभाविक लक्षण में भी अग्रिम सूत्र में अतिदेश द्वारा (समान प्रकार द्वारा) करते हैं-

पदपदार्थ—एतेन=इस (गन्धरूप पृथिवी-लक्षण) से, उष्णता = तेज द्रव्य की उष्णता, व्याख्याता=की व्याख्या की गई ॥ ३ ॥

भावार्थ—'उष्णता, पृथिवी में समवेत नहीं है, उसके अवयवों के गुणों से उत्पन्न न हुये गुणविशेष होने से, स्वाभाविक द्रव्यत्व के समान न जल में समवेत है, गन्ध के समान, इस अनुमान से बाध होने के कारण पृथिवी तथा जल में उपलब्ध होने वाली उष्णता औपाधिक, तथा तेज में स्वाभाविक है यह सिद्ध होता है ऐसा सूत्र का अभिप्राय है ॥ ३ ॥

उपस्कार—आगे कहे जाने वाले शीतता आदि जलादि-लक्षणों में भी पृथिवी गुण के गन्ध के स्वाभाविकता के समान इस सूत्र में कहे हुए उष्णतारूप स्वाभाविक गुण के लक्षण का अतिदेश (समान प्रकार की सूचना) जानना चाहिये ॥ ३ ॥

तेजस उष्णता ॥ ४ ॥

स्वाभाविक्युष्णता तेजोलक्षणमित्यर्थः। रूपमपि शुक्लभास्वरमुपलक्ष्यते ॥ ४ ॥

अपां लक्षणं परीक्षते—

अप्सु शीतता ॥ ५ ॥

स्वाभाविकी शीतता अपां लक्षणमित्यर्थः। तथाच शिलातलश्रीखण्डादौ नातिव्याप्तिरिति भावः। शीततया रूपरसावप्युक्तलक्षणौ स्नेहं सांसिद्धिकद्र-

---

तेज द्रव्य के लक्षण की परीक्षा करते हैं—

पदपदार्थ—तेजसि = तेजमें, उष्णता = उष्णता गुण (स्वाभाविक है) ॥ ४ ॥

भावार्थ—स्वाभाविक उष्ण स्पर्श गुण तेजद्रव्य का स्वाभाविक गुण है ॥४॥

उपस्कार—स्वभावसिद्ध उष्णस्पर्श गुण तेजनामक द्रव्य का इतर पदार्थों से भेदसिद्धि करने के कारण लक्षण है यह सूत्रार्थ है। इससे परप्रकाशक (भास्वर) शुक्लरूप स्वाभाविक विशेष गुण भी लक्षण हैं यह भी सूचित होता है ॥ ४ ॥

जल के लक्षण की सूत्रकार परीक्षा करते हैं—

पदपदार्थ—अप्सु = जल में, शीतता = शीतस्पर्शगुणाधारता, स्वाभाविक जल का लक्षण है ॥ ५ ॥

भावार्थ—'स्वाभाविक शीतस्पर्श की आधारता पृथिवी में समवेत नहीं है, उसके अवयव-गुणों से उत्पन्न न होने के कारण, स्वाभाविक द्रव्यत्व के समान तथा तेज में समवेत भी नहीं है, गन्ध के समान, इन अनुमानों से बाध होने के कारण पृथिवी आदि द्रव्यों में उपलब्ध होने वाली शीतता औपाधिक तथा जल में स्वाभाविक है ऐसी सूत्रकार ने जल द्रव्य की इस सूत्र में परीक्षा दिखाई है ॥ ५ ॥

उपस्कार—स्वभावसिद्ध शीतस्पर्शवत्ता जल का लक्षण है। अतः ऐसा होने से शिलातल तथा चन्दन आदि पृथिवी में जल के सम्बन्ध से शैत्य होने के कारण अतिव्याप्ति दोष न होगा। इस शीतस्पर्श गुण से अप्रकाशक शुक्ल रूप, तथा मधुररस जिनका जल-लक्षण में स्वरूप कहा गया है ये दोनों, तथा स्नेह एवं स्वाभाविक द्रव्यत्व भी जल के स्वाभाविक गुण न होने से लक्षण है यह सूचित होता है। शंका—पृथिवी-लक्षण की परीक्षा के पश्चात् क्रमप्राप्त जल के लक्षण की परीक्षा के अनन्तर तेज द्रव्य के लक्षण की परीक्षा करना उचित रहते तेज लक्षण की परीक्षा के पश्चात् जल के लक्षण की परीक्षा करने से क्रम के भंग करने का दोष सूत्रकार ने क्यों किया? उत्तर—तेज का उष्ण स्पर्श पृथिवी तथा जल के स्पर्श को अभिभूत कर देते हैं। (अर्थात् दबा देते हैं) यह सूचित करने के लिये पृथिवी तथा जल के लक्षणों की परीक्षा के मध्य में तेज के लक्षण की परीक्षा सूत्रकार ने की है, अतः, अथवा सूत्र में

वत्वञ्चोपलक्षयति । ननु उद्देशलक्षणक्रमभङ्गः कुत इति चेन्न तेजःस्पर्शस्य पृथिवीजलस्पर्शयोरभिभावकत्वसूचनाय तयोर्मध्ये तेजःपरीक्षाया उक्तत्वात्, वायुपरीक्षासूचनार्थं वा क्रमलङ्घनम् । तथा चापाकजानुष्णाशीतस्पर्शो वायोः स्वाभाविकः सन् लक्षणमित्युन्नेयमिति तात्पर्य्यम् ॥ ५ ॥

तदेवं कारणगुणपूर्वकाः स्पर्शवतां विशेषगुणाः गन्धादयः पृथिव्यादीनां लक्षणानीत्युक्तम् । इदानीं क्रमप्राप्तं काललक्षणप्रकरणमारभमाण आह—

अपरस्मिन्नपरं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि ॥ ६ ॥

इतिकारो ज्ञानप्रकारपरः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, तथा चापरमितिप्रत्ययो युगपदितिप्रत्ययः चिरमितिप्रत्ययः क्षिप्रमितिप्रत्ययः काल-

---

न की हुई भी वायु-लक्षण के परीक्षा की सूचना करने के लिये क्रमभग सूत्र में है। (यहाँ पर अथवा सुवर्ण तथा चन्द्रिकादिकों में क्रम से पृथिवी तथा जल का स्पर्श तेज के उष्णस्पर्श का अभिभावक (दबाने वाला) है इस लिये द्वितीय कल्प का शंकरमिश्र ने अनुसरण किया है। स्पर्शाश्रयतारूप समान धम से स्मरण होने के कारण वायु-परीक्षा भी जाननी चाहिये । इसलिये सूत्रकार ने क्रमभग किया है यह शकरमिश्र के द्वितीय कल्प का अभिप्राय है) । (अतः शंकरमिश्र कहते हैं कि ऐसा सूत्रकार का क्रमभंग में तात्पर्य होने के कारण)—अपाकज तथा अनुष्णाशीत स्पर्श वायु द्रव्य का स्वाभाविक गुण होने से वायु का लक्षण है यह जानना चाहिये यह तात्पर्य है ॥ ५ ॥

तस्मात् इस प्रकार कारण-गुणों से उत्पन्न होने वाले स्पर्शाश्रय पृथिवी आदि द्रव्यों के गन्धरूप इत्यादिविशेषगुण पृथिव्यादि द्रव्यों के लक्षण हैं यह पूर्वग्रंथ में कहा गया है। सांप्रत आकाश-लक्षण के पश्चात् उद्देश्यक्रम के अनुसार काल द्रव्य का लक्षण प्रारम्भ करते हुये सूत्रकार कहते हैं मध्य में अन्य (पृथिवी आदि लक्षण की परीक्षादि) वर्णन केवल बलवान् जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये किया गया है)।

पदपदार्थ—अपरस्मिन् = पास, तथा कनिष्ठ मे, अपर=अपर है, युगपत्=एक काल में है, चिरं=विलम्ब से है, क्षिप्र = शीघ्र है, इति=ये संपूर्ण ज्ञान, काललिङ्गानि= काल के साधक हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—समीपस्थ पदार्थ में तथा कनिष्ठ अवस्था वाले मनुष्यों में यह अपर है, एवं दूर के पदार्थ में एवं ज्येष्ठ अवस्था वाले में यह पर है। इस ज्ञान से इसी प्रकार यह एक काल में हुआ, यह विलम्ब से हुआ, यह शीघ्र हुआ, यह संपूर्ण ज्ञान काल नामक द्रव्य के साधक लिङ्ग हैं ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र के अन्त में इति शब्द ज्ञानों के प्रकारों का बोधक है। ऐसा होने से यह (अपर) समीप है यह (पर) दूर है तथा यह ज्ञान (अपर) कनिष्ठ है, यह पर ज्येष्ठ है, यह ज्ञान एक काल में उत्पन्न हुआ, यह विलम्ब से हुआ, यह शीघ्र हुआ,

लिङ्गानीत्यर्थः। अपरस्मिन्नपरमित्यनेन परस्मिन् परमित्यपि द्रष्टव्यम् तेनायमर्थः बहुतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मनि स्थविरे युवानमवधिं कृत्वा परत्वमुत्पद्यते तच्च परत्वमसमवायिकारणसापेक्षम्। न च रूपाद्यसमवायिकारणं व्यभिचारात् त्रयाणां गन्धादीनां वायौ परत्वानुत्पादकत्वात्। स्पर्शस्याप्युष्णादिभेदेन भिन्नस्य प्रत्येकं व्यभिचारात्। न चावच्छिन्नपरिमाणं तथा तस्य विजातीयानारम्भकत्वात्, तपनपरिस्पन्दानाञ्च व्यधिकरणत्वात्। तदवच्छिन्नद्रव्यसंयोग एवासमवायिकारणं परिशिष्यते तच्च द्रव्यं पिण्डमात्त-

---

वह संपूर्ण ज्ञान काल द्रव्य के साधकलिङ्ग हैं। यहाँ सूत्र में 'अपरस्मिन्नपरं' अपर पदार्थ में अपर है, इस कथन से 'परस्मिन् परं' पर पदार्थ में पर है अर्थात् दूर तथा ज्येष्ठ है यह जान भी लेना चाहिये। इससे यह अर्थ आता है कि अधिक सूर्य-क्रिया से अन्तरित (अन्तरवाले) जन्मवाले वृद्ध पुरुष में तरुण पुरुष को अवधि मानकर कालिक परत्व गुण उत्पन्न होता है, और परत्वगुणरूप भाव कार्य होने से असमवायिकारण की अपेक्षा रखता है। इस परत्वाधार दूरस्थ पदार्थ अथवा ज्येष्ठ पुरुष शरीर में वर्तमान रूपादि गुण व्यभिचार होने से उसके असमवायि नहीं हो सकते। क्योंकि गन्ध, रूप, तथा रस ये तीन गुण वायु में न होने से यह वायु दूर है, यह समीप है इत्यादि बुद्धि को उत्पन्न नहीं कर सकते एवं स्पर्शगुण भी जो उष्ण, शीत तथा अनुष्णाशीत इस भेद से भिन्न है प्रत्येक में व्यभिचार होने से परत्वादि गुणों की उत्पत्ति नहीं कर सकता (अर्थात् दूरस्थपरत्ववान् जलादिकों में शीत आदि एक-एक ही स्पर्श रहने से प्रत्येक जलादिकों से उत्पन्न परत्वादि गुणों में प्रत्येक का व्यभिचार दोष आ जायगा तथा पाकज स्पर्श के उत्पत्ति के समय में अपरत्व के उत्पन्न होने की आपत्ति के कारण स्पर्श के विलक्षण होने से परत्वादिगुणों में भी विलक्षणता आ जायगी यह दोष भी जान लेना)। (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—इस परत्वादि गुण में इयत्ताविशिष्ट परिणाम गुण भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह विजातीय कार्यों को उत्पन्न ही नहीं करता, सूर्यक्रिया सूर्य में वर्तमान होने से परत्वादिकों के आश्रयों में न होने के कारण वह व्यधिकरण (भिन्न आधार में) है। तो (परत्वादि गुणों का असमवायिकारण क्या होगा? इस प्रश्न के उत्तर में शंकरमिश्र कहते हैं) कि परत्वादि युक्त द्रव्य का संयोग ही परत्वादि गुणोत्पत्ति में कारण है यह परिशेष से सिद्ध होता है, और वह द्रव्य परत्वादिकों के आश्रय पदार्थ तथा शरीर आदि एवं सूर्य दोनों से संयुक्त व्यापक ही होगा (अर्थात् परत्वाधार शरीरादि तथा सूर्य दोनों में संयुक्त किसी व्यापक द्रव्य का संयोग ही परत्वादि ज्ञानरूप कार्य में असमवायिकारण है)। (आकाश वह व्यापक द्रव्य नहीं हो सकता इस आशय से आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—(व्यापक होने के कारण) आकाश द्रव्य को दोनों में संयुक्त (परत्वाधार पदार्थ तथा सूर्य में संयुक्त) द्रव्य माना जाय तो कहीं भी नगाड़े के दंडे से ताडन

ण्डोभयसंयुक्तं विभु स्यात्। आकाशस्य तत्स्वाभाव्यकल्पने क्वचिदपि भेर्यभिघातात् सर्वभेरीषु शब्दोत्पत्तिप्रसङ्गः। तथाच कालस्यैव मार्त्तण्डक्रियोपनायकः। आत्मनश्च द्रव्यान्तरधर्मेषु द्रव्यान्तरावच्छेदाय स्वप्रत्यासत्त्यतिरिक्तसन्निकर्षापेक्षत्वात् अन्यथा वाराणसीस्थेन महारजनारुणिम्ना पाटलिपुत्रेऽपि स्फटिकमणेरारुण्यप्रसङ्गात्। कालस्य तु तत्स्वभावतयैव कल्पनादयमदोषः। कालेनापि रागसंक्रमः कथं नेति चेत् नियतक्रियोपनायकत्वेनैव तत्सिद्धेः। एवं स्थविरमवधिं कृत्वा यूनि अपरत्वोत्पत्तिर्निरूपणीया। युगपदिति। युगपज्जायन्ते युगपत्तिष्ठन्ति युगपत् कुर्वन्ति इत्यादिप्रत्ययानाञ्च एकस्मिन् काले एकस्यां सूर्यगतौ एकस्मिन् सूर्यगत्यवच्छिन्नकाले इत्यर्थः। नचाप्राप्ता एव सूर्यगतयो विशेषणतामनुभजन्ति न च स्वरूपप्रत्यासन्ना

से शब्द उत्पन्न होते ही संसार के सभी नगाड़ों में शब्द (आवाज) होने की आपत्ति आ जायगी। (अर्थात् परत्वाधार तथा सूर्य दोनों में संयुक्त द्रव्य अपने संयोगी तथा समान काल के जितने द्रव्य हैं उनमें परत्व को उत्पन्न करता है, इस कारण परत्वादि गुण के समान संपूर्ण भेरी (नगाड़ों) में सर्वत्र शब्द उत्पन्न होने लगेगा। इस कारण काल के स्वभाववाला आकाश द्रव्य नहीं हो सकता)। (अतः शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—ऐसा होने से सूर्य से संयुक्त काल का ही परत्वाश्रय शरीरादि पदार्थ के साथ संयोग परत्वादि गुण रूप कार्य की उत्पत्ति में असमवायिकारण है, अतः व्यापक काल द्रव्य ही सूर्य की क्रिया को परत्वाश्रय शरीरादि पदार्थों में ले जाता है। जीव आत्मा व्यापक द्रव्य होने पर भी दूसरे द्रव्यों के धर्मों में अन्य द्रव्य के सम्बन्ध करने के लिये अपने सान्निध्य से भिन्न दूसरे उपाधिरूप पदार्थ के सन्निकर्ष की अपेक्षा भी करता है। नहीं तो वाराणसी में वर्तमान महारजन (जपापुष्पादि रक्त द्रव्य) की अरुणिमा (लाली) से पटना नगर में वर्तमान स्फटिक मणि में रक्तिमा (लाल रंग) ग्राह्य होने का दोष आ जायगा। और काल द्रव्य तो अपने संयोग के आधार तथा समान काल के जितने पदार्थ हैं उनमें वर्तमान परत्वादि कार्य के असमवायिकारण काल-पिण्ड-संयोगाधार रूप स्वभाव होने से पूर्वप्रदर्शित दोष सर्वत्र शब्दोत्पत्ति रूप नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश में ऐसा स्वभाव नहीं है। शंका—व्यापक काल को लेकर राग-संक्रमण (काशी के जपापुष्पादिकों की क्रिया से पटने के स्फटिक मणि में रक्तगुण का ज्ञान होना) यह दोष क्यों न होगा। उत्तर—काल की नियामित क्रिया का ही (उपनायक) अन्यत्र ले जाने वाला स्वभाव है अतः यह दोष नहीं हो सकता। प्रदर्शित परत्व गुण की उत्पत्ति के समान वृद्ध पुरुष को अवधि मान कर तरुण पुरुष में अपरत्व गुण की उत्पत्ति का निरूपण करना चाहिये। युगपत् (एक काल में) उत्पन्न होते हैं, एक काल में बैठे हैं, एक काल में करते हैं इत्यादि ज्ञानों का भी एक ही समय में एक सूर्य की गति में अर्थात् एक सूर्य की गति से युक्त

एव ताः, तस्मादेतादृशविशिष्टप्रत्ययान्यथानुपपत्त्या विशेषणप्रापकं यद् द्रव्यं स कालः ॥ ६ ॥

ननु सिध्यतु कालः, स तु नित्यो द्रव्यं वेति न प्रमाणमत आह—

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ७ ॥

यथा वायुपरमाणोर्गुणवत्त्वाद् द्रव्यत्वम् अद्रव्यत्वाच्च नित्यत्वं तथा कालस्यापीत्यर्थः ॥ ७ ॥

तथापि सन्तु बहवः काला इत्यत आह—

तत्त्वम्भावेन ॥ ८ ॥

व्याख्यातमिति विपरिणतेनान्वयः। चिरादिप्रत्ययानां काललिङ्गानां सर्वत्र-विशेषादनेकत्वेऽप्यात्मनामिव विशेषलिङ्गाभावात् सत्तावदेकत्वं कालस्येत्यर्थः।

काल में ऐसा अर्थ है। (यदि 'इदानीं' इस समय इत्यादि ज्ञान सूर्य की क्रिया से ही हो सकता है तो काल द्रव्य की कल्पना क्यों की जाय ऐसा कहो तो शंकरमिश्र कहते हैं कि)—विना प्राप्त हुये सूर्य की गति क्रियाविशेषण नहीं हो सकती, और न वह स्वरूप से 'इदानीं घट' इत्यादि प्रतीति से घटादि पदार्थों में संन्निहित है, इस कारण 'युगपज्जायन्ते' इत्यादि विशेष ज्ञानों के असंभव होने के कारण सूर्यक्रियारूप विशेषण को पहुँचाने वाला जो द्रव्य है वही काल है यह सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

शंका--काल उक्त प्रकार से सिद्ध हो, किन्तु वह नित्य अथवा द्रव्य है इसमें क्या प्रमाण ? इस शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं--

पदपदार्थ—द्रव्यत्वनित्यत्वे = द्रव्यता तथा नित्यता दोनों, वायुना = परमाणु रूप वायु से, व्याख्याते = कही गई हैं।

भावार्थ—जिस कार परमाणु रूप वायुरूप गुणवान् होने से द्रव्य तथा द्रव्यानाधार होने से नित्य है. उसी प्रकार काल द्रव्य भी गुणाधार होने से द्रव्य एवं द्रव्य मे आश्रित न होने से नित्य है ॥ ७ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार परमाणु रूप वायु गुणाश्रय होने से द्रव्यत्वजातिमान् है, और द्रव्य में अनाश्रित द्रव्य होने से नित्य है, उसी प्रकार कालद्रव्य भी गुणाधार होने से द्रव्य तथा अवयव द्रव्य के आश्रित न होने से नित्य भी है यह सूत्र का अर्थ है ॥७॥

तथापि काल में अनेक क्यों नहीं माने जाँय। इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत्त्वं = एकता, भावेन = सत्ता से, (व्याख्यात है) ॥ ८ ॥

भावार्थ—सत्ताजाति के समान कालद्रव्य भी एक है ॥ ८ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में ७ सूत्र के 'व्याख्याते' इस द्विवचनान्त पद की 'तत्त्वं' इस एकवचन के अनुसार 'व्याख्यातं' ऐसा एकवचन में परिणाम कर सत्ताजाति से

नन्वेवं क्षणलवमुहूर्त्तयामदिवसाहोरात्रपक्षमासर्त्त्वयनसंवत्सरादिभेदेन भूयांसः कालास्तत् कथमेक इति चेन्न भेदभानस्य उपाधिनिबन्धनत्वात्। यथा एक एव स्फटिकमणिर्जवातापिञ्जाद्युपाध्युपरागेण भिन्न इव भासते तथैक एव कालः सूर्यस्पन्दाद्यवच्छेदभेदेन तत्कार्याविच्छेदभेदेन च भिन्न इव भासते इत्यभ्युपगमात्। तथा च कालोपाध्यव्यापकः कालोपाधिः, स्वाधेयकादाचित्काभावाप्रतियोग्यनाधारः कालो वा क्षणः प्रतिक्षणं कस्यचिदुत्पत्तेः कस्यचिद्विनाशादेतदध्यवसेयम्। क्षणद्वयञ्च लव इत्याद्यागमप्रसिद्धम्। ननु तथाप्यतीतानागतवर्तमानभेदेन कालत्रयमस्तु श्रूयते हि "त्रैकाल्यमुपावर्त्तते" त्रैकाल्यासिद्धिः" इत्यादीति चेन्न। वस्तुतत्प्रागभावतत्प्रध्वंसावच्छेदेन त्रैकाल्यव्यवहारात् येन हि वस्तुना यः कालोऽवच्छिद्यते स तस्य वर्त्तमानः, यत्प्रागभावेन यः कालोऽव-

---

कालद्रव्य की एकता व्याख्या की गई है ऐसा अन्वय करना। विलम्ब से उत्पन्न हुआ, एक काल में उत्पन्न हुआ इत्यादि प्रदर्शित काल-साधक ज्ञानों के सर्वत्र समान होने से आत्मा के व्यवस्था क समान अनेकता में साधक विशेष लिङ्ग न होने के कारण भी सत्ताजाति के समान एक ही काल है। यह सूत्र का अर्थ है। शङ्का—कालद्रव्य एक मानने से क्षण, लव, मुहूर्त, याम, दिन, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर इत्यादि पूर्व व्याख्या किये भेद से अनेक कालों का कहना असंगत हो जायगा। उत्तर—उक्त कालद्रव्य की भेद-प्रतीति औपाधिक होने से भ्रम है यह सिद्ध होता। जिस प्रकार एक ही स्फटिकमणि जपापुष्प, तापिंजद्रव्य आदि उपाधियों के समीप होने पर रक्त, नील आदि स्वरूप से एक होने पर भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, इसी प्रकार एक ही काल द्रव्य भी सूर्य क्रियादि भिन्न-भिन्न उपाधियों के सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है ऐसा मानते हैं। ऐसा होने से अपने से भिन्न काल की उपाधि में न रहने वाले कालोपाधि को अथवा अपने में वर्तमान कदाचित् होनेवाले ध्वंस तथा प्रागभावरूप अभाव के प्रतियोगी के अनाधार काल को क्षण कहते हैं, क्योंकि प्रतिक्षण में किसी की उत्पत्ति तथा किसी का नाश होता है। (अर्थात् किसी भी क्षण में ध्वंस तथा प्रागभाव के प्रतियोगी की आधारता नहीं होती)। इस कारण यह क्षण का लक्षण हो सकता है। (इसी कारण मुक्तावली में भी क्रियाजन्य-विभाग-प्रागभावयुक्त क्रिया ही को प्रथम क्षण कहा है।) (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—ऐसे दो क्षण को 'लव' ऐसी शास्त्रकारों ने संज्ञा की है। शंका—तथापि भूत, भविष्य तथा वर्तमान इस भेद से तीन प्रकार के काल हो सकेंगे, क्योंकि 'त्रैकाल्यमुपावर्तते' तीन काल के परिवर्तन हुआ करते हैं, 'त्रैकाल्यासिद्धिः' 'त्रिकाल की असिद्धि है' इत्यादि सूत्रों में त्रिकाल-विषय में वर्णित है। उत्तर—पदार्थ तथा उसके प्रागभाव और ध्वंस के सम्बन्ध से भूत-भविष्यादि त्रिकाल का व्यवहार होता है, जिस पदार्थ से जो समय

च्छिद्यते स तस्य भविष्यत्कालः यत्प्रागभावेन यत्प्रध्वंसेन यः कालोऽवच्छिद्यते स तस्यातीतकालः तथा चावच्छेदकत्रित्वाधीनः कालत्रित्वव्यवहारः ॥ ८ ॥

इदानीं सर्वोत्पत्तिमतां कालः कारणमित्याह—

नित्येषु भावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति ॥ ९ ॥

इतिशब्दो हेतौ इति हेतोः कारणे सर्वोत्पत्तिमत्कारणे काल इत्याख्या । हेतुमाह नित्येष्वभावादनित्येषु भावादिति । नित्येषु आकाशादिषु युगपज्जातः चिरं जातः क्षिप्रं जातः इदानीं जातः दिवा जातः रात्रौ जात इत्यादिप्रत्ययस्याभावात्, अनित्येषु च घटपटादिषु यौगपद्यादिप्रत्ययानां भावात् अन्वय-

---

सम्बद्ध होता है वह उसका वर्त्तमान काल तथा जिस पदार्थ के प्रागभाव से जो सम्बद्ध होता है वह भविष्यकाल, जो जिस पदार्थ के ध्वंस से सम्बद्ध होता है वह उसका भूतकाल होता है, ऐसा होने से व्यावर्तक विशेषण के त्रित्व के अधीन भूत भविष्य तथा वर्तमान ऐसा त्रिकाल का व्यवहार होता है ॥ ८ ॥

इस समय संपूर्ण उत्पन्न होने वाले पदार्थों का काल ही कारण है यह सूत्र में कहते हैं—

पदपदार्थ—नित्येषु = नित्य पदार्थों में, अभावात् = न होने से, कारणे = उत्पत्तिवाले संपूर्ण कार्यों के कारण में, कालाख्या = काल संज्ञा है, इति = इस कारण ॥ ९ ॥

भावार्थ—नित्य पदार्थों में एक समय उत्पन्न हुआ, विलम्ब से उत्पन्न हुआ इत्यादि प्रतीतियों के न होने से, तथा अनित्य पदार्थों में उक्त ज्ञानों के होने से भी संपूर्ण उत्पन्न होने वाले जगत् कार्य के कारण का काल ऐसा नाम है ॥ ९ ॥

उपस्कार—सूत्र के इति शब्द का अर्थ है हेतु, इस कारण से संपूर्ण जगत् के उत्पन्न होने वाले कार्यों के कारण की काल यह आख्या—संज्ञा है । इसमें सूत्रकार हेतु देते हैं कि 'नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्' इति । आकाशादि नित्यपदार्थों में एक समय में उत्पन्न हुआ, विलम्ब से उत्पन्न हुआ, शीघ्र उत्पन्न हुआ, इस समय उत्पन्न हुआ, दिनमें उत्पन्न हुआ, रात्रि में उत्पन्न हुआ' इत्यादि प्रतीति न होने से तथा अनित्य घटपट आदि पदार्थों में एक समय में उत्पन्न हुआ इत्यादि प्रतीतियों के होने से, अन्वय तथा व्यतिरेक से काल ही सम्पूर्ण उत्पन्न होने वाले पदार्थों का निमित्त कारण काल है यह सिद्ध होता है (यहाँ पर, यौगपद्यादि, इस उपस्कार के आदि पद से 'आज होगा' कल होगा, इत्यादि प्रतीति लेनी चाहिये। अर्थात् 'युगपज्जातः इत्यादि प्रत्यय का उस२ कार्य की उत्पत्ति के आश्रय होने से काल ही विषय है, क्यों कि 'जो कार्य की उत्पत्ति के आधार रूप से व्यवहार का विषय होता है वह उसके उत्पत्ति का कारण होता है' यह नियम है, कारण यह कि–जो जिसकी उत्पत्ति का होता है वह उसका कारण होता

व्यतिरेकाभ्यां कारणं काल इत्यर्थः। न केवलं यौगपद्यादिप्रत्ययबलात् कालस्य सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणत्वम् अपि तु पुष्पफलादीनां हैमन्तिकवासन्तिकप्रावृषेण्यादिसंज्ञाबलादप्येतदध्यवसेयम् ॥ ९ ॥

काललिङ्गकरणं समाप्य इदानीं दिग्लिङ्गप्रकरणमारभमाण आह—

इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम् ॥ १० ॥

दिश इदं दिश्यं दिगनुमापकम्। इतोऽल्पतरसंयुक्तसंयोगाश्रयादिदं बहुतरसंयुक्तसंयोगाधिकरणं परम् इतश्च संयुक्तसंयोगभूयस्त्वाधिकरणादिदं संयुक्तसंयोगाल्पीयस्त्वाधिकरणमपरमिति नियतदिग्देशयोः समानकालयोः पिण्डयो-

---

है—ऐसा व्याप्ति है यह तात्पर्य है)। (आगे शंकर मिश्र कहते हैं कि)—केवल प्रदर्शित 'युगपत् उत्पन्न हुआ' इत्यादि प्रतीतियों की सामर्थ्य से ही काल नामक द्रव्य सम्पूर्ण कार्य मात्र की उत्पत्ति का कारण है यह नहीं किन्तु पुष्प, फल इत्यादिकों के यह पुष्प तथा फल हेमन्त ऋतु के हैं, यह वसन्तऋतु के यह वर्षाऋतु के इत्यादि संज्ञा के बल से भी काल सम्पूर्ण कार्यों की उत्पत्ति में निमित कारण है यह निश्चित होता है ॥ ९ ॥

इस प्रकार काल-साधक प्रकरण समाप्त कर साम्प्रत दिशा द्रव्य-साधक प्रकरण आरम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—इतः = इससे, इदं = यह (पर है–दूर है) इति = इस प्रकार, यतः = जिस द्रव्य से, (प्रतीति होती है), तत् = वह, दिश्यं = दिशासाधक, लिङ्गं = लिङ्ग (हेतु) है ॥ १० ॥

भावार्थ—इस अत्यन्त अल्प संयुक्त संयोगाश्रय द्रव्य से यह अति अधिक संयुक्त संयोगाश्रय द्रव्य (पर) दूर है, और इस अधिक संयुक्त संयोगाश्रय (दूरस्थ) पदार्थ से यह न्यून संयुक्त संयोगाश्रय द्रव्य अपर (समीप) है, इस प्रकार का ज्ञान एक ही दिशा तथा समय वाले पदार्थों में होता है वह दिशानामक द्रव्य है ॥ १० ॥

उपस्कार—'दिशा का यह दिश्य इस व्युत्पत्ति से दिशा द्रव्य की अनुमान से सिद्धि कराने वाला लिङ्ग ऐसा सूत्र के 'दिश्यं लिङ्ग' इस वाक्य का अर्थ है। इस अति न्यून संयुक्त संयोग संबन्ध के आधार द्रव्य से यह अति अधिक संयुक्त संयोग सम्बन्ध का आधार द्रव्य पर (दूर) है, तथा इस संयुक्त संयोग सम्बन्ध अधिकता के आश्रय द्रव्यों से यह संयुक्त संयोग सम्बन्ध की अति न्यूनता का आधार द्रव्य अपर (समीप) है ऐसा विशिष्ट ज्ञान नियत (एक) ही दिशा में स्थित तथा समान काल के दो पदार्थों में जिस द्रव्य से होता है वह दिशा नामक द्रव्य है यह सूत्र का अर्थ है। (अर्थात् इससे यह दूर है, इससे यह समीप है इस प्रकार दैशिकपरत्व तथा अपरत्व का ज्ञान जिससे होता है वही दिशा द्रव्य का अनुमापक लिङ्ग (हेतु) है। काल के समान दैशिक परत्व तथा अपरत्व रूप कार्य के असमवायि कारण दिशा तथा

र्यतो द्रव्याद्भवति सा दिगित्यर्थः। न हि तादृशं द्रव्यमन्तरेण भूयसां संयुक्तसंयोगानामल्पीयसां वा पिण्डयोरुपनायकमन्यदस्ति न च तदुपनयमन्तरेण तत्तद्विशिष्टबुद्धिः न च तामन्तरेण परत्वापरत्वयोरुत्पत्तिः न च तदुत्पत्तिं विना तद्विशिष्टप्रत्ययव्यवहारौ। न च काल एव संयोगोपनायकोऽस्तु किं द्रव्यान्तरेणेति वाच्यम् कालस्य नियतक्रियोपनायकत्वेनैव सिद्धेः। अनियतपरधर्मोपनायकत्वकल्पनायान्तु काश्मीरकुंकुमपङ्करागं कार्णाटकामिनीकुचकलशं प्रत्युपनयेत्। आकाशात्मनोरपि तथा परधर्मोपसंक्रामकत्वे स एव प्रसङ्गः।

दिशस्तु नियतपरधर्मोपसंक्रामकतयैव सिद्धत्वान्नातिप्रसङ्गः। एवञ्च क्रियोपनायकात् कालात् संयोगोपनायिका दिक् पृथगेव। किञ्चास्मात् पूर्वमिदम् अस्मादुत्तरमिदम् अस्माद्दक्षिणपूर्वमिदम् अस्माद्दक्षिणपश्चिममिदम्

पदार्थ के संयोग के आधार होने से दिशा सिद्ध होती है। यह शंकरमिश्र का आशय है।) (आगे उपस्कार में कहते हैं कि)—ऐसे दिशा द्रव्य के विना अति अधिक अथवा अति न्यून संयुक्त संयोग सम्बन्धों का पदार्थों में ले जाने वाला दूसरा कोई नहीं है और उन सम्बन्धों के ले जाए विना उन दूर तथा समीप के पदार्थों में दूर है, समीप है—ऐसा विशिष्ट ज्ञान नहीं हो सकता, और उसके विना परत्व तथा अपरत्व गुणों को उत्पत्ति नहीं हो सकती, और उनकी उत्पत्ति के विना परत्व तथा अपरत्व-विशिष्ट द्रव्यों का ज्ञान अथवा यह पर (दूर) है यह अपर (समीप) है ऐसा सर्व जनसाधारण व्यवहार भी नहीं हो सकता। शंका—व्यापक काल द्रव्य ही उक्त संयोग सम्बन्धों को पदार्थों में लेजायगा, दिशा नामक उसके लिये दूसरा द्रव्य मानने की क्या आवश्यकता है। उत्तर—नियत क्रिया ही को ले जाने वाला द्रव्य काल होता है यदि अनियत धर्म का भी काल को पहुँचाने वाला माना जाय तो (अर्थात् काल क्रिया विशेष को पहुँचाता है, दिशा संयोग विशेष को पहुँचाती है ऐसा नियम न मानें तो) कश्मीर देश की स्त्रियों के वक्षःस्थल के केशर की रक्तिमा (लाली) कर्णादेश की स्त्रियों के वक्षःस्थल को रक्त वर्ण कर देगी। इस प्रकार आकाश तथा आत्मा को भी दूसरे के धर्मों को पहुँचाने वाला माना जाय तो यही दोष आवेगा।

दिशाद्रव्य की तो संयोग विशेष रूप धर्म के अन्यत्र ले जाने से ही सिद्धि होने के कारण उक्तदोष न आवेगा। (एवं च) ऐसा होने से क्रिया के अन्य में पहुचाने वाले काल द्रव्य से संयोग को पहुंचाने वाली दिशा पृथक् ही द्रव्य है यह सिद्ध है। और इससे यह पूर्व में है, इससे यह दक्षिण की ओर है, इससे यह पश्चिम में है, इससे यह उत्तर है, इससे यह दक्षिण तथा पूर्व के मध्य में है, इससे यह पदार्थ दक्षिण तथा पश्चिम के मध्य में है, इससे यह पश्चिम तथा उत्तर के मध्य में है' इससे यह पदार्थ उत्तर और पूर्व के मध्य में है, यह इसके अधोभाग में है, इससे यह ऊर्ध्वभाग में है, यह सब प्रत्यय (ज्ञान) सूत्र के 'इत इदं' इस वाक्य से संग्रह किये जाते,

अस्मात्पश्चिमोत्तरमिदम् अस्मादुत्तरपूर्वमिदम् अस्मादधस्तादिदम् अस्मादुपरिष्टादिदम् इत्येते प्रत्यया इत इदमितीत्यनेन सङ्गृहीताः एतेषां प्रत्ययानां निमित्तान्तरासम्भवात्। किञ्च नियतोपाध्युन्नायकः कालः आनियतोपाध्युन्नायिका दिक्। भवति हि यदपेक्षया यो वर्त्तमानः स तदपेक्षया वर्तमान एव, दिगुपाधौ तु नैवं नियमः यं प्रति या प्राची तं प्रत्येव कदाचित्तस्याः प्रतीचीत्वात्। एवमुदीच्यादिष्वपि वाच्यम। यदपेक्षया सूर्य्योदयाचलसन्निहिता या दिक् सा तदपेक्षया प्रतीची। सन्निधानन्तु सूर्यसंयुक्ते संयोगाल्पीयस्त्वं ते च सूर्य्यसंयोगा अल्पीयांसो भूयांसो वा दिगुपनेयाः। एवं प्राच्यभिमुखपुरुषवामप्रदेशावच्छिन्ना दिगुदीची, तादृशपुरुषदक्षिणभागावच्छिन्ना दिक् दक्षिणा। वामत्वदक्षिणत्वे तु शरीरावयववृत्तिजातिविशेषौ। गुरुत्वासमवायिकारणक्रियाजन्यसंयोगाश्रयो दिक् अधः। अदृष्टवदात्मसंयोगजन्याग्निक्रियाजन्यसंयोगाश्रयो दिगूर्ध्वा।

हैं, क्योंकि इन प्रत्ययों का भी दिशाद्रव्य को छोड़कर दूसरा निमित्त कारण नहीं हो सकता। और काल नियमित उपाधि को पहुँचाता है और दिशा अनियमित उपाधि को पहुंचाती है। (यह भी दोनों में विलक्षणता है) अर्थात् पुरुष का भेद न होने से भेद का न होना ही है नियतता, ऐसी उपाधि का आश्रय कालावच्छेदक होता है, और पुरुष का भेद न होने पर भी भेद होता है अनियतता, वह दिशा के अवच्छेदक में ही होती है। (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि इसी विलक्षणता के कारण) अर्थात् नियत उपाधि का पहुंचाना वाला काल द्रव्य है, और दिशा अनियत उपाधि का पहुँचाने वाली है, इसी कारण जिस मनुष्य की अपेक्षा से जो वर्तमान होता है वह वर्तमान ही काल होता है, किन्तु दिशा की उपाधि में यह नियम नहीं है, क्योंकि जिस प्राणी के लिये जो पूर्व दिशा है वह दिशा उसी प्राणी के लिये पश्चिम भी हो जाती है। ऐसा ही उत्तर आदि दिशाओं में भी जानता चाहिये। जिस पुरुष की अपेक्षा (अवधि) से सूर्य के उदय होने के उदयाचल पर्वत के समीप जो दिशा होती है वह प्राची (पूर्व) दिशा तथा जिस पुरुष की अपेक्षा से सूर्य के अस्त होने के अस्ताचल पर्वत के समीप जो दिशा होती है वह उसकी अपेक्षा से प्रतीची (पश्चिम) दिशा होती है। यहाँ पर उदयाचल तथा अस्ताचल पर्वत का संनिधानशब्द का अर्थ हैं सूर्यसे संयुक्त में संयोग की अतिन्यूनता, और वह सूर्य के अतिन्यून, अथवा अति अधिक संयोग दिशा द्रव्य से जाने जाते हैं। इसी प्रकार पूर्वाभिमुख पुरुष के वामभाग के देश से युक्त दिशा उत्तर, एवं ऐसे ही पुरुष के दक्षिण भाग से युक्त दिशा दक्षिण कहलाती है। यहां वामता तथा दक्षिणता शरीर के अवयवों (हस्तपादादि) में वर्तमान दो जाति विशेष हैं। गुरुत्व रूप असमवायिकारण से उत्पन्न होने वाली पतन क्रिया से उत्पन्न संयोग की आश्रय दिशा का नाम है अधोदेश। अदृष्टवान् आत्मा के संयोग से उत्पन्न

एवञ्चेन्द्राग्नियमनिर्ऋतवरुणवायुसोमेशाननागब्रह्माधिष्ठानोपलक्षिता दश दिश इति व्यपदेशान्तरं प्राच्यादिव्यपदेशात् ॥ १० ॥

दिशो द्रव्यत्वं नित्यत्वञ्च वायुपरमाणुवदित्याह—

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ११ ॥

गुणवत्त्वाद् द्रव्यत्वम् अनाश्रितत्वाच्च नित्यत्वमित्यर्थः ॥ ११ ॥

एकत्वमतिदिशन्नाह—

तत्त्वम्भावेन ॥ १२ ॥

दिग्लिङ्गाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्च सत्ताकदेकत्वं तदनुविधानादेकपृथक्त्वम् ॥ १२ ॥

ननु यद्येकैव दिक् कथं तर्हि दश दिश इति प्रतीतिव्यवहारावित्यत आह—

कार्यविशेषेण नानात्वम् ॥ १३ ॥

अग्नि क्रिया से उत्पन्न संयोग की आधार दिशा का नाम ऊर्ध्व दिशा। ऐसा होने से ही इन्द्र, अग्नि, यम, नैर्ऋत, वरुण, वायु, सोम, ईशान, नाग, ब्रह्मा, इनके आश्रय सम्बन्ध होने से सूचित दस ऐन्द्री आदि नाम से प्रसिद्ध भी दिशा है ऐसा भी शास्त्रोक्त दूसरा व्यवहार प्राची आदि दिशाओं के व्यवहार से प्रसिद्ध है ॥ ११ ॥

दिशा में द्रव्यत्व तथा नित्यत्व वायु परमाणु के समान है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्यत्वनित्यत्वे = दिशा से द्रव्यत्व तथा नित्यता, वायुना = परमाणुरूप वायु से, व्याख्याते कही गई हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—वायुपरमाणु के गुणवान् होने से द्रव्य होने तथा आश्रय रहित होने से नित्य होने के समान दिशा भी गुणाधार होने से द्रव्य है तथा आधार रहित होने से नित्य यह सिद्ध है।

उपस्कार—गुणाश्रय होने से दिशा में द्रव्यत्व, तथा आश्रय रहित होने के कारण नित्यत्व है यह सूत्रार्थ है ॥ ११ ॥

एकत्व संख्या गुण का दिशा में अतिदेश (दृष्टान्त से सूचना) करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत्त्वं=एकता रूप तत्व दिशा में, भावेन=सत्ता से (व्याख्यात है) ।१२।

भावार्थ—सत्ता जाति के दिशा द्रव्य के साधक प्राची आदि व्यवहार रूप लिङ्ग के सर्वत्र समान होने तथा भेद-साधक विशेष लिङ्ग न होने से भी दिशा एक ही है यह सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

शंका—यदिदिशा नामक द्रव्य एक ही है तो दश दिशा है ऐसा ज्ञान तथा व्यवहार क्यों होता है—

पदपदार्थ—कार्य विशेषेण कार्य के भेद से, नानात्वं = अनेकता है ॥ १३ ॥

कार्य्यविशेषः कार्य्यभेदस्तेन नानात्वोपचार इत्यर्थः ॥ १३ ॥

तमेव कार्यभेदं दर्शयन्नाह—

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद्भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥ १४ ॥

प्राक् अस्यां सविता अञ्चतीति प्राची, तथाच यस्यां दिशि मेरुप्रदक्षिणक्रमेण भ्रमत आदित्यस्य प्रथमं संयोगो भूतपूर्वो भविष्यन् वा भवन् वा सा दिक् प्राची । अत्र पुरुषाभिसन्धिभेदमाश्रित्य कालत्रयोपवर्णनम् , भवति हि कस्यचित्पूर्वेद्युः प्रातरस्यां दिशि आदित्यसंयोगः प्रथमं वृत्त इतीयं प्राचीति प्राचीव्यवहारः कस्य चिदपरेद्युरस्याम् , आदित्यसंयोगः प्रथमं भावीत्यभिसन्धाय प्राची व्यवहारः, कस्यचिदिदानीम् अस्याम् आदित्यसंयोगो भवन्नस्तीत्यभिसन्धाय प्राचीव्यवहारः । भूतादिति आदिकर्मणि क्तप्रत्ययः तेनाभिसन्धेरनियमात् यद्याप्यादित्यसंयोगो नास्ति रात्रौ मध्याह्नादौ तत्रापि प्राचीव्यवहारानुगमः सिद्ध्यतीति भावः ॥ १४ ॥

दिगन्तरव्यवहारेऽपीममेव प्रकारमतिदिशन्नाह—

तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची ॥ १५ ॥

भावार्थ—वस्तुतः दिशा का व्यवहार सर्वत्र समान होने के कारण वह एक ही हैं। किन्तु उसके कार्य के भेद से वह अनेक होती है अर्थात् औपाधिक दिशा में भेद प्रतीत होता है किन्तु वह वस्तुतः एक ही है ॥ १३ ॥

उपस्कार—सूत्र में कार्यविशेष शब्द का अर्थ कार्यों का भेद है अर्थात् उपाधि भेद है इससे दिशा में प्राची आदि दशदिशा अनेकता व्यवहार गौण है यह सूत्र का अर्थ है ॥ १३ ॥

उसी कार्य-भेद को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—आदित्यसंयोगात् = सूर्य के संयोग से, भूतपूर्वात् = जो पूर्वकाल में हुआ हो, भविष्यतः = जो आगे होने वाला है, भूतात् च = और जो पूर्व में हो गया हो, प्राची = वह प्राची नामक दिशा (कहलाती) है ॥ १४ ॥

भावार्थ—भूत, भविष्य तथा वर्तमान में सूर्य के संयोग को लेकर यह 'प्राची' दिशा है ऐसा ज्ञान होता है। एवं सूर्य संयोग रूप उपाधि के कारण होने से यह प्राची-पूर्वा दिशा हैं ऐसा ज्ञान तथा व्यवहार होते हैं अतः उसमें अनेकता वास्तविक नहीं है यह सिद्ध होता हैं ॥ १४ ॥

अन्य दिशाओं के ज्ञान तथा व्यवहार में भी इसी प्रकार अतिदेश (निर्देश) सूत्रकार वर्णन करते हैं—

पदपदार्थ—तथा = वैसे ही औपाधिक नाम हं, दक्षिणा=दक्षिण दिशा, प्रतीची = पश्चिम, उदीची=उत्तर ॥ १५ ॥

भावार्थ—दक्षिण आदि दिशाओं में वर्तमान पर्वतादिकों के संयोगों को लेकर

तद्वदेव दक्षिणदिग्वर्त्तिनगादिना सहादित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद्भविष्यतो भूताद्वा दक्षिणाव्यवहारः । एवं प्रतीच्युदीच्योरपि व्यवहार उन्नेयः । वामत्व-दक्षिणत्वे निरुक्ते एव ॥ १५ ॥

दिगन्तरालव्यवहारेऽपोममेव प्रकारमतिदिशन्नाह—

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥ १६ ॥

प्राचीदक्षिणयोर्दिशोर्लक्षणसाङ्कर्येण दक्षिणपूर्वा दिगिति व्यवहारः । एवं दक्षिणपश्चिमा पश्चिमोत्तरा उत्तरपूर्वेत्यूह्यम् । एते चादित्यसंयोगा येन विभुना द्रव्येणोपनीयन्ते सा दिगिति कणादरहस्ये व्युत्पादितं विस्तरतः ॥ १६ ॥

दक्षिण पश्चिम तथा उत्तर दिशा का व्यवहार होने से यह तीन दिशाओं का ज्ञान तथा व्यवहार भी औपाधिक है यह सिद्ध होता हैं ॥ १५ ॥

उपस्कार—उसी प्रकार दक्षिण दिशा में वर्तमान पर्वतादिकों के साथ सूर्य के संयोग से जो पहिले हो गया हो, भविष्य में होने वाला हो या वर्तमान हो, उसे लेकर दक्षिण दिशा का व्यवहार होता है। इसी प्रकार प्रतीची (पश्चिम), उदीची (उत्तर) इन दो दिशाओं का व्यवहार जानना। वामता तथा दक्षिणता क्या है इनका पूर्व में निरूपण कर ही चुके हैं। (सूर्य संयुक्त किसी मुर्तद्रव्य के सन्निहित दिशा का नाम है दक्षिण दिशा। इससे सुमेरु पर्वत का व्यवधान होना रूप उपाधि भी दक्षिण दिशा की है यह सूचित होता है। तथा अस्ताचल पर्वत के समीप होना पश्चिम दिशा का, एवं सुमेरु पर्वत के समीप होना भी उत्तर दिशा की उपाधि है यह जान लेना चाहिये) ॥ १५ ॥

मुख्य चार पूर्वादि दिशाओं के मध्य में वर्तमान विदिशाओं के व्यवहार में भी सूत्र-कार इसी प्रकार के अतिदेश को सूचित करते हैं कि—

पदपदार्थ—एतेन = इन मुख्य चार दिशाओं के वर्णन से, दिगन्तरालानि = इनके मध्यवर्ति विदिशाओं की, व्याख्यातानि = व्याख्या की गई ॥ १६ ॥

भावार्थ—मुख्य पूर्व, पश्चिम आदि चार दिशाओं के पूर्वसूत्रोक्त वर्णन से दक्षिण-पूर्वा आदि पूर्वादि मुख्य दिशाओं के मध्यवर्ति चार विदिशाओं का वर्णन जानना चाहिये ॥ १६ ॥

उपस्कार—पूर्व तथा दक्षिण ऐसी दो दिशाओं के पूर्वोक्त लक्षणों के सांकर्य (साथ होने) से यह दक्षिण-पूर्वा दिशा है ऐसा व्यवहार होता है। इसी प्रकार दक्षिण तथा पश्चिम दिशाओं के लक्षण के सांकर्य से, दक्षिण-पश्चिमा, तथा पश्चिम और उत्तर दिशा के लक्षणों के सांकर्य से पश्चिमोत्तरा दिशा इत्यादि व्यवहार जान लेना। यह सूर्य के उक्त संयोग जिस व्यापक द्रव्य से समीप प्राप्त किये जाते हैं वह दिशा नामक द्रव्य है ऐसा कणाद-रहस्य ग्रन्थ में विस्तार से कहा है ॥ १६ ॥

चतुर्णां भूतानां रूपादीनि लक्षणानि कारणगुणपूर्वकतया तात्त्विकानि अन्यथा त्वौपाधिकानीति व्यवस्थितं पूर्वमेव । विशेषगुणशून्यविभुलिङ्गञ्चोक्तम् । इदानीमाकाशस्य लिङ्गं शब्दः परीक्षणीयः । सन्ति चात्र तान्त्रिकाणां विप्रतिपत्तयः । केचिच्छब्दं द्रव्यमाचक्षते, केचिद् गुणम्, गुणत्वे सत्यप्येके नित्यमाहुः अपरे त्वनित्यम् । अन्ये तु शब्देऽपि स्फोटाख्यं शब्दान्तरमाहुः । तदत्र परीक्षामारभमाणः परीक्षाप्रथमाङ्गं संशयमेव तावल्लक्षणतः कारणतश्च व्यवस्थापयन्नाह—

सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः ॥ १७ ॥

सामान्यप्रत्यक्षादिति । सामान्यवतो धर्मिणः प्रत्यक्षात् ग्रहणात् मतुब्लोपात् । विशेषाप्रत्यक्षादिति । विशेषस्य परस्परव्यावर्त्तकस्य धर्मस्य वक्रकोटरादेः

पृथ्वी, जल आदि चार भूत द्रव्यों के रूपादि लक्षण कारण गुण के क्रम से उत्पन्न ही वास्तविक होते हैं, अन्यथा औपाधिक होते हैं, यह पूर्वग्रन्थ में ही सिद्ध कर चुके हैं । तथा विशेष गुण शून्य रहित काल तथा दिशारूप व्यापक द्रव्यों का भी साधक लिङ्ग दिखा चुके हैं । साम्प्रत पूर्वोक्त आकाश साधक शब्दलिङ्ग जो कहागया है उसकी परीक्षा करना है । क्योंकि इस विषय में शास्त्रकारों की अनेक विप्रतिपत्ति (विरुद्धमत) हैं । कारण यह कि सांख्यमतावलम्बियों ने शब्द को द्रव्य माना है, मीमांसकों तथा नैयायिकों ने इसे गुण माना है, उसमें मीमांसक शब्द को नित्य तथा नैयायिक अनित्य मानते हैं । और वैयाकरणों ने अनित्य शब्द में भी स्फोट नाम के दूसरा शब्द माना है । इस कारण शब्द की परीक्षा को आरम्भ करते हुए परीक्षा के प्रथम अंग संशय का ही लक्षण तथा कारण द्वारा स्वरूप सिद्ध करनेके लिये सूत्रकार कहते हैं ।

पदपदार्थ—सामान्यप्रत्यक्षात् = समान धर्म के प्रत्यक्ष से, विशेषाप्रत्याक्षात् = विशेषधर्म के प्रत्यक्ष न होने से, विशेपस्मृतेः च = और विशेष धर्म के कारण से भी संशयः = संशयात्मक ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

भावार्थ—वृक्ष तथा पुरुष दोनों में समान ऊँचाई रूप धर्ममात्र का किसी ऊँचे पदार्थ में प्रत्यक्ष होने पर जब कि उन दोनों के हस्त-पाद तथा शाखा-कोटरा (खोखला) इन दोनों के भेदक धर्मों का दूरतादि दोष के कारण प्रत्यक्ष न हो किन्तु दोनों का स्मरण होता हो तो 'यह वृक्ष है' अथवापुरुष ऐसा ज्ञान होता है उसे 'संशय' कहते हैं ॥ १७ ॥

उपस्कार—सूत्रोक्त 'सामान्यप्रत्यक्षात्' इस पद का अर्थ है साधारण धर्मवाले धार्मिक द्रव्य के प्रत्यक्ष अर्थात् ग्रहण से, क्योंकि मध्यवर्ति आश्रयार्थक मतुप् प्रत्यय का लोप हुआ है । 'तथाविशेषा प्रत्यक्षात्' इस सूत्रोक्त पद का अर्थ है—परस्पर भेद करने वाले वक्रकोटरादि (टेढ़े खोखले) इत्यादि तथा शिर-हस्तपाद इत्यादि विशेष धर्म के भी

शिरःपाण्यादेश्चाप्रत्यक्षाद्ग्रहणात् । विशेषस्मृतेः विशेषस्य कोटिद्वयस्य स्थाणुत्व-पुरुषत्वलक्षणस्य स्मरणात् । स्मरणमपि ग्रहणपरं क्वचिदनुभूयमानधर्मयोरपि-कोटित्वात्, चकाराददृष्टादेः संशयकारणस्य संग्रहः । असाधारणो धर्मोऽनाध्यवसायात्मकज्ञानजनक इति नोक्तः । यद्वा असाधारणस्यापि व्यावृत्तिद्वारा कारणत्वं सपक्षविपक्षव्यावृत्तिः साधारणधर्म एवेति नोक्तः । विप्रतिपत्तिरपि

अप्रत्यक्ष से ग्रहण न होने पर तथा वृक्षता और पुरुषता रूप दो कोटियों रूपी विशेषों के स्मरण रहते—यह वृक्ष है अथवा मनुष्य—ऐसा जो ज्ञान होता है उसे—संशय—कहते हैं। यहाँपर स्मरण पद ज्ञान का बोधक है क्योंकि कहीं अनुभव होने वाली भी स्थाणुत्व तथापुरुषत्व दोनों कोटि संशय का कारण होती है। सूत्र में-चकार-से अदृष्ट आदि भी संशय के कारण होते हैं—यह सूचित किया है। (यदि "साधारण धर्म के ज्ञान से संशय होने के समान असाधारण धर्म के ज्ञान से भी संशय होने के कारण गौतमादि षोडश पदार्थवादी नैयायिकों के 'समानानेकधर्मोपपत्तेः' इस संशय लक्षण के सूत्र में ग्रहण किये हुये असाधारण धर्म को कणाद महर्षि ने संशय लक्षण के सूत्र में क्यों नहीं कहा" ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे तो इसका उत्तर शंकर मिश्र ऐसा करते हैं कि) कणाद महर्षि ने असाधारण (विशेष धर्म) अनिश्चयात्मक ज्ञान का कारण होने से उसे सूत्र कार ने यहाँ नहीं कहा है। (यहाँ पर 'साधारण-धर्मविशेषणक प्रत्यक्ष से संशय होता है ऐसा प्राचीनों का मत है, अतः इस मत में साधारण धर्मवाले धर्मी के ज्ञान से ही संशय होता है जो अन्वय तथा व्यतिरेक से सिद्ध है क्योंकि साधारण धर्मज्ञान रहते संशय होता है, नहीं रहते नहीं होता ऐसा अन्वय तथा व्यतिरेक से साधारण धर्म विशिष्ट धर्मी का ज्ञान संशय में कारण होता है। किन्तु धारावाही संशय स्थल में साधारण धर्म वाले धर्मिविषयक समूहात्मक ज्ञान न होनेसे साधारण धर्मप्रकारक ज्ञान का संशय में अन्वय तथा व्यतिरेक न होने के कारग कारण न होने से सामान्य धर्मवान् को विषय करनेवाले प्रत्यक्ष से संशय होता है ऐसा नवीन नैयायिकों का मत है। इस पक्ष में साधारण धर्म-ज्ञान कोटिद्वय की उपस्थिति कराने से कहीं २ संशय में उपयुक्त होता है, धर्मितावच्छेदक-प्रकारक ज्ञान विशेष के दर्शन का अभाव, दोनों कोटियों का ज्ञान, तथा संनिकर्षादिक ही संशय-ज्ञान की सामग्री है यह तात्पर्य है) ॥ (इस प्रकार प्राचीनमत से असाधारण धर्म संशय का कारण नहीं है यह कह कर नवीनों के मत से शकर मिश्र कहते हैं) कि अथवा असाधारण (विशेषधर्म) भी भेद द्वारा कारण होने से अर्थात् सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में न रहना रूप साधारण धर्म ही है, अतः सूत्र में नैयायिकों के समान महर्षि कणाद मुनि ने पृथक् नहीं कहा है। इस मत में साधारणधर्म भी 'एक सम्बन्धी का ज्ञान दूसरे सम्बन्धी का स्मरण कराता है' इस नियम से भेदकतारूप सम्बन्ध-ज्ञान द्वारा कोटिद्वय का स्मरण कराने से संशय में

विरुद्धप्रतिपत्तिद्वयजन्यं वाक्यद्वयं शब्दो नित्य इत्यपरं तदुभयं, तदुभयजन्यञ्च ज्ञानद्वयमयुगपद्भावित्वात् सम्भूय न संशायकमतस्तत्र शब्दत्वादिरसाधारणः, सत्त्वप्रमेयत्वादिः साधारणो वा धर्मः संशायक इति पृथङ् नोक्ता।

समानतन्त्रे गौतमीयेऽनध्यवसायज्ञानस्यानभ्युपगमात् असाधारणो धर्मः संशयकारणत्वेनोक्तः। विप्रतिपत्तेर्विरुद्धवाक्यद्वयस्यान्वयव्यतिरेकशालितया संशयकारणत्वमुक्तम्। न्यायभाष्ये च उपलभ्यमानत्वं यत् संशयकारणमुक्तं

प्रयोजक है इस कारण अनिश्चयात्मक ज्ञान न मानने से भी कोई दोष न होगा यह तात्पर्य है।

(इस प्रकार असाधारणधर्म विशिष्ट धर्म्मी का ज्ञान प्राचीन मत से संशय में पृथक् कारण नहीं होता यह कहकर विप्रतिपत्ति भी संशय में कारण नहीं होती यह कहने के लिये विप्रतिपत्ति शब्द का अर्थ शंकर मिश्र करते हैं कि)—परस्पर विरुद्ध दो ज्ञानों से उत्पन्न दो वाक्य ही का नाम है विप्रतिपत्ति, जैसे—'शब्द नित्य है तथा शब्द अनित्य है' ऐसे दो ज्ञानों से उत्पन्न वादियों के दो वाक्य, ये दोनों ज्ञान एक काल में न होने से मिलकर शब्द नित्य है अथवा अनित्य इस संशय को उत्पन्न नहीं कर सकते अतः वहां पर नित्य तथा अनित्य में शब्दत्व आदि असाधारण धर्म अथवा सत्व तथा प्रमेयत्व (ज्ञानविषयता) रूप साधारण धर्म ही संशय का कारण होने से विप्रतिपत्ति को भी कणादमहर्षिने संशय का पृथक् कारण नहीं कहा है। (अर्थात् एकैक का ज्ञान एकैक कोटि के ज्ञान का कारण होने पर क्रम से अप्रामाण्य ज्ञानरहित एकैक कोटि का ज्ञान होगा, संशय नहीं हो सकता यह तात्पर्य यहां है। (इस प्रकार विप्रतिपत्ति के संशय में कारण होने के पक्ष का खण्डन कर समान शास्त्र के निर्माता गौतम महर्षि तथा उनके अनुयायियों की समालोचना शंकर मिश्र इस प्रकार करते हैं कि)—न्यायसूत्रों में गौतम के मत से अनध्यवसाय रूप ज्ञान न मानने के कारण असाधारण (विशेष धर्म) को भी पृथक् संशय का कारण माना है। तथा परस्पर विरुद्ध दो वाक्यों के स्वरूप विप्रतिपत्ति को अन्वय तथा व्यतिरेक व्याप्ति के बल से संशय का कारण कहा है। गौतम-मतानुसारि वात्स्यायन मुनि ने भी न्याय-भाष्य में 'उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातः' इत्यादि सूत्र पद की व्याख्या में जो अव्यवस्था को संशय का कारण कहा है अर्थात् जल वस्त्रादिकों से आवृत होने पर भी उपलब्ध नहीं होता, तथा असत् आकाश-कमलादिक भी उपलब्ध नहीं होता अतः यह उपलब्ध होने वाला पदार्थ सत है अथवा असत् एवं जो उपलब्ध न होने वाला संशय का कारण कहा है जैसे कि वर्तमान पदार्थ भी उपलब्ध होता है शुक्ति में रजतादि असत् भी उपलब्ध होता है। न उपलब्ध होने वाला सत् है अथवा असत् ऐसा संशय भी होने के कारण पांच प्रकार के संशय हैं ऐसा कहा है इस पंचविध संशय-कारण के विषय में शंकर मिश्र अपना मत दिखाते कहते हैं

सदप्युपलभ्यते असदप्युपलभ्यते इति उपलभ्यमानमिदं सदसद्वेति, यच्चानुपलभ्यमानत्वं सदपि नोपलभ्यते मूलककीलकोदकादि, असदपि नोपलभ्यते गगनारविन्दादि, तथा च पञ्चविधः संशय इति। तदेतत्सामान्यमेवेति सामान्यप्रत्यक्षादित्यनेनैव गतार्थम्। न्यायवार्त्तिकेऽपि यत् कारणभेदेन संशये त्रित्वमुक्तं तदपि न सम्भवति व्यभिचारेण समानधर्मादीनां त्रयाणां कारणत्वस्यैवासम्भवात्। न हि तृणारणिमणिजन्यवह्नौ वैजात्यवदत्रापि वैजात्यं कल्पनीयं संशयत्वावच्छिन्नकार्यं प्रति समानधर्मत्वेनैव कारणतायाः कल्पनात्। यच्च प्रधानविधिकोटित्वप्रधाननिषेधकोटित्वादि वैजात्यमुक्तम्, तदननुगतत्वान्नावच्छेदकम्। तथाच संशयो न त्रिविधो न वा पञ्चविधः किन्त्वेकविध एव, प्रकारान्तरेण तु द्वैविध्यं सूत्रकृदेव स्पष्टयति। ननु जिज्ञासाजनकज्ञानं संशय

कि) यह उपलभ्यमानता, तथा अनुपलभ्यमानता सत् तथा असत् पदार्थों में समान होने के कारण सामान्य धर्म के प्रत्यक्ष से इस सूत्रोक्त कारण से ही चरितार्थ होती है। (भारद्वाज उद्योतकर के भी न्यायवार्तिक ग्रन्थ में लिखे हुए इस विषय की आलोचना शंकर मिश्र ऐसी दिखाते हैं कि) न्यायवार्तिक में भी जो सामान्य धर्म, विशेष धर्म, तथा विप्रतिपत्ति रूप तीन कारण होने से तीन प्रकार का संशय होते हैं। ऐसा कहा है, वह भी प्रत्येक जन्य संशय में अन्य कारण के न होने प्रयुक्त व्यभिचार दोष होने से समान धर्म आदि तीन संशय के कारण नहीं हो सकते। क्योंकि यहाँ समान धर्म आदि कारणों से उत्पन्न संशय रूप कार्य में तृणादिजन्य वह्नियों में परस्पर व्यभिचार-वारणार्थ वह्निरूप कार्यों में विलक्षणता के समान विलक्षणता नहीं मान सकते, क्योंकि संशयत्वावच्छिन्न संपूर्ण संशय रूप कार्य में समानधर्मत्व रूप से ही कारणता मानी गई है। जो संशय में कहीं विधि (भाव) पक्ष प्रधान, निषेध अभाव (पक्ष) गौण होता है कहीं निषेधपक्ष प्रधान तथा विधिपक्ष गौण होता है इस प्रकार संशय रूप कार्य में विलक्षणता हो सकती है ऐसा कुछ विद्वानों का मत है जिससे उक्त व्यभिचार दो बन आयगा, वह भी अनुगत में होने से अर्थात् संपूर्ण कार्यों में व्यापक न होने से कार्यता का नियामक नहीं हो सकता। (अर्थात् कोई संशय साधारण धर्मवान् धर्मी के ज्ञान से उत्पन्न प्रधान विधि पक्ष है कोई निषेध पक्ष प्रधान है कोई उभय पक्ष प्रधान है, इत्यादि अनुगम नहीं हो सकता)।

इस प्रकार संशय के सम्बन्ध में गौतम आदिकों का मत दिखाकर स्वमत से संशय-विषय में सिद्धान्त का उपसंहार करते हुए शंकर मिश्र कहते हैं कि)—ऐसा होने से संशय न तीन प्रकार का है न पाँच प्रकार का, किन्तु एक ही प्रकार का है, दूसरी रीति से वह दो प्रकार का है यह सूत्रकार स्वयं स्पष्ट करेंगे।

पूर्वपक्ष—संशय का 'जिज्ञासाजनक ज्ञान' ऐसा लक्षण नहीं कर सकते क्योंकि

इति न लक्षणम् अनध्यवसायेऽपि गतत्वात्, संस्काराजनकज्ञानं संशय इत्यपि निर्विकल्पकसाधारणं विशिष्टज्ञानत्वेन संशयस्यापि संस्कारजनकत्वात्, संशयत्वञ्च जातिरपि न लक्षणं धर्म्यंशे संशयत्वाभावेन तदंशे तज्जात्यभावात् जातेश्चाव्याप्यवृत्तित्वानभ्युपगमात् इति चेत्, एकस्मिन् धर्मिणि विरोधिनानाप्रकारकं ज्ञानं संशय इति तल्लक्षणात् ॥ १७ ॥

द्विविधः संशयो बहिर्विषयकोऽन्तर्विषयकश्च। बहिर्विषयकोऽपि दृश्यमानधर्मिकोऽदृश्यमानधर्मिकश्च। तत्र दृश्यमानधर्मिको यथा ऊर्ध्वत्वविशिष्टस्य धर्मिणो दर्शनात् अयं स्थाणुः पुरुषो वेति। अदृश्यमानधर्मिको यथा अरण्ये झाटाद्यन्तरिते गोगवयादिपिण्डे विषाणमात्रदर्शनात् अयं गौर्गवयो वेति।

अनिश्चय रूप अनध्यवसाय-ज्ञान में उक्त लक्षण होने से अतिव्याप्ति दोष होगा। यदि भावना संस्कार को न उत्पन्न करने वाले ज्ञान को संशय कहें, तो निर्विकल्पक ज्ञान से भी उक्त संस्कार न उत्पन्न होने से निर्विकल्पक ज्ञान में अतिव्याप्ति दोष तथा विशिष्ट ज्ञान होने से संशय के भी उक्त संस्कारजनक होने के कारण असंभव दोष भी हो जायगा) संशयत्वजातिमत्व भी संशय का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि धर्मीरूप भाग में संशय न होने से उस अंश में संशयत्व जाति नहीं है, जातिपदार्थ को अव्याप्यवृत्ति (एकदेश में वर्तमान) नहीं मानते (अर्थात् 'पर्वत वह्निवाला है या 'नहीं' इस संशय में वह्न्यंश में संशयरूपता होने पर भी पर्वतरूप धर्मी अंश में वह निश्चय रूप होता है' ऐसा मानते हैं)। तस्मात् संशय का लक्षण असंगत होने से उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है।

(इस पूर्वपक्ष का शंकरमिश्र ऐसा समाधान देते हैं कि)—एक धर्मी में विरुद्ध अनेकधर्मप्रकारक ज्ञान संशय होता है—ऐसा संशय का लक्षण हो सकता है अतः उक्त कोई दोष नहीं हो सकते) ॥ १७ ॥

(अठारहवें सूत्र का शंकरमिश्र अवतरण देते हुए कहते हैं कि) १—बहिर्विषयक (बाह्य विषयों में होने वाला) तथा अन्तर्विषयक मानस विषय में होने वाला ऐसे दो प्रकार के संशय हैं। २—(इन दोनों में से) १—दृश्यमानधर्मिक (जिसके धर्मी का प्रत्यक्ष हो), तथा २—अदृश्यमानधर्मिक (जिसके आश्रयधर्मी का प्रत्यक्ष नहीं होता) ऐसे प्रथम बहिर्विषयक संशय के दो भेद हैं। इन दोनों में से दृश्यमान धर्मिवाले संशय का उदाहरण यह है जैसे ऊर्ध्वताविशिष्ट (ऊँचे) धर्मी पदार्थ को देखकर यह स्थाणु (वृक्ष) है, अथ वा पुरुष? (क्योंकि इसमें ऊँचा धर्मिरूप पदार्थ दिखाई देता है)। दूसरे अदृश्यमानधर्मिक संशय का उदाहरण है जैसे अरण्य में झाड़ी के आड़ में रहने वाले गो अथवा गवय (नील गाय) को न दिखाई देने पर भी केवल उसके सींग को देखकर यह गो है अथवा गवय? ऐसा संशय। वस्तुतः विचार करने से वहाँ भी विषाण रूप धर्मी

वस्तुतस्तत्रापि विषाणधर्मिक एव सन्देहो विषाणमिदं गोसम्बन्धि गवयसम्बन्धि वेति। विवक्षामात्रात्तु द्वैविध्याभिधानम् । यत् सामान्यं संशयहेतुस्तदनेकत्र दृष्टं संशायकम् एकत्र धर्मिणि वा दृष्टं संशयहेतुरित्यत्र प्रथमां विधामाह—

दृष्टञ्च दृष्टवत् ॥ १८ ॥

दृष्टमूर्द्धत्वं संशयहेतुः । दृष्टवदिति वतिप्रत्ययः तेन दृष्टाभ्यां स्थाणुपुरुषाभ्यां तुल्यं वर्त्तते पुरोवर्त्तिनि यदूर्ध्वत्वं तद् दृष्टं संशयहेतुरित्यर्थः ॥ १८ ॥

एकधर्मिविषयं यद् दृष्टं तदुदाहरति—

यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ॥ १९ ॥

(आश्रय) का ही संदेह होता है कि यह सींग गो का है या गवय का ऐसा दृश्यमानधर्मिक ही यह भी संशय है । केवल कहने की इच्छा मात्र से बहिर्विषयक संशय के दृश्यमानधर्मिक तथा अदृश्यमानधर्मिक ऐसे दो भेद हैं । (अर्थात् विषाणमात्र के देखने के अनन्तर हुये संशय के दृश्यमान धर्मी वाले होने पर भी गोवलीवर्द न्याय से सींगमात्र धर्मी से भिन्न दृश्यमानधर्मिता तथा उससे भिन्न दृश्यमानधर्मिता ऐसे कोई धर्मों को लेकर विभाजक की केवल इच्छा से दो प्रकार के संशयों को दो प्रकार कहा है ।) इस प्रकार बाह्य तथा आन्तरिक भेद से दो प्रकार के संशय कहकर कारण भेद से शंकरमिश्र भेद दिखाते हैं)—कि जो साधारण धर्म संशय का कारण कहा है वह अनेक धर्मीमें देखा हुआ अथवा एक धर्मी में देखा हुआ संशय का जनक होता है । इन दो प्रकारों में से प्रथम प्रकार सूत्रकार दिखाते हैं—

पदपदार्थ—दृष्टं च = देखा हुआ, दृष्टवत्=देखे हुओं के समान, (संशय का कारण होता है ।

भावार्थ—देखे हुए स्थाणु तथा पुरुषों में समान रहने वाला देखा हुआ ऊर्ध्वता धर्म संशय का कारण होता है ॥ १८ ॥

उपस्कार—देखा हुआ ऊर्ध्वत्व (ऊंचाई) संशय का कारण होता है । 'दृष्टवत्' इस पद में समानार्थक वति यह प्रत्यय हैं इससे देखे हुए वृक्ष तथा पुरुष दोनों के समान वर्तमान है आगे स्थित ऊँचे पदार्थ रूप धर्मी में जो ऊर्ध्वता (ऊंचाई) वह देखने पर यह स्थाणु है या पुरुष इस संशय का कारण है यह सूत्र का अर्थ है ॥१८॥

(इस प्रकार अनेक-धर्मिविषय में संशय का वर्णन कर) एक धर्मिरूप विषय में देखे हुए सामान्य धर्म से उत्पन्न संशय का उदाहरण सूत्रकार देते हैं—

पदपदार्थ—यथादृष्टं = जैसा पूर्व में देखा हुआ, अयथादृष्टत्वात् च = वैसा न देखा हुआ होने से भी, (संशय का) कारण होता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—किसी मनुष्य को पूर्व काल में केशयुक्त देखा था, उसी को दूसरे समय केशरहित (मूंड़ामस्तक) देखा था, पश्चात् दूसरे काल में वस्त्र से आवृत

संशयहेतुरिति शेषः। चकारः पूर्वोक्तसमुच्चयार्थः। अयथादृष्टत्वाद्धेतोर्यथा-दृष्टमपि संशायकम् यथा—चैत्रो यथा दृष्टः केशवान्, कालान्तरे अयथादृष्टः केशविनाकृतो दृष्ट इत्यर्थः। क्रमेण तत्रैव चैत्रे वस्त्रावृतमस्तके दृष्टे सति भवति संशयश्चैत्रोऽयं सकेशो निष्केशो वेति। तत्र हि चैत्रत्वं समानो धर्मः संशायकः स चैकत्रैव दृष्ट इत्यभिन्न एव धर्मिणि दृष्टः संशयहेतुः॥ १९॥

उपलभ्यमानत्वं समानमेव धर्मं संशयकारणमाह—

विद्याऽविद्यातश्च संशयः॥ २०॥

विद्येति। आन्तरसंशयो हि विद्याऽविद्याभ्यां भवति यथा मौहूर्त्तिकः सम्य-गादिशति चन्द्रोपरागादि, असम्यगपि। तत्र स्वज्ञाने संशयोऽस्य जायते सम्य-

---

(ढंके हुए) मस्तक वाले उसी मनुष्य को देखकर यह केशसहित अथवा केश रहित है ऐसा जो संशय होता है वह एक ही मनुष्यरूपी धर्मी में होने से एक धर्मिविषयक संशय है।। १९॥

उपस्कार—सूत्रोक्त हेतु में आकांक्षित पद 'संशयहेतु' संशय का कारण है ऐसा शेष पद देना। चकोर से पूर्व सूत्र में प्रदर्शित हेतु का इस सूत्र के साथ समुच्चय संशय में दोनों हेतुओं का होना) सूचित होता है। यथादृष्ट न होने के कारण (पहले ऐसा केशवाला न देखने के कारण) यथादृष्ट (केशवाला देखना) भी संयश को उत्पन्न करता है जिस प्रकार चैत्रनामक मनुष्य पूर्वकाल में जैसा केशवाला देखा था, दूसरे काल में वह अयथादृष्ट—केशों के विना (मूंड़ा मस्तक) देखा गया था यह सूत्र का अर्थ है। क्रम से उसी वस्त्र से आच्छादित मस्तकवाले चैत्र को देखने पर यह चैत्र इस समय केशयुक्त मस्तकवाला है अथवा केशरहित (मूंड़ा मस्तक) है ऐसा संशय होता है। इस संशय में 'चैत्रत्व' दोनों काल के चैत्र व्यक्ति में वर्तमान समान धर्म ही संशय का जनक है, और वह एक ही में देखा है इस कारण अभिन्न ही धर्मी में देखा हुआ संशय का कारण है॥ १९॥

उपलब्ध होना यह समान ही धर्म संशय का कारण है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—विद्याऽविद्यातः च = विद्या तथा अविद्या दोनों से भी, संशयः= संशय ज्ञान होता है॥ २०॥

भावार्थ—यथार्थ तथा अयथार्थ भी दो प्रकार का ज्ञान होता है जाने जाने वाले पदार्थ में ज्ञायमानत्व हेतु से यह ज्ञानविषय सत् है अथवा असत् ऐसा संशय होता है अतः उपलब्ध होना रूप समानधर्म संशय का कारण है॥ २०॥

उपस्कार—('विद्या' इति ऐसा सूत्र का प्रतीक लेकर शंकरमिश्र सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—आन्तरिक संशय विद्या तथा अविद्या दोनों से होता है, जैसे ज्योतिषी का कहा हुआ चन्द्रग्रहण आदि अमुक (इस) समय में होगा यह सत्य भी

-गादिष्टमसम्यग्वेति। यद्वा ज्ञानं हि क्वचिद्विद्या भवति क्वचिच्चाविद्या अप्रमा भवति, तथाच ज्ञायमानत्वात् सदिदमसद्वेति संशयो जायते। पुनः संशयग्रहण-मिहापि सामान्यप्रत्यक्षादेव संशयो न तु निमित्तान्तरादिति सूचनार्थम्। तथा च "समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्था-तश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः" इति गौतमीये लक्षणे उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्य-वस्थेत्यस्य पृथगेव संशयकारणत्वं कैश्चिदुक्तं तन्निरस्तम् ॥ २० ॥

एवं लक्षणतः स्वरूपतश्च परीक्षाप्रथमाङ्गं संशयं व्युत्पाद्य इदानीं परीक्षा विषयं शब्दं धर्मिणं दर्शयन्नाह—

श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः ॥ २१ ॥

होता है तथा मिथ्या भी (अर्थात् ज्योतिषी का बतलाया हुआ ग्रहण का समय कभी ठीक मिलता है कभी-कभी नहीं मिलता) उसमें ज्योतिषी को स्वयं अपने ज्ञान में तीसरी बार संशय होता है कि यह मेरा बतलाया हुआ ग्रहण का काल सत्य है अथवा मिथ्या (सूत्र में कहा हुआ विद्या तथा अविद्या पद भाव (धर्म) प्रधान होने से विद्यात्व तथा अविद्यात्व धर्म विद्या तथा अविद्या पद से लेना) जिससे यह ज्ञान यथार्थता तथा अयथार्थता के साथ वर्तमान ज्ञानविषयता वाला है ऐसा ज्ञान होने से (यह ज्ञान यथार्थ है या नहीं ऐसा संशय होता है) इस आशय से शंकरमिश्र दूसरे रूप से (प्रकार से) सूत्र का अर्थ करते हैं कि)—अथवा ज्ञान कहीं यथार्थ होता है कहीं अयथार्थ होता है, अतः यह ज्ञान का विषय होने से सत् यथार्थ है या असत् ऐसा संशय होता है । इस सूत्र में संशय प्रकरण होने पर भी पुनः सशय पद का ग्रहण इस उक्त संशय में भी साधारण धर्म ज्ञान ही कारण है, दूसरा निमित्त नहीं है यह सूचना करने के लिये दिया है। इस ऐसी व्याख्या से समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्ते-रुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः' अर्थात् 'समान धर्मज्ञान विशेष धर्मज्ञान, विरुद्ध कोटिज्ञान, उपलब्धि की अव्यवस्था तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था से विशेष की अपेक्षा रखने वाले ज्ञान को संशय कहते हैं, इस गौतम महर्षि के किये संशय के लक्षण में उपलब्ध्यव्यवस्था तथा अनुपलब्ध्यव्यवस्था पृथक् संशय के कारण हैं ऐसा वात्स्यायन मुनि के वात्स्यायन भाष्य में कहा है—यह खंडित हो गया ॥ २० ॥

इस प्रकार लक्षण तथा स्वरूप से परीक्षा के प्रथम अंग संशय का वर्णन कर सांप्रत प्रस्तुत परीक्षा के विषय शब्दरूप धर्मी को दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—श्रोत्रग्रहणः = श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होने वाला, यः=जो, अर्थः = धर्मिरूप पदार्थ (होता है) सः=वह, शब्दः = शब्दगुण है ॥ २१ ॥

भावार्थ—श्रोत्रइन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने योग्य पदार्थ को शब्द कहते हैं ॥२१॥

श्रोत्रं ग्रहणं ग्रहकरणं यस्य स श्रोत्रग्रहणः, अर्थ इति धर्मीत्यर्थः। तथा च शब्दवृत्तिधर्मेषु श्रोत्रग्राह्येषु शब्दत्वतारत्वादिगुणत्व-सत्त्वादिषु नातिव्याप्तिः। अर्थपदेन धर्मिपरेण जातिधर्मित्वम् अभिप्रेतम् अतः स्फोटनामा शब्दसमवेतः शब्दो नास्तीति सूचितम्। नन्वेकं पदम् एकं वाक्यमिति प्रतीतिबलादवश्यं स्फोटोऽङ्गीकर्त्तव्यः, न हि बहुवर्णात्मके पदे बहुवर्णात्मके वा वाक्ये भवत्येकत्वप्रत्ययः। स्फोट इति चार्थस्फुटीकरणाधीना संज्ञा। वर्णानां प्रत्येकं तावदर्थप्रत्याजनकत्वमेव, मिलनन्त्वेकवक्तृकाणामाशुतरविनाशिनामसम्भवीति स्फोटादेवार्थप्रत्ययः, तज्ज्ञानमन्तरेणार्थस्फुटीभावाभावात्। स च स्फोटो यद्यपि पदभावेनावस्थितेषु सर्वेष्वेव वर्णेषु तथापि चरमवर्णे स्फुटीभवति। मैवम्। सङ्केतवद्वर्णत्वं पदत्वं तथा च सङ्केतबलादेव पदादर्थप्रतीतौ किं स्फोटेन। वर्णानाम्बहूनाम-

---

उपस्कार—श्रोत्र नामक इन्द्रिय प्रत्यक्ष का कारण जिसका होता है उस धर्मी (अर्थ) को शब्द कहते हैं। इस शब्द के लक्षण में धर्मवाचक अर्थ पद के देने से श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होने वाले शब्द में वर्तमान शब्दत्व, तारत्व (ऊँचापन), गुणत्व, तथा सत्ताजाति में अतिव्याप्तिदोष नहीं हो सकता, (क्योंकि वह धर्मी नहीं है) तथा धर्मिबोधक अर्थपद से समवायसम्बन्ध से जातिमात्र का आश्रय ऐसा अर्थ सूत्रकार को अभिप्रेत है जिससे स्फोट नाम का वैयाकरणों को अभिमत शब्दों में समवेत दूसरा शब्द मानने की आवश्यकता नहीं हैं यह सूचित होता है। पूर्वपक्ष—'यह एक पद है, यह एक वाक्य है' इत्यादि प्रतीतियों के बल से स्फोट नाम के दूसरे शब्द का शब्द भी अवश्य मानना होगा, क्योंकि अनेक वर्णस्वरूप पद तथा अनेक वर्णस्वरूप वाक्य में एक ही है यह प्रतीति नहीं हो सकती। (अतः एकत्व-प्रतीति होने के लिये माना हुआ दूसरा स्फोट शब्द मानना होगा) वह अर्थ को स्पष्ट करता है इस कारण उसका नाम स्फोट है। क्योंकि पदघटित प्रत्येक वर्ण तो एक अर्थ के बोधक हो ही नहीं सकते, और एक वक्ता से उच्चारण किये अत्यन्त शीघ्र नष्ट होनेवाले वर्णों का मिलन (मिलना) असंभव है इस कारण उन वर्णों से उत्पन्न स्फोट नामक शब्द से ही अर्थ ज्ञान होता है, क्योंकि उसके ज्ञान के बिना अर्थ स्पष्ट न होगा। वह स्फोट शब्द यद्यपि एक पदरूप से वर्तमान पदघटित संपूर्ण वर्णों में है तथापि अन्तिम वर्ण में स्पष्ट होता है, (अतः स्फोट अवश्य मानना होगा)—

उत्तर—ऐसा नहीं क्योंकि संकेत-विशिष्ट वर्णों का नाम है पद, अतः संकेत (शक्ति) के बल से ही पद से अर्थ का ज्ञान होने के कारण स्फोट मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। (अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से संकेत-विशिष्ट वर्णत्व ही पदत्व है अतः घटादि उक्त पद अथवा उसका ज्ञान संकेत (शक्ति) ज्ञान की सहायता से ही अर्थ का बोध कराता है, जिससे परस्पर वर्णों के संसर्ग को विषय करने वाला शब्द ज्ञान होता है, ऐसा होने से वर्णों के अतिशीघ्र विनाश-स्वभाव होने पर भी कोई

प्येकार्थप्रतिपादकत्वमेकं धर्ममभिप्रेत्य एकं पदमिति भाक्तो व्यवहारः एवं वाक्येऽपि। यदि वर्णातिरिक्तः पदात्मा कश्चित् प्रत्यक्षतो गृह्येत स्वीक्रियेतापि स्फोटः सोऽयं स्फोटवादस्तुच्छत्वादुपेक्षितः सूत्रकृता ॥ २१ ॥

तदेवं शब्दे धर्मिण्युपस्थिते गुणत्वे सत्येव तस्याकाशलिङ्गत्वम्। अतो गुणत्वव्यवस्थापनाय त्रिकोटिकं संशयमुपपादयन्नाह—

तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्य उभयथा दृष्टत्वात् ॥२२॥

शब्दे संशय इति शेषः। शब्दे शब्दत्वं श्रोत्रग्राह्यत्वं चोपलभ्यते, तच्च तुल्यजातीयेषु चतुर्विंशतौ गुणेषु अर्थान्तरभूतेषु द्रव्येषु कर्मसु च विशेषस्य व्यावृत्तेः उभयथा उभयत्र दर्शनात् 'शब्दः किं गुणो द्रव्यं कर्म वेति' संशयं जनयति।

शेष नहीं हो सकता। इस आशय से शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—अनेक भी वर्ण एक अर्थ को वर्णत्वरूप एकधर्म के अभिप्राय से होता है, अतः एकपद है यह गौण व्यवहार होता है इसी प्रकार वाक्य में भी, क्योंकि यदि वर्णों से भिन्न पदरूप किसी स्फोटादि शब्द का प्रत्यक्ष से ग्रहण हो तो वह स्फोट माना भी जाय, इस कारण यह वैयाकरणों का स्फोटवाद तुच्छ (व्यर्थ) होने से महर्षि कणाद ने इसकी उपेक्षा की है अर्थात् स्फोट शब्द का वर्णन नहीं किया है ॥ २१ ॥

तो इस प्रकार शब्दरूप धर्मी के उपस्थित होने पर, गुण होने से ही पूर्वप्रदर्शित रूप से आकाश का लिङ्ग शब्द को कहा गया है। अतः शब्द में गुणत्व का सिद्धान्त दिखाने के लिये प्रथम उसमें तीन (कोटि) तीन भागों को लेकर संशय का उपपादन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तुल्यजातीयेषु = समानजातिवाले गुणपदार्थों में, अर्थान्तरभूतेषु=दूसरे पदार्थ द्रव्य, तथा कर्मों में, विशेषस्य = भेद के, उभयथा = दोनों में, दृष्टत्वात् = देखा जाने से (शब्द) गुण है द्रव्य है, या कर्म ऐसा संशय होता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—शब्द में वर्तमान श्रोत्रग्राह्यता तथा शब्दत्वरूप विशेष (भेदक) के गुणरूप से समानजातीय रूपादि गुणों तथा दूसरे द्रव्य तथा कर्म पदार्थों में दिखाई देने से शब्द गुण है, या द्रव्य अथवा कर्म ऐसा संशय होता है ॥ २२ ॥

उपस्कार—सूत्रोक्त हेतु का 'शब्द में संशय होता है' ऐसा आकांक्षित (शेष) भाग पूरा कर सूत्र की व्याख्या करना। शब्द में शब्दत्व जाति तथा श्रवणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना भी उपलब्ध होता है, और वह गुणत्वेन समानजाति के रूप, रस आदि चतुर्विंशति गुणों में, तथा असमानजातीय द्रव्य, तथा कर्मरूप दूसरे पदार्थों में भी विशेष (व्यावृत्ति) अर्थात् न रहना उभयथा (दोनों में) दीखने से शब्द क्या गुण है या द्रव्य या कर्म ऐसा संशय उत्पन्न करता है। सामान्यविशेष तथा समवाय में शब्द का संशय नहीं हो सकता क्योंकि 'सदनित्यं' इत्यादि सूत्र में दिखाये हुए सत्ता-

सामान्यविशेषसमवायकोटिकत्वन्तु सत्त्वकारणवत्त्वादिवैधर्म्यदर्शनान्न भवति। ननु चासाधारणधमस्यानध्यवसायजनकत्वात् संशयजनकत्वं प्रतिषिद्धम् शब्दत्वं श्रोत्रग्राह्यत्वञ्चासाधारण एव धर्मः कथं संशयं जनयिष्यतीति चेत्सत्यम्। व्यावृत्तिरस्य जातीयासजातीयसाधारणीति व्यावृत्तेः साधारणस्यैव धर्मस्य संशयजनकत्वेनोक्तत्वात्।

शब्दत्वप्रतियोगिको व्यावृत्तिः समानो धर्मः उभयगतव्यावृत्तिप्रतियोगित्वञ्च शब्दत्वमसाधारणो धर्मः। तदुक्तं 'विशेषस्योभयथा दर्शनादिति'। अत्र हि विशेषस्य व्यावृत्तेरुभयत्र सजातीये विजातीये च दर्शनस्य संशयहेतुत्वेनोपादानात् स च समान एव धर्म इति ॥ २२ ॥

तदेवं संशयं दर्शयित्वा द्रव्यत्वकोटिव्युदासायाह—

जाति, कारणवत्ता इत्यादिकों के विरुद्ध धर्म (सत्ताजाति का न होना, कारण वाले न होना इत्यादि विरुद्ध धर्म का दर्शन होता है। शंका—असाधारण (विशेष) धर्म को अनध्यवसाय (अनिश्चयात्मक) ज्ञान के जनक होने से वह संशयजनक नहीं होता ऐसा कह आये हैं, शब्द में वर्तमान शब्दत्व जाति तथा श्रवणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष का होना भी असाधारण धर्म ही हैं तो वह संशय को कैसे उत्पन्न करेगा ? उत्तर—पूर्वपक्षी का कथन सत्य है, किन्तु समानजातीय तथा असमानजातीयों में उक्त प्रकार से शब्दत्व तथा श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यता का न होना भी समानजातीय तथा असमानजातीय में साधारण है, अतः व्यावृत्तिरूप साधारण धर्म ही संशयजनक है ऐसा कहा है।

(यदि यहाँ पर 'व्यावृत्ति का अर्थ होगा सामानाधिकरण्यरूप सम्बन्ध, उसको कोई प्रतियोगी तथा अनुयोगीरूप सम्बन्धी मानना ही होगा. वह व्यावृत्तत्व धर्ममें न होने से प्रमेयत्वादि धर्म के समान साधारण होनेपर भी सम्बन्ध नहीं हो सकता' ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे, तो शंकरमिश्र कहते हैं कि)—शब्दत्वप्रतियोगिक व्यावृत्ति है समानधर्म और उभयगत व्यावृत्ति की प्रतियोगिता रूप शब्दत्व है असाधारण धर्म, यही 'विशेषस्योभयथादृष्टत्वात्' ऐसा सूत्र में कहा है। प्रकृत में व्यावृत्ति रूप विशेष को समानजातीय तथा विजातीय दोनों में देखना संशय का कारण है ऐसा कहने से, वह विशेष समान ही धर्म है ऐसा सिद्ध होता है (अर्थात् वृत्तिता के नहीं रहने के नियामक न होने वाले सम्बन्धस्वरूप व्यावृत्तत्व का ज्ञान 'एक सम्बन्धी का ज्ञान दूसरे सम्बन्धी को स्मरण कराता है' इस नियम के अनुसार सामानाधिकरण्य के समान परस्पर में ही प्रतियोगी तथा अनुयोगी रूप होता है) ॥ २२ ॥

(तेइसवें सूत्र का अवतरण देते हैं कि)—इस प्रकार शब्द में संशय शब्द को दिखाकर द्रव्यत्वरूप एक कोटि (पक्ष) का शब्द में निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ॥ २३ ॥

एकं द्रव्यं समवायि यस्य तदेकद्रव्यं द्रव्यञ्च किमप्येकद्रव्यसमवायिकारणकं न भवतीति द्रव्यवैधर्म्यान्नायं शब्दो द्रव्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥

ननु कर्मैकद्रव्यमेव तथा च शब्दः कर्म स्यादित्यत आह—

नापि कर्माऽचाक्षुषत्वात् ॥ २४ ॥

प्रत्ययस्य शब्दविषयकस्याचाक्षुषत्वात् चक्षुर्भिन्नबहिरिन्द्रियजन्यत्वादित्यर्थः। तथा च शब्दत्वं न कर्मवृत्ति चाक्षुषप्रत्यक्षावृत्तिजातित्वात् रसत्वादिवदिति भावः ॥ २४ ॥

ननु शब्दः कर्म आशुतरविनाशित्वात् उत्क्षेपणादिवदिति चेदत्राह—

पदपदार्थ—एकद्रव्यत्वात् = केवल आकाश रूप समवायिकारण वाला होने से, न = नहीं हो सकता, द्रव्य = शब्द द्रव्य ॥ २३ ॥

भावार्थ—कोई भी कार्य द्रव्य एक समवायिकारण द्रव्य वाले नहीं होते और शब्द का केवल आकाश ही द्रव्य समवायिकारण है, अतः शब्द द्रव्य पदार्थ नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

उपस्कार—एक द्रव्य है समवायिकारण जिसका वह एक द्रव्य कहाता है। कोई भी कार्यद्रव्य एक समवायिकारण द्रव्य में उत्पन्न नहीं होता, इस प्रकार द्रव्य का विरुद्ध धर्म शब्द मे होने से वह द्रव्य नहीं है यह सूत्र का अर्थ है ॥ २३ ॥

कर्मपदार्थ में एक द्रव्य ही समवायिकारण होता है, यह समान धर्म शब्द में होने से वह कर्म पदार्थ ही क्यों न माना जाय ? इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न अपि = और नहीं भी है, कर्म = शब्द कर्मपदार्थ, आचक्षुषत्वात् = चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष न होने से ॥ २४ ॥

भावार्थ—शब्द का ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय से न होने के कारण वह कर्मपदार्थ भी नहीं हो सकता और चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है ॥ २४ ॥

उपस्कार—शब्द विषय का ज्ञान अचाक्षुषत्वात् इसका अर्थ है चक्षुरिन्द्रिय से भिन्न श्रोत्ररूप बहिरिन्द्रिय से उत्पन्न होने के कारण (शब्द कर्मपदार्थ नहीं है)। ऐसा अर्थ है। (यहाँ पर चक्षुरिन्द्रिय से उत्पन्न नहीं होने से ऐसा कहने से वायुक्रिया में व्यभिचार दोष-वारणार्थ चक्षुर्भिन्न ऐसा कहा है)। ऐसा होने से 'शब्दत्व जाति, कर्मपदार्थ में नहीं रहती, चाक्षुषप्रत्यक्ष में न रहने वाली जाति होने से, रसत्वादि-जातियों के समान' ऐसा अनुमान होता है यह सूत्रकार का अभिप्राय है ॥ २४ ॥

"यदि शब्द 'कर्मपदार्थ है, अतिशीघ्र विनाशी होने से, उत्क्षेपणादि कर्म के समान' इस अनुमान से शब्द में कर्मता का अनुमान करेंगे" ऐसा पूर्वपक्षी शंका करे तो सूत्रकार उत्तर देते हैं—

गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ॥ २५ ॥

अपवर्गः आशुनाशः स च गुणत्वेऽपि द्वित्वादिवदाशुभाविनाशकसन्निपाताधीन इति कर्मभिः साधर्म्यमात्रमस्य न तु कर्मत्वमेव । त्वदुक्तहेतोराशुतरविनाशित्वस्य द्वित्वज्ञानसुखदुःखादिभिरनैकान्तिकत्वमिति भावः ॥ २५ ॥

ननु सिध्यतु शब्दो गुणस्तथापि नासावाकाशलिङ्गम् । आकाशं हि तदाऽनुमापयेत् यदि तस्य कार्यः स्यात् । किन्तु नित्य एवायं, कदाचिदनुपलम्भस्तु व्यञ्जकाभावप्रयुक्त इत्याशङ्क्याह—

सतो लिङ्गाभावात् ॥ २६ ॥

पदपदार्थ—गुणस्य = गुण पदार्थ के, सतः = शब्द के होने पर, अपवर्गः = शीघ्र नाश होना, कर्मभिः = कर्मपदार्थों से, साधर्म्यम् = समान धर्म है ॥ २५ ॥

भावार्थ—शीघ्र विनाशिता रूप शब्द में कर्मता साधक हेतु के द्वित्वादि ज्ञान तथा सुख-दुःखादि गुणों में रहने पर भी कर्मता न होने के कारण व्यभिचार दोष होने से शब्द गुण होने पर उसका शीघ्र नाश होना यह कर्म पदार्थों का उसमें केवल साधर्म्य है न कि शब्द कर्मपदार्थ है ॥ २५ ॥

उपस्कार—अपवर्ग (शीघ्र विनाश) वह शब्द के गुण पदार्थ होने पर भी द्वित्वादि गुण के नाश में अपेक्षा बुद्धिनाश रूप कारण के सांनिध्य के समान शब्द के शीघ्र विनाश के कारणों के संनिहित होने से होता है, इस प्रकार यह आशु विनाश केवल कर्मपदार्थों के साथ समानधर्ममात्र है, न कि शब्द में कर्मत्व ही है। आपके (पूर्वपक्षी ने) अनुमान में दिया हुआ 'आशुतर विनाशिता रूप हेतु द्वित्वगुण ज्ञान, सुख, दुःख इत्यादिकों में व्यभिचार दोषग्रस्त है। (क्योंकि उनमें शीघ्र-विनाशिता हेतु के रहने पर भी कर्मत्वरूप साध्य नहीं है) अतः व्यभिचारी दुष्टहेतु है। (अतः कर्मत्व का साधक नहीं हो सकता) ॥ २५ ॥

शंकापूर्वक छब्बीसवें सूत्र का (शंकरमिश्र ऐसा अवतरण देते हैं कि)—शब्द गुण है यह उक्त रीति से सिद्ध होने पर भी वह आकाशद्रव्य का साधक लिङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि वह आकाश की अनुमान से तब सिद्धि कर सकेगा, यदि वह कार्य हो, किन्तु यह शब्द तो नित्य ही है, नित्य होने पर कदाचित् शब्द की उपलब्धि नहीं होती इसका कारण यह है कि उच्चारणादि व्यंजकों का न होना (अर्थात् शब्दनित्य होने पर भी सर्वदा उसकी उपलब्धि उच्चारणादि अभिव्यंजकों के सर्वदा न होने से नहीं होती) इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सतः = सदा वर्तमान नित्य शब्द का, लिङ्गाभावात् = प्रमाण न होने से ॥ २६ ॥

भावार्थ—यदि उच्चारण के पूर्व में नित्य शब्द है तो उसमें कोई प्रमाण होना

यदि हि उच्चारणात् प्रागूर्ध्वं शब्दः सन् स्यात् तदा सतोऽस्य लिङ्गं प्रमाणान्तरं स्यात्। न चाश्रवणदशायां शब्दसत्त्वे प्रमाणमस्ति, तस्मात् कार्य्य एवायं न व्यङ्ग्य इति ॥ २६ ॥

इतश्च न व्यङ्ग्योऽसावित्याह—

नित्यवैधर्म्यात् ॥ २७ ॥

नित्येन सहास्य शब्दस्य वैधर्म्यमुपलभ्यते यतश्चैत्रो वक्तीत्यत्रावृतोऽपि चैत्रमैत्रादिर्वचनेनानुमीयते । न च व्यञ्जकः प्रदीपादिर्व्यङ्ग्येन घटादिना क्वचिदनुमीयते, तस्माज्जन्य एवायं न व्यङ्ग्य इति भावः ॥ २७ ॥

व्यङ्ग्यत्वे बाधकमुक्त्वा सम्प्रत्यनित्यत्वे हेतुमाह—

चाहिये, किन्तु उच्चारण के पूर्व शब्द है इसमें दूसरा कोई प्रमाण न होने से शब्द नित्य है यह नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

उपस्कार—यदि कण्ठ, तालु आदि संयोग रूप उच्चारण तथा भेरी-दण्ड संयोगादि रूप क्रम से वर्ण तथा ध्वनि रूप शब्दजनक व्यापार के पूर्व भी दोनों प्रकार के शब्द विद्यमान हों तो उसकी सत्ता होने में कोई दूसरा प्रमाण होगा, किन्तु जिस काल में शब्द का श्रवण नहीं होता उस काल में भी शब्द है ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इस कारण शब्दगुण कार्य (अनित्य) ही है, न कि उच्चारणादिकों से व्यंग्य (अभिव्यक्त) होता है। ऐसा सिद्ध होता है ॥ २६ ॥

और इस हेतु से भी शब्द व्यंग्य नहीं है—

पदपदार्थ—नित्यवैधर्म्यात् = नित्यपदार्थों के शब्द में विरुद्ध धर्म होने से ॥२७॥

भावार्थ—स्थिरपदार्थ घटादि के व्यंग्य (प्रकाशन योग्य) पदार्थ से प्रकाशक प्रदीपादिकों का कहीं अनुमान नहीं होता और वचनादिकों से वक्ता का अनुमान होता है. ऐसा नित्य स्थिरपदार्थों का विरुद्धधर्म होने से भी शब्द व्यंग्य नहीं है किन्तु कार्य (अनित्य) है यह सिद्ध होता है ॥ २७ ॥

उपस्कार—नित्य (स्थिर) पदार्थों के साथ इस शब्दगुण का विरुद्धधर्म मिलता है, क्योंकि चैत्र नामक मनुष्य बोल रहा है ऐसा कहने पर छिपा हुआ भी चैत्र-मैत्रादि वक्ता पुरुष की अनुमान से सिद्धि होती है। और नहीं होती व्यञ्जक (प्रकाशक) दीप आदि की व्यंग्य (प्रकाश योग्य) घटादि पदार्थों से कहीं भी अनुमिति से सिद्धि, इस कारण शब्द गुण कार्य (जन्य) ही है न कि व्यंग्य यह सूत्र का अभिप्राय है ॥ २६ ॥

शब्द की व्यंग्यता में बाधक को कहकर सांप्रत इसके अनित्य होने में साधक हेतु को सूत्रकार कहते हैं—

अनित्यश्चायं कारणतः ॥ २८ ॥

कारणत उत्पत्तेर्दृष्टत्वादिति शेषः। उपलभ्यते हि भेरीदण्डसंयोगादिभ्यः प्रादुर्भवन् शब्दः, तथा चोत्पत्तिमत्त्वादनित्योऽयमिति। यद्वा कारणत इति कारणवत्त्वहेतुमुपलक्षयति ॥ २८ ॥

ननु च कारणवत्त्वं शब्दस्य स्वरूपासिद्धमत आह—

न चासिद्धं विकारात् ॥ २९ ॥

शब्दस्य कारणवत्त्वमसिद्धमिति न वाच्यम् तीव्रमन्दादिभावेन विकारस्य दर्शनात् भेरीदण्डाभिघातस्य तीव्रतया तीव्रस्य मन्दतया मन्दस्य शब्दस्योप-

---

पदपदार्थ—अनित्यः च = और अनित्य भी है, अयं = यह शब्दगुण, कारणतः = कारण से उत्पन्न होने के कारण ॥ २८ ॥

भावार्थ—केवल शब्द के व्यंग्य होने में पूर्वोक्त बाधक होने से ही नहीं किन्तु शब्द की कारण से उत्पत्ति भी देखने में आती है इस कारण भी शब्द व्यंग्यजन्य नहीं किन्तु (कार्य) है यह सिद्ध होता है ॥ २८ ॥

उपस्कार—(सूत्र में आकांक्षित पद का शेष दिखाते हुए शंकरमिश्र सूत्र की व्याख्या करते हैं कि)—'यह शब्द अनित्य है कारण से उत्पत्ति दीखने के कारण' ऐसा सूत्र में अवशिष्ट पद देना। क्योंकि भेरी (नगाड़ा) तथा दण्ड के संयोग तथा कण्ठ-तालु आदि के संयोगादिकों से प्रगट होने वाली ध्वनि तथा वर्णरूप शब्द गृहीत होता है, ऐसा होने से आपत्ति-विशिष्ट होने से यह शब्द अनित्य है ऐसा सिद्ध है। अथवा सूत्र के 'कारणतः' इस पद से कारणवान् होने से ऐसा शब्द की अनित्यता में सूत्रकार ने हेतु सूचित किया है इससे भी शब्द अनित्य कार्य है। यह सिद्ध है ॥२८॥

यदि 'शब्द में द्वितीय पक्ष से कारणवान् होना यही नहीं माने तो वह अनित्यता-साधक कारणवत्त्व हेतु स्वरूपासिद्ध नामक दुष्ट हेतु होगा। तो उससे अनित्यता कैसे सिद्ध होगी। इस शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न च = और नहीं है, असिद्धं = कारणवत्ता असिद्ध नहीं है, विकारात् = तीव्र, तीव्रतर मन्द, अतिमन्द इत्यादि शब्दों में विकारों के दिखाने से ॥ २९ ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षी के दिये हुए शब्द की अनित्यता के साधक कारणवत्त्व हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष हो भी नहीं सकता, क्योंकि शब्दों में 'यह शब्द तीव्र है, यह अति-तीव्र है, यह मन्द है, यह अतिमन्द है। ऐसे भेरी तथा दण्ड के अभिघातों की तीव्रता तथा मन्दता के भेद से प्रतीति होती है, अतः कारणवत्त्व हेतु शब्द में सिद्ध होने से उक्त दोष नहीं हो सकता ॥ २९ ॥

उपस्कार—शब्द में कारणवत्ता हेतु असिद्ध है, ऐसा व्यंग्यतावादी नहीं कह सकता, क्योंकि तीव्र (तीखा) मन्द, इत्यादि रूप से शब्द में विकार दीखता है,

लम्भात् । नह्यभिव्यञ्जकतीव्रत्वाद्यधीनोऽभिव्यङ्ग्यतीव्रत्वादिः । तथाच कारणतो विकारादनुमीयते जन्योऽयं न त्वभिव्यङ्ग्य इति ॥ २९ ॥

ननु व्यञ्जकस्यैवायं महिमा यत्तीव्रमन्दादिभावेनाभिव्यनक्ति भेरीदण्डाद्यभिहतो वायुरेव तीव्रो मन्दश्च तथा प्रत्ययमाधत्ते अत आह—

अभिव्यक्तौ दोषात् ॥ ३० ॥

शब्दस्याभिव्यक्तौ समानदेशानां समानेन्द्रियग्राह्याणां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वं दोषः स्यात् । न च तादृशानां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वं क्वचिद्

क्योंकि भेरी और दण्ड के शब्द के कारण अभिघात नामक संयोग से तीव्र होने से तीव्र और मन्द होने से मन्द शब्द की उपलब्धि होती है । व्यञ्जक के तीव्रता तथा मन्दता के अधीन व्यंग्य पदार्थों में तीव्रता, मन्दतादि नहीं होते (अर्थात् प्रदीप के तीव्रता मंदता के अधीन घटादि व्यंग्य पदार्थों में तीव्रता, मन्दता नहीं होती) तथा च ऐसा होने से विकाररूप कारण से अनुमान किया जाता है कि यह शब्द गुणजन्य (कार्य) है न कि व्यंग्य होनेवाला स्थिर नित्य ऐसा सूत्र का अर्थ है ॥ २९ ॥

यदि यहाँ पर व्यंजक का ही यह महिमा है कि वह तीव्र तथा मन्द इत्यादि शब्दों को प्रकट करता है, अर्थात् भेरी तथा दण्डसे अभिघात संयोग का आश्रय वायु ही तीव्र और मन्द होने से शब्द में तीव्र तथा मन्द प्रतीति को उत्पन्न करता है' ऐसी शंका पूर्वपक्षी करें तो इसका समाधान सूत्रकार ऐसा करते हैं—

पदपदार्थ—अभिव्यक्तौ = शब्द की अभिव्यक्ति मानने में, दोषात् = नियत व्यंजक से व्यक्त होने का दोष होने से शब्द व्यंग्य नहीं हो सकता) ॥ ३० ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षी का कहा हुआ वायु की तीव्रतादिकों से शब्द की तीव्रतादि होना युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से समान इन्द्रिय से गृहीत होने वाले एक ही देश में वर्तमान विषयों में प्रत्येक विषय के ग्रहण में भिन्न-भिन्न व्यंजक मानने पड़ेंगे, यह दोष आ जायगा, अतः शब्द स्थिर (नित्य) व्यंग्य है यह नहीं हो सकता, किन्तु अनित्य जन्य है यह सिद्ध होता है ॥ ३० ॥

उपस्कार—पूर्वपक्षी के कथनानुसार वायु की तीव्रता तथा मन्दता से यदि शब्द में तीव्रता तथा मन्दता के कारण नित्य शब्द की अभिव्यक्ति मानने से समान (एक ही) देश में रहने वाला तथा समान (एक ही) इन्द्रिय से गृहीत होने वाले पदार्थों के ग्रहण में प्रत्येक पदार्थों की अभिव्यक्ति के लिये भिन्न-भिन्न व्यञ्जक मानने पड़ेंगे यह दोष होगा । किन्तु एकदेश में रहने वाले एक ही चक्षु आदि इन्द्रियों से गृहीत होने वाले अनेक घटादि पदार्थों के ग्रहण में भिन्न-भिन्न इन्द्रियादिरूप व्यञ्जक होते हैं यह देखने में नहीं आता ।

दृष्टम् । अत्र यदि तथा न स्वीक्रियेत तदा ककाराभिव्यक्तौ सर्ववर्णाभिव्यक्ति-प्रसङ्गः । ननु समानदेशानामपि सत्त्वनरत्वब्राह्मणत्वानां स्वरूपभेद-संस्थान-योनिव्यङ्ग्यानां प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वं दृष्टमेवेति चेन्न तेषां समानदेशत्वा-भावात् । न हि यावान् देशः सत्त्वस्य तावानेव नरत्वस्य ब्राह्मणत्व-स्य वा ॥ ३० ॥

इतश्च नाभिव्यङ्ग्यतेत्याह—

संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ॥ ३१ ॥

संयोगात् भेरीदण्डादिसंयोगात्, विभागात् वंशे पाट्यमाने । तत्र संयोग-स्तावन्नाद्यस्य शब्दस्य कारणं तदभावात् तस्मात् वंशदलद्वयविभागो निमित्त-

---

इस अभिव्यक्ति पक्ष में यदि ऐसा (प्रत्येक व्यंग्य के लिये नियत व्यंजक न होना) न माना जाय तो एक ककारवर्ण के कण्ठ-तालु आदि संयोगरूप व्यंजक से अभिव्यक्ति होने पर सम्पूर्ण ख आदि वर्णों की अभिव्यक्ति होने की आपत्ति आ जायगी । यदि 'एक ही मनुष्य शरीररूप देश में वर्तमान, स्वरूप के भेद, अवयवों की रचनारूप आकृति, तथा योनि (जन्म स्थान) इनसे क्रम से अभिव्यक्त होने वाली सत्ताजाति, मनुष्य होना तथा ब्राह्मणता इन तीनों के अभिव्यक्ति (ज्ञान) होने से प्रत्येक सत्ता आदि का भिन्न-भिन्न स्वरूप भेद आदि व्यंजक से व्यक्त होना देखाता ही है' ऐसी शंका पूर्वपक्षी करे तो, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वे समान देश ही नहीं हैं, कारण यह कि जितना सत्ताजाति का विषय देश है उतना ही मनुष्यता अथवा ब्राह्मणत्व का नहीं है (अर्थात् सत्ताजाति गुणादिकों में भी रहने से सबसे अधिक देश में रहता है, मनुष्य व केवल मनुष्य शरीरों में रहता है, और ब्राह्मणता मनुष्यों में भी केवल ब्राह्मणों में रहती है न कि शूद्रादिकों में) ॥ ३० ॥

इस हेतु से भी शब्द व्यंग्य नहीं है किन्तु कार्य है—

पदपदार्थ—संयोगात् = संयोग में, विभागात् च = और विभाग से, शब्दात् च= और शब्द से भी, शब्दनिष्पत्ति = शब्द की उत्पत्ति होती है ॥ ३१ ॥

भावार्थ—संयोग, विभाग, तथा शब्द से भी शब्द की उत्पत्ति होती है इस कारण भी शब्दजन्य गुण है न कि अभिव्यंग्य नित्य (स्थिर) यह सिद्ध होता है ॥ ३१ ॥

उपस्कार—संयोग से अर्थात् भेरी और दण्ड के संयोगरूप असमवायिकारण से भेर्याकाशरूप समवायिकारण में शब्दरूप कार्य उत्पन्न होता है । तथा बांस के फाड़ने पर बांस के अवयवोंके तथा आकाशके विभाग रूप असमवायिकारण से बांस में वर्तमान आकाशरूप समवायिकारण में शब्द कार्य उत्पन्न होता है । इस शब्द में संयोग प्रथम शब्द का कारण नहीं हैं, क्योंकि संयोग यहाँ पर नहीं है, इस कारण दोनों बांस के अवयवों का परस्पर विभाग इस शब्द में निमित्त कारण है, दोनों बांस के दलों का

कारणं दलाकाशविभागश्चासमवायिकारणम् । यत्र च दूरे वीणादावुत्पन्नः शब्दः तत्र सन्तानक्रमेण उत्पद्यमानः शब्दः कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशदेशमासादयन् गृह्यते तेन शब्दादपि शब्दनिष्पत्तिरिति ॥ ३१ ॥

अनित्यत्वे हेत्वन्तरं समुच्चिनोति—

लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः ॥ ३२ ॥

वर्णात्मकः शब्दोऽनित्यः जातिमत्त्वे सति श्रोत्रग्राह्यत्वात् वीणादिध्वनिवदित्यर्थः ॥ ३२ ॥

इदानीं नित्यत्वे सिद्धान्तिनोक्तान् हेतून् दूषयितुमाह—

द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात् ॥ ३३ ॥

(हिस्सों) का आकाश के साथ विभाग असमवायिकारण है। और जहाँ दूर वीणा आदि वाद्यों में शब्द उत्पन्न होता है वहाँ शब्दों के सन्तान (धारा) द्वारा शब्द से शब्द इस प्रकार उत्पन्न होता हुआ शब्द कर्णरूप शष्कुली (गुझिया के आकार वाले कर्ण के आकाश प्रदेश में) प्राप्त हुआ शब्द भी सुना जाता है, इससे सिद्ध होता है, कि शब्द से भी शब्द होता है। (यह प्रक्रिया अभिव्यक्ति पक्ष में नहीं हो सकती, अतः शब्द अनित्य है न कि नित्य यह सिद्ध होता है) ॥ ३१ ॥

शब्द के अनित्य होने में दूसरा हेतु सूत्रकार देते हैं—

पदपदार्थ—लिङ्गात् च = साधक हेतु होने से भी, अनित्यः=अनित्य है, शब्दः=शब्दगुण ॥ ३२ ॥

भावार्थ—और जातिविशिष्ट होते हुए श्रवणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण वाद्यों के ध्वनियों के समान वर्णरूप शब्द भी अनित्य है यह सिद्ध होता है ॥ ३२ ॥

उपस्कार—ककारादि वर्णस्वरूप शब्द, अनित्य है, जातिमान् होते हुए श्रवणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने के कारण, वीणादि वाद्यों के ध्वनि के समान (इस अनुमान से वर्णरूप शब्दों में अनित्यता सिद्ध होती है) यह सूत्र का अर्थ है। (इस अनुमान के हेतु में शब्दत्वजाति में अतिव्याप्ति दोषवारणार्थ जातिमत्त्व विशेषण तथा आत्मादिकों में उक्त दोषवारणार्थ विशेष्य पद जानना) ॥ ३२ ॥

साम्प्रत शब्द की नित्यता सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्षि-मत से सिद्धान्ती के हेतुओं का खण्डन करने के लिए सूत्रकार पूर्वपक्षी के मत से तीन सूत्रों को दिखाते हैं—

पदपदार्थ—द्वयोः तु = किन्तु अध्यापक तथा शिष्य दोनों की, प्रवृत्त्योः = अध्ययन तथा अध्यापन कर्मों में प्रवृत्ति होने में, अभावात् = शब्द के अनित्य मानने से अभाव होने लगेगा ॥ ३३ ॥

भावार्थ—यदि सिद्धान्ती के मत से शब्द को अनित्य (अस्थिर) माना जाय तो अध्ययन तथा अध्यापन में जो शिष्य तथा गुरु की प्रवृत्ति होती है वह न होगी, अतः शब्द नित्य है ॥ ३३ ॥

तुशब्दः पूर्वोक्तव्यवच्छेदकः पूर्वपक्षाभिव्यक्त्यर्थः। द्वयोराचार्य्यान्तेवासिनोरध्यापनेऽध्ययने च प्रवृत्तिर्दृश्यते तस्या अभावात् अभावप्रसङ्गात्। अध्यापनं हि सम्प्रदानं सम्प्रदीयते गुरुणा शिष्याय वेदः स यदि स्थिरो भवति तदा तस्य सम्प्रदानं सम्भवति। ननु सम्प्रदीयमानं गवादि दातृप्रतिग्रहीत्रोरन्तराल उपलभ्यते, न च वेदादि गुरुशिष्ययोरन्तराले उपलभ्यत इति नाध्यापनं सम्प्रदानमिति चेत् अन्तरालेऽपि तत्रस्थपुरुषश्रोत्रेण तदुपलम्भात्। किञ्चाभ्यासादपि शब्दस्ये नित्यता, यथा पञ्चकृत्वो रूप पश्यतीति स्थिरस्य रूपस्याभ्यासो दृष्टः तथा दशकृत्वोऽधीतोऽनुवाकः त्रिंशतिकृत्वोऽधीत इत्यभ्यासः स्थैर्य्यं शब्दस्य प्रमाणम्। सिद्धे च स्थैर्य्ये विनाशकानुपलब्धेः "तावत् कालं स्थिरञ्चैनं कः पश्चान्नाशयिष्यति" इति नित्यतैव पर्य्यवसन्नेति भावः॥ ३३॥

हेत्वन्तरं शब्दस्य नित्यत्वे आह—

प्रथमाशब्दात्॥ ३४॥

उपस्कार—सूत्र में 'तु' यह शब्द से पूर्व में उक्त सिद्धान्ति के मत का निषेध करता हुआ पूर्वपक्ष की सूचना करता है। दो गुरु तथा शिष्यों के अध्यापन और अध्ययन में प्रवृत्ति होना दीखता है, वह सिद्धान्ति-मत से शब्द को अनित्य (अस्थिर) मानने पर न होगी। क्योंकि अध्यापन (पढ़ाना) है विद्या का संप्रदान, गुरु शिष्य को वेदशास्त्र देता है, अतः यदि वेदशास्त्ररूप शब्द स्थिर (नित्य) हो तो उस वेदशास्त्ररूप शब्द का दान हो सकता हैं, (अतः शब्द नित्य है अनित्य नहीं) यदि दिये जाने वाले गौ, सुवर्ण इत्यादि दान के पदार्थ दाता तथा प्रतिग्रहीता (दान लेने वाला) इन दोनों के मध्य (बीच) में उपलब्ध होता है, किन्तु वेदशास्त्ररूप शब्द गुरु तथा शिष्य इन दोनों के बीच में उपलब्ध नहीं होता इस कारण अध्यापन सम्प्रदान नहीं हो सकता।' ऐसा सिद्धान्ती कहे तो ऐसा नहीं, क्योंकि गुरु तथा शिष्य के मध्य में वहाँ बैठे हुए मनुष्य को श्रवणेन्द्रिय से वेदशास्त्ररूप शब्द उपलब्ध होता ही है। तथा अभ्यास (बार-बार आवृत्ति) से भी शब्द में नित्यता (स्थिरता) सिद्ध होती है, जैसे 'पाँच बार रूप को दीखता है' ऐसा कहने से स्थिर ही रूप गुण का बार-बार दर्शन प्रतीत होता है, एवं दस बार अनुवाक (मंत्रसमूह) का अध्ययन किया, बीस बार अध्ययन किया ऐसा कहने से स्थिर ही अनुवादक मंत्रों का अभ्यास शब्द की नित्यता (स्थिरता) में प्रमाण है।

इस प्रकार शब्द में स्थिरता (नित्यता) सिद्ध होने पर शब्द का नाशक उपलब्ध न होने से 'उतने समय तक स्थिर रहने वाले इस शब्द को पश्चात् कौन नष्ट करेगा' इससे शब्द में स्थिरता (नित्यता) ही सिद्ध होती है यह सूत्र का भाव है॥ ३३॥

शब्द की नित्यता में पूर्वपक्षी मत से दूसरा भी हेतु सूत्रकार देते हैं।

पदपदार्थ—'त्रिःप्रथमां' इत्यादि उपनिषद् में प्रथमा शब्द होने से (शब्द नित्य है)॥ ३४॥

'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इति प्रथमोत्तमयोः सामिधेन्योस्त्रिरुच्चारणं स्थैर्य्यं विनाऽनुपपन्नमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

शब्दनित्यत्वे हेत्वन्तरमाह—

सम्प्रतिपत्तिभावाच्च ॥ ३५ ॥

सम्प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा तद्भावात् तत्सद्भावादित्यर्थः । प्रतिपत्तिशब्दादेव तद्विशेषस्य प्रत्यभिज्ञाया लाभात् सम्पूर्वः सत्यत्वमाह । तथाच यैव गाथा मैत्रेणोच्चारिता तामेवायमुच्चरति तमेव श्लोकं पुनः पुनः पठति उक्तमेव वचनं पुनः पुनरभिधत्से यदेव वाक्यं परारि परुच्च त्वयोक्तं तदेवेदानीमपि ब्रूषे स एवायं गकार इत्यादिप्रत्यभिज्ञाबलात् स्थैर्य्यं शब्दस्येति ॥ ३५ ॥

भावार्थ—तथा एकादश अग्निके प्रज्वलित करने वाले सामधेनी नामक मन्त्रों से प्रथम तथा अन्तिम मन्त्र के तीन बार उच्चारण किये बिना पंचदश संख्या की संगति न होने के कारण प्रथम तथा अन्तिम मन्त्र का तीन बार कहना भी शब्द के अस्थिरता पक्ष में न बनने से भी शब्द की स्थिरता (नित्यता) सिद्ध होती है ॥ ३४ ॥

उपस्कार—तीन बार प्रथम को पश्चात् कहता है, तीन बार उत्तम (अन्तिम) मन्त्र को इस उपनिषद् भाग के मन्त्र में प्रथम तथा अन्तिम दो सामिधेनी मन्त्रों का तीन बार उच्चारण विना मंत्ररूप शब्द के स्थिरता के नहीं बन सकता, अतः शब्द नित्य है यह सूत्र का अर्थ है ।

शब्द की नित्यता में पूर्वपक्षिमत से और दूसरा हेतु सूत्र में देते हैं—

पदपदार्थ—सम्प्रतिपत्तिभावात् च = और प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) रूप ज्ञान के सद्भाव से भी (शब्द नित्य है) यह सिद्ध है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जिस गाथा (कथानक) अथवा श्लोक का मैत्र ने उच्चारण किया, उसी का यह मैत्र नामक मनुष्य भी उच्चारण करता है, तथा वही यह गकार है इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के होने से भी शब्द स्थिर (नित्य) है यह सिद्ध होता है ॥३५॥

उपस्कार—सम्प्रतिपत्ति प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) उसके भाव सद्भाव (सत्ता) से यह सूत्र का अर्थ है । यहां यद्यपि प्रतिपत्ति (ज्ञान) इस शब्द ही से विशेष ज्ञानरूप प्रत्यभिज्ञा का लाभ हो सकता है तो भी उपसर्गपूर्वक सम्प्रतिपत्ति शब्द से शब्द की सत्यता (नित्यता) बाधित होती है । ऐसा होने से जिस ही गाथा (कथानक) का मैत्र नाम के पुरुष ने उच्चारण किया उसी का यह भी उच्चारण करता है, उसी श्लोक को पढ़ता है, कहे हुए भी वचन को बार-बार कहता है, जिस वाक्य को तुमने कल पहिले कहा था उसी को इस समय भी कह रहे हो, वही यह गकार वर्ण है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के बल से शब्द में स्थिरता (नित्यता) सिद्ध होती है ॥ ३५ ॥

सर्वानिमान् हेतून् दूषयन्नाह--

सन्दिग्धाः सति बहुत्वे ॥ ३६ ॥

सन्दिग्धा अनैकान्तिका इत्यर्थः । तदुक्तं--"विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्" इति । तथा च बहुत्वे नानात्वेऽपि अध्ययनमभ्यसनं प्रत्यभिज्ञानञ्च दृष्टमित्यनैकान्तिकत्वं हेतूनाम् । तथाहि नृत्यमधीते नृत्यमभ्यस्यति द्विरनृत्यत् यदेव नृत्यं परुद्कार्षीरेषमोऽपि तदेव करोषि यदेव नृत्यमेकेन चारणेन कृतं तदेवायमपि करोतीति नृत्ये दृष्टत्वात्, तस्य च कर्मविशेषस्य त्वयाऽपि स्थैर्यानभ्युपगमात् ॥ ३६ ॥

ननु पञ्चादशद्वर्णा अष्टाक्षरो मन्त्रः त्र्यक्षरो मन्त्रः अष्टाक्षराऽनुष्टुबित्यादिसङ्ख्या कथं ? वर्णानामनित्यत्वे उच्चारणभेदेनानन्त्यसम्भवादित्यत आह—

इन पूर्वोक्त तीनों पूर्वपक्षी के मत में सूत्रों में दिये हुए शब्द की नित्यता के साधक सम्पूर्ण हेतुओं का एक ही सूत्र में खण्डन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सन्दिग्धाः = सन्दिग्ध नामक अनैकान्तिक (दुष्ट) हैं, सति=होने से, बहुत्वे = अनेकत्व के ॥ ३६ ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षिमत से सूत्रों में दिये हुए 'द्वयोः प्रवृत्त्योरभावात्' इत्यादि शब्द की नित्यता के साधक हेतु शब्द के अनित्य पक्ष में भी अध्ययनाध्यापनादिकों की संगति हो सकने के कारण संदिग्ध व्यभिचारदोष के कारण सन्दिग्धानैकान्तिक दुष्ट हैं अतः उन हेतुओं से शब्द में नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ३६ ॥

उपस्कार—सन्दिग्ध है अर्थात् सन्दिग्ध अनैकान्तिक नामक दुष्ट हेतु हैं । सूत्र के सन्दिग्ध पद का सन्दिग्ध अनैकान्तिक अर्थ है, इसीसे प्रशस्तपादभाष्य में प्रशस्तदेव ने कहा है 'विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध ये तीन हेतु साधक नहीं होते अर्थात् ऐसे तीन प्रकार के दुष्ट हेतु होते हैं । ऐसा कश्यपगोत्री कणाद ने कहा है । ऐसा होने से शब्दों के बहुत अर्थात् अनित्य नाना होने पर भी पूर्वोक्त अध्ययन, अभ्यास, प्रत्यभिज्ञा भी दिखाती है इस कारण पूर्वपक्षी ने शब्द की नित्यता के साधक दिये हुए सम्पूर्ण हेतुओं में व्यभिचारदोष होने से वे दुष्ट हेतु हैं । वह इस प्रकार है कि नृत्य सीखता है, नृत्य का 'अभ्यास' करता है, दो बार नर्तन किया, जो नृत्य पूर्वकाल में किया था वही नृत्य वर्तमान में भी तुम कर रहे हो, जो ही नृत्य भाट ने किया था यह मनुष्य भी वहीं नृत्य करता है, ऐसा भिन्न-भिन्न नृत्यों में भी अभ्यास देखने में आता है, जिस इस नृत्यरूप विशेष कर्म को पूर्वपक्षी भी नित्य स्थिर नहीं मानता ॥ ३६ ॥

वर्णों की अनित्यता पक्ष में यदि ऐसा है तो शब्द के उच्चारण के भेद से अनन्त भेद हो सकने के कारण 'पचास वर्ण हैं, आठ अक्षर का यह मन्त्र है, यह तीन अक्षरोंका

संख्याभावः सामान्यतः ॥ ३७ ॥

सङ्ख्यायाः पञ्चाशदादिसङ्ख्याया भावः सद्भावः सामान्यतः कत्वगत्वादि-जातित इत्यर्थः। ककारादीनामानन्त्येऽपि कत्वगत्वाद्यवच्छिन्नानां पञ्चाशत्त्वं त्रित्वमष्टत्वं वा द्रव्यगुणादीनामान्तर्गणिकभेदेनानन्त्येपि नवत्वचतुर्विंशति-त्वादिवदिति भावः।

ननु स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञैव स्थैर्यसाधिका, न चैषा तीव्रो गकारो मन्दो गकार इति प्रतीत्या विरुद्धधर्मं गोचरयन्त्या बाध्यते तीव्रत्वादे-स्तत्रौपाधिकत्वात्। न चोपाधिभेदादपि भेदो माभूत् तर्हि जवातापिञ्छादि-संयोगान्नीलपीतादिभावेन प्रथमानः स्फटिकमणिरपि नाना, कृपाणमणिदर्पणेषु

मंत्र है, अष्टाक्षरवाला अनुष्टुप् छन्द होता है, इत्यादिरूप संख्या का नियम कैसे होगा, ऐसी यहां पूर्वपक्षी शंका करे तो इसके समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं।

पदपदार्थ—संख्यायाः = पचास आदि संख्या की, भावः = सत्ता, सामान्यतः = कत्वादि जातियों को लेकर संख्या का नियम सिद्ध होता है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—कत्व, गत्व आदि पचास जातियों को लेकर पचास वर्ण है ऐसा व्यवहार होने के कारण उच्चारण भेद से आनन्त्य होने पर भी नियम हो सकता है, अतः उक्त आनन्त्य को रूप दोष न आयेगा ॥ ३७ ॥

उपस्कार—पचास, आठ आदि संख्या का भाव अर्थात् सद्भाव (सत्ता) कत्व, गत्व, घत्व आदि पचास जातियों को लेकर पचास वर्ण हैं, इत्यादि व्यवहार होता है यह सूत्रका अर्थ है।

उच्चारण के भेद से ककार आदि वर्णों के अनन्त होने पर भी कत्व-गत्वादिजातियों से युक्त ककारादि वर्ण पचास, तीन तथा आठ हो सकते हैं जिस प्रकार पृथ्वी आदि नवद्रव्यों के तथा रूप आदि चतुर्विंशति गुणों के घट-पट तथा लाल-पीला रूप इत्यादि आन्तर्गणिक (भीतरी) द्रव्यगुणादिकों के अनन्त भेद होने पर भी द्रव्य नव हैं गुण चतुर्विंशति ही हैं, ऐसा नियम होता है (इसी प्रकार यहां भी उच्चारण-भेद से वर्णों की अनन्तता होने पर भी पचास आदि संख्या का नियम हो सकता है)।

पूर्वपक्ष—'वही यह गकार है' यह प्रत्यभिज्ञा ही शब्द में स्थिरता (नित्यता) सिद्ध करती है, इस प्रत्यभिज्ञा का यह गकार तीव्र है, यह मन्द है इस प्रकार तीव्रता तथा मन्दतारूप विरुद्धधर्म (भेद) को विषय करनेवाले ज्ञान से बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि तीव्रता तथा मन्दता आदि धर्म उसमें स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु उच्चारणादि भेद से औपाधिक हैं। यदि उपाधि भेद से भी भेद (नानात्व) न माना जाय तो, जपा-तापिञ्ज इत्यादि रक्त तथा नील और पीतवर्ण के पुष्पों के संयोग रूप उपाधि-भेद से नील, रक्त, पीत आदि वर्ण रूप से भासित होने वाला श्वेत स्फटिक मणि भी नानारूप से प्रकाशित न होगा, इसी प्रकार चमकते खड्ग, मणि तथा आदर्श (अयना) में ऊँचा-

दीर्घादिभावेन भासमानं मुखमपि त्रा नाना न भासेत। ननु कस्यायं तीव्रताधर्मो गकारोपाधिक इति चेन्न वायुधर्मो नादधर्मो ध्वनिधर्मो वा भविष्यति किं तत्र विशेचिन्तया। त्वयापि तारत्वादेः कत्वगत्वादिना परापरभावानुपपत्त्या स्वाभाविकत्वाभ्युपगमादिति चेत्।

मैवम्। उत्पन्नो गकारः, नष्टो गकारः श्रुतपूर्वो गकारो नास्ति, निवृत्तः कोलाहल इत्यादिविरोधिप्रतीतौ सत्यामपि चेत् इयं प्रत्यभिज्ञा न निवर्त्तेत तदास्या जातिविषयताकल्पनात्। अन्यथा व्यक्तिस्थैर्य्यमालम्बमानायामस्यां सत्यामुक्तविरोधिप्रत्यया एव नोत्पद्येरन्। न चायं वायुधर्मस्तद्धर्माणां श्रोत्राविषयत्वात्। नापि नादधर्मः, नादो यदि वायुरेव तदा दोषस्योक्तत्वात् अन्यस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। नापि ध्वनिधर्मः, शङ्खादिध्वनावनुपलभ्यमानेऽपि गकारे

नीचा रूप से दिखाई देने वाला मुख भी नानारूप से प्रकाशित (मालूम) नहीं होगा। यदि कहो कि यह तीव्रता-मन्दता आदि शब्द में प्रतीत होने वाले किसके धर्म हैं जिनको पूर्वपक्षी गकार आदि वर्ण शब्दों की उपाधि है ऐसा मानता है तो पूर्वपक्षी कहता है कि ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यह तीव्रता तथा मन्दता रूप शब्दों की उपाधि वायु का धर्म अथवा नाद (आवाज) या (ध्वनि) का धर्म होगा, इसमें विशेष विचार की क्या आवश्यकता है। सिद्धान्ती भी तारत्वादि धर्मों को कत्व, गत्व आदि धर्मों को लेकर परापरभाव (व्याप्य-व्यापक भाव) न हो सकने से स्वाभाविक नहीं मानता (अर्थात् केवल तीव्रता-मन्द ककार में नहीं है तीव्र में मन्दता नहीं है और दोनों तीव्रता तथा मन्दता कुछ तीव्र तथा कुछ मन्द स्वर से कहे हुये ककार में हैं। इस प्रकार सांकर्य दोष के कारण सिद्धान्ती को भी तीव्रता मन्दता औपाधिक ही मानना होगा)।

समाधान—मैवं (ऐसा नहीं कह सकते हैं) क्योंकि 'गकार उत्पन्न हुआ, गकार नष्ट हुआ, पूर्वकाल में सुना हुआ गकार अब नहीं है, कोलाहल निवृत्त हो गया।' इत्यादि स्थिरता (नित्यता) के विरुद्ध ज्ञान रहने पर भी 'वही यह गकार है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा न निवृत्त हो, तो उसको गत्वादि जातिविषयक मान लिया जायगा कि उसी गत्व जाति का यह गकार है। अन्यथा नहीं तो गकारादिवर्ण व्यक्तियों की स्थिरता (नित्यता) को विषय करने वाली 'वही यह गकार है' इस प्रत्यभिज्ञा के होने से गकार नष्ट हुआ इत्यादि विरुद्ध ज्ञान ही न होगा। यह तीव्रतादि वायु का धर्म हो नहीं सकता, क्योंकि वायु के धर्म श्रवणेन्द्रिय से ग्रहीत नहीं होते। न यह नाद का धर्म हो सकता है, क्योंकि नाद शब्द का वायु ही अर्थ हो तो दोष कही दिया है, उससे अतिरिक्त नाद शब्द का अर्थ हो भी नहीं सकता। यह तीव्रतादि ध्वनिरूप शब्द का धर्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि शंख आदि वाद्यों की 'ध्वनि के उपलब्ध न होने पर

तारत्वादिप्रतीतेः। स्वाभाविकत्वे तु न जातिसाङ्कर्यं गत्वादिव्याप्यस्य तस्य नानात्वाभ्युपगमात्। किञ्च शुकसारिकामनुष्यप्रभवेषु गकारादिषु स्फुटतरा रूपभेदप्रथाऽस्ति, एवं स्त्रीपुंसप्रभवेषु स्त्रीपुंसभेदप्रभवेषु च, यतः काण्डपटाद्यावृता अपि शुकादयोऽनुमीयन्ते। औपाधिकत्वन्त्वस्य नानुभूयमानोपाधिनिबन्धनं कुङ्कुमारुणा तरुणीतिवत्। नाप्यौपपत्तिकमौपाधिकत्वम् उपपत्तेस्तादृशप्रमाणस्याभावादिति संक्षेपः॥ ३७॥

इति वैशेषिकसूत्रोपस्कारे शाङ्करे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।
समाप्तश्चायं द्वितीयोऽध्यायः।

तो गकारादि वर्णों में तारता (ऊँचापन) इत्यादि की प्रतीति होती है। (यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'नैयायिक गकारादिवर्णों में तारत्वादि धर्म स्वाभाविक ही मानेंगे जिससे अतार गकार में वर्तमान गत्व के अभाव वाले खकार में रहने वाले तारत्व, तथा गत्व के तार गकार में रहने से सांकर्य दोष हो जायगा' ऐसी आपत्ति होगी, तो शंकरमिश्र इसका ऐसा समाधान देते हैं कि) स्वाभाविक पक्ष में उक्त जातिसांकर्य दोष नहीं हो सकता, क्योंकि गत्वादि जातियों की व्याप्य (न्यूनवृत्ति) तारत्वादि धर्म भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। और एक बात यह भी है कि शुक (तोता), सारिका (मैना) तथा मनुष्य इत्यादिकों ने उच्चारण किये गकारादि वर्ण जो भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, तथा स्त्री-पुरुष एवं उनके भी भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणियों से उच्चारण किये वर्ण में भी। अति स्पष्ट भेद-ज्ञान होता है, क्योंकि वृक्षादिकों के व्यवधान होने से न दिखाई देने वाले भी शब्दका उच्चारण करने वाले शुक-सारिका तथा मनुष्योंका अनुमान किया जाता है। (अतः शब्द भिन्न-भिन्न नाना होने से अनित्य है) और केसर आदि की रक्तिमा से रक्त प्रतीत होने वाली कामिनी के समान शब्द में तारत्वादि धर्म औपाधिक है ऐसा मानने में किसी उपाधि का अनुभव नहीं होता, अतः तारत्वादि धर्म शब्द में औपाधिक है यह नहीं हो सकता। उपपत्ति-रहित होना औपाधिक शब्द का अर्थ है ऐसा भी पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि उपपत्ति अर्थात् शब्द में तारत्वादि धर्म की सत्ता में प्रमाण वह भी नहीं है, ऐसा संक्षिप्त सूत्रकार का अभिप्राय है॥३७॥

इस प्रकार शंकर मिश्र-कृत वैशेषिक सूत्रों की उपस्कार व्याख्या में
द्वितीयाध्याय द्वितीयाह्निक समाप्त हुआ।

तृतीयाध्याये प्रथमाह्निकम्

तदेवं द्वितीयाध्याये वहिर्द्रव्यपरीक्षामुपपाद्य उद्देशक्रमादिदानीमात्मपरीक्षायै पीठमारचयितुमाह—

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥ १ ॥

इन्द्रियाणामर्था गन्धरसरूपस्पर्शशब्दा बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्याः। तत्र "श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्द" इति शब्दप्रसिद्धौ दर्शितायामर्थाद् गन्धादौ स्पर्शपर्यन्ते प्रसिद्धिर्दर्शितेत्यर्थः। तथाहि घ्राणग्रहणो योऽर्थः स गन्धः, रसनग्रहणो योऽर्थः स रसः, चक्षुर्मात्रग्रहणो योऽर्थः तद्रूपम्, त्वगिन्द्रियमात्रग्रहणो योऽर्थः स स्पर्शः। सर्वत्र चार्थशब्देन धर्मी भावभूत उच्यते तेन गन्धत्वादौ गन्धाद्यभावे च नातिव्याप्तिः, तदेवं घ्राणग्रहणवृत्तिगुणत्वावान्तरजातिमत्त्वं गन्धत्वम्। एवं रसादावपि वाच्यम् तेन नातीन्द्रियगन्धाद्यनुपग्रहः॥ १॥

पूर्वोक्त प्रकार से द्वितीयाध्याय में पृथिवी से दिशा तक 'बहिर्द्रव्यों' की परीक्षा का उपपादन कर उद्देश क्रम के अनुसार साम्प्रत आत्मारूप आन्तरिक द्रव्य की परीक्षा करने के लिये भूमिका दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रसिद्धाः = ज्ञात हैं, इन्द्रियार्थाः = इन्द्रियों से गृहीत होने वाले गन्ध, रूप इत्यादि विषय ॥ १ ॥

भावार्थ—श्रवणेन्द्रिय से गृहीत होनेवाला शब्द है इत्यादि रूप से गन्ध, रूप, रस, स्पर्श तथा शब्द विषयों का ज्ञान होता है यह सिद्ध है ॥ १ ॥

उपस्कार—गन्ध, रूप, रस, स्पर्श तथा शब्द बाह्य एकैक घ्राण, चक्षु, जिह्वा, त्वचा तथा श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने वाले इन्द्रियों के अर्थ हैं। उनमें 'श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः' अर्थात् श्रवणेन्द्रिय से गृहीत होने वाला अर्थ (विषय) शब्द है इस पूर्वोक्त सूत्र से शब्द की प्रसिद्धि (ज्ञान) दीखने से अर्थात् इसी प्रकार गन्ध से लेकर स्पर्शपर्यन्त गुणों में प्रसिद्धि (ज्ञान) दीखता है यह सूत्र का अर्थ है। वह इस प्रकार है घ्राणेन्द्रिय से गृहीत होने वाला गुण गन्ध, रसनेन्द्रियसे गृहीत होने वाला गुण रस, चक्षुरिन्द्रियमात्र से गृहीत होने वाला गुण रूप तथा त्वक्इन्द्रिय से गृहीत होने वाला गुण स्पर्श होता है। इन सब लक्षणों में अर्थ शब्द से धर्मी का ग्रहण करना जिससे गन्धत्वादि जाति तथा गन्धादिकों के अभाव में भी घ्राणेन्द्रियादि-ग्राह्यता होने पर भी अतिव्याप्ति दोष न होगा। ऐसा होने से घ्राणेन्द्रिय से गृहीत होने वाले गन्ध में वर्त्तमान गुणत्वकी व्याप्य गन्धत्वादि जाति का आश्रय होना गन्धादि का लक्षण है यह सूचित होता है। इसी प्रकार रसादिकों का भी जातिघटित लक्षण करना, जिससे

इन्द्रियार्थप्रसिद्धेरात्मपरीक्षायामुपयोगमाह—

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥ २ ॥

हेतुर्लिङ्गमर्थान्तरस्य आत्मनः। इन्द्रियार्थेभ्यः इति। इन्द्रियेभ्योऽर्थेभ्यश्च रूपादिभ्यस्तद्वद्भ्यश्च यदर्थान्तरम् आत्मा तस्य लिङ्गमित्यर्थः। यद्यपि ज्ञानमेव लिङ्गमिह विवक्षितम् तथापीन्द्रियार्थप्रसिद्धे रूपादिसाक्षात्कारस्य प्रसिद्धतरतया तद्रूप्येणैव लिङ्गत्वमुक्तम्। तथाहि प्रसिद्धिः क्वचिदाश्रिता कार्यत्वात् घटवत्

प्रत्यक्ष परमाणु आदिकों के गन्धादिकों में लक्षण जाने से अव्याप्ति दोष न होगा ॥ १ ॥

इस इन्द्रियार्थप्रसिद्धि (इन्द्रिय के विषयों के ज्ञान) का प्रस्तुत आत्माकी परीक्षा में उपयोग सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—इन्द्रियार्थप्रसिद्धिः = इन्द्रिय के विषयों का ज्ञान, इन्द्रियार्थेभ्यः = इन्द्रिय तथा अर्थों (विषयों) से, अर्थान्तरस्य = अन्यपदार्थ का, हेतुः = कारण है ॥२॥

भावार्थ—प्रथम सूत्र में वर्णन किये इन्द्रियों से उत्पन्न रूपादि विषयों का ज्ञान इन्द्रिय तथा विषयों से भिन्न आत्मारूप दूसरे पदार्थ का साधक है ॥ २ ॥

उपस्कार—हेतु नाम लिङ्ग अर्थात् सिद्धि का कारण है दूसरे पदार्थ आत्मा का ('इन्द्रियार्थेभ्यः' ऐसी सूत्र का प्रतीक लेकर उसकी व्याख्या शंकरमिश्र करते हैं कि)—चक्षु आदि इन्द्रिय तथा रूप आदि गुण रूप अर्थ एवं रूपादिमान् पृथिव्यादि द्रव्यों से भी जो पृथक् दूसरा पदार्थ आत्मा उसकी इन्द्रियार्थप्रसिद्धि लिङ्ग (साधक) है। (यहां पर पृथिव्यादि भूत द्रव्यों की अपेक्षा से इन्द्रियों में आत्माके समानरूपता रहने पर भी आत्मा से भेद है, तथा प्रत्यक्ष के विषय न होना इस समान धर्म से दिशा-काल इत्यादिकों के संग्रह करने के लिए भी 'इन्द्रियेभ्यः' ऐसा पृथक् कहा हैं। तथा यद्यपि इन्द्रियार्थ-प्रसिद्धि यहाँ पर पक्ष होने से उसे हेतु कहना अयुक्त है तथापि सूत्र में 'हेतु' पद का अनुमितिजनक परामर्श का विशेष्य यह अर्थ होनेसे पक्ष तथा हेतु का ऐक्य दोष न आवेगा) (इसी विषय को दूसरे प्रकार से शंकरमिश्र शंकापूर्वक कहते हैं)—कि यद्यपि इन्द्रियार्थविषयक ज्ञान ही सूत्र के लिङ्ग-पद से सूत्रकार को विवक्षित (कहने की इच्छा का विषय) है, तथापि इन्द्रियार्थ-प्रसिद्धि अर्थात् इद्रियों के विषय रूपादिकों का प्रत्यक्ष जो अत्यन्त प्रसिद्ध है उस रूप से लिङ्ग (हेतु) विवक्षित है अर्थात् सामान्यरूप से इन्द्रिय के विषयों के संपूर्ण ज्ञान पक्ष हैं, तथा अतिप्रसिद्ध रूपादि विषय प्रत्यक्ष-ज्ञान हेतु है, अतः हेतु तथा पक्ष का ऐक्य न होगा) (सूत्रोक्त इन्द्रियार्थ-प्रसिद्धि से आत्मा के साधक सामान्यतो दृष्टानुमान को आगे शंकरमिश्र दिखाते हैं कि)—इस प्रकार प्रसिद्धि (ज्ञान) किसी में आश्रित है, कार्य होने से, घट के समान, अथवा

गुणत्वाद्वा क्रियात्वाद्वा। सा च प्रसिद्धिः करणजन्या क्रियात्वात् छिदिक्रियावत्। यच्च प्रसिद्धेः करणं तदिन्द्रियम्। तच्च कर्तृप्रयोज्यं करणत्वात् वास्यादिवत् तथा यत्रेयं प्रसिद्धिराश्रिता. यः घ्राणादीनां करणानां प्रयोक्ता स आत्मा ॥ २ ॥

ननु शरीरमिन्द्रियाणि वा प्रसिद्धेराश्रयोऽस्तु प्रसिद्धिं प्रति तदुभयान्वयव्यतिरेकयोः स्फुटतरत्वात् किं तदन्याश्रयकल्पनया। तथाहि चैतन्यं शरीरगुणः तत्कार्यत्वात् तद्रूपादिवत्। एवमिन्द्रियगुणत्वेऽपि वाच्यमित्याशङ्क्याह—

सोऽनपदेशः ॥ ३ ॥

अपदेशो हेतुः तदाभासोऽनपदेशः। तथाच तत् कार्यत्वं प्रदीपजन्यज्ञानादावनैकान्तिकत्वादनपदेश इत्यर्थः ॥ ३ ॥

गुणवान् या क्रियाश्रय होने से। और प्रसिद्धि (ज्ञान) करण से उत्पन्न है, क्रिया होने से छेदन क्रिया के समान। जो इस प्रसिद्धि का करण है वही इन्द्रिय है। और वह करण, कर्त्ता से प्रयुक्त (प्रेरित) है, करण होने से, वासी (कुल्हाड़ी) इत्यादि के समान तथा यह प्रसिद्धि (ज्ञान) जिस द्रव्य में आश्रित है तथा जो घ्राणेन्द्रियादि रूप करणों का प्रयोक्ता (प्रेरक) है वह आत्मा नामक द्रव्य है (इन सामान्यतोदृष्टानुमानों से पृथक् आत्मारूप इन्द्रिय तथा अर्थों से भिन्न द्रव्य सिद्ध होता है) ॥ २ ॥

(तृतीय सूत्र का अवतरण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—शरीर अथवा इन्द्रियों को ही उक्त प्रसिद्धि का आश्रय मानेंगे, क्योंकि प्रसिद्धि (ज्ञान) होने में इन्द्रिय तथा अर्थों का अन्वय (इन्द्रिय तथा अर्थ के रहते ज्ञान का होना) तथा व्यतिरेक (इन दोनों के न रहते ज्ञान का न होना) अत्यन्त स्पष्ट है, तब इन्द्रिय और विषयों से भिन्न आत्मा रूप द्रव्य ज्ञान का आधार मानने की क्या आवश्यकता है. इस कारण चैतन्य (ज्ञान) शरीर का गुण है उसका कार्य होने से, शरीर के रूप के समान (इस 'अनुमान से शरीर का गुण ज्ञान हो सकता है) इसी प्रकार ज्ञान इन्द्रियों का गुण है इस विषय में अनुमान कहा जायगा। इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सः = वह (शरीर के गुणता का साधक कार्यत्व हेतु), अनपदेशः = सत् हेतु नहीं है (दुष्ट हेतु है)।

भावार्थ—ज्ञान, शरीर गुण है, कार्य होने से इस प्रकार शरीर को आत्मा मानने वाले चार्वाक का दिया हुआ कार्यत्व हेतु दीप से हुये ज्ञान में कार्यत्व के रहने पर भी शरीर-गुणता रूप साध्य न होने के कारण व्यभिचार-दोषग्रस्त होने से अनैकान्तिक है, अतः उससे ज्ञान शरीर का गुण है यह सिद्ध नहीं हो सकता।

उपस्कार—अपदेश (हेतु) हेतु के समान आभास होने वाला (मालूम पड़नेवाला) अनपदेश, दुष्ट हेतु होता है। इसलिये पूर्वपक्षी चार्वाक से उक्त अनुमान में दिया हुआ शरीर कार्यत्वरूप दीपक से उत्पन्न घटादिविषयक ज्ञानादिकों

ननु तत्कार्यत्वं चैतन्यत्वावच्छिन्नस्यैव कार्यत्वं विवक्षितं प्रदीपादीनाञ्च समस्तमेव चैतन्यं न कार्यमिति न व्यभिचार इत्याशङ्क्याह—

कारणाज्ञानात् ॥ ४ ॥

शरीरकारणानां करचरणादीनां तदवयवानां वा अज्ञानात् ज्ञानशून्यत्वादित्यर्थः। पृथिव्यादिविशेषगुणानां हि कारणगुणपूर्वकता दृष्टा तथा च शरीरकारणेषु यदि ज्ञानं स्यात्तदा शरीरेऽपि सम्भाव्येत, न चैवम्। नन्वस्तु शरीर-

---

कार्यत्वहेतु होने पर भी शरीर का गुण न होने के कारण व्यभिचार-दोषग्रस्त होने से अनैकान्तिक (व्यभिचारी) दुष्ट है ऐसा सूत्र का अर्थ है ॥ ३ ॥

यहां पर यदि तत्कार्य शब्द का अर्थ चैतन्यत्वविशिष्ट कार्यता (अर्थात् ज्ञान में वर्तमान शरीर की कार्यता) ऐसा अर्थ करने के कारण प्रदीपादियों का सम्पूर्ण ही ज्ञान का कार्य नहीं होता इस कारण व्यभिचारदोष न होगा। ऐसी चार्वाक की शंका करे अर्थात् ज्ञान, शरीर का गुण है, ज्ञाननिष्ठ शरीर का कार्य होने से, जो शरीर-गुण नहीं होता वह ज्ञाननिष्ठ शरीर का कार्य नहीं होता, घट के समान इस व्यतिरेकी अनुमान से चार्वाक ज्ञान में शरीर-गुणत्व की शंका करे तो इसका समाधान सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—कारणाज्ञानात् = शरीर के कारण अवयवों में ज्ञान न होनेसे ॥४॥

भावार्थ—यदि चार्वाक के कथनानुसार शरीर के हस्त-पाद आदि अवयवरूप कारणों में ज्ञानगुण होता तो अवयविशरीर रूप कार्य में भी ज्ञान होता, क्योंकि कार्य द्रव्यों के विशेषगुण कारण के गुणों से उत्पन्न होते हैं, अतः यदि शरीर में ज्ञान हो तो उनके हस्त-पादादि अवयवरूप कारणों में ज्ञान गुण होने लगेगा, ऐसा नहीं है, अतः ज्ञान शरीर का गुण नहीं है ॥ ४ ॥

उपस्कार—हस्त-पाद आदि शरीर के अवयवरूप कारण, अथवा उनके कारण अवयव हथेली इत्यादिकों में अज्ञानात् अर्थात् ज्ञानशून्यता होने से यह सूत्र का अर्थ है। (अर्थात् 'ज्ञान शरीर का विशेषगुण नहीं है. पाकज न होते हुए कारण-गुणपूर्वक न होने से, शब्द के समान' इस अनुमान से ज्ञानशरीर का गुण नहीं है यह सिद्ध होता है, चार्वाक से दिया हुआ शरीर-कार्यत्व रूप हेतु (अप्रयोजक) अर्थात् शरीर-गुणत्वरूप साध्यका साधक नहीं है ॥ (शंकरमिश्र आगे सूत्र का अभिप्राय कहते हैं कि)—पृथिवी आदि द्रव्यों के रूपादि विशेषगुण कारण के गुणों से उत्पन्न होने के कारण गुणानुसार होते हैं यह देखने में आता है, ऐसा होने से शरीर के अवयव रूप कारणों में यदि ज्ञान हो तो शरीररूप कार्य में भी ज्ञान कार्य की सम्भावना हो सकती है, किन्तु ऐसा नहीं है (अर्थात् हस्त-पादादि अवयवरूप शरीर के कारणों में ज्ञान नहीं है) ॥ शंका—शरीर के हस्त-पादादि अवयवरूप कारणों में भी ज्ञान मान लेंगे। उत्तर—ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि एकमत न होने की आपत्ति आने

कारणेष्वपि चैतन्यमिति चेन्न ऐकमत्याभावप्रसङ्गात् । न हि बहूनाञ्चेतनानामैकमत्यं दृष्टम्, करावच्छेदेनानुभूतस्य करच्छेदेऽस्मरणप्रसङ्गात्, यतो "नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः" इति । किञ्च शरीरनाशे तत्कृतहिंसादिफलानुपभोगप्रसङ्गात् । न हि चैत्रेण कृतस्य पापस्य फलं मैत्रो भुंक्ते ततश्च कृतहानिरकृताभ्यागमश्च स्यात् ॥४

ननु शरीरकारणेषु सूक्ष्ममात्रया भानमस्ति शरीरे तु स्फुटमतो नाकारणगुणपूर्वकता न चैकमत्यानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—

कार्येषु ज्ञानात् ॥ ५ ॥

यदि हि शरीरमूलकारणेषु परमाणुषु चैतन्यं स्यात् तदा तदारब्धेषु कार्येषु घटादिष्वपि स्यात् । किञ्च पार्थिवविशेषगुणानां सर्वपार्थिववृत्तिताया व्याप्तेः कार्येष्वपि घटादिषु चैतन्यं स्यान्न च तत्र चैतन्यमुपलभ्यते इत्यर्थः ॥ ५ ॥

से, कारण यह कि अनेक चेतन आत्माओं का एकमत देखने में नहीं आता, तथा हस्तरूप अवयव से अनुभव किये विषय का हस्तच्छेद होने पर स्मरण न होगा यह भी आपत्ति आयेगी, क्योंकि 'नान्यदृष्ट स्मरत्यन्यः' अर्थात् दूसरेसे देखे विषय का दूसरे को स्मरण नहीं होता (ऐसा नियम है) । तथा शरीर के नष्ट होने पर उसके किये हिंसादि रूप पापकर्म के दुःखभोगरूप फल भी शरीररूप आत्मा का नाश हो जाने से कालान्तर में या जन्मान्तर में जो होता है वह न होगा, क्योंकि चैत्र नामक पुरुष से किये हुए पापकर्म का फल मैत्र नामक मनुष्य नहीं भोगता, और ऐसा होने से कृतपापादि कर्मों की हानि (फल न होना) तथा अकृत का आगम (न किये पापादि कर्मों के फल दुःखादिकों की प्राप्ति ये दोनों दोष होंगे तस्मात् शरीर को आत्मा मानने का चार्वाक-मत असंगत है) ॥ ४ ॥

शरीर के अवयवरूप कारणों में सूक्ष्मरूप से आंशिक ज्ञान का भान होता है, और शरीर रूप कार्य अवयवों में स्पष्ट रूप से भान होता है, इसलिए अकारण गुणः पूर्वकता दोष नहीं हो सकता है नहीं तो एकमत न होने वा सिद्धान्ती से दिया दोष आ सकता है इस चार्वाक के आक्षेप का सूत्रकार समाधान करते हैं—

पदपदार्थ—कार्येषु = भूतरूप कार्यों में, ज्ञानात् = ज्ञान होगा ॥ ५ ॥

भावार्थ—यदि मूलकारण परमाणुओं में ज्ञान होगा तो उनसे उत्पन्न घटादि कार्यों में भी ज्ञान होगा, ऐसा (घटादि कार्यों में ज्ञान है) यह देखने में नहीं आता, अतः चार्वाक का कहना असंगत है ॥ ५ ॥

उपस्कार—यदि शरीर के मूल कारण पार्थिव परमाणुओं में चैतन्य (ज्ञान) गुण होता तो उन पार्थिव परमाणुओं से उत्पन्न घट, पट आदि कार्यों में ज्ञान होता (ऐसा न होने से ज्ञान शरीर-गुण नहीं हो सकता) । और पार्थिव रूपादि विशेष गुण सम्पूर्ण पार्थिव द्रव्यों में रहते हैं ऐसा (व्याप्ति) नियम होने के कारण पार्थिव कार्

ननु घटादावपि सूक्ष्ममात्रया चैतन्यमस्त्येवेत्याशङ्क्याह—

अज्ञानाच्च ॥ ६ ॥

सर्वैः प्रमाणैरज्ञानात् कुम्भादौ न चैतन्यमित्यर्थः। सर्वप्रमाणागोचरस्याभ्युपगमे शशविषाणादेरप्यभ्युपगमप्रसङ्गः। न हि घटादौ चैतन्यं केनापि प्रमाणेन ज्ञायत इति ॥ ६ ॥

ननु श्रोत्रादिभिः करणैरधिष्ठाताऽनुमीयते इत्युक्तं, तदयुक्तम् न हि श्रोत्रादिभिरात्मनस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा, न च ताभ्यामन्तरेणाविनाभावसिद्धिः, न चाविनाभावमन्तरेणानुमितिरित्यत आह—

अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः ॥ ७ ॥

रूप घटादिकों में भी ज्ञान होने लगेगा, किन्तु उनमें ज्ञान उपलब्ध नहीं होता यह सूत्र का अर्थ है ॥ ५ ॥

घटादिकों में भी सूक्ष्मरूप से ज्ञान गुण है ही इस चार्वाक शंका का सूत्र में उत्तर देते हैं—

पदपदार्थ—अज्ञानात् च = घटादिकों में ज्ञान न होने से भी ॥ ६ ॥

भावार्थ—घटादिकों में किसी भी प्रमाण से ज्ञान उपलब्ध न होने के कारण सूक्ष्म रूप से उनमें ज्ञान मानना भी चार्वाक का असंगत है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सम्पूर्ण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञान न होने के कारण घटादिकों में ज्ञान गुण नहीं है। यह सूत्रार्थ है। यदि सम्पूर्ण प्रमाणों से असिद्ध भी विषय माना जाय तो शशपशु को श्रृंग होते हैं यह भी मानना होगा यह आपत्ति आवेगी। क्योंकि घटादि पदार्थों में ज्ञान गुण है यह किसी भी प्रमाण से ज्ञात नहीं है ॥ ६ ॥

'श्रोत्रादि इन्द्रियरूप करणों से उनके अधिष्ठाता (आश्रय) शरीरादि भिन्न आत्मा द्रव्य का अनुमान होता हैं' ऐसा सिद्धान्ती ने पूर्व में कहा है, वह अयुक्त है, क्योंकि श्रोत्रादि इन्द्रियों से आत्मा का तादात्म्य (अभेद) अथवा श्रोत्रादिकों से आत्मा की उत्पत्ति इन दोनों में से एक भी नहीं है, और उन तादात्म्य अथवा तदुत्पत्ति इन दोनों को विना अविना भाव (व्याप्ति) की सिद्धि नहीं हो सकती है और विना व्याप्ति ज्ञान के अनुमान नहीं हो सकता (अर्थात् तादात्म्य वा तदुत्पत्ति ही अनुमानमें हेतु होते हैं) इस पूर्वपक्षी के आक्षेप के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अन्यत् एव = साध्य से भिन्न ही, हेतुः = साधकलिङ्ग होता है, इति= इस कारण, अनपदेशः = तादात्म्य में हेतु दुष्ट हेतु है ॥ ७ ॥

भावार्थ—तादात्म्य (अभेद) से होने वाला हेतु दुष्ट होता है, क्योंकि हेतु साध्य से भिन्न होता है, अर्थात् सिद्ध से साध्य का साधन करने के कारण साध्य के अविशेषता की आपत्ति आने से साध्य से अभिन्न हेतु नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

हेतुः साध्यादन्य एव भवति न तु साध्यात्मा साध्याविशेषप्रसङ्गात्, तस्मात्तादात्म्यघटितो हेतुरहेतुरनपदेश इत्यर्थः ॥ ७ ॥

ननु श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैरात्मनो यथा न तादात्म्यं तथा तदुत्पत्तिरपि नास्ति नहि वह्नेर्धूम इव आत्मनः श्रोत्रादिकरणमुपपद्यते इत्यत आह—

अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेशः ॥ ८ ॥

हि यतः कार्यं धूमादि यथा रासभादेरर्थान्तरन्तथा कारणाद्वह्न्यादेरप्यर्थान्तरमेव। तथा चार्थान्तरत्वाविशेषात् धूमो रासभं न गमयति किन्तु वह्निमेव गमयतीत्यत्र स्वभावविशेष एव नियामकः। स च स्वभावो यदि कार्यादन्यस्यापि भवति तदा सोऽप्यदेशो भवत्येव। तथा च कार्य्यमविवक्षितस्वभाव-

---

उपस्कार—हेतु (लिङ्ग) साध्य अर्थ से भिन्न ही होता है, न कि साध्यस्वरूप क्योंकि साध्य के साथ अविशेषता (विशेष न होने की) आपत्ति आ जायगी, इस कारण अभेद-घटित हेतु दुष्ट हेतु होता है ॥ ७ ॥

'श्रोत्रादि इन्द्रियों से आत्मा का जिस प्रकार तादात्म्य (अभेद) नहीं है उसी प्रकार आत्मा से श्रोत्रादि इन्द्रियों की उत्पत्ति भी नहीं होती, क्योंकि वह्नि से धूम के समान आत्मा से श्रोत्रादिरूपकरण उत्पन्न नहीं होते, (अतः तदुत्पत्ति के कारण भी श्रोत्रादिकरणों से आत्मारूप कर्ता का अनुमान नहीं हो सकता' इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अर्थान्तरम् = दूसरा पदार्थ, हि = जिस कारण, अर्थान्तरस्य = दूसरे पदार्थ का, अनपदेशः—साधक हेतु नहीं होता ॥ ८ ॥

भावार्थ—केवल साध्यरूप दूसरे पदार्थ का हेतु रूप दूसरा पदार्थ साधक हेतु नहीं हो सकता, अतः कोई स्वभाव विशेष ही साध्य को सिद्ध करने में हेतु का धर्म मानना होगा, वही उपाधि-राहित्य रूप व्याप्ति है ऐसा आगे सिद्ध करेंगे ॥ ८ ॥

उपस्कार—हि (जिस कारण) धूमादिरूप कार्य जिस प्रकार रासभ आदि पदार्थों से भिन्न पदार्थ है उसी प्रकार धूम के कारण वह्नि आदिकों से भी भिन्न ही हैं ऐसा होने से भिन्न पदार्थ होना समान होने से धूम रासभ की अनुमान से सिद्धि नहीं कराता किन्तु वह्नि की ही अनुमान से सिद्धि करता है इस विषय में अनौपाधिकत्व (उपाधिराहित्य), अथवा सामानाधिकरण्य में एक आश्रय में हेतु तथा साध्यका रहना रूपविशेषस्वभाव ही नियम करने वाला है और वह स्वभाव यदि कार्यसे भिन्नमें भी होता है तो वह भी साधक हेतु होता ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि उक्त के स्वभाव विशेष की अपेक्षा न रखने वाला हेतु साध्यसाधक नहीं हो सकता। अतः तादात्म्य (अभेद) तथा तदुत्पत्ति (कार्यकारणभाव) ही अविना भाव (व्याप्ति) है, इन्हीं दोनों का व्याप्ति स्वरूप में पर्यवसान (परिणाम) होता है इन्हीं दोनों के समान

भेदम् अनपदेशः। तथा च तादात्म्यतदुत्पत्तो एवाविनाभावः तयोरेवाविनाभावपर्यवसानम् ताभ्यां समानोपायो वा तदुभयमात्रग्रहाधीनग्रहो वेति स्वशिष्यव्यामोहनाय परिभाषामात्रमिति भावः ॥ ८ ॥

सम्प्रत्यविनाभावस्य तदुभयव्यभिचारमेव स्फुटयितुमाह—

संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च ॥ ९ ॥

शरीरं त्वग्वद् शरीरत्वादित्ययं हेतुः संयोगी। वृद्धिक्षयवद्द्रव्यसहजावरणं हि त्वगित्युच्यते। तच्च न शरीरस्य कार्यं कारणं वा, किन्तु सहोत्पत्तिकमात्रं नियतसंयोगवत्। एवं समवायि यथाकाशं परिमाणवद् द्रव्यत्वात् घटादिवदिति। अत्र परिमाणं साध्यं द्रव्यत्वेनाकाशसमवायिना धर्मेण साध्यते। यद्वा

उपाय वाला अविनाभाव होता है अथवा इन्हीं दोनों के ग्रहणमात्र से गृहीत होनेवाला इत्यादि बुद्ध गौतम का अपने शिष्यों की बुद्धि को मोहित करने मात्र के लिये बौद्ध दर्शनों में उपदेश होने से केवल यह बौद्ध-दर्शन की परिभाषा है ॥ ८ ॥

सांप्रत अविनाभाव (व्याप्ति) पदार्थ में तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति के व्यभिचार को स्पष्ट करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संयोगिसंयोगसम्बन्धवाला, समवायि = समवायसम्बन्धवाला, एकार्थसमवायि=एकपदार्थ भी समवाय सम्बन्ध वाला, विरोधि च = और विरोध वाला भी (लिङ्ग होता है) ॥ ९ ॥

भावार्थ—संयोग सम्बन्ध का आधार, समवाय सम्बन्ध का आधार तथा एक पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला तथा विरोध वाला भी साध्य साधक लिङ्ग होता है, जिनमें तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति का व्यभिचार स्पष्ट है, अतः बौद्धों का इन्हीं दोनों को व्याप्ति का नियामक मानना अयुक्त है ॥ ९ ॥

उपस्कार—'शरीर, त्वगिन्द्रिय वाला है, शरीर होने से' इस अनुमान में यह शरीरत्व हेतुक संयोगी हेतु है। क्योंकि वृद्धि तथा नाश वाले शरीर रूप द्रव्य का स्वाभाविक आवरण (ढांपने वाले) को त्वक्-चर्म ऐसा कहते हैं। और वह शरीर का कार्य या कारण नहीं है, किन्तु नियत संयोग के समान केवल साथ में उत्पन्न होता है, इसी प्रकार 'आकाश, परिमाण का आश्रय है द्रव्य होने से घट के समान' इस अनुमान में परिमाण गुण साध्य है जो आकाश में समवाय सम्बन्ध से वर्त्तमान द्रव्यत्व हेतु से सिद्ध किया जाता है अतः द्रव्यत्व समवायि हेतु है। अथवा परिमाण गुण का 'तर-तमभाव' अधिक तथा अति अधिक भाव कहीं विश्रान्त है, इस अनुमान से अणु रूप परिमाश विशेष सिद्ध होता है, उससे उस अणु परिमाण के आधार परमाणु द्रव्य की सिद्धि होती है (अर्थात् 'अणुपरिमाण, कहीं आश्रित है, परिमाण होने से आकाश के परमहत् परिमाण के समान' इस समवायि लिङ्ग वाले

परिमाणतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तमित्यनेनाणुत्वं परिमाणविशेषः सिद्धः । तेन तदाश्रयः परमाणुरनुमीयते । शब्दादिना त्वाकाशस्य, ज्ञानादिना त्वात्मनोऽनुमानं कार्येणैव कारणानुमानमिति नोदाहृतम् ॥ ९ ॥

एकार्थसमवायिनं सूत्रकृदुदाहरति—

कार्यं कार्यान्तरस्य ॥ १० ॥

कार्यं रूपं कार्यान्तरस्य स्पर्शस्य लिङ्गम् । उपलक्षणञ्चैतत् अकार्यमप्याकाशैकत्वम् आकाशैकपृथक्त्वे लिङ्गम् । एवं परममहत्त्वे ॥ १० ॥

विरोधिलिङ्गमुदाहरति—

विरोध्यभूतं भूतस्य ॥ ११ ॥

अभूतं वर्षं, भूतस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य लिङ्गम् । एवं स्फोटादेर्विरोधी मन्त्रपाठः । तथा चाभूतमनुत्पन्नं स्फोटादि भूतस्य मन्त्रपाठस्य लिङ्गम् ॥ ११ ॥

अनुमान से इतर के बाध की सहायता से परमाणु की सिद्धि होती है । इससे तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति के न रहने से उनका व्यभिचार स्पष्ट ही है ।) (आगे शंकर मिश्र सूत्र की न्यूनता का परिहार करने के लिये कहते हैं कि) शब्दादि गुणों से आकाश द्रव्य का तथा ज्ञान-सुखादि गुणों से आत्म द्रव्य का अनुमान तो धूम से वह्नि के अनुमान के समान कार्य ही से कारण का अनुमान है, अतः सूत्र में उसका उदाहरण नहीं दिया है ॥ ९ ॥

एकार्थसमवायिलिङ्ग का सूत्रकार स्वयं उदाहरण देते हैं—

पदपदार्थ—कार्य = रूपस्वरूप कार्य, कार्यान्तरस्य = दूसरे स्पर्श रूप कार्य का, लिङ्गं = लिङ्ग (साधक) होता है । (अर्थात् रूपादि गुणों मे स्पर्शादि का अभेद तथा रूपकार्यता भी स्पर्श में न होने से व्याप्ति पदार्थ में तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति अवश्य होती है यह बौद्धों का मत बाधित हो जाता है ।) यह रूप से स्पर्श का साधन कार्य न होने पर भी आकाश की एक संख्या आकाश में वर्तमान एक पृथक्त्वगुण की साधक लिंग होती है यह भी सूचित करता है । इसी प्रकार आकाश के परममहत्परिमाण में भी साधक होता है ॥ १० ॥

विरोधिलिंग का सूत्रकार उदाहरण देते हैं—

पदपदार्थ—विरोधी लिंग है, अभूतं=न भया हुवा, भूतस्य=भये हुए का ॥११॥

भावार्थ—वर्षा के न होने से होने वाली वर्षा के प्रतिबन्ध करने वाले वायु तथा मेघों के संयोग रूप साध्य के ज्ञान में वर्षा का न होना विरोधि लिंग का उदाहरण है ॥ ११ ॥

उपस्कार—अभुत (न भई हुई) वर्षं (वर्षा) भूत (होने वाले) वायु तथा मेघों के संयोग रूप प्रतिबन्धक का लिङ्ग है । इसी प्रकार स्फोट (विष का फोड़ा) इत्या-

विरोधिलिङ्गस्योदाहरणान्तरमाह—

भूतमभूतस्य ॥ १२ ॥

भूतं स्फोटादिकम् अभूतस्य मन्त्रपाठस्य लिङ्गम्। एवं भूतो वाय्वभ्रसंयोगोऽभूतस्य वर्षस्य लिङ्गम्। एवं भूतो दाहोऽभूतस्य मण्यादिसमवधानस्य लिङ्गमेवमन्यदप्यूह्यम् ॥ १२ ॥

लिङ्गान्तरमुदाहरति—

भूतो भूतस्य ॥ १३ ॥

विद्यमानेनैव विरोधिना विद्यमानस्यैव विरोधिनः कचिदनुमानम् यथा विस्फूर्जन्तमहिं दृष्ट्वा क्ष्काटान्तरितस्य नकुलस्य। अत्र हि विस्फूर्जन्नहिर्भूतो

दिकों का मंत्रपाठ विरोधी लिङ्ग है। इसमें न पैदा हुये विष के फोड़े भये हुए मन्त्रपाठ का लिङ्ग है अर्थात् मन्त्रपाठ करने से विष के फोड़े नहीं होते इसलिये विष के फोड़ों का न होना भये हुए मंत्रपाठ का विरोधी लिङ्ग है ॥ ११ ॥

विरोधीलिङ्ग का दूसरा उदाहरण सूत्रकार देते हैं—

पदपदार्थ—भूतं = भया हुआ, अभूतस्य = न भये हुये का विरोधी (साधक होता) ॥ १२ ॥

भावार्थ—विष के फोडों का होना, न होने वाले मंत्रपाठ का विरोधी लिङ्ग है ॥ १२ ॥

उपस्कार—भूत (भया हुआ) विष का फोड़ा इत्यादि, न भये हुए मंत्रपाठ का विरोधी लिङ्ग है। इसी प्रकार भया हुआ वायु तथा मेघका प्रतिबन्धक संयोग अभूत (नहीं भई हुई) वर्षा का विरोधी लिङ्ग है। इसी प्रकार दाहरूप विरोधी कार्य न रहने वाले चन्द्रकान्तमणि आदि के सांनिध्य का विरोधी लिङ्ग है। इसी प्रकार दूसरे भी विरोधी लिङ्ग के उदाहरण स्वयं जान लेना ॥ १२ ॥

सूत्रकार दूसरा लिङ्ग भी देते हैं—

पदपदार्थ—भूतः = विद्यमान, भूतस्य = विद्यमान का (विरोधी लिङ्ग होता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—अविद्यमान विरोधी के समान न विद्यमान ही विरोधी से कहीं २ विद्यमान विरोधी का अनुमान होता है, जैसे 'फुफकारने वाले विद्यमान सर्प को देखनेसे झाड़ी के आड़ में रहने वाले विद्यमान नेवले का अनुमान, इसमें विद्यमान ही सर्प रूप विरोधी विद्यमान नेवले का साधक लिङ्ग है ॥ १३ ॥

उपस्कार—विद्यमान ही विरोधी से विद्यमान ही विरोधी का भी कहीं अनुमान होता है। जिस प्रकार फुफकारने वाले सर्प को देखकर झाडी के आड़ में रहने वाले नेवले का अनुमान। इस अनुमान में फुफकारने वाला सर्प भूत नाम विद्य-

विद्यमानो झाटान्तरितो नकुलोऽपि विद्यमान एवेति भवति भूतो भूतस्य लिङ्गमित्यर्थः। वर्षवाय्वभ्रसंयोगस्य तु नैकस्मिन् काले विद्यमानता न वा स्फोटमन्त्रपाठयोरिति ॥ १३ ॥

इदानीं परिगणनस्य प्रयोजनमाह—

प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य ॥ १४ ॥

प्रसिद्धिः स्मर्य्यमाणा व्याप्तिः, अपदेशो हेतुवचनं, तेन स्मर्यमाणव्याप्तिविशिष्टो हेतुर्हेत्ववयवेनोपनयावयवेन वोच्यते इति भवति प्रसिद्धिपूर्वकोऽपदेश इति। तथाच श्रोत्रादिना करणेनाधिष्ठातुः, ज्ञानादिना च गुणेन तदाश्रयस्यात्मनः यदनुमानमुक्तम् तत्र सर्वत्र व्याप्तिरस्ति, त्वया तु शरीरकार्य्यत्वेन हेतुना ज्ञानस्य यच्छरीरगुणत्वं साधितं तत्र न व्याप्तिरिति भावः।

मान है, तथा झाड़ी के आड़ में रहने वाला नेवला भी विद्यमान है इस कारण विद्यमान विरोधी विद्यमान साध्य का साधक लिङ्ग है यह सूत्र का अर्थ है। पूर्व विरोधी उदाहरणों में वर्षा तथा वायु और मेघ का प्रतिबन्धक संयोग एक काल में विद्यमान नहीं है, अथवा विष के फोड़े तथा मन्त्रपाठ एक काल में विद्यमान नहीं हैं इति—यह विशेष है ॥ १३ ॥

सांप्रत संयोगी आदि हेतुओं की गणना करने का सूत्रकार प्रयोजन कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रसिद्धिपूर्वकत्वात् = व्याप्तिपुर्वक होने से, अपदेशस्य = हेतु के (व्याप्तिविशिष्ट ही हेतु होता है) ॥ १४ ॥

भावार्थ—साधक हेतु व्याप्तिस्मरणपूर्वक ही साध्य की सिद्धि कर सकता है, अतः उसे ऐसे हेतुओं के प्रकार कितने हैं यह संयोगी आदि सूत्र में गणना की है, अतः सिद्धान्ती से दिये हुए श्रोत्रादिकरणों से आत्मारूप कर्ता के अनुमान से सर्वत्र व्याप्ति होने से साध्य सिद्धि हो सकती है किन्तु 'शरीर कार्यत्व रूप हेतु से ज्ञान गुण शरीर का है, इस चार्वाक के अनुमान में व्याप्ति नहीं हो सकती ॥ १४ ॥

उपस्कार—स्मरण की हुई व्याप्ति सूत्र के प्रसिद्धि शब्द का अर्थ है। तथा अपदेश शब्द का अर्थ है हेतु का वचन, इस से स्मरण की हुई व्याप्ति से विशिष्ट (युक्त) हेतु हेतुरूप अवयव अथवा उपमेय रूप अवयव कहा जाता है इस कारण प्रसिद्धि (व्याप्ति) पूर्वक अपदेश हेतु होता हैं ऐसा सूत्र का अर्थ है। ऐसा होने से श्रोत्रेन्द्रिय इत्यादि कारणों से उनके अधिष्ठाता, तथा ज्ञान-सुख इत्यादि गुणों से उनके आधार आत्मा द्रव्य का जो अनुमान पूर्वग्रन्थ में कहा गया है उस सम्पूर्ण अनुमानों में व्याप्ति है, और आप (चार्वाक) ने शरीर कार्यत्व रूप हेतु से ज्ञान शरीर का गुण यह जो अनुमान से सिद्ध किया उसमें व्याप्ति नहीं है। अतः उससे ज्ञान में शरीर की

ननु केयं व्याप्तिः ?

न तावदव्यभिचरितः सम्बन्धः अव्यभिचारस्य साध्यात्यन्ताभावसामानाधिकरण्यानधिकरणत्वस्य केवलान्वयिन्यप्रसिद्धेः। साध्यानधिकरणत्वस्यापि केवलान्वयिन्यसम्भवात् धूमादेरपि यत्किञ्चित्साध्यानधिकरणाधिकरणत्वात्।

नाप्यविनाभावः। स हि साध्यं विनाऽभावो वा हेतोः, अविनासाध्यान्वये सति भावो वा ? धूमस्यापि क्वचिद्रासभाभावेऽभावात्, रासभसत्त्वे सत्त्वाच्च नियतव्यतिरेको नियतश्चान्वयो विवक्षित इति चेत्, न नियमस्यैव निरूप्यमाणत्वात्।

नापि कार्त्स्न्येन सम्बन्धः स यदि कृत्स्नस्य साध्यस्य साधनसम्बन्धः, स

गुणता सिद्ध नहीं हो सकती—प्रश्न—यह व्याप्ति क्या है ? उत्तर—मीमांसकों को अभिमत व्यभिचाररहित सम्बन्ध रूप व्याप्ति नहीं हो सकती क्योंकि साध्य के अत्यन्ताभाव (वह्न्यभाव) की जिसमें एक अधिकरण (जलाशय) में वर्तमानता हो मीन उसकी आश्रयता धूम में न होना यही है अव्यभिचार जो 'घटो वाच्यः अप्रमेयत्वात्' इस केवलान्वयि अनुमानमें वाच्यता का अभाव संसारके किसी पदार्थ में न होने से अप्रसिद्ध है। (यहां पर 'द्रव्यं सत्वात्' इस अनुमान में सत्ता जाति में द्रव्य को लेकर द्रव्यत्व के अभाव की समानाधिकरणता नहीं है ऐसी प्रतीति होने से अव्याप्यवृत्ति द्रव्यत्वाभाव के सामानाधिकरण्य की सत्ता जाति में अभाव होने के कारण अतिव्याप्ति दोष के वारणार्थ साध्यात्यन्ताभाव न कहकर साध्यात्यन्ताभाव सामानाधिकरण्याधिकरणता का अभाव किया है, अव्याप्यवृत्ति की अधिकरणता अव्याप्यवृत्ति न होने से अतिव्याप्ति दोष निवृत्त हो जाता है यह जानना)।

(इस प्रकार मीमांसकों को अभिमात व्याप्ति का खण्डन कर सिंहव्याघ्रोक्त व्याप्ति लक्षण का खण्डन करते हुए शंकर मिश्र कहते हैं) कि साध्य के अनाश्रय की आधारता न होना रूप (अर्थात् साध्य के अधिकरणता के अभाव के व्यापक अन्योन्याभाव की प्रतियोगिता के अवच्छेदकत्व अथवा साध्यवान् के भेद के व्यापक अन्योन्याभाव के प्रतियोगितावच्छेदकरूप साध्यानधिकरणतानधिकरणत्व जैसे वह्नि के अनाधार जलाशय की अनाधारता धूम में है ऐसे दोनों प्रकार के लक्षण भी पूर्वोक्त केवलान्वयि अनुमान में साध्य का अनधिकरण अप्रसिद्ध होने से तथा धूमादि हेतु में भी किसी एक महानसादिवह्नि के अनाधार पर्वत में धुम की वर्तमानता होने से भी अव्याप्ति दोष आवेगा (अर्थात् साध्यवद्भेद और साध्याधि करणत्वाभाव इन दोनों का लक्षण में सामान्याभाव रूप से निवेश करने से पूर्वोक्त केवलान्वयि में अनुमान और यत्किंचित्साध्यवद्भेदादिकों का निवेश करने से वह्निमान् धूमादित्यादि अनुमान में अप्रसिद्धि होगी।

(इस प्रकार सिंहव्याघ्रोक्त लक्षण का खण्डन कर बौद्धोक्त व्याप्ति का खण्डन करते

विषमव्याप्ते धूमादावपि नास्ति। अथ कृत्स्नस्य साधनस्य साध्यसम्बन्धः, सोऽप्येकस्य साध्यस्य कृत्स्नसाधने सम्बन्धाभावादनुपपन्नः। अथ कृत्स्नस्य साध्यस्य कृत्स्नेन साधनेन सम्बन्धः, एतदप्ययुक्तम् न हि कृत्स्नेन साधनेन कृत्स्नस्य साध्यस्य क्वचिदपि सम्बन्धः सम्भवति, प्रत्येकमेव साध्यसाधनयोः सम्बन्धात्, विषमव्याप्ते चाव्याप्तेः।

नापि स्वाभाविकः सम्बन्धः। स्वभावो हि स्वस्य भावो वा स्वमेव भावो

हैं) कि अविनाभाव (वह्निरूप साध्य के बिना धूम रूप हेतु का न होना) भी व्याप्ति पदार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वह अविनाभाव क्या साध्य के बिना हेतु का न होना है [अथवा 'अविना, साध्य का सम्बन्ध रहते हेतु का होना है ! कहीं २ रासभ के न रहने पर धूम का अभाव होता है,तथा रासभ के रहते धूम रहता है (अतः इनकी व्याप्ति हो जायगी) । (यदि इस दोष के वारणार्थ बौद्ध कहे कि)—नियमित व्यतिरेक तथा नियमित अन्वय भी अविनाभाव शब्द से यहां विवक्षित है अतः धूम और रासभ के सर्वत्र अन्वय तथा व्यतिरेक के न होने से उनका अविनाभाव न होगा) (तो शंकरमिश्र कहते हैं कि) ऐसा नहीं क्योंकि नियम ही क्या है। यहीं तो आगे निरूपण करना है।

(न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्य को अभिमत व्याप्ति का खण्डन करते हुए शंकर मिश्र कहते हैं कि)—कात्स्न्र्येन संपूर्ण रूप से सम्बन्ध होने को व्याप्ति कहते हैं। (यह भी नहीं कह सकते क्योंकि)—वह सम्बन्ध यदि संपूर्ण साध्यों का साधन के साथ सम्बन्ध लिया जाय तो, वह विषम व्याप्ति (जहा२ धूम हैं वहाँ वहाँ वह्नि है। ऐसी व्याप्ति होने पर भी जहाँ २ वह्नि है वहाँ २ धूम है ऐसी व्याप्ति न होने से) वाले धूमादि हेतु में भी नहीं है। और यदि संपूर्ण हेतुओं का साध्य के साथ सम्बन्ध माना जाय, तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक साध्य का संपूर्ण हेतुओं में सम्बन्ध नहीं होता। और यदि संपूर्ण साध्यों का संपूर्ण साधनों के साथ, सम्बन्ध माना जाय तो, यह भी अयुक्त है, क्योंकि कहीं भी संपूर्ण साधनो के साथ संपूर्ण साध्यों के साथ सम्बन्ध नहीं होता, पर्वतीय वह्नि तथा पर्वतीय धूम इस प्रकार प्रत्येक साध्य तथा साधन का सम्बन्ध होता है, और विषम व्याप्ति वाले धूमादिकों में भी संपूर्ण साधन के साथ सपूर्ण साध्य का सम्बन्ध न होने से अव्याप्ति दोष भी आ जायगा।

(इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र को अभिमत व्याप्ति का खण्डन करते हुए शंकर मिश्र कहते हैं कि) यहाँ पर वाचस्पति मिश्र का यह भाव है कि सामानाधिकरण्य रूप सम्बन्ध वह्निनिरूपित धूम में स्वाभाविक है, किन्तु वह्नि में धूम सामानाधिकरण्य आर्द्रेन्धन प्रयुक्त होने से औपाधिक है अतः अतिव्याप्ति दोष न होगा) स्वाभाविक सम्बन्धको भी व्याप्ति नहीं कह सकते। क्योंकि अपना भाव (धर्म) स्वभाव शब्द का

वा. तत्र तज्जन्यत्वञ्चेत्तद्धितार्थः, तदा समवायलक्षणायां व्याप्तावव्याप्तेः। तदा-श्रितत्वञ्चेत्तद्धितार्थः, तदापि समवायेऽव्याप्तिः, न हि समवायः क्वचिदाश्रितः संयोगस्यापि हेतुधर्मधूमत्वाद्यजन्यत्वाच्च।

नाप्यनौपाधिकः सम्बन्धः। उपाधेरेव दुर्वचत्वात्। सुवचत्वेऽपि दुर्ग्रहत्वात्, सुग्रहत्वेऽप्यन्योन्याश्रयात्। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादेर्व्याप्तिग्र-हाधीनग्रहत्वात्।

नापि सम्बन्धमात्रं व्याप्तिः। व्यभिचारिसम्बन्धस्यापि देशविशेषकालविशे-

---

र्थ है, अथवा स्वस्वरूपभाव। उसमें स्वभाव शब्द से भया हुआ 'ठक्प्रत्यय' रूप तद्धित का यदि 'जन्यता' उत्पत्ति अर्थ लिया जाय तो समवायरूप नित्यव्याप्ति में लक्षण न जाने से अव्याप्ति दोष आ जायगा। यदि स्वभाव के आश्रित ऐसा तद्धित का अर्थ करें तो उक्त दोषवारण होने पर भी (अर्थात् स्वस्य भाव इत्यादि प्रदर्शित दोनों प्रकार की व्युत्पत्ति से हेतुतावच्छेदक और हेतुस्वरूप दोनों कल्पों में भी 'भावः' इस पद में 'टिकन्' प्रत्यय का 'जन्यता' पक्ष में 'सत्तावान् द्रव्यत्वात्' इत्यादि अनुमानों में अव्याप्ति दोष दिखाकर 'आश्रितत्व' पक्ष में भी दोष दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—आश्रितत्व पक्ष में भी समवायरूप व्याप्ति में अव्याप्ति दोष होगा, क्योंकि समवाय किसी में आश्रित नहीं होता (अर्थात् समवाय में स्वभिन्न सम्बन्ध की प्रतियोगिता न होने से उसमें आश्रितता नहीं है) एवं संयोग सम्बन्ध भी हेतु के स्वरूप धर्म के आश्रित नहीं है, तथा हेतु के धर्म धूमत्व से उत्पन्न भी नहीं है।

(इस प्रकार वाचस्पतिमिश्र को अभिमत व्याप्ति का खण्डन कर उदयनाचार्य को अभिमत व्याप्ति का खण्डन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—उपाधिरहित सम्बन्ध को भी व्याप्ति नहीं कह सकते। क्योंकि प्रथम उपाधि का स्वरूप ही नहीं कहा जा सकता। अर्थात् जितने (स्व) अपने अधिकरण हैं उनमें साध्य की अधि-करणता रहते साधन के जितने आश्रय हों उनमें न रहना यह उपाधि का लक्षण 'स्व'पदघटित होने के कारण अनुगत न होने से दुर्वच (कहने योग्य नहीं) है। (किसी प्रकार अनुगत मानकर यदि उसकी उक्ति हो भी तो 'द्रव्यं सत्त्वात्' इत्यादि अनुमानों में 'गुणवत्ता' रूप उपाधि के जितने द्रव्यत्व के आधार द्रव्य व्यक्ति हैं उनमें हजारों वर्षों में ज्ञान होना कठिन है, इसी आशय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—उपाधिस्वरूप का ग्रहण होने पर भी अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा, क्योंकि साध्य की व्यापकता रहते साधन की अव्यापकता रूप उपाधि का ज्ञान व्याप्तिज्ञान के अधीन है और 'अनौपाधिकत्व' रूप व्याप्ति का ज्ञान उपाधि के ज्ञान के अधीन है।

एकदेशी नैयायिकों का मत खण्डन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—केवल सामान्य रूप से सम्बन्ध को 'व्याप्ति' नहीं कह सकते। यद्यपि सम्बन्धमात्र को व्याप्ति मानने से 'द्रव्यं सत्त्वात् सत्तावान्' होने से द्रव्य है। 'कालः तद्गोमान्

षगर्भतया व्याप्तिरूपत्वेऽपि, तज्ज्ञानस्यानुमितावतन्त्रत्वात् अनुमितिकारणीभूतज्ञानविषयव्याप्तेरेव निरूपयितुमुचितत्वात् ।

नापि साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः। वह्नेरपि धूमवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वात् न हि धूमवति महानसे पर्वतीयवह्नेर्नात्यन्ताभावः। इदं संयोगि द्रव्यत्वादित्यादौ संयोगात्यन्ताभावस्य साधनसमानाधिकरणत्वादव्यापकताप्रसङ्गात् । प्रतियोगिविरुद्धस्वसमानाधिकरणात्यन्ता-

---

गोरूपात्' काल उस गौ वाला है, गोरूप होने से इत्यादि अनुमान में भी सम्बन्ध होने से व्याप्ति होगी इसलिये व्यभिचारी ऐसा शंकरमिश्र ने कहा है, अर्थात् सत्ता जाति द्रव्यत्व का व्यभिचारी तथा तद्गौ का व्यभिचारी भी गौ का रूप जातित्वावच्छिन्न तथा गोस्पर्शत्वविशिष्ट का व्यभिचारी नहीं है क्योंकि सत्ता जाति के अभाव के आश्रय में तथा गौ का रूप गोस्पर्श के अभाव के अधिकरण में नहीं रहती, इसलिये देश तथा काल को लेकर भी व्याप्ति अभिमत ही है। (इसी अभिप्राय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—व्यभिचारी सम्बन्ध के देशविशेष तथा कालविशेष से युक्त होने से व्याप्तिरूप होने पर भी, उसका ज्ञान अनुमिति में कारण नहीं है, इसलिये अनुमिति में कारण होनेवाले ज्ञान का विषय व्याप्ति का ही निरूपण करना युक्त है।

साधन के आश्रय में वर्तमान अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य के अधिकरण में रहना भी व्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि धूमरूप साधन के आश्रय में वर्तमान अत्यन्ताभाव का वह्नि भी प्रतियोगी होता है, कारण यह कि धूम के आश्रय महानस रसोईघर में पर्वतीय वह्नि का अत्यन्ताभाव नहीं है ऐसा नहीं है। यहाँ साधनाधिकरण-निष्ठात्यन्ताभाव की प्रतियोगिता का अनवच्छेदक—साध्यतावच्छेदक से अवच्छिन्न साध्य के अधिकरण में रहना यहां तक निवेश करने से, महानस में वर्तमान पर्वतीय वह्नि के अभाव का प्रतियोगी पर्वतीय वह्नि के होने पर भी सामान्य रूप से वह्नि नहीं है ऐसा अभाव न होने से वह्नित्वरूप साध्यतानियामक धर्म के प्रतियोगितानवच्छेदक होने के कारण उक्त दोष नहीं आ सकता। (अतः स्थलान्तर में अव्याप्ति दोष देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—यह संयोगाधार है, द्रव्य होने से, इत्यादि अनुमान में संयोगरूप साध्य के अत्यन्ताभाव हेतु के आश्रय द्रव्यत्व में रहने से अव्याप्ति दोष होगा (अर्थात् जैसे द्रव्यत्वाश्रय वृक्ष में कपि-संयोग रूप साध्य मूलदेश में नहीं है और उसी वृक्ष में द्रव्यत्व रहता है), अतः संयोगाभाव का संयोगत्व साध्यतावच्छेदक धर्म प्रतियोगितानवच्छेदक न होने से अव्याप्ति हो जायगी। इस दोष के वारण के लिये यदि 'प्रतियोगी के विरुद्ध तथा हेतु के आधार में वर्तमान अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य के सामानाधिकरण्य को व्याप्ति कहेंगे, वृक्षादि में रहनेवाला कपि-संयोग का अभाव, उसी वृक्ष के अग्र में कपि-संयोग रहने से

भावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः संयोगात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिविरुद्धत्वाभावादिति चेन्न संयोगात्यन्ताभावस्यापि प्रतियोगिविरुद्धत्वात् अन्यथाऽवच्छेदभेदकल्पनावैयर्थ्यात् न हि कृतकत्वानित्यत्वयोर्वृत्त्यर्थमवच्छेदभेदः कल्प्यते। नापि साध्यवैयधिकरण्यानधिकरणत्वम्। केवलान्वयिनि साध्यवैयधिकरण्याप्रसिद्धेःसाध्यानधिकरणाधिकरणत्वं हि तत्। नापि यत्सम्बन्धितावच्छेदकरूपवत्त्वं यस्य तस्य सा व्याप्तिः वह्नित्वस्यापि धूमसम्बन्धितावच्छेदकत्वात्। अधिकदेशवृत्तितया तन्न तथेति चेत् व्यापकतावच्छेदकस्याधिकदेशवृत्तेरप्यभ्युपगमात् धूमत्वस्यापि गगनतलावलम्बिधूमवृत्तितयाऽधिकदेशवृत्तित्वात्। अतएव तद्वारणार्थं विशेषणमिति चेत्, तर्हि यद् व्याप्यतावच्छेदकं तदेव सम्बन्धि-

---

प्रतियोगी के विरुद्ध न होने से घटाभाव को लेकर संयोगत्व के प्रतियोगितानवच्छेदक होने से अव्याप्ति दोष का वारण हो जायगा' ऐसा कहो तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि संयोगात्यन्ताभाव भी प्रतियोगी के विरुद्ध है। यदि ऐसा न हो तो वृक्ष में मूल तथा अग्ररूप विशेषण का भेद मानना व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि शब्द में कार्यत्व तथा अनित्यता के रहने के लिये विशेषण भेद नहीं माना जाता। (पूर्वप्रदर्शित सिंहव्याघ्रोक्त दोनों लक्षणों को दिखाकर खण्डन करते हुए शंकरमिश्र आगे कहते हैं)—कि साध्य के वैयधिकरण्य का अनधिकरणत्व अर्थात् साध्य के अनधिकरण में आश्रित न होना भी व्याप्ति नहीं कही जा सकती, क्योंकि केवलान्वयि स्थल में वाच्यत्वादि साध्य का अनधिकरण अप्रसिद्ध है, कारण यह कि साध्य के अधिकरण में रहना ही साध्यवैयधिकरण्यानधिकरणत्व का अर्थ होता है।

तथा 'यत्सम्बन्धितावच्छेदकरूपवत्त्वं यस्य तस्य सा व्याप्तिः' अर्थात् वह्नि का सम्बन्धी धूम होने से उसमें वर्तमान सम्बन्धिता का नियामक धूमत्व-रूपवत्ता धूम में है यही उसमें वह्नि की व्याप्ति है यह भी व्याप्ति का लक्षण नहीं हो सका, क्योंकि वह्नित्व में भी धूम का वह्नि सम्बन्धी होने से धूमसम्बन्धिता का नियामक धर्म है। यदि कहो कि 'धूम से वह्नि के तप्त लोहपिण्ड आदि पदार्थ रूप अधिक देश में रहने के कारण वह सम्बन्धितानियामक धर्म नहीं होगा' तो व्यापकता का नियामक धर्म व्याप्य से अधिक देश में रहता है ऐसा माना है तथा धूमत्व भी आकाश में रहने वाले धूम में रहने के कारण अधिक देश में वर्तमान है। (यदि 'वह्नित्व में सम्बन्धितानियामकतारूप व्याप्ति के रहने पर भी व्याप्यतानियामकत्वरूप विशेषण न रहने से अतिव्याप्ति न होगी ऐसा समझ कर 'व्याप्यतावच्छेदकत्व' भी उक्त व्याप्ति-लक्षण में विशेषण देंगे' ऐसा कहो तो शंकरमिश्र कहते हैं कि)—तब तो जो व्याप्यता का नियामक है वही सम्बन्धितानियामक भी आपको सम्मत होने से आत्माश्रय दोष होगा (अर्थात् व्याप्यतावच्छेदक है विशिष्ट धूमत्व,

तावच्छेदकत्वेनाभिमतमित्यभिमतं तथा चात्माश्रयः। एवञ्च यत् सामानाधिकरण्यावच्छेदकरूपवत्त्वं यस्य तस्य सा व्याप्तिरित्यप्युक्तदोषाक्रान्तमिति चेत्,

अत्रोच्यते अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः। अनौपाधिकत्वन्तु यावत्स्वव्यभिचारिव्यभिचारिसाध्यसामानाधिकरण्यम्, यावत्स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभा-

---

व्याप्ति भी उक्त रूप ही है अतः अपने में ही अपने विशेषण होने से आत्माश्रय दोष आ जायगा)।

और ऐसा होने से जिसके सामानाधिकरण्य (एकाधिकरणता) के नियामक रूप का आश्रय जो होता है वही उसकी व्याप्ति होती है यह व्याप्ति लक्षण भी आत्माश्रयरूप कहें हुए दोष से आक्रान्त (युक्त) है (अर्थात् जिस धर्म से युक्त से कहा गया हुआ, जिस रूप से युक्त जिसका सामानाधिकरण्य होता है, उस धर्म से युक्त को विधेय रखनेवाली तथा उस रूप से युक्त हेतुवाली अनुमिति की कारणता का जो नियामक हो वही सामानाधिकरण्यरूप व्याप्ति होती है यह लक्षण भी आत्माश्रय दोष युक्त है) इस दोष से उक्त प्रकार की व्याप्ति के अनेक प्रकार होने से पर्वत से वर्तमान धूम में स्मरण किये महानसवह्नि सामानाधिकरण्य के न होने से और पर्वत के वह्नि का सामानाधिकरण्य का धूम में पूर्वकाल में अनुभव न होने के कारण परामर्श भी न हो सकेगा। अतः 'सत्तावान् जातेः' इत्यादि अनुमान में अव्याप्ति भी दोष होगा यह सूचित होता है। इस विषय में अधिक विस्तार विशेष व्याप्ति आदि प्रकरण ग्रन्थ में देखना चाहिये।

(इस प्रकार पूर्वपक्ष व्याप्तियों का खण्डन कर स्वमत से सिद्धान्त व्याप्ति का लक्षण शंकरमिश्र दिखाते हैं कि)—यहां पर सिद्धान्त व्याप्ति का लक्षण कहा जाता है उपाधिरहित सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। (यथाश्रुत में उदयनाचार्योक्त लक्षण में दोष के समान होने से अनौपाधिक शब्द का विशेष अर्थ कहते हैं कि)—जितने हेतु के व्यभिचारी पदार्थ हों उनके व्यभिचारी साध्य के साथ एक आश्रय में रहना ही अनौपाधिकता है (अतः 'धूमवान् वह्नेः' वह्नि होने से धूमवान् है, इस अनुमान में वह्नि के व्यभिचारी आर्द्रेन्धान के संयोग के धूम के साथ व्यभिचार न होने से अतिव्याप्ति दोष न होगा)। यदि व्यभिचारी शब्द का अर्थ हो अभाव के आश्रय में रहना, वह वृत्तितावैशिष्ट्य रूप विशेषण के भेद से भी भिन्न नहीं है, क्योंकि गुण में गुण कर्मभेदविशिष्ट सत्ता जाति का ज्ञान होता है ऐसा होने से 'द्रव्यं विशिष्टसत्तात्वात्' यह द्रव्यत्वजातिमान् है गुण-कर्मभेदविशिष्ट सत्ता का आधार होने से इस अनुमान में विशिष्ट सत्ता विशिष्ट शुद्ध से भिन्न नहीं होता' इस प्रदर्शित न्यास से 'गुणकर्म में भी रहने से अव्याप्ति दोष होगा' ऐसा कहो तो शंकरमिश्र दूसरे प्रकार से अनौपाधिकत्व शब्द का अर्थ कहते हैं कि)—जितने हेतु के अधिकरण में वर्तमान अत्यन्ताभाव हों उनके प्रतियोगी जिनमें प्रतियोगी हों ऐसे अत्यन्ताभाव के अधिकरण में वर्तमान साध्य के अधिकरण में रहना अनौपाधिकता है (जैसे धूम के पर्वतादि अधिकरणों में वर्तमान

वप्रतियोगिप्रतियोगिकात्यन्ताभावसमानाधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्यं वा । यावत्साधनाव्यापकाव्याप्यसाध्यसामानाधिकरण्यमिति निरुक्तिद्वयार्थः । यावत्साध्यव्यापकव्यापकत्वं वा बहुव्रीहिणा दुर्ग्रहमिदमिति चेत् अत एव तत्र भूयोदर्शनापेक्षा तर्कापेक्षा च । यद्वा साधनसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगिसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिः । अत्यन्ताभावश्च वह्नित्वादिसामान्यावच्छिन्नप्रतियोगिताको विवक्षितः तेन महानसीयधूमे पर्वतीयवह्न्यत्यन्ताभावसामानाधिकरण्येऽपि न दोषः, धूमवति वह्निर्ना·

घटादिकों के अभाव के प्रतियोगी घटादि प्रतियोगी वाले घटादि अत्यन्ताभाव के आधार पर्वतादिकों में वर्तमान वह्निरूप साध्य के अधिकरण में धूम वर्तमान होता है, अतः इस पक्ष में निरूपक के नियामक धर्म के भेद से अधिकरणता भिन्न होने से उक्त व्याप्ति दोष न आवेगा)। (यदि हेतुसमानाधिकरण विशिष्टाभावादिकों को लेकर अव्याप्ति दोष कहो तो शंकरमिश्र कहते हैं कि)—इन दोनों प्रकार के अनौपाधिकत्व शब्द का ऐसा अर्थ है कि जितने हेतु के अव्यापक पदार्थ हों उनके अव्याप्य साध्य के अधिकरण में रहना, अतः उक्त प्रकार से भी दोष न होगा।

(दूसरे प्रकार से अनौपाधिकत्व शब्द का निर्वचन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि) जितने वह्न्यादिसाध्य के व्यापक पदार्थ हों उनका व्यापक होना धूमादिकों में अनौपाधिकत्व है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'जितने साध्य के व्यापक जिस हेतु के व्यापक हों ऐसे अन्य पदार्थ बहुव्रीहि समास यहां पर करना पड़ेगा, जिससे अपने व्यापक जितने साध्य हों उनके व्यापकसम्बन्धी ऐसी प्रतीति होती है, जिसमें अपने २ वाचक 'स्वत्व' पदयुक्त यह लक्षण होने से अतीत तथा भविष्य हेतुओं में उसका ग्रहण होना कठिन है अतः शंकरमिश्र कहते हैं कि बहुव्रीहि समास होने के कारण उक्त व्याप्तिज्ञान का ग्रहण होना कठिन है, ऐसा यदि कहो तो इसीलिये (भूयो भूयः) बार-बार व्याप्ति-ग्रहण की अपेक्षा होती है तथा व्यभिचार शंका-निवारक तर्क की भी अपेक्षा होती है। (अथवा लघुरूप ऐसा भी लक्षण व्याप्ति का हो सकता है)—साधन के आधार में वर्तमान अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी साध्य के अधिकरण में हेतु का रहना ही व्याप्तिपदार्थ है। इस लक्षण में धूमरूपसाधन के आधार में रहनेवाला अत्यन्ताभाव साध्यता के नियामक वह्नित्व रूप सामान्यधर्म से युक्त वह्नि सामान्य का अभाव विवक्षित है, जिससे महानस के धूम में पर्वतीयवह्नि के अत्यन्ताभावकी एकाधिकरणता होने पर भी अव्याप्ति दोष न होगा, क्योंकि किसीभी धूमके आश्रय पर्वतादिकों में सामान्यरूपसे वह्नि नहीं है ऐसी प्रतीति नहीं होती (अतः घटादियों का ही अभाव लेकर वह्निरूप साध्य के अप्रतियोगी होने से लक्षण का समन्वय हो जायगा)। इस लक्षण में 'साधन समानाधिकरण' शब्द का साधनतावच्छेदकावच्छिन्न (साधनता के नियामकधर्म से युक्त, हेतु के

स्तीति प्रतीतेरनुदयात्। द्रव्यत्वन्तु संयोगित्वात्यन्ताभावासमानाधिकरणमेव न हि भवति द्रव्यं न संयोगीति प्रतीतिः, संयोगानां प्रत्येकमव्याप्यवृत्तित्वेऽपि संयोगित्वसामान्यस्य व्याप्यवृत्तित्वात् तस्यैव च व्यापकत्वात्। नन्वनौपाधिकत्वमुपाधिविरहः उपाधिरेव दुष्परिकलनीय इति चेन्न साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकस्योपाधित्वात्। तदुक्तम्—

साधने सोपाधिः साध्ये निरुपाधिरुपाधिः।

अधिकरण में वर्तमान ऐसा अर्थ करना चाहिये, नहीं तो 'द्रव्य है विशिष्टसत्ता होनेसे' इस अनुमान में 'विशिष्ट शुद्ध से भिन्न नहीं होता' इस पूर्वप्रदर्शित न्याय से शुद्धसत्ताधिकरण गुणकर्म में द्रव्यत्व का अभाव लेकर अव्याप्तिदोष हो जायगा। प्रकृत में साधनतावच्छेदक विशिष्ट-सत्तात्वावच्छिन्न का अधिकरण गुण-कर्म न होने से दोष नहीं होगा, क्योंकि विशिष्ट-सत्ता के आश्रयद्रव्य में द्रव्यत्वाभाव नहीं है। एवं वह्नित्वावच्छिन्न साध्यतावच्छेदक होने से तद्व्यक्ति नहीं है इस अभाव को भी लेकर अव्याप्तिदोष न होगा (यह भी यहाँ जान लेना चाहिये) यदि "द्रव्यत्वाश्रय वृक्षादि द्रव्य में सयोगरूप साध्य का अभाव रहने से अव्याप्ति दोष इस लक्षण में होगा" 'ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो शंकरमिश्र कहते हैं कि) द्रव्यत्व जाति तो संयोगित्व के अत्यन्ताभाव के अधिकरण में रहता ही है, क्योंकि द्रव्य संयोगी नहीं है ऐसी प्रतीति नहीं होती, प्रत्येक संयोगों के अव्याप्यवृत्ति (एकदेश में वर्तमान) होने पर भी, संयोगी द्रव्य में वर्तमान संयोगिताधर्मव्याप्यवृत्ति ही है। और 'संयोगी द्रव्यत्वात्' इस अनुमान में वही व्यापक (साध्य) है। (अर्थात् संयोगविशेष का अभाव द्रव्य में रहने पर भी संयोगसामान्य का अभाव द्रव्य में न रहने से अभावान्तर को लेकर साध्य के अप्रतियोगी होने से अव्याप्ति न होगी। तथापि 'कपिसंयोगी एतद्वृक्षत्वात्' यह वृक्ष कपिसंयोग वाला है यह वृक्ष होने से, इस अनुमान में कपिसंयोग का सामान्याभाव मूल (जड़) प्रदेश को लेकर वृक्ष में वर्तमान है, अतः अव्याप्ति दोष होगा। ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि साध्यतानियामक सम्बन्ध से हेतुनिरूपित अधिकरणता विवक्षित है (आगे अनोपाधिकस्वरूप सिद्धान्त व्याप्ति के लक्षण में पूर्वपक्षिमत से आक्षेप दिखाते हुए कहते हैं कि)—उपाधि के विरह (अभाव) को ही अनौपाधिक सम्बन्ध कहते हैं, किन्तु उपाधि का ही ज्ञान होना कठिन है, (अतः यह लक्षण नहीं हो सकता) (इसके उत्तर में उपाधि का स्वरूप प्रमाण देते हुए शंकरमिश्र ऐसा कहते हैं कि)—साध्य का व्यापक होते हुए जो साधन का अव्यापक हो उसे उपाधि कहते हैं इस कारण प्राचीन नैयायिकों ने कहा है—साधन में उपाधिसहित (अव्यापक) तथा साध्य में उपाधिरहित (व्यापक) हो, (वह उपाधि कहाता है)।

ननु केवलसाध्यव्यापकोपाध्यव्यापकमेतत् । यथा वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वादित्यत्रोद्भूतरूपवत्त्वम्, स श्यामो मित्रातनयत्वादित्यत्र शाकपाकजत्वम्, न ह्युद्भूतरूपवत्त्वं प्रत्यक्षत्वव्यापकम् आत्मनि गुणकर्म्मादौ च प्रत्यक्षे तदभावात्, नापि शाकपाकजत्वं श्यामत्वव्यापकम् काककोकिलजलदजम्बूफलादौ श्यामे तदभावादिति चेन्न पर्य्यवसितसाध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वस्य तथा विवक्षितत्वात् । पर्य्यवसितञ्च साध्यं यद्धर्मावच्छेदेनोपाधेर्व्यापकत्वमभग्नं तद्धर्मावच्छिन्नम्, प्रकृते बहिर्द्रव्यत्वावच्छेदेन प्रत्यक्षत्वस्योद्भूतरूपवत्त्वं व्यापकम्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां गृहीतम्, औत्पत्तिकनरश्यामत्वावच्छिन्नं साध्यं प्रति चरकसुश्रुतादौ शाकपाकजत्वस्य व्यापकत्वाव-

---

(पूर्वपक्षी के मत से उक्त उपाधि लक्षण में दोष दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—उपर्युक्त उपाधि का लक्षण केवल साध्यव्यापक उपाधि में न जायगा, जैसे 'वायु प्रत्यक्ष है, प्रत्यक्ष स्पर्श का आश्रय होने से' इस अनुमान में उद्भूतरूप की अधिकरणतारूप उपाधि, क्योंकि आत्मा मानसप्रत्यक्ष तथा रूपादि गुण भी प्रत्यक्ष हैं किन्तु उनमें उद्भूतरूप नहीं है। (यदि पक्षधर्म वायु की बहिर्द्रव्यतायुक्त प्रत्यक्षत्व साध्य की व्यापकता लें तो आत्मा तथा रूपादिकों में बहिर्द्रव्यता न होने से उक्त स्थल में दोष न होगा तथापि शंकरमिश्र कहते हैं कि)—'वह, श्याम वर्ण है, मित्रा का पुत्र होने से' इस अनुमान में शाकपाकजता' (साग खाने से उत्पन्न होना) (दोनों उक्त अनुमानों में उपाधि में साध्यव्यापकता नहीं है यह आगे दिखाते हैं कि)—प्रथम अनुमान में उद्भूत-आश्रयता प्रत्यक्षतारूपसाध्य का व्यापक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष होने वाले आत्मा तथा गुण, और कर्मादिकों में उद्भूतरूपगुण नहीं है, तथा द्वितीय अनुमान में शाकपाकजतारूप उपाधि श्यामतारूप साध्य का व्यापक नहीं है। क्योंकि काक(कौआ), कोकिल (कोयल), मेघ, जम्बू (जामुन) फल आदि श्यामवर्णवाले पदार्थों में शाकपाकजत्व नहीं है (तस्मात् सिद्धान्ति मत से उपाधिलक्षण युक्त नहीं है)। (इस पूर्वपक्षका समाधान शंकरमिश्र ऐसा करते हैं कि)—पर्यवसिता (एकाधिकरणतासम्बन्ध से किसी एक धर्मविशेष से विशिष्ट) साध्य का व्यापक होकर साधन का अव्यापक होना उपाधि शब्द से विवक्षित है। पर्यवसित (पर्यवसान में सिद्ध) साध्य वह होता है जिस धर्म से युक्त होने के कारण उपाधि की साध्यव्यापकता का भंग न हो उस धर्म से विशिष्ट साध्य होना, प्रस्तुत में वायु के प्रदर्शित अनुमान में बहिर्द्रव्यतारूप वायुपक्ष के धर्म को विशेषण लेकर 'बहिर्द्रव्यता-विशिष्ट प्रत्यक्षता' का उद्भूतरूप गुण का आधार होना अन्वय तथा व्यतिरेक (जो २ बहिर्द्रव्य प्रत्यक्ष होते हैं उनमें उद्भूतरूप का होना, तथा जो-जो बहिर्द्रव्य प्रत्यक्ष नहीं होते उनमें उद्भूतरूप का नहीं होना) से गृहीत है, एवं उत्पत्ति से मनुष्यों की श्यामता से युक्त श्यामगुण में शाकपाकजत्व

धारणादेवमन्यत्राप्यूह्यम्। ननु नायमुपाधिपदवाच्यः, यद्धर्मोऽन्यत्र भासते स उपाधिः यथा स्फटिकादौ जवाकुसुमादि विषमव्याप्तोपाधौ च व्याप्यत्वाभावात्तद्धर्मस्य साधनाभिमतेऽनवभासनादिति चेत्, सत्यम् समव्याप्त एवार्द्रेन्धनप्रभववह्निमत्त्वादौ मुख्य उपाधिपदप्रयोगः, अन्यत्र तु गौणः। गुणश्च व्यभिचारोन्नायकत्वम्, यद्धि यद्व्यापकव्यभिचारि तस्य तद्व्यभिचारित्वनियमात् भवति च साध्यव्यापकस्योपाधेर्व्यभिचारि साधनम्, अतः साध्यव्यभिचारीति।

प्रयोजक उपाधि की साध्यव्यापकता चरक-सुश्रुत आदि वैद्यकग्रन्थों में प्रमाणित जानना (इसी प्रकार 'ध्वंस, विनाशी है जन्य होने से' इस अनुमान में भावत्व उपाधि भी जान लेना चाहिये)॥

(शंकरमिश्र "उक्त उपाधिरूप में साध्य के समनियत (समान आश्रय में रहने वाला) ही उपाधि शब्द का अर्थ होता है न कि साध्य का व्यापक, क्योंकि अतिरिक्त धर्मी के भ्रम ज्ञान के विषय धर्म की आधारता ही उपाधि शब्द के प्रवृत्ति का (निमित्त) विषय होने से लोक में उपाधि शब्द का प्रयोग होता है (जैसे स्फटिक रक्त न होने पर भी रक्त द्रव्य के समीप होने से स्फटिक रक्त है इत्याकारक भ्रमात्मक ज्ञान का विषय रक्तता के आश्रय पुष्प को स्फटिक की रक्तता ज्ञान की उपाधि है ऐसा लोक में व्यवहार होता है) ऐसा होने से साधन में आरोपित की हुई साध्य की व्याप्ति का जो आधार हो उसी को उपाधि मानना उचित है" ऐसी शंका पूर्वपक्षिमत से दिखाते हैं कि)—"साध्यव्यापक तथा साधनाव्यापक यह उपाधि शब्द का अर्थ नहीं है किन्तु जिसका धर्म अन्य पदार्थ में प्रतीत होता है, वह उपाधि कहाता है, जिस प्रकार स्फटिकादि श्वेत मणि में रक्त जपापुष्पादिक की रक्तता तथा विषय व्याप्ति वाले उपाधि में व्याप्यता न होने से उस उपाधि का धर्म-साधन में प्रतीति भी नहीं होती" (ऐसी शंका का उत्तर शंकरमिश्र देते हैं कि)—पूर्वपक्षी का कहना सत्य है क्योंकि समान व्याप्ति वाले आर्द्रइन्धन से उत्पन्न वह्निमत्ता आदि में ही मुख्य उपाधि पद का प्रयोग है। विषमव्याप्त उपाधि में उपाधि पद का प्रयोग गौण है। वह गुण है व्यभिचार को उठाना 'जनाना, क्योंकि' जो 'जिसके व्यापक का व्यभिचारी होता है वह उसका व्यभिचारी होता है' यह नियम है। साध्य (धूम) के व्यापक (आर्द्रेन्धनसंयोग) रूप उपाधि का वह्निरूप साधन व्यभिचारी होता है, अतः धूमरूप साध्य का व्यभिचारी है ऐसा (उपाधि से व्यभिचारज्ञान 'धूमवान् वह्नेः' इस अनुमान में वह्निहेतु में) व्यभिचारानुमान होता है। (इसी प्रकार 'पूर्वोक्त वायु प्रत्यक्ष है प्रत्यक्ष स्पर्शाधार होने से' इस अनुमान में प्रत्यक्ष स्पर्शाश्रयत्वहेतु प्रत्यक्षत्व साध्य का व्यभिचारी है बाह्य द्रव्य में उद्भूत रूप का व्यभिचारी होने से, प्रमेयत्व के समान, और 'स श्यामः' में इत्यादि पूर्वोक्त अनुमान में मित्रातनयत्वहेतु श्यामतासाध्य का व्यभिचारी है मित्रातनय में शाकपाकजता व्यभिचारी होने से द्रव्यत्व के समान, इस प्रकार व्यभिचारज्ञान हेतु में

यद्व्यापकाव्याप्यं यत् तत् तदव्याप्यम् इति व्याप्यत्वासिद्ध्युन्नायकत्वं वा। सत्प्रतिपक्षोत्थापकत्वं वा पक्षे उपाधेः साध्यव्यापकस्याभावात् साध्याभावसाधनात्। तदुक्तं—

वाद्युक्तसाध्यनियमच्युतोऽपि कथकैरुपाधिरुद्भाव्यः।
पर्य्यवसितं नियमयन् दूषकताबीजसाम्यात्॥ इति।

उन्नीयते चायं बाधव्यभिचारानुकूलतर्काभावप्रतिकूलतर्कैः। यत्तु यद्व्यभिचारित्वेन साधनस्य साध्यव्यभिचारित्वं स उपाधिरिति। तत्र तृतीया न करणे न

होता है)। (व्यभिचार के समान उपाधिज्ञान से हेतु में व्याप्त्वासिद्धि का ज्ञान भी उपाधिज्ञान का फल हो सकता है इस आशय से शंकरमिश्र द्वितीय पक्ष दिखाते हैं कि)—जो वह्नि जिसके (आर्द्रेंधन-संयोग के) व्यापक (धूम) का व्याप्य नहीं होता, वह (वह्नि) उस (धूम) का व्याप्य नहीं होता इस प्रकार वह्नि हेतु में व्याप्यत्वासिद्धि दोष का आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधि के ज्ञान से उद्भावन हो सकता है। अथवा पक्ष (पर्वत) में धूमसाध्य के व्यापक आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधि के न रहने से साध्य (धूम) के अभाव की सिद्धि होने से (पर्वत धूमवान् नहीं है धूम व्यापक आर्द्रेन्धनसंयोग न होने से) इस प्रकार सत्प्रतिपक्ष (विरुद्ध अनुमान) का भी ज्ञान होना उपाधिज्ञान का फल हो सकता है। इसी कारण प्राचीन नैयादिकों ने कहा है—वादी के कहे हुए साध्य के नियम (व्याप्ति) से रहित होने वाले भी उपाधि की कथा करने वाले वादियों ने हेतु में उपाधि का उद्भावन (प्रकाशन) करना चाहिये, जो उपाधि-दूषकता का बीज समान होने से पर्यवसित जो (व्यभिचारादि ज्ञान होने में समाप्त होता हो) नियमित करता है। और इसी कारण यह उपाधि-बाध, व्यभिचार, अनुकूल तर्क का न होना, तथा प्रतिकूल तर्कों से जाना जाता है। जैसे 'वह्नि उष्ण नहीं है कार्य होने से' इस अनुमानमें पक्ष (वह्नि से) इतर (भिन्न) होना रूप उपाधि प्रत्यक्ष वह्नि की उष्णता के बाध से जाना जाता है 'धूमवान् है वह्निमान् होने से' इस अनुमान में आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधि का व्यभिचार दोष से ज्ञान होता है। तथा पूर्वोक्त 'वायु प्रत्यक्ष है' इस अनुमान में उद्भूत रूप उपाधि वायु की प्रत्यक्षता में अनुकूल तर्क के न होने से जाना जाता है। एवं 'ध्वंस विनाशी है' इस अनुमान से विनाशिता सिद्ध करने में घट के पुनः प्रकार होने की आपत्तिरूप प्रतिकूल तर्क से भावत्व रूप उपाधि जाना जाता है।

(आगे चिन्तामणि ग्रन्थकार गंगेशोपाध्याय के उपाधिलक्षण को दिखाकर खंडन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—'जिसकी व्यभिचारिता से हेतु में साध्य की व्यभिचारिता हो वह उपाधि कहाता है' ऐसा गंगेशोपाध्याय कहते हैं। इस लक्षण में 'यद्व्यभिचारित्वेन' इस पद में तृतीया विभक्ति का अर्थ करण नहीं हो सकता, (क्योंकि

हेतौ न प्रकारे न लक्षणे। न च यद्व्यभिचारित्वेन ज्ञातेन साधनस्य साध्यव्यभिचारित्वं ज्ञायते इति पूरणीयम् अज्ञायमानोपाध्यव्यापनात् स्फुटव्यभिचारस्थलोपाध्यव्यापनात्। योग्यतागर्भा तु दुर्निरूपा, व्यभिचारोन्नायकत्वमव्यवस्थाप्य उपाध्युद्भावनाशक्यत्वाच्च। पक्षेतरत्वन्तु उपाधिलक्षणाक्रान्तमपि स्वव्याघा-

---

साध्य की व्यभिचारिता (व्यभिचार) यदि समवायादिरूप हो तो समवाय के नित्य होने से तथा संयोगादिरूप हो तो भी उपाधि की व्यभिचारिता संयोग का उत्पादक नहीं है तथा संयोगजनक कोई उसका व्यापार भी नहीं है अतः करण पक्ष अयुक्त हैं) तथा हेतुरूप अर्थ भी उक्त तृतीया विभक्ति का नहीं हो सकता (क्योंकि हेतु शब्द का अर्थ ज्ञापक (जनाने वाला) अथवा कारक (करने वाला) दोनों पक्षों में उपाधि व्यभिचार में ज्ञापकता न होने से, तथा नित्यसमवायादि सम्बन्धरूप व्यभिचार के कारण न होने से भी तृतीया का हेतु ऐसा अर्थ नहीं हो सकता) एवं प्रकार भी तृतीयार्थ नहीं हो सकता (क्योंकि प्रकारतारूप तृतीया के अर्थ का व्यभिचारादि रूप निर्विषयक (विषय रहित) पदार्थ में अन्वय नहीं हो सकता) तथा लक्षण में उक्त तृतीया विभक्ति नहीं हो सकती (क्योंकि लक्षण शब्द का अर्थ है व्यावर्तक (भेद करने वाला) वह व्यावर्तक धर्म विशेषण तथा उपलक्षण दो प्रकार का होता है। जिसमें विद्यमान होता हुआ व्यावर्तक 'धर्म' विशेषण होता है जैसे 'दण्डी पुरुषः' इसमें पुरुष का दण्ड आदि विशेषण उसमें वर्तमान होता हुआ दण्डसहित पुरुष से भेद करता है। न रहता हुआ भेदक धर्म उपलक्षण होता है, जैसे तापसी (मुनि) का पूर्वकाल में वर्तमान जटा-कमंडलु आदि उत्तरकाल में न रहता हुआ भी तापसी से भिन्न पुरुषों का भेदक होता है। दोनों प्रकार से प्रस्तुत में व्यावर्तकता नहीं हो सकती, क्योंकि साधन में वर्तमान उपाधिता में साध्यव्यभिचारित्वरूप विशेष्यता के नियामक धर्म का सामानाधिकरण्य नहीं है, अतः उक्त लक्षण में तृतीया विभक्ति नहीं हो सकती। शंकरमिश्र कहते हैं कि इस दोष के वारणार्थ जिस उपाधि के साधन (वह्नि) में व्यभिचार ज्ञान होने से साधन (वह्नि) में साध्य (धूम) का व्यभिचार जाना जाय (उसे आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि कहते हैं। ऐसे उपाधिलक्षण में पूर्ति भी नहीं की जा सकती, क्योंकि रहने पर भी जाने हुए उपाधि में इस लक्षण की अव्याप्ति, तथा जहाँ अतिस्पष्ट उपाधि है वहाँ उसके ज्ञान की आवश्यकता न होने से भी उक्त दोष हो जायगा। यदि इन दोनों में उपाधिलक्षण की योग्यता है अतः ऐसे लक्षण वाले उपाधि की योग्यता ही ऐसा योग्यताघटित लक्षण करें तो उसका निरूपण नहीं हो सकता, तथा यह उपाधि व्यभिचार के उद्भावन में समर्थ है यह स्थापन किये बिना उपाधि का उद्भावन (प्रकट करना) भी अशक्य है।

पक्ष से भिन्न होना (जैसे वह्नि से भिन्नता वह्नि उष्ण नहीं है कार्य होने से

तकत्वान्नोपाधिः यथा पक्षे सन्दिग्धानैकान्तिकत्वम्। यदि हि तत्र न सन्देहस्तदा न पक्षता, यदि पक्षता तदा सन्देहस्यावश्यकता सन्दिग्धानैकान्तिकत्वध्रौव्यात्। अवशिष्टं मयूखेऽन्वेष्टव्यम् ॥ १४ ॥

इदानीं वृत्तानां वर्त्तिष्यमाणानाञ्च हेतूनां हेत्वाभासाद्विवेकाय हेत्वाभासप्रकरणमारभमाण आह—

अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ॥ १५ ॥

अप्रसिद्ध इति। अव्याप्तोऽगृहीतव्याप्तिको विपरीतव्याप्तिकश्च विरुद्धः।

इस अनुमान में अनुष्णता साध्य का वह्नितरत्व जलादिकों में व्यापक है, तथा वह्नि में वह्नीतरता न होने से कार्यता का अव्यापक भी है इस प्रकार उपाधिलक्षण से युक्त होने पर भी अपना ही व्याघात करने से उपाधि सर्वत्र नहीं हो सकती, क्योंकि उदाहरण प्रत्यक्ष अग्नि में अनुष्णता का बाध होने से वह्नीतरत्व उपाधि है किन्तु 'पर्वत वह्निमान् है' इत्यादि अनुमान में पर्वत से भिन्नता उपाधि होने से पक्ष में संदिग्ध व्यभिचारिता के समान अपना ही घात करेगी क्योंकि यदि पर्वतपक्ष में वह्नि का संशय न हो तो वहां पक्षता न होगी (अर्थात् संदिग्ध साध्यवान् पक्ष होता है यह पक्ष-लक्षण न आवेगा) और यदि पक्षता हो तो संशय आवश्यक होने से संदिग्ध व्यभिचार दोष धूमादि सद्धेतुओं में अवश्य ही रहेगा (अर्थात् पक्षेतरता मात्र को उपाधि मानें तो उसका सर्वअनुमानों में सम्भव होने से सम्पूर्ण अनुमानों का ही उच्छेद हो जायगा अतः संदिग्धानैकान्तिकता के समान वह दूषक नहीं हो सकता) शंकरमिश्र कहते हैं कि इससे इस विषय का विस्तार मेरे किये मयूख नामक ग्रंथ में देखना चाहिये ॥ १४ ॥

साम्प्रत कहे हुए तथा आगे कहे जाने वाले सद्धेतुओं का दुष्ट हेतुओं से पृथक् ज्ञान होने के लिये हेत्वाभास का प्रकरण आरम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अप्रसिद्धः = असिद्ध (हेतु), अनपदेशः = दुष्ट होता है, असन् = पक्ष में अवर्तमान, सन्दिग्धः च = और सन्दिग्ध भी हेतु, अनपदेशः=दुष्ट होता है ॥१५॥

भावार्थ—जिसमें व्याप्तिज्ञान न हो तथा विपरीत व्याप्तिज्ञान हो ऐसा अप्रसिद्ध नामक १, एवं (असन्) पक्ष में न रहनेवाला २, तथा पक्ष में साध्य की सत्ता तथा असत्ता दोनों कोटि के संशय को उत्पन्न करने वाला संदिग्ध ३, इस प्रकार कणाद-मत में तीन ही दुष्ट हेतु होते हैं। इस सूत्र में प्रथम अनपदेश शब्द हेत्वाभास सामान्य लक्षण की सूचना के लिये है जो आगे दिखाये जायेंगे। अथवा गौण दूसरे हेत्वाभासों को दिखाने के लिये है, वे भी आगे दिखाये जायेंगे इसी कारण कण्ठ से उसका विचार छोड़कर शंकरमिश्र ने अप्रसिद्ध इत्यादिना व्याख्या की है ॥ १५ ॥

उपस्कार—अप्रसिद्ध इस सूत्रोक्त हेत्वाभास से जिसमें व्याप्तिज्ञान न हुआ

एतेन व्याप्यत्वासिद्धविरुद्धयोः संग्रहः। असन् इति। पक्षेऽसन् अपक्षधर्म इत्यर्थः। स च क्वचित् स्वरूपविरहात् क्वचित् सन्देहसिषाधयिषयोरभावात्। सिद्धसाधने। सन्दिग्ध इति। पक्षे साध्यसदसत्त्वकोटिकसंशयजनकः। स च संशयः समानधर्मदर्शनात् क्वचिदसाधारणधर्मदर्शनात् क्वचित् पक्ष एव हेतोः

हो, अथवा विपरीत व्याप्तिज्ञान हुआ हो ऐसा विरुद्ध नामक दुष्ट हेतु लेना। इससे (अप्रसिद्ध से) व्याप्यत्वासिद्धतथा विरुद्धदुष्ट हेतुओं का संग्रह होता है। (हेतु में व्याप्तिज्ञान का विरह रूप व्याप्तित्वासिद्धि दोष जिसमें हो उसे व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं। अर्थात् जिस रूप से निरूपित विषयवाला निश्चय (धूम के अभाव के अधिकरण अयःपिण्ड में वह्नि रहता है यह निश्चय) वह्निहेतुक धूमसाध्य के व्याप्तिज्ञान (धूम के अभाव के आश्रय में वह्नि नहीं रहता) इसके प्रतिबन्धकता से भिन्न में नहीं है अतः इस रूप से युक्त वह्नि है यह जान लेना चाहिये। यह साधारण हेतु के समान असिद्ध हो जायगा ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि यह इष्ट ही है, असिद्धि आदि दोषों को लेकर ही हेत्वाभासों का विभाग किया है साधारणादि दोष से निरूपित न होने रूप से उक्त विषयता का निवेश होने से भी दोषों में परस्पर ऐक्य नहीं हो सकता। अर्थात् साध्य की तथा हेतु की असिद्धि उक्त लक्षण में आ जाती है। हेतु के अधिकरण में वर्तमान अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिता के अनियामक साध्याभावत्ववान् होना विरोध दोष है इस दोष वाले हेतु को विरुद्ध कहते हैं, उक्त व्याप्यत्वासिद्धि तथा विरोध, दोनों में से अन्यतरत्व एक इस धर्म से अप्रसिद्ध शब्द का अनुगत अर्थ जानना। (शंकरमिश्र सूत्र के 'असन्' शब्द का अर्थ करते हैं कि)—पक्ष में न रहनेवाले हेतु को 'असन्' अर्थात् अपक्षधर्म (पक्ष में न रहनेवाला) कहते हैं यह सूत्र का अर्थ है। और वह असन् दुष्ट हेतु कहीं स्वरूप के न होने से तथा कहीं-कहीं सन्देह तथा 'सिषाधयिषा' अनुमिति से सिद्ध करने की इच्छा न होने से सिद्ध के साधन करने में होता है। (पक्ष में हेतु के न रहने से स्वरूपासिद्धि अथवा पक्षतानियामक धर्म पक्ष में न होने से आश्रयासिद्धि दोष होता है। और पक्ष में सन्देह तथा सिषाधयिषा दोनों रूप की पक्षता न होने से सिद्ध-साधन दोष भी होता है, उक्त असिद्धि दोष वाला हेतु असिद्ध होता है (अर्थात् आश्रयासिद्धि आदि दोषों में कोई दोष होना यह सामान्य असिद्ध का लक्षण है यह भी जानना चाहिये)। (तीसरे सन्दिग्ध नाम के सूत्रोक्त हेत्वाभास का वर्णन उपस्कार में करते हैं कि)—पक्ष में साध्य की वर्तमानता तथा अवर्तमानता दोनों भाग वाले सन्देह को उत्पन्न करने वाला सन्दिग्ध सव्यभिचार दुष्ट हेतु कहाता है। (प्रस्तुत पक्षधर्मी वाले साध्य तथा उसके अभाव के ज्ञान में वर्तमान सन्देह के प्रयोजक दोनों कोटियों से व्यावृत्त रूपवान् होना, सव्यभिचारता है, वह रूप व्यभिचारी हेतु में साध्य

साध्यतदभावसाहचर्य्यदर्शनात्। आद्यः साधारणानैकान्तिकः। द्वितीयस्त्वसाधारणानैकान्तिकः। तृतीयोऽनुपसंहारी ॥ १५ ॥

तत्र व्याप्यत्वासिद्धविरुद्धस्वरूपासिद्धानामुदाहरणमाह—

यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः ॥ १६ ॥

तथा उसके अभाव के साथ मे रहता है, और सत्प्रतिपक्ष में विरोधी परामर्श ज्ञान काल के दूसरे परामर्श ज्ञान की विषयता होती है। यहाँ पर दोनों कोटि से व्यावृत्त होना' इससे दूसरा प्रयोजन नहीं है यह सूचित होता है। अतः कोटिद्वय में अतिव्याप्ति दोष न होगा, इसी कारण 'सत्प्रतिपक्ष भी व्यभिचारादिक में ही पर्यवसित (निश्चित होता है' ऐसा आगे शंकरमिश्र कहेंगे। साधारणादि भेद इस सन्दिग्ध दुष्टहेतु के भेद आगे कहे जायेंगे।) (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—उक्त संदिग्ध नामक हेत्वाभास में वह संशय कुछ स्थलों में समानधर्म के दर्शन से तथा कुछ स्थलों में असाधारण (विशेष) धर्म के दर्शन से तथा कहीं-कहीं पक्ष में ही हेतु के साध्य तथा उसके अभाव का साथ में रहना देखने से होता है। (यद्यपि साध्यसंदेह युक्त विषय होनेवाला अनुपसंहारी साध्य तथा साध्याभाव उभय कोटि वाले संशय का उत्पादक नहीं है तथापि पक्ष को लेकर साध्य तथा उसके अभाव का सहचारी होने से जाना हुआ ही संशय को उत्पन्न करता है, इसलिये अनुपसंहारी में अव्याप्ति दोष न होगा इसी आशय से शंकरमिश्र ने उपर्युक्त 'पक्ष एव' पक्ष ही में यह तीसरा कल्प कहा है) अर्थात् जिस रूप से संशयजनकता हो वही विभाग करता है यह नियम नहीं है यह उनका तात्पर्य है। (उक्त तीन प्रकार के सन्देहजनकों का क्रम से नामनिर्देश करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—जिनमें प्रथम का नाम है साधारण अनैकान्तिक, द्वितीय है, असाधारण अनैकान्तिक तथा तृतीय का नाम है अनुपसंहारी ॥ १५ ॥

उनमें से व्याप्यत्वासिद्ध, विरुद्ध तथा स्वरूपासिद्ध ऐसे तीन दुष्टहेतुओं का उदाहरण सूत्र में देते हैं—

पदपदार्थ—यस्मात् = जिस कारण, विषाणी = शृङ्गवाला है, तस्मात् = इस कारण, अश्वः = अश्व है ॥ १६ ॥

भावार्थ—रासभ को देखकर यह 'अश्व है, शृंगवान् होने से' ऐसा जो पुरुष मोह से अनुमान करता है यह समझ कर कि 'जो अश्व नहीं होता वह शृङ्गवाला नहीं होता' इस अनुमान में व्याप्यत्वासिद्धि अश्वता तथा शृङ्गवत्ता को व्याप्ति न होना तथा अश्व मे शृंगवत्तास्वरूप की असिद्धि एवं अश्वतारहित गो आदि में शृङ्ग होने से विरोध भी होने से यह शृङ्गवत्ता हेतु व्याप्यत्वासिद्ध, स्वरूपासिद्ध एवं विरुद्ध नामक भी दुष्टहेतु है ॥ १६ ॥

यत्र रासभपिण्डं पक्षीकृत्यायमसावश्वः विषाणित्वात् यस्तु नाश्वो नासौ विषाणो, यथा शशशृगालनरवानरादिरिति व्यतिरेकसहचारदर्शनाहितव्यामोहः प्रयुङ्क्ते। तत्र व्याप्यत्वासिद्धस्वरूपासिद्धविरुद्धानामुदाहरणमिदम् ॥ १६ ॥

अनैकान्तिकमुदाहरति—

यस्माद्विषाणी तस्माद् गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम् ॥१७॥

यत्र महिषं पक्षयित्वा अयं गौर्विषाणित्वादिति साधयति तत्र साधारणानैका-

---

उपस्कार—जिस स्थल में रासभ के शरीर को पक्ष (धर्मी) कर यह वह अश्व है शृंगवान् होने से, जो अश्व नहीं होता वह शृंगवान् नहीं होता, जैसे शश (ससा) शृगाल (सियार) मनुष्य वानर इत्यादि इस प्रकार के व्यतिरेक सहचार के दर्शन के मोह से प्रदर्शित अनुमान का प्रयोग करता है। उसमें व्याप्यत्वासिद्ध, स्वरूपासिद्ध तथा विरुद्ध का उदाहरण यह है ऐसा जानना ॥ १६ ॥

अनैकान्तिक का सूत्रकार उदाहरण देते हैं—

पदपदार्थ—यस्मात् = जिस कारण, विषाणी = शृंगवाला है, तस्मात् = इस कारण गोः = गो है, इति च=और यह, अनैकान्तिकस्य=अनैकान्तिक (व्यभिचार) का उदाहरण है ॥ १७ ॥

भावार्थ—जिस अनुमान में महिष को पक्ष को 'यह गो है, शृंगवान होने से' ऐसा कोई अनुमान से सिद्ध करता है उसमें साधारण नामक अनैकान्तिक दुष्टहेतु है। क्योंकि शृङ्गवत्ता गो के समान गोत्वाभावरूप साध्य के अनाधार महिष में भी रहती है ॥ १७ ॥

उपस्कार—जिस स्थल में महिष को पक्ष कर 'यह गो है, शृङ्गवान् होने से' ऐसा कोई अनुमान से सिद्ध करता है उसमें साधारण नामक अनैकान्तिक (व्यभिचार) दोष है। यहां साधारण आदि तीन अनैकान्तिकों में अन्यतम (कोई एक) का होना अनैकान्तिक का सामान्य लक्षण है। जिसमें से साध्य के अभाव के आधार में वर्तमान हेतु साधारण दुष्टहेतु होता है जैसे 'महिष गो है शृंगवान् होनेसे' इस अनुमान में गो से भिन्न में शृंगवत्ता होना, यह दुष्टहेतु व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्ध अनुमान में करता है। तथा संपूर्ण सपक्ष तथा विपक्ष में न रहने वाला असाधारण अनैकान्तिक होता है इस उभयव्यावृत्तताज्ञान के साध्य तथा उसके अभाव दोनों के साथ व्याप्तिज्ञान के प्रतिबन्धक होने के कारण दूषकता होती है। जैसे 'आकाश नित्य है, शब्दाश्रय होनेसे' इस अनुमान में आकाश का शब्दाश्रयत्वविशेषधर्म होने के कारण दृष्टान्त में व्याप्तिज्ञान न होने से व्याप्तिज्ञान को न करने से दुष्टहेतु है। एवं अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगि साध्य वाला हेतु अनुपसंहारी होता है, वह व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक होने से

न्तिकता। यदा त्वाकाशं नित्यं शब्दाश्रयत्वादिति साधयति तदाऽस्यासाधारणानैकान्तिकता एवं शब्दोऽनित्यः शब्दत्वादित्याद्यप्यगृह्यमाणदशायामसाधारणानैकान्तिकमेव, यदा तु विपक्षबाधकतर्कावतारात् पक्ष एव साध्यं सिध्येत् तदा सपक्षवृत्तिताज्ञानदशायां सद्धेतुरेव पक्षस्यापि सपक्षत्वात्। तत्र व्याप्तपक्षधर्मतयाऽप्रमितोऽसिद्धः। स च त्रिविधः व्याप्यत्वासिद्धः स्वरूपासिद्धः आश्रयासिद्धश्च। तत्रागृहीतव्याप्तिको व्याप्यत्वासिद्धः, सत्या एव व्याप्तेरग्रहात् व्याप्तेरभावाच्च उभयथापि। तेनानुकूलतर्काभावादयोऽसिद्धभेदाः। स चायमसमर्थविशेषणा-समर्थविशेष्या - समर्थोभय - संदिग्धासमर्थविशेषण—सन्दिग्धासमर्थ-

---

दूषण करता है, जैसे 'गो ज्ञानविषय है शृङ्गवान् होने से' इस अनुमान में ज्ञान विषय न होने वाला कोई पदार्थ न होने से व्यतिरेक व्याप्तिज्ञान न होने से साध्यसाधक नहीं होने के कारण दूषक है।) (आगे असाधारण दुष्टहेतु का लक्षण शंकरमिश्र कहते हैं कि)—यदि 'आकाश नित्य है, शब्दाश्रय होने से' ऐसा अनुमान किया जाता है तब असाधारण अनैकान्तिकता दोष होता है। एवं 'शब्द अनित्य है, शब्दत्वजातिमान् होने से' इत्यादिक अनुमान भी शब्दत्व के आकाश से भिन्न में न होने के कारण व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता तब वह असाधारण अनैकान्तिक ही होता है, और यदि शब्द में नित्यता में बाधक तर्क के होने से शब्दरूप पक्ष ही में अनित्यता साध्य सिद्ध हो तो सपक्षशब्द ही है उसमें शब्दत्व के रहने के ज्ञान के समय शब्दत्व हेतु भी सद्धेतु ही है, क्योंकि शब्दरूप पक्ष ही सपक्ष है। 'अप्रसिद्धः' इस सूत्र में व्याप्तिविशिष्टपक्ष में वर्तमानरूप से न जाना हुआ हेतु अप्रसिद्ध होता है। (यहां पर आश्रयासिद्धि आदि तीन असिद्धियों में अन्यतम कोई एक (यह असिद्धि का सामान्यलक्षण जानना)।

और वह असिद्ध व्याप्यत्वासिद्ध १, स्वरूपासिद्ध २, आश्रयासिद्ध ३, ऐसा तीन प्रकार है।

उन तीनों में से जिसमें व्याप्ति का ज्ञान न हुआ हो उसे (अगृहीतव्याप्तिक) व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं। व्याप्ति के रहने पर उसके ग्रहण न होने से, तथा व्याप्ति के न रहने से इस प्रकार दोनों प्रकार से होना है। इससे अनुकूल तर्क का न होना इत्यादि भी असिद्ध में भेद है यह सिद्ध होता है। इसके भी विशेषणों का असमर्थ होना, विशेष्य का समर्थ होना, विशेषण तथा विशेष्य दोनों का असमर्थ होना, तथा संदिग्ध (संशययुक्त) असमर्थ विशेषण, सन्दिग्ध असमर्थ विशेष्य एवं सन्दिग्ध असमर्थ विशेषण तथा विशेष्य उभय, इत्यादि भेद से सहस्रधा (हजारों) भेद हो सकते हैं। इन सम्पूर्णों में हेतु का सिद्ध न होना ही शास्त्रार्थ में उद्भावन (प्रकट) किया जाता है।

विशेष्य-सन्दिग्धासमर्थोभय-भेदप्रपञ्चेन सहस्रधा भिद्यते । सर्वत्र चात्र सिद्धिविरह एवोद्भाव्यः ।

अत्रेदं तत्त्वम्। हेतुस्तावत् केवलान्वय्यन्वयव्यतिरेकिकेवलव्यतिरेकिभेदात्त्रिविधः। तत्र सर्वधर्मिगतो धर्मः केवलान्वयी, यथा प्रमेयत्वा-भिधेयत्व-विशेष्यत्व-विशेषणत्व-नित्यद्रव्यात्यान्ताभावा-श्रयनाश्यगुणादिध्वंसात्यन्ताभावादयः। नह्यस्ति तादृशं किञ्चित्, यत्रैते धर्मा न विद्यन्ते। तथा च सर्वगतत्वम् अत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं वा केवलान्वयित्वम् । एतेषाञ्च स्वात्मवृत्तित्वेऽपि न दोषः तदुक्तम्—

प्रमाणं शरणं वृत्तौ न भिन्नाभिन्नते यतः । इति ।

केवलान्वयिसाध्यको हेतुः केवलान्वयी । अस्य च पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वाबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वानि चत्वारि रूपाणि गमकत्वौपयिकानि । अन्वयव्यतिरेकिणस्तु हेतोर्विपक्षासत्त्वेन सह पञ्च केवलव्यतिरेकिणः सपक्षसत्त्वव्यतिरेकेण

यहाँ पर यह वास्तविक तात्पर्य है कि सद्धेतु १, केवलान्वयी २ केवलव्यतिरेकी, ३ अन्वयव्यतिरेकी इस भेद से तीन प्रकार का है। उनमें संपूर्ण पदार्थों में वर्तमान हेतु केवलान्वयी होता है, जैसे प्रमेयत्व (ज्ञानविषयता) अभिधेयत्व (शब्द से वाच्य होना), विशेष्यता (विशेष्य) होना, विशेषणता (विशेषण होना), नित्य द्रव्यों का अत्यन्ताभाव, आश्रय के नाश से नष्ट होने वाले गुणादिकों का ध्वंस (नाश) अत्यन्ताभाव इत्यादि तथा संयोगाभाव यह सम्पूर्ण केवलान्वयी है क्योंकि ऐसा कोई नहीं है जिसमें यह प्रमेयत्वादि धर्म न रहते हों। इस कारण सर्वपदार्थों में रहना, अथवा अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी न होना यह केवलान्वयित्व का अर्थ है। (जो जहाँ रहता है वह उससे भिन्न होता है जैसे घट और उसके रूपादि गुण इस व्याप्ति से प्रमेयत्व धर्म अपने रहने से स्वभिन्न (अपने से भिन्न) हो जायगा ऐसा दोष पूर्वपक्षी दे सकता है जिसके परिहारार्थ शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—इन प्रमेयत्वादि धर्मों के अपने में रहने पर कोई दोष न होगा, क्योंकि इसी कारण वृद्ध नैयायिकादि विद्वानों ने कहा है कि वृत्तिता में (रहने में) प्रमाण ही शरण (नियामक) है, क्योंकि भेद और अभेद, वृत्तिता में नियामक नहीं होते (अर्थात् वृत्तिता प्रमाण से जानी जाती है न कि भेद और अभेद से)। केवल अन्वयव्याप्ति वाले साध्य का साधक हेतु केवलान्वयी होता है। इसके पक्षसत्त्व (पक्ष में रहना) १, सपक्षसत्त्व (निश्चित साध्यवाले में रहना) २, अबाधितत्व (बाध न होना ३, असत्प्रतिपक्षितत्व तथा (विरोधी अनुमान का न होना) ४, ऐसे चार रूप साध्य की साधकता में हेतु के उपर्युक्त सहायक रूप हैं। और अन्वयव्यतिरेकी हेतु के विपक्ष (निश्चित साध्याभाव वाले) में अवृत्तिता (न रहना) के साथ उपर्युक्त चार ऐसे पाँच रूप हेतु से साध्यसिद्धि करने में सहायक होते हैं, केवल व्यतिरेकि हेतु के उप

चत्वारि। तथाच यस्य हेतोर्यावन्ति रूपाणि गमकतौपयिकानि तदन्यतररूपहीनः स हेतुराभासः। एवञ्च गमकतौपयिकान्यतररूपशून्यत्वं हेत्वाभासत्वम्, तेनान्यतररूपशून्यत्वस्य निश्चयवत्सन्देहोऽप्यनुमितिप्रतिबन्धकः वादिहेतोरसाधकतासाधकञ्च। न च केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोर्हेत्वोरन्यतररूपशून्यतया हेत्वाभासत्वापत्तिः, केवलान्वयिनि विपक्षासत्त्वस्य केवलव्यतिरेकिणि सपक्षसत्त्वस्य गमकत्वौपयिकत्वाभावात्। एवञ्चाश्रयासिद्धस्वरूपासिद्धभागासिद्धानां पक्षसत्त्वरूपविरहादाभासत्वम्। व्याप्यत्वासिद्धविरुद्धसाधारणानैकान्तिकानां विपक्षासत्त्वरूपवैकल्यात्। असाधारणानैकान्तिकानुपसंहारिणोः सपक्ष-

---

पांच रूपों में से सपक्षसत्त्व रूप को छोड़कर अवशिष्ट चार रूप साध्यसाधन करने में सहायक होते हैं। (इसमें अन्वयसहचार ज्ञान के बिना भी अनुमान होता है यह पूर्वग्रन्थ में दिखा चुके हैं।) ऐसा होने से जिस हेतु के जितने प्रदर्शित रूप साध्य की सिद्धि करने में सहायक हों उनमें से किसी एक रूप का न होना ही हेतु की दुष्टता का प्रयोजक है। ऐसा होने से साध्यसाधक रूपों में से किसी एक रूप का न होना ही सामान्य दुष्ट हेतु का लक्षण है यह सिद्ध होता है, और उक्त रूपों में से किसी रूप के न रहने के निश्चय के समान उसका संशय भी अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है, तथा वादी के दिये हेतु में साध्य के साधन करने का सामर्थ्य नहीं है यह भी सिद्ध होता है।

यहाँ पर 'केवलान्वयी तथा केवल व्यतिरेकी इन दोनों सद्धेतुओं में उक्त पाँच रूपों में से प्रथम हेतु में विपक्षासत्त्व तथा द्वितीय में सपक्षसत्त्व रूप न होने से ये दोनों सद्धेतु भी दुष्ट हेतु हो जायँगे' ऐसी शंका नहीं हो सकती, क्योंकि केवलान्वयी में विपक्षासत्त्व तथा केवल व्यतिरेकी सद्धेतु में सपक्षसत्तारूप हेतु साध्य की साधकता से साधक नहीं होते। (आगे प्रदर्शित रूपों की सत्ता से मुख्य तथा गौण हेत्वाभासों को शंकरमिश्र दिखाते हैं कि)—ऐसा होने से आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध-तथा असमर्थ विशेषणादि पूर्वप्रदर्शित भागासिद्ध ये पक्षसत्त्वरूप न होने से असिद्ध के अन्तर्गत हैं। (अर्थात् इनमें विपक्षासत्त्वादिकों का निश्चय न होने से हेत्वाभास व्यवहार होता है। इस प्रकार विपक्षासत्त्वादि ज्ञान के विरोधी गुणों का सम्बन्ध होने से व्यभिचारादिकों के समान सोपाधिता इत्यादिकों में भी दोषत्व है ऐसा प्राचीन नैयायिक कहते हैं। किन्तु सोपाधिता, अनुकूलतर्काभाव यह साक्षात् अनुमिति तथा परामर्श के प्रतिबन्धक न होने के कारण व्यभिचारप्रत्यक्ष के कारण इन्द्रियार्थसंनिकर्षादिकों के समान दूसरे का मुख देखने के कारण हेत्वाभास नहीं है ऐसा गंगेशोपाध्याय का मत है।) । (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—व्याप्यत्वासिद्ध, विरुद्ध तथा साधारण सव्यभिचार इन तीनों दुष्ट हेतुओं में सपक्षसत्त्वरूप न होने से हेत्वाभासता है। असाधारण तथा अनुपसंहारी इन दोनों अनैकान्तिक दुष्ट

सत्त्ववैकल्यात् । बाधितसत्प्रतिपक्षितयोरबाधितत्वासत्प्रतिपक्षितत्वविरहात् । एवं सोपाधिकत्वाप्रयोकजत्वयोरपि विपक्षासत्त्वनिश्चयाभावादगमकत्वम् । अनुकूलतर्काभावप्रतिकूलतर्कयोरपि विपक्षासत्त्वनिश्चयविरहात् । एवं साध्यविकलसाधनविकलोभयविकलदृष्टान्ताभासानां यदि हेत्वाभासविधया दोषत्वं तदा सपक्षसत्त्वानिश्चयात्, यदि स्वातन्त्र्येण दृष्टान्ताभासतया तथापि द्वारं हेतोः सपक्षसत्त्वानिश्चय एव । अनुपदर्शितान्वयानुपदर्शितव्यतिरेकविपरीतोपदर्शितान्वयविपरीतोपदर्शितव्यतिरेकास्तु न्यूना,-प्राप्तकाल-निग्रहस्थानपर्यवसन्ना एव आत्माश्रयान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थास्तु व्याप्तिनिश्चयं विघटयन्तः सपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वान्यतररूपविकला एव हेत्वाभासतामासादयन्ति । तत्र पक्षे साध्यसदसत्त्वकोटिकसंशयजनको हेत्वाभासः सव्यभिचारः । पक्षे साध्याभावनिश्चयफलको हेत्वाभासो विरुद्धः । व्याप्तिपक्षधर्मताप्रमितिविरहोऽसिद्धः । बाधसत्प्रतिपक्षौ तु काश्यपीये मते न स्वतन्त्रौ । तत्र बाध आश्रया-

---

हेतुओं को सपक्षसत्तारूप न होने के कारण दुष्टहेतुता है । बाधित तथा सत्प्रतिपक्षित इन दोनों में क्रम से अवाधितत्व तथा असत्प्रतिपक्षितहेतुता न होने से दुष्टहेतुता है । इसी प्रकार अनुकूल तर्क का न होना तथा प्रतिकूल तर्क का होना इन दोनों में विपक्षासत्त्व का निश्चय न होने के कारण गौण हेत्वाभासता है । इसी प्रकार साध्य से (विकल) रहित तथा साधन से विकल एवं उक्त दोनों से रहित दृष्टान्ताभासों (दुष्ट दृष्टान्तों) में यदि हेत्वाभासता के रूप से दोषता हो, तो सपक्ष में उस हेतु की सत्ताके निश्चय न होने से दोष होता है, और यदि स्वतन्त्रदृष्टांताभास के रूप से दोष हो तो उसमें भी सपक्ष में सत्ताका निश्चय न होने द्वारा ही दोषव्यवहार होता है । जिसमें अन्वयव्याप्ति को न दिखलाया जाय, जिसमें व्यतिरेकव्याप्ति न दिखाई जाय, जिसमें विपरीत अन्वयव्याप्ति तथा विपरीत व्यतिरेक व्याप्ति दिखाई हो ऐसे हेतु न्यून, अप्राप्तकाल, निग्रहस्थान में ही अन्तर्भूत होते हैं । आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्थारूप हेतु में दोष तो व्याप्ति-निश्चय को हटाते हुए सपक्षसत्त्व, विपक्षासत्त्व इत्यादि पंच रूपों में से किसी एक रूप से रहित होने से ही हेत्वाभासरूपता को प्राप्त होते हैं । उनमें से साध्य की सत्ता तथा असत्ता ऐसे दो कोटिवाले संशय को उत्पन्न करनेवाले दुष्टहेतु को सव्यभिचार कहते हैं । पक्ष में साध्य के अभाव के निश्चय को उत्पन्न करने वाले हेत्वाभास को विरुद्ध कहते हैं । व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के ज्ञान से विरहित हेतु को असिद्ध दुष्ट हेतु कहते हैं । बाध तथा सत्प्रतिपक्ष यह दोनों तो कणाद महर्षि के मत में स्वतन्त्र हेत्वाभास ही नहीं है । उनमें से बाध आश्रयासिद्ध अथवा अनैकान्तिक दुष्ट हेतु में ही अन्तगत होता है (अर्थात् पक्ष में साध्य के अभाव को बाध कहते हैं, अतः वह आश्रयासिद्ध ही है । अर्थात् इसमें भी आश्रयासिद्धि के समान पक्षसत्तारूप नहीं है । साध्य के अभाव

सिद्धावनैकान्तिके वा पर्यवस्यति । तदुक्तं "बाधायामपक्षधर्मो हेतुरनैकान्तिको वा" इति । सत्प्रतिपक्षोऽप्यन्यतरत्र व्याप्त्यादिसंशयमापादयन् अनैकान्तिकादेव पर्यवस्यति ।

वृत्तिकारस्तु "अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः" इति सूत्रस्थचकारस्य बाधसत्प्रतिपक्षसमुच्चयार्थतामाह । तेन "सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकालाः पञ्च हेत्वाभासाः" इति गौतमीयमेव मतमनुधावति । परन्तु 'विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्" इत्याद्यभिधानात् सूत्रकारस्वरसो हेत्वाभासत्रित्वे, चकारस्तूक्तसमुच्चयार्थ इति तत्त्वम् । ग्रन्थगौरवभयात् प्रपञ्चो न कृतो मयूखे विस्तरोऽन्वेष्टव्यः ॥१७॥

इदानीं हेत्वाभासविवेचनस्य फलमाह—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत् ॥१८॥

वाले पक्ष में हेतु के सत्ता के ज्ञान होने से व्यभिचार के समान बाध में भी सपक्ष सत्तारूप न होने से बाध अथवा अनैकान्तिक ही होता है, इसी अभिप्राय से शंकरमिश्र ने ऊपर अनैकान्तिक में बाध का अन्त भी दिखाया है (इसी अभिप्राय से शंकरमिश्र प्रमाण दिखाते हैं कि)—'बाधायामपक्षधर्मो हेतुरनैकान्तिको वा अर्थात् बाध में दुष्ट हेतु पक्ष में नहीं रहता अथवा व्यभिचारी होता है, ऐसा प्राचीन कणाद महर्षि के मतानुयायी का वचन है । सत्प्रतिपक्ष में दो अनुमानों में से एक में व्याप्ति तथा पक्षधर्मता और परामर्श इत्यादिकों में संशय का उत्पादक होता हुआ सव्यभिचारादिकों में ही अन्तर्भूत होता है । किन्तु 'अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः' इस सूत्र के 'चकार' पद से सूत्रकार ने 'बाध तथा सत्प्रतिपक्ष इन दोनों हेत्वाभासों का संग्रह होता है' यह कहा है, इससे सव्यभिचार १, विरुद्ध २, प्रकरणसम (सत्प्रतिपक्ष) ३, साध्यसम (असिद्ध) ४, अतीतकाल (बाधित) ५, ऐसे पाँच हेत्वाभास हैं इसलिये गौतमोक्त उक्त पाँच हेत्वाभास होने का ही मत महर्षि कणाद ने भी स्वीकृत किया है, ऐसा वैशेषिक सूत्र के वृत्तिकार का यहाँ मत है, किन्तु प्रशस्तपादभाष्य में 'विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्' अर्थात् विरुद्ध, असिद्ध तथा सन्दिग्ध को कश्यपगोत्री कणाद महर्षि ने तीन प्रकार के ही हेत्वाभास कहे हैं इस कारण हेत्वाभास तीन हैं इसी में सूत्रकार का अभिप्राय है और चकार इन कहे हुए तीन हेत्वाभासों का ही संग्रह करता है यह वास्तविक तत्त्व है । ग्रन्थ के गौरव (बढ़ जाने के)–भय से यहाँ हमने विस्तार नहीं किया है, जो मयूख में पाठकों को अन्वेषण (खोज) करना चाहिये ॥ १७ ॥

सांप्रत प्रदर्शित हेत्वाभास के विवेचन का फल सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—आत्मेऽन्द्रियार्थसन्निकर्षात्—आत्मासहित इन्द्रिय तथा अर्थ के

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्तावज्ज्ञानमुत्पद्यते तच्चात्मनि लिङ्गम् असिद्धविरुद्धानैकान्तिकेभ्योऽन्यत् अनाभासमित्यर्थः। तथाहि ज्ञानमात्मन्युभयथा लिङ्गम्, ज्ञानं क्वचिदाश्रितं कार्यत्वाद्रूपादिवदिति वा, प्रत्यभिज्ञारूपतया वा योऽहमद्राक्षं सोऽहं स्पृशामीति। तत्र ज्ञानगतं कार्यत्वं नासिद्धं यन्निष्पद्यत इत्यभिधानात्। न विरुद्धं सामान्यतो दृष्टेऽत्र विरोधाभावात्। न चानैकान्तिकम् तत एव। तथाच स्वगतकार्यत्वगुणत्वद्वारा सामान्यतोदृष्टेन ज्ञानमेवात्मनि लिङ्गम्।

संनिकर्ष से, यत् = जो, उत्पद्यते = उत्पन्न होता है, तत् = वह ज्ञान, अन्यत् = हेत्वाभास नही है ।। १८ ।।

भावार्थ—आत्मासहित इन्द्रिय तथा पदार्थों के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह आत्मा का साधकलिङ्ग दुष्टहेतु नहीं है। इसमें अप्रत्यक्ष तथा अनुमिति के कारण आत्मा तथा मूर्तद्रव्यों के संयोग से अनुमिति के कारण व्याप्तिपक्षधर्मता इत्यादिकां का प्रतिपादन न होने के कारण तथा अनुमिति न होनेसे भी 'इन्द्रियार्थ' ऐसा विशेषण तथा इन्द्रिय और अर्थ के संयोग के नाश में व्यभिचार-निरासार्थ 'आत्म'पद दिया है। ऐसा होने से आत्मासहित इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से जो उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष रूप ही ज्ञान होता है, अतः असिद्धि तथा व्यभिचार दोष नहीं हो सकते यह सूत्रकार का आशय है ।। १८ ।।

उपस्कार—आत्मासहित इन्द्रिय और अर्थों के संनिकर्ष से प्रथम ज्ञान उत्पन्न होता है और वह भी आत्मा में साधक लिङ्ग है। और वह असिद्ध, विरुद्ध तथा अनैकान्तिक तीनों हेत्वाभासों से भिन्न है यह सूत्र का अर्थ है। वह इस प्रकार है कि ज्ञान-गुण दो प्रकार से आत्मा का साधक है—'ज्ञान किसी में आश्रित है, कार्य होने से रुपादि गुणों के समान' इस अनुमान से, अथवा 'जिसे मैंने देखा था, वह मैं स्पर्श करता हूं' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा से। उसमें से प्रथम अनुमान में दिया हुआ कार्यत्व हेतु ज्ञानपक्ष में असिद्ध नहीं है क्योंकि 'यन्निष्पद्यते' जो पैदा होता है' ऐसा कहने के कारण कार्यत्वहेतु ज्ञान में सिद्ध ही है। न कार्यत्वहेतु विरुद्ध भी है, क्योंकि इस सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान में विरोध नहीं है (अर्थात् सामान्यतोदृष्टानुमान में उपस्थित जितने हेतु के समान जातीय हो वह संपूर्ण साध्य के समानजातीय होते हैं ऐसा व्याप्तिज्ञान होने से तथा प्रस्तुत कार्यत्वहेतु के ज्ञानरूप पक्ष में रहने का ज्ञान होने से भी प्रस्तुत साध्य के विरोधि (व्याप्त्यादि) ज्ञान उसको विघटक (रोकनेवाला) नहीं हो सकता, अतः विरोध दोष नहीं है। इसी कारण उक्त ज्ञान के होने से प्रकृत साध्य के असामानाधिकरण्य (एक आश्रय में न रहना) रूप व्यभिचारज्ञान के प्रतिबन्धक न होने से ही शंकरमिश्र कहते हैं कि)—इस कार्यत्व हेतु में अनैकान्तिकता दोष से दुष्टता नहीं है। ऐसा होने से ज्ञानगुण में वर्तमान

प्रत्यभिज्ञानन्तु भिन्नकर्तृकेभ्यो व्यावर्त्तमानमेककर्तृकतायां पर्यवस्यति । न च बुद्धिचैतन्येऽपि कार्यकारणभावनिबन्धनमेव प्रतिसन्धानम्, शिष्यगुरुबुद्ध्योरपि प्रतिसन्धानप्रसङ्गात् । उपादानोपादेयभावस्तत्र नास्ति स च प्रतिसन्धानप्रयोजक इति चेदुपादानत्वस्य द्रव्यधर्मतया बुद्धावसम्भवात्, सम्भवे वा बुद्धीनां क्षणिकतया पूर्वानुभूतप्रतिसन्धानानुपपत्तेः । न हि पूर्वबुद्ध्या उत्तरासु बुद्धिषु कश्चित् संस्कार आधीयते, स्थिरस्य तस्य त्वयाऽनभ्युपगमात् । क्षणिकबुद्धिधारारूपस्य च कालान्तरस्मृतौ प्रतिसन्धाने वाऽसामर्थ्यात् । आलयविज्ञानसन्तानः प्रवृत्तिविज्ञानसन्तानादन्य एव स्मर्त्ता च प्रतिसन्धाता

कार्यत्व तथा गुणत्व के द्वारा प्रदर्शित सामान्यतोदृष्ट अनुमान से ज्ञान ही आत्मसाधक सद्धेतु है । प्रदर्शित प्रत्यभिज्ञा तो भिन्न कर्ताओं में न हो सकने से एक ही प्रत्यभिज्ञा का कर्ता है इस विषय में पर्यवसित (समाप्त) होती है ।

यहाँ बौद्धमत से पूर्वपक्ष दिखाकर शंकरमिश्र कहते हैं कि)—'क्षणिकविज्ञान आत्मा है । इन बौद्धों के पक्ष में भी उक्त प्रत्यभिज्ञा हो सकेगी, क्योंकि पूर्व-पूर्व विज्ञान द्वारा उत्तर २ विज्ञानों में कारण होने से मैत्र नामक मनुष्य के देखे हुए की चैत्र को प्रत्यभिज्ञा न होगी, क्योंकि उनके क्षणिक विज्ञानरूप आत्मा का कार्यकारणभाव नहीं है' ऐसा बौद्धमत युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से शिष्य तथा गुरु के ज्ञानों में प्रयोज्य-प्रयोजक (प्रेर्यप्रेरकभावरूप) कार्यकारणभाव होने के कारण गुरु के अनुभव किये विषय का शिष्य को भी स्मरण होने लगेगा ।

यदि बौद्ध कहे कि 'शिष्य तथा गुरु के क्षणिकज्ञानरूप आत्माओं में उपादान-उपादेय (समवायिकारण तथा कार्यभाव)नहीं है, (किन्तु गुरु का विज्ञान शिष्य-विज्ञान में निमित्त कारण है), वही स्मरणादिप्रतिसन्धान का प्रयोजक (कारण) होता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि समवायिकारणता द्रव्य का धर्म होने के कारण ज्ञानगुण में नहीं हो सकती । यदि हो तो भी ज्ञानों के बौद्धमत में क्षण-विनाशी होने के कारण पूर्वकाल में अनुभव किये विषय का स्मरणादि-प्रतिसन्धान न बन सकेगा । क्योंकि पूर्व २ ज्ञानों से उत्तर २ विज्ञानों में कोई भावनासंस्कार उत्पन्न नहीं होता, हो भी तो आप बौद्ध उसे स्थिर नहीं मानते । क्षणिक ज्ञानों की धारारूप संस्कार भी क्षणविनाशी होने के कारण कालान्तर (भिन्नकाल) में स्मरण होने अथवा प्रतिसन्धान (पश्चात् अनुसन्धान) करने में सामर्थ्य नहीं रखता । यदि 'तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम् । तत्स्यात्प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत् ।' अर्थात् अहं (मैं) हूं इस विज्ञानधारा को आलयविज्ञान

चेति चेत्, स यदि स्थिरः तदा सिद्धं नः समीहितम्। क्षणिकबुद्धिधारारूपश्चेत् तदा पूर्वदोषानतिवृत्तेः, न हि तत्रापि स्थिरः कश्चित् संस्कारः। किञ्च प्रवृत्तिविज्ञानातिरिक्ते तत्र प्रमाणाभावः। अहमिति बुद्धिधारैव प्रमाणमिति चेत् भवतु तत्र यदि प्रवृत्तिविज्ञानान्यालयविज्ञानमेव चेदुपादत्ते तदा प्रवृत्तिविज्ञानानामुपादानताविरहे निमित्ततापि न स्यात्, उपादानताव्याप्तत्वान्निमित्ततायाः। माऽस्तु निमित्तताऽपीति चेत् तर्हि सत्त्वमपि गतम्, अर्थक्रियाकारित्वस्य सत्त्वलक्षणत्वात्। प्रवृत्तिसन्तानालयविज्ञानसन्तानाभ्यां सम्भूय सन्तानद्वयमुपादीयत इति चेत् तर्हि किमपराद्धमवयविसंयोगादिभिः, व्यासज्यवृत्तितायास्त्वयाप्यभ्युपगमात्। तस्माज्ज्ञानेनाश्रयतयाऽनुमितमात्मानं प्रतिसन्धानं स्थिरत्वेन साधयतीति न किञ्चिदनुपपन्नम्।

तथा यह नील है' इत्यादि ज्ञानधारा को प्रवृत्तिविज्ञान कहते हैं, ऐसे बौद्धग्रन्थों के प्रमाण होने से आलयविज्ञानरूप आत्मा प्रवृत्तिविज्ञानों से भिन्न ही है और स्मरण तथा अनुसन्धान इत्यादि करनेवाला भी है' ऐसा बौद्ध कहे तो यदि वह आलयविज्ञानरूप बौद्धों का आत्मा स्थिर हो तो हम नैयायिकों की इच्छा का विषय (नित्य आत्मा मानना) मत सिद्ध हो गया। और यदि वह आलयविज्ञान रूप आत्मा भी क्षणिक ज्ञान-प्रवाहरूप है तो पूर्वोक्त दोष नहीं हट सकते, क्योंकि आप कालान्तर में स्मरण का उत्पादक कोई स्थिर संस्कार नहीं मानते तथा प्रवृत्तिविज्ञान से भिन्न आलयविज्ञान मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है। यदि बौद्ध कहे कि 'अहं' मैं हूं, मैं हूं ऐसी ज्ञानों की धारा ही उसमें प्रमाण है तो बौद्ध यह बतलावे कि यदि आलयविज्ञान प्रवृत्तिविज्ञानों का उपादानकारण हो तो प्रवृत्तिविज्ञानों में समवायिकारणता न होने से निमित्तकारणता न आवेगी क्योंकि निमित्तकारण जहाँ होता है वह उपादान (समवायि) कारण भी होता है यह नियम है। यदि 'प्रवृत्तिविज्ञान निमित्तकारण भी न हो' ऐसा कहो तब तो उसकी सत्ता भी चली जायगी, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व (किसी कार्य को करना) ही सत्ता का लक्षण बौद्धों ने माना है। यदि 'प्रवृत्तिज्ञानधारा तथा आलयविज्ञानधारा दोनों से मिल कर दोनों प्रकार के ज्ञानसन्तान उत्पन्न होते हैं ऐसा कहो तो हमारे नैयायिकों के माने अवयवियों के संयोगादिकों ने क्या अपराध किया है, क्योंकि व्यासज्यवृत्तिता (एक भिन्न में रहना) आपने भी मान ही लिया। इस कारण ज्ञानरूप गुण के आधाररूप से पूर्वप्रदर्शित सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा सिद्ध आत्मा को स्मरण तथा अनुसन्धान ज्ञानादिक स्थिर ही सिद्ध करते हैं इसलिये कोई अनुपपत्ति (न होने का दोष) नहीं हो सकता।

यद्वा नित्या बुद्धिर्नात्मानं कारणत्वेन गमयितुमर्हतीतिसाङ्ख्यमतनिरासाय सूत्रमिदमुपतिष्ठते "आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद् यन्निष्पद्यते तदन्यत्"। बुद्धितत्त्वं यत्त्वयोच्यते तज्ज्ञानमेव, बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमिति हि पर्य्यायाभिधानं तच्चात्मादिसन्निकर्षाद्दुत्पन्नम्, अन्यदेव त्वदभ्युपगतादन्तःकरणादित्यर्थः। तथाच भवति तत् आत्मनो लिङ्गमिति भावः ॥१८॥

आत्मन्यनुमानमभिधाय इदानीं परात्मानुमानमाह—

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम् ॥१९॥

प्रत्यगात्मनीति। स्वात्मनीत्यर्थः। इच्छाद्वेषजनिते प्रवृत्तिनिवृत्ती प्रयत्नवि-

---

(अथवा प्रकृति ही जगत्कार्य की कर्त्री है। उसका आत्मा कारण नहीं है ऐसे सांख्यमत के खण्डन के पक्ष में सूत्र का समन्वय करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—अथवा नित्यबुद्धि (प्रकृति का प्रथम परिमाण) आत्मा कारण है ऐसा बोधित नहीं कर सकती' ऐसे सांख्यमत के खण्डन के लिये 'आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्' यह सूत्र उपस्थित होता है। जो आप सांख्यमतावलम्वी बुद्धिनामक तत्त्व (पदार्थ) कहते हैं, वह बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान यह पर्याय शब्द है, वह ज्ञान आत्मा इन्द्रिय आदिकों के संनिकर्ष से उत्पन्न होता है और वह सांख्यों के माने अन्तःकरण रूप बुद्धि से भिन्न है यह सूत्र का अर्थ है, ऐसा होने से वह आत्मा का लिङ्ग (साधकसद्धेतु) है ॥ १८ ॥

इस प्रकार स्व आत्मा में अनुमानप्रमाण कहकर सांप्रत पर आत्मा का अनुमानप्रकार सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रवृत्तिनिवृत्ती च = और किसी कार्य में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति होना, प्रयगात्मनि = अपनी आत्मा में, दृष्टे = देखे हुए, परत्र = पर की आत्मा में, लिङ्गं= साधक होते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—अपने आत्मा की इच्छा तथा द्वेष से जैसे किसी कार्य में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति होती है उसी प्रकार अन्य शरीर में भी चेष्टा को देखकर प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप प्रयत्न वाले आत्मा की अनुमान से सिद्धि होती है ॥ १९ ॥

उपस्कार—'प्रत्यागात्मनि' इस सूत्र के पद का स्वात्मा (अपनी आत्मा) ऐसा अर्थ है। इच्छा तथा द्वेष से होनेवाली कार्यों में प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप विशेष प्रयत्न गुणों को और उन दोनों से क्रम से हित की प्राप्ति तथा अहित की निवृत्तिरूप फल को उत्पन्न करनेवाली चेष्टारूप दोनों शरीर में क्रिया होती हैं। ऐसा

शेषौ ताभ्याञ्च हिताहितप्राप्तिपरिहारफलके शरीरकर्मणी चेष्टालक्षणे जन्येते। तथाच परशरीरे चेष्टां दृष्ट्वा इयं चेष्टा प्रयत्नजन्याचेष्टात्वात् मदीयचेष्टावत् स च प्रयत्न आत्मजन्यः आत्मनिष्ठो वा प्रयत्नत्वात् मदीयप्रयत्नवदिति परमात्मानुमानम् ॥ १९ ॥

इति शाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे तृतीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ।

होने से दूसरे के शरीर में उक्त चेष्टा को देखकर 'यह चेष्टा प्रयत्न से उत्पन्न है, चेष्टा होने से, मेरी चेष्टा के समान और 'वह प्रयत्न आत्मा से उत्पन्न हुआ है, अथवा आत्मा में रहता है प्रयत्न होने से, मेरे प्रयत्न के समान' इस प्रकार पर आत्मा की अनुमान से सिद्धि होती है ॥ १९ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्रकृत वैशेषिकसूत्रों की उपस्कार नामक व्याख्या में तृतीयाध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त हुआ ।

तृतीयाध्याये द्वितीयाह्निकम्

हेतुहेत्वाभासविवेकः आह्निकार्थः। इदानीमात्मपरीक्षांशे वर्त्तयिष्यन् उद्देशक्रमलङ्घनेन मनःपरीक्षामवतारयन्नाह—

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ॥ १ ॥

मनोगतिमात्मनो लिङ्गं वक्ष्यति। तद् यदि मनो ज्ञानकरणत्वेन मूर्त्तत्वेन च परीक्षितं भवति तदा यत्प्रेरितं मनः इन्द्रियान्तरादभिमतविषयग्राहिणि इन्द्रिये सम्बध्यते स आत्मेति सिद्धं भवतीत्येतदर्थं क्रमलङ्घनम्। आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे

पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों से भिन्न आत्मारूप द्रव्य के साधक हेतु तथा शरीरादि आत्मभिन्न पदार्थों में आत्मता के साधक दुष्ट हेतुओं का विवेचन (विचार) करना संपूर्ण द्वितीयाह्निक का अर्थ है इस आशय से प्रथम सूत्र का शंकरमिश्र अवतरण देते हैं कि—सद्धेतु तथा असद्धेतु का विवेचन करना सम्पूर्ण इस द्वितीय आह्निक का अर्थ है। सांप्रत उक्त आत्मा का परीक्षा के अवशिष्ट भाग को आगे दिखाने के किये उद्‌देश के क्रम को छोड़कर मध्य में मन द्रव्य की परीक्षा का सूत्रकार अवतरण देते हैं—

पदपदार्थ—आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षे = आत्मा, इन्द्रिय तथा अथ का सनिकर्ष (सम्बन्ध) होने पर, ज्ञानस्य = ज्ञान का, भावः = सत्ता (होना), अभावः च = और असत्ता (न होना) भी, मनसः = मन नामक द्रव्य का, लिङ्गं = साधक है ॥१॥

भावार्थ—आत्मा, इन्द्रिय तथा अर्थों (विषयों) का संनिकर्ष (सान्निध्य) होने पर भी ज्ञानादि रूप गुण जिसके रहने से आत्मा में उत्पन्न होते हैं तथा न रहने से उत्पन्न नहीं होते यह अर्थात् ज्ञानादिकों का होना न होना जिसके कारण होता है, वह मनरूप द्रव्य की सत्ता में साधक लिङ्ग है ॥ १ ॥

उपस्कार—मन की गतिनामक क्रिया आत्मा की साधक होती है यह चतुर्थ-सूत्र में कहेंगे। किन्तु उस मन की यदि मन ज्ञानकरण है तथा मूर्तद्रव्य है यह परीक्षा द्वारा सिद्ध हो जाय तो जिसकी प्रेरणा से मन दूसरे बाह्य चक्षुरादि इन्द्रियों से हटा कर अभिमत (प्रिय) विषय को ग्रहण करनेवाले इन्द्रिय में सम्वन्ध को करना है, वह आत्मा है यह सिद्ध होता है इसलिये आत्मसाधन प्रकरण का उल्लंघन कर (छोड़कर) प्रथम मन की सिद्धि यहां सूत्रकार ने की है। आत्मा, इन्द्रिय तथा अर्थों के संनिकर्ष के रहते जिसके बाह्य इन्द्रियों से सम्वद्धहोने पर ज्ञानगुण का भाव (उत्पत्ति) होती है, और जिस बाह्येन्द्रियों के साथ सम्बन्ध न होने से ज्ञान का

सति यस्मिन् इन्द्रियसन्निकृष्टे ज्ञानस्य भावः उत्पादः, असन्निकृष्टे ज्ञानस्याभावोऽनुत्पादस्तन्मन इत्यर्थः। ननु मनोवैभवेऽपि करणधर्मत्वादेव ज्ञानायौगपद्यमुपपद्यते, किंच मनो विभु विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात् कालवत्, ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वादात्मवत्, स्पर्शात्यन्ताभाववत्त्वादाकाशवदित्यादि वैभवसाधकं प्रमाणमिति चेत्, मैवम् यदि मनो विभु स्यात्तदा सर्वेन्द्रियसन्निकृष्टात्ततः सर्वेन्द्रियकमेकमेव ज्ञानं स्यात्। कार्य्यविरोधान्नैवमिति चेन्न न हि सामग्री विरोधाविरोधमाकलयति येन चाक्षुषत्वरासनत्वादिविरोधाय बिभ्येत्, चित्ररूपवत् चित्राकारमेव वा स्यात्। भवत्येव दीर्घशष्कुलीभक्षणस्थले इति चेन्न तत्रापि व्यासङ्गदर्शनात्। तर्हि रूपरसगन्धस्पर्शान् युगपत् प्रत्येमीति कथमनुव्यवसाय इति चेन्न शीघ्रसंचारिमनोजनितेषु पंचसु स्मृत्युपनीतज्ञानेषु यौगपद्याभिमानात। व्यासङ्गोऽपि करणधर्माधीन इति चेन्न उक्तोत्तरत्वात्। बुभुत्साधीनो व्यासङ्ग इति चेन्न सर्वबुभुत्सायां सर्वविषयकसर्वोदयप्रसंगात्। बुभुत्साया अपि

अभाव अर्थात् उत्पत्ति नहीं होती, वह मन नामक द्रव्य है। पूर्वपक्षी मन को व्यापक मानकर शंका करता है कि 'मनरूप करण को व्यापक मानने पर भी एक करण एक समय एक ही में एक ही क्रिया को उत्पन्न करता है, अनेक क्रिया को उत्पन्न नहीं करता ऐसा नियम होने से अनेक ज्ञानों की एक काल में उत्पत्ति नहीं होगी। इसीसे हम मन व्यापक है, विशेष गुणों से शून्य द्रव्य होने के कारण काल के समान अथवा ज्ञान के असमवायिकारणसंयोग का आश्रय होने से, आत्मा के समान, या स्पर्श के अत्यन्ताभाव का आधार होने से, आकाश के समान। यह अनुमान से ही मन में विभुत्वसाधक प्रमाण दे सकते हैं। (उत्तर में शंकरमिश्र कहते हैं कि) पूर्वपक्षी ऐसा नहीं कह सकता, क्योंकि यदि मन व्यापक होगा तो सम्पूर्ण बाह्येन्द्रियों से सम्बन्ध होने के कारण उस मन से सम्पूर्ण इन्द्रियों से होनेवाला एक ही ज्ञान होगा। यदि चाक्षुषप्रत्यक्ष रासन प्रत्यक्षादिकों का परस्पर विरोध होने से ऐसा न होगा' ऐसा कहो तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि कार्य होने की सामग्री कार्य के विरोध तथा विरोध न होने का विचार नहीं रखती, जिससे कार्य में चाक्षुष प्रत्यक्षता तथा रासनादि प्रत्यक्षों के विरोध के लिये भय करे, अथवा चित्ररूप के समान विचित्र रूप ही कार्य होगा। यदि पूर्वपक्षी कहे कि लम्बी शष्कुली (गुझिया) के खाने के समय चाक्षुष तथा रासन और घ्राणेन्द्रियजन्य भी विचित्र प्रत्यक्ष ज्ञानरूप कार्य होता ही है, तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि वहां भी दूसरे प्रत्यक्ष के विरोधी प्रत्यक्ष को उत्पन्न करनेवाले संयोगविशेष व्यासङ्ग (एक ही पदार्थ के ज्ञान में आसक्ति) देखने में आती है (अर्थात् लम्बी गुझिया खाने के समय किसी खाने वाले के मन का रसनेन्द्रिय से उक्त व्यसंग के कारण रस का ही अनुभव होता है तथा किसी को घ्राणेन्द्रिय से व्यासङ्ग के कारण गन्ध का ही अनुभव होता है ऐसा

अभिमतार्थग्राहीन्द्रियमनःसम्बन्धमात्रफलकत्वात्, तस्माज्ज्ञानायौगपद्यान्यथानुपपत्त्या सिध्यति अणु मनः। ततो धर्मिग्राहकमानबाधिताः वैभवहेतवः। किंच मनोवैभवे पादे मे सुखं शिरसि मे वेदनेति प्रादेशिकत्वं सुखादीनां न स्यात् विभुकार्य्याणामसमवायिकारणावच्छिन्नदेशे उत्पादनियमात्। तथापि सुखादीना-

---

पुरुष तथा कालादि भेद से निश्चित होता है)॥ 'यदि ऐसा है तो मैं दीर्घ शष्कुली के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श को एक साथ ही जानता हूं ऐसा अनुभव क्यों होता हैं' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि शीघ्र सञ्चार करनेवाले मन से उत्पन्न स्मरण से प्राप्त उक्त पाँच प्रकार के क्रम से होनेवाले ज्ञानों में एक साथ अनुभव करता हूं' ऐसा एककाल में होने का अभिमान (भ्रम) है। वस्तुतः उक्त पाँचों ज्ञान क्रम से ही होते हैं। यदि पूर्वपक्षी कहे कि व्यासङ्ग (एक विषय में आसक्ति) यह भी (एककरण एक काल में एक ही क्रिया को उत्पन्न करता है। इस करण-धर्म के ही अधीन है (अतः मन को विभु मानने में भी कोई दोष न आवेगा) तो ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि इसका उत्तर दे ही चुके हैं। (अर्थात 'वह्निसामग्री' इत्यादि उपस्कार में सम्पूर्ण इन्द्रियों के संयोगरूप सामग्री रहने पर एक ही के साथ संयोग होता है अन्य के साथ नहीं, अथवा सम्पूर्ण संयोग के रहने पर भी एक ही प्रत्यक्ष होता है दूसरा नहीं होता यह युक्त नहीं है यह यहाँ शंकरमिश्र का तात्पर्य है)। यदि पूर्व-पक्षी कहे कि—मन को विभु मानने पर भी (बुभुत्सा) ज्ञान की होने की इच्छा के अनुसार मन का व्यासङ्ग (एक विषय में आसक्ति) भी बन जायगी तो वह नहीं हो सकता क्योंकि तब तो (सर्व बुभुत्सा) सम्पूर्ण ज्ञानों के होने की इच्छा रहते सम्पूर्ण विषय कभी एक काल में ज्ञान होने लगेंगे। और बुभुत्सा का भी प्रिय विषय को ग्रहण करनेवाले इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होना फल है, इस कारण ज्ञानों के एक कालों में उत्पन्न न होने की मन को अणु मानने विना सिद्धि न हो सकने के कारण मन अणु परिमाण वाला सिद्ध होता है। इस कारण पूर्वपक्षी के किये अनुमानों में मन के विभुत्व-साधक हेतु बाधित दुष्ट हेतु हैं। (अर्थात् चाक्षुष-'प्रत्यक्ष करने वाले मनुष्य का चाक्षुषप्रत्यक्ष विषय पदार्थ में सम्बद्ध घ्राणेन्द्रिय अपने विषय के घ्राणेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष के कारण संयोग से रहित है, चाक्षुष पदार्थ-प्रत्यक्ष काल में घ्राणेन्द्रियजन्य प्रत्यक्षजनक न होने से, इन्द्रियसम्बद्ध घटादिकों के समान, इस अनुमान से विभुत्व का बाध होने से पूर्वपक्षी के हेतु बाधित हैं)। और एक यह भी दोष है कि यदि मन को व्यापक मानने से मेरे पैर में आराम है किन्तु सिर में पीड़ा है। इत्यादि रूप से सुखादि आत्मगुणों में जो एकदेश में होने का अनुभव होता है वह मन को व्यापक मानने से न होगा, क्योंकि विभुद्रव्य के कार्यों की असमवायिकारण से युक्त प्रदेश में ही उत्पन्न होने का नियम है। तथापि मन को अणु मानने से सुखादि गुण अणुप्रदेश हो जायंगे' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता,

मणुदेशापत्तिरिति चेन्न असमवायिकारिणं विभुकार्यं स्वदेशे जनयत्येवेति नियमात्, तथाच निमित्तचन्दनाद्यवच्छेदादधिकदेशेऽपि जननाविरोधात्। ममापि निमित्तसमवधानानुरोध इति चेन्न उक्तनियमभंगप्रसंगात्। किंचात्मना विभुना मनसः संयोगोऽपि कथं स्यात्। अजोऽसाविति चेन्न विभागस्याप्यजत्वप्रसंगात्। अवच्छेदभेदेनोभावप्यविरुद्धाविति चेन्न संयोगविभागयोरवच्छेदभेदस्य स्वकारणाधीनत्वात् अजयोस्तु तदभावादिति दिक्॥ १॥

ननु सुखाद्युपलब्धिः करणसाध्या क्रियात्वात् रूपोपलब्धिवदित्याद्यनुमानात युगपज्ज्ञानानुत्पत्त्या वा यन्मनः सिद्धं तत्करणतया तथाच तस्य द्रव्यत्वं नित्यत्वञ्च कुत इत्यत आह—

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ २ ॥

क्योंकि असमवायिकारण व्यापक के कार्य को अपने देश में उत्पन्न करना ही है यह नियम है। इसीसे सुख के निमित्तकारण चन्दनादिकों के आश्रय हस्त आदि अवयवों से अधिक प्रदेश में भी चन्दन से उत्पन्न सुख का अनुभव होता है। 'मेरे भी (मन को व्यापक मानने के) पक्ष में भी निमित्तकारण चन्दनादिकों के सांनिध्य की मन आवश्यकता रख सकेगा' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता क्योंकि (असमवायिकारण व्यापक समवेत कार्य को असमवायिकारण वाले प्रदेश में उत्पन्न करता ही है) इस पूर्वोक्त नियम का भंग हो जायगा। (यदि 'निमित्तकारण की अपेक्षा करनेवाले असमवायिकारण को कारण माने तो मन के विभुत्वपक्ष में दोष न होगा' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो शंकरमिश्र दूसरा दोष देते हैं कि)—व्यापक आत्मा व्यापक मन का संयोग भी कैसे उत्पन्न होगा (क्योंकि उनकी अप्राप्ति नहीं है, अप्राप्त की प्राप्ति को ही संयोग कहते हैं)। यदि कहो कि 'आत्मा तथा मन का संयोग नित्य होगा' यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि संयोग के समान विभागगुण भी नित्य हो जायगा। यदि कहो कि अवच्छेदक (विशेषण) के विभेद से संयोग तथा विभाग दोनों विरुद्ध न होंगे तो यह भी कहना युक्त नहीं है, क्योंकि संयोग तथा विभाग के अवच्छेद का (विशेषण व्यावर्तक) का भेद अपने २ कारण के अधीन होता है, नित्य संयोग तथा विभाग का तो कारण न होने से अवच्छेदभेद नहीं हो सकता॥ १॥

शंका है कि 'सुखादिकों के अनुभव की प्राप्ति करण से साध्य है, क्रिया होने से, रूप की उपलब्धि के समान' इत्यादि अनुमान से, अथवा एक काल में अनेक ज्ञानों की न उत्पत्ति से जो मन उसके करणरूप से सिद्ध होता है, ऐसा होने पर भी वह मन रूप द्रव्य तथा नित्य है इसमें क्या प्रमाण है? इस पर सूत्रकार उत्तर कहते हैं—

पदपदार्थ—तस्य = उस मन की, द्रव्यत्वनित्यत्वे = द्रव्य होना तथा नित्य होना, वायुना = परमाणु रूप वायु द्रव्य से, व्याख्याते = व्याख्या की गई॥ २॥

यथाऽवयविद्रव्यानुमितो वायुपरमाणुर्गुणवत्त्वात् क्रियावत्त्वाच्च द्रव्यम्, तथा युगपज्ज्ञानानुत्पत्त्याऽनुमितं मनो गुणवत्त्वाद् द्रव्यं, न हि तस्य इन्द्रियसंयोगमन्तरेण ज्ञानोत्पादकं येन गुणवत्त्वं न स्यात्। किञ्च सुखादिसाक्षात्कारः इन्द्रियकरणकः साक्षात्कारत्वात् रूपादिसाक्षात्कारवदतीन्द्रियत्वेन मनः सिद्धम्। इन्द्रियत्वञ्च ज्ञानकरणमनःसंयोगाश्रयत्वमित्ययत्नसिद्धमेव मनसो द्रव्यत्वम्। नित्यत्वञ्च तस्यानाश्रितत्वात्। तस्यावयवकल्पनायां प्रमाणाभावादनाश्रितत्वमिति ॥ २ ॥

तत् किं प्रतिशरीरमेकमनेकं वेति सन्देहे निर्णायकमाह—

प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ॥ ३ ॥

मनः प्रतिशरीरमिति शेषः। यद्येकैकस्मिन्नपि शरीरे बहूनि मनांसि स्युस्तदा

भावार्थ—जिस प्रकार अवयवि कार्यरूपवायु से अनुमान किया हुआ वायु परमाणु गुणवान् तथा क्रियावान् होने से द्रव्य तथा नित्य है उसी प्रकार मन भी गुणवान् होने से द्रव्य तथा नित्य है ॥ २ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार अवयवी वायु द्रव्य से अनुमान किया हुआ वायु परमाणु गुणाधार तथा क्रिया का भी आश्रय होने से द्रव्य है, उसी प्रकार एककाल में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति न होने से अनुमान द्वारा सिद्ध मन भी गुणाश्रय होने से द्रव्यत्व जाति का आश्रय द्रव्य पदार्थ है, उसमें विना इन्द्रियों के संयोग के ज्ञान की जनकता नहीं हो सकती जिससे उसमें गुणाधारता न हो। तथा 'सुखादिकों का प्रत्यक्ष, इन्द्रियकरण वाला है, प्रत्यक्ष होने से, रूपादि गुणों के प्रत्यक्ष के समान, इस अनुमान से इन्द्रियत्व भी मन में सिद्ध होता है। ज्ञान के कारण मन के संयोग, के आधार को इन्द्रिय कहते है इस कारण उसमें बिना प्रयास के ही द्रव्यत्व सिद्ध होता है। और वायु-परमाणुओं के समान कारण द्रव्य में आश्रित न होने के कारण मन नित्य है यह भी सिद्ध होता है। उस मन के अवयव मानने में प्रमाण न होने से उसमें अनाश्रितत्व (किसी में आश्रित न होना) भी सिद्ध होता है ॥ २ ॥

वह मन क्या प्रत्येक शरीर में एक है, अथवा अनेक इस प्रकार के संशय में सूत्रकार निणय करते हैं—

पदपदार्थ—प्रयत्नायौगपद्यात् = प्रयत्नों के एककाल में न होने से, ज्ञानायौगपद्यात् च = और अनेक ज्ञानों के एककाल में न होने से भी, एकं=मन एक है ॥३॥

भावार्थ—एक-एक शरीर में यदि अनेक मन माने जांय तो अनेक कार्यों के लिये आत्मा के अनेक प्रयत्न एककाल में होने लगेंगे, तथा अनेक ज्ञान भी एककाल में होने लगेंगे अतः एक शरीर में मन एक ही है यह सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

उपस्कार—सूत्र में आंकाक्षित 'मन प्रति शरीर में' एक है ऐसा शेष भाग पूरण करना। यदि एक भी शरीर में अनेक मन हो तो अनेक ज्ञान तथा प्रयत्नों की

ज्ञानप्रयत्नानां यौगपद्यं स्यात्। यत्तु नर्त्तकीकरचरणाङ्गुलीषु युगपत् कर्मदर्शनाद् युगपदेव बहवः प्रयत्ना उत्पद्यन्ते इति मतम्। तदयुक्तम्, मनसः शीघ्रसञ्चारादेव तदुपपत्तेः अविनश्यदवस्थयोग्यात्मविशेषगुणानां यौगपद्यानभ्युपगमात्। एतेनैकस्मिन्नपि शरीरे पंच मनांसि तेषां द्वित्रिचतुःपंचानां तत्तदिन्द्रियसंयोगे द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्च वा ज्ञानानि युगपज्जायन्ते इति मतं निरस्तम् कल्पनागौरवप्रसंगात्। यौगपद्याभिमानस्तु समर्थित एव। रसनेन्द्रियावच्छेदेन त्वगिन्द्रियसम्बन्धेन मनसस्तिक्तो गुड इति ज्ञानद्वययौगपद्यापत्तिरपि करणधर्मत्वादेव

एककाल में उत्पत्ति होने लगेगी। (यहाँ चिन्तामणि ग्रन्थकार गंगेशोपाध्याय के मत का खण्डन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—'नर्तकी (नचनी स्त्री) के हस्त, पाद तथा उनकी अंगुलियों में एककाल में अनेक क्रियाओं के दिखाई देने से एककाल ही में अनेक प्रयत्न उत्पन्न होते हैं'। ऐसा जो गंगेशोपाध्याय का मत है, वह असंगत है। क्योंकि मन के अतिशीघ्र संचार से ही यह हो सकता है, क्योंकि विनाशावस्था के अयोग्य अर्थात् स्थिर तथा प्रत्यक्षयोग्य व्यापक द्रव्यों के विशेष गुण एककाल में होते हैं यह नहीं माना जाता। इस कथन से एक भी शरीर में पांच मन हैं, उन दो-तीन, चार तथा पांचों के उन-उन बाह्य इन्द्रियों के साथ संयोग होने पर, दो, तीन, चार, या पांच ज्ञान एककाल में उत्पन्न होते हैं ऐसा पांच बाह्येन्द्रियों के लिए पांच मन प्रतिशरीर में मानने वालों का भी मत खण्डित हो जाता है क्योंकि संपूर्ण मनों से एक ज्ञान उत्पन्न करने से क्रिया तथा संयोग भी एककाल में होते हैं ऐसा मानना पड़ेगा, और ऐसा होने से उन २ के प्रत्यक्ष भी एककाल में होने लगेंगे, इस दोष के वारणार्थ परस्पर में प्रतिवध्य-प्रतिबन्धकभाव भी मानना होगा, तथा संख्या भी अधिक माननी होगी इस प्रकार कल्पनाओं के करने की आपत्ति आ जायगी। एककाल में शष्कुली-भक्षण में अनेक ज्ञान होना यह अभिमान (मात्र) है यह पूर्वग्रन्थ में समर्थन कर ही चुके हैं। जिह्वा (रसनेन्द्रिय) में वर्तमान त्वचारूप इन्द्रिय सम्बन्ध से मन को गुड होता है। ऐसा जिह्वा के पित्ती दोष वाले मनुष्य को एक ही समय में रासन तथा स्पर्शन ऐसे दो ज्ञानों के एककाल में होने की आपत्ति भी पूर्वोक्त करण धर्म होने से ही न होगी। दो-तीन टुकड़े में खड्ग आदि से काटे हुए गोह, सर्प आदिकों के शरीर को दो या तीन अवयवों में-जो कुछ काल फड़कने की क्रिया होती है वह भी उनके मन के शीघ्र संचार से अथवा उसी काल के अदृष्ट-विशेष से होती है, अथवा दूसरे पण्ड (संसार के न कराने वाले व्यर्थ) दूसरे मन के ग्रहण से ही होती है। और 'मन, अवयवी ही है, जलौका के समान, उसके संकुचित तथा विकसित होने से क्रम से ज्ञानों की एककाल में उत्पत्ति तथा अनुत्पत्ति

नास्ति। द्वित्रिच्छिन्नगोधभुजगादावपि अवयवद्वये कर्म खड्गाद्यभिघाताद्वा मनस आशु संचाराद्वा तदानीमेवादृष्टेन पण्डमनोन्तरग्रहणाद्वा । यत्तु मनोऽवयव्येव जलौकावत् तत्सङ्कोचविकाशाभ्यां ज्ञानयौगपद्यायौगपद्ये इति, तन्न तदवयवकल्पनागौरवप्रतिहतमिति दिक् ॥ ३ ॥

इदानीं क्रमलङ्घनप्रयोजनमादर्शयन्नेवात्मपरीक्षाशेषं वर्त्तयिष्यन्नाह—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुः-खेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ ४ ॥

प्रसिद्धिर्ज्ञानमेव केवलमात्मनो लिङ्गमिति न मन्तव्यम् प्राणादयोऽपि सन्ति आत्मनो लिंगानि। तथाहि शरीरान्तश्चारिणि समीरणे प्राणापानक्षणे ऊर्ध्वा-धोगती उत्क्षेपणावक्षेपणे मुसलादाविव प्रयत्नं विनाऽनुपपद्यमाने यस्य प्रय-

---

होती है' ऐसा जो मत है, वह भी संकोच-विकास वाले होने से अवयवों की कल्पना करनी पड़ेगी इस गौरव दोष होने के कारण खण्डित हो जाता है ॥ ३ ॥

सांप्रत आत्मपरीक्षा के मध्य में मन की परीक्षा करने रूपक्रम के उल्लंघन का प्रयोजन दिखाते हुए अवशिष्ट आत्म-परीक्षा करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः=प्राण तथा अपान वायु की क्रिया, निमेष (नेत्र को बन्द करना), उन्मेष (उसको खोलना), जीवन (जीना), मन की गति (क्रिया), तथा रसनादि बाह्येन्द्रियों के विकार, सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाः च = और सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न नामक विशेष गुण भी, आत्मनः = आत्मा नामक द्रव्य के, लिङ्गानि = साधक हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—केवल पूर्वोक्त ज्ञान ही आत्मा का साधक लिङ्ग नहीं है, किन्तु प्राण तथा अपान वायु की श्वास-प्रश्वास क्रिया, नेत्रों को बन्द करना-खोलना, बढ़ना घटना इत्यादि जीवन, मन की गति, तथा दूसरे रसना आदि इन्द्रियों का विकार एवं सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न नामक विशेष गुण भी आत्मा के साधक लिङ्ग है ॥ ४ ॥

उपस्कार—पूर्वोक्त प्रसिद्धि अर्थात् केवल ज्ञान ही आत्मा का साधक लिङ्ग है ऐसा न समझा जाय किन्तु प्राण-अपान के श्वास-प्रश्वास व्यापारादिक भी आत्मा के साधक लिङ्ग हैं।

वह इस प्रकार है कि शरीर के मध्य में संचार करने वाले प्राण तथा अपान-रूप दोनों वायुओं की मुसलादिकों में उत्प्रेक्षण तथा अपक्षेपक दोनों क्रियाओं के समान, ऊर्ध्वप्रदेश तथा अधोदेश में श्वास-प्रश्वासरूप गति बिना प्रयत्न के न हो सकने से जिसके प्रयत्न से होती है वह निश्चय से आत्मा है (यहाँ पर यद्यपि प्राण-अपान इत्यादिक भी प्रयत्न के द्वारा ही आत्मा के साधक हैं, तथापि

त्नाद् भवतः स नूनमात्मा । न हि तिर्यग्गमनस्वभावस्य वायोरेव स्वभावविपर्ययो विना प्रयत्नात् । न च विरुद्धदिक्क्रिययोर्वाय्वोः सलिलयोरिवोर्ध्वगतिः स्यादिति वाच्यम् एवं सत्यूर्ध्वगमनमेव स्यान्न त्वधोगमनं फूत्कारादौ वा तिर्यग्गमनम् । तथा चास्ति कश्चित्, यः प्रयत्नेन वायुमूर्ध्वमधो वा प्रेरयति सुषुप्तिदशायां कथं प्राणापानयोरूर्ध्वाधोगतो इति चेन्न इदानीं योग्यप्रयत्नाभावेऽपि प्रयत्नान्तरस्य सद्भावात् । स एव जीवनयोनिः प्रयत्न इत्युच्यते ।

परात्मा के अनुमान में प्रयत्न की भी क्रिया से ही सिद्धि होने के कारण प्रयत्न की अपेक्षा से कर्म की प्रधानता दिखलाने के लिये प्राणादि क्रियाओं का पृथक् ग्रहण किया है यह जानना चाहिये)। (विना आत्मा के प्रयत्न के प्राणादिकों की प्रदर्शित क्रिया नहीं हो सकती इसमें युक्ति दिखाते हुए शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—तिर्यग्गमन (तिरछे चलने के) स्वभाव वाले प्राणवायु का ऊर्ध्व 'तथा' अधोदेशगतिरूप स्वभाव का विपरीत होना विना प्रयत्न के नहीं हो सकता। 'विरुद्धदिशाओं में क्रिया को करने वाले दो जल-प्रवाहों के समान ऐसे दो वायुओं की भी ऊर्ध्वप्रदेश में गति हो सकती है' ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा होने से ऊर्ध्वदेश में ही गति होगी अधोदेश में न होगी, अथवा 'फूत्कार' अग्नि को मुख से फू-फू करने से वायु में तिर्यक् (तिरछे) गमन न होगा। अतः ऐसा कोई अवश्य शरीर में है जो अपने प्रयत्न से प्राणवायु को ऊर्ध्व अथवा अधोदेश में प्रेरणा करता है। यदि 'निद्रा अवस्था में प्राण तथा अपान दोनों वायुओं में ऊर्ध्व तथा अधोदेश में गति कैसे होगी' ऐसी शंका पूर्वपक्षी करे तो, इस अवस्था में प्रत्यक्ष-योग्य प्रयत्न न होने के कारण ही अतीन्द्रिय एक प्रयत्न सुषुप्ति में प्राण तथा अपान की ऊर्ध्व तथा अधोदेश में गति कराता है यही इस तीसरे प्रयत्न की सत्ता में प्रमाण है, इसी को जीवन-योनि प्रयत्न ऐसा कहा जाता है।

इसी प्रकार निमेष (आंख वन्द करना) तथा उन्मेष (नेत्र खोलना) यह दोनों भी शरीर के अधिष्ठाता आत्मा की अनुमान से सिद्धि कराते हैं, वह इस प्रकार है कि नेत्र के दोनों (पक्ष्म) पलकों के परस्पर संयोग (नेत्र को वन्द करना) को उत्पन्न करने वाली क्रिया को निमेष कहते हैं। और उन्हीं दोनों पलकों के परस्पर विभागजनक क्रिया को उन्मेष कहते हैं। यह दोनों निरन्तर उत्पन्न होने वाली क्रिया प्रत्यक्ष होने वाले नोदन तथा अभिघात संयोग नामक कारण के विना होने से विना किसी के प्रयत्न के नहीं हो सकती है। जिस प्रकार काष्ठ के पुतली का नाचनारूप क्रिया किसी कठपुतली के चलाने वाले के प्रयत्न के विना नहीं होती उसी प्रकार नेत्रों के पलकों का नाचना भी बिना किसी के प्रयत्न के नहीं हो सकता, इससे इनका नचाने वाला प्रयत्नवान् आत्मा है यह अनुमान से सिद्ध होता है।

एवं निमेषोन्मेषावपि शरीरस्याधिष्ठातारमनुमापयतः । तथाहि निमेषस्तावत् अक्षिपक्ष्मणोः संयोगजनकं कर्म । उन्मेषस्तयोरेव विभागजनकं कर्म । एते च कर्मणी नोदनाभिघातादिदृष्टकारणमन्तरेण निरन्तरमुत्पद्यमाने प्रयत्नं बिना नोत्पद्येते । यथा दारुपुत्रकनर्तनं कस्यचित् प्रयत्नात् तथाऽक्षिपक्ष्मनर्तनमपि, तेन प्रयत्नवाननुमीयते ।

एवं जीवनमप्यात्मलिङ्गम् । तथाहि जीवनपदेन लक्षणया जीवनकार्यं वृद्धि-क्षतभग्नसंरोहणादि लक्षयति । तथा च यथा गृहपतिर्भग्नस्य गृहस्य निर्म्माणं करोति लघीयो वा गृहं वर्द्धयति, तथा देहाधिष्ठाता गृहस्थानीयस्य देहस्या-हारादिना वृद्धिमुपचयं करोति क्षतञ्च भेषजादिना प्ररोहयति भग्नञ्च कर-चरणादि संरोहयति तथाच गृहपतिरिव देहस्याप्यधिष्ठाता सिध्यतीति ।

एवं मनोगतिरप्यात्मलिङ्गम् । तथाहि मनस्तावन्मूर्तमणु चेति पूर्वप्रकरणे साधितम् । तस्य चाभिमतविषयग्राहिणि इन्द्रिये निवेशनम् इच्छाप्रणिधा-नाधीनम् । तथाच यस्येच्छप्रणिधाने मनः प्रेरयतः स आत्मेत्यनुमीयते यथा गृह-कोणावस्थितो दारकः कन्दुकं लाक्षागुटकं वा गृहाभ्यन्तर एव इतस्ततः प्रेरयति । ननु दारुपुत्रनर्त्तयिता गृहपतिर्दारको वा न शरीरादन्यो यो दृष्टान्तः किञ्च

इसी प्रकर जीवन भी आत्मा का साधक है, वह इस प्रकार है कि यहाँ पर जीवन शब्द से लक्षणा वृत्ति से जीवन का कार्य वृद्धि (बढ़ना), क्षत (घावों) का तथा भग्न (टूटे) हुए का संरोहण (पुनः ठीक होना) इत्यादि कार्य सूचित होता है, ऐसा होने से जैसे किसी घर का स्वामी टूटे हुए घर को पुनः निर्माण (मरम्मत) करता है अथवा छोटे घर को बड़ा करता है, उसी प्रकार शरीर का अधिष्ठाता शरीररूप घर को भोजनादिकों से बढ़ाता है, तथा क्षत (चोट) आदि को दवा आदि उपायों से ठीक कर देता है, और भग्न (टूटे) हस्त-पाद आदि अवयवों को भी पुनः संरोहयति (बढ़ा देता है), इससे गृहस्वामी के समान शरीर का भी अधिष्ठाता (स्वामी) है यह सिद्ध होता है।

इसी प्रकार मन की गति=क्रिया भी आत्मा का साधक है, वह इस प्रकार कि मन मूर्तद्रव्य है, तथा अणु परिमाण है, यह पूर्व के प्रकरण में सिद्ध कर चुके हैं और उन मन के प्रियविषय को ग्रहण करने वाले बाह्येन्द्रियों में प्रवेश होना यह इच्छा तथा प्रणिधान (संकल्प) के अधीन है, ऐसा होने से जिसकी इच्छा और प्रणिधान मन को अभिमत विषय का ग्रहण करने वाले चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों में प्रविष्ट होने की प्रेरणा करती हैं वह आत्मा है ऐसा अनुमान किया जाता है, जिस प्रकार घर के कोने में बैठा होने के कारण न दीखने पर भी लाह की गोली अथवा गेंद को घर के भीतर ही इधर-उधर चलाने वाला बालक है यह गोली या गेंद के इधर-उधर गिरने से सिद्ध होता है, उसी प्रकार उक्त मन की क्रिया से आत्मा

शरीरमेव चैतन्याश्रयः अहङ्कारास्पदत्वात्, भवति हि गौरोऽहं स्थूलोऽहमित्याद्य- हङ्कारसामानाधिकरण्येन प्रत्ययः। यत्तु बाल्येऽनुभूतं यौवने वार्द्धक्ये वा स्मरति तत्र चैत्रमैत्रवच्छरीरभेदेऽपि स्मरणं न स्यात् 'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः' इति। तत्र चैत्रमैत्रयोर्भिन्नसन्तानत्वेन प्रतिसन्धानं माऽस्तु बाल्यकौमारभेदेऽपि सन्तानैकत्वात् कार्यकारणभावेन प्रतिसन्धानमुपपत्स्यत इति। तत्र ब्रूमः पित्राऽनुभूतस्य पुत्रेणापि स्मरणप्रसङ्गः। तत्र शरीरभेदग्रहो बाधक इति चेत्, वृद्धेन बालशरीराद्भेदेनैव स्वशरीरस्य ग्रहात् प्रतिसन्धानानुपपत्तेः- अनुपलब्धपितृकस्य बालस्य शरीरभेदाग्रहस्यापि सत्त्वात्। मम शरीरमिति ममकारसामान्येनाहङ्कारस्य भानात् ममात्मेत्यत्रापि तथेति चेन्न तत्र ममकारस्यौपचारिकत्वात् राहोः शिर

भी सिद्ध होता है यहां शरीरात्मवादी शंका करता है—'कि कठपुतली को नचाने वाला गृहस्वामी, अथवा गोली चलाने वाला बालक शरीर से भिन्न दूसरा नहीं है जो दृष्टान्त हो सकेगा, तथा शरीर ही ज्ञान का आधार है, अहङ्कार का आश्रय होने से क्योंकि मैं गौर वर्ण हूँ, स्थूल हूँ इस प्रकार अहंकार के ही आश्रय में गौरवर्णादि भी शरीर में ही प्रतीत होते हैं (अतः शरीर ही आत्मा है)'। इस शरीरात्मवाद पर यदि सिद्धान्ती शंका करे कि—बाल्यावस्था में अनुभूत पदार्थ का युवा अथवा वृद्धावस्था में स्मरण होता है, शरीर को आत्मा मानने से जिस प्रकार चैत्र के देखे का मैत्र को स्मरण नहीं होता उसी प्रकार एक शरीर में भी न होगा, क्योंकि बाल्यावस्था से युवा तथा वृद्धावस्था का शरीर भिन्न है, और यह नियम है 'दूसरे के देखे हुए का दूसरे को स्मरण नहीं होता।' तो पूर्वपक्षी उत्तर देता है—'चैत्र तथा मैत्र शरीरसंतानों के भिन्न होने से चैत्र से दृष्ट का मैत्र को स्मरण न हो, किन्तु बाल्य, युवा आदि अवस्था का भेद होने पर भी शरीर-सन्तान (विज्ञान-सन्तान के समान) एक होने से बाल्यावस्था में देखे हुए का युवा या वृद्धावस्था में स्मरण हो जायगा'। (ऐसे शरीर को आत्मा मानने वाले चार्वाक की शंका का समाधान शंकरमिश्र करते हुए कहते हैं कि)—इस शंका पर हम ऐसा कहते हैं कि यदि ऐसा हो तो पिता के शरीर के सन्तान से उत्पन्न होने के कारण पुत्र को पिता के अनुभूत पदार्थों का स्मरण होने लगेगा। यदि कहो कि 'उन दोनों के शरीर का भेदज्ञान इसमें बाधक मानेंगे' तो वृद्ध पुरुष को बालक शरीर से यह मेरा वृद्धावस्था का शरीर भिन्न है ऐसा ज्ञान होने से बाल्य अवस्था में देखे हुए का वृद्धावस्था में स्मरण नहीं होगा। और जिसने अपने पिता को नहीं देखा था ऐसे बालक को शरीर के भेद का ज्ञान है भी नहीं। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'मम शरीरं' मेरा शरीर है, इस प्रकार ममकार के समानरूप से अहङ्कार की प्रतीति होने के कारण 'मम आत्मा' मेरी आत्मा है इस प्रतीति में भी आत्मा अपना आत्मरूप अपने से भिन्न न होने के कारण भेद में षष्ठी का प्रयोग असंगत होने से शरीर को ही आत्मा

इतिवदभेदेऽपि षष्ठ्युपपत्तेः, हिंसादिफलञ्च कर्त्तरि न स्यात् शरीरस्यान्यत्वात्, पातकमिच्छतो । भूतचैतनिकस्य कृतहानमकृताभ्यागमश्च दोष इति दिक् ।

इन्द्रियान्तरविकारात् । खल्वपि दृश्यते हि नागरङ्गस्य चिरबिल्वस्य वा रूपविशेषसहचरितं रसविशेषमनुभूय पुनस्तादृशं फलमुपलभमानस्य रसगर्द्धिप्रवर्त्तितो दन्तोदकसंप्लवः । स च नाम्लरसानुमितिमन्तरेण, अनुमितिर्न व्याप्तिस्मृतिमन्तरेण, सा च न संस्कारं विना, स च न व्याप्त्यनुभवमन्तरेण, स च न भूयोदर्शनमन्तरेणेति इयं ज्ञानपरम्परा नैकं कर्त्तारमन्तरेण कार्यकारणभूता सम्भवतीति । तथाच गौतमीयं सूत्रम् 'इन्द्रियान्तरविकारात्' अ० ३ आ १ सू० १२ इति ।

मानना उचित है' तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि मेरी आत्मा इस प्रतीति में ममकार (मेरा सम्बन्ध) औपचारिक है, जिस प्रकार मस्तक भाग ही राहु नामक ग्रह होने पर भी 'राहोः शिरः' राहु का सिर ऐसी षष्ठी मुख्य भेदरूप अर्थ में नहीं है किन्तु गौण है उसी प्रकार 'मेरी आत्मा' इस प्रतीति में भी 'मम' मेरी यह गौण षष्ठी है मुख्य नहीं (यदि कहो कि तब 'मम शरीरं' मेरा शरीर यहाँ भी अभेद में 'राहोः शिरः' के समान मान लेंगे, तो इसी कारण शंकरमिश्र दूसरा दोष देते हैं कि)—शरीर के भिन्न-भिन्न होने से हिंसादि पापकर्म का फल भी हिंसा करने वाले को न होगा, तथा पातक को चाहने वाले (मानने वाले) शरीर को आत्मा मानने वाले चार्वाक के मत में पापकर्म करने वाले शरीररूप आत्मा को किये कर्मों के फल की हानि, तथा न किये कर्मों के फल की प्राप्ति होना भी दोष आ जायगा यह दोष जानना ।

तथा इन्द्रियान्तर के विकार से आत्मा की सिद्धि होती है—क्योंकि देखने में आता है नागरंग (नारंगी) अथवा चिरबिल्व (करंज) फल के रूप-विशेष के साथ वर्तमान मधुर आदि विशेष रस का स्वाद लेने के अनन्तर कालान्तर में वैसे ही फल को देखने से उस फल के मधुरादि रस के अनुभव करने की तृष्णा से दांतों में जल-प्रवाह करने की प्रवृत्ति होती है, अर्थात् दांतों से पानी गिरने लगता है, वह विना उक्त फलों के आम्ल, मधुर आदि रसों के अनुमान के नहीं हो सकता, और अनुमान विना व्याप्ति स्मरण के नहीं हो सकता, और व्याप्ति का स्मरण विना संस्कार के नहीं हो सकता, और वह भावना संस्कार विना व्याप्ति के अनुभव के नहीं हो सकता । और व्याप्ति का अनुभव अनेक वार उक्त फलों के वैसे रस के अनुभव के नहीं हो सकता इस प्रकार यह ज्ञानों की कार्य-कारण-रूप धारा विना एक नित्य कर्ता के माने हो नहीं सकती है। इसी कारण गौतम महर्षि ने भी 'इन्द्रियान्तरविकारात्' (३ अ०, १ आ० १२) के सूत्र में इन्द्रियान्तर (दूसरे इन्द्रियों) के विकार से आत्मा की सिद्धि की है ।

सुखादयश्च ज्ञानवदेवात्मलिङ्गानि द्रष्टव्याः। तथाहि सुखादिकं क्वचिदाश्रितं द्रव्याश्रितं वा कार्यवस्तुत्वात् गुणत्वाद्वा रूपादिवदितीतरबाधसहकृतं सामान्यतो दृष्टमेव अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वं विषयीकरोति। न हि 'पृथिव्याद्यष्टकानाश्रिता इच्छा द्रव्याश्रितेति' प्रतिज्ञा अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वं प्रकारमनादाय पर्य्यवस्यति। यत्र तु प्रथमं न बाधावतारस्तत्राष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्याश्रितत्वं व्यतिरेकिसाध्यमिति विभागः। व्यापकतावच्छेदकप्रकारिकैवानुमितिरिति तु तुच्छम्; येन विना प्रतीतिर्न पर्य्यवस्यति तस्यैव तत्र प्रकारत्वात्। अन्यथा द्व्यणुकं कार्य्यानाश्रितं सत् क्वचिदाश्रितम् अवयवित्वादित्यादावकार्य्याश्रितत्वप्रकारिकाऽनुमितिर्न स्यात्॥ ४॥

ननु सिध्यतु आत्मा स्थिरः, स तु नित्य इति कुतः, कुतश्च द्रव्यमित्यत आह—

इसी प्रकार सुख, दुःख इत्यादि गुण भी ज्ञान के समान आत्मा में प्रमाण है यह देख लेना चाहिये, वह इस प्रकार है कि सुखादि गुण किसी में या द्रव्य में आश्रित हैं. कार्य पदार्थ होने से अथवा गुण होने से रूपादि गुणों के समान इस प्रकार पृथिव्यादि द्रव्यों का उक्त गुण नहीं हो सकते ऐसे बाधज्ञान के सहित सामान्यतोदृष्ट नामक अनुमान का पृथिव्यादि आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में सुखादि गुण आश्रित हैं यह विषय है यह सिद्ध होता है, क्योंकि पृथिवी जल आदि आठ द्रव्यों में न रहने वाले इच्छादि गुण द्रव्य में आश्रित हैं, यह प्रतिज्ञा आठ द्रव्यों से अतिरिक्त द्रव्य में आश्रित्वरूप विशेषण को ग्रहण किये विना पर्यवसान (अपने स्वरूप) को प्राप्त तक नहीं हो सकती और जब कि प्रथम पृथिव्यादि में न रहने का ज्ञानरूप बाधज्ञान नहीं होता, उस समय आठ द्रव्यों से भिन्न द्रव्य में सुखादि गुणों का आश्रित होना यह व्यतिरेकि साध्यवाला अनुमान होता है यह दोनों प्रकार हैं। व्यापक में रहने वाले नियामक आत्मत्वादि प्रकार धर्म को लेकर ही अनुमान होगा ऐसा कहना तुच्छ (व्यर्थ) है, क्योंकि जिसके बिना द्रव्याश्रितत्व के प्रतीति नहीं होती वही वहाँ प्रकार (विशेषण) होता है। अन्यथा (ऐसा न हो तो) द्व्यणुक कार्य में आश्रित न होते हुए कहीं आश्रित है, अवयवी होने से इत्यादि अनुमान से कार्य भिन्न में अश्रितत्व को विशेषण करने वाली अनुमिति न होगी ॥ ४ ॥

आत्मा द्रव्य उक्त प्रकार से स्थिर है यह सिद्ध होने पर भी वह नित्य है यह क्यों माना जाय, तथा उसे द्रव्य भी क्यों माना जाय? ऐसी शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥ ५ ॥

यथा वायुपरमाणोरवयवकल्पनायां न प्रमाणमतो नित्यत्वं तथात्मनोऽपि। यथा गुणवत्त्वाद्वायुपरमाणुर्द्रव्यं तथात्माऽपीत्यर्थः ॥ ५ ॥

पूर्वपक्षमाह—

यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ॥ ६ ॥

सन्निकर्षे सति अयं यज्ञदत्त इति चेत् प्रत्यक्षं नास्ति तदा दृष्टं प्रत्यक्षतो

पदपदार्थ—तस्य = उस आत्मा की, द्रव्यत्वनित्यत्वे = द्रव्यत्व तथा नित्यत्व, वायुना = परमाणु वायु से, व्याख्याते = व्याख्या किये गये ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार परमाणुरूप वायु के अवयव-कल्पना में प्रमाण न होने से वह नित्य है तथा गुणों का आधार होने से द्रव्य है इसी प्रकार आत्मा के अवयव मानने में प्रमाण न होने से वह नित्य तथा ज्ञानादि गुणाधार होने से द्रव्य भी है यह सिद्ध है ॥ ५ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार वायु परमाणुओं के अवयव मानने में प्रमाण न होने से उसमें नित्यता है वैसे ही आत्मा में जैसे गुणाश्रय होने से वायु परमाणु द्रव्य है, उसी प्रकार आत्मा भी है यह सूत्र का अर्थ है ॥ ५ ॥

यहाँ पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—यज्ञदत्तः = यह यज्ञदत्त है, इति = इस प्रकार, संनिकर्षे = इन्द्रिय से संयोग संनिकर्ष होने पर, प्रत्यक्षाभावात्=प्रत्यक्ष न होने के कारण, दृष्टं = प्रत्यक्ष, लिङ्गं = साधक, न विद्यते=नहीं है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार प्रत्यक्ष से धूम तथा वह्नि की व्याप्ति का ज्ञान होने से धूम वह्नि का साधकलिङ्ग होता है उस प्रकार यज्ञदत्त आदि मनुष्यों के शरीर में इन्द्रिय संनिकर्ष होने पर भी उसकी आत्मा में इन्द्रिय संनिकर्ष न होने से आत्मा साधक लिङ्ग नहीं है ॥ ६ ॥

उपस्कार—जब कि यज्ञदत्त नामक मनुष्य के शरीर में इन्द्रिय से संनिकर्ष होने पर यह यज्ञदत्त है ऐसा प्रत्यक्ष नहीं होता, तब दृष्ट (प्रत्यक्ष) से जिसके व्याप्ति का ग्रहण हो ऐसा उसकी आत्मा का साधक लिङ्ग नहीं है (अर्थात् यज्ञदत्त के शरीर का चक्षुरिन्द्रिय का संयोगरूप संनिकर्ष होने पर भी उसके अधिष्ठाता आत्मा में चक्षुइन्द्रिय का संनिकर्ष नहीं है। इससे साध्य आत्मा का कहीं भी प्रत्यक्ष न होने से अनुमान का असंभव प्रथम के समान सूचित होता है, प्रत्यक्ष से जिसके व्याप्ति का ग्रहण होता है उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं)। (उक्त विषय का दृष्टान्त द्वारा शंकरमिश्र समर्थन करते आगे कहते हैं कि)—जिस प्रकार यह महानस

गृहीतव्याप्तिकं लिङ्गं नास्ति। यथा वह्निना प्रत्यक्षेण सहचरितो गृहीतो धूमो वह्नौ दृष्टं लिङ्गं तथात्मसाधकं लिङ्गं दृष्टं नास्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु प्रत्यक्षदृष्टव्याप्तिकस्य दृष्टलिङ्गस्याभावेऽपि सामान्यतो दृष्टमेव लिङ्गं भविष्यति, न हि ततो नानुमितिरित्याशङ्क्य पुनः पूर्वपक्षी आह--

सामान्यतो दृष्टाच्चाविशेषः ॥ ७ ॥

सामान्यतो दृष्टमपि लिङ्गं भवति न तु तत आत्मत्वेन अष्टद्रव्यातिरिक्तद्रव्यत्वेन वा स्यादात्मसिद्धिः, किन्तु तेनेच्छादीनां क्वचिदाश्रितत्वमात्रं सिध्येत् तच्च नात्ममननौपयिकमित्यर्थः। तदेतदाह अविशेष इति ॥ ७ ॥

तत् किं 'योऽपहतपाप्मा स आत्मा' इत्याद्यागमोऽनर्थक एवेत्याशङ्क्य स एवाह—

में प्रत्यक्ष वह्नि के साथ रहने वाले धूम का ग्रहण होने के कारण धूम वह्नि का साधक है। उस प्रकार आत्मा का दृष्ट (प्रत्यक्ष-गृहीत-व्याप्तिवाला) लिङ्ग साधक नहीं है ॥ ६ ॥

'प्रत्यक्ष से दृष्ट व्याप्ति वाला प्रत्यक्ष आत्मसाधक लिङ्ग यद्यपि नहीं है, तथापि पूर्वोक्त सामान्यतोदृष्ट व्याप्ति वही आत्मसाधक लिङ्ग होगा, उस सामान्यतोदृष्ट लिङ्ग से अनुमिति नहीं होती ऐसा नहीं है, ऐसी सिद्धान्ती के पक्ष से शंका कर पुनः पूर्वपक्षी के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सामान्यतोदृष्टात् च = और पूर्वोक्त सामान्यतोदृष्ट अनुमान से, अविशेषः = आत्मा के साधन में कोई विशेष नहीं है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सामान्यतोदृष्ट भी लिङ्ग होता है किन्तु उससे आत्मत्व रूप से अथवा पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों से भिन्न द्रव्यरूप से आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती, अर्थात् उससे इच्छादिगुणों के आधारमात्र की सिद्धि होगी, वह आत्मा है यह कैसे सिद्ध हो सकता है ॥ ७ ॥

उपस्कार—सामान्यतोदृष्ट नामक भी लिङ्ग होता है, किन्तु उससे आत्मत्वरूप से अथवा पृथिव्यादि अष्टद्रव्यभिन्नद्रव्यत्वरूप से आत्मा सिद्ध नहीं हो सकता, किन्तु उससे इच्छादि गुणों में किसी आधार में रहनामात्र सिद्ध होगा, और वह आत्मा ही है ऐसा निश्चय न होने से 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादि श्रुत्युक्त आत्मा के मनन में उपयोगी नहीं है यह सूत्र का अर्थ है। इसी बात को 'अविशेषः' इस पद से पूर्वपक्षी ने कहा है ॥ ७ ॥

तो क्या 'योऽपहतपाप्मा स आत्मा' अर्थात् जो पापरहित हो वह आत्मा कहलाता है इत्यादि आगम (उपनिषद् वाक्य) व्यर्थ ही हैं ? ऐसी सिद्धान्ती के मत से शंका कर वह पूर्वपक्षी ही सूत्र में कहता है—

तस्मादागमिकः ॥ ८ ॥

आगममात्रसिद्ध एवात्मा नत्वनुमेयः दृष्टसामान्यतोदृष्टयोर्लिङ्गयोरभावात्। तस्मात् सम्यगुपनिषदां श्रवणात् तत्त्वसाक्षात्कार उत्पद्यते न तु मननप्रणालिकया। तथाच मननप्रयोजनकमिदं तन्त्रमतन्त्रम्। दृष्टं हि भूतदशकनदीसन्तरणादावुपदेशमात्रादेव साक्षात्कारि ज्ञानम्।

तदेवं त्रिभिः सूत्रैः पूर्वपक्षे सिद्धान्तवाद्याह—

अहमितिशब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ॥ ९ ॥

नाममात्रं प्रमाणमात्मनि किन्त्वहमितिपदमात्मपदं वा साभिधेयं पदत्वात्

पदपदार्थ—तस्मात् = उक्त उपनिषद्-वाक्यों में श्रुत होने से, अगामिकः = शब्द प्रमाण से ही सिद्ध है ॥ ८ ॥

भावार्थ—उक्त उपनिषद्वाक्यों में आत्मा का स्वरूप निरूपित होने के कारण आत्मा शब्द प्रमाणमात्र से सिद्ध होता है न कि अनुमान से, अतः अनुमान ही को मुख्यतया वर्णन करने वाला वैशेषिकदर्शनशास्त्र व्यर्थ है ॥ ८ ॥

उपस्कार—आत्मारूप द्रव्य पदार्थ आगम प्रमाण मात्र से 'अपहतपाप्मा स आत्मा' इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों के व्यर्थ होने की शंका के कारण सिद्ध होता है न कि अनुमान से क्योंकि पूर्वोक्त सामान्यतोदृष्ट लिङ्ग उस आत्मा का साधक नहीं है। इस कारण अच्छी तरह दृष्ट अथवा उपनिषद्-वाक्यों के श्रवण से आत्मारूप तत्त्व का साक्षात्कार उत्पन्न होता है नकि मननरूप नाली द्वारा, ऐसा होने से मनन (अनुमान) को प्रधानता देने वाला यह वैशेषिकदर्शनशास्त्र तत्त्वसाक्षात्कार का कारण नहीं है। दस भूत यहां है, नदी के पार करने से वह दिखाई पड़ेंगे ऐसा उपदेशमात्र से ही साक्षात्कार करानेवाला ज्ञान देखने में आता है ॥ ८ ॥

इस प्रकार तीन सूत्रों से दिखाए हुए पूर्वपक्ष पर सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अहमितिशब्दस्य = अहं इस शब्द के, व्यतिरेकात् = पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों से व्यावृत्त होने से, न = नहीं है, आगमिकम् = शब्द प्रमाण से सिद्ध ॥ ९ ॥

भावार्थ—अहं 'मैं हूं' इत्याकारक शब्द का पद होने के कारण आश्रय अर्थ मानना आवश्यक है। और उसका वाच्य अर्थ पृथिवी आदि आठ द्रव्य नहीं हो सकते इस कारण उसका वाच्य अर्थ उनसे भिन्न आत्मा द्रव्य अनुमान से सिद्ध होने के कारण केवल आगममात्र से सिद्ध है यह नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

उपस्कार—केवल प्रदर्शित उपनिषद् वाक्यरूप आगम ही आत्मा में प्रमाण नहीं है, किन्तु 'अहं' मैं यह पद अथवा 'आत्मा' यह पद अपने से वाच्य अर्थ से युक्त

घटादिपदवद् इत्यनुमानादप्यात्मसिद्धिः । ननु पृथिव्याद्येव तदभिधेयं स्यादित्यत आह व्यतिरेकादिति । पृथिव्यादितोऽहमिति पदस्य व्यतिरेकाद्व्यावृत्तेरित्यर्थः । न हि भवत्यहं पृथिवी अहमापः अहन्तेजः अहं वायुः अहमाकाशम् अहं कालः अहं दिक् अहं मन इति व्यपदेशः प्रत्ययो वा । शरीरे भवतीति चेन्न परशरीरेऽपि तत्प्रसङ्गात् । स्वशरीरे भवतीति चेन्न स्वस्यात्मभिन्नस्यानिरुक्तेः, मम शरीरमिति वैयधिकरण्येन प्रत्ययाच्च । नन्विदमपि सामान्यतोदृष्टमेव तच्च विशेषापर्यवसन्नमिति दूषितमेवेति चेन्न अहम्पदेऽहन्त्वमात्मत्वमेव प्रकारः, तथाच पक्षधर्मताबलादेवाहन्त्वस्य प्रवृत्तिनिमित्त

है, पद होने से घटादि पद के समान, इस अनुमान से भी आत्मा की सिद्धि होती है (यहां पर सूत्र के शब्दपद का वाक्यरूप अर्थ करने से वाक्य में अर्थ की शक्ति न माननेवालों के मत में बाध दोष के वारणार्थ शङ्करमिश्र ने 'पद' इस शब्द का प्रयोग किया है) । यदि 'पृथिवी जल आदि अष्टद्रव्य ही अहं अथवा आत्मा शब्द का अर्थ मानेंगे' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो इसका निरास करने के लिये सूत्र में 'व्यतिरेकात्' ऐसा हेतु दिया है, पृथिवी आदि द्रव्यों में 'अहं' इस पद के व्यतिरेक अर्थात् व्यावृत्ति (न रहना) ऐसा हेतु का अर्थ है । क्योंकि 'अहं पृथिवी' इति, मैं पृथिवी हूं, मैं जल हूं, मैं तेज हूं, मैं वायु हूं, मैं आकाश हूं, मैं काल हूं, मैं दिशा हूं, मैं मन हूं ऐसा ज्ञान अथवा व्यवहार नहीं होता । (यहाँ पर यदि 'अहं' इस अस्मत् शब्द का सामान्यरूप से 'आत्मा' ऐसा अर्थ हो तो चैत्र के उच्चारण किये 'अहं' मैं इस पद से मैत्र का भी ज्ञान होने लगेगा इस अहं पद के उच्चारण करनेवाले को अपनी आत्मा में ही अहं पद की बोधशक्ति है ऐसा मानना होगा इस कारण 'अहं' पद को पक्ष करनेवाले प्रथम अनुमान से सामान्यरूप से आत्मा नहीं सिद्ध होगा इसी अभिप्राय से शंकरमिश्र ने 'आत्मा' पद को पक्ष कर अनुमान दिखाया है) । (आगे शरीर को आत्मा माननेवाले चार्वाक मत से शंकरमिश्र पूर्वपक्ष दिखाकर खण्डन करते हैं कि)—शरीर में 'अहं' मैं हूं ऐसा ज्ञान होता है, ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि दूसरे का शरीर होने से 'मैं' यह ज्ञान होने लगेगा । यदि अपने शरीर में 'अहं' मैं हूं ऐसा ज्ञान होता है, ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो यह भी युक्त नहीं क्योंकि आत्मा को छोड़कर 'स्व' अपना इस ज्ञान का दूसरा विषय नहीं कहा जा सकता तथा मेरा शरीर है ऐसा 'व्यधिकरण' एक में न होनेवाला ज्ञान होता भी है । यदि पूर्वपक्षी कहे कि शरीर यह भिन्न आत्मसाधक अनुमान भी पूर्व अनुमानों के समान सामान्यतोदृष्ट ही अनुमान है जिसमें पृथिव्यादि भिन्न द्रव्य सिद्ध होने पर भी वह आत्मा है इस विशेष की सिद्धि नहीं हो सकती । इस प्रकार हमने दोष दिया ही है तो सिद्धान्ति-मत से ऐसा उत्तर है कि ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि 'अहं' इस पद में 'अहन्त्व' अर्थात् 'आत्मत्व' ही विशेषण है, ऐसा होने से पक्षधर्मताबल से ही

पर्यवसन्नं तच्चानन्यसाधारणमेवेति विशेषसिद्धेः। एवं सामान्यतो दृष्टादपि बाधसहकृताद्विशेषसिद्धिः। यच्चोक्तं 'श्रवणादेव साक्षात्कारः किमनेनेति' तदयुक्तम्, न हि मननमन्तरेण सङ्कुसुकस्याश्रद्धामलक्षालनम्, न च तदन्तरेण तत्र निदिध्यासनाधिकारः, न च निदिध्यासनमन्तरेण सवासनमिथ्याज्ञानोन्मूलनक्षमस्तत्त्वसाक्षात्कारः। अभ्यासादेव हि कामातुरस्याकस्मात् कामिनीसाक्षात्कारः। न हि शाब्दमानुमानिकं वा ज्ञानं मिथ्याज्ञानोन्मूलनक्षमं दिङ्मोहादौ दृष्टमिति भावः। ननु तथापि परोक्षे आत्मनि कथं संकेतग्रहः (दृष्टो ह्ययं घटपदेवाच्य इति प्रत्यक्षे संकेतग्रह) इति चेत्? क एवमाह नात्मा प्रत्यक्ष इति, किन्तु मनसा संयोगप्रत्यासत्त्यात्मग्रहः। कथमन्यथाऽहं सुखी

(आत्मारूप पक्ष में अहन्त्व (आत्मत्व) रूप हेतु के रहने के बल से ही) 'अहं' इस पद के प्रवृत्त होने का निमित्त 'अहन्त्व' है यह सिद्ध हैं, और वह पृथिव्यादि अन्य द्रव्यों में 'मैं पृथिवी हूं' इत्यादि प्रतीति न होने के कारण उनमें न रहने से 'आत्मा' रूप अहं पद का विशेष सिद्ध है ही। इस प्रकार पृथिव्यादिकों के वाधसहित प्रदर्शित सामान्यतोदृष्ट अनुमान से भी पृथिव्यादिभिन्न 'अहं पद का वाच्य अतिरिक्त आत्मा है यह सिद्ध होता है। और केवल आगम प्रमाणगम्य ही आत्मा को माननेवाले ने जो यह कहा था कि 'श्रवणमात्र से ही आत्मा का साक्षात्कार हो जायगा तो मनन (अनुमान) रूप वैशेषिकदर्शनशास्त्र व्यर्थ है' तो यह कहना असंगत है, क्यों कि विना मनन (अनुमान) के सङ्कु (सुक) चञ्चलवुद्धी वाले मनुष्य को श्रद्धा न होने रूप चित्त के मल (दोष) के वारण द्वारा (दृढ़ निश्चय होने के लिये और मनन के विना आगे उसे 'निदिध्यासन' ध्यानविशेष के अभ्यास में अधिकार होगा, और विना निदिध्यासन के वासनासहित मिथ्याज्ञान के समूल उच्छेद करने में समर्थ आत्मारूप तत्त्व (पदार्थ) का साक्षात्कार 'प्रत्यक्ष' न होगा, क्योंकि ध्यान के निरन्तर होने रूप अभ्यास ही से कामी पुरुष को आकस्मिक कामिनी का साक्षात्कार होता है। क्योंकि आगम से अथवा अनुमान से हुआ भी तत्त्वज्ञान मिथ्याज्ञान को समूल नष्ट नहीं कर सकता, जैसे किसी को दिशा के ज्ञान का मोह (मिथ्याज्ञान) हुआ हो तो वह प्रत्यक्ष सें ही पूर्वादि दिशा के ज्ञान से नष्ट होता है, नकि उपदेश अथवा अनुमान से यह आशय है। तथापि प्रत्यक्ष आत्मा द्रव्य में 'अहं' इस पद के बोधक शक्ति का ज्ञान कैसे होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष होने वाले ही घटादि पदार्थों में घट आदि शब्दों का संकेतरूप शक्ति का ज्ञान होता है (सो) 'अहं पद' अर्थ युक्त है, इस अनुमान से आत्मारूप अर्थ कैसे सिद्ध होगा ऐसा यदि पूर्वपक्षो कहे (तो शंकरमिश्र सिद्धान्ती के मत से कहते हैं कि)—यह कौन कहता है कि आत्मा द्रव्य प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु मन से संयुक्त आत्मा होने के कारण संयोगरूप संनिकर्ष से आत्मा का

जानामीच्छामि यते दुःखीत्यादिप्रत्ययः। नह्ययमवस्तुकः सन्दिग्धवस्तुको वा, नीलादिप्रत्ययवत् अस्यापि निश्चितवस्तुकत्वात्। न च लैङ्गिकः, लिङ्गज्ञान-मन्तरेणापि जायमानत्वात्। नापि शब्दः, तदनुसन्धानाननुविधानात्। प्रत्यक्षा-भासोऽयमिति चेत्, तर्हि क्वचिदनाभासविषयोऽपि नह्यप्रमितमारोप्यते इत्या-वेदयिष्यते ॥ ९ ॥

एवञ्चेत् किमनुमानेनेति पूर्वपक्षवादी आह—

यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति ॥१०॥

इति शब्दो ज्ञानप्रकारमाह। दृष्टमिति भावे-क्तप्रत्ययान्तम्, अन्वक्षमित्य-ध्यक्षम्। तेनायमर्थः-अयं देवदत्तः अयं यज्ञदत्त इति प्रकारकं दृष्टं दर्शनं

प्रत्यक्ष होता ही है, यदि ऐसा न हो तो 'मैं सुखी हूँ' मैं जानता हूँ इच्छा करता हूँ, मैं यत्न करता हूं, मैं दुखी हूं, इत्यादि ज्ञान कैसे होते है। क्योंकि यह संपूर्ण ज्ञान आश्रय पदार्थ रहित है, अथवा संदिग्ध आश्रय पदार्थ को विषय करता है यह नहीं हो सक्ता, कारण यह है कि यह नीलवर्ण है द्रव्यादि ज्ञान के समान 'मैं सुखी हूं' इत्यादि ज्ञान भी निश्चित पदार्थ को ही विषय करता है, जो लिङ्ग के ज्ञान के विना भी उत्पन्न होने के कारण लिङ्ग से उत्पन्न अनुमान रूप नहीं है। न शब्द प्रमाण से उत्पन्न शाब्दबोधकरूप है, क्योंकि शब्द की आवश्यकता न रख-कर 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान होता है। यदि कहो कि यह ज्ञान प्रत्यक्षाभास (प्रत्यक्ष के समान प्रतीत होने वाला है) अर्थात् वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है जिससे उसके द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष से सिद्ध हो तो इसी कारण कहीं न कहीं वास्तविक प्रत्यक्ष का भी विषय मानना पड़ेगा क्योंकि जो कहीं निश्चित नहीं होता उसका आरोप रूप आभास ज्ञान भी नहीं होता यह आगे निवेदन किया जायगा ॥९॥

यदि ऐसा (प्रत्यक्ष-सिद्ध) आत्मा है तो उसकी सिद्धि के लिये अनुमान की क्या आवश्यकता है। इस अभिप्राय से पूर्वपक्षवादी के मत से सूत्रकार सूत्र कहते हैं—

पदपदार्थ—यदि = यदि, दृष्टं=दीखता है, अन्वक्षं = इन्द्रियजन्य ज्ञान होने से, अहं = मैं, देवदत्तः=देवदत्त हूं, अहं=मैं, यज्ञदत्तः = यज्ञदत्त हूं, इति—ऐसा ज्ञान ॥१०॥

भावार्थ—यदि सिद्धान्ती ने कहे हुए प्रकार से यह यज्ञदत्त है, यह देवदत्त है इत्यादि ज्ञान प्रत्यक्ष है तो उस आत्मा के सिद्धि करने में अनुमान की क्या आवश्यकता है क्योंकि प्रत्यक्ष से हाथी को देखने पर उसकी आवाज से उसका अनु-मान करने की आवश्यकता नहीं रहती ॥ १० ॥

उपस्कार—सूत्र में इति यह शब्द 'मैं देवदत्त हूं, मैं यज्ञदत्त हूं' इन ज्ञानों के समान यह चैत्र नामक मनुष्य है इत्यादि और ज्ञानों का प्रकार सूचित करता है। सूत्र में 'दृष्टं' यह पद दर्श धातु से भाव धर्म को कहने वाले 'क्त' प्रत्यय जिसके अन्त

अध्यक्षमेवास्ति यदि किमनुमानप्रयासेन 'न हि करिणि दृष्टे चीत्कारेण तमनुमिमतेऽनुमातारः" ॥ १० ॥

अत्र सिद्धान्त्याह—

दृष्टयात्मनि लिंगे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ॥ ११ ॥

दृष्टे प्रत्यक्षेण गृहीते आत्मनि लिङ्गे सम्भूतसामग्रीके सति एक एव एकवैषयिक एव प्रत्ययः। प्रत्यय इति निरस्तसमस्तविभ्रमाशङ्कित्वमाह। कुत एवमित्यत आह–दृढत्वात् प्रमाणसंप्लवेनान्यथाभावशङ्कानिवर्तनपटुत्वात्। तत्र दृष्टान्तमाह–प्रत्यक्षवदिति। यथा दूरात्तोयप्रत्यक्षे सत्यपि संवादार्थं बलाका-

---

में है ऐसा है जिसका दर्शन ऐसा अर्थ है जिससे यह दर्शन यदि अन्वक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष रूप है। जिससे यह अर्थ निकलता है कि यह देवदत्त है 'यह यज्ञदत्त है,यह यज्ञदत्त है' इत्यादि प्रकारवाले जिसने इष्ट-दशन अर्थात् ज्ञान है वह यदि प्रत्यक्ष रूप ही है तो आत्मा की सिद्धि में अनुमानप्रमाण दिखाने के प्रयास की सिद्धान्ती को क्या आवश्यकता है क्योंकि हस्ती के प्रत्यक्ष देखने पर उसके 'चीत्कार' रूप शब्द से उसकी अनुमान-प्रमाण से प्रमाता ज्ञाता लोग सिद्धि नहीं करते ॥ १० ॥

इस पूर्वपक्ष पर सिद्धान्ती के मत से सूत्रकार सूत्र में कहते हैं—

पदपदार्थ—दृष्टे=प्रत्यक्ष से देखे हुए, आत्मनि = आत्मा में, लिङ्गे = अनुमान से साधक लिङ्ग के (होने पर), एक एव=एक ही आत्मारूप विषय में, दृढत्वात् = दृढ होने से, प्रत्यक्षवत् = प्रत्यक्ष के समान, प्रत्ययः=निश्चयरूप ज्ञान होता है॥ ११ ॥

भावार्थ—आत्मा पूर्वोक्त 'यह देवदत्त है' इत्यादि प्रतीतियों से प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर भी उसके साधक पूर्वोक्त सद्धेतुओं के भी होने के कारण उसी एक ही आत्मा को विषय करने वाली विपरीत शंकाओं के निरास द्वारा दृढनिश्चयात्मक ज्ञान होने के लिये प्रत्यक्षसिद्ध विषय का भी अनुमानरसिक विद्वान् अनुमान से भी सिद्धि करते हैं ॥ ११ ॥

उपस्कार—प्रत्यक्ष से आत्मा का ग्रहण होने पर भी साधक लिङ्ग की भी सामग्री का संभव होने पर एक है आत्मारूप विषयवाला निश्चयरूप प्रत्यय (ज्ञान) होता है। संपूर्ण भ्रामात्मक ज्ञानों का निरास करने वाला ज्ञान यहाँ (इस सूत्र) में प्रत्यय शब्द का अर्थ है। ऐसा क्यों ? इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये सूत्रकार ने 'दृढत्वात्' यह हेतु दिया है जिसका प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाणों के साङ्कर्य से उस आत्मा के शरीर तथा इन्द्रियादि रूप होने की शंका का निरास करने में समर्थ है ऐसा अर्थ है। इसी में दृष्टान्त सूत्रकार सूत्र में देते हैं 'प्रत्यक्षवत्' प्रत्यक्ष के समान, जिस प्रकार दूर से जल का प्रत्यक्ष होने पर भी उसके 'संवाद' दृढज्ञान (निश्चय) होने के लिये 'बलाका' बक पंक्तियों को देखकर उनसे भी जल का

लिङ्गेनापि तदनुमानम्। तदुक्तम् "प्रत्यक्षपरिकलितमप्यनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः" इति। इदमत्राकूतम्—यद्यात्मा कदाचित् प्रत्यक्षे चैतसे भासत एव तथापि अहं गौरः अहं कृशः इत्यादिविरोधिप्रत्ययान्तरतिरस्कृतो न तथा स्थेमानमासादयति विद्युत्सम्पातसञ्जातज्ञानवत्, तत्र लिंगेन अनन्यथासिद्धेन ज्ञानान्तरमुत्पद्यमानं पूर्वज्ञान (विषय) मेव स्थिरीकरोति। किञ्च 'श्रोतव्यो मन्तव्यः" इत्यादिविधिबोधितस्यात्ममननस्य इष्टसाधनत्वावगतौ अनुमित्सयाऽवश्यमात्मानुमानप्रवृत्तिः, तद्व्यतिरेके निदिध्यासनासम्भवे साक्षात्काराभावेऽपवर्गासम्भवादिति भावः। अहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति प्रतीतिद्वयाभिधानमात्मनः प्रत्यात्मवेदनीयत्वं सूचयितुम्॥ ११॥

ननु यदि यज्ञदत्तोऽहमिति प्रत्यय आत्मनि तदा यज्ञदत्तो गच्छतीति गमनसामानाधिकरण्यभानमनुपपन्नमित्यत आह—

अनुमान किया जाता है, इसी कारण प्राचीन नैयायियों ने कहा है—'प्रत्यक्ष से जाने हुए विषय का भी अनुमानप्रमाण से जानने की अनुमानरसिक नैयायिक विद्वान् जानने की इच्छा करते हैं।

यह यहाँ पर अभिप्राय है कि यद्यपि आत्मा का मानस प्रत्यक्ष में भास (ज्ञान) होता ही है, तथापि "मैं श्वेत वर्ण हूं मैं दुर्बल हूं' इत्यादि शरीर में आत्मता के कहने वाले विरुद्ध ज्ञानों से तिरस्कार को आक्रमण कर प्राप्त होने के कारण शरीरभिन्न आत्मा का ज्ञान वैसा अत्यन्त स्थिर दृढ़ निश्चय रूप नहीं हो सकता है, जिस प्रकार विजुली के प्रकाश में हुआ पदार्थ का ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता, इस कारण शरीर भिन्न आत्मा है इस विषय में पूर्वोक्त अन्यथासिद्ध न होने वाले साधक लिङ्ग से उत्पन्न हुआ एक ही उस आत्मा के विषय का ज्ञान दृढ़ निश्चय कर देता है। (यदि 'प्रत्यक्ष से आत्मा का ज्ञान है तो सिद्धिज्ञान के अनुमिति में प्रतिवन्धक होने से अनुमिति कैसे होगी' ऐसी शंका हो तो शंकरमिश्र कहते हैं कि)—'श्रोतव्यो मन्तव्यः' आत्मा का श्रवण करना चाहिये मनन करना चाहिये, इत्यादि श्रुति के विधि करने वाले वाक्यों से कहे हुए आत्मा के अनुमानरूप मनन में यह आत्मानुमान मेरे इष्ट (आत्मसाक्षात्काररूप) का साधन है ऐसा ज्ञान होने पर मैं 'अनुमान से आत्मा को जानना चाहता हूं' इस प्रकार की अनुमान करने की इच्छारूप उत्तेजक होने से आत्मा के अनुमान करने में अवश्य प्रवृत्ति होगी, क्योंकि विना अनुमानरूप मनन के निदिध्यासन न होने के कारण आत्मा का साक्षात्कार ज्ञान न होगा, जिससे अपवर्ग (मोक्ष) न हो सकेगा। यह सूत्र का भाव है। इस सूत्र में 'अहं देवदत्तः अहं यज्ञदत्तः' ऐसी दो प्रतीतियों से यह सूचित होता है कि प्रत्येक आत्मा को ऐसा ज्ञान होता है॥ ११॥

यदि 'मैं देवदत्त हूं' यह ज्ञान आत्मा में होता है तो 'यज्ञदत्त जाता है' इस प्रतीति में गमन क्रिया का सामानाधिकरण्य एक आश्रय में गमन क्रिया तथा

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः ॥ १२ ॥

अस्ति हि अहं गौरः अहं स्थूल इति प्रत्ययः, अस्ति च मम शरीरमिति भेदप्रत्ययः। तत्र देवदत्तो गच्छतीति गतिसामानाधिकरण्यानुभवो व्यवहारश्च भाक्तः, ममेति प्रत्ययस्य यथार्थत्वात्। यद्यपि देवदत्तत्वं शरीरवृत्तिर्जातिस्तेन देवदत्तो गच्छतीति मुख्य एव प्रयोगो यथार्थ एव च प्रत्ययः तथापिदेवदत्तपदं तदवच्छिन्नात्मनि प्रयुक्तश्चेत् तदौपचारिको बोद्धव्यः ॥ १२ ॥

अत्र शङ्कते—

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥ १३ ॥

उसके कर्ता की प्रतीति कैसे होगी, (क्योंकि आत्मा में तो गमन नहीं है) इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—देवदत्तः = देवदत्त नामक मनुष्य, गच्छति = जाता है, यज्ञदत्तः = यज्ञदत्त नाम का मनुष्य, गच्छति = जाता है, इति=ऐसा, उपचारात्=गौण रूप से, शरीरे = शरीर में, प्रत्ययः=ज्ञान होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—'अहं गौरः' मै गौर वर्ण हूं, मैं मोटा हूं, यह ज्ञान, तथा मेरा शरीर है यह भी ज्ञान होता है, अतः देवदत्त जाता है यह गमन क्रिया का आश्रय और उसका कर्ता एक ही है ऐसा अनुभव तथा व्यवहार गौण है, और मेरा यह ज्ञान पदार्थ है यह सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

उपस्कार—मैं गौर वर्ण हूं, मैं स्थूल हूं इस प्रकार का प्रत्यय होता है और मेरा शरीर है इस प्रकार आत्मा से शरीर भिन्न है यह भी ज्ञान होता है। उसमें देवदत्त जाता है इस प्रकार गमनक्रिया का आधार तथा उसका कर्ता एक ही है ऐसा जो अनुभव तथा व्यवहार भी होता है वहां तक 'गौण' है, क्योंकि मेरा शरीर ऐसा भेद ज्ञान यथार्थ (सत्य) है। यद्यपि 'देवदत्तत्व' नामक जाति उसके शरीर में रहती है, इस कारण देवदत्त जाता है यह मुख्य (प्रधान) ही शब्द प्रयोगरूप व्यवहार तथा सत्य ही ज्ञान भी हो सकता है तथापि देवदत्त यह पद देवदत्त के शरीर से युक्त उसकी आत्मा में यदि प्रयुक्त हो तो उसे औपचारिक (गौण) है ऐसा जानना ॥ १२ ॥

इस पर पूर्वपक्षी मत से सूत्रकार सूत्र में शंका करते हैं—

पदपदार्थ—सन्दिग्धः तु = किन्तु संदिग्ध है, उपचारः = गौण होना ॥ १३ ॥

भावार्थ—आत्मा तथा शरीर दोनों में 'अहं' यह ज्ञान होता है तथा व्यवहार भी होता है इस कारण दोनों में से किसमें मुख्य है तथा किसमें गौण है यह संदेह होता है ॥ १३ ॥

तुशब्दः पूर्वपक्षद्योतकः । आत्मशरीरयोस्तावदहमितिप्रत्ययः प्रयोगश्चेत् दृश्यते तत्र क्व मुख्यः क्व वौपचारिक इति सन्देहः ॥ १३ ॥

समाधत्ते—

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः ॥ १४ ॥

अर्थान्तरमात्मत्वरूपं प्रत्यक्षं यत्र प्रत्यये स प्रत्ययोऽर्थान्तरप्रत्यक्षः । अयमर्थः—अहमिति प्रत्ययस्य प्रत्यगात्मनि स्वात्मनि भावात् परत्र परात्मनि अभावात् अर्थान्तरे स्वात्मन्येव मुख्यः कल्पयितुमुचितः । यदि तु शरीरे मुख्यः स्यात् तदा बहिरिन्द्रियजः स्यात् । न हि शरीरं मानसप्रत्यक्षं मानसश्चायमहमिति प्रत्ययः बहिरिन्द्रियव्यापारमन्तरेणापि जायमानत्वात्, अहं सुखी जाने यते इच्छाम्यहमिति योग्यविशेषगुणोपहितस्यात्मनो मनसा विषयीकरणात् । नायं लैङ्गिको लिङ्गानुसन्धानमन्तरेणापि जायमानत्वात् । न शाब्दः

उपस्कार—इस सूत्र में 'तु' यह शब्द पूर्वपक्ष का सूचक है । आत्मा तथा शरीर दोनों में ही 'अहं' मैं, ऐसा ज्ञान तथा शब्दप्रयोगरूप व्यवहार देखने में आता है, उन दोनों में से किसमें मुख्य है तथा किसमें गौण यह सन्देह है ॥ १३ ॥

सूत्रकार सूत्र में समाधान करते हैं—

पदपदार्थ—अहं इति = 'मैं हूं' ऐसा, प्रत्यगात्मनि = अपनी आत्मा में, भावात्= ज्ञान तथा व्यवहार होने से, परत्र = दूसरे में, अभावात् = न होने से, अर्थान्तर प्रत्यक्षः=आत्मारूप शरीरादि भिन्न दूसरे पदार्थ को प्रत्यक्ष विषय करता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—'अहं' मैं हूं ऐसा ज्ञान अपनी ही आत्मा में होता है, दूसरे की आत्मा में नहीं होता है, इस कारण अपनी आत्मा में ही मुख्य मानना उचित है, अतः 'अहं' मैं हूं यह ज्ञान शरीरादिकों से भिन्न आत्मारूप दूसरे पदार्थ के प्रत्यक्ष को विषय करता है ॥ १४ ॥

उपस्कार—आत्मत्व जातिवाला आत्मारूप शरीरादिकों से भिन्न दूसरे पदार्थ का जिसमें प्रत्यक्ष होता है ऐसा 'अहं' यह प्रत्यय शरीरादि भिन्न आत्मा को विषय करता है यह सूत्र का अर्थ है । कि 'अहं' यह ज्ञान प्रत्यगात्मा अर्थात् अपनी आत्मा में होता है, दूसरे की आत्मा में नहीं होता, इस कारण स्वात्मा रूप दूसरे पदार्थ में ही मुख्य है ऐसा मानना उचित है । यदि यह 'अहं' यह ज्ञान और व्यापार मुख्य हो तो, बहिरिन्द्रिय से उसका ज्ञान होगा, क्योंकि शरीर का मानस प्रत्यक्ष नहीं होता, और यह 'अहं' मैं हूं यह ज्ञान बाहरी चक्षु आदि इन्द्रियों के व्यापार के विना भी होने के कारण मानस ज्ञान नहीं है, क्योंकि 'मैं दुःखी हूं, मैं सुखी हूं, मैं जानता हूं, मैं इच्छा करता हूं, मैं यत्न करता हूं' इस प्रकार प्रत्यक्ष योग्य ज्ञानादि गुणविशेषयुक्त आत्मा मन से ही विषय किया जाता है । यह लिङ्ग से जन्य अनुमान ज्ञान नहीं है, क्योंकि उक्त ज्ञानादि आत्मा के साधक हैं ऐसा ज्ञान हुए बिना

शब्दाकलनमन्तरेणापि जायमानत्वात्। तस्मान्मानस एव, मनसश्च बहिर्-स्वातन्त्र्येण शरीरादावप्रवृत्तेरिति भावः। किञ्च यदि शरीरे स्यात् परशरीरे स्यात्, स्वात्मनि यदि स्यात् तदापि परात्मनि स्यादिति चेन्न परात्मनः परस्यातीन्द्रियत्वात् तद्विशेषगुणानामयोग्यत्वात्, योग्यविशेषगुणोपग्रहेण तस्य योग्यत्वात्। न केवलमात्मन इदं शीलं किन्तु द्रव्यमात्रस्य, द्रव्यं हि योग्य-विशेषगुणोपग्रहेणैव प्रत्यक्षं भवति। आकाशमपि तर्हि शब्दोपग्रहणे प्रत्यक्ष स्यादिति चेत्, स्यादेवं यदि श्रोत्रं द्रव्यग्राहकं भवेत्, आकाशं वा रूपवत् स्यात्। आत्मनोऽपि नीरूपत्वं तुल्यमिति चेत्, बहिर्द्रव्यमात्र एव प्रत्यक्षतां प्रति रूपवत्त्वस्य तन्त्रत्वात्। प्रत्यगित्ययं शब्दोऽन्यव्यावृत्तमाह ॥ १४ ॥

पुनः शङ्कते--

भी 'मैं दुःखी हूं' इत्यादि ज्ञान होते हैं। न यह ज्ञान शाब्द ज्ञान रूप है, क्योंकि 'मैं दुःखी हूं' इत्यादि शब्द ज्ञान के विना भी मानस ज्ञान होता है। इस कारण उक्त ज्ञान मानस प्रत्यक्ष ज्ञान ही है, और यह मन बाह्य विषय शरीरादिकों में स्वतन्त्र (विना चक्षुरादि बाह्य इन्द्रियों के आधार के) प्रवृत्त नहीं होता अतः शरीरादि आत्मा नहीं हैं, किन्तु उनसे भिन्न उनका अधिष्ठाता आत्मा ही है यह सूत्र का आशय है। (शरीर को 'अहं' इस ज्ञान का विषय होने से बाधक भी है इस आशय से शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—और यदि यह अहं (मैं हूं) यह ज्ञान और व्यवहार शरीर में हो तो दूसरे शरीर में भी होगा। यदि कहो कि यदि यह अहं प्रत्यय अपनी आत्मा में हो तो भी दूसरे की आत्मा में होगा तो यह नहीं कह सकते क्योंकि दूसरे की आत्मा दूसरे आत्मा को अतीन्द्रिय होने से इन्द्रिय से ग्रहण नहीं कर सकती, क्योंकि दूसरे आत्मा के सुखदुःख इत्यादि गुण दूसरे को प्रत्यक्ष नहीं होते, प्रत्यक्ष योग्य गुणों के रहने से आत्मा को योग्यता (प्रत्यक्ष होने की योग्यता) हो सकती है। केवल यह आत्मा (द्रव्य) का ही स्वभाव नहीं है, किन्तु सम्पूर्ण द्रव्यों का, क्योंकि प्रत्यक्ष योग्य विशेष गुणों के सम्बन्ध से ही किसी भी द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है। तब तो आकाश द्रव्य का भी उसके शब्द रूप विशेष गुण का प्रत्यक्ष होने से प्रत्यक्ष होने लगेगा। ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो ऐसा तब होगा यदि श्रोत्र इन्द्रिय द्रव्य का ग्रहण करने वाला हो, अथवा आकाश द्रव्य रूपाश्रय हो। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'आत्मा में भी तो रूप न होना आकाश के समान है' (तो आत्मा का भी प्रत्यक्ष न होगा) तो आपत्ति नहीं आवेगी क्योंकि केवल बहिर्द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने में ही रूपवत्ता कारण है। सूत्र में 'प्रत्यग्' यह शब्द इतर आत्माओं से भेद का सूचक है ॥ १४ ॥

पुनः सूत्रकार पूर्वपक्षी मत से सूत्र द्वारा शंका करते हैं—

देवदत्तो गच्छतीत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीरप्रत्यक्षोऽहङ्कारः ॥१५॥

अहङ्कारोऽहमिति प्रत्ययः। स च शरीरप्रत्यक्षः शरीरं प्रत्यक्षं विषयो यत्र स शरीरप्रत्यक्षः। देवदत्तो गच्छतीत्युपचारात्तावत् प्रयोगः प्रत्ययो वा त्वया समाहितः। स चोपचार आभिमानिकः यतोऽहं गौरः अहं कृशः सौभागिनोऽह पुनरुक्तजन्मेत्यादयः प्रत्ययाः प्रयोगाश्चोपचारेण समन्वयितुमशक्या इत्यर्थः॥१५॥

सिद्धान्तमाह—

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥ १६ ॥

तुशब्दोऽयं सिद्धान्तमभिव्यनक्ति। उपचारोऽयमाभिमानिकः किन्तु शरीर

पदपदार्थ—देवदत्तः=देवदत्तः गच्छति,=जाता है, इति = ऐसा, उपचारात्= गौण रूप से, अभिमानात् = अभिमान से, तावत्=तो, शरीर प्रत्यक्षः=शरीररूप विषय वाला अहङ्कारः='अहं' यह प्रत्यय है ॥ १५ ॥

भावार्थ—अहङ्कार ('अहं' मैं हूँ ऐसा ज्ञान) शरीर को ही विषय करता है, क्योंकि सिद्धान्ती ने देवदत्त जाता है ऐसा ज्ञान या व्यवहार उपचार (गौण) रूप से होता है ऐसा कहा है किन्तु वह उपचार आभिमानक (वास्तविक नहीं) है क्यों कि मैं गौर वर्ण हूँ, मैं कृश हूँ, इत्यादि ज्ञान और व्यवहार अवास्तविक नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

उपस्कार—सूत्र के अहङ्कार शब्द का अर्थ है 'अहं मैं हूँ ऐसा ज्ञान और वह ज्ञान शरीर में है प्रत्यक्ष (विषय) जिसमें ऐसा होने से शरीर प्रत्यक्ष कहाता है। देवदत्त जाता है ऐसा उपचार से गौणरूप से तो शब्द प्रयोग अथवा ज्ञान है ऐसा सिद्धान्ती ने समाधान किया था। किन्तु वह उपचार गौण रूप व्यवहार आभिमानिक (अवास्तविक) है, क्यों कि मैं गौर वर्ण हूँ, मैं दुर्बल हूं, मैं भाग्यवान् हूं, मैं पुनरुक्तजन्मा (व्यर्थ जन्म वाला) हूँ, इत्यादि ज्ञान तथा शब्द प्रयोग वा गर्भ उपचार (गौण) रूप से संगति लगाना अशक्य है, (क्योंकि शरीर में ही गौरवर्ण, दुर्बलतादि वास्तविक हैं) ॥ १५ ॥

इस पूर्वपक्ष पर सिद्धान्त सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सन्दिग्धः तु = किन्तु सन्दिग्ध है, उपचारः = गौणरूपता ॥१६॥

भावार्थ—देवदत्त जाता है यह ज्ञान तथा व्यवहार वास्तविक नहीं है, किन्तु शरीर को ही अहं प्रत्यय विषय करता है यह जो पूर्वपक्षी ने कहा उसमें भी सन्देह ही है, अतः अहं प्रत्यय शरीर या उससे भिन्न आत्मा को विषय करता है इन दोनों विषयों में साक्षी कौन है इसका विशेष रूप से जब हम निर्णय करने जाते हैं तो नेत्र बंद करने पर भी 'मैं हूं' ऐसा ज्ञान होने के कारण शरीर से भिन्न तथा बहिरिन्द्रियों से न गृहीत होने वाला ही आत्मा पदार्थ है यह सिद्ध होता है ॥ २६ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'तु' यह शब्द सिद्धान्तपक्ष का सूचक है। यह देवदत्त

एवायमहम्प्रत्यय इति यदुक्तं तत्रापि सन्देह एवेत्यर्थः। तथाच प्रत्ययस्योभयत्रापि कूटसाक्षित्वेन विशेषावधारणाय यतितव्यम् तत्र यत्ने क्रियमाणे निमीलिताक्षस्याप्यहमिति-प्रत्ययदर्शनात् शरीरभिन्ने बहिरिन्द्रियागोचरे वस्तुनि स मन्तव्यः। शरीरे भवन् परशरीरेऽपि स्यात्, चक्षुर्नैरपेक्ष्येण च न स्यात्। अहं कृशः स्थूलो वा सुखीति कथं सामानाधिकरण्यमिति चेन्न सुखाद्यवच्छेदकत्वेनापि तत्र शरीरभानसम्भवात् सिंहनादवदिद गहनमितिवत्, अहन्त्वमात्रं शरीरे समारोप्यते मनसोपस्थितम्, त्वगिन्द्रियोपनीतमौष्ण्यम् उष्णं शरीरमितिवत्॥ १६॥

सिद्धान्तमुपबृंहयन्नाह—

न तु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयः॥ १७॥

जाता है यह ज्ञान शरीर में ही गमन क्रिया होने से यद्यपि आत्मा में वास्तविक नहीं है तथापि 'अहं' यह ज्ञान शरीर में ही होता है यह जो पूर्वपक्षी ने कहा है, उसमें भी सन्देह ही है यह सूत्र का अर्थ है। ऐसा होने से 'अहं' मैं इस ज्ञान के शरीर तथा उससे भिन्न भी आत्मा में आत्मा ही कूट (नित्य) साक्षी (गवाह) है, इस अंश में समानता होने के कारण विशेष रूप से निर्णय करना आवश्यक है इस विषय में यत्न करने पर नेत्र बंद करने पर भी मनुष्य को 'मैं हूं' ऐसा ज्ञान होने के कारण शरीर से भिन्न तथा चक्षु आदि बहिरिन्द्रिय से गृहीत न होने वाले पदार्थ में वह ज्ञान मानना पड़ेगा। क्योंकि यदि यह 'मैं हूं,' यह ज्ञान शरीर में होगा तो दूसरे के भी शरीर में होगा, तथा भिन्न चक्षुरिन्द्रिय की अपेक्षा से न होगा। यदि कहो कि 'तब मैं दुर्बल, स्थूल हूँ या सुखी हूं, इस प्रकार दुर्बलता आदि तथा 'अहं' मैं हूं इन दोनों का (सामानाधिकरण्य) एक आधार का होने का ज्ञान कैसे होगा' तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि सुखादि गुणों की आत्मा में उत्पत्ति होने का अवच्छेदक (आधार सम्बन्ध-रूप) विशेषण होने से भी उक्त ज्ञानों में शरीर का भान (ज्ञान) हो सकता है, जिस प्रकार सिंह की गर्जनारूप शब्द का आकाश ही आश्रय होने पर वन के आकाश में सिंह की गर्जना होने से यह वन सिंह की गर्जना वाला है, ऐसा ज्ञान होता है। प्रस्तुत में मन से शरीर में अहंत्व मात्र (आत्मा होने मात्र का) आरोप होता है, जिस प्रकार त्वगिन्द्रिय से प्राप्त हुई उष्णता उष्ण जल है, उष्ण शरीर है इत्यादिकों में आरोप से वास्तविक न होने पर भी गृहीत होती है॥ १६॥

इसी सिद्धान्त को बढ़ाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—नतु=किन्तु नहीं है, शरीरविशेषात् = शरीर के भेद से, यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोः = यज्ञदत्त तथा विष्णुदत्त नाम के दो मनुष्यों का, ज्ञानं=ज्ञानगुण, विषयः = विषय है॥ १७॥

ज्ञानमिति योग्यं सुखदुःखादिकमात्मगुणमुपलक्षयति । यथा यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोः शरीरं परस्परभिन्नं तथा ज्ञानसुखादिकमपि भिन्नमेव । तथाच यथा यज्ञदत्तस्येदं शरीरं तथा यज्ञदत्तस्य ज्ञाने सुखादौ वाऽनुत्पन्ने अहं सुखी जानं यते इच्छामीति ज्ञानादिकं विषयो भवति योग्यशरीरविषयकत्वेन तदीयरूपादिवत्तदीयज्ञानादीनामपि प्रत्यक्षत्वसम्भवात् । न च सम्भवति,तस्मात् ज्ञानसुखादीनां शरीरादन्य एवाश्रयो वक्तव्य इति भावः । शरीरविशेषात् शरीरस्य भेदादित्यर्थः । तथाच शरीरभेदं प्राप्य ज्ञानं न तु विषय इति' ल्यब्लोपे पञ्चमी॥१७॥

नन्वात्मा न प्रत्यक्षः नोरूपद्रव्यत्वात् निरवयवद्रव्यत्वाद्वा आकाशवत्,तथा-

---

भावार्थ—यज्ञदत्त तथा विष्णुदत्त नामक दो व्यक्तियों के शरीर तथा ज्ञानादि गुण दोनों ही भिन्न हैं, ऐसा होने से जिस प्रकार यज्ञदत्त का यह शरीर विषय होता है उस प्रकार उस यज्ञदत्त को ज्ञानादि उत्पन्न न होने पर भी शरीरात्मवाद पक्ष में ज्ञानादिक शरीर का गुण होने से विषय होगा (अर्थात् 'अस्मत्' शब्द को शरीर का वाचक मानने से 'यह शरीर' है इस प्रत्यक्ष के आत्मविषयक होने से आत्मा तथा ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष की सामग्री समान होने के कारण 'यह शरीर है' ऐसे प्रत्यक्ष के समय में 'मैं जानता हूं' इत्यादि रूप ज्ञानादि गुणों के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी, इस कारण शरीरादिकों से भिन्न ही आत्मा ज्ञानादि गुणों का आश्रय मानना युक्त है ।। १७ ।।

उपस्कार--सूत्र में ज्ञानपद मानस-प्रत्यक्षयोग्य सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादि संपूर्ण आत्मा के विशेष गुणों का सूचक है । जिस प्रकार यज्ञदत्त तथा विष्णुदत्त नाम के दो मनुष्यों का शरीर परस्परमें भिन्न है,उसी प्रकार ज्ञान सुख आदि गुण भी शरीर गुण से भिन्न ही है । ऐसा होने से जिस प्रकार यज्ञदत्त का यह शरीर विषय होता है उसी प्रकार यज्ञदत्त को ज्ञान अथवा सुख दुःखादिकों के उत्पन्न न होने पर भी मैं सुखी हूं, मैं जानता हूं, मैं यत्न करता हूं, मैं इच्छा करता हूं' इत्यादि रूप से ज्ञानादि गुण भी विषय हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष-योग्य शरीर के विषय में होने से शरीर के गौरवर्ण दुर्बलतादि गुणों के समान उस यज्ञदत्त के ज्ञान सुखादि गुणों का भी प्रत्यक्ष हो सकेगा । और होता नहीं, इस कारण ज्ञान सुख इत्यादि गुणों का आधार शरीर से भिन्न ही कहना पड़ेगा यह सूत्र का आशय है । सूत्र के 'शरीरविशेषात्' इस पद का शरीर के भेद से ऐसा अर्थ है । (इस प्रकार सूत्र का भावार्थ कहकर शंकरमिश्र सूत्र के अक्षरों का अर्थ कहते हैं कि)—ऐसा होने में शरीर के भेद को प्राप्त कर ज्ञान होता है, न कि विषय है, अतः 'शरीरविशेषात्' इस पद में ल्यप् प्रत्यय के लोप में यह पंचमी विभक्ति है । (ज्ञान के अवच्छेदक विशेषण) शरीर को विषय करनेवाले प्रत्यक्ष का ज्ञानादिगुण विषय नहीं है ।। १७ ।।

'आत्मा' प्रत्यक्ष नहीं है, रूपरहित द्रव्य होने से, अथवा निरवयव द्रव्य होने से,

चाहं कृशो गौर इति बुद्धेः शरीरमेव विषयो वाच्यः, क्वचिदहं सुखीत्यादिधीरपि यद्यप्यस्ति तथाप्यश्रयमन्तरेण भासमानानां सुखादीनां शरीरे समारोप इत्येव कल्पयितुमुचितम् ; यथोष्णं सुरभि जलम् इत्याश्रयमन्तरेण प्रतीयमानयोरौष्ण्य-सौरभयोर्जले समारोपः। न त्वेतदनुरोधेन जलप्रत्ययस्यापि प्रसिद्धजलमन्तरेणा-न्यविषयत्वम् ; तथाऽहमित्यप्यहन्त्वं शरीर एव वास्तवम् , सुखादिकन्तु कदा-चित्तत्रारोप्यते तेनात्मनि प्रत्यक्षाकारं ज्ञानं नास्त्येव। सुखाद्याधारत्वेन यत् कल्पनीयं तदागमसिद्धं भवतु न तत्रापि ग्रह इत्यत आह—

अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद्व्यतिरेकाव्यभिचाराद्विशेषसि-द्धेर्नागमिकः ॥ १८ ॥

आकाश के समान, ऐसा अनुमान होने से मैं कृश हूं, इस प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय शरीर ही कहना पड़ेगा, किसी स्थल में 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान भी यंद्यपि होता है, तथापि बिना आधार के प्रतीत होने वाले सुखादि गुणों का शरीर में आरोप होता है यह कल्पना करना उचित है, जिस प्रकार 'उष्ण तथा सुगन्धि जल है' इस ज्ञान में विना आधार के प्रतीत होनेवाली उष्णता एवं सुगन्धि प्रतीतियों का जल में आरोप होता है। ताकि इस प्रतीति के अनुरोध (होने) से जल का ज्ञान भी प्रसिद्ध जल को छोड़कर दूसरे किसी को विषय करता है, इसी प्रकार 'अहं' मैं हूं इस प्रतीति में रहनेवाली 'अहंता' अहंभाव शरीर में ही वास्तविक है, सुखादि गुणों का किसी-किसी समय में उस शरीर में आरोप होता है, अतः आत्मा द्रव्य में प्रत्यक्षरूप ज्ञान नहीं है। सुखादि गुणों के आश्रयरूप से जो आत्मा की स्वीकृति होती है, वह आगम (शब्द) प्रमाण से सिद्ध ही है, किन्तु उसमें ज्ञान नहीं होता इस प्रकार की पूर्वपक्षी की शंका का सूत्रकार ऐसा समाधान देते हैं—

पदपदार्थ—अहं इति = अहं 'मैं हूँ' इस प्रकार, मुख्ययोग्याभ्यां = प्रधान तथा प्रत्यक्ष योग्य, शब्दवत् = शब्दगुण के समान, व्यतिरेकाव्यभिचारात् = अभाव का अव्यभिचार (नियम) होने से, विशेषसिद्धेः = विशेष की सिद्धि होने के कारण, न=नहीं है, आगमिकः = शब्द-प्रमाण-सिद्ध (आत्मा) ॥ १८ ॥

भावार्थ—'अहं सुखी' मैं सुखी हूं इत्यादि ज्ञान शब्द प्रमाण, तथा हेतु से सिद्ध नहीं है क्योंकि शब्द तथा लिङ्ग ज्ञान के बिना भी होता है। किन्तु जिस प्रकार पृथिवी आदि द्रव्यों में शब्द गुण का अभाव नियत है इसलिये पृथिव्यादिकों से भिन्न शब्द गुण को आश्रय आकाश नामक द्रव्यविशेष की सिद्धि होती है, उसी प्रकार इच्छादि गुणों का भी पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों में अभाव नियत होने के कारण उसके आधार अष्ट द्रव्य से भिन्न आत्मारूप द्रव्य सिद्ध होता है। किन्तु ऐसा होने से अनुमान से ही आत्मा के सिद्धि होती है, यह न जानने के लिये सूत्रकार ने सूत्र में

अयमर्थः। अहं सुखी अहं दुःखीतिप्रत्ययो नागमिको न शाब्दो नापि लैङ्गिकः शब्दलिङ्गयोरनुसन्धानमन्तरेणापि जायमानत्वात्। प्रत्यक्षत्वे च नीरूपत्वं निरवयवत्वञ्च यद्बाधकमुक्तं तद्बहिरिन्द्रियप्रत्यक्षतायां भवति तत्र हि रूपवत्त्वानेकद्रव्यवत्त्वयोः प्रयोजकत्वात्, मानसप्रत्यक्षता च तदन्तरेणापि। ननु स्यादेवं यद्यात्मनि प्रमाणं स्यात् तदेव तु नास्तीत्यत आह–शब्दवद्व्यतिरेकाव्यभिचाराद्विशेषसिद्धेरिति। यथा क्षित्यादिषु द्रव्येषु शब्दस्य व्यतिरेकोऽव्यभिचारो नियतस्तेन तदाश्रयस्याष्टद्रव्यातिरिक्तस्याकाशरूप(स्य) विशेषस्य सिद्धिः एवमिच्छायाः पृथिव्यादिषु व्यतिरेकस्याव्यभिचारात तदाश्रयेणापि अष्टद्रव्यातिरिक्तेन भवितव्यम्। नन्वेतावताऽप्यानुमानिक एव आत्मा न तु प्रत्यक्ष इत्यत आह–अहमिति। मुख्ययोग्याभ्यामिति। अहमितीतिकारेण ज्ञानकारमाह, तेनाहमिति ज्ञानं शब्दलिङ्गानुसन्धानमन्तरेण निमीलिताक्षस्य यदुत्पद्यते तन्मुख्येन

'अहमिति मुख्ययोग्याभ्याम्' ऐसा कहा है, जिसका यह आशय है कि 'मैं हूं' इत्याकारक शब्द तथा लिङ्ग ज्ञान के विना होनेवाला ज्ञान नेत्र बन्द किये हुए भी मनुष्य को जो होता है वह आत्मा के विषय में मुख्य (प्रधान), एवं मानस प्रत्यक्ष के योग्य होने से शरीरादिकों में इच्छादिगुण न होने के कारण उनसे भिन्न आत्मा को लेकर ही सिद्ध करना होगा ॥ १८ ॥

उपस्कार—यह सूत्र का अर्थ है—मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं, यह ज्ञान आगम (शब्द) प्रमाण से सिद्ध नहीं है, न लिङ्ग से अनुमान द्वारा सिद्ध है, क्योंकि शब्द तथा लिङ्ग के अनुसन्धान (ज्ञान) के बिना भी उत्पन्न होता है। पूर्वपक्षी ने आत्मा का प्रत्यक्ष होने में रूप का अभाव तथा अवयवशून्यता जो बाधक कहा है, वह बहिरिन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होने में बाधक होता है, क्योंकि बहिरिन्द्रियों से होनेवाले प्रत्यक्षों में ही रूपवत्ता, तथा सावयवता प्रयोजक हैं, मानस प्रत्यक्ष तो इन दोनों के विना भी होता है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'ऐसा तब होगा यदि आत्मा से प्रमाण हो, वही नहीं है' इसके उत्तर में सूत्रकार ने 'शब्दवद्व्यतिरेकाव्यभिचाराद्विशेषसिद्धेः' ऐसा कहा है। जिस प्रकार पृथिवी आदि द्रव्यों में शब्दगुण का व्यतिरेक (अभाव) व्यभिचारी नहीं है अर्थात् नियत है, जिससे शब्दगुण के आश्रय पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों से भिन्न आकाशरूप द्रव्यविशेष की सिद्धि होती है, इसी प्रकार इच्छादि गुणों का पृथिवी आदि अष्ट द्रव्यों में अभाव के नियत होने से उनका आश्रय भी पृथिव्यादि अष्ट द्रव्यों से भिन्न होगा। यदि कहो कि 'तब भी आत्मा अनुमान से ही सिद्ध हुआ प्रत्यक्ष से नहीं' तो सूत्रकार कहते हैं—अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां इति। यहां पर 'अहं' मैं हूं इति—इस इति शब्द से ज्ञान का आकार (स्वरूप) कहा है, जिससे शब्द तथा लिङ्ग के अनुसन्धान के विना भी नेत्र बन्द किये (निमीलिताक्ष) मनुष्य को 'मैं सुखी हूं' इत्यादि जो मानस ज्ञान होता है, वह मुख्य (प्रधान) प्रमाण से सिद्ध

अहन्त्ववता योग्येन प्रमाणसिद्धेन उपपादनीयम्, नतु शरीरादिना तत्रेच्छाया व्यतिरेकाव्यभिचारात्। मुख्ययोग्याभ्यामित्यनन्तरम् उपपादनीयमिति पूरणीयम्। आत्मनि प्रमाणानि बहूनि ग्रन्थगौरवभिया त्यक्तानि मयूखेऽन्वेष्टव्यानि ॥ १८ ॥

आत्मपरीक्षाप्रकरणं समाप्य इदानीमात्मनानात्वप्रकरणमारभते तत्र पूर्वपक्षसूत्रम्—

सुखःदुखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् ॥ १९ ॥

एक एव आत्मा चैत्रादिदेहभेदेऽपि। कुतः सुखदुःखज्ञानां निष्पत्तेरुत्पत्ते-

---

तथा प्रत्यक्ष योग्य 'अहंत्व' आत्मत्वरूप से आत्मा को लेकर उपपादन (संगत) करना होगा, न कि शरीरादिकों को लेकर, क्योंकि उनमें इच्छादि गुणों का अभाव नियत (सिद्ध) है। सूत्र में मुख्ययोग्याभ्यां' इस पद के पश्चात् (उपपादनीयं) ऐसा पद पुरण करना, (जिससे अहं ऐसा ज्ञान प्रधान होने तथा प्रमाणसिद्ध होने रूप से आत्मा की सिद्धि को करना ऐसा अर्थ सूत्र का निकलता है) आत्मा में और भी अनेक प्रमाण हैं जो उपस्कार के वढ़ जाने के भय से छोड़ दिये हैं उनको मयूख ग्रंथ में अन्वेषण करना (ढूंढ लेना) चाहिये ॥ १८ ॥

इस प्रकार आत्मा के परीक्षा का प्रकरण समाप्त कर सांप्रत आत्मा के अनेक होने का प्रमाण आरम्भ करते है। उसमें पूर्वपक्ष सूत्र है—

पदपदार्थ—सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषात् = सुख, दुःख तथा ज्ञान गुणों की उत्पत्ति में विशेषता न होने से, ऐकात्म्यम् = एक ही आत्मा है ॥ १९ ॥

भावार्थ—शरीर भिन्न-भिन्न होने पर भी सुख, दुःख तथा ज्ञान इन गुणों की उत्पत्ति में कोई विशेषता न होने से संपूर्ण प्राणिमात्र के शरीर में एक ही आत्मा है ॥ १९ ॥

उपस्कार—एक ही आत्मा है चैत्र, मैत्र इत्यादि नाम से शरीरों का भेद होने पर भी। क्यों? सुख-दुःख तथा ज्ञान इन गुणों की निष्पत्ति (उत्पत्ति) में विशेष न होने से (अर्थात् 'आत्मत्व, केवल एकमात्र आत्मा में वर्तमान है, सुख के आधारमात्र में वर्तमान होने से' इस अनुमान से आत्मा में एकत्व सिद्ध होता है)। (इसी के आगे शंकरमिश्र व्याख्या करते हुए कहते हैं कि)—"संपूर्ण शरीरों के (अवच्छेद) सम्बन्ध से आत्मा को सुख, दुःख तथा ज्ञानों की उत्पत्ति समान ही है जिस कारण यदि प्रदर्शित अनुमान में सुखाश्रय में वर्तमानता रूप हेतु जीव तथा परमेश्वर दोनों में साधारण माना जाय तो परमात्मा में सुख न होने से व्यभिचारी होगा। (यदि परमात्म-साधारण न हो तो जो सुख को भी परमात्मा में मानते हैं उनके मत में

रविशेषात् , सर्वशरीरावच्छेदेन सुखदुःखज्ञानानामुत्पत्तिरविशिष्टैव यतः। यद्यात्मभेदसाधकं लिङ्गान्तरं भवेत्तदा सिध्येदात्मभेदः। न च तदस्ति, यथा तत्तत्प्रदेशावच्छेदेन शब्दनिष्पत्तावपि शब्दलिङ्गाविशेषादेकमेवाकाशम् , यौगपद्यादिप्रत्ययलिङ्गाविशेषादेक एव कालः, पूर्वापरादिप्रत्ययलिङ्गाविशेषादेकैव दिक् ॥ १९ ॥

सिद्धान्तमाह—

व्यवस्थातो नाना ॥ २० ॥

जीव तथा परमात्मा में वर्तमान संख्या में सुखाश्रयता होने पर भी आत्मत्व साध्य न होने के कारण व्यभिचारी हेतु हो जायगा" ऐसी शंका के निवारणार्थ शंकरमिश्र ने तथा सूत्रकार ने भी दुःख गुण लिया है। अर्थात् आत्मत्व परमात्म-साधारण नहीं है यह भाव है)। 'जीवों की एकता सिद्ध होने पर भी जीव तथा परमात्मा की एकता तो असिद्ध ही है तो पुनः कैसे आत्मा का ऐक्य सिद्ध होगा' इस शंका के समाधानार्थ ही सूत्र तथा उपस्कार दोनों में ज्ञान गुण लिया है, अर्थात् जीव तथा परमात्मा में वर्तमान आत्मत्व उक्त अनुमान में पक्ष है, 'ज्ञानाश्रयमात्र में वर्तमानता हेतु है, अतः उक्त व्यभिचारादि दोष न होंगे यह भाव है। उक्त अनुमान से पुरुषविशेष के सुखादि गुणों को दृष्टान्त जानना चाहिये। (आगे पूर्वपक्षिमत के आशय को प्रगट करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—यदि आत्माओं के भेद की सिद्धि करने वाला कोई दूसरा हेतु हो तो आत्माओं का भेद सिद्ध होगा, और वह नहीं है। ('लिङ्गाविशेषात्' इस पूर्वप्रदर्शित हेतु का स्मरण कराते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—जिस प्रकार उस २ प्रदेश को (भेरी, शंख आदि आकाश को लेकर) शब्द की उत्पत्ति होने पर भी शब्दरूप साधकलिङ्ग में समानता होने से एक ही आकाश द्रव्य है, तथा 'एक काल में उत्पन्न हुआ' इत्यादि साधक हेतु की समानता होने से एक ही आकाश द्रव्य है तथा एक काल में उत्पन्न हुआ इत्यादि साधक हेतु की समानता से एक ही काल नामक द्रव्य है, एवं पूर्व, पश्चिम आदि प्रतीति रूप साधक लिङ्गों की समानता से एक ही दिशा है। उसी प्रकार आत्मसाधक सुखादिकों की उत्पत्ति समान होने से आत्मा भी एक है ॥ १९ ॥

सूत्रकार सिद्धान्त कहते हैं—

पदपदार्थ—व्यवस्थातः = कोई सुखी, कोई दुःखी इस व्यवस्था के कारण नाना = आत्मा अनेक हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—कोई धनिक है, कोई दरिद्र इस व्यवस्था (नियम) के कारण, धनिक शरीर में वर्तमान आत्मा, उसी समय ज्ञायमान दरिद्र के शरीर में वर्तमान आत्मा से भिन्न है, उसी काल के दरिद्रता के उत्पादक अदृष्टवाली आत्मा से भिन्न होने से

नाना आत्मानः। कुतः ? व्यवस्थातः। व्यवस्था प्रतिनियमः यथा कश्चिदाढ्यः, कश्चित् रङ्कः' कश्चित् सुखी, कश्चिद् दुःखी, कश्चिदुच्चाभिजनः, कश्चिन्नीचाभिजनः, कश्चिद्विद्वान् कश्चित् जाल्म इतीयं व्यवस्था आत्मभेदमन्तरेणानुपपद्यमाना साधयत्यात्मनां भेदम्। न च जन्मभेदेन बाल्यकौमारवार्द्धक्यभेदेन वा, एकस्याप्यात्मनो यथा व्यवस्था तथा चैत्रमैत्रादिदेहभेदेऽपि स्यादिति वाच्यम् कालभेदेन विरुद्धधर्माध्याससम्भवात्॥ २०॥

प्रमाणान्तरमाह—

शास्त्रसामर्थ्याच्च॥ २१॥

के समान, तथा जीवात्मा परमात्मा से भिन्न है, सर्वज्ञ न होने ने, घट के समान, इन अनुमानों से आत्मा नाना है, यह यह सिद्ध होता है॥ २०॥

उपस्कार—आत्मा अनेक हैं। क्यों ? प्रतिनियमः (प्रत्येक में नियत होना) रूप व्यवस्था होने से। जैसे कोई मनुष्य आढच (धनवान,) कोई (रङ्क) दरिद्र, कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई उच्च कुल में उत्पन्न, कोई नीच कुल में उत्पन्न, कोई विद्वान्, कोई मूर्ख, इस प्रकार की यह व्यवस्था आत्मओं के भेद के विना संगत न होने के कारण आत्माओं के भेद को सिद्ध करती है। जन्म के भेद से, अथवा बाल्यावस्था, कुमारावस्था, तथा वृद्धावस्था के भेद से एक ही आत्मा में जिस प्रकार व्यवस्था होती है उसी प्रकार चैत्र, मैत्र आदि शरीर के भेद से भी एक ही आत्मा मानने के पक्ष में भी उक्त व्यवस्था हो जायगी। ऐसा एकात्मवादी पूर्वपक्षी नहीं कह सकता। क्योंकि देश में वर्तमानता का काल अवच्छेदक होने के कारण कालभेद से विरुद्धधर्मों का अध्यास (आरोप) हो सकता है॥ २०॥

'एकं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' एक अर्थात् ज्ञान तथा आनन्दरूप ब्रह्म है, इस श्रुति में आत्मा एक है ऐसा कहा है ऐसा होने से 'नरशिरःकपालं शुचि प्राण्यंगत्वात्' अर्थात् मनुष्य के मस्तक की हड्डी शुद्ध है प्राणी का अंग होने से इस अनुमान में आगम (शास्त्र) के विरोध के समान आत्मा के अनेक होने में भी 'एकम्' इत्यादि श्रुति का विरोध होने से उपर्युक्त आत्मा या अनेकतासाधक अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता इस पूर्वपक्ष के समाधानार्थ आत्मा की अनेकता में शास्त्र का प्रमाण दिखलाने के लिये शंकरमिश्र अग्रिम सूत्र का अवतरण देते हैं—कि) आत्मनानात्व में दूसरा प्रमाण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—शास्त्रसामर्थ्यात् च=श्रुतिप्रमाण के बल से भी (आत्मा का नानात्व सिद्ध है)॥ २१॥

भावार्थ—श्रुति में भी अर्थात् 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' अर्थात् दो आत्मा जानना इत्यादि श्रुति में भी आत्मा का नाना होना उक्त होने के कारण आत्मा अनेक हैं यह सिद्ध होता है॥ २१॥

शास्त्रं श्रुतिः, तयाऽप्यात्मनो भेदप्रतिपादनात् । श्रूयते हि 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' इत्यादि तथा 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' इत्यादि च ॥ २१ ॥

इति श्रीशाङ्करे कणादसूत्रोपस्कारे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम् ।

समाप्तश्चायं तृतीयोऽध्यायः ।

उपस्कार—शास्त्र शब्द का मुख्य अर्थ इस सूत्र में श्रुति (वेदभाग है) उसमें भी आत्मा के भेद कहे हैं । क्योंकि वेद में सुना जाता है—'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये' अर्थात् दो ब्रह्म जानना इत्यादि । तथा 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' अर्थात् दो सुन्दर पंखवाले, समान रूपवाले, परस्पर मित्र ऐसे आत्मारूप पक्षी शरीररूप एक ही वृक्ष को आलिङ्गन करते हैं अर्थात् बैठे हैं, इत्यादि श्रुति भी आत्मा की अनेकता सिद्ध करती है । यहाँ पर 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो, ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति' अर्थात् हे श्वेतकेतु ! वही ब्रह्म तुम (जीव) हो, ब्रह्म को जाननेवाला जीव आत्मा ब्रह्मत्व रूप ही होता है इत्यादि श्रुति में निश्चित किये आत्मा के ऐक्य का आत्मा नाना मानने से विरोध हो जायगा । ऐसा वेदान्तिमत से पूर्वपक्षी नहीं कह सकता । क्योंकि 'तत्त्वमसि' इस श्रुति का जीव और ब्रह्म के अभेद से ब्रह्म ही का सम्बन्धी जीव है ऐसा समझने में, तथा 'ब्रह्मवित्' इस श्रुति का मुक्तिकाल में दुःखरहित होने के कारण ब्रह्म के समान जीव है यह कहने का तात्पर्य है, ऐसा न हो तो 'निरंजनः परमं साम्यमुपैति' अर्थात् मोक्षकाल में दुःखहीन आत्मा ब्रह्म के अत्यन्त समानता को प्राप्त होता है यह श्रुति असंगत हो जायगी । अतः कोई दोष आत्मा के नाना मानने के पक्ष में नहीं हो सकता ॥ २१ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्र कृत कणाद सूत्रों की उपस्कार-व्याख्या में
तृतीयाध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त हुआ ।
तृतीयाध्याय समाप्त ।

चतुर्थाध्याये प्रथमाह्निकम्

पृथिव्यादीनां नवानामुद्देशं लक्षणपरीक्षां निर्वर्त्य प्रकृतेर्मूलकारणतां साङ्ख्याभिमतां निराचिकीर्षुः परमाणूनां मूलकारणत्वं पृथिव्याद्यन्तर्भावञ्च सिषाधयिषुर्नित्यत्वसामान्यलक्षणं तावदाह—

सदकारणवन्नित्यम् ॥ १ ॥

न कारणवदकारणवत् पदसंस्कारात् । तदेवं घटादीनां व्यवच्छेदः । तथापि प्रागभावेऽतिव्याप्तिरित्यत आह–सदिति । सत्तायोगीत्यर्थः । समवायविशेषपदार्थयोः सत्तैकार्थसमवाय एव सत्तायोगः, सामान्यान्तरस्य सत्तायाश्च सत्प्रत्य-

---

पृथिवी आदि नौ द्रव्यों के लक्षणों की परीक्षा कर सांख्यदर्शन में अभिमत सत्त्व, रज तथा तम गुणरूप प्रकृति जगत् कार्य का मूल कारण है इसका खण्डन करने की इच्छा करते हुए सूत्रकार पृथिव्यादिकों के परमाणु ही मूल कारण हैं जो पृथिवी आदि द्रव्यों के ही अन्तर्गत हैं यह सिद्ध करने की इच्छा करते हुए प्रथम सामान्यरूप से नित्यत्व का लक्षण कहते हैं—

पदपदार्थ—सत् = सत्ताजातिवाला, अकारणवत् = कारणरहित, नित्यं = नित्य होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—सत्ताजाति का सम्बन्धी तथा कारणवान् न होनेवाला (अर्थात् कारण रहित) पदार्थ नित्य कहा जाता है ॥ १ ॥

उपस्कार—जो कारणवान् न हो वह अकारणवान् होता है, ऐसा 'अकारणवत् इस सूत्र के पद का संस्कार (व्युत्पत्ति) से अर्थ होता है, जिससे घटादि कार्य द्रव्यों के कापालादि कारण होने से व्यावृत्ति हो जाती है। तथापि प्रागभाव भी अनादि कारणहीन होने से (इस नित्य के) लक्षण में अतिव्याप्ति दोष हो जायगा इसलिये दूसरा लक्षण सूत्रकार ने 'सत्' सत्तायोगी अर्थात् सत्ताजाति का सम्बन्धी ऐसा किया है प्रागभाव में सत्ता न होने से अर्थात् वह भावपदार्थ न होने से उक्त दोष न होगा। (यहां पर सत्ता का सम्बन्ध समवाय तथा एकाधिकरणतारूप सामानाधिकरण्य इन दोनों में से एक लेना पड़ेगा, क्योंकि एक-एक को लें तो सामान्यादिकों में अव्याप्ति हो जायगी। सामानाधिकरण्य भी समवाय-सम्बन्धघटित ही कहना पड़ेगा, नहीं तो किसी प्रकार से सामानाधिकरण्य होने से प्रागभाव में अतिव्याप्ति दोष हो जायगा। समवाय में भी स्वस्वरूप सम्बन्ध से वृत्तिता होने से समवायघटित सामानाधिकरण्य वर्तमान नहीं है इसी आशय से शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)— समवाय तथा विशेष इन दो पदार्थों में सत्ताजाति के साथ एक पदार्थ में रहना ही सत्ता योग है, दूसरे जातियों में तथा सत्ताजाति में सत् प्रतीति के विषय होने से

यविषयतैव सत्तायोगः, स च प्रत्ययो वस्तुस्वरूपमात्रनिबन्धन इत्यन्यदेतत् । न चान्यत्रापि तथैवास्तु किं सत्तयेति वाच्यम् अनुगतप्रतेस्तत्सिद्धेरुक्तत्वात् ॥१॥

नित्यसामान्यमभिधायेदानीं परमाणुमधिकृत्याह—

तस्य कार्यं लिङ्गम् ॥ २ ॥

तस्य परमाणोः कार्यं घटादि लिङ्गम् । तथाच गौतमीयं सूत्रम्–'व्यक्तात् व्यक्तस्य निष्पत्तिः प्रत्यक्षप्रामाण्यात्' अ० ४ आ० १ सू० ११ इति । अवयवाव-यविप्रसङ्गस्तावदनुभूयते स यदि निरवधिः स्यात् तदा मेरुसर्षपयोः परिणामभेदो न स्यात्, अनन्तावयवारब्धत्वाविशेषात । न च पमिाणप्रचयविशेषाधीनो विशेष

सत्ता का योग है, किन्तु यह सत्ता के योग का ज्ञान केवल वस्तुओं (सामान्य विशेष, दूसरी जातियों, तथा सत्तारूप पदार्थों) में केवल इनके स्वरूप ही को विषय करता है, सत्ताजाति को नहीं यह एक दूसरी बात है। (किन्तु इसी प्रकार द्रव्यादि तीन पदार्थों में भी वस्तुस्वरूप को विषय करनेवाली ही यह 'सत्' है ऐसी प्रतीति हो सकती है तो सत्ताजाति मानने की क्या आवश्यकता ? ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'सत् है, सत् है' ऐसी द्रव्यादि तीन पदार्थों में अनुगत बुद्धि ही सत्ताजाति का साधक है यह कहा गया है ॥ १ ॥

इस प्रकार नित्य सामान्य को कहकर सांप्रत परमाणु को विषय कर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तस्य = उस परमाणु का, कार्य = घटादि कार्य, लिङ्गम्=साधक है ॥ २ ॥

भावार्थ—उस पृथिव्यादि परमाणुरूप नित्यद्रव्य का घट आदि कार्यद्रव्य साधक लिङ्ग है ॥

उपस्कार—उस नित्य पृथिवी परमाणु का घट आदि कार्य ही साधक लिङ्ग है । इसी कारण गौतम महर्षि का—'व्यक्तात् व्यक्तस्य निष्पत्तिः प्रत्यक्षप्रामाण्यात्' अर्थात् व्यक्त परमाणुरूप कारण से व्यक्त घटादि कार्य की उत्पत्ति होती है यह प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध है (अ० ४ आ० १ सू०११) घट का अवयव कपाल उसका खण्ड कपाल इत्यादि अवयवों का अवयव इत्यादि अवयव-परम्परा का अनुभव होता है वह यदि निरवधि (मर्यादारहित) हो तो सुमेरु नामक पर्वत तथा सर्षप (सरसो) रूप अवयवि द्रव्यों का भिन्न-भिन्न परिमाण न होगा, क्योंकि दोनों ही अनन्त अवयवों से उत्पन्न हुये हैं, यह दोनों में समानता है कारण के परिमाण, तथा प्रचयनामक विशेष के कारण सुमेरु तथा सर्षपरूप दोनों अवयवि द्रव्यों में विशेषता (परिमाण-भेद) हो जायगा—ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता क्योंकि अवयवों की संख्या में

स्यादिति वाच्यम् सङ्ख्याविशेषाभावात्तयोरप्यनुपपत्तेः। प्रलयावधिः स्यादिति चेत् अन्त्यस्य कस्यचिन्निरवयवत्वे प्रलयस्यैवानुपपत्तेः, अवयवविभागविनाशायोरेव द्रव्यनाशकत्वात्। विभागश्च नावधिः तस्यैकाश्रयत्वानुपपत्तेः। तस्मान्निरवयवं द्रव्यमवधिः स एव परमाणुः। न च त्रसरेणुरेवावधिः, तस्य चाक्षुषद्रव्यत्वेन महत्त्वादनेकद्रव्यवत्त्वाच्च, महत्त्वस्य चाक्षुषप्रत्यक्षत्वे कारणत्वम् अनेकद्रव्यवत्त्वमादायैव, अन्यथा महत्त्वमेव न स्यात् कस्य कारणत्वम्भवेत्। न च त्रसरेणोरवयवा एव परमाणवः, महद्द्रव्यारम्भकत्वेन तेषामपि सावयवत्वानुमानात् तन्तुवत् कपालवच्च। तस्मात् यत् कार्य्यंद्रव्यं तत् सावयवम्, यच्च सावयवं तत् कार्य्यं द्रव्यम्। तथाच यतोऽवयवात् कार्य्यत्वं निवर्त्तते तत्र सावयवत्वमपीति निरवयवपरमाणुसिद्धिः। तदुक्तं प्रशस्तदेवाचार्य्यैः 'सा च द्विविधा नित्या चानित्या च' इति ॥ २ ॥

विशेषता न होने से वे दोनों परिमाणविशेष तथा प्रचयविशेष भी नहीं हो सकते। यदि 'प्रलय (नाश) को ही अवधि मानेंगे' ऐसा कहो तो अन्तिम किसी अवयव के निरवयव (नित्य) मानने से विनाश ही न वन सकेगा। क्योंकि अवयवों का परस्पर विभाग, तथा नाश ही द्रव्य के नाश करने वाले होते हैं। अवयवों का विभाग अवधि नहीं हो सकता, क्योंकि वह एक आधार में नहीं हो सकता। इस कारण निरवयव (अवयवरहित) कोई द्रव्य ही अवधि होगा, वही है परमाणु। गवाक्षरंध्रों (झरोखों) में देखाने वाले सूक्ष्म रजरूप त्रसरेणु द्रव्य ही अवधि (अन्तिम अवयव) नहीं हो सकते, क्योंकि उनका चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होनेवाले द्रव्य होने से (अर्थात् चाक्षुपप्रत्यक्षयोग्य द्रव्य होने से त्रसरेणु में सावयवत्व सिद्ध हो सकता है, जिसका अनुमान का प्रकार वायु परमाणुओं की सिद्धि में दिखा चुके हैं)। महत् परिमाण होने से, तथा अनेक द्रव्यवत्त्व (सावयवत्व) भी होने से, महत् परिमाण चाक्षुषप्रत्यक्ष में सावयवत्व को लेकर ही कारण होता है, नहीं तो (सावयवता के विना) महत् परिमाण ही न होगा, तो किसको कारणता होगी ? 'त्रसरेणु के अवयव ही परमाणु हैं' ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि महत्परिणामवाले द्रव्य के उत्पादक होने से उनमें भी सावयवता त्रसरेणु के अवयव सावयव हैं अपने से महत्परिमाण वाले त्रसरेणु के उत्पादक होने से, तन्तु तथा कपाल के समान इस अनुमान से त्रसरेणु के अवयव के भी अवयव हैं यह सिद्ध होता है)। इस कारण जो कार्यद्रव्य होता है वह सावयव होता है, और जो सावयव होता है वह कार्य द्रव्य होता है ऐसा होने से जिस अवयव में कार्यता नहीं होती वह सावयव भी नहीं होता इसलिये निरवयव परमाणुओं की सिद्धि होती है। इसी कारण प्रशस्तदेव ने भाष्य में कहा है—'वह पृथिवी नित्य तथा अनित्य भी है' अर्थात् नित्य परमाणुरूप, तथा अनित्य कार्यरूप दो प्रकार की है ॥ २ ॥

इदानीं परमाणौ रूपादिसिद्धये प्रमाणमाह—

कारणभावात् कार्य्यभावः ॥ ३ ॥

रूपादीनां कारणे सद्भावात् कार्य्ये सद्भावः, कारणगुणपूर्वका हि कार्य्यगुणा भवन्ति घट-पटादौ तथा दर्शनादित्यर्थः ॥ ३ ॥

इदानीं सर्वानित्यतावादिनिराकरणायाह—

अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥ ४ ॥

विशेषत इति षष्ठ्यन्तात्तसिः । (तथाच) विशेषस्य नित्यस्य प्रतिषेधस्तदा स्यात् यद्यनित्य इति प्रत्ययः शब्दप्रयोगश्च न स्यात् नञ उत्तरपदार्थनिषेधार्थ·

इस समय परमाणु में रूप आदि गुणों को सिद्ध करने के लिये सूत्रकार प्रमाण कहते हैं—

पदपदार्थ—कारणभावात् = कारण में रहने से, कार्यभावः = कार्य में होना ॥३॥

भावार्थ—कारणगुणपूर्वक कार्य गुण होते हैं ऐसा घटादिकों में नियम दिखाने से परमाणु के कार्य त्रसरेणु आदि में भी रूपादि कार्य देख कर उनके मूल कारण परमाणुओं में रूपादि गुण हैं यह सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

उपस्कार—रूप, रस आदि गुण परमाणु आदि कारणों में होने से उनके कार्य त्रसरेणु आदिकों में रूपादि गुणों की सत्ता है, क्योंकि कारण के गुणपूर्वक कार्य के गुण होते हैं, ऐसा घट-पट आदि कार्य में देखा जाता है ऐसा सूत्र का अर्थ है ॥ ३ ॥

सांप्रत संपूर्ण पदार्थों को अनित्य ही माननेवालों का मत खण्डन करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अनित्यः इति = अनित्य है ऐसा, विशेषतः = नित्य विशेष रूप से, प्रतिषेधभावः = निषेध है ॥ ४ ॥

भावार्थ—यदि नित्यरूप विशेष को न माने तो अनित्य (नित्य नहीं है) ऐसा निषेध न हो सकेगा, अतः विना घट के घट नहीं है यह निषेध जिस प्रकार नहीं हो सकता उसी प्रकार विना नित्य पदार्थ माने अनित्य है (नित्य नहीं है) यह भी निषेध न हो सकेगा, अतः पदार्थ मात्र अनित्य है यह सिद्धान्त असंगत है ॥ ४ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'विशेषतः' इस पद में विशेषस्य ऐसे षष्ठी के अर्थ में विशेष पद के आगे 'तसि' प्रत्यय है । ऐसा होने से नित्यरूप विशेष का निषेध तब हो सकेगा, यदि 'अनित्यः' (नित्य नहीं है) ऐसा ज्ञान तथा शब्द का प्रयोग रूप व्यवहार न होगा, क्योंकि नञ् यह निषेध उत्तर पदार्थ नित्य का निषेध करता है, तो नित्य के न होने पर 'अनित्य' है ऐसा निषेध कैसे होगा । और अनित्य है ऐसा प्रयोग होता तो है, अतः नित्य पदार्थ है यह सिद्ध होना है । (इस व्याख्या में 'यदा तदा' ऐसा सूत्र में अध्याहार करना होगा, इसलिये शंकरमिश्र दूसरी सूत्र की व्याख्या

त्वात् तत् कथं नित्याभावेऽनित्य इति स्यात्, भवति च ततो नित्यमस्तीति सिद्धम्। यद्वा अनित्य इति न नित्यः परमाणुरित्यनेन प्रकारेण नित्यस्य त्वया प्रतिषेधः कर्तव्यः। अनेन च प्रकारेण प्रतिषेधो न सिध्यति सिद्ध्यसिद्धिप्रतिहतत्वात्। सूत्रञ्चैवं योजनीयम्—अकारः स्वतन्त्र एव प्रतिषेधवचनः 'अमानोनाः प्रतिषेधवचनाः' इति तथा चानित्य इति न नित्य इत्यर्थः। प्रतिषेधभावः प्रतिषेधस्वरूपं तेन न नित्य इति विशेषस्य नित्यस्य प्रतिषेधस्वरूपम्, तच्च न सम्भवतीति शेषः॥ ४॥

ननु परमाणुर्न नित्यः मूर्तत्वात् घटवत्, एवं रूपवत्त्वरसवत्त्वादयः प्रत्येकं

करते हैं कि)—अथवा 'अनित्यः इति' अनित्य है ऐसा कहने से परमाणु नित्य नहीं है, इस प्रकार आप (सर्वानित्यतावादी) निषेध करेंगे, किन्तु इस प्रकार निषेध सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि यदि निषेध का प्रतियोगी (नित्य-पदार्थ) यदि सिद्ध है तब भी सर्वनित्यता सिद्ध न होगी, तथा नहीं है तो नित्यरूप प्रतियोगिता न के विना भी अनित्य (नित्य नहीं) यह निषेध न बनेगा, इससे भी आपके सर्वानित्यतावाद की सिद्धि न होगी इस प्रकार नित्य की सिद्धि तथा असिद्धि दोनों पक्ष में व्याघात होने से संगत नहीं है। इस पक्ष में सूत्र के अर्थ की योजना ऐसी करनी चाहिये—सूत्र में 'अ' ऐसा भिन्न प्रतिषेधवाचक वचन स्वतन्त्रता से निषेध का वाचक है, क्योंकि 'अमानोना प्रतिषेधवचनाः' अर्थात् अ, मा, नो, और न यह निषेधवाचक अव्यय हैं, ऐसा पाणिनीय सूत्र में कहा है। ऐसा होने से 'अनित्यः' इसका नित्य नहीं ऐसा सूत्र का 'अनित्यः' इस अव्ययसहित नित्य शब्द का अर्थ होता है। आगे सूत्र के 'प्रतिषेधभावः' इस पद का अर्थ है प्रतिषेध का स्वरूप, इससे 'न नित्यः' नित्य नहीं है, इति। इस प्रकार विशेष नित्य के प्रतिषेध का यह स्वरूप है, वह नित्य पदार्थ न मानने से न हो सकेगा। ऐसा सूत्र का भाव है॥ ४॥

'परमाणु' नित्य नहीं है, मूर्त द्रव्य होने से, घट के समान, इसी प्रकार रूपवत्ता, रसाधिकरणता इत्यादि कभी प्रत्येक हेतु (परमाणु में अनित्यतासाधक जानना चाहिये)। एवं षट् परमाणुओं का एक ही समय संयोग होने के कारण परमाणु षडंश (षट् अवयव वाला) है, ऐसा होने से (परमाणु नित्य नहीं है) अवयव वाला होने से तथा एकदेश में रहनेवाले संयोग के आधार होने से यह भी अनुमान से सिद्ध हो सकता है। यहां पर मध्य के परमाणु में ऊर्ध्वदेश, अधोदेश तथा पार्श्वभाग (अगल-बगल) रहनेवाले परमाणुओं से जो संयोग है उसमें परमाणु का पूर्व के साथ जो संयोग है वह मध्य तथा पश्चिम परमाणु में आश्रित नहीं है। एवं मध्य तथा पश्चिम परमाणु का संयोग मध्य तथा पूर्व परमाणु के आश्रित नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र भी परमाणु में षंडशता होती है इत्यादि न्याय-वार्तिक आदि ग्रन्थ में विशेष देख लेना चाहिये। (आगे शंकरमिश्र पूर्वपक्षिमत से परमाणु

हेतव उन्नेयाः, एवं षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता तथाच सावयवत्वात् अव्याप्यवृत्तिसंयोगाश्रयत्वात् । किञ्च परमाणोर्मध्ये यद्याकाशमस्ति तदा सच्छिद्रत्वेनैव सावयवत्वम्, अथ नास्ति, तदाकाशस्यासर्वगतत्वप्रसङ्गः । किञ्च छायावत्त्वात् आवृत्तिमत्त्वात् । अपिच यत् सत् तत् क्षणिकमित्यादिक्षणिकत्वसाधकानुमानादपि परमाणोरनित्यता, तथा चैतावती चेदनुमितिपरम्परा तदा कथमुच्यते परमाणुर्नित्य इत्यत आह—

अविद्या ॥ ५ ॥

परमाणोरनित्यत्वविषया सर्वाप्यनुमितिः अविद्या भ्रमरूपा आभासप्रभवत्वात् । आपाततो धर्मिग्राहकमानबाधः सर्वत्र विपक्षबाधकप्रमाणशून्यत्वाद्व्य-

---

में सावयवत्व सिद्ध करते हुए आगे कहते हैं कि)—और परमाणु के मध्य भाग में यदि आकाश प्रदेश है तो छिद्रयुक्त होने से परमाणु अवयव वाला है यह सिद्ध होगा, यदि नहीं है तो आकाश सर्वत्र व्याप्त है यह सिद्धान्त न हो सकेगा। तथा छाया का आधार होने से, तथा (आवृत्तिमत्ता) स्पन्दनात्मक क्रियाविशेषवान् होने से भी (परमाणु सावयव सिद्ध हो सकते हैं) । और जो-जो सत् होता है, वह २ क्षणिक (क्षणविनाशी, होता है, इत्यादि क्षणिकता के साधक अनुमान से भी परमाणु में अनित्यता सिद्ध हो सकती है, अतः इतने अनुमानों की परम्परा (अनेक अनुमान) परमाणु में अनित्यता के साधक हैं तो सिद्धान्ती परमाणु नित्य है यह कैसे कह सकता है ऐसे पूर्वपक्षी के पूर्वपक्षमत से शंका पर सिद्धान्त मत से सूत्रकार सूत्र में कहते हैं—

पदपदार्थ—अविद्या = भ्रमरूप अयथार्थ ज्ञान है (परमाणु में अनित्यता ज्ञान) ॥ ५ ॥

भावार्थ—पूर्वपक्षी के दिये हुए परमाणु में अनित्यता-साधक संपूर्ण अनुमिति आदि रूप ज्ञान दुष्ट हेतुओं से होने के कारण भ्रमरूप अयथार्थ हैं, अतः उनसे परमाणु में अनित्यता सिद्ध नहीं हो सकती ॥ ५ ॥

उपस्कार—परमाणुओं के अनित्यता को विषय करनेवाले संपूर्ण ही अनुमान अविद्या अर्थात् भ्रमरूप अयथार्थ ज्ञान हैं, क्योंकि पूर्वपक्षी के दिये हुये संपूर्ण अनुमान दुष्ट हेतुओं से हुये हैं । सामान्यरूप से ज्ञात होनेवाला परमाणुरूप धर्मी (पक्ष) के ग्राहकप्रमाणों का बाध दोष है (अर्थात् 'तस्य कार्यं 'लिङ्गं' इस सूत्र के उपस्कार में 'निरवयवं द्रव्यमवधिः' अर्थात् अवयवरहित द्रव्य अवधि है, इत्यादि कहा है उससे बाध—अर्थात् व्यापक सावयवत्व के अभाव से निरवयव होने के कारण व्याप्य अनित्यता का अभाव सिद्ध होता है ।) तथा संपूर्ण पूर्वपक्षी के हेतुओं में अनुकूल तर्करूप विपक्ष में बाधक प्रमाण न होने से व्याप्यत्वासिद्धि भी दोष है, एवं किसी-सावय-

ष्यत्वासिद्धिः क्वचित् स्वरूपासिद्धिरित्यादि समानतन्त्रेऽन्वेष्टव्यम् ॥ ५ ॥

ननु यदि परमाणुरस्ति कथमिन्द्रियेण न गृह्यते रूपवत्त्वस्पर्शवत्त्वादयश्चैन्द्रियकत्वप्रयोजकास्त्वयैवोपपादिता इत्यत आह—

महत्यनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धिः ॥ ६ ॥

महति महत्त्ववति द्रव्ये महच्छब्दात् परिमाणवाचकात् गुणवाचकान्मतुपो लोपात्। अनेकद्रव्यवत्त्वादिति। अनेकं द्रव्यमाश्रयो यस्य तदनेकद्रव्यम् तद् यस्यास्ति तदनेकद्रव्यवत् तद्भावस्तस्मात् अनेकद्रव्यवत्त्वात्। एवं सति वायुरपि प्रत्यक्षः स्यादत उक्तं—रूपाच्चेति। उद्भूतादनभिभूतादिति वक्ष्यते। उपलब्धिरिति। बहिरिन्द्रियेणेति शेषः। तथाच परमाणोर्महत्त्वाभावादनुपल-

---

वत्वादि हेतु में निरवयव रूप से सिद्ध परमाणु में सावयवत्व के न होने से स्वरूपासिद्धि दोष भी होता है। इत्यादि दोष (मन को लेकर मूर्तत्वादि हेतुओं में व्यभिचार दोष) होता है, इसका विस्ताररूप से वर्णन गौतम-प्रणीत समानशास्त्र न्यायदर्शन में देखना चाहिये ॥ ५ ॥

'यदि परमाणु द्रव्य हैं उनका चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्रहण क्यों नहीं होता, क्योंकि रूपाश्रय, स्पर्शाधारता इत्यादि के प्रत्यक्षता के प्रयोजक हैं ऐसा (आप) सिद्धान्ती ने ही कहा है' इस शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—महति = महत्परिमाणवाले में, अनेकद्रव्यवत्त्वात् = सावयवता होने से, रूपात् च = और रूप होने से भी, उपलब्धिः = प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—महत्परिमाणवाले द्रव्य में अनेकद्रव्यवत्ता (सावयवता) तथा रूपविशेष होने से भी बहिरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है अतः परमाणुओं में महत्परिमाण न होने से उनका बहिरिन्द्रियों से ग्रहण नहीं होता ॥ ६ ॥

उपस्कार—महान् अर्थात् महत्परिमाणवाले द्रव्य में यहाँ 'महत्' इस शब्द से जो परिमाण का वाचक है (यदि कहो कि 'महत् शब्द कैसे परिमाण को कहेगा 'महत्त्व' शब्द उस परिमाण का वाचक है' तो शंकरमिश्र कहते हैं कि)—गुणवाचक शब्दों के 'मतुप्' प्रत्यय का लोप हो जाने से (महत् शब्द परिमाण का वाचक है। 'अनेकद्रव्यवत्त्वात्' इस सूत्र के पद का अनेक द्रव्य हैं आधार जिसके वह 'अनेक द्रव्य है, वह जिसका हो वह अनेकद्रव्यवान् होता है, उसका भाव (धर्म) उससे ऐसा 'अनेकद्रव्यवत्त्वात्' का अर्थ है। किन्तु ऐसा (अनेकद्रव्यवत्त्व होने से यदि प्रत्यक्ष होता हो तो वायु का भी प्रत्यक्ष हो जायगा क्योंकि उसमें अनेक द्रव्यवत्त्व है, इसलिये सूत्रकार ने 'रूपाच्च' रूप होने से भी ऐसा तीसरा हेतु दिया है। जो उद्भूत तथा अभिभूत (दबा हुआ) न हो यह आगे कहा जायगा। सूत्र में 'उपलब्धिः' ग्रहण होता है इस आकांक्षित 'बहिरिन्द्रियेण' बहिरिन्द्रिय से ग्रहण होता है ऐसा शेष पद देना। ऐसा होने से परमाणु में महत्परिमाण न होने से प्रत्यक्ष नहीं

विधिरित्युक्तं भवति। अनेकद्रव्यवत्त्वञ्च अनेकद्रव्याश्रितत्वम्, अवयवबहुत्वाधीनमहत्त्वाश्रयत्वं वा। न च महत्त्वेनैवानेकद्रव्यवत्त्वमन्यथासिद्धमिति वाच्यम्, वैपरीत्यस्यापि सम्भवात्। जन्येन जनकस्यान्यथासिद्धिर्न तु जन्यस्येति चेन्न जन्यजनकयोर्युगपदन्वयव्यतिरेकग्रहेऽन्यथासिद्ध्यभावात्, अन्यथा भ्रामणादिना दण्डादीनामन्यथासिद्धिप्रसङ्गात्। महत्त्वोत्कर्षात् प्रत्यक्षतोत्कर्षो दूरादावित

होता यह कहा जाता है। अनेक द्रव्यवत्त्व शब्द का अनेक द्रव्यों में आश्रितों के आश्रित होना अथवा अवयवों के अनेकता के अधीन महत्परिमाण का आधार होना यह अर्थ है। (यद्यपि उद्भूत रूप के साथ रहनेवाले महत्परिमाण तथा अनेक द्रव्यवत्त्व का प्रत्यक्ष में अन्वय तथा व्यतिरेक सहचार समान ही हैं, तथापि द्रव्य के चाक्षुप प्रत्यक्ष में अनेक द्रव्यवत्त्व अथवा उभयत्व कारण नहीं है किन्तु लाघव से महत्परिमाण ही कारण है इस आशय से शंकरमिश्र ने अवयव-बहुत्वाधीन महत्परिमाणाश्रयत्व रूप दूसरा अनेक द्रव्यवत्त्व का अर्थ किया है)। किन्तु प्रथमकल्प में कहा हुआ अनेक द्रव्यवत्त्व का कारण होने का खण्डन करना युक्त नहीं है। इस अभिप्राय से शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—महत्परिमाण के कारण होने से अनेक द्रव्यवत्त्व को प्रत्यक्ष में अन्यथासिद्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनेक द्रव्यवत्त्व चाक्षुप प्रत्यक्ष में कारण है। महत्परिमाण ही अन्यथासिद्ध है ऐसा विपरीत (उलटा) भी कहा जा सकता है। 'जन्य (उत्पन्न कार्य) से जनक (कारण) अन्यथासिद्ध होता है न कि जनक (कारण) से जन्य (कार्य) अन्यथासिद्ध होता है' ऐसी पूर्वपक्षी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि जन्य तथा जनक दोनों में साथ अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों सहचार का ग्रहण होने से दोनों में अन्यथासिद्धि नहीं हो सकती (अर्थात् जनक का भी जनक है इस रूप से जो कार्य के नियम से पूर्व में रहता है वही अन्यथासिद्ध होता है न कि स्वतन्त्र रूप से, क्योंकि कुलाल का जनक होने से घट अन्यथासिद्ध होने पर भी कुलालत्व रूप से वह घट का कारण ही होता है यह आशय शंकरमिश्र का यहाँ है। (यदि उक्त नियम न माना जाय तो शंकरमिश्र कहते हैं कि)—चक्र के भ्रामण (घुमाने) इत्यादिक से दण्डादिक भी अन्यथासिद्ध हो जायंगे। 'महत्परिमाण के उत्कर्ष से दूरस्थ पदार्थ के प्रत्यक्ष में भी उत्कर्ष देखने में आता है (अतः महत्परिमाण ही प्रत्यक्ष में कारण तथा सावयवत्व अन्यथासिद्ध है, ऐसा मानना होगा)' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता क्योंकि अनेक द्रव्याश्रितत्व के उत्कर्ष होने से भी दूरस्थ पदार्थ के प्रत्यक्ष में उत्कर्ष हो सकता है, क्योंकि इन दोनों में यही एक लेना इसमें कोई नियामक नहीं है और यहाँ भी कारण है कि मकड़ा कीडे के स्वयं बनाये सूत्रजाल (सूतों के जाल) में जो चार हाथ के बरावर होता है किन्तु दूर से नहीं दीखता, उसमें केवल मकड़े का प्रत्यक्ष होने में अनेक

चेन्न अनेकद्रव्यवत्त्वोत्कर्षस्यापि तत्र सम्भवाद्विनिगमनाविरहात् । किञ्च मर्कटकीटसूत्रजाले हस्तचतुष्टयादिमिते दूरादप्रत्यक्षे मर्कटमात्रप्रत्यक्षताऽनेकद्रव्यवत्त्वोत्कर्षाधीनैव महत्त्वोत्कर्षस्य जाले वर्त्तमानत्वात् । एवं सूक्ष्मतन्तुघटितपटादौ दूरत्वे महत्त्वोत्कर्षेऽपि स्वल्पपरिमाणमुद्गरादिप्रत्यक्षे द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

नन्वेवमपि मध्यन्दिनोल्काप्रकाशस्य चाक्षुषस्य रश्मेर्वायोर्वा स्पर्शसमवायेन रूपसमवायिनो महतश्चोपलम्भः स्यात् अत आह—

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद्वायोरनुपलब्धिः ॥ ७ ॥

रूपसंस्कारपदेन रूपसमवायो रूपोद्भवो रूपानभिभवश्च विवक्षितः । तेन

द्रव्यवत्ता (सावयवता) के उत्कर्ष के अधीन है, महत् परिमाण का उत्कर्ष तो उस जाल ही में है । एवं सूक्ष्म तन्तु (सूतों) से बने पट (वस्त्र) आदि में दूर रहने पर महत् परिमाण का उत्कर्ष होने पर भी वस्त्र से छोटे परिमाण उस वस्त्र पर रखे हुए मुद्गर आदिकों के प्रत्यक्ष होने से भी अनेक द्रव्यवत्ती ही का उत्कर्ष प्रयोजक देख लेना चाहिये । अर्थात् सूक्ष्म तन्तुओं से बने वस्त्र में महत् परिमाण का उत्कर्ष रहने पर भी दूर रहने से जो उस वस्त्र से छोटे परिमाण वाला मुद्गर आदि उस वस्त्र के एकदेश में रक्खे हैं उनका प्रत्यक्ष होता है उस वस्त्र का प्रत्यक्ष नहीं होता उसमें भी अनेक द्रव्यवत्ता की ही अधीनता देखना चाहिये ॥ ६ ॥

ऐसा होने पर भी मध्याह्न समय में उल्का (मसाल) के प्रकाश का, चक्षुरिन्द्रिय के किरणों का, अथवा स्पर्श गुण के समवाय के होने से रूप के समवायि तथा महत् परिमाणवाले वायु का भी प्रत्यक्ष होगा, (अर्थात् स्पर्श समवाय से अभिन्न रूप समवाय वायु में होने से महत् परिमाणवाले वायु द्रव्य का भी प्रत्यक्ष होगा ।) इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सति अपि = वर्तमान होने पर भी, द्रव्यत्वे = द्रव्यत्व जाति के, महत्त्वे = तथा महत् परिमाण, रूपसंस्काराभावात् = रूप का समवाय, उद्भूतता, तथा अभिभूत न होना, इनके अभाव से, वायोः = वायु द्रव्य की, अनुपलब्धि = उपलब्धि नहीं होती ॥ ७ ॥

भावार्थ—उल्काप्रकाशादि वायुपर्यन्त ये द्रव्य तथा महत्परिमाण होने पर भी रूप गुण का संस्कार अर्थात् रूप का समवाय, उसकी उद्भूतता (प्रकटता) तथा दूसरे रूप से अभिभूत (दबा) न होना यह न होने से उल्काप्रकाशादिकों का प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ ७ ॥

उपस्कार— इस सूत्र में 'रूपसंस्काराभावात्' में इस हेतु में रूपसंस्कार पद से रूप गुण का समवाय सम्बन्ध, उसका उद्भूत (प्रगट) होना, तथा उसका

यद्यपि वायौ य एव स्पर्शसमवायः स एव रूपसमवायः तथापि रूपनिरूपितो नास्ति तत्र रूपात्यन्ताभावसत्त्वात्। चाक्षुषे च रश्मौ रूपसंस्कारः रूपोद्भवो नास्ति, मध्यन्दिनोल्काप्रकाशे च रूपसंस्कारो रूपानभिभवो नास्ति इति न तेषां प्रत्यक्षता। एवं ग्रीष्मोष्मभर्जनकपालानलकनकादिषु रूपसंस्काराभावो उन्नेयः।

वृत्तिकृतिस्तु रूपञ्च रूपसंस्कारश्चेत्येकरूपपदलोपः तेन रूपाभावा द्वायोरनुपलब्धिः रूपसंस्काराभावाच्चक्षुरादीनामनुपलब्धिरित्याहुः ॥७॥

एवं परमाणुनित्यताप्रकरणानन्तरं परमाणुलिङ्गतयोपोद्धातसङ्गत्या बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षताप्रकरणं समाप्य उपोद्धातेन गुणप्रत्यक्षताप्रकरणं वर्तयिष्यन्नाह—

अनेकद्रव्यसमवायात् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ ८ ॥

अभिभव (तिरस्कार) न होना, सूत्रकार को विवक्षित है। इससे यद्यपि वा[illegible] में जो ही स्पर्श गुण का समवाय है वही रूप का भी समवाय है, तथापि रू[illegible] से निरूपण किया हुआ समवाय नहीं है, क्योंकि वायु में रूप का अत्यन्ताभाव है अतः वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। चक्षुरिन्द्रिय के किरणों में उद्भूत [illegible] नामक रूपसंस्कार नहीं है, तथा मध्याह्नकाल के उल्काप्रकाश में भी रूप [illegible] अभिभूत न होना स्वरूप रूपसंस्कार नहीं है। क्योंकि सूर्य के प्रकाश से उल्का [illegible] प्रकाश अभिभूत (दवा) है अतः इन संपूर्णों का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रका[illegible] ग्रीष्म ऋतु का (ऊष्मा) गर्मी, तथा भुंजवे के भूंजने के गरम वालू वाले मिट्टी के [illegible] में वर्तमान अग्नि एवं सुवर्णादिकों में रूपसंस्कार न होने से इनका प्रत्यक्ष नहीं हो[illegible] यह भी जान लेना चाहिये। किन्तु सूत्र में 'रूपं च रूपसंस्कारश्च' रूप गुण, त[illegible] उसके उक्त रूप तीनों संस्कार, ऐसा समास कर एक रूप पद का लोप करना, इ[illegible] वायु में रूप न होने से उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, तथा 'चक्षु आदि के किर[illegible] दिकों में उक्त प्रकार से उद्भूत रूपादि रूप संस्कार नहीं होने से उनका भी चा[illegible] नहीं होता ऐसी वृत्तिकार ने सूत्र की व्याख्या की है ॥ ७ ॥

इस प्रकार परमाणुओं के नित्यता प्रकरण के निरूपण के पश्चात् परमाणु सा[illegible] होने के कारण उपोद्धात (प्रस्तुत सिद्धयर्थ विचाररूप) संगति से बहिर्द्रव्यों के प्र[illegible] होने का प्रकरण भी समाप्त कर उपोद्धात-संगति ही से गुणों के प्रत्यक्ष होने [illegible] प्रकरण निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अनेकद्रव्यसमवायात्=अनेक द्रव्यों में आश्रित द्रव्यों में सम[illegible] सम्बन्ध होने से, रूपविशेषात् च = रूप की उद्भूतता, तथा अभिभूत न होना [illegible] रूपत्व जाति, इन विशेषों से भी, रूपोपलब्धिः=रूपगुण का प्रत्यक्ष होता है ॥ [illegible]

भावार्थ—अनेक द्रव्यों के आश्रित त्रसरेणु आदि द्रव्यों में समवेत होने से [illegible] उद्भूतता, अभिभूत न होना, एवं रूपत्वजाति ऐसी तीन रूपगुण की विशे[illegible]

रूपगतो विशेषो रूपविशेषः तच्चोद्भूतत्वमनभिभूतत्वं रूपत्वञ्च तस्माद्रूपस्योलब्धिः। नन्वेवं परमाणोर्द्व्यणुकस्य च रूपं गृह्येतेत्यत उक्तमनेकद्रव्यसमवायादिति। अनेकपदं भूयस्त्वपरं तेनानेकानि भूयांसि द्रव्याणि आश्रयतया यस्य तदनेकद्रव्यं त्रसरेणुप्रभृति तत्समवायात् घटादयोऽप्यत्र यवद्व्यारब्धाः परम्परयाऽनेकद्रव्याश्रया एव, रसस्पर्शादौ रूपत्वविरहात् चाक्षुषत्वाभावः चाक्षुषे तेजसि च उद्भूतत्वविरहात्। उद्भवः रूपादिविशेषगुणगतो जातिविशेष एव रूपत्वादिव्याप्यः। नन्वेवं शुक्लत्वसुरभित्वशीतत्वकटुत्वादिभिरपि परापरभावानुपपत्तिरेव, तत्तद्व्याप्यतन्नानात्वकल्पने तु कल्पनागौरवम् उद्भवपदस्य नानार्थत्वञ्चेति चेन्न बाह्यैकैकेन्द्रियग्रहणयोग्यगुणत्वस्यैवोपाधेरुद्भवत्वात् तदुपाधिविरहस्यैवानुद्भवत्वात्। अनुद्भवाभाव एव उद्भव इति केचित्। तच्चिन्त्यम्, अनुद्भ-

---

होने से भी रूपगुण का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। घटादि द्रव्य के यद्यपि दो कपाल रूप द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं। किन्तु परम्परा से वह भी अनेक द्रव्याश्रित ही हैं, अतः उनके भी रूप में उक्त तीनों प्रकार की रूप की विशेषता रहने से घटादिरूप का चाक्षुप प्रत्यक्ष होता है॥ ८॥

उपस्कार—सूत्र में 'रूपविशेषात्' इस पद में रूप में वर्तमान विशेषरूप विशेप शब्द का अर्थ है, वह रूप का विशेप है रूप की उद्भूतता, अनभिभूतता तथा रूपत्व जाति भी इस रूपविशेप से रूप का चाक्षुप प्रत्यक्ष होता है। (पुरुष तथा कालादि भेद से भिन्न अभिभूतता के प्रत्यक्ष विशेप में प्रतिबन्धक होने के कारण उन-उन अभिभूतता के अभावरूप अनभिभूतता उन २ प्रत्यक्षों में कारण होती है। इस मत से रूप की अनभिभूतता को रूप प्रत्यक्ष में कारण कहा है)। (आगे शंकरमिश्र सूत्र में 'अनेकद्रव्यसमवायात्' इस हेतु के देने का सार्थक्य दिखाते हुए कहते हैं कि)—'ऐसा होने से परमाणु तथा द्वचणुक के भी रूप का उक्त रूप विशेष होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष होगा'। इस शंका के समाधानार्थ सूत्र में सूत्रकार ने 'अनेकद्रव्यसमवायात्' ऐसा हेतु भी कहा है। इसमें अनेक पद का अर्थ है 'भूयस्त्व' प्रचुरता, इससे अनेक भूयस् (प्रचुर-अधिक) द्रव्य जिसके आश्रय हों वह अनेक द्रव्य जैसे त्रसरेणु इत्यादि (क्योंकि छ परमाणुओं से बने तीन द्वचणुकों में रहते हैं) उनके त्रसरेणुओं में रूप का समवाय होने से घट आदि द्रव्य यद्यपि दो कपालरूप अवयव द्रव्यों से उत्पन्न हैं, किन्तु परम्परा से वे भी अनेक द्रव्यों में ही आश्रित हैं। रस, स्पर्श आदि गुणों में रूपत्व-जाति के अभाव से चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, चक्षुइन्द्रिय के किरणरूप तेज में रूप उद्भूत न होने से चाक्षुप रश्मियों का प्रत्यक्ष नहीं होता। उद्भूत इस पद में उद्भूवत्व-रूप आदिगुण विशेषों में वर्तमान एक जातिविशेष ही है जो रूपत्वादि जाति का व्याप्य है। (यहां 'उद्भवः' यह भावप्रधान शंकरमिश्र की उक्ति है जिससे उद्भूतत्व लेना)। ऐसा होने से शुक्लत्व, सुरभित्व, शीतत्व, कटुत्व आदि जातियों को लेकर

यद्यपि वायौ य एव स्पर्शसमवायः स एव रूपसमवायः तथापि रूपनिरूपितो नास्ति तत्र रूपात्यन्ताभावसत्त्वात्। चाक्षुषे च रश्मौ रूपसंस्कारः रूपोद्भवो नास्ति, मध्यन्दिनोल्काप्रकाशे च रूपसंस्कारो रूपानभिभवो नास्ति इति न तेषां प्रत्यक्षता। एवं ग्रीष्मोष्मभर्जनकपालानलकनकादिषु रूपसंस्काराभाव उन्नेयः।

वृत्तिकृतिस्तु रूपञ्च रूपसंस्कारश्चेत्येकरूपपदलोपः तेन रूपाभावा-द्वायोरनुपलब्धिः रूपसंस्काराभावाच्चक्षुरादीनामनुपलब्धिरित्याहुः ॥ ७॥

एवं परमाणुनित्यताप्रकरणानन्तरं परमाणुलिङ्गतयोपोद्घातसङ्गत्या बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षताप्रकरणं समाप्य उपोद्घातेन गुणप्रत्यक्षताप्रकरणं वर्तयिष्यन्नाह—

अनेकद्रव्यसमवायात् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ ८ ॥

अभिभव (तिरस्कार) न होना, सूत्रकार को विवक्षित है। इससे यद्यपि वायु में जो ही स्पर्श गुण का समवाय है वही रूप का भी समवाय है, तथापि रूप से निरूपण किया हुआ समवाय नहीं है, क्योंकि वायु में रूप का अत्यन्ताभाव है अतः वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता। चक्षुरिन्द्रिय के किरणों में उद्भूत रूप नामक रूपसंस्कार नहीं है, तथा मध्याह्नकाल के उल्काप्रकाश में भी रूप का अभिभूत न होना स्वरूप रूपसंस्कार नहीं है। क्योंकि सूर्य के प्रकाश से उल्का का प्रकाश अभिभूत (दबा) है अतः इन संपूर्णों का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु का (ऊष्मा) गर्मी, तथा भुंजवे के भूंजने के गरम बालू वाले मिट्टी के घड़े में वर्तमान अग्नि एवं सुवर्णादिकों में रूपसंस्कार न होने से इनका प्रत्यक्ष नहीं होता यह भी जान लेना चाहिये। किन्तु सूत्र में 'रूपं च रूपसंस्कारश्च' रूप गुण, तथा उसके उक्त रूप तीनों संस्कार, ऐसा समास कर एक रूप पद का लोप करना, इससे वायु में रूप न होने से उसका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, तथा 'चक्षु आदि के किरणादिकों में उक्त प्रकार से उद्भूत रूपादि रूप संस्कार नहीं होने से उनका भी चाक्षुष नहीं होता ऐसी वृत्तिकार ने सूत्र की व्याख्या की है ॥ ७ ॥

इस प्रकार परमाणुओं के नित्यता प्रकरण के निरूपण के पश्चात् परमाणु साधक होने के कारण उपोद्घात (प्रस्तुत सिद्धयर्थ विचाररूप) संगति से बहिर्द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने का प्रकरण भी समाप्त कर उपोद्घात-संगति ही से गुणों के प्रत्यक्ष होने का प्रकरण निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अनेकद्रव्यसमवायात्=अनेक द्रव्यों में आश्रित द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध होने से, रूपविशेषात् च = रूप की उद्भूतता, तथा अभिभूत न होना, रूपत्व जाति, इन विशेषों से भी, रूपोपलब्धिः=रूपगुण का प्रत्यक्ष होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—अनेक द्रव्यों के आश्रित त्रसरेणु आदि द्रव्यों में समवेत होने से तथा उद्भूतता, अभिभूत न होना, एवं रूपत्वजाति ऐसी तीन रूपगुण की विशे-

रूपगतो विशेषो रूपविशेषः तच्चोद्भूतत्वमनभिभूतत्वं रूपत्वञ्च तस्माद्रूपस्योलब्धिः। नन्वेवं परमाणोर्द्व्यणुकस्य च रूपं गृह्येतेत्यत उक्तमनेकद्रव्यसमवायादिति। अनेकपदं भूयस्त्वपरं तेनानेकानि भूयांसि द्रव्याणि आश्रयतया यस्य तदनेकद्रव्यं त्रसरेणुप्रभृति तत्समवायात् घटादयोऽप्यवयवद्वयारब्धाः परम्परयाऽनेकद्रव्याश्रया एव, रसस्पर्शादौ रूपत्वविरहात् चाक्षुषत्वाभावः चाक्षुषे तेजसि च उद्भूतत्वविरहात्। उद्भवः रूपादिविशेषगुणगतो जातिविशेष एव रूपत्वादिव्याप्यः। नन्वेवं शुक्लत्वसुरभित्वशीतत्वकटुत्वादिभिरपि परापरभावानुपपत्तिरेव, तत्तद्व्याप्यतन्नानात्वकल्पने तु कल्पनागौरवम् उद्भवपदस्य नानार्थत्वञ्चेति चेन्न बाह्यैकैकेन्द्रियग्रहणयोग्यगुणत्वस्यैवोपाधेरुद्भवत्वात् तदुपाधिविरहस्यैवानुद्भवत्वात्। अनुद्भवाभाव एव उद्भव इति केचित्। तच्चिन्त्यम्, अनुद्भ-

---

होने से भी रूपगुण का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। घटादि द्रव्य के यद्यपि दो कपाल रूप द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं। किन्तु परम्परा से वह भी अनेक द्रव्याश्रित ही हैं, अतः उनके भी रूप में उक्त तीनों प्रकार की रूप की विशेषता रहने से घटादिरूप का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है ॥ ८ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'रूपविशेषात्' इस पद में रूप में वर्तमान विशेषरूप विशेष शब्द का अर्थ है, वह रूप का विशेष है रूप की उद्भूतता, अनभिभूतता तथा रूपत्व जाति भी इस रूपविशेष से रूप का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। (पुरुष तथा कालादि भेद से भिन्न अभिभूतता के प्रत्यक्ष विशेष में प्रतिवन्धक होने के कारण उन-उन अभिभूतता के अभावरूप अनभिभूतता उन २ प्रत्यक्षों में कारण होती है। इस मत से रूप की अनभिभूतता को रूप प्रत्यक्ष में कारण कहा है)। (आगे शंकरमिश्र सूत्र में 'अनेकद्रव्यसमवायात्' इस हेतु के देने का सार्थक्य दिखाते हुए कहते हैं कि)—'ऐसा होने से परमाणु तथा द्वचणुक के भी रूप का उक्त रूप विशेष होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष होगा'। इस शंका के समाधानार्थ सूत्र में सूत्रकार ने 'अनेकद्रव्यसमवायात्' ऐसा हेतु भी कहा है। इसमें अनेक पद का अर्थ है 'भूयस्त्व' प्रचुरता, इससे अनेक भूयस् (प्रचुर-अधिक) द्रव्य जिसके आश्रय हों वह अनेक द्रव्य जैसे त्रसरेणु इत्यादि (क्योंकि छ परमाणुओं से बने तीन द्वचणुकों में रहते हैं) उनके त्रसरेणुओं में रूप का समवाय होने से घट आदि द्रव्य यद्यपि दो कपालरूप अवयव द्रव्यों से उत्पन्न हैं, किन्तु परम्परा से वे भी अनेक द्रव्यों में ही आश्रित हैं। रस, स्पर्श आदि गुणों में रूपत्व-जाति के अभाव से चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता, चक्षुइन्द्रिय के किरणरूप तेज में रूप उद्भूत न होने से चाक्षुष रश्मियों का प्रत्यक्ष नहीं होता। उद्भूत इस पद में उद्भवत्व-रूप आदिगुण विशेषों में वर्तमान एक जातिविशेष ही है जो रूपत्वादि जाति का व्याप्य है। (यहां 'उद्भवः' यह भावप्रधान शंकरमिश्र की उक्ति है जिससे उद्भूतत्व लेना)। ऐसा होने से शुक्लत्व, सुरभित्व, शीतत्व, कटुत्व आदि जातियों को लेकर

वस्याप्वेवं व्यवस्थापयितुमशक्यत्वात् । अतीन्द्रियविशेषगुणत्वमनुद्भूतत्वमिति चेत्, एवं तर्हि ऐन्द्रियकविशेषगुणत्वस्यैवोद्भवत्वापत्तेः । ऐन्द्रियकत्वावच्छेदकं किमिति चेत्, तुल्यम् । विशेषगुणेष्वेकैवोद्भूतत्वं जातिः गुणगतजातौ परापरभावानुपपत्तिर्न दोषायेत्यपि वदन्ति ॥ ८ ॥

भी परस्पर में पर, तथा अपर जातिता नहीं बन सकती (अर्थात् उद्भूत शुक्लादिकों को लेकर उद्भूत शुक्ल में उद्भूतत्व शुक्लत्व दोनों हैं, अनुद्भूत शुक्ल में शुक्लता है, उद्भूतता नहीं है, उद्भूत नील में उद्भूतता है शुक्लता नहीं है अतः सांकर्य दोष हो जायगा), यदि शुक्लतादिकों की व्याप्य उद्भूतता नाना हैं ऐसा माना जाय तो कल्पना में गौरव दोष होगा। (अर्थात् कार्यकारणभाव में व्यभिचार-निरासार्थ चाक्षुष में विजातीयता अथवा अव्यवहितोत्तरताघटित कार्यतावच्छेदक भी कल्पना करना पड़ेगा) तथा उद्भव पद के अनेक अर्थ भी मानने पड़ेंगे, ऐसी यहां पूर्वपक्षी शंका नहीं कर सकता क्योंकि बाह्य एक-एक इन्द्रिय से ग्रहण करने के योग्य गुणस्वरूप उपाधि ही उद्भूत शब्द का अर्थ है। (अर्थात् बाह्य एक-एक इन्द्रिय से ग्रहण करने के योग्य विशेष गुणत्व ही उद्भूतत्वरूप जातिभिन्न उपाधिरूप धर्म है न कि उद्भूतत्व जाति है जिससे सांकर्यदोष होगा) और उस उपाधि का विरह ही अनुद्भव पद का अर्थ है। किन्तु गंगेशोपाध्याय का यह मत है कि 'अनुद्भव के अभाव ही को उद्भव कहते हैं' शंकरमिश्र कहते हैं कि यह उनका मत विचारणीय है क्योंकि उद्भव का अभाव अनुद्भव है ऐसा भी कहा जा सकता है। (किन्तु यहाँ यह विचारणीय है क्योंकि उद्भूतत्व जाति यदि सांकर्य दोष के वारणार्थ मानी जाय तो व्यभिचार-वारण के लिये अनेक कार्यकारणभाव मानना होगा, और अनुद्भूतत्व जाति मानें तो उनके अभाव-समुदायको लेकर चाक्षुष प्रत्यक्ष में एकही कार्यकारणभाव मानना होता है अतः इस पक्ष में लाघव ही है तो शंकरमिश्र ने गंगेशोपाध्याय के मत में अपनी अश्रद्धा क्यों प्रगट की है ?) ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुद्भूतत्वाभाव कूट को चाक्षुष प्रत्यक्ष के कारणता का नियामक मानने से विशेष्य-विशेषणभाव से नियामक न होने के कारण अत्यन्त गुरु कार्यकारणभावों में अनेकता माननी होगी (यह शंकरमिश्र की चिन्तामणिकार के मत में अश्रद्धा का कारण है यह भाव है)। (आगे अनुद्भूतत्व के विषय में मतान्तर का खण्डन करने के लिये शंकरमिश्र कहते हैं कि)—'अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) विशेष गुणत्व ही अनुद्भूत है' ऐसा कहो तो इन्द्रियग्राह्य विशेष गुणत्व ही उद्भूतत्व है यह आपत्ति आवेगी। 'इन्द्रियग्राह्यतानियामक क्या होगा' ऐसा कहो तो यह प्रश्न दोनों पक्षों में समान है अर्थात् आपके मत में इन्द्रियग्राह्यता-नियामक भिन्नरूप अतीन्द्रियता यदि अनिर्वाच्य (कहने के अयोग्य) है तो उसकी योग्यता भी अनिर्वचनीय है। सन्निकर्षादिरूप कारण सामग्री के रहते अभिभवादिकों के न रहने पर भी जो प्रत्यक्ष नहीं होता उसे अतीन्द्रिय कहते हैं, ऐसा यदि निर्वचन किया जाय

स्पर्शातिरिक्तानां रूपसामानाधिकरण्यमेव बहिरिन्द्रियग्राह्यताप्रयोजकमिति रूपप्रत्यक्षसामग्रीमभिधाय तामन्यत्रातिदिशन्नाह—

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ ९ ॥

तेनेति रूपप्रत्यक्षज्ञानेनेत्यर्थः। यथा रूपविशेषात् रूपत्वानभिभूतत्वोद्भूतत्वाद्रूपोपलब्धिस्तथा रसविशेषात् रसत्वानभिभूतत्वोद्भूतत्वलक्षणात् रसोपलब्धिः, एवमितरत्रापि योज्यम्। अनेकद्रव्यसमवायश्चातिदेश्यः। घ्राणरसनत्वगिन्द्रियाणामनुद्भूतत्वाद् गन्धरसस्पर्शानामग्रहणम्, पाषाणादावनुद्भवाद्गन्धर-

---

तो हमारे मत में भी उसका आश्रय न होना ही योग्यता हो सकती है इस प्रकार दोनों पक्षों में समानता है यह भाव है। (सांकर्यदोष को जातिबाधक न माननेवालों के मत से शङ्करमिश्र उद्भूतत्व का स्वरूप दिखाते हैं कि)—विशेष गुणों में एक उद्भूतत्व जाति है, क्योंकि गुणों में रहनेवाली जातियों में परापरभाव की अनुपपत्ति (न होना) अर्थात् सांकर्यदोषजनक नहीं होता। ऐसा भी कुछ विद्वान् कहते हैं ॥ ८ ॥

स्पर्श गुण से भिन्न गुणों का रूपगुण के अधिकरण में रहना ही बहिरिन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने का प्रयोजक है, इस कारण रूपगुण के प्रत्यक्ष की सामग्री को वर्णन कर उसका दूसरे गुणों में अतिदेश (समानता) दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तेन = उस रूप के प्रत्यक्ष ज्ञान से, रसगन्धस्पर्शेषु = रस, गन्ध तथा स्पर्शगुणों में, ज्ञानं = ज्ञान, व्याख्यातं = व्याख्या किया गया ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार रूपगुण के रूपत्व, अनभिभूतता तथा उद्भूतत्वरूप विशेष से रूप का प्रत्यक्ष होता है इसी प्रकार रस के रसत्व, अनभिभूतत्व तथा उद्भूतत्वरूप रस के विशेष से रस का रासन प्रत्यक्ष ऐसे ही गन्ध तथा स्पर्श का भी उक्त अपने-अपने विशेषों से घ्राण एवं त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है ॥ ९ ॥

उपस्कार—सूत्र के 'तेन' इस शब्द का अर्थ है रूप के प्रत्यक्षज्ञान से। जिस प्रकार रूपत्व, अनभिभूतत्व, तथा उद्भूतत्व स्वरूप रूप के विशेष से रूप का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार रसत्वजाति, अनभिभूतता, तथा रस का उद्भूत होना स्वरूप रस के विशेष से रसगुण का रसनेन्द्रिय से ग्रहण होता है। इसी प्रकार गन्ध एवं स्पर्शगुण में भी योजना कर लेना। और अनेक द्रव्य समवाय की भी योजना कर लेना। (अर्थात् अनेक द्रव्याश्रय द्रव्यों में वर्तमान रसादिगुणों का भी प्रत्यक्ष होता है यह भी रूपगुण के समान जानना)। घ्राण, रसना (जिह्वा), त्वक् इन इन्द्रियोंके क्रम से गन्ध, रस तथा स्पर्श गुणों के उद्भूत न होने से क्रम से घ्राणेन्द्रियादिकों से ग्रहण नहीं होता। पाषाणादि पृथिवी में गन्ध तथा रसगुण के भी उद्भूत न होने से ग्रहण नहीं होता, क्योंकि पाषाण के भस्म (चूने) में गन्ध तथा रस दोनों का ग्रहण होता है। गंगेशोपाध्यायादि कुछ विद्वानों का मत है कि गन्ध और रस पाषाणादिकों में गृहीत होता

सयो:,—तद्भस्मनि तयोरुपलम्भात्। तयोः पाषाणादावुपलम्भ एव न तु स्पष्ट इत्येके। विभक्तावयवाप्यद्रव्यरूपानुद्भवात्तदग्रहणम्। एवं रसस्यापि। उष्ण जले तेजोरूपस्यानुद्भवात् स्पर्शस्य चाभिभवात्, विततकर्पूरचम्पकादौ रूपरसस्पर्शानामनुद्भवादनुपलम्भः। कनकादौ रूपमुद्भूतमेव शुक्लत्वभास्वरत्वे परमभिभूते। रूपमप्यभिभूतमित्येके। कनकग्रहणन्तु रूपान्तरसाहचर्यात्। अभिभवश्च बलवत्सजातीयग्रहणकृतमग्रहणं न तु बलवत्सजातीयसम्बन्धमात्रम्,

---

है, किन्तु स्पष्ट (साफ) गृहीत नहीं होता। अर्थात् पाषाण में 'मैं गन्ध तथा रस को ग्रहण करता हूं' ऐसा अनुव्यवसाय (आत्मा को अनुभव) नहीं होता। विभक्त अवयव वाले जलीय द्रव्यों का रूप उद्भूत न होने से उसका ग्रहण नहीं होता। इसी प्रकार रस का भी जानना। उष्ण जल में तेज का भास्वर शुक्ल रूप भी उद्भूत न होने से एवं जल के शीतस्पर्श का तेज के उष्णस्पर्श से अभिभव होने से ग्रहण नहीं होता। वितत (फैले हुए) कपूर, चम्पापुष्प आदिकों में रूप, रस तथा स्पर्श गुणों का उद्भूत न होने से प्रत्यक्ष नहीं होता। सुवर्णादिकों में तेज का शुक्ल रूप उद्भूत ही है, केवल शुक्ल की शुक्लता तथा भास्वरता (परप्रकाशकता ही) अभिभूत (पार्थिव पीत रूप से अभिभूत है) शुक्लरूप गुण भी अभिभूत है ऐसा भी कुछ दार्शनिकों का मत है। सुवर्ण का प्रत्यक्ष पृथिवी के दूसरे रूप के साथ से जो रूप होने से होता है।

यहां पर बलवान् समानजातीय पदार्थ के ग्रहण से ग्रहण न होना ही अभिभव शब्द का अर्थ है न कि केवल बलवान् समानजातीय पदार्थ का सम्बन्ध, क्योंकि बलवान् समानजातीय का सम्बन्ध भी उस बलवान् समानजातीय के ग्रहण न होने से जानने योग्य होने के कारण अग्रहण ही उपजीव्य (आश्रय करने योग्य) है। बलवान् सजातीय के अग्रहण का प्रयोजक (संपादक) होने से बलवान् समानजातीय का सम्बन्ध उपजीव्य है (आश्रय-योग्य है) क्योंकि ग्रहण का प्रागभाव अथवा अत्यन्ताभाव बलवान् समानजातीय का प्रयोज्य नहीं हो सकता और ग्रहण का ध्वंस तो वहां है नहीं। तो सिद्धान्ती के मत में भी तो बलवान् सजातीय पदार्थ के ग्रहण से उत्पन्न अग्रहण तो नहीं ही बन सकेगा। ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे तो उत्तर ऐसा हो, तथापि समानजातीय पदार्थ के बलवान् अथवा दुर्बल होने में अथवा बलवान् सजातीय का सम्बन्ध होने में ग्रहण होना तथा अग्रहण (ग्रहण न होना) ही प्रयोजक होने के कारण वही अभिभव शब्द का अर्थ है। अर्थात् ग्रहण का प्रागभाव, अत्यन्ताभाव के भी प्रतियोगि-सामग्री के हटाने के द्वारा बलवान् समानजातीय का ग्रहण होना प्रयोजक ही है, समानजातीय पदार्थ को उसमें प्रयोजकता ग्रहण के द्वारा ही माननी होगी स्वयं नहीं, क्योंकि पित्त से दूषित नेत्रवाले पुरुष को रजत

बलवत्सजातीयसम्बन्धस्याप्यग्रहणनिरूप्यतया अग्रहणस्यैवोपजीव्यत्वात् । न चाग्रहणप्रयोजकत्वेन बलवत्सजातीय एवोपजीव्यः, अग्रहणस्य ग्रहणप्रागभावस्य तदत्यन्ताभावस्य वा तदप्रयोज्यत्वात्, ग्रहणध्वंसस्य च तत्राभावात् । तत्रापि तर्हि बलवत्सजातीयग्रहणकृतमग्रहणमनुपपन्नमेवेति चेत्, अस्त्वेवम्, तथापि सजातीयस्य बलवत्त्वे दुर्बलत्वे वा तादृशसम्बन्धसत्वे वा ग्रहणाग्रहणे एव प्रयोजके इति स एवाभिभवपदार्थः ॥ ९ ॥

ननु गुरुत्वमप्यनेकद्रव्यसमवेतं रूपमहत्त्वसमानाधिकरणञ्चेति कथं न प्रत्यक्षमत आह—

तस्याभावादव्यभिचारः ॥ १० ॥

तस्य रूपत्वादेः सामान्यस्य उद्भवस्य च गुरुत्वेऽभावान्न गुरुत्वं प्रत्यक्षम् ।

(चाँदी) इत्यादि पदार्थों का श्वेत दिखाई पड़ना समानजातीय शुक्ति पदार्थ ग्रहण से ही होता है; यह देखने में आता है। (वह केवल समान जाति के पदार्थ मात्र से, अथवा उसके सम्बन्ध मात्र से नहीं होता, क्योंकि दूसरे मनुष्य को भी किसी समानजातीय पदार्थ के सम्बन्ध से रजत में श्वेत का ज्ञान होने लगेगा। एवं च बलवान् समानजातीय पदार्थ का ग्रहण तथा उससे प्रयोज्य (होनेवाले) का ग्रहण न होना ही बलवान् समानजातीय पदार्थ का बोधक होने के कारण बलवान् समानजातीय पदार्थ तथा उसके सम्बन्ध का उपजीव्य होता है, उसको छोड़कर बलवान् समानजातीय पदार्थ तथा उसके सम्बन्ध को कहना असंभव होने से उससे युक्त ही अभिभव शब्द का अर्थ है यह यहां पर तात्पर्य है) ॥ ९ ॥

(अग्रिम सूत्र का शंका द्वारा शंकरमिश्र अवतरण ऐसा देते हैं कि)—'गुरुत्व नामक गुण भी अनेक द्रव्यों में समवेत, तथा रूपाधार द्रव्य में रहता भी है इस कारण उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता' इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तस्य = उस रूपत्वादि स्वरूप उक्त रूपविशेषों के, अभावात् = न होने से, अव्यभिचारः =चाक्षुष प्रत्यक्ष में उसका व्यभिचार नहीं है, गुरुत्व में उसके न होने से प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ १० ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त रूपत्व जाति, उद्भूतता आदि रूप के विशेषों के गुरुत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः चाक्षुष प्रत्यक्ष में उक्त रूप के विशेषों का व्यभिचार नहीं हो सकता ॥१०॥

उपस्कार—उस रूपत्वादि जाति का उद्भूतता का भी गुरुत्व नामक गुण में अभाव होने से गुरुत्व का प्रत्यक्ष नहीं होता। यदि 'गुरुत्व में रूपत्वादि स्वरूप रूपविशेषों के न रहने पर भी गुरुत्व का प्रत्यक्ष हो जाय' ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे, तो सूत्र में सूत्रकार 'अव्यभिचारः' ऐसा कहते हैं, अर्थात् एक-एक इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने

ननु माभूत् तत्र रूपत्वादिकं तथापि तत्प्रत्यक्षं स्यादत आह अव्यभिचार इति। एकैकेन्द्रियग्राह्यत्वं प्रति रूपत्वादीनां पञ्चानां जातीनाम् अव्यभिचारो नियम एव। यत्रैव रूपत्वादिपञ्चकान्यतमं तत्रैव बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यत्वं तद्व्यतिरेकादित्यर्थः। सूत्रे तु गुरुत्वाधिकारस्यास्फुटत्वात् प्रशस्तदेवैरतीन्द्रियेषु मध्ये परिगणितमपि वल्लभाचार्यैः स्पार्शनमुक्तं गुरुत्वम् ॥ १० ॥

एवमेकैकेन्द्रियग्राह्यानभिधाय द्वीन्द्रियग्राह्यानाह—

संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायात् चाक्षुषाणि ॥ ११ ॥

एतेषां चाक्षुषत्वे स्पार्शनत्वे वा परस्परानपेक्षत्वसूचनायासमासः। यद्यपि महत्त्वापेक्षाऽस्ति तथापि न परिमाणत्वेन। चकारः स्नेहद्रवत्ववेगानामुपसङ्ग्र-

---

में रूपत्व, रसत्व, गन्धत्व, स्पर्शत्व तथा शब्दत्व इन पांच जातियों का अव्यभिचार अर्थात् नियम ही है, क्योंकि जहां रूपत्वादि उक्त पांच जातियों में से कोई एक जाति रहती है वहीं बाह्य चक्षुआदि एक-एक इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है इनको छोड़कर नहीं होता,यह सूत्र का अर्थ है। इस सूत्र में गुरुत्व-निरूपण ही सूत्रकार को अभिमत है ऐसा स्पष्ट न होने के कारण प्रशस्तपादाचार्य ने अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्षों) में गणना किया हुआ भी गुरुत्वगुण त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है ऐसा न्यायलीलावती ग्रन्थ में वल्लभाचार्य ने कहा है (अर्थात् चाक्षुष प्रत्यक्ष की सामग्री रहने पर भी यदि गुरुत्व का चाक्षुष प्रत्यक्ष न हो तो कार्यकारणभाव में व्यभिचार दोष होगा, न कि सामग्री के अभाव के कारण कार्य के अभाव से, अतः वल्लभाचार्य ने गुरुत्व गुण का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है ऐसा माना है) ॥ १० ॥

इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय से प्रत्यक्ष-योग्य गुणों का वर्णन कर दो इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने योग्य गुणों को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ— संख्याः=एकादि संख्या, परिमाणानि = महत्, दीर्घादि परिमाण, पृथक्त्वं = पृथकत्व, संयोगविभागौ = संयोग तथा विभाग, परत्वापरत्वे = दैशिक तथा कालिक परत्व और अपरत्व, कर्म च=और क्रिया भी, रूपिद्रव्यसमवायात् = रूपाश्रय द्रव्यों में समवाय होने से, चाक्षुषाणि = चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होते हैं ॥११॥

भावार्थ— रूपाधार द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से वर्तमान संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग तथा विभाग, एवं दैशिक तथा कालिक दोनों प्रकार के परत्व एवं अपरत्व, तथा क्रिया का भी चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है ॥ ११ ॥

उपस्कार— सूत्रोक्त संख्यादि गुणों के चाक्षुष अथवा स्पार्शन प्रत्यक्ष होने में इन गुणों को परस्पर अपेक्षा नहीं होती यह सूचित करने के लिये संख्यादि गुणों का समास सूत्रकार ने नहीं किया है। यद्यपि महत्परिमाण गुण की अपेक्षा है तथापि

हार्थः। चाक्षुषाणीति-स्पर्शनत्वमप्युपलक्षयति। यद्वा चकार एव चाक्षुषाणि चेत्यत्रापि योज्यः। सङ्ख्या—इति बहुवचनम् एकत्वादिकाः सर्वा एव सङ्ख्याः सङ्गृह्णाति। एकत्वं सामान्यमेव न तु गुण इति चेत् तद् यदि द्रव्यमात्रवृत्ति तदा द्रव्यत्वेन सहान्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वम्। अथ गुणकर्मणोरपि वर्तते तदा सत्तया सह। (?) न्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वम्। कथं तर्हि गुणादावप्येकत्वादि प्रत्यय इति चेत्, आरोपितेनैकत्वेन, एकार्थसमवायप्रत्यासत्त्यासम्यगेवैकत्व-प्रत्ययो वा तदेतदेकत्वं नित्यद्रव्येषु नित्यम् अनित्येषु च कारणैकत्वासमवायि-कारणकम्। द्वित्वादिकन्तु अपेक्षाबुद्धिजन्यम्। अपेक्षाबुद्धिश्च नानैकत्वसमूहा-लम्बनरूपा, सजातीययोर्विजातीययोर्वा द्रव्ययोश्चक्षुषा सन्निकर्षे ॥ ११ ॥

एतावन्त्येव कर्मपर्यन्तानि अभिप्रेत्याह—

अरूपिष्वचाक्षुषाणि १२ ॥

रूपरहितद्रव्येषु वर्त्तमानानि कर्मपर्यन्तानि सङ्ख्यादीन्यचाक्षुषाणि, न

जाति गुण तथा कर्म पदार्थ में रहती है तो सत्ता जाति के साथ अन्यूनानतिरिक्त वृत्ति होने से ही उक्त दोष हो जायगा। यदि 'गुणादिकों में एकत्व नहीं रहता तो उनमें भी एक गुण इत्यादि प्रतीति कैसे होती है' ऐसा कहो तो, आरोप किये एकत्व से, अथवा एक घटादि द्रव्यों में रूपादि गुण तथा एकत्व संख्या के समवाय होने से वास्तविक ही 'एक रूप है' इत्यादि प्रतीति होगी। वह यह एकत्व (एक संख्या) नित्य द्रव्यों में वर्तमान नित्य तथा अनित्य घटादि द्रव्यों में वर्तमान एक संख्या का कारण कपालादि में वर्तमान एक संख्यारूप असमवायिकारण से उत्पन्न होने से अनित्य है। द्वित्वादि (दो-तीन) आदि संख्या 'अयमेकः अयमेकः' यह एक यह एक इत्यादि रूप अपेक्षा बुद्धिजन्य होने से अनित्य ही होती है। अनेक एक विषय में होने वाली समूहालम्बन (समुदाय को विषय करने वाली) 'यह एक, यह एक' ऐसी बुद्धि को अपेक्षाबुद्धि कहते हैं जो समान जाति के दो पदार्थों के अथवा विजातीय दो पदार्थों के चक्षुरिन्द्रिय से संनिकर्ष होने पर होती है ॥ ११ ॥

सूत्र में उक्त इतने ही कर्म पदार्थ तक के अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अरूपिषु = रूपरहित द्रव्यों में, अचाक्षुषाणि = चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ १२ ॥

भावार्थ—पूर्वसूत्र में कथित संख्या गुण से लेकर कर्म पदार्थ तक के रूपरहित वायु आदिकों में वतमान हों तो उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ १२ ॥

उपस्कार—रूपरहित वायु आदि द्रव्यों में वर्तमान क्रियापर्यन्त संख्या परिमाणादि गुणों का चक्षुरिन्द्रिय से, तथा त्वगिन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा सूत्र का अर्थ देखना चाहिये। इस सूत्र में आत्मा की एक संख्या मानस प्रत्यक्ष होती है परिमाणता सामान्यरूप में नहीं है। सूत्रोक्त चकार से स्नेह, द्रवत्व तथा वेग संस्कार का ग्रहण करना चाहिए। सूत्र का 'चाक्षुषाणि' यह पद 'स्पार्शनत्व' त्वगिन्द्रिय से उक्त गुणों का गृहीत होना सूचित होता है अथवा सूत्र में का 'च' शब्द ही

स्पार्शनानीत्यपि द्रष्टव्यम् । अप्रत्यक्षाणीति नोक्तम्, तथा सत्यात्मैकत्वमपि प्रत्यक्षं न स्यात् ॥ १२ ॥

रूपादीनामेकैकेन्द्रियग्राह्यत्वं सङ्ख्यादीनां द्वीन्द्रियग्राह्यत्वं सुखादीनां मानसत्वं, तथा च सत्तागुणत्वयोः सामान्ययोः सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वमायातमित्याह—

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं व्याख्यातम् ॥ १३ ॥

व्यक्तिग्रहणयोग्यतैव जातिग्रहणयोग्यता । व्यक्तयश्च यथायथं यदि सर्वेन्द्रियैर्गृह्यन्ते तदा जात्योरपि गुणत्वसत्तयोः सर्वेन्द्रियग्राह्यत्वं पर्यवसन्नमित्यर्थः ॥ १३ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे चतुर्थाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ।

'चाक्षुपाणि' इस पद के वाद लगाकर 'चाक्षुपाणि च' ऐसी सूत्र में चकार की योजना करनी चाहिये । 'संख्याः' इस पद में वहुवचन एक, दो, तीन आदि संपूर्ण संख्याओं का संग्रह करता है । यदि 'एकत्व जाति ही है गुण नहीं है' ऐसा कहो तो वह एकत्व जाति यदि केवल द्रव्यों में रहती है तो द्रव्यत्व जाति के साथ 'अन्यूनानतिरिक्तवृत्तित्व' न्यून या अधिक में न रहने से या तो एकत्व ही जाति होगी अथवा द्रव्यत्व ही (अर्थात् घटत्व कलशत्व के समान दोनों पर्याय हो जायंगे) । यदि एकत्व वह न होगी इसलिये 'अप्रत्यक्षाणि' प्रत्यक्ष नहीं है ऐसा न कहकर 'अचाक्षुषाणि' चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा कहे ॥ १२ ॥

रूप, रस आदि गुण एक-एक इन्द्रिय से गृहीत होते हैं संख्यादि गुण दो-दो इन्द्रियों से गृहीत होते हैं, सुख-दुःख आदि गुणों का मानसप्रत्यक्ष होता है, ऐसा होने से सत्ता तथा गुणत्व नामक दो जातियों का संपूर्ण इन्द्रियों से ग्रहण होता है यह प्राप्त हुआ इस अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एतेन = इस कथन से, गुणत्वे = गुणत्व जाति में, भावे च = और सत्ता जाति में भी, सर्वेन्द्रियं = सम्पूर्ण इन्द्रियों से होने वाला, ज्ञानं = ज्ञान होता है, व्याख्यातम् = यह व्याख्यात होता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त कथन से गुणत्व नामक जाति तथा सत्ताजातिक चक्षु आदि संपूर्ण इन्द्रियां से प्रत्यक्ष होता है यह कहा गया ॥ १३ ॥

उपस्कार—इन्द्रियों में व्यक्ति के ग्रहण करने की योग्यता ही उस व्यक्ति में वर्तमान जातियों के ग्रहण करने की योग्यता होती है । (क्योंकि जिस इन्द्रिय से व्यक्ति का ग्रहण होता है उसमें वर्तमान जाति तथा उसके अभाव का भी उसी इन्द्रिय से ग्रहण होता है यह नियम है) । उन गुणादि व्यक्तियां का चक्षु आदि संपूर्ण इन्द्रियों से जव ग्रहण होता है तव उनमें वर्तमान गुणत्व तथा सत्ता इन दोनों जातियों का संपूर्ण इन्द्रियों से ग्रहण होता है यह सूत्र का पर्यवसित (तात्पर्य विषय) अर्थ है ॥ १३ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्रकृत वैशेषिक सूत्रोपस्कार में

चतुर्थाध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त ।

चतुर्थाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

स्पर्शवद्द्रव्यपरोक्षार्थे चतुर्थाध्याये मूलकारणपरमाणुपरोक्षानन्तरं कार्यद्वारा स्पर्शवन्त्येव द्रव्याणि परीचिक्षिषुराह—

तत् पुनः पृथिव्यादिकार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्॥ १ ॥

तत्र शरीरत्वं प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारणवत् क्रियावदन्त्यावयवित्वम् उपाधिभेदः, न तु शरीरत्वं जातिः पृथिवीत्वादिना परापरभावानुपपत्तेः। इन्द्रियत्वञ्च स्मृत्यजनकज्ञानकारणमनः-संयोगाश्रयत्वम् , शब्देतरोद्भूतविशेष-

---

स्पर्शाश्रयद्रव्य की परीक्षा के विषय चतुर्थ अध्याय में मूलकारण परमाणुओं की परीक्षा करने के पश्चात् उनके कार्यों के द्वारा स्पर्शाश्रय ही द्रव्यों के परीक्षा करने की इच्छा से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत् = वह, पुनः = फिर, पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं = पृथिवी जल आदि कार्यद्रव्य, त्रिविधं = तीन प्रकार का है, शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकं = शरीर, इन्द्रिय तथा विषय नाम का ॥ १ ॥

भावार्थ—जिन स्पर्शाश्रय द्रव्यों के परमाणुओं की प्रथम आह्निक में परीक्षा की है उनके कार्यरूप पृथिवी आदि कार्यरुप द्रव्य शरीर, इन्द्रिय तथा विषय नाम से तीन भेद हैं ॥ १ ॥

उपस्कार—उनमें से प्रयत्नाश्रय आत्मा के संयोगरूप असमवायि कारण वाले क्रियावान् अन्तिम अवयविद्रव्यत्वरूप उपाधि (धर्मविशेष) हैं सामान्यरूप से सम्पूर्ण शरीरों में रहनेवाला (लक्षण इसमें घटादिकों में अतिव्याप्ति दोष-वारणार्थ असमवायिकारणवान् यहाँ तक तथा हस्तादि अवयवों में उक्त दोष-निरासार्थ विशेष्य पद दिया है)। शरीरत्व पृथिवीत्वादिधर्म को लेकर परापरभाव न हो सकने के कारण (घट में केवल पृथिवीत्व है शरीरत्व नहीं जलीय शरीर में शरीरत्व है पृथिवीत्व नहीं, पार्थिव शरीर में पृथिवीत्व तथा शरीरत्व दोनों होने के कारण सांकर्य दोष होने से) जाति नहीं हो सकती। तथा स्मरण को उत्पन्न न करनेवाले ज्ञान के कारण मन के संयोग के आश्रय को इन्द्रिय कहते हैं, अथवा शब्द से भिन्न उद्भूत विशेषगुणों का आश्रय न होकर जो ज्ञान के कारण मन के संयोग का आधार हो उसे इन्द्रिय कहते हैं। (इसमें प्रथम इन्द्रियों के सामान्य लक्षण में प्रत्यक्ष के सामान्य कारणों के वारणार्थ स्मृति का अजनक ऐसा तथा ज्ञान एवं पुरीतति नाडी के संयोग के निरास के लिए 'ज्ञानकारण' पद और द्रव्य तथा इन्द्रिय के संयोग के निरासार्थ 'मनः' पद दिया है यह जानना चाहिये। और दूसरे लक्षण में आत्मा में अतिव्याप्ति-निरासार्थ 'सति'तक विशेषण पद दिया है। श्रोत्रेन्द्रिय में अव्याप्तिवारण

गुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनःसंयोगाश्रयत्वं वा । नक्तञ्चरनयनरश्मिस्तु तेजोऽन्तरमेव । चक्षुष्ट्वे तु शब्दरूपेतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सतीति देयम्, न त्विन्द्रियत्वं जातिः, पृथिवीत्वादिना परापरभावानुपपत्तेः । विषयत्वञ्च यद्यपि प्रतीयमानतया भोगसाधनत्वम्, तच्च लौकिकसाक्षात्कारविषयत्वमेव द्रव्यगुणकर्मसामान्याभावसाधारणम्, तथापि सूत्रानुरोधात् लौकिकसाक्षात्कारविषयककार्यद्रव्यत्वं द्रष्टव्यम् । पृथिव्यादिकार्य्यद्रव्यं त्रिविधमिति हि सूत्रम्, तथा च विषयत्वमपि न जातिः ॥ १ ॥

के लिये 'शब्देतर' पद तथा रूप को लेकर अव्याप्ति-वारणार्थ 'उद्भूत' पद दिया है । संयोग को लेकर असम्भव-वारणार्थ 'विशेष'पद तथा चक्षुरिन्द्रिय के अवयवों के संयोग के चक्षुरिन्द्रिय-संयोग के द्वारा द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष के उत्पन्न करने की योग्यता होने से अतिव्याप्ति दोष-वारण के लिये 'मनः' पद दिया है । तथा कालादिकों में अतिव्याप्ति दोष-वारण के लिये 'ज्ञानकारण' पद दिया है यह भी जान लेना चाहिये) यदि कदाचित् चक्षुरिन्द्रियविशेष मन के संयोग में स्मरण को उत्पन्न करता है ऐसा माना जाय तो प्रथम लक्षण न संगत होगा । इसीलिये उपर्युक्त इन्द्रियों का सामान्य लक्षण किया है ।

('उक्त इन्द्रिय-लक्षण की 'नक्तंचर' रात्रि में विचरने वाले बिल्ली, बाघ, चीता आदि पशुओं के नेत्रों में भास्वर (परप्रकाशक) शुक्ल रूपविशेष गुण होने से अव्याप्ति दोष हो जायगा' इस शंका के समाधानार्थ शंकरमिश्र कहते हैं कि)—नक्तंचर पशुओं के नेत्रों के किरण दूसरा (इन्द्रिय से भिन्न) ही तेज है (अर्थात् इस इन्द्रिय लक्षण का वह लक्ष्य ही नहीं है अतः अव्याप्ति दोष न होगा) यदि वह भी चक्षुरिन्द्रिय ही मानें तो उक्त इन्द्रिय के लक्षण में शब्द तथा रूप दोनों उद्भूत विशेष गुणों के आश्रय नहीं ऐसा सत्यन्त विशेषण का अर्थ करने से (नक्तंचरों के नेत्रकिरणों में लक्षण चला जायगा, क्योंकि उनमें रूप से भिन्न कोई उद्भूत विशेष गुण नहीं है) । किन्तु इन्द्रियत्व, पृथिवीत्वादि जातियों को लेकर परापरभाव न बनेगा, अर्थात् केवल पृथिवीत्व घट में तथा केवल इन्द्रियत्व रसनेन्द्रिय में और दोनों का घ्राणेन्द्रिय में समावेश होने से सांकर्य दोष हो जायगा । इस कारण जाति नहीं है । यहाँ पर विषय उसी को यद्यपि कह सकते हैं जो भोग के साधनरूप से जाना जाय, और वह विषयत्व (द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य तथा अभाव साधारण) लौकिक प्रत्यक्ष विषयता ही मानना होगा, तथापि सूत्र के अनुसार लौकिक प्रत्यक्ष के विषय कार्य द्रव्य ही विषय होते हैं ऐसा अर्थ करना पड़ेगा, नहीं तो द्व्यणुक में लौकिक प्रत्यक्ष की विषयता न होने से अव्याप्ति दोष हो जायगा। क्योंकि पृथिव्यादि कार्यद्रव्य तीन प्रकार के हैं ऐसा सूत्र है, ऐसा होने से विषयत्व भी जाति नहीं है यह सूत्र का अर्थ है ।। १ ।।

इदानीं शरीरस्य त्रैभौतिकत्वचातुर्भौतिकत्वप्रवादं निराकर्त्तुमाह—

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ॥ २ ॥

'गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकं' अ० ३ आ० १ सू० ३० यदि शरीरं भवेत् तदाऽप्रत्यक्षं भवेत् यथा प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां वायुवनस्पतीनां संयोगोऽप्रत्यक्षस्तथा शरीरमप्यप्रत्यक्षं स्यादिति दृष्टान्तद्वारकं सूत्रम्। पञ्चात्मकं न विद्यते इति। शरीरमिति शेषः। क्लेदपाकादयस्तु उपष्टम्भकजलानलगता एव। चातुर्भौतिकोऽप्येवम्। नन्वस्तु त्रैभौतिकम् त्रयाणां भूतानां प्रत्यक्षत्वादिति चेन्न

साम्प्रत शरीर को पृथिव्यादि तीन भूतद्रव्यों से बना है ऐसा त्रैभौतिकत्व तथा पृथिव्यादि चार भूतद्रव्यों से उत्पन्न हैं ऐसे चातुर्भौतिकत्व के मतविशेषों का निरास करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां = प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष पदार्थों के, संयोगस्य = संयोग सम्बन्ध के, अप्रत्यक्षत्वात् = प्रत्यक्ष न होने के कारण, पंचात्मकं = पृथिव्यादि आकाशान्त पंचमहाभूतात्मक, न विद्यते=शरीर नहीं है ॥ २ ॥

भावार्थ—यदि हम लोगों का शरीर पृथिवी से लेकर आकाशपर्यन्त पंचभूतात्मक (पृथिव्यादि पांच महाभूतस्वरूप) हो तो प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष द्रव्यों के संयोग के प्रत्यक्ष न होने के कारण पृथिवी, जल, तेज इन तीन प्रत्यक्ष द्रव्यों के तथा वायु और आकाशरूप अप्रत्यक्ष द्रव्यों के संयोग का प्रत्यक्ष न होने के कारण हम लोगों के शरीर का प्रत्यक्ष न होगा, अतः वेदान्तिमत के समान न्यायमत में शरीर पंचमहाभूतस्वरूप नहीं है ॥ २ ॥

उपस्कार—'गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पांचभौतिकम्' (अ० ३, आ० १, सूत्र ३०) इस पूर्वपक्ष के न्यायसूत्र के 'गन्ध, (क्लेद) गीलापन, अग्निसंयोग से परावृत्ति रूप पाक, व्यूह और अवकाश देने रूप पृथिव्यादि पञ्चभूतों के कार्य शरीर में होने से शरीर पांचभौतिक है इस अर्थ के अनुसार यदि शरीर पंचभूतस्वरूप हो तो उसका प्रत्यक्ष न होगा, जिस प्रकार प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष वनस्पति (वृक्षादि) और वायु के संयोग का प्रत्यक्ष नहीं होता उस प्रकार शरीर का भी प्रत्यक्ष न होगा। इस दृष्टान्त के बोध द्वारा यह सूत्र है। सूत्र में आकांक्षित पद की पूर्ति करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि 'पंचात्मकं न विद्यते' इसके पश्चात् 'शरीरं' ऐसा शेष पद देना, (जिससे शरीर पंचभूतात्मक नहीं है यह अर्थ पूरा होता है। क्लेद (गीलापन) पाक इत्यादिक जलादिकों के गुण तो केवल उपष्टंभक (धारक) केवल संयुक्त जल तथा अग्नि में वर्तमान ही शरीर में उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार पृथिवी से लेकर वायुपर्यन्त चार भूतद्रव्यरूप शरीर है ऐसे पक्ष का भी निराकरण जानना चाहिये। यदि पूर्वपक्षी त्रैभौतिकत्ववादी कहे कि 'पृथिवी, जल तथा

विजातीयारम्भस्य प्रतिषेधात्। एकस्य गुणस्यावयविनि गुणानारम्भकत्वात् तद् यदि पृथिवीजलाभ्यामारम्भः स्यात् तदा तदारब्धमगन्धमरसञ्च स्यात् एवं पृथिव्यनलाभ्यामगन्धमरूपमरसञ्च स्यात्, पृथिव्यनिलाभ्यामगन्धमरसमरूपमस्पर्शञ्च स्यादित्याद्यूह्यम् ॥ २ ॥

एतदेवाह—

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम् ॥ ३ ॥

पृथिव्यप्तेजसां प्रत्यक्षाणामेवारब्धं शरीरं प्रत्यक्षं स्यादपि, यदि तत्र गुणान्तरं कारणगुणपूर्वकं प्रादुर्भवेत्, न त्वेतदस्ति एकस्य गन्धादेरनारम्भकत्वस्योक्तत्वात्। तथा च न त्र्यात्मकमपि शरीरं न रूपवद्भूतत्रयारब्धमपीत्यर्थः ॥३॥

तेज द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने से शरीर त्रैभौतिक (तीन भूतद्रव्यस्वरूप) है ऐसा कहेंगे' तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि विजातीय कारणों से कार्य उत्पन्न नहीं होता ऐसा निषेध है। एक गुण अवयवी द्रव्य में गुण को उत्पन्न नहीं करता। इस कारण यदि पृथिवी तथा जल से शरीर उत्पन्न हो तो परस्पर विरोध के कारण उन दोनों से उत्पन्न शरीर गन्धशून्य तथा रस से भी शून्य होगा। एवं पृथिवी और तेज द्रव्य से उत्पन्न हो तो परस्पर विरोध के कारण गन्ध, रूप तथा रस तीनों से रहित होगा। और पृथिवी तथा वायु से उत्पन्न शरीर हो तो (परस्पर विरोध के कारण) गन्ध, रूप, रस तथा स्पर्श से भी शून्य होगा इत्यादि ऐसा जान लेना चाहिये ॥ २ ॥

इसी विषय को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—गुणान्तराप्रादुर्भावात् च = कारणगुणपूर्वक दूसरे गुण के प्रकट न हो सकने से भी, न = नहीं है, त्र्यात्मकम् = शरीर तीन भूतस्वरूप ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रत्यक्ष होनेवाले पृथिवी, जल तथा तेज इन तीनों द्रव्यों से उत्पन्न शरीर का यद्यपि प्रत्यक्ष हो सकेगा, किन्तु उसमें यदि कारण गुण के अनुसार दूसरे कार्य गुण उत्पन्न हो सकें, किन्तु ऐसा नहीं होता, क्योंकि एक गन्धादि कारणका गुण परस्पर विरोध के कारण कार्य शरीर में गुण को उत्पन्न नहीं कर सकता, अतः त्रिभूतद्रव्यस्वरूप भी शरीर नहीं है ॥ ३ ॥

उपस्कार—प्रत्यक्ष होने वाले ही पृथ्वी, जल तथा तेज द्रव्यों से उत्पन्न होने के कारण शरीर का प्रत्यक्ष तो तब होगा यदि उसमें कारण गुण के अनुसार दूसरा कार्य शरीर का गुण प्रगट हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि एक का गन्धादि गुण (परस्पर विरोध से) कार्य गुण का उत्पादक नहीं होता ऐसा पूर्वसूत्र में कहा गया है। ऐसा होने से शरीर त्रिभूतरूप भी नहीं हैं, अर्थात् रूपाश्रय पृथिवी, जल तथा तेज नामक तीन द्रव्यों से भी उत्पन्न नहीं है यह सूत्र का अर्थ है ॥ ३ ॥

कथं तर्ह्येकस्मिन्नेव शरीरे पाकादीनामुपलम्भः ? इत्यत आह—

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः ॥ ४ ॥

मिथः पञ्चानां भूतानां परस्परमुपष्टम्भकतया संयोगो न निषिध्यते, किन्तु विजातीययोरण्वोर्द्रव्यं प्रत्यसमवायिकारणं संयोगो नेष्यते, तथाच तदुपष्टम्भात् पाकादीनां शरीरे भवत्युपलम्भ इति। तर्हि किम्प्रकृतिकमिदं मानुषशरीरमित्यत्र गौतमीयं सूत्रमुपतिष्ठते-'पार्थिवं तद् विशेषगुणोपलब्धेः अ० ३ आ० १ सू० ३१। पृथिवीविशेषगुणो गन्धो मानुषशरीरे आनाशमनपायी दृश्यते, पाकादयस्तु शुष्कशरीरे नोपलभ्यन्ते इति तेषामौपाधिकत्वं गन्धस्य स्वाभाविकत्वमिति पार्थिवत्वव्यवस्थितेः ॥ ४ ॥

शरीरं विभजते—

'यदि ऐसा है तो एक ही शरीर में क्लेद, पाक इत्यादिकों का शरीर में ग्रहण क्यों होता है' ? इस आशंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अणुसंयोगः तु=किन्तु जलादि परमाणुओं का संयोग, अप्रतिषिद्धः= शरीर में निषिद्ध नहीं है ॥ ४ ॥

भावार्थ—पांच, चार या तीन भूतों के परमाणुओं से उत्पन्न न होने पर भी शरीर में पृथिवी आदि पंचमहाभूतद्रव्यों का उपष्टंभक (विधारक रूप) परस्पर में संयोग का निषेध नैयायिक नहीं मानते अर्थात् पृथिवी परमाणुरूप समवायिकारणों से उत्पन्न शरीर में जलादि परमाणुओं का संयोग सहायक मात्र रूप है अतः शरीर पांच, चार या तीन भूत द्रव्यरूप नहीं है ॥ ४ ॥

उपस्कार—परस्पर पृथिवी आदि आकाशपर्यन्त पांच भूतद्रव्यों का उपष्टंभक (विधारक) रूप से केवल संयोग का नैयायिक निषेध नहीं करते, किन्तु विरुद्ध जाति के दो परमाणुओं के संयोग का द्रव्यरूप कार्य की उत्पत्ति में असमवायिकारण नहीं मानते, ऐसा होने से जलादि परमाणुओं के संयोग के सहायक मात्र होने से शरीर में क्लेद, पाकादि रूप जलादि द्रव्यों के गुणों का शरीर में ग्रहण होता है। ऐसा है तो यह मनुष्य शरीर किस मूल कारण से निर्मित है ? इस प्रश्न के उत्तर में यह गौतम महर्षि का न्यायसूत्र यहां उपस्थित होता है—'पार्थिवं तद् विशेषगुणोपलब्धेः' (अ० ३. आ १. सूत्र ३१) अर्थात् 'वह मनुष्य शरीर पार्थिव है, पृथिवी के विशेष गुण गन्ध की उपलब्धि होने से' ऐसा (जिसका यह अर्थ है)—पृथिवी द्रव्य का गन्ध नामक विशेष गुण मनुष्य शरीर में शरीर के नाश होने पर्यन्त नाशरहित सर्वदा दिखाई पड़ता है। और पाक, क्लेद आदि गुण शुष्क (रूखे) शरीर में उपलब्ध नहीं होते इस कारण ये औपाधिक हैं और गंध शरीर का स्वाभाविक गुण है इस कारण हम लोगों का शरीर पार्थिव है यह सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च ॥ ५ ॥

तत्र पार्थिवाप्यादिशरीरेषु मध्ये पार्थिवं शरीरं द्विविधम्। के ते द्वे विधे इत्यत्राह योनिजमयोनिजञ्चेति। आप्यतैजसवायवीयशरीराणां वरुणादित्यवायुलोकेषु प्रसिद्धानामयोनिजत्वमेव। अयोनिजत्वं शुक्रशोणितसन्निपातानपेक्षत्वम्। अयोनिजञ्च देवानामृषीणाञ्च, श्रूयते हि 'ब्रह्मणो मानसा मन्वादयः' इति। कारणमन्तरेण कथं कार्य्यमिति चेत् योनेः शरीरत्वावच्छेदेनाकारणत्वात् उष्मजकृमिमशकादिशरीरे व्यभिचारात्, संस्थानविशेषवत्त्वस्य चासिद्धेः देवर्षिशरीरापेक्षयाऽस्मदादिशरीराणामन्यादृशत्वात्। योनिजमपि द्विविधं जरायुजमण्डजञ्च। जरायुजं मानुषपशुमृगाणां गर्भाशयस्य जरायुत्वात् पक्षिसरीसृपाणा-

---

पदपदार्थ—तत्र = उन पार्थिवशरीरों में, शरीरं = पार्थिव शरीर, योनिजं= योनि से उत्पन्न, अयोनिजं च=और अयोनिज दो प्रकार का है ॥ ५ ॥

भावार्थ—पार्थिवादि शरीरों में से पार्थिव शरीर योनिज तथा अयोनिज दो प्रकार का है ॥ ५ ॥

उपस्कार—उन पार्थिव जल आदि शरीरों के मध्य में पार्थिव शरीर के दो प्रकार हैं। 'वह दो प्रकार कौन है' ? इस प्रश्न पर सूत्रकार कहते हैं, योनिज, दूसरा अयोनिज भी इस प्रकार। वरुण, सूर्य, तथा वायुलोक में प्रसिद्ध क्रम से जलीय, तैजस तथा वायु सम्बन्धी शरीरों में अयोनिजता (योनि से उत्पन्न न होना) तो प्रसिद्ध ही है। यहां शुक्र (पुरुष का वीर्य) तथा स्त्रीरक्तरूप शोणित के मिल जाने की अपेक्षा न करना ही अयोनिज शब्द का अर्थ है। ऐसा अयोनिज शरीर देवता तथा महर्षियों का भी होता है। क्योंकि ऐसा शास्त्र में सुनने में आता है कि 'ब्रह्मा के मनु आदि मानसपुत्र हैं'। 'बिना कारण के कार्य कैसे होगा' ? ऐसी शंका करो तो, संपूर्ण शरीर मात्र में योनि कारण है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि ऊष्मा (गरमी) से उत्पन्न मशक (मच्छड़), आदि शरीर योनि के बिना भी होते हैं, इस कारण व्यभिचार होने से कोई अवयव-रचना रूप संस्थान उनमें (आकार) सिद्ध नहीं है, देवता, ऋषि इत्यादिकों के शरीर की अपेक्षा हमारे शरीरों में विलक्षणता होने से। मनुष्य, पशु, मृग आदिकों के शरीर जरायु से उत्पन्न होने से जरायुज हैं, क्योंकि गर्भ का स्थान जरायु (मांस की पोटली) होती है। पक्षी, सरीसृप (सरक कर चलने वाले) सर्प आदिकों का शरीर अण्ड से उत्पन्न होता है, चारों तरफ सरकने का स्वभाव होने से सर्प, कीट (कीड़े), मत्स्य (मछली) आदि सरीसृप ही होते हैं। यद्यपि भोग के आधार होने से वृक्षादिक भी शरीर के ही विशेष हैं, क्योंकि भोग के आधार होने के बिना, जीवन, मरण, स्वप्न, जागरण, औषधि का प्रयोग, बीज के समान जातीयता के सम्बन्ध के अनुकूल फल की प्राप्ति प्रतिकूल (उक्त प्राप्ति के विरुद्धों)

मण्डजं परितः सर्पणशीलत्वात्, सर्पकीटमत्स्यादयोऽपि सरीसृपा एव। यद्यपि वृक्षादयोऽपि शरीरभेदा एव भोगाधिष्ठानत्वात्, न खलु भोगाधिष्ठानत्वमन्तरेणजीवन-मरण-स्वप्न-जागरण-भेषजप्रयोग-बीजसजातीयानुबन्धानुकूलोपगम-प्रतिकूलोपगमादयः सम्भवन्ति। वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणे च भोगोपपादके स्फुटे एव, आगमोऽप्यस्ति-

नर्मदातीरसम्भूताः सरलार्जुनपादपाः।
नर्मदातोयसंस्पर्शाद् ये यान्ति परमां गतिम्॥

इत्यादिः।

श्मशाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रादिसेवितः।

इत्यादिश्च, तथापि चेष्टावत्त्वमिन्द्रियवत्त्वञ्च नोद्भिदां स्फुटतरमतो न शरीरव्यवहारः॥ ५॥

अयोनिजशरीरोत्पत्तिकारणमाह—

अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात्॥ ६॥

अनियतदिग्देशाः परमाणवो धर्मविशेषजनितकर्माणस्तत्पूर्वकत्वादयोनिज-

---

की निवृत्ति इत्यादि नहीं हो सकते। तथा वृद्धि, क्षत (चोट), तथा भग्न (टूटे) का संरोहण (पुनः ठीक होना) यह दोनों भी वृक्षों को भोग होता है इस विषय में स्पष्ट ही कहते हैं, तथा इस विषय में आगम (शब्द) भी प्रमाण है। यह शास्त्रों में भी मिलता है—'नर्मदातीरसंभूताः (नर्मदा नदी के तीर में उत्पन्न), सरलार्जुनपादपाः=देवदारु, अर्जुन नामक वृक्ष। नर्मदातोयसंस्पर्शात्=नर्मदा नदी के जल के स्पर्श से, ते=(वे वृक्ष) यान्ति=प्राप्त होते हैं, परमां=श्रेष्ठ, गतिम्=गति को॥ इत्यादि। श्मशाने=श्मशान में, जायते=उत्पन्न होता है, वृक्षः=वृक्ष, कङ्कगृध्रादिसेवित=कंक, गृध्र (गिद्ध) इत्यादि पक्षिओं से सेवा किया हुआ। इत्यादि आगम भी। तथापि हिताहित-प्राप्ति-परिहारानुकूल चेष्टा तथा इन्द्रियाधारता भी इन उद्भिद् (जमीन के अन्दर निकलनेवाले) वृक्षादिकों में अत्यन्त स्पष्ट नहीं है इस कारण इनमें शरीर का व्यवहार नहीं होता॥ ५॥

अयोनिज शरीरों की उत्पत्ति का कारण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात्=नियमित दिशारूप देशरहित परमाणुओं से उत्पन्न होने के कारण (अयोनिज) शरीर होते हैं॥ ६॥

भावार्थ—नियमित दिशारूप देश में वर्तमान धर्मविशेष से जिनमें शरीर की उत्पत्ति के कारण क्रिया होती है ऐसे परमाणुओं से उत्पन्न शरीर अयोनिज कहलाते हैं॥ ६॥

उपस्कार—नियमित दिशारूप देश में रहनेवाले, तथा जिसमें धर्मविशेष अदृष्टविशेष से क्रिया उत्पन्न होती है, ऐसे परमाणुपूर्वक (परमाणुओं से उत्पन्न) अयोनिज

शरीराणाम् ॥ ६ ॥

ननु परमाणूनां कर्म विना कथं द्रव्यासमवायिकारणं संयोगः, कथं वा संयोगमन्तरेण द्रव्योत्पत्तिरत आह—

धर्मविशेषाच्च

अदृष्टवदात्मसंयोगादेव सर्गादौ परमाणूनां कर्म तेन च कर्मणा सम्भूय परमाणवो द्व्यणुकादिप्रक्रमेण अयोनिजं देवर्षीणां शरीरमारभन्ते इत्यर्थः। उपलक्षणञ्चैतत् अधर्मविशेषाच्च क्षुद्रजन्तूनामूष्मजानां मशकादीनां यातनामयानि शरीराण्युत्पद्यन्ते इत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

देवर्षीणामयोनिजे शरीरे प्रमाणान्तरमाह—

समाख्याभावाच्च ॥ ८ ॥

शरीर होते हैं ॥ ६ ॥

'परमाणुओं में क्रिया की उत्पत्ति के बिना कार्य-शरीररूप द्रव्य का असमवायिकारण परमाणुओं का परस्पर संयोगरूप असमवायिकारण न होने से अयोनिज शरीररूप द्रव्य कार्य कैसे उत्पन्न होगा' इस शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—धर्मविशेषात् च = और धर्मविशेष से भी (अयोनिज) शरीर उत्पन्न होता है ॥७॥

भावार्थ—जीवात्माओं के कर्मानुसार भोग देने के लिये धर्मविशेषरूप अदृष्ट से परमाणुओं में क्रिया होने से उनके संयोगरूप असमवायिकारण से अयोनिज शरीररूप द्रव्य उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

उपस्कार—अदृष्टविशेष के आश्रय आत्मा के संयोग ही से सृष्टि के आदि में परमाणुओं में क्रिया होती है, और उस क्रिया से मिलकर परमाणु द्व्यणुक आदि अवयवि द्रव्यों के क्रम से देवता, ऋषि इत्यादिकों के अयोनिज शरीर को उत्पन्न करते हैं। यह धर्मविशेष से देवतादिकों के अयोनिज शरीर को उत्पन्न करते हैं। यहाँ धर्मविशेष से देवतादिकों के अयोनिज शरीर की उत्पत्ति अधर्मविशेष से क्षुद्र (नीच) प्राणी, ऊष्मा (गरमी) आदि से उत्पन्न मशक (मच्छड़) आदि जीवों के यातनामय (केवल दुःख को देनेवाले) शरीर भी उत्पन्न होते हैं इस बात को भी सूचित करती है यह भी देख लेना चाहिये ॥ ७ ॥

देवता तथा ऋषियों के अयोनिज शरीर होने में सूत्रकार प्रमाण देते हैं—

पदपदार्थ—समाख्याभावात् च = संज्ञा (नाम) विशेष होने से भी अयोनिज देवतादि शरीर हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—दुर्वासा इत्यादि मानस ब्रह्मा के पुत्र थे, इत्यादि शास्त्र में नामों के मिलने से भी यह सिद्ध होता है कि देवतादिकों का अयोनिज शरीर होता है ॥ ८ ॥

समाख्या अन्वर्था संज्ञा श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु प्रसिद्धा । तथाहि—"दुर्वासःप्रभृतयो मानसाः, अहङ्कारेभ्यः समभवदङ्गिरा" इत्यादिका, तथाऽपि ज्ञायते सन्त्ययोनिजानि शरीराणि देवर्षीणामिति ॥ ८ ॥

प्रमाणान्तरमाह—

संज्ञाया आदित्वात् ॥ ९ ॥

सर्गादौ या ब्रह्मादिसंज्ञा आदिभूता प्राथमिकी तया ज्ञायते अस्त्ययोनिजं शरीरमिति, नहि तदा ब्रह्मणो मातापितरौ स्तः याभ्यां ब्रह्मादिसंज्ञा कृता स्यादिति भावः ॥ ९ ॥

उपसंहरति—

सन्त्ययोनिजाः ॥ १० ॥

शरीरविशेषा इति शेषः ॥ १० ॥

उपस्कार—सूत्र के समाख्या शब्द का अर्थ है सार्थक संज्ञा (नाम) जो श्रुति, स्मृति, इतिहास तथा पुराणादि आगमों में प्रसिद्ध है वह इस प्रकार है—'दुर्वासा इत्यादि (ब्रह्मा के) मानस (मन से उत्पन्न, और अहंकार से उत्पन्न हुए अंगिरा-पुत्र थे इत्यादि । यहां पर आदि पद से सृष्टिकर्ता के ऊरुभाग से और्व नामक, तथा नारायण के ऊरुभाग से ऊर्वशी (अप्सरा), एवं गर्जन से भृगुमुनि और चन्द्रमा के नेत्र की अर्चि (किरण)से अत्रिमुनि उत्पन्न हुये । इत्यादि पुराण में प्रसिद्ध संज्ञा लेनी चाहिये ।) शंकरमिश्र कहते हैं कि इस संज्ञा से भी देवता तथा मुनियों के अयोनिज शरीर हैं यह जानना ॥ ८ ॥

उक्त विषय में दूसरा प्रमाण सूत्रकार देते हैं—

पदपदार्थ—संज्ञायाः = संज्ञा नाम के आदि (प्रथम) होने से अयोनिज शरीर है ॥ ९ ॥

भावार्थ—सृष्टि के आदि काल में प्रथम ब्रह्मादि संज्ञा होने से अयोनिज देवतादिकों के शरीर हैं यह सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

उपस्कार—सृष्टि के आदिकाल में जो आदिभूत अर्थात् प्रथम उत्पन्न हुई ब्रह्मा आदि की संज्ञा (नाम) है, उससे अयोनिज शरीर देवता तथा ऋषियों का है, यह जाना जाता है, क्योंकि उस समय ब्रह्मा के माता तथा पिता दोनों नहीं थे, जिन्होंने ब्रह्मा ऐसा अपने पुत्र का नाम रक्खा हो यह सूत्र का आशय है ॥ ९ ॥

इस विषय का उपसंहार (समाप्ति) करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सन्ति = हैं, अयोनिजाः = अयोनिज, विशेष शरीर हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रमाणों से देवता तथा ऋषियों का अयोनिज शरीर है यह सिद्ध होता है ॥ १० ॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित पद की योजना करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं

उपसंहृतेऽतिदाढर्यार्थं प्रमाणान्तरमाह—

वेदलिङ्गाच्च ॥ ११ ॥

वेदो मन्त्रः स च लिङ्ग्यते ज्ञाप्यतेऽनेनेति वेदलिङ्गं ब्राह्मणम्, ततोऽप्ययोनिजं शरीरं प्रतिपद्यते इत्यर्थः। तथाहि ब्राह्मणम्—'प्रजापतिः प्रजा अनेका असृजत् स तपोऽतप्यत प्रजाः सृजेयमिति स मुखतो ब्राह्मणमसृजत् बाहुभ्यां राजन्यमूरुभ्यां वैश्यम् पद्भ्यां शूद्रम्' इति। वेदोऽपि—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इत्यादिः। तदेवं योनिजमयोनिजञ्च पार्थिवशरीरमुक्तम्। आप्यं तैजसं वायवीयञ्चायोनिजमेव शुक्रशोणितयोर्नियमेन पार्थिवत्वात्, पार्थिवेन च पाथसीयानारम्भात्।

इन्द्रियन्तु पार्थिवं घ्राणं सर्वप्राणभृत्साधारणं जलाद्यनभिभूतैः पार्थिवभागै-

---

'कि मनु आदिकों का अयोनिज शरीर विशेष है' ऐसा शेषपद देकर सूत्र का अर्थ पूरा करना ॥ १० ॥

इस अयोनिज शरीर-विषय के समाप्त होने पर भी उसमें अति दृढ़ता आने के लिये दूसरा प्रमाण सूत्रकार और देते हैं—

पदपदार्थ—वेदलिङ्गात् च=मंत्ररूप वेद प्रमाण होने से भी (अयोनिज) शरीर हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—'प्रजापति ने अनेक प्रजा को उत्पन्न किया' इत्यादि ब्राह्मण ग्रन्थरूप वेद के प्रमाण होने से भी देवतादिकों का अयोनिज शरीर है यह सिद्ध होता है ॥११॥

उपस्कार—वेद शब्द का अर्थ है मंत्ररूप वेद किन्तु 'वह वेद जिससे लिङ्ग्यते अर्थात् ज्ञाप्यते (जनाया जाता है) जिससे इस व्युत्पत्ति बल से, वेदलिङ्ग ब्राह्मणभाग से भी देवता तथा ऋषियों का अयोनिज शरीर जाना जाता है यह सूत्र का अर्थ है। वह ब्राह्मण इस प्रकार है—

'सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्मा ने अनेक प्रजाओं को उत्पन्न किया, उन्होंने (प्रजाओं को मैं उत्पन्न करूँ) ऐसी इच्छा कर तपश्चर्या की। उसके बाद उन्होंने मुख से ब्राह्मण भुजाओं से क्षत्रिय, ऊरुभाग से वैश्य, तथा दोनों पादों से शूद्र को उत्पन्न किया' ऐसा वेदभाग भी इस विषय में प्रमाण है—'ब्राह्मण इस प्रजापति का मुख तथा क्षत्रिय भुजा किये गये, और उसके ऊरुभाग वह हुए जो वैश्य हुए, और दोनों पादों से शूद्र उत्पन्न हुआ'। इस प्रकार अयोनिज तथा योनिज भी शरीर कहा गया। जलीय तैजस, तथा वायुसम्बन्धी शरीर नियम से अयोनिज ही होते हैं, क्योंकि माता-पिता के वीर्य तथा रक्त दोनों नियम से पार्थिव (पृथिवी परमाणुओं से उत्पन्न) होते हैं तथा पार्थिव परमाणुओं से जलीयादि शरीररूप कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं। पार्थिव इन्द्रिय घ्राण है, जो प्राणिमात्र का साधारण है, तथा जलादि परमाणुओं से अनभिभूत (न दबे हुए) केवल पार्थिव भाग के परमाणुओं से उत्पन्न होता है

रारब्धं घ्राणम् । घ्राणं पार्थिवं रसाद्यव्यञ्जकत्वे सति गन्धव्यञ्जकत्वात् मृगमद-गन्धव्यञ्जककुक्कुटोच्चारवत् । एवं रसनमाप्यं रूपाद्यव्यञ्जकत्वे सति रसस्यैव व्यञ्जकत्वात् सक्तुरसाभिव्यञ्जकसलिलवत् । एवञ्चक्षुस्तैजसं रसाद्यव्यञ्जकत्वे सति रूपस्यैव व्यञ्जकत्वादालोकवत् । त्वगिन्द्रियं वायवीयं गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति स्पर्शस्यैव व्यञ्जकत्वात् अङ्गसङ्गिसलिलशैत्याभिव्यञ्जकव्यजनवातवत् ।

विषयस्तु पार्थिवो मृत्पाषाणस्थावरलक्षणः । तत्र भूप्रदेशाः प्राकारेष्टकादयो मृद्विकाराः, अद्रिमणिहीरकगैरिकादयः पाषाणाः, स्थावरास्तृणौषधिवृक्षगुल्मलतावतानवनस्पतयः । आप्यास्तु विषयाः सरित्समुद्रहिमकरकादयः । तैजसस्तु विषयो भौमदिव्योदर्याकरजभेदाच्चतुर्विधः । भौमं काष्ठेन्धनप्रभवम् । दिव्यम्

उसके पार्थिव होनेमें घ्राणेन्द्रिय, पार्थिव है, रस, स्पर्श आदि गुणों का अप्रकाशक होते हुए, गन्ध का व्यंजक (प्रगट करते वाला) होने से, कस्तूरी के सुगन्ध के व्यंजक मुर्गे की विष्ठा के समान यह अनुमानप्रमाण है। (इस अनुमान के हेतु में रस का पराये के रस का ऐसा अर्थ करना चाहिये, नहीं तो मुर्गे की विष्ठा के अपने रस का व्यंजक होने से दृष्टान्तासिद्धि दोष हो जायगा) नये कसोरे के गन्ध के व्यंजक जल में व्यभिचारवारणार्थ 'रसाद्यं व्यंजकत्वे सति' ऐसा विशेषण यहाँ दिया है, उस जल के सतुआके रस का भी व्यंजक होने से दोष न होगा। एवं घ्राणेन्द्रिय तथा गन्ध के संनिकर्ष में व्यभिचार-वारणार्थ उक्त हेतु में द्रव्यत्वे सति यह भी विशेषण यहाँ पर देना चाहिये। इसी प्रकार रसनेन्द्रिय के अनुमान मे भी जानना)। (शंकरमिश्र घ्राण के समान रसनेन्द्रिय में भी जलीयता का साधक अनुमान दिखाते हुए कहते हैं कि)—रसनानामक इन्द्रिय, जलीय है, रूपादि गुणों का व्यंजक न होते हुए, केवल रस ही का व्यंजक होने से, सक्तु (सतुआ) के रस को प्रगट करनेवाले, जल के समान इसी प्रकार चक्षु, तैजस है, रसादिकों का व्यंजक न होते हुए, केवल रूप ही के प्रगट करने के कारण, प्रकाश के समान। ऐसे ही इन्द्रिय, वायवीय है, गन्धादि गुणों का व्यंजक न होते हुए केवल स्पर्श ही के व्यंजक होने से शरीर में लगने वाले जल की शीतता को प्रगट करनेवाले व्यजन (पंखा) की वायु के समान (ऐसे अनुमानों से घ्राणादिकों में पार्थिवतादि सिद्धि जानना) १-मृत्तिका, २-पाषाण,३-स्थावर (वृक्षादि) ऐसे तीन प्रकार पार्थिव विषय हैं। उनमें से पृथ्वीके देशविशेष रूप हैं ईंटा तथा उनसे बने प्राकार (घेरा) इत्यादि यह संपूर्ण मृत्तिका के विकार हैं। पर्वत, मणि, हीरा, गेरू इत्यादि पाषाण हैं, तृण, औषधि, वृक्ष, गुल्म (झाड़ी) लता, अवतान तथा वनस्पति यह स्थावर पार्थिव विषय हैं। नदी, समुद्र, हिम (वर्फ का ओला) इत्यादि जल के विषय हैं और तेज का विषय भौम (पृथ्वी पर उत्पन्न), दिव्य (आकाश में उत्पन्न), उदर्य (उदर में उत्पन्न), तथा आकरज (खान में उत्पन्न) इस भेद से चार प्रकार का है। जिनमें लकड़ी,गोयठा इत्यादि इन्धन से उत्पन्न वह्नि

अबिन्धनं विद्युदादि । उदर्य्यम् अन्नादिरसार्जनक्षमं जाठरम् । आकरजञ्च हिरण्यादि । वायवीयस्तु विषयः उपलभ्यमानस्पर्शाश्रयो वायुः । वायोश्चतुर्थः कार्यः प्राणाख्यः शरीरे रसमलधातूनां प्रेरणादिहेतुरेकः सन् क्रियाभेदादपानादिसंज्ञां लभत इति ॥ ११ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे चतुर्थाध्यायस्य
द्वितीयमाह्निकम् ।
समाप्तश्चायं चतुर्थोऽध्यायः ।

भौम है । जलरूप इन्धन से उत्पन्न विद्युत् (बिजली-सूर्यादि) दिव्य तेज है । भक्षित अन्नादिकों के रसों को उत्पन्न करनेवाला जठराग्नि उदर्य (पेट का) तेज, तथा आकर (खान में उत्पन्न तेज सुवर्णादि आकरज तैजस विषय है । शरीर में उष्ण, शीत आदि उपलब्ध होनेवाले स्पर्श का आधार है वायु का विषय । इसी का विषय वायु का प्राण नामक चतुर्थ कार्य है । प्राण नामक जो शरीर के मध्य में रस, मल तथा धातुओं के प्रेरणा आदि कार्य करने में कारण एक होने पर भी मुख तथा नासिका से निकलना, तथा प्रवेश करना रूप क्रियाओं के एवं हृदयादि रूप स्थानों के भेद से भी प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान नाम से पांच प्रकार की संज्ञाओं को प्राप्त होता है इस प्रकार पार्थिवादि विषय निरूपण है ।

इस प्रकार वैशेषिक सूत्रोपस्कार का द्वितीयाह्निक समाप्त ।

पञ्चमाध्याये प्रथमाह्निकम्

कर्मपरीक्षा पञ्चमाध्यायार्थः। प्रयत्ननिष्पाद्यकर्मपरीक्षा प्रथमाह्निकार्थः। तत्राप्युत्क्षेपणप्रकरणम्, अप्रयत्नसिद्धोत्क्षेपणप्रकरणम्, पुण्यहेतुकर्मप्रकरणम्, पुण्यपापोदासीनकर्मप्रकरणञ्च। चेष्टाविशेषमधिकृत्याह—

आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥ १ ॥

संयोगश्च प्रयत्नश्च संयोगप्रयत्नौ आत्मनः संयोगप्रयत्नौ ताभ्यां हस्ते समवायिकारणे कर्म। तस्य च कर्मणः प्रयत्नवदात्मसंयोगोऽसमवायिकारणम्, प्रयत्नश्च निमित्तकारणम्। इयमेव चेष्टा, प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारण-क्रियायाश्चेष्टात्वात्, स्वासमवेतस्वातिरिक्तस्पर्शवदन्यप्रयत्नजन्यक्रियाया वा ॥१॥

कर्मपदार्थों की परीक्षा पंचमाध्याय का विषय है। जिससे प्रयत्न से होने वाले कर्मों की परीक्षा प्रथम आह्निक का विषय है। उससे भी (१) उत्क्षेपण प्रकरण, (२) विना यत्न के होने वाले उत्क्षेपण का प्रकरण, (३) पुण्यकारण कर्मों का प्रकरण (४) तथा पुण्य और पाप से उदासीन कर्मों के निरूपण का प्रकरण ऐसे ४ प्रकरण हैं। जिनसे चेष्टा रूप कर्मविशेष को लेकर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां=आत्मा के संयोग तथा प्रयत्न दोनों से, हस्ते=हस्त में, कम = क्रिया होती है ॥ १ ॥

भावार्थ—उत्क्षेपणादि क्रिया करने वाले आत्मा के संयोग तथा प्रयत्न रूप क्रम से असमवायिकारण तथा निमित्तकारण से हस्तरूप समवायिकारण में जो उत्क्षेपण कर्म-कार्य होता है उसीको चेष्टा कहते हैं ॥ १ ॥

उपस्कार—सूत्र के आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां इस पद में 'संयोगश्च प्रयत्नश्च संयोगप्रयत्नौ' ऐसा इतरेतर द्वन्द्वसमास कर 'आत्मनः संयोगप्रयत्नौ' आत्मसंयोग-प्रयत्नौ ऐसा षष्ठीतत्पुरुष समास करना ऐसे उन दोनों-आत्मा का संयोग तथा प्रयत्न दोनों से हस्तरूप समवायिकारण में (उत्क्षेपण) कर्मरूप कार्य उत्पन्न होता है। उस कर्म का प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग असमवायिकारण है, और प्रयत्न निमित्त कारण है। यही कर्म चेष्टा कहाती है, क्योंकि प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग जिसमें असमवायिकारण हो उसी क्रिया को चेष्टा कहते हैं। (यह चेष्टा का सामान्य लक्षण है।) और अपने में सम्बद्ध न होकर अपने से भिन्न स्पर्शाश्रय से भिन्न के प्रयत्न से उत्पन्न क्रिया को विशेष चेष्टा कहते हैं। (इससे चेष्टा का आश्रय 'स्व' पदार्थ है, उसमें असम्बद्ध और उससे भिन्न जो स्पर्शाश्रय उससे भिन्न सम्बन्धी जो प्रयत्न उससे उत्पन्न क्रिया चेष्टा कहते हैं ऐसा अर्थ जानना) ॥ १ ॥

हस्तोत्क्षेपणमुक्त्वा तदधीनं मुसलोत्क्षेपणमाह—

तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म ॥ २ ॥

चकारेण गुरुत्वं निमित्तकारणान्तरं समुच्चिनोति। तथेति। तादृशमुत्क्षेपणरूपमेवेत्यर्थः। यद्वा तथा हस्तसंयोगादुत्क्षेपणवद्धस्तसंयोगादित्यर्थः। अत्र च प्रयत्नवदात्मसंयुक्तेन हस्तेन मुसलस्य संयोगोऽसमवायिकारणम्; मुसलं समवायिकारणम्, प्रयत्नगुरुत्वे निमित्तकारणे ॥ २ ॥

उदूखलाभिहतस्य मुसलस्याकस्माद् यदुत्पतनं जायते तत्र कारणमाह—

अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः ॥३॥

इस प्रकार हस्त में उत्क्षेपण कर्म का निरूपण कर उसके अधीन मुसलादिकों में उत्क्षेपण कर्म को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा=उत्क्षेपणरूप उसी प्रकार, हस्तसंयोगात् च=और उत्क्षेपण वाले हस्त के संयोग से, मुसले=मुसल में, कर्म = उत्क्षेपण क्रिया होती है ॥ २ ॥

भावार्थ—हस्त में उत्क्षेपण क्रिया के समान मुसलरूप समवायिकारण में, प्रयत्नवान् आत्मा से संयुक्त हस्त के साथ मुसल के संयोगरूप असमवायिकारण तथा गुरुत्व और प्रयत्नरूप निमित्तकारण से मुसल में उत्क्षेपण क्रिया उत्पन्न होती है ॥ २ ॥

उपस्कार—सूत्र के चकार से प्रयत्न के समान गुरुत्वगुणरूप दूसरे निमित्तकारण का संग्रह सूचित होना है। सूत्र के 'तथा' इस पद का अर्थ है वैसा अर्थात् उत्क्षेपण रूप ही कर्म होता है। अथवा 'तथाहस्तसंयोगात्' ऐसा समास में एक ही पद होने से उत्क्षेपण वाले हस्तसंयोग से ऐसा अर्थ होता है। उसमें भी प्रयत्नवान् आत्मा से संयुक्त हस्त के साथ मुसल का संयोग असमवायिकारण है मुसल, समवायिकारण तथा प्रयत्न और गुरुत्व निमित्तकारण हैं ॥ २ ॥

ऊखल से अभिहत (टक्कर लगे हुए) मुसल में जो अकस्मात् (विना कारण) ऊर्ध्वदेश में गति होती है उसके कारण को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अभिघातजे = ऊखल के अभिघात नामक संयोग से उत्पन्न, मुसलादौ = मुसल आदिकों में, कर्मणि = उत्क्षेपण क्रिया में, व्यतिरेकात् = प्रयत्न न होने से, अकारणं = कारण नहीं है, हस्तसंयोगः = हस्त का संयोग ॥ ३ ॥

भावार्थ—यद्यपि ऊपर उठने वाले मुसल के साथ हस्त का संयोग है तथापि वह मुसल की उत्पतन क्रिया में कारण नहीं है, क्योंकि उसके लिये प्रयत्न नहीं होता है, किन्तु उसमें ऊखल का अभिघात (टक्कर लगना) ही असमवायिकारण है, अतः ऊखल में टक्कर खाकर मुसल का ऊपर उठना यह कर्म विना प्रयत्न के होता है ॥ ३ ॥

अत्र यद्यपि मुसलेन उत्पतता हस्तस्य संयोगोऽप्यस्ति तथाऽपि स संयोगोऽन्यथासिद्धः किन्तु उदूखलाभिघात एव असमवायिकारणम्। कुत एवमित्यत आह व्यतिरेकादिति। प्रयत्नस्य व्यभिचारादित्यर्थः। यदि तदा प्रयत्नः स्यात् मुसलस्यैवाकस्मिकमुत्पतनं न भवेत् विधारकेण प्रयत्नेन मुसलस्य धारणमेव भवेत् चेष्टाधीनं मुसलस्य पुनरुत्पतनं वा भवेत् इति भावः ॥ ३ ॥

मुसलेन सहोत्पततो हस्तस्य कर्मणि कारणविशेषमभिधातुं प्रयत्नवदात्मसंयोगस्यासमवायिकारणत्वं निराकर्तुमाह—

तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ॥ ४ ॥

मुसलेन सहोत्पततो हस्तस्य कर्मणि आत्मसंयोगः प्रयत्नवदात्मसंयोगस्तथा अकारणमित्यर्थः। अकारणमिति पूर्वसूत्रस्थं तथेत्यतिदिश्यते ॥ ४ ॥

कुतस्तर्हि हस्ते तदोत्पतनमत आह—

उपस्कार—ऊखल से टक्कर खाकर ऊपर जाने वाली मुसल की क्रिया के समय में यद्यपि ऊपर जाने वाले हस्त का संयोग भी है, तथापि वह संयोग अन्यथासिद्ध है (कारण नहीं है) किन्तु ऊखल का अभिघात नामक संयोग ही इसमें असमवायिकारण है। क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं व्यतिरेकात् इति—अर्थात् प्रयत्न का व्यभिचार (अभाव) है यह अर्थ है। यदि मुसल के ऊखल में टक्कर खाकर ऊपर जाने के समय हाथ उठाने वाले कर्ता का प्रयत्न हो तो मुसल ही केवल अकस्मात् बिना कारण ऊपर न जाय किन्तु विधारक (पकड़ रखने वाले) प्रयत्न से मुसल का धारण ही (हाथ में रुकना) होगा, अथवा उसकी चेष्टा के अनुसार मुसल भी पुनः ऊर्ध्वदेश में जायगा ऐसा सूत्र का आशय है।

मुसल के साथ ऊपर जाने वाले हस्त की क्रिया में विशेष कारण कहने के लिये प्रयत्नविशिष्ट आत्मा का संयोग उसमें असमवायिकारण है यह निराकरण करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा = वैसा (कारण) नहीं है, आत्मसंयोगः = प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग, हस्तकर्मणि = हस्त की क्रिया में ॥ ४ ॥

भाषार्थ—मुसल के साथ ऊपर जाने वाले हस्त की क्रिया में प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग कारण नहीं है ॥ ४ ॥

उपस्कार—मुसल के साथ ऊपर जाने वाले हस्त की उत्पतन क्रिया में आत्मसंयोग अर्थात् प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग तथा कारण नहीं है, यह सूत्र का अर्थ है। क्योंकि पूर्वसूत्र में का 'अकारणं' कारण नहीं है यह पद इस सूत्र के तथा इस पद से उस अर्थ का अतिदेश (सूचना) करता है ॥ ४ ॥

तो हस्त में मुसल के साथ उत्पतन क्रिया होने में क्या कारण है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म ॥ ५ ॥

यथा मुसले उत्पतति मुसलमुखस्थं लोहमुत्पतति तथा हस्तोऽपि तदोत्पतति। अत्राभिघातशब्देन अभिघातजनितः संस्कार उच्यते उपचारात्। उत्पततो मुसलस्य पटुतरेण कर्मणा अभिघातसहकृतेन स्वाश्रये मुसले संस्कारो जनितस्तत्कृतं संस्कारमपेक्ष्य हस्तमुसलसंयोगादसमवायिकारणाद्धस्तेऽप्युत्पतनं न तु तदुत्पतनं प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारणकम्, अवशो हि हस्तो मुसलेन सहोत्पततीति भावः ॥ ५ ॥

ननु शरीरे शरीरावयवे वा यत् कर्मोत्पद्यते तत्र प्रयत्नवदात्मसंयोगः कारणं प्रकृते कथं न तथेत्यत आह—

आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥

पदपदार्थ—अभिघातात्=अभिघात से, मुसलसंयोगात् = मुसल के संयोग से, हस्ते=हस्त में, कर्म = उत्क्षेपण क्रिया होती है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मुसल के साथ ऊपर जाने वाले हस्त में अभिघात से उत्पन्न वेग-संस्कार से ही ऊर्ध्वगमन होता है, उसमें प्रयत्नपूर्वक आत्मा का संयोग असमवायिकारण नहीं है ॥ ५ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार मुसल के ऊपर जाने से उसके अग्रभाग में वर्तमान लोहा भी ऊपर जाता है वैसे हस्त भी ऊपर जाता है। इस सूत्र में अभिघात शब्द ने अभिघात से उत्पन्न वेग नामक संस्कार उपचार (गौण) रूप से कहा गया है। ऊपर जानेवाले मुसल की (अभिघात की सहायता वाले)अत्यन्त समर्थ क्रियासे अपने(क्रिया के) आधार मुसल में वेगसंस्कार उत्पन्न हुआ है, उस मुसल से उत्पन्न वेगसंस्कार की अपेक्षा कर असमवायिकारणरूप हस्त तथा मुसल के संयोग से हस्त में भी उत्पतन (ऊपर जाने की) क्रिया होती है, न कि प्रयत्न वाले आत्मा के संयोग-रूप असमवायिकारण से वह हस्त ऊपर जाता है, अर्थात् अधीन न होते हुए वह हस्त मुसल के साथ उछलता है यह सूत्र का आशय है ॥ ५ ॥

'शरीर तथा उसके अवयव हस्त में जो क्रिया उत्पन्न होती है उसमें प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग असमवायिकारण होता है तो इस मुसल के साथ ऊपर जाने वाले हस्तरूप प्रस्तुत विषय में वह कारण क्यों नहीं होता' ? इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—आत्मकर्म=लक्षणा से शरीर के अवयवरूप आत्मा की क्रिया, हस्तसंयोगात् च = मुसल तथा हस्त के संयोग से ही (होती है) ॥ ६ ॥

भावार्थ—आत्मपदार्थ में अन्वय की अनुपपत्तिरूप बीज से इस सूत्र में आत्म शब्द की शरीरावयव में लक्षणा करने से शरीर के हस्तरूप अवयव में जो ऊपर उठने

आत्मशब्दः शरीरावयवपर उपचारात्। अन्वयानुपपत्तिरेवोपचारबीजम्। तथा चात्मनः शरीरावयवस्यापि हस्तस्य यत् कर्म तत् हस्तमुसलसंयोगात्। चकाराच्च वेगसमुच्चयः। हस्तकर्मणि हस्तसंयोगस्तावदसमवायिकारणं तत्र व्यभिचारो नास्ति। स च क्वचित् प्रयत्नवदात्महस्तसंयोगः, क्वचिद्वेगवन्मुसलादिहस्तसंयोगो यथा वातुलस्य शरीरावयवकर्मेति भावः॥ ६॥

प्रयत्नानधीनकर्मप्रकरणमारभते—

संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम्॥ ७॥

संयोगपदेन प्रतिबन्धकमात्रमुपलक्षयति, तेन प्रतिबन्धकाभावे गुरुत्वादस-

---

की क्रिया होती है उसमें हस्त तथा मुसल का संयोग एवं सूत्र के चकार से वेगसंस्कार भी कारण है नकि आत्मा का प्रयत्नपूर्वक संयोग॥ ६॥

उपस्कार—इस सूत्र में आत्मपद उपचार (लक्षणावृत्ति) से शरीर के अवयवों का बोधक है आत्मा की किसी क्रिया में हस्त तथा मुसल के संयोग का कारण होने को अन्वय की अनुपपत्ति (न बन सकना) ही उपचार (लक्षणा) का बीज (कारण) है। ऐसा होने से आत्मा अर्थात् शरीर के अवयवरूप भी हस्त की जो क्रिया ऊपर उठने की होती है वह हस्त तथा मुसल के संयोग तथा सूत्र के चकार पद से वेग का संग्रह होने के कारण उस वेग से भी होती है। हस्त की क्रिया में हस्त का संयोग तो असमवायिकारण होता है उसमें व्यभिचार नहीं है। किन्तु वह भी किसी स्थल में प्रयत्नवान् आत्मा तथा हस्त का संयोग, और किसी स्थल में वेग वाले मुसलादि तथा हस्त का संयोग असमवायिकारण होता है, जिस प्रकार वायु रोगी शरीर वाले वातुल मनुष्य के हस्तादि शरीरावयवों में वायु के वेग से क्रिया होती है। यह सूत्र का आशय है। (यहां पर शंकरमिश्र ने दो प्रकार के हस्तसंयोग दिखाकर दूसरे पक्ष का यह वातुल की क्रिया का उदाहरण दिया है। अर्थात् वातुल के हस्त के कम्प में वायु तथा हस्त का संयोग कारण है। इससे (वेगवान् मुसल के यह कहने से) प्रयत्नवान् आत्मा से भिन्न वेग वाले द्रव्य के संयोग से उत्पन्न भी संयोग लेना चाहिये यह सूचित होता है)॥ ६॥

प्रयत्नाधीन कर्मप्रकरण (२)

प्रयत्न के अधीन होने वाले कर्मों का प्रकरण सूत्रकार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—संयोगाभावे=संयोगरूप प्रतिबन्ध के न रहते, गुरुत्वात्=गुरुत्व गुण से, पतनम्=पतन क्रिया होती है॥ ७॥

भावार्थ—संयोगादि रूप प्रतिबन्धकों के न रहने पर केवल गुरुत्व होने से फलादिकों में प्रथम पतन (भूमि पर गिरने) की क्रिया होती है जिसमें प्रयत्न कारण नहीं है॥ ७॥

उपस्कार—इस सूत्र में संयोगपद से सामान्यरूप से संपूर्ण प्रतिबन्धक सूचित

मवायिकारणात् पतनम्-अधःसंयोगफलिका क्रिया जायते। तत्र गुरुत्ववति फलादौ प्रतिबन्धकः संयोगः, विहङ्गमादौ तु विधारकः प्रयत्नः पतनप्रतिबन्धकः, काण्डादौ क्षिप्ते संस्कार एव पततप्रतिबन्धकः। एतेषामभावे गुरुत्वाधीनं पतनमित्यर्थः। अभिध्यानादिना विषादेरन्तरिक्षस्थापने अदृष्टवदात्मसंयोगो मन्त्रादिरेव वा प्रतिबन्धकस्तेषामपि संयोगपदेन संग्रहः ॥ ७ ॥

ननु गुरुत्वाद् यदि पतनं तदा लोष्टादेरुत्क्षिप्तस्य कचिदूर्ध्वं कचिच्च तिर्य-गमनं कथम्भवेदित्यत आह—

नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्य्यग्गमनम् ॥ ८ ॥

गुरुत्ववतोऽपि लोष्टकाण्डादेर्यदूर्ध्वं तिर्यक् च गमनं तन्नोदनविशेषात् तीव्रतरान्नोदनात्। तथाच फलपक्षिबाणादौ संयोगप्रयत्नसंस्काराभावे यत्

न होते हैं। इससे प्रतिवन्धक के न रहने पर असमवायिकारणरूप गुरुत्व के कारण अधोदेश में संयोगरूप फल को करने वाली पतनक्रिया उत्पन्न होती है। उसमें गुरुत्वा-श्रय फलादिकों में संयोग (मध्य में या ऊपर किसी रोकने वाले दण्डे आदि का संयोग) पतन में प्रतिवन्धक होता है, आकाश में उड़ने वाले पक्षी आदिकों में विधारक (रोकने वाला) उनकी आत्मा का प्रयत्न नीचे गिरने में तथा चलाये हुए वाण आदिकों में वर्तमान वेगसंस्कार ही नीचे गिरने में प्रतिवन्धक होता है। अर्थात् इन प्रतिबन्धकों के न रहने पर गुरुत्व के कारण फलादि नीचे गिर जाते हैं। यहाँ पर संयोग पद से मन्त्रपाठपूर्वक देवता विशेष ध्यानादिकों से विष आदि को आकाशप्रदेश में रोकने में अदृष्टवान् आत्मा का संयोग (जिससे प्राणी विष के कारण नहीं मरता), अथवा मंत्रादिक ही कारण है इत्यादिकों का संग्रह किया गया है ॥७॥

यदि गुरुत्व से पतनक्रिया होती है तो ऊपर फेंका हुआ मट्टी का ढेला कभी ऊपर जाता है कभी तिरछे जाता है यह कैसे होगा ? इस प्रश्न के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—नोदनविशेषाभावात्—नोदन नामक संयोगविशेष के न होने से, न=नहीं होता, ऊर्ध्वं=ऊर्ध्वप्रदेश में, न = नहीं होता, तिर्यग्गमनम्=तिरछे जाना ॥८॥

भावार्थ—अतितीव्र नोदन नामक संयोगविशेष से गुरुत्ववाले भी मट्टी के डेले आदिकों में ऊर्ध्वप्रदेश में तथा तिरछी भी गति होती है, किन्तु फल, पक्षी, वाण इत्यादिकों का संयोगादि रूप प्रतिवन्धक के न रहने पर जो भूमि पर पतन होता है, उसमें उक्त नोदनविशेष के न रहने से ऊर्ध्व अथवा तिर्यक् (तिरछी) गति नहीं होती ॥ ८ ॥

उपस्कार—गुरुत्व के आश्रय भी मट्टी के ढेले, काण्ड (सरई) इत्यादिकों में जो ऊर्ध्व तथा तिर्यक् गति होती है, वह अत्यन्त तीव्र (तीक्ष्ण) नोदनरूप-नोदनसंयोग के विशेष से होती है, ऐसा होने से फल, पक्षी तथा काण्डादिकों में संयोग,

पतनं तत्र नोदनविशेषो नास्ति तेन न तिर्यङ्न वोर्ध्वं गमनमिति भावः ॥८॥

ननु नोदनविशेष एव कुत उत्पद्यते तत्राह—

प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः ॥ ९ ॥

नोदनविशेषादुदसनविशेषः ॥ १० ॥

तिर्यक् ऊर्ध्वं दूरम् आसन्ने वा क्षिपामीतीच्छाकारणकः प्रयत्नविशेषः तज्जनितो नोदनविशेषस्ततो गुरुत्ववतो द्रव्यस्य लोष्टादेरूर्ध्वं तिर्यक् च गमनमुपपद्यते । उदसनं दूरोत्क्षेपणम् ॥ ९ ॥ १० ॥

उदूखलाभिघातात् मुसलेन सह हस्ते यत् कर्म उत्पन्नं तत्तावत् प्रयत्नपूर्वकं न भवति, नापि पुण्यपापहेतुरतस्तत्तुल्यां बालकस्य क्रीडाकरचरणादिचालनं यत्तत्रातिदिशति—

प्रयत्न तथा संस्काररूप प्रतिबन्धकों के न रहने पर जो भूमि पर पतन होता है, उनमें उक्त नोदनाविशेष नहीं है, इस कारण न तिरछी, न ऊर्ध्वप्रदेश में उनकी गति होती है । ॥ ८ ॥

उक्त नोदनविशेष किससे उत्पन्न होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—प्रयत्नविशेषात् = प्रयत्नविशेष से,नोदनविशेषः—नोदन नामक संयोग विशेष होता है ॥ ९ ॥

नोदनविशेषात् = नोदन संयोग के विशेष से, उदसनविशेषः = दूर ऊर्ध्व जाने में विशेपता होती है ॥ १० ॥

भावार्थ—तिरछे, ऊपर, दूर या पास फेंकता हूं इन इच्छाओं के अनुसार विशेप प्रयत्न से उत्पन्न विशेष नोदन-संयोग के कारण गुरुत्वाश्रय मट्टी के ढेले आदिकों में ऊर्ध्वदेशादिकों में गति होती है और नोदनसंयोग (विशेष) से उस मिट्टी के ढेले आदिकों में उस ऊर्ध्वदेश में गति होती है ॥ ९-१० ॥

उपस्कार—तिर्यक् (तिरछे) ऊपर, दूर या समीप में फेंकता हूं ऐसी इच्छापूर्वक उत्पन्न हुआ फेंकने का विशेष प्रयत्न होता है, उससे नोदनसंयोगरूप विशेष के कारण गुरुत्व वाले मट्टी के ढेले आदि द्रव्यों में ऊर्ध्व तथा तिर्यक् प्रदेश में उनकी गति होती है । उदसन शब्द का अर्थ है दूर, ऊपर फेंकना या जाना ॥ ९-१० ॥

ऊखल के अभिघात (टक्कर) से मुसल के साथ हस्त में जो क्रिया उत्पन्न होती है, वह आत्मा के प्रयत्नपूर्वक नहीं है, और न वह पुण्य अथवा पाप का भी कारण है, इसी के समान बालक की क्रीड़ा में हस्त-पाद इत्यादिकों के चलाने की क्रिया भी होती है यह अतिदेश द्वारा सूत्रकार सूत्र में कहते हैं—

हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

बालकस्य यद्यपि करचरणादिचालनं प्रयत्नपूर्वकमेव तथापि हिताहितप्राप्तिफलकं न भवति न वा पुण्यपापहेतुरित्यतिदेशार्थः ॥ ११ ॥

इदानीं प्रयत्नपूर्वकेऽपि कर्मणि यत्र न पुण्यपापहेतुत्वं तत्र दारककर्मतुल्यतामतिदिशन्नाह –

तथा दग्धस्य विस्फोटने ॥ १२ ॥

आततायिना केनाऽप्यगारे दाह्यमाने तत्र दग्धस्य पुरुषस्य विस्फोटे वह्निकृते जाते सति तस्याततायिनो वधानुकूलेन प्रयत्नेन हस्तादौ यत् कर्म जनितं तन्न पुण्यहेतुर्न वा पापहेतुः । यथाहुः—

पदपदार्थ—हस्तकर्मणा = उक्त प्रकार की क्रिया से, दारककर्म = बालक की क्रीड़ा में क्रिया भी, व्याख्यातम्‌=व्याख्या की गई ॥ ११ ॥

भावार्थ—उक्त विना प्रयत्न के होने वाली, तथा पुण्य और पाप को न उत्पन्न करने वाली हस्तक्रिता से बालकों की क्रीड़ा के समय की हस्त-पादादिकों के चलाने की क्रिया भी विना प्रयत्न तथा पुण्य और पाप का कारण नहीं होती यह कहा गया है ॥ ११ ॥

उपस्कार—यद्यपि बालकों की क्रीड़ा के समय हस्त-पाद आदिकों के चलाने की क्रिया उनके प्रयत्न से ही होती है, तथापि बालकों को हित तथा अहित का ज्ञान न होने से वह उनके हाथ और पैरों को चलाना हित या अहितरूप फल नहीं देती, अथवा पुण्य और पाप की भी जनक नहीं होती ॥ ११ ॥

सांप्रत प्रयत्नपूर्वक होने वाली जो क्रिया पुण्य तथा पाप के कारण नहीं होती उसमें बालकों की क्रीड़ा के कर्मों की समानता का अतिदेश करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा=उस प्रकार (पुण्य पाप का कारण) (नहीं होती), दग्धस्य = जले हुए पुरुष को, विस्कोटने=फोड़े होने में ॥ १२ ॥

भावार्थ—बालक की क्रीड़ा के व्यापार के समान आतताइयों से जलाये हुए घर में जले हुए मनुष्य के आततायी को मारने के लिये किये कर्म भी पुण्य अथवा पाप के कारण नहीं होते ॥ १२ ॥

उपस्कार—आततायी किसी मनुष्य ने किसी मनुष्य के घर में आग लगाने में जले हुए मनुष्य के शरीर में अग्नि से विस्फोट (फोड़े आदि) होने पर उसने किये आततायी के मारने के अनुरूप किये गये प्रयत्न में जो उसके हस्त आदि अवयवों में क्रिया होती है, वह भी (बालकों की क्रीड़ा में होने वाली हस्त-पाद आदिकों की चलनादि क्रिया के समान) न पुण्य का न पाप का जनक होती है, इसी कारण जिन

नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तन्मन्युमृच्छति
अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहा ।
क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः ॥ १२ ॥

इदानीं यत्नं विना यानि कर्माणि भवन्ति तान्याह—

यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥ १३ ॥

प्रसुप्तस्येति चैतन्याभावदशामुपलक्षयति । तेन मूर्च्छितस्य जीवतोऽचैतन्येऽपि वायुकृतं चलनं द्रष्टव्यमत्र ॥ १३ ॥

शरीरकर्माणि व्याख्याय तदितराण्याह—

तृणे कर्म वायुसंयोगात् ॥ १४ ॥

प्रकार मनुस्मृतिकार ने कहा है—न = नहीं होता, आततायिवधे=आततायी के मारने में, दोषः = पाप, हन्तुः=मारने वाले को, कश्चन=कोई भी । प्रकाशं वा = प्रगट रूप से या, अप्रकाशं वा = या गुप्तरूप से, मन्युः=क्रोध, तन्मन्युं = उसके क्रोध को, ऋच्छति = प्राप्त होता है । अग्निदः=आग लगाने वाला,[1] गरदः च = विष देने वाला भी[2], शस्त्रपाणिः[3]=हस्त में शस्त्र ग्रहण करने वाला, धनापहा=धन चुराने वाला ४, क्षेत्र-दारापहारी=खेत घर आदि, तथा स्त्री का अपहार करने वाला भी (५-६) षट्= छः, ऐते = ये, आततायिनः = आततायी होते हैं ॥ १२ ॥

साम्प्रत विना यत्न के जो क्रिया होती है उन्हें सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—यत्नाभावे = विना प्रयत्न के, प्रसुप्तस्य=निद्रावस्था में स्थित प्राणी की, चलन=चलनक्रिया होती है ॥ १३ ॥

भावार्थ—विना प्रयत्न के निद्रावस्था में वर्तमान प्राणी के शरीर में चलन क्रिया होती है ॥ १३ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'प्रसुप्तस्य' सोये हुए की इस पद से चैतन्य न रहने की (बेहोशी की) अवस्था सूचित होती है इससे मूर्च्छित जीते हुए प्राणियों को अचैतन्य (होश में न रहना) होने पर भी वायु से शरीर में चलन क्रिया होती है वह देखना चाहिये ॥ १३ ॥

इस प्रकार शरीर के कर्मों को वर्णन कर शरीर से भिन्न पदार्थों की क्रिया का सूत्रकार वर्णन करते हैं ।

पदपदार्थ—तृणे=तृण (तिनके) में, कर्म=चलनक्रिया, वायुसंयोगात् = वायु के संयोग से (होती है) ॥ १४ ॥

भावार्थ—तृणादिकों में भी विना यत्न के शरीर क्रिया के समान विना यत्न के केवल वायु के संयोग से चलनादि क्रिया होती है ॥ १४ ॥

तृणपदेन वृक्षगुल्मलतावतानादिकं सर्वमुपलक्षयति ॥ १४ ॥

अदृष्टाधीनं कर्म परिगणयन्नाह—

मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणकम् ॥ १५ ॥

मणिपदेन कांस्यादिकमुपलक्षयति । तेनाभिमन्त्रितं मणिकांस्यादि तस्कराभिमुखं यद् गच्छति तत्र गमने मण्यादि समवायिकारणम्, अदृष्टवत्तस्करात्ममणिसंयोगोऽसमवायिकारणम्, तस्करस्य पापं निमित्तकारणम्। सूच्यभिसर्पणमिति । सूचीपदेन लोहमात्रं तृणञ्चोपलक्षयति । तथा चायस्कान्ताभिमुख यत् सूच्यादेर्गमनं तत्र सूच्यादि समवायिकारणम्, यस्य हितमहित वा तेन तृणसूच्यादिगमनेन तददृष्टवदात्मसंयोगोऽसमवायिकारणम्, तददृष्टमेव निमित्तकारणम् । एवमन्यदप्यूह्यम् । तद् यथा वह्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनं सर्गादौ परमाणुकर्मादि ॥ १५ ॥

उपस्कार—सूत्र में तृणपद से वृक्ष, गुल्म (झाड़ी), लता, अवतान इत्यादि संपूर्णों का संग्रह सूचित होता है ॥ १४ ॥

अदृष्ट के अधीन होने वाले कर्मों की गणना करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—मणिगमनं = (चोर के पास) मणि इत्यादिकों का गमन, (चुम्बक के पास) सूई आदि लोहे का गमन, इति = यह सब, अदृष्टकारितम् = अदृष्ट से क्रिया होती है ॥ १५ ॥

भावार्थ—चोर के पास अभिमन्त्रितमणि, कांसे का कटोरा इत्यादिकों का पहुँचना तथा लोह चुम्बक के पास सुई इत्यादिकों लोहा का पहुँचना यह सब क्रिया अदृष्ट से होती है ॥ १५ ॥

उपस्कार—सूत्र में मणि पद से कांस्यादिपात्र सूचित होता है, इससे अभिमन्त्रित (मन्त्रपाठपूर्वक जल से सीचे हुए मणि तथा कांसे का पात्र तस्कर (चोर) के सम्मुख जो जाता हैं, उस गमन में मणि कांसे का पात्र समवायिकारण है, अदृष्ट वाले चोर की आत्मा तथा मणि आदि का संयोग असमवायि -कारण है, तथा चोर का पाप निमित्तकारण है । सूच्यभिसर्पणं इस सूत्र के सूची शब्द से सम्पूर्ण लोह, तथा तृण भी सूचित होता है । ऐसा होने से अयस्कान्त (चुम्बक लोह) के संमुख सुई आदि लोहे का जाना, तृणकान्त नामक मणि के संमुख तृण का जाना, इन क्रियाओं में सुई आदि लोहा समवायि कारण, उस तृण तथा सुई आदि की गमनक्रिया से जिस मनुष्य का हित (प्रिय) अथवा अहित (अप्रिय) होता हो (उसके अदृष्ट वाले आत्मा का संयोग उस तृणादि गमन में असमवायिकारण, तथा उसी का अदृष्ट ही निमित्त कारण है । इसी प्रकार और भी जानना, जसे अग्नि की ऊर्ध्वदेश में गति, वायु की तिर्यक् (तिरछे) बहना, सृष्टि की आदि काल में परमाणुओं में कर्म इत्यादि अदृष्टकारित कर्म हैं ॥ १५ ॥

ननु शरविहङ्गमालातचक्रादीनामुपरमपर्य्यन्तमेकमेव कर्म नाना वेति संशये निर्णयहेतुमाह—

इषावयुगपत्संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः ॥ १६ ॥

इषाविति षष्ठ्यर्थे सप्तमी । इदमत्राकूतम्—वेगेन गच्छतां शरादीनां कुड्यादिसंयोगानन्तरं शरादौ सत्येव गत्युपरमो दृश्यते अत्राश्रयनाशस्तावन्न तन्नाशकः आश्रयस्य विद्यमानत्वात् । विरोधिगुणान्तरञ्च नोपलभ्यते, तेन स्वजन्यः संयोग एव कर्मनाशक इत्युन्नीयते । स च संयोगश्चतुर्थक्षणे जातः पञ्चमक्षणे कर्म नाशयति । तथाहि—कर्मोत्पत्तिरथ विभागः अथ पूर्वसंयोगनाशः उत्तरसंयोगः कर्मनाशः । तेनायुगपत्संयोगविशेषाः कर्मनानात्वज्ञापका इत्यर्थः । संयोगविशेषा

वाण, पक्षी अलातचक्र, इत्यादिकों की गति रुकने तक एक ही क्रिया होती है, अथवा नाना क्रिया होती है, इस संशय में निश्चायक हेतु सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—इषौ = वाण में, अयुगपत्संयोगः=एककाल में संयोगों का न होना, कर्मान्यत्वे=क्रिया के नानात्व में, हेतु= कारण है ॥ १६ ॥

भावार्थ—वेग से जाने वाले वाण में भीत आदि में एककाल में वाण के संयोगों का न होना वाण में अनेक क्रिया की सिद्धि करता है । यहाँ सूत्र में 'हेतुः' यह एकवचन आर्ष प्रयोग है । क्योंकि 'हेतवः' ऐसा बहुवचन विवक्षित है, अर्थात् क्रिया के अपने से उत्पन्न चतुर्थ क्षण में वर्तमान उत्तरसंयोग से नष्ट होने का नियम होने के कारण पंचम-षष्ठ आदि क्षणों में स्थिति का असंभव होने से वाण के प्रथम गमन से लेकर पृथ्वी पर गिरने तक एक क्रिया की वर्तमानता का असंभव होने से भिन्न-भिन्न अपने-अपने से उत्पन्न उत्तरसंयोग से नष्ट होने वाली अनेक क्रिया होती है, यह अवश्य मानना पड़ेगा यह सूत्र का तात्पर्य हैं ।

उपस्कार—सूत्र में 'इषौ' यह सप्तमी विभक्ति षष्ठी विभक्ति में है । यहाँ सूत्र का यह तात्पर्य है कि—वेग से जाने वाले बाणों के मध्य में कुड्य (भीत) इत्यादिकों में संयोग होने के पश्चात् बाणादिकों के रहते ही उनकी गति का उपरम (निवृत्त-होना) देखने में आता है । इसमें उस वाणगति का आश्रय (वाण) का नाश नाशक नहीं हो सकता, क्योंकि आश्रय (वाण) विद्यमान है । और विरोधी दूसरा कोई गुण उपलब्ध नहीं होता, इससे अपने (क्रिया) से उत्पन्न उत्तरसंयोग ही गतिक्रिया का नाशक है यह जाना जाता है । और वह संयोग क्रिया की उत्पत्ति के चतुर्थ क्षण में उत्पन्न होकर पंचम क्षण में क्रिया को नष्ट करता है, वह इस प्रकार है कि प्रथम क्षण में क्रिया उत्पन्न होती है इसके पश्चात् द्वितीय क्षण में विभाग, इसके पश्चात् तृतीय क्षण में पूर्व संयोग का नाश होता है, पश्चात् चतुर्थ क्षण में उत्तरदेश से संयोग, पश्चात् क्रिया का नाश । इससे एककाल में वाण के उत्तरदेश में संयोग न होना वाण में गति क्रिया की अनेकता का बोधक है यह सूत्र का अर्थ है । सूत्र

इति। संयोगे विशेष. स्वजन्यत्वमेव अन्यथा संयोगमात्रस्य कर्मनाशकत्वे कर्म क्वचिदपि न तिष्ठेत् ॥ १६ ॥

नोदननिष्पाद्यकर्मप्रकरणानन्तरं संस्कारनिष्पाद्यकर्मप्रकरणमारभते—

नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरञ्च ॥ १७ ॥

पुरुषप्रयत्नेनाकृष्टया पतञ्जिकया नुन्नस्येषोराद्य कर्म जायते, तत्र नोदनमसमवायिकारणम्, इषुः समवायिकारणम्, प्रयत्नगुरुत्वे निमित्तकारणे तेन चाद्येन कर्मणा समानाधिकरणो वेगाख्यः संस्कारो जन्यते। स च वेगेन गच्छतीति प्रत्यक्षसिद्ध एव। तेन संस्कारेण तत्रेषौ कर्म जायते तत्रासमवायिकारणं संस्कारः समवायिकारणमिषुः, निमित्तकारणन्तु तीव्रो नोदनविशेषः। एवञ्च यावदिषुपतनमनुवर्त्तमानेन संस्कारेण उत्तरोत्तरः कर्मसन्तानो जायते स्वजन्योत्तर-

---

के 'संयोगविशेषाः' इस समस्त पद में संयोग में विशेष क्रिया से उत्पन्न होना ही है नहीं तो संपूण संयोगों का क्रिया का नाशक होने से क्रिया कहीं भी न रहेगी ॥१६॥

इस प्रकार नोदनसंयोग से उत्पन्न क्रियाओं के वर्णन का प्रकरण समाप्त कर संस्कार से उत्पन्न होने वाली क्रियाओं के वर्णन का प्रकरण सूत्रकार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—नोदनात्=नोदनसंयोग से, आद्यं = प्रथम, इषोः = बाण की, कर्म = क्रिया होती हैं, तत्कर्मकारितात् च=और उस क्रिया से कराये हुए, संस्कारात्= संस्कार से, उत्तर = उत्तर की, तथा = उसी प्रकार, उत्तरं च=उसके उत्तर (अनन्तर) की क्रिया भी होती है ॥ १७ ॥

भावार्थ—धनुष से बाण चलाने वाले वीर पुरुष के अंगुलियों के नोदनसंयोग से चलाये बाण में प्रथम गति क्रिया होती है, जिससे उसी बाण में वेगसंस्कार उत्पन्न होता है, और उस वेग से उसी बाण में पुनः दूसरी क्रिया उत्पन्न होती है, अर्थात् जब तक बाण पृथ्वी पर नहीं गिरता तब तक बाण में रहने वाले वेग से आगे-आगे क्रियायें उत्पन्न होती जाती हैं, और उन क्रियाओं से उत्पन्न उत्तर-उत्तर संयोग से क्रियाओं का नाश होने पर वेगसंस्कार से दूसरी क्रिया उत्पन्न होती है। इस कारण एक ही संस्कार क्रियासमूह का उत्पादक होता है, न कि क्रियासमूह (अनेकता) के समान वेग भी अनेक मानना उचित है यह सूत्र का आशय है ॥१७॥

उपस्कार—वीरपुरुष के प्रयत्न से खींची हुई पतंजिका (बाण चलाने का विशेष यन्त्र) से फेंके गये बाण की प्रथम क्रिया होती है, उसमें नोदनसंयोग असमवायिकारण और बाण समवायिकारण है, प्रयत्न तथा गुरुत्व निमित्त कारण हैं। उस प्रथम क्रिया से उसी के आधार बाण में वेगनामक संस्कार उत्पन्न होता है, क्यो

संयोगेन कर्मणि नष्टे संस्कारेण कर्मान्तरजननादेक एव संस्कारः कर्मसन्तानजनकः न तु कर्मसन्तानवत् संस्कारसन्तानोऽप्यभ्युपगन्तुमुचितो गौरवादिति दर्शयितुमाह-तथोत्तरमुत्तरञ्चेति, तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादित्येकवचनञ्च। न्यायनये तु कर्मसंतानवत् संस्कारसन्तानस्वीकारे गौरवम्। यत्तु युगपत् प्रक्षिप्तशरयोरेकस्य तीव्रो वेगोऽपरस्य तु मन्दः, तत्र नोदनतीव्रत्वमन्दत्वे निमित्तम् ॥ १७ ॥

ननु संस्कार एक एव चेत् कर्मसन्तानजनकस्तदा कदाचिदपि शरपातो न स्यात् कर्मजनकस्य संस्कारस्य सत्त्वादित्यत आह—

संस्काराभावो गुरुत्वात् पतनम् ॥ १८ ॥

वह बाण वेग से जाता है यह प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है। उस वेगसंस्कार से उस बाण में पुनः क्रिया उत्पन्न होती है, उसमें वेगसंस्कार असमवायिकारण तथा बाण समवायिकारण है, और तीव्र (कड़ा) नोदनसंयोगविशेष निमित्तकारण है। ऐसा होने से जब तक बाण नहीं गिरता तब तक साथ रहने वाले बाण के वेग से उत्तर-उत्तर (आगे-आगे) क्रियाओं का सन्तान (समूह) उत्पन्न होता है, स्व (अपनी क्रिया) से उत्पन्न उत्तरसंयोग से क्रिया का नाश होने पर वेगसंस्कार से दूसरी क्रिया होने के कारण एक ही वेगसंस्कार अनेक क्रियाओं को उत्पन्न करता है, न कि अनेक क्रियाओं के समान अनेक वेगसंस्कार मानना उचित है क्योंकि गौरव दोष होगा, यही दिखाने के लिए सूत्र में 'तथोत्तरमुत्तरञ्च' ऐसा कहा है, और 'तत्कर्मकारिताच्च संस्कारात्' यहाँ एकवचन भी दिया है। षोडश पदार्थवादी नैयायिकों के मत से अर्थात् एक ही संस्कार नाना क्रियाओं के उत्पन्न करे तो एक-एक क्रिया को दूसरी क्रिया का प्रतिबन्धक मानना पड़ेगा, नहीं तो पूर्णतया उत्तरक्षण के संपूर्ण क्रियाओं की एककाल में उत्पत्ति होने लगेगी, इस लिये उस-उस व्यक्तिरूप से प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभाव मानने की अपेक्षा से उस-उस संस्कार व्यक्ति रूप से विशेष कार्य-कारणभाव मानना ही श्रेष्ठ है। ऐसा मानने में कर्मसन्तान के समान संस्कारों का भी सन्तान (अनेकता) मानने में गौरव दोष होगा। और जो एक काल में छोड़े हुए दो बाणों में से एक बाण का तीव्रवेग और दूसरे का मन्दवेग होता है, उसमें नोदनसंयोग की तीव्रता तथा मन्दता क्रम से निमित्त हैं यह जानना ॥ १७ ॥

"वेगसंस्कार एक ही यदि अनेक क्रियाओं का जनक हो तो कभी भी बाण पृथ्वी पर न गिरेगा, क्योंकि क्रियाजनक वेगसंस्कार विद्यमान ही है", इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संस्काराभावे = वेगसंस्कार के न रहने पर, गुरुत्वात् = गुरुत्व के कारण, पतनं = पतनक्रिया होती है ॥ १८ ॥

भावार्थ—पृथ्वी पर गिरने का कारण गुरुत्व बाण में वर्तमान होने के कारण

गुरुत्वन्तावत् पतनकारणमनुवर्त्तमानमेव। तच्च गुरुत्वं संस्कारेण प्रतिरुद्धं पतनं नाजोजनत्। अथ प्रतिबन्धकाभावे तदेव गुरुत्वं पतनं करोतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे पञ्चमाध्यायस्य
प्रथममाह्निकम्।

वेगसंस्काररूप प्रतिवंधक के न रहने पर वाण पृथ्वी पर गिर जाता है ॥ १८ ॥

उपस्कार—गुरुत्व गुण तो पृथ्वी पर गिरने का कारण वाण में वर्तमान है ही। वह गुरुत्व वेगसंस्कार से प्रतिबद्ध (रुके) होने से अब तक वाण में पतनक्रिया को गुरुत्व ने नहीं किया था, पश्चात् वेगसंस्काररूप प्रतिवंधक के न रहने पर वही गुरुत्व वाण को पृथ्वी पर गिरा देता है ॥ १८ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्रकृत वैशपिकसूत्रोपस्कार-व्याख्या में
पंचम अध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त हुआ।



पञ्चमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

नोदनादिनिष्पाद्यकर्मपरीक्षाप्रकरणम् । तत्राह—

नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ॥ १ ॥

नोदनं संयोगविशेषः—येन संयोगेन जनितं कर्म संयोगिनोः परस्परं विभागहेतुर्न भवति, यः संयोगः शब्दनिमित्तकारणं न भवति वा । यः संयोगः शब्दनिमित्तकारणं भवति यज्जनितं कर्म संयोगिनोः परस्परविभागहेतुश्च भवति स संयोगविशेषोऽभिघातः । ताभ्यामपि प्रत्येकं कर्म जन्यते । पङ्काख्यायां पृथिव्याञ्चरणेन नोदनात् चरणाभिघाताच्च कर्म जायते तत्र पङ्कः समवायिकारणम्, नोदनाभिघातौ यथायथमसमवायिकारणम्, गुरुत्ववेगप्रयत्ना यथास-

---

प्रथम नोदनादिकों से उत्पन्न होने वाले कर्मपदार्थ की परीक्षा का प्रकरण है उसमें सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ = नोदनाभिघातात् = नोदन तथा अभिघात नामक संयोग से, संयुक्तसंयोगात् च=और नोदन तथा अभिघात संयोग से संयुक्त होनेसे भी, पृथिव्यां=पृथिवी द्रव्य में, कर्म=क्रिया होती है ॥ १ ॥

भावार्थ—कीचड़ इत्यादि पृथिवीरूप समवायिकारण में चरण के नोदन तथा अभिघातसंयोगरूप असमवायिकारण से, एवं गुरुत्व, प्रयत्न इत्यादि निमित्तकारणों से चलनरूप क्रिया होती है तथा चरण के नोदन अथवा अभिघात से उक्त उस कीचड़ रूप पृथिवी पर संयोगसम्बन्ध से वर्तमान लाह की गोली इत्यादिकों में भी चरण से संयुक्त कीचड़ में गोली के संयोगरूप परम्परा संबन्ध से चलनक्रिया उत्पन्न होती है ॥ १ ॥

उपस्कार—संयोगविशेष को नोदन कहते हैं—जिस संयोग से उत्पन्न क्रिया संयोगसम्बन्ध के सम्बन्धियों का परस्पर विभाग नहीं होता, अथवा जो संयोग शब्द को उत्पन्न नहीं करता (यहाँ पर जो संयोग-विभाग का कारण नहीं होता यह प्रथम नोदन का लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि पंचमाध्याय के १ आह्निक के १० सूत्र में नोदनविशेष से उदसनविशेष होता है, इस उक्ति से नोदन विभाग का कारण होता है ऐसा कहा गया है) इस दोष के कारण द्वितीय लक्षण शंकरमिश्र ने किया है। (इस प्रकार नोदन का अर्थ कर अभिघात का लक्षण शंकरमिश्र दिखाते हैं कि)—जो संयोग शब्द को उत्पन्न करे,तथा जिससे उत्पन्न क्रिया संयोगके संवन्धियोंका परस्पर विभाग उत्पन्न करें उसे अभिघात कहते हैं। उन दोनों से भी प्रत्येक क्रिया उत्पन्न होती है। जैसे पङ्क (कीचड़) नाम की पृथिवी पर चरण से नोदन तथा अभिघात से भी जो चलनक्रिया होती है उसमें पङ्क समवायिकारण तथा क्रम से नोदन और अभि-

म्भवं निमित्तकारणम्। संयुक्तसंयोगादिति। नोदनादभिघाताद्वा पङ्के कर्म तत्पङ्कस्थिते घटादावपि तत्समकालमेव कर्मदर्शनात् ॥ १ ॥

ननु भूकम्पादौ नोदनाभिघाताबन्तरेण जायमाने किमसमवायिकारणमत आह—

तद् विशेषेणादृष्टकारितम् ॥ २ ॥

तदिति पृथिवीकर्म परामृशति। पृथिव्यामेव कर्म यदि विशेषेण आशयेन भवति तदाऽदृष्टकारितम्, तेन भूकम्पेन यस्य दुःखं सुखं वा भवति अवदृष्टत्तदात्मसंयोगस्तत्रासमवायिकारणम्, भूः समवायिकारणम्, अदृष्टं निमित्तकारणम्।

यद्वा तदा नोदनाभिघातौ परामृशति। विशेषो व्यतिरेकः। तथाच नोदनाभिघातव्यतिरेकेण यत्त पृथिव्यां कर्म तददृष्टकारितमित्यर्थः ॥ २ ॥

घात असमवायिकारण एवं गुरुत्व प्रयत्न जैसा संभव हो निमित्त कारण है। सूत्र के 'संयुक्तसंयोगात्' इस उक्ति से नोदन अथवा अभिघात से पंक में चलनक्रिया तथा उस पंक पर स्थित घट आदि पदार्थों में भी जो चलन क्रिया उसी समय देखने में आती है वह चरण से संयुक्त पङ्क में घट के सँयोगरूप असमवायिकारण से उत्पन्न होती है। (यह संयुक्तसंयोग से क्रिया की उत्पत्तिसंयुक्त संयुक्त संयोगादि परम्परा सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली क्रियाओं की भी सूचक है क्योंकि कीचड़ में पादसंयोग से क्रिया होकर उस पर रहने वाले घट तथा उसपर रहने वाले पुरवा इत्यादिकों में भी चलन क्रिया देखने में आती है ॥ १ ॥

"भूकम्प आदि पृथिवीक्रिया में जो विना नोदन तथा अभिघात के होती है, उसमें क्या असमवायि कारण है ?" इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तद् = वह भूकम्पादि पृथिवी-क्रिया, विशेषेण = विशेष रूप से, अदृष्टकारितम् = प्राणियों के अदृष्ट से उत्पन्न होती है ॥ २ ॥

भावार्थ—वह भूकम्पादि रूप पृथिवी की क्रिया, विशेषेण = भोगरूप विशेष से, अदृष्टकारितं=प्राणियों के अदृष्टविशेष से उत्पन्न होती है ॥ २ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'तत्' इस पद से पृथिवी की विशेष क्रियाओं का ग्रहण होता है। पृथिवी द्रव्य में ही क्रिया यदि विशेष आशय (भोग) के कारण होती है तो वह प्राणियों के अदृष्ट से होती है। अर्थात् उस भूकम्प (भूडोल) से जिन मनुष्यों को दुःख अथवा सुख होता है, अदृष्टवाले उन आत्माओं का संयोग उसमें असमवायिकारण, पृथिवी समवायिकारण, और अदृष्ट उस भूकम्प में निमित्त कारण है। अथवा 'तत्' इस सूत्र के शब्द से नोदन तथा अभिघात का ग्रहण करना। विशेष शब्द का अर्थ है व्यतिरेक (अभाव)। ऐसा होने से विना नोदन तथा अभिघात के होने वाली जो पृथिवी में क्रिया होती है। उनमें प्राणियों का अदृष्ट कारण है, ऐसा सूत्र का अर्थ है ॥ २ ॥

इदानीं द्रवद्रव्यसमवेतकर्मपरीक्षाप्रकरणम् । तत्राह—

अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥ ३ ॥

अपां यत् पतनं वर्षणरूपं तद्गुरुत्वासमवायिकारणकम् । तत् संयोगस्य मेघसंयोगस्याभावे सति भवति, तेन संयोगाभावस्तन्निमित्तकारणमित्यर्थः ॥३॥

तेषामेव वृष्टिबिन्दूनामन्योन्यसंयोगजनकं कर्म कथमत आह—

द्रवत्वात् स्यन्दनम् ॥ ४ ॥

क्षितौ पतितानामपां बिन्दूनां परस्परं संयोगेन महज्जलावयविस्रोतोरूपं यज्जायते तस्य यत् स्यन्दनं दूरसंसरणं तत् द्रवत्वादसमवायिकारणादुत्पद्यते गुरुत्वान्निमित्तकारणादप्सु समवायिकारणेषु ॥ ४ ॥

ननु यदि भूमिष्ठानामपाम् ऊर्द्ध्वं गमनं भवति तदा गुरुत्वात् पतनवर्षणं

सांप्रत द्रव (पतले) द्रव्यों में समवायसम्बन्ध से सम्बद्ध क्रियाओं की परीक्षा का प्रकरण है (२) उसमें सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अपां = वर्षा के जलों का, संयोगाभावे = प्रतिबन्धक मेघ के संयोग के न रहने पर, गुरुत्वात् = गुरुत्व से, पतनम् = पतन कर्म होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रतिबन्धक मेघों के परस्पर संयोग के न रहने पर जो जलवृष्टि होती है अर्थात् मेघों से पृथिवी पर वर्षा का जल गिरता है उसमें जल का गुरुत्व असमवायिकारण तथा प्रतिबंधकसंयोग का अभाव निमित्त कारण है ॥ ३ ॥

उपस्कार—जल की जो वर्षारूप पतनक्रिया होती है वह गुरुत्वरूप असमवायिकारण से होती है किन्तु वह वर्षा मेघों के इष्ट परस्पर संयोग के न रहने पर होती है, इससे मेघों के संयोग का भाव उस वर्षा में निमित्त कारण है। यह सूत्र का अर्थ है ॥ ३ ॥

उन्हीं वर्षा के जल के विन्दुओं के परस्पर संयोग को उत्पन्न करने वाली क्रिया कैसे होती है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रवत्वात् = स्वाभाविक द्रवत्व गुण से, स्यन्दनम् = दूर जाना (बहना) होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—पृथ्वी पर गिरे हुए वर्षा जल के विन्दु परस्पर में संयुक्त होकर प्रवाहरूप अवयवि जल के रूप में जो दूर तक बहते जाते हैं यह क्रिया द्रवत्व रूप असमवायिकारण, तथा गुरुत्वरूप निमित्तकारण जलरूप समवायिकारण में होती है ॥ ४ ॥

उपस्कार—पृथ्वी पर गिरे हुए जल के विन्दुओं का परस्पर संयोग होने से महत्परिमाणाश्रय प्रवाहरूप जो जलावयवि द्रव्य उत्पन्न होकर उसका जो स्यन्दन अर्थात् दूरतक (संसरण) बहना होता है वह द्रवत्वरूप असमवायिकारण से उत्पन्न होता है, जो गुरुत्वरूप निमित्तकारण से जलरूप समवायिकारणों में होता है ॥ ४ ॥

यदि पृथ्वी पर रहने वाला जल सूर्यकिरण द्वारा आकाश में ऊपर जाय, तब

सम्भाव्यते, तदेव तु कुत इत्यत आह—

नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम् ॥ ५ ॥

कारयन्तीति शेषः। यदपामूर्ध्वमारोहणं तत् नाड्यः सूर्य्यरश्मय एव आरोहयन्त्यप इत्यर्थः। क्वचित् पाठो नाड्यवायुसंयोगादिति। स च नाड्यो नाडीसम्बन्धो यो वायुसंयोग इत्युपपादनीयः ॥ ५ ॥

ननु सूर्य्यरश्मीनां कथमयं महिमा यत् भूमिष्ठा अप ऊर्ध्वं नयन्तीत्यत आह—

नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥ ६ ॥

नोदनेन बलवद्वायुनोदनेन आपीडनादास्कन्दनात् वायुसंयुक्ता रश्मयस्तत्संयुक्ता आप ऊर्ध्वं धावन्ति यथा स्थालीस्था अपः क्वथ्यमानाः वायुनुन्नवह्निरश्मय

उस जल का गुरुत्व के कारण वर्षारूप से पृथ्वी पर गिरना हो सकता है, किन्तु पृथ्वी का जल ऊपर क्यों जाता है ? इस शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—नाड्यः = सूर्य की किरणें, वायुसंयोग से, आरोहणम् = जल को ऊपर चढ़ाती हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्य की किरणें पृथ्वी पर जल को वायुसंयोग की सहायता से आकाश में चढ़ाती हैं, इस कारण वह जल गुरुत्व से वर्षारूप से पृथ्वी पर पुनः गिरता है॥५॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित पद की शंकरमिश्र पूर्ति करते हैं कि सूत्र के अन्त में 'कारयन्ति' ऐसा अवशिष्ट पद देना। जिससे जो पृथिवी पर रहने वाला नदी आदि का जल ऊपर आकाश में चढ़ता है उसे सूर्यकिरणरूप नाडियां ही ऊपर चढ़ाती हैं। कहीं-कहीं 'नाड्यवायुसंयोगात्' ऐसा सूत्र में समस्त पद का भी पाठ दिखाई पड़ता है। और उस नाड्यनाम नाडी-सम्वन्धी जो वायु-संयोग ऐसा अर्थ जानना ॥ ५ ॥

"सूर्य की किरणों की ऐसी महिमा क्यों है? जो पृथ्वी पर के जल को ऊर्ध्वदेश में ले जाती हैं ! इस शंका पर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—नोदनापीडनात् = नोदनसंयोग से आक्रमण होने के कारण, और वायुसंयुक्त सूर्यकिरणों के संयोग से भी (जल ऊर्ध्वदेश में जाता है) ॥ ६ ॥

भावार्थ—वलवान् वायु के नोदन संयोग से आक्रमण होने के कारण वायु से संयुक्त सूर्य की किरणों में संयुक्त होने से पृथ्वीपर का जल ऊर्ध्व देश में जाता है ॥ ६ ॥

उपस्कार—वलवान् वायु के नोदनसंयोगरूप नोदन से आपीडन अर्थात् आक्रमण होने के कारण वायु से संयुक्त सूर्य की किरणां में संयुक्त जल ऊर्ध्वदेश में दौड़ते हैं, जिस प्रकार स्थाली (वटुली) में का जल अग्निपर क्वथन होने पर वायु से प्रेरित वह्नि की किरणें जल को ऊर्ध्वप्रदेश में ले जाती हैं। इस सूत्र में 'चकार' का अर्थ है

ऊर्ध्वं नयन्ति। चकार इवार्थस्तत्र च उपमानं स्थालीस्था एवापो द्रष्टव्याः ॥ ६ ॥

ननु मूले सिक्तानामपां वृक्षाभ्यन्तरेणोर्ध्वगमनम् अभितः, तत्र न नोदनाभिघातौ न वाऽऽदित्यरश्मयः प्रभवन्ति, तत् कथं तदित्यत्राह—

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥ ७ ॥

अभितः सर्पणमभिसर्पणं तदभिसर्पणं मूले निषिक्तानामपां वृक्षे तददृष्टकारितं पत्रकाण्डफलपुष्पादिवृद्धिकृतं सुखं दुःखं वा येषामात्मनाम् अदृष्टवत्तदात्मसंयोगादसमवायिकारणात् अदृष्टान्निमित्तादप्सु समवायिकारणेषु तत् कर्म भवति येन कर्मणा आप ऊर्ध्वं गत्वा वृक्षं वर्द्धयन्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

नन्वपां सांसिद्धिकद्रवत्वं लक्षणमुक्तं तादृशानामेवापामूर्ध्वमधस्तिर्यक् च गमनमुपपादितं हिमकरकादीनाञ्च शैत्यादप्त्वमविवादसिद्धम्, तत् कथं

उपमा, जिसमें यही स्थाली का जल दृष्टान्त है यह जानना ॥ ६ ॥

मूल (जड़) में सींचा हुआ जल वृक्ष के मध्यभाग से चारों तरफ से ऊर्ध्वदेश में चढ़ता है, वहां नोदन तथा अभिघात नामक संयोग नहीं है, अथवा सूर्य की किरणें भी नहीं हैं, तो यह कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—वृक्षाभिसर्पणं = वृक्ष के मध्य में जल का चढ़ना, इति=यह, अदृष्टकारितम् = भोक्ता प्राणियों के अदृष्ट से होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—बिना नोदन तथा अभिघातसंयोग एवं सूर्य की किरणों के विना भी जो जड़ में सींचा हुआ जल जड़ से वृक्ष में चढ़ता है उसमें भोक्ता प्राणियों का अदृष्ट कारण है ॥ ७ ॥

उपस्कार—सूत्र में अभिसर्पण शब्द का अर्थ है अभितः (चारों तरफ से) चढ़ना। वृक्ष की जड़ में सींचे हुए जल का वृक्ष के मध्य से चारों तरफ से ऊपर चढ़ना भोक्ता प्राणियों के अदृष्ट से होता है अर्थात् वृक्ष के पत्र, काण्ड (शाखा), फल, पुष्पादिकों की वृद्धि से उनके भोग से जो सुख अथवा दुःख जिन आत्माओं को होता है, अदृष्टवाले उन-उन आत्माओं के संयोगरूप असमवायिकारण से तथा अदृष्टरूप निमित्तकारण से जलरूप समवायिकारण में क्रिया उत्पन्न होती है, जिस क्रिया से जल ऊर्ध्वप्रदेश में जाकर वृक्ष को बढ़ाते हैं, यह सूत्र का अर्थ है ॥ ७ ॥

'जल का स्वाभाविक द्रवत्व लक्षण है' यह पूर्वग्रन्थ में कहा गया है और स्वाभाविक द्रवत्ववाला ही जल वृक्ष में ऊर्ध्वदेश में जाता है तथा तिरछे (चारों तरफ) भी फैलता है, यह भी उक्त सूत्र में सिद्ध किया है, तथा हिम (बरफ), करका (ओले) आदि शीतस्पर्शवान् होने से वह जल द्रव्य है यह भी विना विवाद के सिद्ध है, तो उसमें द्रवत्व का (संघात) इकट्ठा होना तथा काठिन्य (कड़ापन)

तेषां संघातः काठिन्यम्, कथञ्च विलयनमित्यत आह—

अपां संघातो विलयनञ्च तेजः संयोगात् ॥ ८ ॥

दिव्येन तेजसा प्रतिबन्धादाप्याः परमाणवो द्वयणुकमारभमाणा द्वयणुकेषु द्रवत्वं नारभन्ते ततो द्रवत्वशून्यैरवयवैर्द्वयणुकादिप्रक्रमेण द्रवत्वशून्या हिमकरकादय आरभ्यन्ते तेन तेषां काठिन्यमुपलभ्यते। नन्वेवं हिमकरकादीनामाप्यत्वे किं प्रमाणमत उक्तं-विलयनञ्च तेजःसंयोगादिति। तेजःसंयोगेन बलवता हिमकरकारम्भकपरमाणूनां क्रिया क्रियातो विभागस्तत आरम्भकसंयोगनाशपरम्परया हिमकरकादिमहावयविनाशस्तत्र द्रवत्वप्रतिबन्धकतेजःसंयोगविगमात् त एव परमाणवः द्वयणुकेषु द्रवत्वमारभन्ते। ततो द्रवत्ववता

क्यों है, और उनका विलयन (टिघल जाना) भी क्यों होता है ? इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अपां = जल का, संघातः = द्रवत्व का संघात (इकट्ठा होना), तथा विलयन (टिघल जाना) भी, तेजःसंयोगात्=ऊष्मा (गरमी) रूप तेज के संयोग से होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—हिम, करका आदिकों के जलीयद्रव्य होने में किसी का विवाद न होने के कारण उनमें जो द्रवत्व इकट्ठा देखने में आता है, तथा काठिन्य (कड़ापन) उपलब्ध होता है उसमें दिव्य तेज द्रव्य का प्रतिबंधक होना, तथा पुनः हिम आदि जलीय द्रव्यों का विलयन (टिघल जाना) भी ऊष्मा (गरमी) रूप तेजद्रव्य के संयोग से होता है यह सूत्र का आशय है। अर्थात् विद्युत् (विजली) रूप दिव्य तेज के संयोग से उसके सम्बन्ध के तरतम (अधिक, अति अधिक) भाव से मेघों में वर्तमान जल का संघात तथा विलयन दोनों होते हैं ॥ ८ ॥

उपस्कार—दिव्य (विद्युत्) आदि तेजद्रव्य से प्रतिवन्ध (रुक जाना) होने के कारण जल के परमाणु द्वयणुक अवयवी को उत्पन्न करते हुए द्वयणुको में द्रवत्व को उत्पन्न नहीं करते, इस कारण द्रवत्वगुण से शून्य ही अवयवों से द्वयणुकादि अवयवि क्रम से द्रवत्वरहित ही हिम तथा करकारूप अवयवि द्रव्व उत्पन्न किये जाते हैं, इस कारण हिम आदिकों में काठिन्य (कड़ा) उपलब्ध होता है। इस प्रकार पृथिवी के समान हिम आदिकों के कठिन होने से वह जलीय द्रव्य हैं इसमें क्या प्रमाण है ? इस शंका के उत्तर में सूत्रकार ने कहा है—विलयन भी तेज के ही संयोग से होता है। अर्थात् वलवान् दिव्य तेज के संयोग से हिम, करका आदि अवयवि द्रव्य के उत्पादक परमाणुओं में क्रिया होती है उससे उन परमाणुओं का विभाग होता है जिससे पूर्वद्वयणुक के आरम्भ करने वाले संयोग का नाश होता है इस क्रम से हिम, करका आदि महत् परिमाण वाले अवयवियों का नाश होने के पश्चात् उन परमाणुओं में द्रवत्व के प्रतिबंधक तेजद्रव्य के संयोग के हट जाने से वही परमाणु द्वयणुकरूप अवयवी में स्वाभाविक द्रवत्व को उत्पन्न करते हैं, जिससे

हिमकरकादीनां विलयनं तत्र च बलवत्तेजोऽनुप्रवेशो निमित्तम् ॥ ८ ॥

ननु बलवद्दिव्यतेजोऽनुप्रवेशस्तत्र इत्यत्र किं प्रमाणमित्यत आह—

तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ॥ ९ ॥

तत्र दिव्यासु अप्सु दिव्यानां तेजसामनुप्रवेशे विस्फूर्जथुर्लिङ्गं वज्रनिर्घोष एव लिङ्गमित्यर्थः। आत्यन्तिकविद्युत्प्रकाशस्तावत्प्रत्यक्ष एव तदनुपदञ्च स्फूर्जथुः सोऽपि प्रत्यक्ष एव, तेनानुमीयते यस्मान्मेघात् करकाः प्रादुर्भवन्ति तत्र दिव्यन्तेजो विद्युद्रूपमनुप्रविष्टं तदुपष्टम्भेन करकारम्भिकाणामपां द्रवत्वप्रतिबन्ध इति ॥ ९ ॥

अत्रैव प्रमाणान्तरमाह—

वैदिकञ्च ॥ १० ॥

द्रवत्व वाले हिम, करका आदि का विलयन होता है, उसमे भी बलवान् तेज का प्रवेश होना ही निमित्त कारण है ॥ ९ ॥

उसमें बलवान् तेजद्रव्य का प्रवेश होता है इसमें क्या प्रमाण है ? इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत्र = उस (दिव्य तेज के प्रवेश) में, विस्फूर्जथुः = वज्रनिर्घोष (बिजली की कड़कड़ाहट) ही, लिङ्गं=साधक प्रमाण है ॥ ९ ॥

भावार्थ—दिव्यजल में दिव्य (विद्युत् आदि) तेज का प्रवेश होने में विद्युत का महाशब्द ही प्रमाण है ॥ ९ ॥

उपस्कार—उस दिव्य जल में दिव्य (विद्युत्) आदि तेजद्रव्य का पश्चात् प्रवेश होने में विस्फूर्जथु अर्थात् वज्रनिर्घोष ही (बिजली की कड़कड़ाहट ही) लिङ्ग (प्रमाण) है यह सूत्र का अर्थ है। बहुत अधिक प्रगट होने वाला विद्युत् का प्रकाश प्रत्यक्ष ही दीखता है, उसके पश्चात् ही स्फूर्जथु (बिजली की कड़कड़ाहट) भी, प्रत्यक्ष ही सुनने में आती है। इससे अनुमान किया जाता है कि जिन मेघों से करका(ओले)प्रगट होते हैं, उसमें दिव्य विद्युत् रूप तेजद्रव्य मिला है, उसके उपष्टंभ (सम्बन्ध) से करका को उत्पन्न करने वाले जल में द्रवत्व का प्रतिबन्ध होता है ॥ ९ ॥

इसी विषय में दूसरा प्रमाण सूत्रकार देते हैं—

पदपदार्थ—वैदिकं च = और वेदरूप आगम भी प्रमाण है ॥ १० ॥

भाषार्थ—उक्त दिव्य तेज का मेघजल में प्रवेश होने से पूर्वसूत्रोक्त अनुमान के समान 'आपस्ता अग्नि गर्भमादधीरन् अर्थात् जल में अग्निरूप गर्भ का स्थापन हुआ, इत्यादि श्रुति भी प्रमाण है ॥ १० ॥

अपां मध्ये तेजोऽनुप्रवेश आगमसिद्ध एवेत्यर्थः। तथाहि "आपस्ता अग्नि गर्भमादधीरन्, या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णम्" इत्यादि ॥ १० ॥

ननु विस्फूर्जथुः कथमुत्पद्यते संयोगविभागौ शब्दयोनी तौ च नानुभूयेते इत्यत आह—

अपां संयोगाद्विभागाच्च स्तनयित्नोः ॥ ११ ॥

विस्फूर्जथुरिति शेषः। अद्भिः स्तनयित्नोः संयोगविभागौ निमित्तकारणीभूय स्तनयित्नोरेवाकाशेन संयोगादसमवायिकारणादाकाशे समवायिकारणे शब्दं गर्जितं जनयतः। क्वचिच्च वायुबलाहकसंयोगविभागौ निमित्तकारणे। बलाहकवियत्संयोगविभागावसमवायिकारणे। कर्मकारणाधिकारेऽपि प्रासङ्गिकमिदमुक्तम्।

उपस्कार—दिव्य मेघ जल के मध्यमें दिव्य विद्युदादि तेजद्रव्य का प्रवेश आगम से सिद्ध ही है यह सूत्र का अर्थ है। वह इस प्रकार है—'आपः ताः = उन जलों ने' अग्निं गर्भं = अग्निरूप गर्भ को, आदधीरन् = ग्रहण किया, या = जिन जलों ने, अग्नि गर्भं = अग्निरूप गर्भ को, दधिरे=धारण किया, सुवर्णं = सुवर्ण रूप, इत्यादि (आगम) भी दिव्यतेज के प्रवेश में प्रमाण है ॥ १० ॥

'विस्फूर्जथु (विद्युत् शब्द) कैसे उत्पन्न होता है, क्योंकि संयोग तथा विभाग शब्द के जनक होते हैं, उन दोनों का तो अनुभव होता ही नहीं' इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अपां = जल का, संयोगात् = संयोग से, विभागात् च =और विभाग से भी, स्तनयित्नोः = मेघ के ॥ ११ ॥

भावार्थ—वायु से किये हुए मेघ के मध्यवर्ती जलों के संयोग तथा विभाग ही से विद्युत की विष्फूर्जथु अर्थात् वज्रनिर्घोष होता है, अतः पूर्वपक्षी की शंका असंगत है ॥ ११ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित पद 'विस्फूर्जथुः' अर्थात् वज्रनिर्घोष होता है यह शेष पद देना। जल से मेघ के वायुकृत संयोग तथा विभाग निमित्त कारण होकर मेघ के ही आकाश के साथ संयोगरूप असमवायिकारण से आकाशरूप समवायिकारण में गर्जित (गर्जना) रूप शब्द को उत्पन्न करते हैं (अर्थात् वायु से आवर्तित (उलटे पुलटे हुए) मेघ के मध्य के जलों के परस्पर अभिघात, अथवा वायु के अभिघात से विस्फूर्जथु (विद्युत् शब्द) होता है। कहीं-कहीं वायु तथा मेघ के संयोग तथा विभाग निमित्त कारण, तथा मेघ तथा विद्युत् के संयोग तथा विभाग असमवायिकारण होते हैं। कर्मों के कारण के निरूपण का प्रकरण होने पर भी यह यहां पर प्रसङ्ग से सूत्रकार ने निरूपण किया है। अथवा शब्द के असमवायिकारण मेघ तथा आकाश के संयोग अथवा विभाग में मेघ के जलों का ही नोदन तथा अभिघात

यद्वा मेघाकाशसंयोगे विभागे वा शब्दासमवायिकारणे कारणम् अपामेव नोदनाभिघातजनितं कर्मेति सूचितं, कर्मण एवाधिकारप्राप्तत्वात् ॥ ११ ॥

पृथिवीकर्मणा तेजःकर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ॥ १२ ॥

भूकम्पं प्रत्यदृष्टवदात्मसंयोगः कारणमुक्तम्, तत्रैवाकस्मिकदिग्दाहहेतोस्तेजसः आकस्मिकवृक्षादिक्षोभहेतोश्च प्रभञ्जनस्य कर्म यत् संजायते तत्राप्यदृष्टवदात्मसंयोगोऽसमवायिकारणम्, वायुतेजसी समवायिकारणम्, अदृष्टं निमित्तकारणमित्यर्थः। कर्मशब्दस्य द्वयावृत्तिर्महोल्कादिकर्मसूचनार्था ॥ १२ ॥

अदृष्टवदात्मसंयोगासमवायिकारणकं कर्मान्तरमाह—

अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्य्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्ट-

---

से उत्पन्न कर्म ही कारण है। यह सूत्र से सूचित होता है, क्योंकि कर्म ही का निरूपण अधिकार से प्राप्त है (इस प्रकार कर्म कारण का ही निरूपण प्रकरण भी संगत हो जाता है) ॥ ११ ॥

इसी विषयक दूसरे में समानता से सूत्रकार अतिदेश दिखाते हैं)—

पदपदार्थ—पृथिवीकर्मणा=उक्त पृथिवी की क्रिया से, तेजः कर्म = तेजद्रव्य की क्रिया, वायुकर्म च=और वायु की क्रिया भी, व्याख्यातम् = व्याख्या की गई ॥ १२ ॥

भावार्थ—भूकम्प आदि क्रियाओं के समान, अकस्मात् होने वाली दिशाओं के दाह की क्रिया तथा वृक्षादिकों में कम्प की कारण महावायु की (आंधीरूप) क्रिया भी अदृष्टवान् आत्माओं के संयोगरूप असमवायिकारण तथा अदृष्टरूप निमित्त कारण से उत्पन्न होती है ॥ १२ ॥

उपस्कार—भूकम्प के प्रति अदृष्टवान् आत्मा का संयोग असमवायिकारण होता है यह पूर्वग्रन्थ में कहा गया है, उसके समान अकस्मात् (एकाएक) दिशाओं में दाह होने की कारण तेज, और अकस्मात् वृक्षादिकों के क्षोभ (कम्प) आदि व्याकुलता के कारण प्रभंजन (महावायु-आंधी) की क्रिया जो उत्पन्न होती है उसमें भी अदृष्टवान् आत्माओं का संयोग असमवायिकारण है, तेज और वायु समवायिकारण हैं, अदृष्ट निमित्त कारण है यह सूत्र का अर्थ है। इस सूत्र में कर्म शब्द की दो वार आवृत्ति (कहना) महा उल्कादिकों की क्रिया को सूचित करता है।

अदृष्टवान् आत्माओं के संयोगरूप असमवायिकारण से उत्पन्न होने वाली दूसरी क्रिया को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अग्नेः = अग्नि की, ऊर्ध्वज्वलनं = ऊर्ध्वप्रदेश जलना, वायोः = वायु का, तिर्यक्पवनं = तिरछे बहना, अणूनां=परमाणुओं की, मनसः च=और मन की, आद्यं = प्रथम, कर्म = क्रिया, अदृष्टकारितम्=अदृष्ट से होती है ॥ १२ ॥

कारितम् ॥ १३ ॥

आद्यमिति। सर्गाद्यकालीनमित्यर्थः। तदा नोदनाभिघातादीनामभावात् अदृष्टवदात्मसंयोग एव तत्रासमवायिकारणम्। आद्यमूर्ध्वंज्वलनम् आद्यं तिर्य्यक्पवनमिति। इतरेषां ज्वलनपवनकर्मणां वेगासमवायिकारणकत्वमेव मन्तुमुचितं दृष्टे कारणे-सत्यदृष्टकल्पनानवकाशात् ॥ १३ ॥

अनाद्यं (मनः) कर्माधिकृत्याह—

हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ॥१४॥

मुसलोत्क्षेपणादौ यथा प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारणकं हस्तकर्म तथाऽभिमतविषयग्राहिणोन्द्रिये सन्निकर्षार्थं यन्मनसः कर्म तदपि प्रयत्नवदात्मसंयोगासमवायिकारणकमेव। यद्यपीन्द्रियं मनो न साक्षात्प्रयत्नविषयस्तथापि

भावार्थ—अग्नि की ज्वाला का ऊर्ध्वदेश में जाना, वायु का तिर्यक् (तिरछे चारों तरफ) वहना तथा पृथिव्यादि परमाणुओं से तथा मन से क्रिया की उत्पत्ति होना यह संपूर्ण कर्म अदृष्ट से होते हैं ।। १३ ।।

उपस्कार—सूत्र के आद्य शब्द का अर्थ है सृष्टि के आदि काल का कर्म। क्योंकि उस समय नोदन तथा अभिघात का अभाव होने से अदृष्टवान् आत्माओं का संयोग ही उसमें असमवायिकारण है। सूत्र में अग्नि आदि की ऊर्ध्वप्रदेश में ज्वाला का उठना, तथा वायू का प्रथम तिर्यक् (चारों तरफ) वहना भी लेना चाहिये, क्योंकि आगे की दूसरी और अग्नि तथा वायु की उक्त क्रियाओं में वेग ही को असमवायिकारण मानना उचित है, क्योंकि प्रत्यक्ष दृष्ट वेग कारण के रहते अदृष्ट (न देखने वाले) अदृष्ट को कारण नहीं माना जा सकता ।।१३।।

प्रथम से भिन्न मन की क्रिया के विषय में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—हस्तकर्मणा = मुसलादिकों के उत्क्षेपण में हस्त की क्रिया से, मनसः = मन की, कर्म=क्रिया, व्याख्यातम् = व्याख्या की गई ।। १४ ।।

भावार्थ—मुसलादिकों की उत्क्षेपण क्रिया में जिस प्रकार प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग असमवायिकारण है यह कहा गया है उससे प्रियवस्तु के ग्रहण करने वाले बाह्य इन्द्रियों में संनिकर्ष होने के लिये जो मन में क्रिया होती है वह भी प्रयत्नवान् आत्मा के संयोगरूप असमवायिकारण से ही होती है ।। १४ ।।

उपस्कार—मुसल की उत्क्षेपणादि क्रियाओं में जिस प्रकार प्रयत्नवान् आत्मा को संयोगरूप असमवायिकारण से ही हस्त में ऊर्ध्वगमनरूप क्रिया होती है, उसी प्रकार प्रिय रूप, रस आदि विषयों को ग्रहण करने वाले चक्षु, जिह्वा आदि इन्द्रियों में संनिकर्ष होने के लिये मन की जो क्रिया होती है वह भी प्रयत्नवान् आत्मा के संयोगरूप असमवायिकारण से ही होती है। यद्यपि मनरूप इन्द्रिय में साक्षात् प्रयत्न गुण की विषयता नहीं है, तथापि मन को बहाने वाली मनोवह नाम की नाड़ी

मनोवहनाडीगोचरेण प्रयत्नेन मनसि कर्मोत्पत्तिर्द्रष्टव्या। नाडयास्तु त्वगिन्द्रियग्राह्यत्वमङ्गीकर्त्तव्यम्, अन्यथा प्राणवहनाडीचरेण प्रयत्नेनाशितपीताद्यभ्यवहरणमपि न सम्भवेत् ॥ १४ ॥

ननु मनसि कर्म उत्पद्यत इत्यत्रैव न प्रमाणमत आह—

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥ १५ ॥

सुखदुःखे इत्युपलक्षणं ज्ञानप्रयत्नाद्यपि द्रष्टव्यम्। मनसो वैभवं पूर्वमेव निराकृतम्, अणुत्वञ्च साधितम्, युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिश्च मनसो लिङ्गमित्युक्तम्, तेन तत्तदिन्द्रियप्रदेशेन मनःसंयोगमन्तरेण सुखदुःखे न स्यातामेव यदि मनसि कर्म न भवेत्, न भवेच्च पादे मे सुखं शिरसि मे वेदनेत्याद्याकारोऽनुभव इत्यर्थः। यद्यपि मनःसन्निकर्षाधीनः सर्वोऽप्यात्मविशेषगुणस्तथापि सुखदुःखे तीव्रसंवेगितयाऽतिस्फुटत्वादुक्ते ॥ १५ ॥

विषय का आत्मा के प्रयत्न से मन में क्रिया उत्पन्न होती है यह जानना। उस मनोवह नाड़ी का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है यह अवश्य मानना पड़ेगा नहीं तो प्राण को चलाने वाली प्राणवह नामक नाड़ी में होने वाले आत्मा के प्रयत्न से खाना-पीना आदि भी न हो सकेगा। अर्थात् भोजनादि रूप प्राणवह नाड़ी की क्रिया न होगी, क्योंकि भोजनादिकों में प्रवृत्ति प्राणवह नाड़ी के त्वाच प्रत्यक्ष के कारण से होती है ॥ १४ ॥

मन में क्रिया उत्पन्न होती है इसी में क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसंनिकर्षात् = आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा पदार्थों के संनिकर्ष से, सुखदुःखे = सुख तथा दुःख होते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—आत्मा, बाह्येन्द्रिय, मन तथा पदार्थों के सन्निकर्ष से सुख, दुःख ज्ञानादि गुण आत्मा में उत्पन्न होते हैं इस कारण मन में प्रयत्नवान् आत्मा के मन के साथ संयोगरूप असमवायिकारण से मनरूप समवायिकारण में क्रिया अवश्य माननी होगी ॥ १५ ॥

उपस्कार—सूत्र में सुख और दुःख से ज्ञान, प्रयत्न इत्यादि आत्मा के विशेष गुण भी सूचित होते हैं यह जानना। मन विभु (व्यापक) नहीं है यह पूर्वग्रन्थ में कहा गया है। तथा उसमें अणुपरिमाण भी सिद्ध कर चुके हैं। तथा एककाल में अनेक ज्ञान नहीं होते यह मन का साधक लिङ्ग है यह भी कहा गया है, इससे उन २ बाह्येन्द्रिय प्रदेशों में मन के संयोग के विना सुख-दुःख इत्यादि आत्मा के गुण नहीं ही होंगे यदि मन में क्रिया न हो, और यदि मेरे पाद में सुख (आराम) है किन्तु शिर में वेदना (पीड़ा) है इत्यादि रूप अनुभव न हो, यह सूत्र का आशय है। यद्यपि मन के संनिकर्ष अधीन सभी आत्मा के ज्ञानादि विशेष गुण भी उत्पन्न होते हैं तथापि

नन्वेवं यदि चपलं मनस्तदा चित्तनिरोधाभावाद्योगं विना नात्मसाक्षात्कारो, न वा तमन्तरेण मोक्ष इति शास्त्रारम्भवैफल्यमत आह—

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः संयोगः ॥ १६ ॥

विषयेष्वलम्प्रत्ययवत उदासीनस्य बहिरिन्द्रियेभ्यो व्यावृत्तं मनो यदात्मस्थमात्ममात्रनिष्ठं भवति तदा तत्कर्मानुगुणप्रयत्नाभावात् कर्म मनसि नोत्पद्यते स्थिरतरं मनो भवति स एव योगः। चित्तनिरोधलक्षणत्वाद् योगस्य। तदनारम्भ इति। मनसः कर्मानारम्भ इत्यर्थः। यद्वा तत्पदेन सुखदुःखे एवामि-

---

सूत्रकार ने सुख तथा दुःख इन्हीं दोनों का बड़े वेग से स्पष्ट अनुभव होता है अतः सुख तथा दुःख दो ही गुण सूत्र में लिये अन्य गुण नहीं ॥ १५ ॥

'यदि इस प्रकार मन चंचल है तो चित्त का निरोध न हो सकने से, विना योगाभ्यास के आत्मा का साक्षात्कार न होगा और उसके विना मोक्ष न होगा, जिससे मोक्षार्थ कणाद महर्षि का वैशेषिकशास्त्र का आरंभ करना व्यर्थ हो जायगा इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तदनारम्भः = मन में क्रिया का आरम्भ नहीं होना, आत्मस्थे = आत्मा में स्थित होने पर, मनसि = मन के, शरीरस्य = शरीर का, दुःखाभावः= दुःख का अभाव (होता है) सः = वह, योगः = योग कहाता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—विरक्त प्राणि का बाह्येन्द्रियों के सम्बन्ध से हटा हुआ मन जिस समय केवल आत्मा के स्वरूप में स्थित होता है उस समय मन में क्रिया उत्पन्न होने के अनुकूल आत्मा का प्रयत्न न होने के कारण मन में क्रिया उत्पन्न नहीं होती अर्थात् मन अत्यन्त स्थिर हो जाता है वही योग है अर्थात् उसी समय चित्तनिरोधरूप योग की प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

उपस्कार—शब्दादि सांसारिक विषयों में दुःख का अनुभव करने से 'अलं' (बस अब नहीं चाहिये) ऐसी बुद्धि होने से विषयों में उदासीन प्राणी का बाह्यचक्षुरिन्द्रियादिकों के व्यापार से हटा हुआ मन जिस अवस्था में आत्मा में स्थित केवल आत्मारूप विषय ही में स्थिर हो जाता है उस अवस्था में मन की क्रिया के अनुकूल आत्मा का प्रयत्न न होने के कारण मन में क्रिया उत्पन्न नहीं होती, अत्यन्त स्थिर मन हो जता है वही योग है। क्योंकि 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' अर्थात् मन का सब विषयों से हटना ही योग है ऐसा पतञ्जलि महर्षि द्वारा किया हुआ योगलक्षण के अनुसार चित्तनिरोधरूप यही योग कहलाता है। सूत्र में 'तदनारम्भः' इसका अर्थ है मन की क्रिया का आरम्भ न होना। (आगे संप्रज्ञात योग में भी जाने वाले सामान्य योग के लक्षण के अनुसार शंकरमिश्र 'तदनारम्भः' इस पद की दूसरी व्याख्या करते हैं कि)—अथवा 'तदनारम्भः' इस समस्त पद में 'तत्' इस पद से प्रक्रान्त (प्रस्तुत) होने से सुख और दुःख का ग्रहण होता है। 'दुःखाभाव' इस

धीयेते प्रक्रान्तत्वात्। दुःखाभाव इति। दुःखाभावसाधनत्वाद्योग एव दुःखाभावः "अन्नं वै प्राणाः" इतिवत्। यद्वा दुःखस्याभावो यत्रेति बहुव्रीहिः, शरीरस्येति शरीरावच्छिन्नस्यात्मनः स योग इति 'प्रसिद्धिसिद्धतया तत्पदम्, अयं स योगः। यद्वात्मपदेनात्र प्राण उच्यते उपचारात् प्राणानुमेयत्वादात्मनः। तथाच प्राणवहनाड्यां कर्मणा प्राणकर्मापि जायते। यद्वा जीवनयोनियत्नवदात्मप्राणसंयोगासमवायिकारणकं प्राणकर्म। जीवनयोनिश्च यत्नोऽतीन्द्रियः प्राणसञ्चारानुमेयः, कथमन्यथा सुषुप्त्यवस्थायामपि श्वासप्रश्वासगतागतमिति भावः ॥ १६ ॥

ननु प्राणस्य मनसश्च कर्म यदि प्रयत्ननिमित्तिकं तदा प्राणमनसी यदा

सूत्र के पद का दुःख के अभाव का साधन होने के कारण भोग ही दुःखभाव कहा जाता है जिस प्रकार प्राण के धारण के कारण अन्न को ही 'अन्नं वै प्राणा' अन्न ही प्राण है ऐसा कहा जाता है। (अर्थात् मन के आत्मा में स्थित होने पर भी तथा निदिध्यासन-परम्परा में उपयोगी मन की क्रिया होने पर भी योग हो ही सकता है यह इस पक्ष की व्याख्या का आशय है)। 'यदि दुःखाभाव पद का द्वितीय पक्ष में दुःख के अभाव के साधन ऐसा अर्थ हो तो लक्षणा करना पड़ेगा' (ऐसी शंका के समाधानार्थ शंकरमिश्र तृतीय पक्ष से व्याख्या करते हैं कि)—अथवा दुःख का अभाव जिसमें हो ऐसा बहुव्रीहि समास करना, और 'शरीरस्य' इस पद का शरीरविशिष्ट आत्मा ऐसा अर्थ करना। 'स योगः' यहां 'सः' पद प्रसिद्धिवाचक लेना, यह वह योग है (अर्थात् शरीर के सम्बन्ध से जिस अवस्था में आत्मा को दुःख नहीं होता उसे योग कहते हैं यह तृतीय पक्ष की व्याख्या का आशय है अथवा ऐसा भी चतुर्थ पक्ष से सूत्र का दूसरा अर्थ हो सकता है) कि अथवा सूत्र में आत्मा पद से लक्षणा वृत्ति से प्राणरूप औपचारिक अर्थ करना, क्योंकि प्राण से आत्मा का अनुमान होता है, ऐसा होने से प्राणवह नाडी में क्रिया होने से प्राण में भी क्रिया होती है (अर्थात् तदनंतर में प्राण कर्म का आरम्भ न होने पर, मन के 'आत्मस्थ' अर्थात् प्राण में स्थित होने पर शरीर-सम्बन्ध में आत्मा को दुःख न होना योग है यह चतुर्थ पक्ष का आशय है)। (आगे मन इस पद के आत्मारूप अर्थ करने के आशय से शंकरमिश्र पंचम पक्ष से सूत्र का अर्थ करते हैं कि)—प्राण में क्रिया जीवन योनि नामक प्रयत्नवाले आत्मा तथा प्राण के संयोगरूप असमवायिकारण से उत्पन्न होती है, यह जीवन योनि नामक अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) आत्मा का प्रयत्न प्राणवायु की संचरण क्रिया (श्वास) आदि से अनुमान द्वारा सिद्ध होता है नहीं तो सुषुप्ति अवस्था में भी श्वास तथा प्रश्वास का जाना-आना कैसे हो सकता है यह सूत्र का आशय है ॥ १६ ॥

मरणावस्थायामपसर्पतः-देहाद्बहिर्भवतः, देहान्तरोत्पत्तौ तत्र पुनरुपसर्पतः प्रविशतः, तत्र प्रयत्नाभावात्तदुभयमनुपपन्नम्, अशितपीतं भक्तपानीयादि तस्यापि शरीरावयवोपचयहेतुर्यः संयोगस्तज्जनकं यत् कर्म यच्च गर्भवासदशायां संयोगविभागजनकं कर्म तेषां कथमुत्पत्तिरत आह—

अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ॥ १७ ॥

अत्र 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्यामि'ति नपुंसकनिर्देशः संयोगपदञ्च तत्कारणे कर्मणि लाक्षणिकम्। अपसर्पणं देहारम्भककर्मक्षये देहादेव प्राणमनसोरुत्क्रमणम्, उपसर्पणञ्च देहान्तरोत्पत्तौ तत्र प्राणमनसोः प्रवेशनम्, अशितपीतादिसंयोगहेतुश्च कर्म, कार्यान्तरं गर्भशरीरं तत्संयोगहेतुश्च यत्

'यदि प्राण और मन की क्रिया प्रयत्न से होती है तो जब मरण की अवस्था में प्राणवायु तथा मन शरीर से निकलते हैं अर्थात् शरीर से बाहर होते हैं, और दूसरे शरीर के उत्पन्न होने पर उसमें पुनः उपसर्पण अर्थात् प्रवेश करते हैं वहां आत्मा के प्रयत्न न होने से वह निकलना तथा प्रवेश करना दोनों नहीं बन सकता, तथा भक्षण किया हुआ अन्न एवं पीया हुआ जल इत्यादि उनका भी जो शरीर के उपचय (वृद्धि) का कारण संयोग उसको उत्पन्न करने वाली क्रिया, एवं जो गर्भवास अवस्था में संयोग तथा विभाग को उत्पन्न करने वाली क्रियायें होती हैं उनकी भी उत्पत्ति कैसे होती है', इस आक्षेप के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—उपसर्पणं=प्रवेश करना, अपसर्पणं=निकलना, अशितपीतसंयोगाः= खाये हुए अन्न तथा पीये हुए जल के संयोग, कार्यान्तरसंयोगाः च = और दूसरे कार्यों के भी संयोग, इति = यह संपूर्ण, अदृष्टकारितानि=आत्माओं के अदृष्ट से किये जाते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—मरणावस्था में (प्राण तथा मन का) पूर्वशरीर से निकल कर उत्तरशरीर में प्रवेश करना तथा शरीर की वृद्धि के कारण खाये हुए अन्न एवं पीये हुए जल का संयोग उत्पन्न करने वाली क्रिया एवं गर्भावस्था में संयोग को उत्पन्न करने वाली दूसरी क्रियायें भी भोक्ता प्राणियों के अदृष्ट से होती हैं ॥ १७ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' इस पाणिनीय व्याकरण-सूत्र के नियमानुसार, अर्थात् नपुंसकलिङ्ग-भिन्न शब्दों के साथ नपुंसकलिङ्ग और एकवचन होता है विकल्प से इस कारण 'संयोगाः' इस पुंल्लिङ्ग-बहुवचन के साथ आये हुए 'उपसर्पणं अपसर्पणं' यह दोनों नपुंसकलिङ्ग एकवचन का निर्देश (कथन) है ॥ सूत्र में 'अदृष्टकारितानि' ऐसी उक्ति से संयोगादिक अदृष्ट कारणवाले हैं तथा उनकी मूलरूप क्रिया अदृष्टवान् आत्मा के संयोगरूप निमित्त से होती है। (इस आशय से शंकरमिश्र आगे कहते है)—सूत्र में संयोग पद उसके कारण क्रियारूप अर्थ

कर्म तत् सर्वमदृष्टवदात्मसंयोगासमवायिकारणकम् । इतिकारेण धातुमलकर्मणामप्यदृष्टवदात्मसंयोगासमवायिकारणकत्वं सूचयति ॥ १७ ॥

ननु देहान्तरोत्पत्तेरावश्यकत्वञ्चेत्तदा कथं मोक्ष इत्यत आह—

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ॥ १८ ॥

इदमत्राकूतं—योगबलेनात्मतत्त्वसाक्षात्कारे सति तेन च सवासनमिथ्याज्ञाने ध्वस्ते तन्निबन्धनानां रागद्वेषमोहानां दोषाणामपायात् प्रवृत्तेरपाये तन्निबन्धनस्य जन्मनोऽपाये तन्निबन्धनस्य दुःखस्यापाय इति तावद्वस्तुगतिः । तत्र योगिनो योगजधर्मबलेन तत्तद्देशकालतत्तत्तुरगमतङ्गजविहङ्गमादिदेहोपभोग्यसुखदुःखा-

---

को बोध करने के कारण लाक्षणिक है। पूर्वशरीर के उत्पादक कर्मों का नाश होने पर शरीर से ही प्राण तथा मन के उत्क्रमण (निकलने) को (अपसर्पण) कहते हैं। दूसरे शरीर के उत्पन्न होने पर उसमें प्राण तथा मन के प्रवेश को उपसर्पण कहते हैं तथा खाये हुए अन्न एवं पीये हुए जल के संयोग की कारण क्रिया, तथा कार्यान्तर अर्थात् गर्भ में वर्तमान शरीर, उसके संयोग का भी कारण जो क्रिया होती है। यह संपूर्ण अदृष्टवान् आत्मा के संयोगरूप असमवायिकारण से होती है। सूत्र के 'इति' इस पद से शरीर के मध्य में धातु, मल इत्यादिकों की क्रियायें भी अदृष्टवान् आत्मा के संयोगरूप असमवायिकारण से उत्पन्न होती है यह सूचित होता है ॥१७॥

"यदि शरीरान्तर (दूसरे शरीर) की उत्पत्ति होना आवश्यक है तो मोक्ष कैसे होगा' इस शंका के उत्तर में सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—तदभावे=भविष्य शरीर के न होने पर, संयोगाभावः = संयोग का अभाव, अप्रादुर्भावः च = और प्रगट न होना भी, मोक्षः=मोक्ष कहलाता है ॥ १८ ॥

भावार्थ=आत्मसाक्षात्कार से मिथ्याज्ञान के नष्ट होने पर दोष तथा प्रवृत्ति के नाश के कारण जन्म न होने के कारण पुनः शरीर का संबन्ध न होना रूप मोक्ष होता है ॥ १८ ॥

उपस्कार—यहां सूत्र का यह आकूत (अभिप्राय) है कि—योगसमाधिबल से आत्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होने पर उससे वासना-सहित मिथ्याज्ञान का ध्वंस होने के कारण मिथ्याज्ञान से होने वाले राग, द्वेष तथा मोह रूप तीनों दोषों के उत्पन्न न होने से पुण्य तथा पापरूप प्रवृत्ति के न होने से प्रवृत्ति-मूलक जन्म का अपाय (उत्पत्ति न) होने पर जन्म के कारण होनेवाले दुःख का अपाय (अनुत्पत्ति) होती है यह वास्तविक सिद्धान्त है। उसमें योगी का समाधि से उत्पन्न बल से उस-उस देश तथा काल में अश्व, गज, सर्प, पक्षी आदि शरीरों में भोग करने के योग्य सुख तथा दुःख के विशेष कारण धर्म तथा अधर्म के समूह का एक समय भोग करने का विचार कर उन-उन उक्त शरीर-समूह को लेकर सुख-

साधारणकारणधर्मनिकुरम्बमालोच्य तत्तत्कायव्यूहं निर्वाह्य भोगेन पूर्वोत्पन्नधर्माधर्मयोः क्षयः, निवृत्तदोषस्य धर्माधर्मान्तरानुत्पत्तावपूर्वशरीरान्तरानुत्पत्तौ पूर्वशरीरेण सहात्मनो यः संयोगाभावः स एव मोक्षः तदभाव इति। अनागतशरीरानुत्पादे संयोगाभाव इत्यर्थः। नन्वियमवस्था प्रलयसाधारणीत्यत आह-अप्रादुर्भाव इति। यदनन्तरं शरीरादेः पुनः प्रादुर्भावो न भवतीत्यर्थः। स मोक्ष इति। तस्यामवस्थायां यो दुःखध्वंसः स मोक्ष इत्यर्थः॥ १८॥

ननु तमसोऽपि द्रव्यस्य कर्म दृश्यते चलति छायेतिप्रत्ययात्, तत्र न प्रयत्नो न वा नोदनाभिघातौ न वा गुरुत्वद्रवत्वे न वा संस्कारस्तथा च निमित्तान्तरं वक्तव्यं तच्च नानुभूयमानमित्यत आह—

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिधर्म्यादभावस्तमः॥ १९॥

एतेन नवैव द्रव्याणीत्यवधारणमप्युपपादितम्। द्रव्यनिष्पत्तिस्तावत्

दुःख में भोग करने के कारण पूर्व में उत्पन्न हुए धर्म तथा अधर्म का नाश हो जाता है पूर्वोक्त प्रकार से योगजबल ही से दोषों के निवृत्त होने के कारण दूसरे धर्म तथा अधर्मों की उत्पत्ति न होने में अपूर्व दूसरे शरीर की उत्पत्ति न होने से भी प्रथम शरीर के साथ जो आत्मा के संयोग का नष्ट होना ही मोक्ष है। 'तदभावे इस सूत्र के पद का भविष्य शरीर के उत्पन्न न होने पर संयोग का अभाव होता है यह अर्थ है। यह अवस्था तो प्रलय में भी होती है। इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार ने 'अप्रादुर्भावः' ऐसा सूत्र में कहा है। जिसके पश्चात् पुनः शरीर इन्द्रिय-आदिकों का प्रादुर्भाव (प्रगटना) नहीं होती यह अर्थ है। 'समोक्षः' इस सूत्र के वाक्य का उस अवस्था में जो दुखों का ध्वंस (नाश) है उसे मोक्ष कहते हैं यह अर्थ है॥१८॥

तम (अन्धकार) नामक द्रव्य की भी क्रिया 'चलति छाया' परछांही चलती है ऐसा ज्ञान होने के कारण देखने में आती है, उसमें न प्रयत्न है न नोदन तथा अभिघात नाम के संयोग अथवा गुरुत्व तथा द्रवत्व भी या न संस्कार वेग है, इस कारण इस ज्ञान का कोई दूसरा कारण कहना पड़ेगा, किन्तु उसका अनुभव नहीं होता (अतः इसमें क्या कारण है, इस शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यात्=द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थ की सिद्धि के विरुद्धधर्म होने के कारण, अभावः = तेजद्रव्य का अभावरूप है, तमः= अन्धकार॥ १९॥

भावार्थ—छाया चलती है यह ज्ञान भ्रमात्मक होने के कारण, तथा द्रव्य, गुण और कर्म पदार्थ के लक्षण अन्धकार में न होने से तम तेजद्रव्य का अभावरूप है॥ १९॥

उपस्कार—एतेन (सूत्र के तम अभाव पदार्थ है यह कहने से) पृथिवी आदि

स्पर्शवद्द्रव्याधीना । न च तमसि स्पर्शोऽनुभूयते । न चानुद्भूत एव स्पर्शः, रूपोद्भवे स्पर्शोद्भवस्यावश्यकत्वात् । पृथिव्यामय नियमः तमस्तु दशमं द्रव्यमिति चेन्न द्रव्यान्तरस्य नीलरूपानधिकरणत्वात् नीलरूपस्य च गुरुत्वेनान्तरीयकत्वात्, रसगन्धनान्तरीयकत्वाच्च । यथाऽऽकाशं शब्दमात्रविशेषगुणं तथा तमोऽपि नीलरूपमात्रविशेषगुणं स्यादिति चेन्न चाक्षुषत्वविरोधात् । यदि हि नीलरूपवन्नीलं रूपमेव वा तमः स्यात् बाह्यालोकप्रग्रहमन्तरेण चक्षुषा न गृह्येत ॥ १९ ॥

तर्हि गतिप्रतीतिः किन्निबन्धनेत्यत आह—

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ॥ २० ॥

गच्छता द्रव्यान्तरेणावृते तेजसि पूर्वदेशानुपलम्भादग्रिमदेशे चोपलम्भात्ते

मन पर्यन्त नव ही द्रव्य हैं यह अवधारण (निर्णय) कहा गया है । द्रव्य की सिद्धि स्पर्शाश्रय द्रव्यों के अधीन होती है और तम में स्पर्श का अनुभव नहीं होता । "तम में अनुद्भूत (अप्रगट) ही स्पर्श है" यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रूप के उद्भूत होने पर स्पर्शका उद्भूत होना आवश्यक है । यदि 'पृथिवी द्रव्य में उक्त नियम है, किन्तु तम तो दशम द्रव्य है' ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि पृथिवी को छोड़कर दूसरा द्रव्य नीलरूप का आधार नहीं होता, और नीलरूप की गुरुत्व गुण के साथ व्याप्ति है, रस और गन्ध की भी नीलरूप के साथ व्याप्ति है, अर्थात् नीलरूपाश्रय में गुरुत्व रस तथा गन्ध अवश्य होते हैं (अतः तम में गुरुत्व, रस तथा गन्ध न होने से नीलरूप की प्रतीति भ्रम है) । यदि 'जिस प्रकार आकाश द्रव्य केवल शब्दरूप विशेष गुण का आधार है उसी प्रकार तम में केवल नीलरूप विशेष गुण मानेंगे' ऐसा तम को द्रव्य मानने वाला पूर्वपक्षी कहे, तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि चाक्षुषप्रत्यक्ष होने का विरोध होता है, क्योंकि यदि नीलरूप का आधार अथवा नीलरूप ही अन्धकार हो तो, बाह्यप्रकाश के प्रग्रह (स्वीकार) के विना चक्षुइन्द्रिय से गृहीत न होगा ॥ १९ ॥

'तो आदितम अभाव है तो उसमें 'तमः चलति' अन्धकार चलता है ऐसा उसमें गति क्रिया के ज्ञान का क्या कारण है ? इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तेजसः=तेजद्रव्य के, द्रव्यान्तरेण=चलने वाले दूसरे द्रव्य से, अवरणात् च=आवरण होने से भी (तम चलता है) ऐसे भान से प्रतीति होती है ॥२०॥

भावार्थ—चलने वाले शरीरादि रूप दूसरे द्रव्य से आवरण (आच्छादन) होने से भी अन्धकार चलता है ऐसी औपाधिक प्रतीति होती है नकि वस्तुतः अभावरूप तम पदार्थ में रूप की आश्रयता है ॥ २० ॥

उपस्कार—तेज द्रव्य के गमन करने वाले दूसरे द्रव्य से आवृत (घिरे)

जोऽभावस्य गच्छद्द्रव्यसाधर्म्याद् मतिभ्रमो न तु वास्तवी तत्र मतिरित्यर्थः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तथा प्रतीतेः उद्भूतरूपवद्यावत्तेजःसंसर्गाभावस्तमः॥२०॥

एवं द्विसूत्रकं प्रासङ्गिकं तमःप्रकरणं समाप्य कर्मशून्यताप्रकरणमाह—

दिक्कालावाकाशञ्च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ॥ २१ ॥

चकारादात्मसंग्रहः। क्रियावता वैधर्म्यं दिगादीनाममूर्तत्वं मूर्त्यनुविधानात् क्रियायाः ॥ २१ ॥

गुणकर्मणोर्निष्क्रियत्वमाह—

एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ॥ २२ ॥

रहने पर पूर्व (पीछे) के प्रदेश का प्रत्यक्ष न होने, तथा आगे के देश में प्रत्यक्ष होने के कारण, तेज के अभाव में गमन करने वाले द्रव्य के गतिरूप समानधर्म होने से अन्धकार में गमनक्रिया का भ्रम होता है किन्तु उस तम में वास्तविक (सत्य) रूप गमन नहीं है यह सूत्र का अर्थ है। क्योंकि अन्वय तथा व्यतिरेक (तेज के पीछे आवरक द्रव्य के रहने पर तम चलता है यह प्रतीति होती है न रहने से नहीं होती) ऐसा प्रतीत होता है। तस्मात् उद्भूतरूपाश्रय संपूर्ण तजोद्रव्यों का संसर्गाभाव ही तम पदार्थ है ॥ २० ॥

इस प्रकार प्रसङ्ग से प्राप्त दो सूत्र में तम का प्रकरण समाप्त कर क्रम से शून्य पदार्थों के निरूपण का प्रकरण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—दिक्कालैः = दिशा तथा काल द्रव्य, आकाशं च = और आकाश द्रव्य भी, क्रियावद्वैधर्म्यात् = क्रियावान् द्रव्यों के विरुद्ध धम होने से, निष्क्रियाणि = क्रिया से शून्य हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ—क्रियावाले पृथिवी आदि द्रव्य मूर्त होते हैं वह मूर्तता दिशा, काल तथा आकाश में न होने के कारण आकाशादिक द्रव्य निष्क्रिय (क्रियारहित) हैं क्योंकि क्रिया मूर्त द्रव्यों में ही रहती है ॥ २१ ॥

उपस्कार—सूत्र के चकार से आत्मा का भी संग्रह होता है क्रियाधार पृथिव्यादि द्रव्यों के साथ दिशा कालादियों में अमूर्तता विरुद्ध धर्म है, क्योंकि क्रिया मूर्तता के साथ रहती है ॥ २१ ॥

गुण तथा कर्म पदार्थों में भी निष्क्रियत्व है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एतेन = इस क्रियावानों के विरुद्ध धर्म के कथन से, कर्माणि=कर्मपदाथ, गुणाः च = और गुणपदार्थ भी, व्याख्याताः = व्याख्या किये गये ॥ २२ ॥

भावार्थ—उक्त सूत्र में कहे हुए क्रियावाले द्रव्यों के अमूर्ततारूप विरुद्धधर्म के कथन से गुण तथा कर्म पदार्थों में भी अमूर्तता होने से गुण तथा कर्म भी क्रियारहित हैं यह कहा गया ॥ २२ ॥

एतेनेति । क्रियावद्वैधर्म्येणेत्यर्थः क्रियावद्वैधर्म्यममूर्तत्वं गुणकर्मणोरपीति ते अपि निष्क्रियत्वेन व्याख्याते इत्यर्थः ॥ २२ ॥

ननु गुणकर्मणी यदि निष्क्रिये तदा ताभ्यां द्रव्यस्य कथं सम्बन्धः ? संयोगसम्बन्धः सम्भाव्येत स च कर्माधीन एवेत्यत आह—

निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यो निषिद्धः ॥ २३ ॥

निष्क्रियाणां गुणकर्मणां समवाय एव सम्बन्धः, स च कर्मभ्यो निषिद्धः तस्य सम्बन्धस्य उत्पत्तिरेव नास्ति दूरे तु कर्माधीनतेत्यर्थः ॥ २३ ॥

ननु यद्यमूर्तत्वात् गुणाः कर्मसमवायिकारणं न भवन्ति तदा गुणैर्गुणाः कर्माणि च कथमुत्पद्यन्ते न हि समवायिकारणातिरिक्तस्वरूपेणापि कारणता सम्भवतीत्यत आह—

उपस्कार—सूत्र के 'एतेन' इस पद का अर्थ है क्रियावाले द्रव्यों के अमूर्तता-रूप विरुद्ध धर्म से । क्रियावाले पृथिव्यादि द्रव्यों का अमूर्ततारूप वैधर्म्य गुण तथा कर्म पदार्थों में भी है इस कारण वे भी निष्क्रिय हैं यह व्याख्या किया गया यह सूत्र का अर्थ है ॥ २२ ॥

यदि गुण तथा कर्मपदार्थ क्रियारहित हों तो उन दोनों से द्रव्य का सम्बन्ध कैसे होगा । संयोग सम्बन्ध ही होने की सम्भावना है, और वह तो क्रिया के ही अधीन है अर्थात् इस कारण गुण और कर्म क्रियारहित नहीं हो सकते'—इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—निष्क्रियाणां = क्रियारहित गुण तथा कर्म का, समवायः = समवाय-सम्बन्ध होता है, कर्मभ्यः = जो क्रिया से उत्पन्न, निषिद्धः = (नित्य होने से कर्माधीन नहीं है इस प्रकार) निषिद्ध है ॥ २३ ॥

भावार्थ—क्रियारहित गुण तथा कर्मपदार्थों का द्रव्यों के साथ समवायसम्बन्ध ही होता है जो नित्य होने के कारण कर्म से ही उत्पन्न है यह नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

उपस्कार—क्रियारहित गुण तथा कर्मपदार्थों का समवाय ही (द्रव्य पदार्थों के साथ) सम्बन्ध होता है, और वह कर्म पदार्थों से निषिद्ध है अर्थात् उस समवाय की नित्य होने के कारण जब उत्पत्ति नहीं होती तो कर्म से उत्पन्न होता है यह तो दूर रहा–यह सूत्र का अर्थ है ॥ २३ ॥

यदि 'अमूर्त होने के कारण गुण पदार्थ क्रिया के समवायिकारण नहीं होते तो गुणों से गुण तथा कर्म कैसे उत्पन्न होते, क्योंकि समवायिकारणता से भिन्नरूप से कारणता नहीं हो सकती' इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

कारणन्त्वसमवायिनो गुणाः ॥ २४ ॥

गुणा असमवायिकारणं न तु समवायिकारणमपि येन कर्माधाराः स्युः। सा चासमवायिकारणता क्वचित् कार्यैकार्थसमवायात् यथाऽऽत्मनः संयोगस्यात्मविशेषगुणेषु संयोगविभागशब्दानां शब्दे। क्वचित् कारणैकार्थसमवायात् यथाऽऽत्ममनः संयोगस्यात्मविशेषगुणेषु संयोगविभागशब्दानां शब्दे। क्वचित् कारणैकार्थसमवायात् यथा कपालादिरूपादीनां घटादिरूपादिषु ॥२४॥

ननु इह कर्मोत्पद्यते इदानीं कर्मोत्पद्यते इत्यादिप्रतीतिबलात् दिक्कालावपि कर्मसमवायिकारणे एव, कथमन्यथा तत्र तयोराधारतेत्यत आह—

गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥ २५ ॥

यथा गुरुत्वादयो गुणा न कर्मसमवायिकारणममूर्तत्वात् तथा दिगपि

पदपदार्थ—कारणं तु = किन्तु कारण होते हैं, असमवायिनः = असमवायिरूप, गुणाः = गुण पदार्थ ॥ २४ ॥

भावार्थ—यद्यपि अमूर्त होने से गुण किसी कार्य के समवायिकारण नहीं हो सकते, तथापि असमवायिकारण हो सकते हैं, यदि समवायिकारण हो तो उनमें क्रियाधारता माननी होगी ॥ २४ ॥

उपस्कार—गुण पदार्थ असमवायिकारण होते हैं न कि समवायिकारण, जिससे गुण पदार्थ क्रिया के आश्रय हों और वह असमवायिकारणता कहीं-कहीं कार्य के साथ एक पदार्थ में संनिकर्ष होने से होती है, जैसे आत्मा तथा मन का संयोग आत्मा के ज्ञानादि रूप विशेष गुणों में तथा शब्द में संयोग, विभाग तथा शब्द (क्योंकि ज्ञान शब्द आदि कार्य एक आत्मा तथा आकाश पदार्थ में रहते हैं और वही आत्मा तथा मन का संयोग, और संयोगादिक रहते हैं)। कहीं-कहीं समवायिकारण के साथ एक पदार्थ में संनिकर्ष से, जैसे कपालादिकों के रूपादि गुण घटादि रूपादिकों में (क्योंकि घट रूप का समवायिकारण घटकपालरूप एक पदार्थ में रहता है और वही कपालरूप भी) ॥ २४ ॥

"यहां क्रिया उत्पन्न होती है, इस समय उत्पन्न होती है' इत्यादि प्रतीति के बल से दिशा तथा कालद्रव्य भी क्रिया के समवायिकारण हैं ही, नहीं तो उनमें क्रियाश्रयता कैसे होगी" इस शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—गुणैः = गुण पदार्थों से, दिग् = दिशा द्रव्य भी, व्याख्याता = कही गयी ॥ २५ ॥

भावार्थ–जिस प्रकार गुण पदार्थ अमूर्त होने से ही क्रिया के समवायिकारण नहीं हैं उसी प्रकार दिशा भी अमूर्त होने से ही क्रिया का समवायिकारण नहीं है ॥२५॥

उपस्कार—जिस प्रकार गुरुत्वादि गुण अमूर्त होने से ही क्रिया के समवायिकारण नहीं होते उसी प्रकार दिशाद्रव्य भी अमूर्त होने से हीं क्रिया की समवायिकारण नहीं

न कर्मसमवायिकारणमूर्तत्वादेवेत्यर्थः। आधारता तु समवायितामन्तरेणापि, कुण्डे बदराणि, कुण्डे दधि, वने सिंहनाद इत्यादिवदुपपद्यत इति भावः॥२५॥

उक्तेनैवाभिप्रायेणाह—

कारणेन कालः ॥ २६ ॥

निष्क्रियत्वेन व्याख्यात इति परिणम्यानुषङ्गः। कारणेनेति भावप्रधानो निर्देशः, तेन निमित्तकारणत्वेनाधारमात्रं कर्मणः कालो न तु समवायीत्यर्थः ॥ २६ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।
समाप्तश्चायं पञ्चमाध्यायः।

होता यह सूत्र का अर्थ है, आश्रय होना तो विना समवायिकारण होने पर भी होता है, जैसे इस कूंडी में वैर है, इस कूंडी में दही है, वन में सिंह की आवाज है इत्यादि प्रतीति में वैर आदिकों की कूंडी आदि समवायिकारण न होने पर भी वैर इत्यादिकों का आधार होता है। इस प्रकार यह भी हो सकता है यह सूत्र का आशय है ॥ २५ ॥

इसी अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कारणेन = निमित्तकारणरूप से, कालः=कालद्रव्य (कहा गया) ॥ २६ ॥

भावार्थ—द्रव्य के समान कार्यमात्र में निमित्तकारण काल निष्क्रिय होता हुआ सर्वाधार है यह कहा गया ॥ २६ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'निष्क्रिय रूप से व्याख्या किया गया' इस प्रकार पूर्वसूत्र के स्त्रीलिङ्ग 'व्याख्याता' इस शब्द का काल शब्द पुंल्लिंग होने के कारण पुंल्लिङ्गमें परिणाम कर सम्बन्ध करना। सूत्र में 'कारणेन' यह धर्म को प्रधान लेकर कहा गया है, जिससे निमित्तकारणता काल में होने से यह क्रिया में आश्रयमात्र है, न कि समवायिकारण यह सूत्र का अर्थ है ॥ २६ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्रकृत वैशेषिकसूत्रोपस्कार व्याख्या में पंचम अध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त। तथा पंचमाध्याय भी समाप्त।



षष्ठाध्याये प्रथमाह्निकम्

संसारमूलकारणयोर्धर्माधर्मयोः परीक्षा षष्ठाध्यायार्थः। धर्माधर्मौ च "स्वर्गकामो यजेत" 'न कलञ्जं भक्षयेत्" इत्यादिविधिनिषेधबलकल्पनीयौ विधिनिषेधवाक्ययोः प्रामाण्ये सति स्याताम्। तत्प्रामाण्यञ्च वक्तुर्यथार्थवाक्यार्थज्ञानलक्षणगुणपूर्वकत्वादुपपद्यते स्वतः प्रामाण्यस्य निषेधादतः प्रथमं वेदप्रामाण्यप्रयोजकगुणसाधनमुपक्रमते—

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ १ ॥

संसार के मूल कारण धर्म तथा अधर्म की परीक्षा संपूर्ण षष्ठ अध्याय का विषय है। जिन धर्म तथा अधर्म की सत्ता 'स्वर्गकामो यजेत' स्वर्गसुख की इच्छा करनेवाला मनुष्य याग करे, तथा 'न कलञ्जं भक्षयेत्' कलंज न खाये' इत्यादि शास्त्र में विधान तथा निषेध वाक्यों के बल से मानी जाती है (अर्थात् याग अपने से उत्पन्न व्यापार की आश्रयतारूप सम्बन्ध से स्वर्गरूप फल का उत्पादक है, स्वर्गरूप फल की उत्पत्ति के पूर्वक्षण में न रहते हुए स्वर्गरूप फल का 'कालान्तर में जनक होने से, कालान्तर में स्मरण के जनक पूर्व अनुभव के समान' इस अनुमान से अनुमेय हैं।) किन्तु उक्त विधि तथा निषेध वाक्यों में प्रमाणता होने से ही धर्म तथा अधर्म की सत्ता सिद्ध होगी। उक्त विधि तथा निषेध वाक्यों में उन वाक्यों के वक्ता के उन वाक्यों के यथार्थ ज्ञानस्वरूप गुणपूर्वक होने से ही प्रमाण हो सकता है। (अर्थात् उक्त विधि-निषेध वाक्य से उत्पन्न यथार्थ शाब्दज्ञान में उक्त वाक्य के वक्ता में वर्तमान उक्तवाक्यविषयक यथार्थ ज्ञान का कारण होने के कारण उक्त ज्ञानरूप-गुणपूर्वक होने से ही उक्त वाक्यों के शाब्दज्ञान में यथार्थत्व होने से उसके कारण में प्रमाणता निर्विवाद सिद्ध होती है)। क्योंकि न्यायमत में आगम में स्वयं प्रामाण्य नहीं माना जाता। (अर्थात् ज्ञान की ग्राहक-सामग्री ही से ज्ञान में प्रामाण्य ग्रहण नहीं माना जा सकता क्योंकि अप्रमा (अयथार्थ ज्ञान) में भी ज्ञान की सामग्री से ग्रहण होना समान होने के कारण वह भी यथार्थ प्रमा ज्ञान हो जायगा, अतः नैयायिक ज्ञान-सामग्री ग्राह्यतारूप स्वयं प्रामाण्य ज्ञान में नहीं मानते), इस कारण प्रथम वेदरूप आगम में प्रामाण्य के प्रयोजक का वर्णन करने का आरम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—बुद्धिपूर्वा = ज्ञानपूर्वक है, वाक्यकृतिः = वाक्यों की रचना, वेदे = वेद में ॥ १ ॥

वाक्यकृतिर्वाक्यरचना सा बुद्धिपूर्वा-वक्तृयथार्थवाक्यार्थज्ञानपूर्वा वाक्यरचनात्वात् नदीतीरे पञ्चफलानि सन्तीत्यस्मदादिवाक्यरचनावत् । वेद इति,-वाक्यसमुदाय इत्यर्थः । तत्र समुदायिनां वाक्यानां कृतिः पक्षः । न चास्मदा-

---

भावार्थ—जो-जो प्रामाणिक वाक्यरचना होती है वह-वह वक्ता के यथार्थ वाक्यार्थ के ज्ञानपूवक होती है, वाक्यरचना होने से नदी किनारे पांच फल हैं, इस हम लोगों के वाक्य की रचना के समान' इस अनुमान से वेद का वक्ता आप्तपुरुष है जिसके यथार्थ वेद वाक्यार्थ ज्ञान गुण से उत्पन्न होने के कारण वेद में प्रामाण्य है—यह सिद्ध होता है ॥ १ ॥

उपस्कार—सूत्र के 'वाक्यकृति' शब्द का अथ है 'वाक्यों की रचना, बुद्धिपूर्वक अर्थात् वाक्य वक्ता के यथार्थ वाक्यार्थ ज्ञानपूर्वक है, वाक्यरचना होने से नदी के तीर पर पांच फल हैं, इत्यादि हम जीवात्माओं की वाक्यरचना के समान' यह अनुमान सूत्र से सूचित होता है (इस अनुनान में वाक्यरचनारूप हेतु का प्रमाणभूत वाक्यरचना ऐसा अर्थ करना, नहीं तो विप्रलम्भक (ठगनेवालों) के वाक्य में व्यभिचार दोष आ जायगा । आकांक्षा-योग्यतादि युक्त पदसमुदायरूप रचना वक्ता के यथार्थज्ञानपूर्वक इस प्रकार होती है—कि प्रथम वक्ता को वाक्यार्थ विषय में यथार्थ ज्ञान होता है, अनन्तर उस वाक्यार्थ-ज्ञान में प्रामाण्य ज्ञान होता है, इसके पश्चात् मेरे वाक्य को सुननेवाले मनुष्य को इस वाक्य से यथार्थ ज्ञान हो ऐसी इच्छा होती है, पश्चात् दूसरे को उस वाक्य से यथार्थ ज्ञान होना मुझे इष्ट है ऐसे ज्ञान से वाक्य करने की इच्छा होती है, पश्चात् मैं इस वाक्य को कह सकता हूं इस प्रकार कृतिसाध्यता ज्ञान की सहायता से वाक्यरूप इष्टसाधनता. ज्ञान से कण्ठ, तालु आदि शब्द के उत्पादक अभिघातसंयोग करने की इच्छा होकर वक्ता की वाक्य बोलने में प्रवृत्ति होती है जिससे कण्ठ-तालु आदिकों का अभिघात रूप वाक्य का उच्चारण होता है, जिससे प्रमाण शब्दरूप वाक्य उत्पन्न होता है, किन्तु यह प्रक्रिया नवीन नैयायिकों के मत से है क्योंकि उनके मत से शाब्द ज्ञान में वाक्यार्थ के यथार्थज्ञानवान् पुरुष से यह वाक्य उच्चरित है, इस निश्चय के समान शाब्द ज्ञान की यथार्थवतामें वाक्यार्थ के यथार्थ ज्ञानवाले पुरुष से उच्चारित है इसमें यथार्थता भी कारण है । कारणरूप यथार्थता वक्ता के यथार्थज्ञान के विना नहीं हो सकती इत्यादि विषय विद्वानों को स्वयं विचार लेना चाहिये)।(आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—सूत्र में 'वेदे' इस पद का वेदवाक्यों के समूहमें । उसमें समुदायवाले वाक्यों की रचना उक्त अनुमान में पक्ष है । पूर्वपक्षी यह नहीं कह सकता कि 'हमारे ऐसे जीवात्माओं की कृति लेकर वेद-वाक्यों में अन्यथासिद्धि (अर्थात् जीवात्मा-कृत वेदवाक्य-रचना होने से वेदवक्ता ईश्वर की सिद्धि न हो

दिबुद्धिपूर्वकत्वेनान्यथासिद्धिः, "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादाविष्टसाधनतायाः कार्य्यताया वा अस्मदादिबुद्ध्यगोचरत्वात्। तेन स्वतन्त्रपुरुषपूर्वकत्वं वेदे सिद्ध्यति। वेदत्वञ्च शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविषयार्थकत्वे सति शब्दजन्यवाक्यार्थज्ञानाजन्यप्रमाणशब्दत्वम्॥ १॥

सकेगी) क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' स्वर्गसुख की इच्छा करने वाला याग करे—इत्यादि वेदवाक्यों में पूर्वप्रदर्शित प्रकार से इष्टसाधनताज्ञान अथवा कार्यताज्ञान हमारे ऐसे जीवात्माओं की बुद्धि का विषय नहीं हो सकता। (यह कार्यतारूप द्वितीय पक्ष मीमांसक गुरुओं के मत से है, क्योंकि वे लिङ् लकार की कार्य में शक्ति मानते हैं। जिससे 'यजेत' इस शब्द से 'याग मेरे कृति के साध्य है' (याग मैं कर सकता हूं) । इस प्रकार याग करने की प्रवृत्ति में उपयोगी शाब्दज्ञान होता है, जिससे सुननेवाला याग कर्म करने में प्रवृत्त होता है। और न्यायमत में 'याग मेरे इष्ट का साधक है' इस प्रकार इष्टसाधनता-ज्ञान आख्यात का अर्थ है, इस कारण न्यायमत से लिङ् के सुनने पर इष्टसाधनता-ज्ञान से ही यागकर्म में प्रवृत्ति होती है। ऐसा होने से याग के फलरूप इष्ट (प्रिय) स्वर्ग के हमारे ऐसे जीवात्माओं की बुद्धि के विषय न होने के कारण वेदवाक्य से ही यागकर्म में स्वर्ग का याग साधन है यह बोध होता है, अतः अन्यथासिद्धि दोष नहीं हो सकता। (शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—हम जीवों की बुद्धि के विषय न होने के कारण (अर्थात् जीवों के वाधज्ञानसहित वेदवाक्यों के यथार्थ ज्ञानवाले वक्ता के होने कारण) वेद में स्वतंत्र (ईश्वररूप) वक्ता से उक्त होना सिद्ध होता है। वेद में—शब्द ज्ञान तथा शब्द के उपजीवी (शब्दानुसार चलनेवाले) अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से भिन्न जो प्रमाण उनके विषय न होते हुए शब्द से उत्पन्न वाक्यार्थ-ज्ञान से उत्पन्न न होने वाले प्रमाण शब्दरूप होना ही वेदत्व है (अर्थात् यह वेद का लक्षण है)-व्यास के प्रत्यक्ष से देखाये हुए महाभारत युद्ध के वृत्तान्त में अतिव्याप्ति कारण के लिये उक्त वेद के लक्षण में 'सति' तक विशेषण पद दिया है। तथा असंभव दोष के वारणार्थ प्रमिति में जन्यपर्यन्त विशेषण दिया है। यदि शब्दज्ञान से भिन्नता मात्र प्रमाण में विशेषण दें तो वेद के विषय अनुमान ज्ञान के विषय होने से असंभव दोष, तथा शब्दोपजीवी प्रमाण से भिन्नतामात्र विशेषण दें तब भी असम्भव दोष होगा, क्योंकि प्रमाणरूप वेदरूप शब्द ज्ञान से (जो शब्द ज्ञान के उपजीवि प्रमाणों से भिन्न है) वेद के अर्थ का ज्ञान होता है, अतः दोनों विशेषण उक्त लक्षण में दिये हैं। तथा विशेष्य भाग में वेद के अर्थ के निश्चय के उत्तरकाल में प्रतीत हुए अदृष्ट अर्थवाले महाभारत के विशेष भागों में अतिव्याप्ति दोष-वारणार्थं अजन्यपर्यन्त विशेषण दिया है। निरर्थक शब्द में उक्त दोषवारण के लिये

प्रकारान्तरेण वेदवाक्यानां बुद्धिपूर्वकत्वमाह—

ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् ॥ २ ॥

ब्राह्मणमिह वेदभागस्तत्र यत् संज्ञाकर्म नामकरणं तत् व्युत्पादकस्य बुद्धिमाक्षिपति, यथा लोके लम्बकर्ण-दीर्घनास-लम्बग्रीवादिनामकरणम् ॥ २ ॥

प्रकारान्तरमाह—

बुद्धिपूर्वो ददातिः ॥ ३ ॥

शब्द में 'प्रमा' विशेषण, तथा शब्द ज्ञान के अधीन परामर्श में उक्त दोष के ही वारणार्थ 'शब्द' पद दिया है) ॥ १ ॥

दूसरे प्रकार से वेदवाक्यों में बुद्धिपूर्वकत्व सिद्ध करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—ब्राह्मणे = ब्राह्मण नाम के वेदभाग में, संज्ञाकर्म=नाम का करना, सिद्धिलिङ्गं=बुद्धिपूर्वकता का साधक लिङ्ग है ॥ २ ॥

भावार्थ—वेदवाक्य की रचना में बुद्धिपूर्वकत्व के समान वेद के ब्राह्मणभाग में नामका रखना भी नामानुसार व्युत्पत्ति के अर्थ के जानने वाले, नाम रखने वाले पुरुषविशेष के बुद्धिपूर्वकता का साधक लिङ्ग है ॥ २ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'ब्राह्मण' शब्द से वेद का विशेष भाग लेना, उसमें जो संज्ञाकर्म अर्थात् शब्द के व्युत्पत्तिपूर्वक नाम का रखना भी व्युत्पत्ति-ज्ञान रखनेवाले नाम कर्ता के बुद्धि का साधक लिङ्ग है। इसी कारण 'योऽरोदीत् स रोदीत् रुद्रः किल रुरोद' अर्थात् जो रोया वह रोदन है, रुद्र ने रोदन किया। इत्यादि ब्राह्मण में रोने के कारण 'रुद्र' यह नामकरण किया है ऐसा उपलब्ध होने के कारण उक्त नामकर्ता को रुद्र इस शब्द की व्युत्पत्ति का ज्ञान होने से भी वेदवाक्यों में बुद्धिपूर्वकता सिद्ध होती है।

(इस सूत्र में 'ब्राह्मण' इस शब्द से ब्राह्मण = नामक वेद का भाग (अंश) लेना उसमें जो संज्ञाकर्म अर्थात् नाम का करना है, वह भी व्युत्पादक (व्युत्पत्तिज्ञानपूर्वक नाम रखनेवाले) के बुद्धि का आक्षेप करता है अर्थात् साधक है, जिस प्रकार लोकव्यवहार में लम्बे कान होने से लम्बकर्ण, दीर्घनासिका के कारण दीर्घनास, तथा लम्बी ग्रीवा (गर्दन) होने से लम्बग्रीवादि नाम का रखना, नाम रखनेवाले व्युत्पत्तिविषयक बुद्धि का साधक होता है) ॥ २ ॥

उक्त विषय में और दूसरा प्रकार सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—बुद्धिपूर्वः = ज्ञानपूर्वक है, ददातिः = वेद में 'ददाति' देता है-ऐसा वाक्य ॥ ३ ॥

भावार्थ—संज्ञाकर्म के समान वेद शास्त्र में उपलब्ध होने वाला 'स्वर्गकामो गां दद्यात्' अर्थात् 'स्वर्गसुख की इच्छा करनेवाला प्राणी गौ का दान करे' इन दानों

"स्वर्गकामो गां दद्यात्" इत्यादौ यद्दानप्रतिपादनं तद्दानेष्टसाधनताज्ञानजन्यम्। ददातिरिति धातुनिर्देशो धात्वर्थं दानमुपलक्षयति ॥ ३ ॥

प्रमाणान्तरमाह —

तथा प्रतिग्रहः ॥ ४ ॥

प्रतिग्रहप्रतिपादिका अपि श्रुतयो बुद्धिपूर्विकाः। प्रतिग्रहपदं स्वविषयां श्रुतिमुपलक्षयति। तेन भूम्यादिप्रतिग्रहप्रतिपादिकाः श्रुतयः प्रतिग्रहीतुः श्रेयःसाधनतापराः। कृष्णसारचर्मादिप्रतिग्रहप्रतिपादिकाः श्रुतयः प्रतिग्रहीतुरनिष्टसाधनताबोधिकाः। न चेष्टानिष्टसाधनते अर्वाचीनपुरुषबुद्धिगोचरौ भवितुमर्हतः ॥ ४ ॥

इदानीं "शास्त्रदेशितं फलमनुष्ठातरि" इति जैमिनीयं सूत्रं संवादयन्नाह—

की विधि से भी 'दद्यात्' का प्रयोग कर्त्ता बुद्धिमान् कोई स्वतन्त्र वक्ता है (जिसके हमारे ऐसे जीवात्मा वक्ता नहीं हो सकते) यह सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

उपस्कार—'स्वर्गकामो गां दद्यात्' इत्यादि रूप वेदशास्त्रों के दान के विधि करनेवाले वाक्यों में जो दान का वर्णन है वह दान मेरा इष्ट (सुख) का साधन है इस ज्ञान से उत्पन्न है। सूत्र में 'ददातिः' इस प्रकार जो 'दा' धातु का निर्देश (कथन) है, वह इस 'दा' धातुके 'डुदाञ् दाने' इस व्याकरण सूत्र के अनुसार दानरूप क्रिया का सूचक है ॥ ३ ॥

इसी विषय में दूसरा प्रमाण देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा = इसी प्रकार, प्रतिग्रहः=दान लेने की विधि भी वेद में बुद्धिपूर्वकता की साधक है ॥ ४ ॥

भावार्थ—दान-प्रतिपादक वेदों के समान दान स्वीकाररूप प्रतिग्रह को वर्णन करनेवाली श्रुतियां स्वतन्त्र पुरुष बुद्धिपूर्वक है यह सिद्ध करती है ॥ ४ ॥

उपस्कार—प्रतिग्रह (दान के स्वीकार) को वर्णन करने वाली श्रुतियां भी बुद्धिपूर्वक हैं। सूत्र में 'प्रतिग्रह' यह पद (स्व) अपने (प्रतिग्रह) विषय को वर्णन करने वाली श्रुतियों का सूचक है। इससे पृथ्वी, सुवर्ण आदिकों के दान लेना रूप प्रतिग्रह को वर्णन करनेवाले वेद तथा शास्त्रप्रतिग्रह करनेवाले (दान लेने वाले) को प्रतिग्रह श्रेय (कल्याण) साधन है यह सिद्ध होता है। तथा कृष्णसार नामक मृग के चर्म आदिकों के प्रतिग्रह से प्रतिग्रह लेनेवाले मनुष्यों का अनिष्ट (दुःख) के साधक है यह भी बोधित होता है। इव वेदशास्त्रों में इस प्रकार शुभ तथा अशुभ वस्तुओं के प्रतिग्रहों में क्रम से इष्ट तथा अनिष्ट का साधन होना, यह हमारे ऐसे नवीन पुरुषों की बुद्धि में विषय नहीं हो सकते ॥ ४ ॥

सांप्रत 'शास्त्रदेशिनं फलमनुष्ठातरि' इस सूत्र में कहा हुआ पुण्य तथा पापकर्म

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥ ५ ॥

आत्मन्तरगुणानां यागहिंसादिपुण्यपापानाम् आत्मान्तरे यौ सुखदुःखात्मकौ गुणौ तयोरकारणत्वात्। एवञ्च प्रत्यात्मनिष्ठाभ्यामेव धर्माधर्माभ्यां सुःखदुखे न व्यधिकरणाभ्यामन्यथा येन् यागहिंसादिकं न कृतं तस्य तत् फलं स्यादिति कृतहानिरकृताभ्यागमश्च प्रसज्यते।

ननु नायं नियमः पुत्रेष्टिपितृयज्ञादौ व्यभिचारात्। तथाहि पुत्रेण कृतस्य श्राद्धादेः पितरि फलश्रवणात् पित्रा च कृतायाः पुत्रेष्टेः पुत्रे फलश्रवणात्। न

का फल कर्ता को होता है' इस आशय के जैमिनि महर्षि के पूर्वमीमांसकों को अभिप्रेत मत के प्रस्तुत विषय में समानता से प्रमाणता दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—आत्मान्तरगुणानां = दूसरे आत्माओं के गुणों के, आत्मान्तरे = भिन्न दूसरे जीवात्माओं में, अकारणत्वात् = कारण न होने से ॥ ५ ॥

भावार्थ—दूसरे आत्मा के याग, हिंसा इत्यादि पुण्य तथा पापरूप गुणों के उससे भिन्न दूसरे जीवात्माओं के जो सुख तथा दुःखादि रूप गुण उत्पन्न होते हैं उनमें कारण न होने के कारण प्रत्येक जीवात्माओं में वर्तमान ही धर्म तथा अधर्म से सुख तथा दुःख प्रत्येक आत्मा को होता है नकि दूसरे आत्मा के धर्माधर्मरूप गुण से दूसरे जीवात्मा में सुख-दुःखरूप कार्य होता है, ऐसा नियम न हो तो जिसने याग अथवा हिंसा नहीं किया उसे भी वह फल होगा जिससे कृत पुण्य-पाप कर्म के फल की हानि तथा न किये फल की प्राप्ति होने की आपत्ति अर्थात् कृतहानि तथा अकृताभ्यागम दोष होगा ॥ ५ ॥

उपस्कार—दूसरे आत्मा के याग, हिंसा आदि पुण्य तथा पापरूप विशेष गुण, उससे भिन्न दूसरे जीवात्माओं को होनेवाले जो सुख तथा दुःखरूप कार्य गुण, उनके कारण नहीं होते। ऐसा नियम होने से प्रत्येक जीवात्माओं में वर्तमान ही धर्म तथा अधर्म से सुख तथा दुःख कार्य गुण उत्पन्न होते हैं, न कि व्यधिकरण (भिन्न आत्माओं के) धर्म तथा अधर्म से, अन्यथा (ऐसा न हो तो) जिस मनुष्य ने याग, तथा हिंसा आदि पुण्य तथा पापकर्म न किया हो उसकी आत्मा को उस पुण्य तथा पापकर्म का सुख तथा दुःखरूप फल प्राप्त होने के कारण किये हुए पुण्य तथा पाप के फल सुख तथा दुःखफल की हानि, तथा न किये पुण्य तथा पापकर्म के फल सुख तथा दुःखफल की प्राप्तिरूप कृतहानि तथा अकृत का अभ्यागम (प्राप्ति) ऐसे दोनों दोष प्राप्त होंगे। (उक्त शास्त्र में कहा हुआ फल कर्ता को प्राप्त होता है इस मीमांसक मत से व्यभिचार दोष की शंका पूर्वपक्षी के मत से शंकरमिश्र दिखाते हैं कि)— शास्त्रोक्तकर्मफल कर्ता को ही प्राप्त होता है यह नियम नहीं हो सकता, क्योंकि

च स्वर्गभागिपितृकत्वस्य तेजस्विपुत्रकत्वस्य च फलस्य पुत्रपितृगामितया सामानाधिकरण्यमेवेति वाच्यम्, श्रुतिविरोधात् पितृतृप्त्यादेः पुत्रतेजस्विता-देरेव फलस्य श्रवणात् फलान्तरस्य च गौरवपराहतत्वात्। अस्तु तर्ह्यपूर्वं फलं कर्त्तरि स्वर्गस्तु पितरीति चेन्न, व्यापारस्य फलसामानाधिकरण्यनियमात्, अन्यथा श्राद्धानन्तरं मुक्ते पुत्रे पितुः स्वर्गो न स्यात्। न स्यादिति चेन्न मुक्ते पितरि साक्षादपि श्राद्धात् फलं न स्यादिति तुल्यत्वात्।

'पुत्रेष्टि' पुत्र होने के लिये यज्ञ करना तथा ('पितृयज्ञ' पितरों के उत्तमलोक प्राप्ति के लिये किये पितृयज्ञ) पितृयाग श्राद्ध आदि रूप कर्म से व्यभिचार होता है, वह इस प्रकार के पुत्र के किये श्राद्धादिकर्म से पितरों को उत्तम लोक प्राप्तिरूप फल की प्राप्ति होती है, ऐसा शास्त्रों में सुना जाता है। और पिता के किये हुए 'पुत्रेष्टि' पुत्रयज्ञ से पुत्र में फल होना शास्त्र में सुना जाता है। यहां पर 'स्वर्ग को प्राप्त होनेवाले जिनके पितर हों' इस प्रकार अर्थ करने से पितृयज्ञ श्राद्ध का फल पुत्र में, तथा तेजस्वी पुत्र जिसका हो ऐसा अर्थ करने से पिता में फल होने के कारण एक ही आत्मा में कर्म तथा फल होने के कारण सामानाधिकरण्य (एक में कर्म तथा फल का रहना) हो सकता है तो व्यभिचार दोष क्यों होगा' ऐसी मध्यस्थी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा अर्थ करने से श्रुति का विरोध होगा, क्योंकि श्राद्ध का पितरों की तृप्ति होना इत्यादिक ही तथा पुत्रेष्टि का तेजस्वी पुत्र होना ऐसा पुत्र में ही तेजस्वी होना फल कहा है, उक्त शंका के अनुसार अर्थ करने–दूसरा फल मानना अन्य पदार्थ प्रधान वहुव्रीही समास में अन्य पदार्थकी कल्पना करनेके कारण गौरव दोष होने से यह अर्थ पराहत (नष्ट) होगा। (उक्त पूर्वपक्षी के मत पर किसी की शंकाके आशय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—यदि ऐसा है तो पुत्रेष्टि तथा श्राद्ध करनेवाले पिता तथा पुत्र में उक्त कर्मों से उत्पन्न अपूर्व (अदृष्ट) रूप फल मानेंगे, और स्वर्गरूप फल पिता में और तेजस्विता पुत्र में मानेगे, ऐसा होनेसे अपूर्व तथा यागादि एक ही में रहते हैं। यह नियम नहीं है तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि मध्यवर्ती व्यापार का फल के साथ रहने का (सामानाधिकरण्य) का नियम है (अर्थात् करण तथा व्यापार के एक ही आश्रय में रहने का नियम माननेवाले वादी आपको भी फल तथा मध्य-वर्ती व्यापार का एक आश्रय में रहने रूप सामानाधिकरण्य मानना ही पड़ेगा)। अन्यथा (व्यापार तथा फल का सामानाधिकरण्य न मानने से) श्राद्ध के पश्चात् पुत्र के मरने पर पिता को स्वर्गरूप फल न होगा (अर्थात् मध्यवर्ती अपूर्व के न होने से पिता को स्वर्ग न होगा)। (इस पर इष्टापत्ति (स्वीकार) रूप दोष की शंका दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—पिता को स्वर्ग न हो ऐसा हम मान लेंगे तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि पिता के मुक्त होने पर साक्षात् श्राद्ध करने पर भी स्वर्गरूप फल न हो यह समान है। (अर्थात् यागादि कर्मों का

मैवम्। 'शास्त्रदेशितं फलमनुष्ठातरि' इत्यस्योत्सर्गत्वात् क्वचिद् बलवता बाधकेनापोद्यत्वात्, प्रकृते च पितृपुत्रगतफलश्रवणस्यैव बाधकत्वात्। तथा सत्यतिप्रसङ्ग इति चेन्न तादृशश्रुतेरेवातिप्रसङ्गनिवारकत्वात्।

यत्तु महादानादौ स्वर्गमात्रमेव फलं तच्च यदुद्देशेन क्रियते तद्गतमपि फलं जनयतीति।

तत्तुच्छम्, तत्रोत्सर्गे बाधकाभावात् बाधकाभावसहितोत्सर्गस्य नियमत्वात्, राजादीनामुपवासाद्यनुष्ठानानापत्तेः परद्वारैव तत्तत्कर्मणां स्वगतफलमु-

---

गौण तथा मुख्यभेद से दो प्रकार का फल होता है, कारणरूप गौण है तथा कार्यरूप सुख आदि मुख्य फल है। उसमें जैसे कारण के न रहने से कार्य नहीं होता तथा कार्य के उत्पन्न न होने पर कारण भी निष्फल होता है, यह समान ही है। ऐसा होने से जिस प्रकार पुत्र के मरने से अपूर्व व्यापार के अभाव से पिता को स्वर्गरूप फल न होगा यह आपत्ति आपने दी, इसी प्रकार पिता के मुक्त होने पर स्वर्गरूप मुख्य फल न होने के कारण पुत्र का किया श्राद्धकर्म निष्फल हो जायगा, अतः श्राद्ध के विधिवचनों में अप्रमाणता हो जायगी यह समान ही दोष है)। (उक्त मीमांसकमत पर व्यभिचारशंका का समाधान करते हुए शंकरमिश्र नैयायिकों के सिद्धान्त के अनुसार समाधान करते हैं कि)—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शास्त्रोक्त कर्मफल कर्ता को होता है यह उत्सर्ग (सामान्य) विधि होने के कारण कहीं-कहीं बलवान् बाधक (विशेष विधि) से खंडित हो जाता है, प्रस्तुत में श्राद्ध का का पितरों में तथा पुत्रेष्ठि का पुत्र में फल का शास्त्र में श्रवण होना ही बाधक है। (ऐसा होने से कहीं-कहीं व्यभिचार होने पर भी उक्त मीमांसकों का सामान्यशास्त्र विशेष विधि से भिन्नस्थल में कर्मफल कर्ता को होता है यह सामान्यशास्त्र लगता है सर्वत्र नहीं, ऐसा होने से मीमांसकमत में व्याघात न होगा)। (आगे पुनः पूर्वपक्षिमत से शंका दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—ऐसा मानने से अतिप्रसंगरूप दोष हो जायगा (अर्थात् श्राद्ध का फल पिता में होने से और उसमें कारण तथा व्यापार के न होने से व्यभिचार दोष होगा) (तो शंकरमिश्र उत्तर देते हैं कि)—उक्त श्राद्ध से पिता में फल को कहनेवाली श्रुति ही उक्त व्यभिचार दोष का निवारण कर सकती है। (यहाँ चिन्तामणिकार गंगेशोपाध्याय का मत दिखाते हैं कि)—'महादान (भूमिदान) इत्यादिकों में केवल स्वर्ग ही फल होता है, और जिसके उद्देश से किया जाता है उससे भी स्वर्गफल को उत्पन्न करता है, अर्थात् केवल दानकर्त्ता को ही स्वर्गफल होता है यह नियम नहीं है,' ऐसा जो चिन्तामणिकार का मत है, वह तुच्छ (उपेक्षणीय) है क्योंकि यहाँ उत्सर्ग (शास्त्रोक्त फल कर्त्ता को होता है इस सामान्यशास्त्र) में कोई बाधक नहीं है, बाधक के अभावसहित ही उत्सर्ग नियम होने से राजा धनिक इत्यादिकों को

द्दश्यानुष्ठानसम्भवात् । सम्यग्गृहस्थाश्रमपरिपालनाय ब्रह्मलोकावाप्तिरूपे च फले नियम एव प्रातिस्विकफलाभिप्रायेण तूत्सर्गाभिधानात् ।

वृत्तिकारास्तु 'शास्त्रदेशितम्' इत्यादिनियम एव । पित्रादीनान्तु यत् फलं तच्छ्राद्धादौ ब्राह्मणानामाशीर्मन्त्रानुभावात्, 'कृतार्थास्ते पितरो भूयासुः' इति पितृयज्ञे । पुत्रेष्टौ तु सन्तुष्टानामृत्विजामाशीर्दानात्—'तेजस्वी वर्चस्व्यन्नादस्ते पुत्रो भूयात्' इत्यादेः,—जाङ्गलिकमन्त्रपाठादिव सर्पदष्टस्य विषापहारण-मित्याहुः ॥ ५ ॥

दूसरे के द्वारा ही उन-उन पुण्यविशेष कर्मों को कराकर अपने को फल होने के उद्देश से धर्मकर्म को आचरण से फलप्राप्ति होने के कारण स्वयं उपवासादि रूप धर्मकर्म के आचरण की आवश्यकता न होगी (यहाँ यदि पट द्वारा भी व्रतादि धनिक लोक में कराते हैं इस विषय में इष्टापत्ति मानेंगे ऐसी पूर्वपक्षी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि 'गर्भिणी सूतिका नक्तं कुमारी च रजस्वला यदाशुद्धा तदा केन कारयेत्' अर्थात् गर्भिणी तथा सूतकादि अवस्था में जब अशुद्धि हो तब किससे व्रतादि कराये तथा आद्योपवासे प्राणान्ते अन्तरा मृतसूतके तत्र काम्यव्रतं कुर्याद् दानार्चन-विवर्जनात् । कामना से किये उपवास के बीच में मृताशौच में दान तथा पूजा छोड़कर व्रत का त्याग न करे इत्यादि धर्मशास्त्र से आशौचादिकों में भी व्रत का त्याग करना अनुचित है ऐसा दिखाई पड़ने से बाधक के न रहने पर भी दूसरे से व्रतादि कराने की आपत्ति होगी यह भी विचारणीय है) । (आगे कहीं-कहीं नियम दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—अच्छी तरह गृहास्थाश्रम के धर्म के परि-पालनरूप पुण्यकर्म का तो ब्रह्मलोक की प्राप्तिरूप फल में नियम ही है, क्योंकि प्रत्येक कर्म के फल के अभिप्राय ही से उत्सर्ग (शास्त्रोक्त कर्म का फल कर्त्ता को होता है यह सामान्यशास्त्र कहा है । (अर्थात् प्रत्येक कर्म के फल के आशय से ही उक्त उत्सर्ग होने से श्राद्धादिकों में भी पुत्रादि कर्त्ता में ब्रह्मलोकप्राप्ति आदि रूप फल है ही यह यहां तात्पर्य है) । (मणिमन्त्र आदि के न्याय से पितरों को श्राद्धकर्म से व्यतृप्तिरूप फल माननेवाले वृत्तिकार का मत दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—मीमांसकों का 'शास्त्रदेशित' इत्यादि कर्त्ता ही को फल प्राप्त होना इत्यादि कथन नियमरूप ही है पिता इत्यादिकों को जो श्राद्ध से फल होता है वह ब्राह्मणादिकों के आर्शीवाद देने के मन्त्रों के पाठ के प्रभाव से होता है, क्योंकि 'कृता-र्थास्ते पितरो भूयासुः' तेरे पितर कृतार्थ हों ऐसा श्राद्ध में (फल सुना जाता है) और पुत्रेष्ठि में सन्तुष्ट हुए ऋत्विज नामक (ब्राह्मणविशेषों) के आशिर्वाद से (पुत्र में तेजस्विता होती है) क्योंकि 'तेजस्वी वचस्वनादस्ते पुत्रो भूयात्' तेरा पुत्र तेजस्वी बलवान्, अन्नभोक्ता हो, ऐसा फल सुनाई देता है, अतः जंगल में सर्पादिकों को पक-ड़नेवाले बिषवैद्यों के मन्त्रपाठ से सर्प से दंश किये प्राणियों का विष जैसे नष्ट

अदुष्टानां यथाशास्त्रमनुवर्तमानानां भोजनात् तृप्तानामाशीर्दानात् तत् फलं न तु दुष्टानां पात्रत्वेन निषिद्धानामपि कुण्डगोलकप्रभृतीनामित्याह—

तद्दुष्टभोजने न विद्यते ॥ ६ ॥

तदित्याशीर्दानफलं परामृशति, दुष्टा ब्राह्मणाः पात्रानधिकारिणोयत्र श्राद्धे भोज्यन्ते तत्र पितरि तत् फलं न विद्यते न भवतीत्यर्थः। श्राद्धफलमेव वा न भवति पितरीत्यर्थः ॥ ६ ॥

के ते दुष्टा इति दुष्टलक्षणमाह—

दुष्टं हिंसायाम् ॥ ७ ॥

होता है (उसी प्रकार ब्राह्मणों के आर्शीवाद से श्राद्ध तथा पुत्रेष्टि में भी ब्राह्मणों के आशीर्वाद मन्त्रपाठ से पितर आदि को फल होता है। ऐसा प्राचीन वैशेषिक सूत्र के व्याख्याता वृत्तिकार का मत है, किन्तु शंकरमिश्र ने 'आहुः' इस पद से उक्त मत पर अश्रद्धा प्रकट की है, क्योंकि वृत्तिकार के मत में भिन्न-भिन्न कार्यकारणभाव की कल्पना करनी पड़ती है ॥ ५ ॥

शास्त्र के अनुसार स्वयं धर्म का आचरण करनेवाले अतएव दोषरहित ब्राह्मणों के भोजन से तृप्त होकर आशीर्वाद में पढ़े हुए मन्त्रपाठ से उक्त स्वर्गादि रूप फल होता है न कि दोषयुक्त होने से शास्त्र में दानपात्र होने की जिनका निषेध है ऐसे कुण्ड (पति की विद्यमानता में व्यभिचारकर्म से उत्पन्न) तथा गोलक (पति के मरने पर स्त्रियों के व्यभिचारकर्म से उत्पन्न) इत्यादि संकरजाति के ब्राह्मणों के आशीर्वाद मंत्रपाठ से यह अग्रिम सूत्र में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत् = वह पुण्यकर्म, दुष्टभोजने = दोष युक्त ब्राह्मणों को भोजन कराने में, न विद्यते = नहीं होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—पूर्वप्रदर्शित श्राद्धादि पुण्यकर्म का पितरों को स्वर्गादिरूप फल दोषरहित ब्राह्मणों के श्राद्ध में भोजन कराने से ही होता है न कि कुण्ड, गोलकादि दोष युक्त होने से शास्त्र में निषिद्ध ब्राह्मणों को भोजन कराने से ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र के 'तत्' इस पद से आशीर्वाद देने का फल लिया जाता है, दुष्ट ब्राह्मण जो भोजन के पात्र पर बैठने के अधिकारी नहीं हैं, जिस श्राद्धकर्म में भोजन कराये जाते हैं, उस श्राद्ध में पितरों को उस श्राद्ध का स्वर्ग, तृप्ति आदि फल 'न विद्यते' अर्थात् नहीं होता यह सूत्र का अर्थ है। अथवा श्राद्धकर्म का फल ही पितरों में नहीं होता यह सूत्र का अर्थ है ॥ ६ ॥

वे दुष्ट ब्राह्मण कौन हैं? इस प्रश्न के उत्तर में दुष्ट ब्राह्मणों का सूत्रकार लक्षण कहते हैं —

पदपदार्थ—दुष्टं = दोषयुक्तता है, हिंसायां = हिंसा द्रोह आदि निषिद्ध कर्म में ॥ ७ ॥

हिंसायामिति निषिद्धकर्ममात्रोपलक्षणम् । तेन निषिद्धे कर्मणि प्रवृत्तं पुरुषं दुष्टं विजानीयादित्यर्थः ॥ ७ ॥

न केवलं दुष्टब्राह्मणस्य श्राद्धे निमन्त्रितस्य भोजनेन फलाभावः किन्तु पापमपि भवतीत्याह—

तस्य समभिव्याहारतो दोषः ॥ ८ ॥

तस्य निषिद्धे कर्मणि प्रवृत्तस्य ब्राह्मणस्य समभिव्याहारात् एकपङ्क्तिभोजनसहशयनसहाध्ययनादिलक्षणात् दोषः पापमित्यर्थः ॥ ८ ॥

तत् किमदुष्टसमभिव्याहारादपि दोष एव ? नेत्याह—

तददुष्टे न विद्यते ॥ ९ ॥

भावार्थ—हिंसा, द्रोह आदि निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त ब्राह्मणों को दुष्ट समझना चाहिये ॥ ७ ।

उपस्कार—सूत्र के 'हिंसायां' इस हिंसारूप दोष से शास्त्र में निषिद्ध सम्पूर्ण कर्मों की सूचना होती है । इससे निषिद्ध कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले ब्राह्मण को दुष्ट जनाना चाहिये; यह सूत्र का अर्थ है ॥ ७ ॥

केवल श्राद्ध में निमन्त्रण दिये उक्त दुष्टलक्षण वाले ब्राह्मण के भोजन से उस श्राद्धकर्म का फल नहीं होता इतना ही नहीं है किन्तु दुष्ट ब्राह्मणों को भोजन कराने से उलटे पाप भी होता है । इस आशय से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तस्य = उस दुष्ट ब्राह्मण के, समभिव्याहातः = संसर्ग से, दोषः = पाप भी होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—केवल दुष्ट ब्राह्मण को श्राद्ध में भोजन कराने से श्राद्ध का फल नहीं होता इतना ही नहीं, किन्तु दुष्ट ब्राह्मण के साथ एक पंक्ति में भोजन करना, एकसाथ सोना, बैठना इत्यादि रूप संसर्ग होने से पाप भी लगता है ॥ ८ ॥

उपस्कार—उस हिंसादि दुष्टकर्मों के आचरण में प्रवृत्त दोनेवाले दुष्ट ब्राह्मण के एक पंक्ति में बैठ कर भोजन करना, एकसाथ एक शय्या पर निद्रा करना तथा एक आसन पर साथ बैठना, एकसाथ पढ़ना इत्यादि रूप समभिव्याहार (संसर्ग) दोष से भी, पाप भी होता है यह सूत्र का अर्थ है ॥ ८ ॥

तो क्या दोषरहित ब्राह्मण के उक्तरूप संसर्ग से भी दोष होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत् = वह दोष (पाप), अदुष्टे = दोषरहित ब्राह्मण के संसर्ग करने पर, न विद्यते = नहीं होता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—दुष्ट ब्राह्मण के समान शास्त्र के अनुसार आचरण करनेवाले दोषरहित ब्राह्मण के संसर्ग करने में दोष (पाप) नहीं होता ॥ ९ ॥

तत् पापमदुष्टे यथाशास्त्रं व्यवहरमाणे ब्राह्मणे श्राद्धे भोजिते न विद्यते न भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

ननु सत्पात्राप्रतिलम्भे यत्र श्राद्धदानादौ प्रथमं दुष्टा एव निमन्त्रिताः क्रमेण तु सत्पात्रप्रतिलम्भे किं विधेयमित्यत्राह—

पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ॥१०॥

श्राद्धे प्रतिग्रहे वा विशिष्टा यथाशास्त्रमनुवर्तमाना यदि लभ्यन्ते तदा निमन्त्रितानपि निन्द्यान् परिहृत्य तानेव भोजयेत्। 'न निमन्त्रिता न्प्रत्याचक्षीत' इति तु सत्पात्रपरम्। निन्द्यांस्तु निमन्त्रितान् द्रविणदानादिना सन्तोषयेत् ॥१०॥

यत्र स्वापेक्षया विशिष्टा न लभ्यन्ते श्राद्धदानादौ तत्राह—

उपस्कार—वह पाप शास्त्रानुसार व्यवहार (आचरण) करनेवाले तथा पूर्वोक्त हिंसादि दोष से रहित ब्राह्मण को श्राद्ध में भोजन कराने पर 'न विद्यते' अर्थात् नहीं होता यह सूत्र का अर्थ है ॥ ९ ॥

उत्तम सत्पात्र अदुष्ट ब्राह्मण के न मिलने से जिस श्राद्ध, दान आदि कर्म में प्रथम दुष्ट ही ब्राह्मण को निमन्त्रण दिया हो और पश्चात् दोषरहित शास्त्रानुसार आचरण करनेवाला ब्राह्मण मिल जाय तो श्राद्धकर्ता क्या करे ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—पुनः = फिर, विशिष्टे = सत्पात्ररूप विशिष्ट ब्राह्मण के मिलने पर, प्रवृत्तिः = श्राद्ध करने में प्रवृत्ति होती है ॥ १० ॥

भावार्थ—यदि दुष्ट ब्राह्मण को भोजन कराया हुआ श्राद्धकर्म होने के पश्चात् दोषरहित सत्पात्र ब्राह्मण मिल जाय तो उसे निमन्त्रण देकर पुनः श्राद्धकर्म करे ॥ १० ॥

उपस्कार—श्राद्ध तथा प्रतिग्रह कर्म में शास्त्रानुसार आचरण करनेवाले विशिष्ट ब्राह्मण यदि पश्चात् प्राप्त हो तो पूर्व में निमन्त्रण दिये हुए भी निन्दायोग्य दुष्ट ब्राह्मणों का परित्याग कर विशिष्ट सत्यात्र ब्राह्मणों को ही भोजन करावे (अर्थात् दुष्ट ब्राह्मण को भोजन कराया हुआ श्राद्ध व्यर्थ होने से पुनः श्राद्धकर्म करें)। क्योंकि 'न निमंत्रितात् प्रत्याचक्षीत्' निमंत्रित ब्राह्मण को जवाब न दे। यह धर्मशास्त्र का वचन सत्यात्र ब्राह्मणां के विषय में है। जो निन्दायोग्य दुष्ट ब्राह्मण पूर्व में निमन्त्रित हो उन्हें द्रविण (धन) आदि देकर सन्तुष्ट करे ॥ १० ॥

जिस श्राद्ध तथा दान आदि में श्राद्धकर्ता से विशिष्ट (उत्तम) ब्राह्मण न मिलें, उसमें क्या कर्तव्य है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

समे हीने वा प्रवृत्तिः ॥ ११ ॥

समे स्वसदृशे, हीने स्वापेक्षया गुणादिना न्यूने, अदुष्टे पात्रे श्राद्धदानादौ प्रवृत्तिस्तेषामेवाशीर्दानात् पितरि सुखमित्यर्थः । निषिद्धानां परं त्यागो न त्वदुष्टानां समहीनानामपीति भावः ॥ ११ ॥

श्राद्धे दानादौ च सम्प्रदानसाद्गुण्येन धर्मोत्पत्तिमभिधाय तादृशादपादानादपि धर्मोत्पत्तिमतिदिशति—

एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥१२॥

यथोत्तरं धर्मोत्कर्षः, हीनादपि भूम्यादिप्रतिग्रहे, समादपि, स्वापेक्षया विशि-

---

पदपदार्थ—समे = सामान, हीने वा = अथवा अपने से हीन, ब्राह्मण में, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति करना ॥ ११ ॥

भावार्थ—यदि श्राद्धकर्ता से दोषरहित ब्राह्मण समान हो अथवा हीन हो, ऐसे ब्राह्मण के श्राद्ध, दान आदि कर्म में आशिर्वाद से श्राद्धादिकों का फल होता है ॥ ११ ॥

उपस्कार—अपने कर्ता को आचरणादिकों से समान अथवा कर्ता की अपेक्षा गुणादिकों में न्यून, दोषरहित सत्पात्र ब्राह्मण को निमन्त्रण देकर श्राद्ध, दानादि कर्म में प्रवृत्ति होने से उक्त ब्राह्मणों के आशिर्वाद देने से पिता में श्राद्ध का फल स्वर्गादि सुख होता है, यह सूत्र का अर्थ है । दोषयुक्त होने से निषिद्ध ब्राह्मणों का ही त्याग करना चाहिये न कि दोषरहित सत्पात्र ब्राह्मणों को जो कर्ता के गुणों में समान अथवा हीन हो उनका भी । यह आशय है ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्राद्ध तथा दानादि कर्मों में दान लेने तथा श्राद्धभोजन करनेवाले ब्राह्मणों के उत्तम गुणों के कारण धर्म की उत्पत्ति होती है यह कहकर ऐसे ही श्राद्धकर्ता तथा दान देनेवाले के उत्तम गुणों के अनुसार भी धर्म की उत्पत्ति की अतिदेश समानता से सूत्रकारा वर्णन करते हैं—

पदपदार्थ—एतेन = इस कथन से, हीनसमाविशिष्टधार्मिकेभ्यः = गुणादिकों में न्यून, समान तथा अधिक धर्मकार्य करनेवालों से, परस्वादानं = प्रतिग्रहरूप दूसरे के धन का ग्रहण, व्याख्यातं = व्याख्या किया गया ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार दोषरहित सत्पात्र कर्मकर्ता से गुण में समान, हीन तथा अधिक गुण वाले ब्राह्मणों को श्राद्ध में भोजन कराने, दान देने इत्यादि पुण्य कर्म से फल होता है, उसी प्रकार प्रतिग्रह लेनेवाले ब्राह्मणों से श्राद्ध, दान आदि कर्म करनेवाले कर्मकर्ता गुणादिकों में न्यून, समान अथवा अधिक धार्मिक (धर्मात्मा) हो तो उस श्राद्धभोजन, तथा प्रतिग्रह से भोजन करानेवाले तथा दान लेनेवाले ब्राह्मण को भी पुण्य उत्तम फल प्राप्त होता है, यह व्याख्या की गई है ॥ १२ ॥

उपस्कार—प्रतिग्रह, भोजनादि कर्ता ब्राह्मण को अपने से गुण में हीन भी दाता से भूमि आदि का दान लेने में तथा समान, दान लेनेवाले से गुणों में अधिक भी

ष्ठादपि धार्मिकात् धर्म इत्यर्थः । परस्वादानं परस्मात् स्वस्य धनस्यादानं प्रतिग्रहः ।

वृत्तिकारास्तु परस्वादानं चौर्यादिना परस्वग्रहणं व्याख्यातम् । तथाच श्रुतिः-'शूद्रात् सप्तमे वैश्याद्दशमे क्षत्रियात् पञ्चदशे ब्राह्मणात् प्राणसंशये' इति । क्षुधापीडितमात्मानं कुटुम्बं वा रक्षितुं सप्त दिनान्याहारमप्राप्य शूद्रभक्ष्यापहारः कार्यः, एवं दशदिनान्याहारमप्राप्य वैश्यात्, पञ्चदश दिनान्याहारमप्राप्य क्षत्रियात्, प्राणसंशये ब्राह्मणात् भक्ष्यापहरणं न दोषायेत्याहुः ॥ १२ ॥

न केवलं प्राणसंशये परस्वादानं न निषिद्धं किन्तु तस्यां दशायामपहर्तुं ये न प्रयच्छन्ति तेषां वधोऽपि कार्यो न तावता धर्महानिरधर्मप्रादुर्भावो वेत्याह—

तथा विरुद्धानां त्यागः ॥१३॥

धर्मात्मा से दान लेने से पूर्व २ की अपेक्षा से उत्तर२ में अधिक उत्कृष्ट धर्म होता है यह सूत्र का अर्थ है। पर (दूसरे) से 'स्व' अर्थात् धन का आदान ग्रहण करना ही प्रतिग्रहरूप परस्वादान इस सूत्र के शब्द का अर्थ है । वृत्तिकराने से 'चौर्यादि कर्म से दूसरे का धन लेना परस्वादान शब्द का अर्थ है ऐसी व्याख्या की है, इसी से श्रुति भी कहती है—'शूद्रात (शूद्र से), सप्तमे (सातवें) दिन, वैश्यात् (वैश्य से) दशमे (दसवें) दिन, क्षत्रियात (क्षत्रिय से) पंचदश (पन्द्रहवें) दिन. ब्राह्मणात् (ब्राह्मण से) प्राणसंशपे (प्राण वचने का संदेह होने पर), अर्थात् क्षुधा से पीड़ित अपनी या कुटुम्ब (परिवार) की रक्षा करने के लिये सात दिन तक भोजन न मिलने पर शूद्र के खानेयोग्य अन्न का अपहरण (चोरी) करना । इसी प्रकार दस दिन भोजन न पाने पर वैश्य से, पन्द्रह दिन भोजन न मिलने पर क्षत्रिय से, तथा प्राण वचने का संदेह होने पर ब्राह्मण से भक्ष्य पदार्थ का अपहरण करने में दोप नहीं होता, इस प्रकार ॥ १२ ॥

केवल प्राणसंशय में परधन का अपहरण पापजनक नहीं होता, ऐसा नहीं किन्तु उस अवस्था में जो चोरी करने में प्रतिबन्ध करते हैं (रोकते हैं) उनको मार भी देना चाहिये, उससे कोई धर्म की हानि, अथवा अधर्म नहीं होता इस आशय से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा = निषिद्ध नहीं है, विरुद्धानां = विरोध करनेवालों का, त्यागः = त्याग करना (हटाना) ॥ १३ ॥

भावार्थ—प्राणों के संदेहकाल में परत्व का ग्रहण करने में जो विरोध करे उनका त्याग, हटाना भी पापजनक निषिद्ध नहीं है । अर्थात् 'आते हुए आततायी को मार दे' इत्यादि पूर्वोक्त वचन के अनुसार कुछ नियमित कर्म भी पापजनक नहीं होते ॥ १३ ॥

तस्यां दशायां विरुद्धानां विपरीतमाचरतां त्यागो वधः कार्य इत्यर्थः। तदुक्तम्—

कर्मणा येन केनापि मृदुना दारुणेन वा ।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥ इति १३ ॥

ननु चाविशेषेणैव परस्य वधः, नेत्याह—

हीने परे त्यागः ॥ १४ ॥

यदि स्वस्माद्धीनः परो भवति योऽपहर्तुं न ददाति तस्य शूद्रादेस्त्यागो वधः ॥ १४ ॥

सममधिकृत्याह—

समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥ १५ ॥

उपस्कार—उस प्राणसंदेह की अवस्था में विरोध अर्थात् विपरीत (प्रतिफल) कर्म करनेवाले विरोधियों का त्याग अर्थात् वध (मार देना) इत्यादि करने से भी दोष नहीं होता । ऐसा सूत्र का अर्थ है। (यह वृत्तिकार के मत के अनुसार ही इस सूत्र की व्याख्या शंकरमिश्र ने की है यह स्पष्ट मालुम पड़ता है)। (उक्त विषय में प्रमाण देते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—यह 'कर्मणा = कर्म से, येन केनापि = जिस किसी भी, मृदुना = सरल छोटे, दारुणेन वा = अथवा कठिन कर्म से, उद्धरेत्=रक्षा करें, दीन=दी,नं आत्मानं=अपने शरीर की, समर्थः = समर्थ होता हुआ, धर्म = धर्म को, आचरेत्=करे, इति=ऐसा धर्मशास्त्र में कहा है ॥ १३ ॥

'क्या सामान्यरूप से चाहे जिसका वध करे'? इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—हीने=अपने से न्यून, परे = रोकने वाले पराये में, त्यागः = वधरूप त्याग करे ॥ १३ ॥

भावार्थ—यदि वह प्रतिबन्ध करनेवाला अपने से हीन हो तो उसका वधरूप त्याग करना ॥ १३ ॥

उपस्कार—यदि अपने से (प्राणसंदेह में चोरी करनेवाले से) रोकनेवाला पर-पुरुष जो चोरी न करने देता हो ऐसे शूद्र आदि हीनवर्ण का वधरूप त्याग करना ॥ १३ ॥

यदि चोरी करने में प्रतिबन्ध करनेवाला समान हो तो उसके विषय में सूत्र-कार कहते हैं—

पदपदार्थ—समें=गुण में समान, प्रतिबंधक में, आत्मत्यागः=अपने शरीर का त्याग, परत्यागः वा = अथवा पर (प्रतिबन्धक दूसरे का) का वधरूप त्याग करना ॥ १५ ॥

यदि स्वसदृशो ब्राह्मण एव विरोधी भवति तदात्मन एवोपवासादिना त्यागोऽवसादः कर्तव्यः । यदि स्वस्य कुटुम्बस्य वा रक्षाप्रकारो न दृश्यते विरोधश्च समो भवति तदा तस्यैव त्यागो वध इत्यर्थः ॥ १५ ॥

तत् किं स्वापेक्षया यदि विशिष्टो भवति विरोधी तदा तस्यापि वध एव कार्यः ! नेत्याह—

विशिष्टे आत्मत्याग इति ॥ १६ ॥

स्वापेक्षया विशिष्टे वेदाध्ययनादिना उत्कृष्टे विरोधिनि आत्मन एव त्यागो विधेयः । प्राणसंशये सत्यप्यात्ममरणमेवाभिप्रेयात् न तु ब्राह्मणं हन्यादित्यर्थः । इति राह्निकपरिसमाप्तौ ॥ १६ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे षष्ठाध्यायस्य
प्रथममाह्निकम् ।

भावार्थ—यदि प्राणसंदेह में चोरी करने के समय अपने समान गुणवाला ब्राह्मण ही विरोधी हो तो उपवासादिक से अपना शरीर छोड़ दे अथवा यदि परिवार के रक्षा का कोई दूसरा उपाय न रहते समान आदि विरोधी हो तो उसी का वधरूप त्याग करना ॥ १५ ॥

उपस्कार—यदि अपने समान ब्राह्मण ही विरोधी हो तो अपना ही अनशनादि उपाय से त्याग अर्थात् नाश करे और यदि कुटुम्बरक्षा का कोई चोरी के सिवाय उपाय न दिखाई पड़े और विरोधी (रोकनेवाला) अपने समान हो तो उसी का वधरूप त्याग करे, यह सूत्र का अर्थ है ॥ १५ ॥

तो क्या अपने से विरोध करनेवाला गुण में अधिक हो तो उसका भी वध ही करना ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं, नहीं—

पदपदार्थ—विशिष्टे=अधिक में, आत्मत्यागः = अपना त्याग करना, इति = इस प्रकार ॥ १६ ॥

भावार्थ—यदि प्राणसंदेह के समय चोरी करने में अपसे गुणों से अधिक विशिष्ट ब्राह्मण आदि विरोधी हो तो अपना ही वधरूप त्याग करना ॥ १६ ॥

उपस्कार—प्राणसंदेह में चोरी करनेवाले अपनी अपेक्षा से वेदाध्ययनादि धर्मकार्य के करने के कारण विशिष्ट उत्कृष्ट विरोध करनेवाले ब्राह्मण आदि हों तो अपना ही वधरूप त्याग करे। प्राणों के संदेह के समय के आने पर भी अपने मर जाने की इच्छा करे नकि ब्राह्मण की हत्या करे, यह सूत्र का अर्थ है। सूत्र में 'इति' शब्द का अर्थ है आह्निक की समाप्ति ॥ १६ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्रकृत विशेषिकसूत्रोपस्कारव्याख्या में
षष्ठाध्याय का प्रथम आह्निक समाप्त हुआ।

षष्ठाध्याये द्वितीयाह्निकम्

एवं पूर्वाह्निके वैदिकी प्रमा गुणजन्येति तदुत्पत्तौ गुणाभिधानम्, 'शास्त्र-देशितं फलमनुष्ठातरि' इति विवेचनम् , निषिद्धाचरणेऽपि प्रत्यवायानुत्पत्तिः कस्याञ्चिद्दशायामित्यस्य विवेचनञ्च वृत्तम् । अधुना 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः' इति द्वितीयं सूत्रं व्याचिख्यासुर्विशेषतो धर्मोत्पत्तिपरीक्षायां वर्त्तिष्य-माणायामाह—

दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥ १ ॥

दृष्टप्रयोजनानि कृषिवाणिज्यराजसेवादीनि, अदृष्टप्रयोजनानि यागदान-ब्रह्मचर्यादीनि, एतेषां कर्मणां मध्ये यत्र दृष्टं प्रयोजनं नोपलभ्यते तत्रादृष्ट

इस प्रकार षष्ठाध्याय के प्रथम आह्निक में वेद का यथार्थ ज्ञान वक्ता के वाक्यार्थ के यथार्थ ज्ञानरूप गुण से उत्पन्न होता है, इस विषय में गुणों का कथन किया गया तथा 'शास्त्रोक्त कर्म का फल अनुष्ठाता (कर्मकर्ता) को होता है' इस महर्षि जैमिनि के सूत्र का विवेचन (समालोचना), तथा अवस्थाविशेष में निषिद्ध हिंसादि कर्म करने से भी प्रत्यवायो (दोषों) का न होना इसका विवेचन (अच्छी तरह विचार) किया गया । सम्प्रति 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' जिससे ऐहिक तथा पारलौकिक सुख एवं निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धि हो उसे धर्म कहते हैं । इस प्रथमा-ध्याय प्रथमाह्निक के द्वितीय सूत्र की स्वयं व्याख्या करने की इच्छा रखते हुए सूत्र-कार विशेषरूप से धर्म की उत्पत्ति की आगे परीक्षा करते हुए कहते हैं—

पदपदार्थ—दृष्टादृष्ठप्रयोजानानां = प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष फल देनेवाले दो प्रकार के कर्मों में, दृष्ठाभावे = प्रत्यक्ष फल न रहते, प्रयोजनं = फल, अभ्युदयस्य = अभ्युदय (तत्वज्ञानरूप) के लिये होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रथमाध्याय प्रथम आह्निक में वर्णन किये हुए धर्म में से कृषि, वणिज्य-व्यापार, राजसेवा इत्यादि प्रत्यक्ष धनप्राप्तिरूप फल को देनेवाले, तथा यज्ञ दान तथा ब्रह्मचर्य आदि अदृष्ट फल के देनेवाले ऐसे दो प्रकार के कर्मों से जिन कर्मों का प्रत्यक्ष फल नहीं होता उनमें अदृष्ट फल है ऐसी कल्पना की जाती है, वह फल है अभ्युदय (स्वर्ग) अथवा मुक्तिदायक तत्वज्ञान ॥ १ ॥

उपस्कार—कृषि (खेती), वाणिज्य-व्यापार, राजा आदि धनिकों की सेवा इत्यादि कर्म प्रत्यक्ष धनप्राप्त्यादि सुख फल देनेवाले, तथा यज्ञ, दान, ब्रह्मचर्य, व्रत इत्यादि कर्म अदृष्ट (अप्रत्यक्ष स्वर्गादि) फल देनेवाले कर्म होते हैं, इन दो प्रकार के कर्मों में से जिन कर्मों का प्रत्यक्ष फल देखने में नहीं आता, उनमें अदृष्ट फल की

प्रयोजनं कल्पनीयं, तच्चाभ्युदयाय तत्त्वज्ञानाय। यद्वा अभ्युदयायेति चतुर्थी प्रथमार्थे तेन फलमभ्युदय इत्यर्थः। अदृष्टं फलमपूर्वमेव तद् यदि योगजं तदाऽभ्युदय आत्मसाक्षात्कारः। यदि च यागदानादिजं तदाऽभ्युदयः स्वर्गः। तत्रापि यथा दोग्धि पचतीत्यादिक्रिया सद्यःफलिका, वपति कर्षतीत्यादिक्रिया च विलम्बभाविफला तथा यजति ददाति ब्रह्मचर्यं चरतीत्यादिक्रिया तावत् सद्यःफलिका न भवति तादृशस्य फलस्यानुपलब्धेः। न च धार्मिकतया ज्ञानाल्लाभादिकमेव फलम्, प्रच्छन्न ब्रह्मचर्यादि चरतां तत्फलानुद्देशात् तस्माच्चिरभावस्वर्गादिकमेव फलं तच्चाशुतरविनाशिन्याः क्रियाया न साक्षादित्यान्तरालिकं क्रियाफलयोः समानाधिकरणमपूर्वं पर्यवस्यति ॥ १ ॥

कल्पना करनी होगी, वह अदृष्ट फल है स्वर्गसुख, अथवा मोक्षदायक आत्मतत्व ज्ञान अथवा सूत्र के 'अभ्युदयाय' इस अभ्युदय शब्दरूप प्रातिपादिक के अन्त में चतुर्थी विभक्ति 'अभ्युदयः' ऐसे प्रथमा विभक्ति के अर्थ में है, जिससे अदृष्ट कर्मों का फल अभ्युदय है ऐसा अर्थ होता है। अदृष्ट नामक फल अपूर्व कहाता है, वह यदि योगाभ्यास से उत्पन्न हो तो आत्मा के तत्व का साक्षात्कार होना अभ्युदय कहाता है, और यदि यज्ञ तथा दानादि कर्मों से उत्पन्न हो तो स्वर्गसुख अभ्युदय कहाता है। उनमें भी जिस प्रकार 'दोग्धि' दुहता है, 'पचति' पकाता है, इत्यादि क्रिया दूध, भात इत्यादि तत्काल फल देती है, 'वपति' बीज बोता है, 'कर्षति' हल चलाता है इत्यादि क्रिया विलम्ब से फल देतीं है, उस प्रकार 'यजति' याग करता है, 'ददाति' दान करता है, 'ब्रह्मचर्यं चरति' ब्रह्मचर्यव्रत का आचरण करता है इत्यादि क्रिया तत्काल फल नहीं देती, क्योंकि उनका उसी समय कोई फल नहीं मिलता। 'यज्ञादि कर्म करनेवाला मुझे लोग धर्मात्मा समझ कर धनादि देंगे इसलिये धनलाभ होना तत्काल ही यज्ञादि कर्म का फल क्यों न माना जाय, ऐसी शंका यहाँ नहीं हो सकती। क्योंकि गुप्तरूप व्रत, दान आदि कर्म करनेवालों की उक्तरूप फल के उद्देश से गुप्त ब्रह्मचर्यव्रत आदि नहीं करते। इस कारण विलम्ब से कालान्तर में होनेवाला स्वर्गसुखादिक ही फल हो सकता है, और वह शीघ्र नष्ट होनेवाले यज्ञ आदि कर्मों का साक्षात् (प्रत्यक्ष) फल नहीं हो सकता। इस कारण आन्तरालिक (कर्म तथा स्वर्ग के बीच में होनेवाला) यज्ञादि क्रिया कर्ता को कालान्तर में स्वर्गसुख को प्राप्त करनेवाले आत्मा में रहने से समानाधिकरण (एक आश्रय में वर्तमान) अपूर्व (अदृष्ट) नामक मध्यवर्ती व्यापार है जिसे धर्म कहते हैं यह पर्यवासित (अन्त में निश्चित) होता है। अर्थात् चिरकाल में अदृष्टफल देनेवाले यज्ञ, ब्रह्मचर्य आदि कर्मों का स्वर्गादि फल अवश्य मानना होगा, किन्तु स्वर्गसुखरूप उक्त यागादि कर्मों के करने के पश्चात् नष्ट हो जाने से नहीं हो सकता इसलिये उसका व्यापाररूप पुण्य का अपूर्व (अदृष्ट) अवश्य मानना होगा ॥ १ ॥

अदृष्टफलानि कर्माणि परिसङ्ख्यष्टे—

अभिषेचनो–पवास–ब्रह्मचर्य–गुरुकुलवास–वानप्रस्थ–यज्ञ–दान–प्रोक्षण–दिङ्–नक्षत्र–मन्त्र–काल–नियमाश्चादृष्टाय ॥ २ ॥

अदृष्टायेत्यदृष्टलक्षणाय फलाय, अदृष्टद्वारा स्वर्गापवर्गलक्षणाय फलाय वा। एतेनादृष्टफलकश्रौतस्मार्त्तसकलकर्मोपसंग्रहः। तत्राभिषेचनं स्नानं 'गङ्गायां स्नायात्' इत्यादिविधिविधेयम्। उपवासः–एकादशीमुपवसेत्' इत्यादिविधिविधेयः ब्रह्मचर्यं सामान्यत एव धर्मसाधनम्। गुरुकुलवासो ब्रह्मचारिणां वेदाध्ययनमहानाम्न्यादिव्रतार्थः। वानप्रस्थं वयः परिणामे वनं प्रस्थितानां यत् कर्म। यज्ञो 'राजसूयवाजपेयादिः'। दानं 'गां दद्यात्' इत्यादिविधिविधेयम्।

अदृष्ट फल देनेवाले कर्मों की गणना करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अभिषेचनोपवास-ब्रह्मचर्य-गुरुकुलवास-वानप्रस्थ-यज्ञ-दान-प्रोक्षण-दिङ्नक्षत्र-मन्त्र-काल-नियमः च, = स्नान, उपवास, ब्रह्मचर्य, गुरुकुल में निवास, वानप्रस्थधर्म, यज्ञ, दान, मंत्रपाठपूर्वक पदार्थों का जल से सिंचन, दिशा, नक्षत्र, मंत्र, काल तथा नियम भी, अदृष्टाय = अप्रत्यक्ष कालान्तर में फल देने की कारण मध्य में अपूर्व नामक व्यापार को सिद्ध करते हैं।

भावार्थ—मध्यवर्ती अपूर्व के द्वारा कालान्तर में फल देनेवाले शीघ्र विनाशी कर्म यह हैं जैसे नित्य स्नान करना[१], उपवास (व्रत) करना,[२] ब्रह्मचर्य से रहना[३], गुरुकुल में वास करना[४], गृह त्याग कर वन में वानप्रस्थ धर्म का करना[५], यज्ञ[६], दान[७], मंत्रपाठपूर्वक धार्मिक कर्म के उपयोगी धान्यादिकों का जल से सींचना, धर्मकर्म में दिशा[८] तथा नक्षत्रों[१०] मंत्रों[११] तथा समय[१२] एक नियम[१३] आदि त्रयोदश सूत्रोक्तधर्म कर्मकालान्तर में मध्यवर्ती अपूर्व द्वारा फल देते हैं ॥ २ ॥

उपस्कार—सूत्र के 'अदृष्टाय' इस पद का अर्थ है अदृष्ट (अपूर्व) स्वरूप फल के लिये अथवा अदृष्ट (अपूर्व) के द्वारा स्वर्ग तथा अपवर्ग (मोक्ष) रूप फल होने के लिये। इस कथन से अदृष्ट द्वारा फल देनेवाले वेदोक्त तथा स्मृति पुराणादिकों में कहे हुए सम्पूर्ण धर्म कर्मों का संग्रह सूचित होता हैं। इन सूत्रोक्त धर्मकर्मों में से गंगायां स्नानम्' 'गंगा में स्नान करे इत्यादि धर्मशास्त्रों में प्रतिपादन किया हुआ अभिषेचन अर्थात् नित्यस्नान करना[१] 'एकादशीमुपवसेत्' एकादशी को उपवास (व्रत) करे, इत्यादि धर्मशास्त्र में विधान किया हुआ उपवास (व्रत)[२] जितेन्द्रिय होकर रहनारूप ब्रह्मचर्य जो सामान्यरूप से सम्पूर्ण धर्मकार्यों का साधन है[३] ब्रह्मचारी छात्रों के वेदाध्ययन तथा महावाक्य नामक व्रतादि पालन के लिये गुरुकुल में वास(रहना)[४] वृद्धावस्था में अरण्य में वास करनेवाले तृतीय वानप्रस्थाश्रम का कर्म[५] राजसूत्र, अश्वमेध आदि यागरूप यज्ञ

प्रोक्षणं-'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादिविधिविधेयम्। दिक् 'प्राचीनप्लवने यजेत' 'प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत' इत्यादिविधिविधेया। नक्षत्रं श्राद्धादौ मघादि। मन्त्रः-आपोहिष्ठेत्यादिः। कालः—'मासि मासि वोऽशनम्' 'अमावास्यायामपराह्णे दद्यात्' 'ग्रीष्मे पञ्चतपाः' 'वसन्तेऽग्नीनादधीत' इत्यादिविधिविधेयः। नियमो-वर्णाश्रमिणां यथाशास्त्रमनुष्ठानम्। तदेवं धर्मस्य आत्मा समवायिकारणम्, श्रद्धा स्वर्गादिलक्षणप्रयोजनज्ञानञ्च निमित्तकारणमनुसन्धेयम्॥ २॥

एवं धर्मसाधनमभिधाय अधर्मसाधनमपि समुच्चिन्वन्नाह—

चातुराश्रम्यमुपधा अनुपधाश्च

चतुर्णामाश्रमाणां समानं यद्धर्मसाधनं तत्तावत् पूर्वसूत्रेणैवोक्तमिति शेषः।

'गां दद्यात्' गोदान करे इत्यादि धर्मशास्त्रों में विधान किया दान[७], 'व्रीहीन प्रोक्षति' धान को मंत्रपाठपूर्वक जल से सींचता है, इत्यादि विधि से कर्तव्य प्रोक्षण, 'प्राचीनप्लवने यजेत' पूर्वदिशा के सधन में याग करे, 'प्राङ्मुखोऽन्नानि भुञ्जीत' पूर्वाभिमुख होकर भोजन करे, इत्यादि धर्मशास्त्र में विधान की हुई दिशा[९], भरणी, मघा आदि नक्षत्र में श्राद्ध करने की विधि से नक्षत्र[१०], पवित्रताप्रापक 'आपोहिष्ठा' इत्यादि मन्त्र[११], 'मासिमासि वोऽशनम्' प्रत्येक मास के अन्त में भोजन करे, 'अमावास्यायामपराह्णे दद्यात्' अमावास्या के दिन अपराह्णकाल में पितरों के उद्देश से दान, श्राद्ध आदि कर्म करे, 'ग्रीष्मे पंचतपाः' ग्रीष्मऋतु में पंचाग्निसाधन तपश्चर्या करे, इत्यादि शास्त्र की विधि से रहित काल[१२], ब्राह्मणादि वर्णों, तथा ब्रह्मचर्यादि आश्रमियों के धर्मशास्त्रों में विहित विधि के अनुसार वर्णाश्रमधर्मों का अनुष्ठान (आचरण)[13] (यह तेरह अदृष्ट फलवाले कर्म सूत्रकार ने कहे हैं।) इससे यह सिद्ध होता है कि धर्मरूप अदृष्ट कार्य का आत्मा समवायिकारण, श्रद्धा तथा स्वर्गसुखादिरूप फल का ज्ञान भी निमित्त कारण है, यह जान लेना॥ २॥

इस प्रकार धर्म के साधन को कहकर, अधर्म के साधन का भी संग्रह करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—चतुराश्रम्यं = ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमों के धर्म का साधन, उपधाः = श्रद्धा के दोष, अनुपधा च = श्रद्धा के दोषों का न होना भी (धर्म के साधन हैं)॥ ३॥

भावार्थ—पूर्वसूत्र में जो चारों ब्रह्मचर्यादि आश्रमों को धर्म के साधन कहे, उनसे अतिरिक्त श्रद्धा के दोष श्रद्धा न होना रूप अधर्म का साधन हैं तथा श्रद्धा धर्म की साधन होती है यह भी जानना चाहिये॥ ३॥

उपस्कार—'ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमों का जो समानधर्म का साधन होता है

उपधाः भावस्य श्रद्धाया दोषाः, अनुपधाः श्रद्धाया भावस्यादोषाः तेऽपि धर्माधर्मयोः साधनानि यथास्वमूहनीयानि। उपधापदेनाधर्मसाधनानि सर्वाण्युपसंगृहीतानि ॥ ३ ॥

उपाधानुपधे लक्षणतो विवेचयन्नाह—

भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा ॥ ४ ॥

भावः—इच्छा—रागः प्रमादोऽश्रद्धामदमानासूयाप्रभृतयो भावदोषा उपधापदेनोच्यन्ते, श्रद्धा मनःप्रसादो देशितकर्मानुष्ठानाध्यवसाय इतिकर्तव्यतापरिच्छेदश्चानुपधा। तदेतयोर्धर्माधर्मनिमित्तकारणत्वमुक्तम् ॥ ४ ॥

शुच्यशुचिनी चोपधानुपधे। तत्र शुच्यशुचिनी विवेचयति—

वह पूर्वसूत्र में ही कहा गया है ऐसा सूत्र में आकांक्षित शेष अर्थ जोड़ना। श्रद्धारूप भाव (धर्म) के दोष श्रद्धा न होना यह सूत्र के उपधा शब्द का अर्थ है तथा श्रद्धारूप भाव (धर्म) के दोष न होना यह अनुपधा शब्द का अर्थ है। ये भी क्रम से धर्म तथा अधर्म के साधन होते हैं। यह यथायोग्य स्वयं जान लेना चाहिये। सूत्र के उपधा शब्द से अश्रद्धा के समान और जितने अधर्म के साधन हैं उनका संग्रह होता है ॥ ३ ॥

उपधा तथा अनुपधा का सूत्रकार स्वयं लक्षण द्वारा विवेचन करते हैं –

पदपदार्थ—भावदोषः=श्रद्धा के दोष, उपधा=उपधा कहे जाते हैं, अदोषः= श्रद्धा के दोष न होना, अनुपधा = अनुपधा कहे जाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—पूर्वसूत्रोक्त के चारों ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के साधारण धर्म के साधन कहे हैं उनको छोड़कर जो श्रद्धा के दोष तथा दोषों का न होना अधर्म तथा धर्म का साधन उपधा तथा अनुपधा शब्द से कहे हैं उन्हीं का इस सूत्र में सूत्रकार ने विवरण किया है कि श्रद्धारूप भाव के अश्रद्धा, मद, मान इत्यादि दोष उपधा कहाते हैं। तथा श्रद्धा, मन की प्रसन्नता आदि श्रद्धारूप भाव के दोषों का न होना ही अनुपधा शब्द का अर्थ है ॥ ४ ॥

उपस्कार—इच्छा तथा राग भाव शब्द के पर्याय हैं, जो श्रद्धा के विशेष हैं। उसके प्रमाद करना, श्रद्धा न रखना, मद करना, अहंकार, असूया (डाह) इत्यादि भाव के दोषों को उपधा कहते हैं। श्रद्धा रखना, मन की प्रसन्नता, शास्त्र में विहित कर्मों के करने का निश्चय करना, तद् न कर्म के इति कर्तव्यया (इस प्रकार कर्म करना होता है) का ज्ञान भी अनुपधा शब्द का अर्थ है। इस प्रकार यह उपधा तथा अनुपधा दोनों धर्म तथा अधर्म के निमित्त कारण हैं, यह कहा गया ॥ ४ ॥

शुचिता (शुद्धि) तथा अशुचिता (अशुद्धि) भी उपधा तथा अनुपधा कहाती हैं। उनमें शुचिता तथा अशुचिता का सूत्रकार विवेचन करते हैं—

यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितञ्च तच्छुचि ॥ ५ ॥

इष्टं श्रुत्या स्मृत्या च यद्रूपादिकं विहितं यस्य द्रव्यस्य तत्तथा। तत्र रूपम्–'अरुणया एकहायन्या पिङ्गाक्ष्या गवा सोमं क्रीणाति' 'श्वेतं छागलमालभेत' इत्यादौ। प्रोक्षितं मन्त्रेणोदकसिक्तम्। अभ्युक्षितं विना मन्त्रमुदकसिक्तम्। चकारान्न्यायतो लब्धम् तच्च 'याजनाध्यापनप्रतिग्रहैर्ब्राह्मणो धनमर्जयेत्' इत्यादिनियमविधिबोधितम् ॥ ५ ॥

अशुचिलक्षणमाह—

अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ॥ ६॥

यद्द्रव्यं शुचि तद्विपरीतमशुचीत्यर्थः। अशस्तरूपरसगन्धस्पर्शममन्त्र-

---

पदपदार्थ—यत् = जो, इष्टरूपरसगन्धस्पर्शं = शास्त्र से विहित रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्शगुण होता है, प्रोक्षितं = मन्त्रपाठपूर्वक जल से सींचा हुआ, अभ्युक्षितं च=और विना मन्त्र के केवल शुद्ध जल से सींचा जाता है, तत्=रूपादि, शुचि=शुद्ध होता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—वेद तथा स्मृत्यादिकों में जो पदार्थों का अरुण इत्यादि विहित है वह मन्त्रपाठपूर्वक जल से (प्रोक्षित) जल से प्रोक्षण किया जाता है, और विना मन्त्र-पाठ के केवल शुद्ध जल से सींचा जाता है वह संपूर्ण शुचि (पवित्र) कहा जाता है ॥ ५ ॥

उपस्कार—जो रूप, रस आदि गुण जिस द्रव्य के श्रुति और स्मृति से विहित है वह इष्टरूप आदि गुण होते हैं। उनमें से रूप तथा रस की 'अरुण या एकहायका गवा सोयं धर्म जाति' अर्थात् रक्तवर्ण की एक वर्ष अवस्थावाली पीत आंखवाली गौ को देकर सोमलता को खरीदता है, तथा 'श्वेतं छागलमालभेत' अर्थात् श्वेतवर्ण के वकरे को स्पर्श करता है 'स्वादुकि मधुराणि' मीठा और मधुर इत्यादि श्रुति तथा स्मृति में रक्तरूप तथा मधुररस वणन किया है। उनका मन्त्रपाठपूर्वक जल से सिचनरूप प्रोक्षण, तथा बिना मन्त्रपाठ के शुद्ध जल से सींचना अभ्युक्षण कहाता है। तथा सूत्र के चकार से न्याय से प्राप्त हुआ धन लेना। वह 'याजजनाध्वापन प्रतिग्रहैर्ब्राह्मणा धनमर्जयेत्' ब्राह्मण याग कराना, पढ़ाना, दान लेना इत्यादि व्यापार से धन उत्पादन करे, इत्यादि नियमविधि से शास्त्र में विहित है ॥ ५ ॥

अशुचि का लक्षण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अशुचि = अपवित्र है, इति = यह, शुचिप्रतिषेधः = पवित्रता का निषेध है ॥ ६ ॥

भावार्थ—पवित्र द्रव्य के विपरीत द्रव्य का नाम है अशुचि अपवित्र ॥ ६ ।

उपस्कार—जो द्रव्य सुचि (पवित्र) होता है उसके विपरीत (उलटा) अशुचि (अपवित्र) होता है यह सूत्र का अर्थ है। जिस द्रव्य का रूप, रस, गन्घ,

प्रोक्षितमनभ्युक्षितं निषिद्धजलाभ्युक्षितं वा अन्यायागतम् कृषिवाणिज्यागतं ब्राह्मणस्य द्रव्यमशुचीत्यर्थः ॥ ६ ॥

अशुच्यन्तरमाह—

अर्थान्तरञ्च ॥ ७ ॥

प्रशस्तरूपरसगन्धस्पर्शमपि प्रोक्षितमभ्युक्षितं न्यायार्जितञ्च यत्तत्रापि वाग्दुष्टञ्च भावदुष्टं च यत्तद्प्यशुचीत्यर्थः ॥ ७ ॥

इदानीं धर्माधर्मौ प्रति सहकार्यन्तरमाह—

अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमाभावात् विद्यते

स्पर्श शास्त्र से निन्दित विना मन्त्रपाठ के प्रोक्षण किया, अथवा शुद्ध जल से अभ्युक्षित न हो या अशुद्ध जल से अभ्युक्षित हो, तथा अन्याय से प्राप्त कृषि, वाणिज्य-व्यापार से प्राप्त ब्राह्मण का धन हो यह संपूर्ण अशुचि (अपवित्र) होता है ॥ ६ ॥

दूसरे अशुचि पदार्थ भी सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अर्थान्तरं च = निंदित रूपादिवाले द्रव्य के समान, वाणी इत्यादिकों के भाव से दूषित दूसरे द्रव्य भी, (अशुचि होते हैं) ॥ ७ ॥

भावार्थ—शास्त्र से प्रशंसा किये हुए रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शवाला तथा प्रोक्षण और अभ्युक्षण किया हुआ, तथा न्याय से संपादन किया हुआ भी द्रव्य यदि असत्यादि रूप वाणी के दोषों से तथा भाव (मन के आशय) रूप अर्थान्तर (दूसरे दोषों) से युक्त हो तो वह द्रव्य भी अशुचि होता है ॥ ७ ॥

उपस्कार—शास्त्र में विहित होने से प्रशस्त (उत्तम) रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श का आशय, एवं मन्त्रपाठपूर्वक जल से प्रोक्षण किया गया, तथा केवल शुद्ध जल से अभ्युक्षण (सींचा हुआ) और अपने-अपने शास्त्रोक्त व्यापार से न्यायपूर्वक प्राप्त किया भी धनादि द्रव्य यदि मिथ्याभाषणादि रूप वाणी के दोष तथा क्रोध आदि मानसिक दोषों से दूषित हो तो वह भी अशुचि (अपवित्र) कहाता है। यह सूत्र का अर्थ है ॥ ७ ॥

सांप्रत धर्म तथा अधर्म के दूसरे सहायकों का सूत्रकार वर्णन करते हैं—

पदपदार्थ—अयतस्य = यमनियमरहित पुरुष को, शुचिभोजनात् = पवित्र भोजन करने से, अभ्युदयः = धर्म, न विद्यते = नहीं होता है, नियमाभावात् = नियम न होने के कारण, विद्यते वा = अथवा होता है, अर्थान्तरत्वात् = सहायक दूसरा पदार्थ होने से, यमः = यम के ॥ ८ ॥

भावार्थ—हस्त-पादक्षालनादि भोजन के शास्त्रोक्त यमनियमादिकों के अनुसार संयमरहित पुरुषों को पवित्र भोजन करने पर भी धर्म (पुण्य) की उत्पत्ति नहीं, किन्तु अधर्म (पाप) ही की उत्पत्ति होती है और उक्त यमनियमपूर्वक पवित्र भोजन

वाऽर्थान्तरत्वात् यमस्य ॥ ८ ॥

अयतस्य यमरहितस्यासंयतस्येति यावत्। "हस्तौ पादौ प्रक्षाल्याचम्य वाग्यतो भुञ्जीत, भोक्ष्यमाणः प्रयतोऽपि द्विराचामेत्" इत्यादिबोधितयमरहितस्य भोजनं नाभ्युदयाय किन्तु पापाय। कुत एवमित्यत आह–नियमाभावात्। नियमस्य सहकारिणोऽभावात्। नियमे सति यत्तदाह–विद्यते वा। यथोक्तयमसाहित्येन भोजने भवत्येवाभ्युदयः। कुत इत्यत आह–अर्थान्तरत्वाद् यमस्य। भोजनादर्थान्तरं यतो यमः। तथा च सहकारिकारणं विना न फलसिद्धिस्तस्मिन् सति फलसिद्धिरित्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु यममात्रमेव तन्त्रं तर्हि भोजनमतन्त्रमेवेत्यत आह–

असति चाभावात् ॥ ९ ॥

करने से सहायक यमनियम के रूप अन्य पदार्थ की सहायता से पुण्य की उत्पत्ति होती है। अर्थात् सूत्र में यमपद नियम का भी सूचक है, ऐसा होने से यम तथा नियम के साथ पवित्र भोजन करने से धर्म तथा विना यम-नियम के किया हुआ पवित्र भोजन भी पाप को उत्पन्न करता है ॥ ८ ॥

उपस्कार—सूत्र के अयत शब्द का अर्थ है, यमरहित, अर्थात् असंयत (घबड़ाते, बड़बड़ करते)। 'हस्तौ पादौ प्रक्षाल्याचम्य वाग्यतो भुञ्जीत' हस्त तथा पादों को धोकर मौन होते हुए भोजन करे, भोजन के पूव तथा पश्चात् दो बार आचमन करे, इत्यादि विधि में बताये हुए हस्त-पादप्रक्षालनादि रूप नियम तथा मौन आदि यम से रहित मनुष्य का भोजन अभ्युदय(पुण्य)का कारण नहीं होता, किन्तु पाप का कारण होता है। ऐसा क्यों ? इस प्रश्न के समाधानार्थ सूत्र में सूत्रकार ने 'नियमाभावात्' नियम न होने से ऐसा कहा है। अर्थात् सहायक नियम के न होने से। नियम होने से जो फल होता है वह सूत्रकार कहते हैं—'विद्यते वा' (इत्यादिक सूत्र के अन्तिम भाग में) अर्थात् पूर्वोक्त भोजन के नियम तथा यम की सहायता से भोजन करने पर पुण्य होता ही है। क्यों ? इस प्रश्न पर सूत्रकार कहते हैं—'अर्थान्तरत्वाद्यमस्य' अर्थात् यम तथा नियम के 'अर्थान्तरत्वात्' दूसरा पदार्थ होने से, अर्थात् भोजन से यम-नियम दूसरे पदार्थ हैं। ऐसा होने से सहायक कारण के विना फल की सिद्धि नहीं होती और सहायक के रहने पर फल की सिद्धि होती है, यह सूत्र का अर्थ है ॥८॥

यदि यमनियम ही शुचिता के कारण पुण्य के प्रयोजक हैं तो भोजन पुण्य का कारण न होगा ? इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—असति च = और भोजन के न रहने पर, अभावात् = पुण्य के अभाव होने के कारण ॥ ९ ॥

भावार्थ—यमनियम रहने पर भी यदि पवित्र भोजन न हो तो पुण्य नहीं

यमे सत्यपि शुचिभोजनेऽसति अभावादभ्युदयस्येति शेषः। तथा च यमो भोजनञ्च द्वयमेव पुण्यकारणमित्यर्थः। भोजनमित्युपलक्षणम् यागदानस्नान-होमादीनामपि श्रौतस्मार्तकर्मणां यमनियमौ सहकारिणौ ॥ ९॥

एवं धर्माधर्मप्रादुर्भावं प्रति यमसहकारिणमभिधाय दोषसहकारिणमभि-धातुं दोषनिदानमाह—

सुखाद्रागः॥ १०॥

स्रक्चन्दनवनितादिविषयसेवनजन्मनः सुखादुत्तरोत्तरं तज्जातीये सुखे तत्साधने वा राग इच्छा सञ्जायते। अहिकण्टकादिजन्मनो दुःखात् तत्र तत्सा-धने वा द्वेष इत्यपि द्रष्टव्यम्। रागद्वेषमोहाः प्रवर्तकत्वेन दोषा इत्यभिधीयन्ते।

होता अतः यम-नियम तथा पवित्र भोजन दोनों ही पुण्य के कारण हैं यह सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

उपस्कार—यमनियम रहने पर भी शुचिभोजन के न रहने पर अभावात्—न होने से अर्थात् पुण्य के ऐसा सूत्र में आकांक्षित 'अभ्युदय' शब्द का शेष भाग पूरण करना। ऐसा होने से यम-नियम तथा पवित्र भोजन दोनों हो पुण्य के कारण हैं यह सूत्र का अर्थ है। वैदिक तथा स्मार्त (स्मृति) में उक्त सम्पूर्ण यज्ञ, दान, स्नान तथा होम-हवन आदि पुण्यकर्मों के यम-नियम सहायक कारण हैं यह सूत्र के 'भोजन' पद से सूचित होता है ॥ ९ ॥

इस प्रकार धर्म तथा अधर्म के प्रादुर्भाव (प्रगट होने) में यम तथा नियम सहकारिकारण होते हैं यह कह कर दोषरूप सहकारिकारण को कहने के लिये दोष का कारण सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सुखात् = विषयभोगजन्य सुख से, रागः = इच्छा (उत्पन्न होती है) ॥ १० ॥

भावार्थ—प्रियविषयों के सेवन से उत्पन्न हुए सुख से उत्तरोत्तर उसी प्रकार के विषयसुख तथा उनके साधनों से इच्छा होती है, तथा अनिष्ट विषय से उत्पन्न दुःख से उन विषयों में तथा उनके साधनों में द्वेष उत्पन्न होता है, इसी कारण प्रवृत्ति कराना दोषों का सामान्य लक्षण न्यायसूत्र में 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' प्रवृत्ति कराने के स्वभाववाले दोष होते हैं, ऐसा किया है ॥ १० ॥

उपस्कार—माला, चन्दन, स्त्री आदि प्रियविषयों की सेवा करने से उत्पन्न सुख से उत्तरोत्तर उसी समान जाति के सुख अथवा उसके साधनों में राग (इच्छा) उत्पन्न होती है। सर्प, कण्टक (कांटा) आदि अप्रियविषयों से उत्पन्न हुए दुःख के अनुभव के कारण सर्प आदि अप्रियविषय अथवा उनके साधनों में द्वेष होता है यह

तथा च गौतमीयं सूत्रम्—'प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः' अ० १ आ० १ सू० १८ इति ॥१०॥

अत्र सुखदुःखे एव यदि रागद्वेषौ जनयतः तदा तयोर्नाशे कथं तौ स्यातामत आह—

तन्मयत्वाच्च ॥ ११ ॥

रागद्वेषौ भवत इति शेषः । विषयाभ्यासजनितो दृढतरः संस्कारविशेषस्तन्मयत्वं यद्वशात् कामातुरस्य कामिनीमलभमानस्य सर्वत्र कामिनीदर्शनम् । एकदा भुजङ्गदष्टस्य तत्र दृढतरसंस्कारतः सर्वत्र भुजङ्गदर्शनम् । तदुक्तम्—

तन्मयत्वं तत्प्रकाशो बाह्याभ्यन्तरतस्तथा । इति ॥ ११ ॥

हेत्वन्तरं समुच्चिनोति—

जानना चाहिये । राग, द्वेष तथा मोह प्रवृत्ति के कारण होने से दोष कहे जाते हैं। इसी वास्ते गौतम महर्षि का 'प्रवर्तनालक्षणा दोषाः' प्रवृत्ति कराने के स्वभावरूप दोष होते हैं, ऐसा (अ० १, आ० १, सूत्र १८) सूत्र है ॥ १० ॥

यहाँ यदि सुख तथा दुःख ही राग तथा द्वेष को उत्पन्न करते हैं तो उन सुख तथा दुःख के नाश होने पर राग तथा द्वेष कैसे होंगे ? इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तन्मयत्वात् च = बाहर-भीतर विषयभोग से उत्पन्न तन्मयतारूप संस्कारविशेष से राग तथा द्वेष होते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—विषयभोग से उत्पन्न सुख तथा दुःख का नाश होने पर भी विषय के अभ्यास से उत्पन्न अतिदृढ संस्कारविशेषरूप तन्मयता के कारण राग तथा द्वेष होते हैं ॥ ११ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित पद की पूर्ति करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि—सूत्र के अन्त में राग तथा द्वेष होते हैं ऐसा शेषपद देना । प्रियविषयों के भोग के अभ्यास से उत्पन्न हुआ अत्यन्त दृढ तथा बनारूप संस्कार की विशेषता ही सूत्र में कही हुई 'तन्मयत्व' विशेषरूपता है जिसके कारण कामातुर (काम से व्याकुल) मनुष्य को जिसे कामिनी (स्त्री) की प्राप्ति न होती हो सर्वत्र कामिनी ही दिखाई पड़ती है तथा एक किसी (पूर्व) समय में सर्प से दंश होने के कारण उससे उत्पन्न दुःख की दृढभावनारूप संस्कार सर्वत्र सर्प ही दिखाई पड़ता है । अतएव कहा है–तन्मयत्वं = तन्मयता है, तत्प्रकाशः = उस पदार्थ का प्रगट होना, बाह्याभ्यन्तरतः = बाहर तथा मन के भीतर, तथा=उसी विषयरूप से । इति=ऐसा ॥ ११ ॥

उक्त विषय में दूसरे कारण का सूत्रकार संग्रह करते हुए कहते हैं—

अदृष्टाच्च ॥ १२ ॥

रागद्वेषाविति शेषः। यद्यप्यदृष्टं साधारणकारणम् तथापि कचित्तौ प्रति असाधारणतामप्यनुभजति। यथा तज्जन्मानुभूतकामिनीसुखस्यापि यौवनोद्भेदे कामिनीरागः, अननुभूतभुजङ्गदंशदुःखानामपि भुजङ्गेषु द्वेष इत्याद्युन्नेयम्। न च प्राग्भवीयः संस्कार एवात्र निबन्धनम्, तत्कल्पने तदुद्बोधकल्पने च प्रामाणाभावात् अदृष्टस्यावश्यकल्पनीयत्वात् ॥ १२ ॥

सहकार्यन्तरमाह—

जातिविशेषाच्च ॥ १३ ॥

तथाहि मनुष्यजातीयानामन्नादौ रागः, मृगजातीयानां तृणादौ, करभजातीयानां कण्टकादौ। तत्रापि तत्तज्जातिनिष्पादकमदृष्टमेव तन्त्रम् द्वारमात्रन्तु

पदपदार्थ—अदृष्टात् च = और अदृष्ट से भी (राग तथा द्वेष होते हैं) ॥१२॥

भावार्थ—तन्मयत्व के समान अदृष्ट (धर्माधर्म) से भी राग तथा द्वेष होते हैं ॥ १२ ॥

उपस्कार-सूत्र में आकांक्षित पद की पूर्ति 'रागद्वेषौ' ऐसे पद के शेष से करना। यद्यपि धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट सामान्य कारण हैं तथापि कभी-कभी राग तथा द्वेष से विशेष कारण भी होते हैं, जिस प्रकार इस जन्म से स्त्रीभोगसुख का अनुभव न करनेवाले भी प्राणी को यौवन (तरुणता) प्रगट होने पर स्त्रीभोगविषय में प्रेम होता है तथा उस जन्म में जिसे सर्पदंशादिकों से उत्पन्न होनेवाले दुःख का अनुभव नहीं है ऐसे प्राणियों को भी सर्पों में द्वेष होता है इत्यादि जान लेना चाहिये। इसमें पूर्वजन्म का सुख तथा दुःख के भोग से उत्पन्न भावनासंस्कार ही निवन्धन (कारण) नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी तथा उसके उद्बोधक (स्मरण करनेवाले) की भी कल्पना करने से कोई प्रमाण नहीं है, और अदृष्ट अवश्य ही राग तथा द्वेष का कारण मानना है ॥ १२ ॥

राग तथा द्वेष में दूसरे सहकारिकारण का सूत्रकार वर्णन करते हैं—

पदपदार्थ—जातिविशेषत्वात् च = प्राणियों की मनुष्यता आदि जातिविशेष से भी (राग तथा द्वेष होते हैं) ॥ १३ ॥

भावार्थ—अदृष्ट आदि के समान प्राणियों के मनुष्य आदि विशेष जातियों के कारण भी राग तथा द्वेष होते हैं ॥ १३ ॥

उपस्कार— जातिविशेष से भी राग द्वेष इस प्रकार होते हैं कि मनुष्यादि प्राणियों का अन्न आदि भक्ष्य पदार्थ में खाने की राग (इच्छा) होती है, मृग आदि पशुजाति की प्राणियों की तृणादि भक्षण करने में, ऊँट इत्यादि जाति के प्राणियों की काँटा, कडुआ आदि खाने में इच्छा होती है। उसमें भी वस्तुतः उस-उस प्राणी-

जातिर्जन्मविशेषः। एवं पारावतादीनामुत्करे रागः। तथा महिषजातीयानां तुरङ्गमे द्वेषः, सारमेयाणां शृगाले नकुलानां भुजङ्गमे इत्याद्युन्नेयम् ॥ १३ ॥

एवं धर्माधर्मनिमित्ततया रागद्वेषनिमित्तानि परिसङ्ख्याय सम्प्रति दोषाणां धर्माधर्मकारणत्वं प्रवृत्तिद्वारेत्याह—

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः ॥ १४ ॥

विहिते कर्मणि रागनिबन्धना-निषिद्धे कर्मणि हिंसादौ द्वेषनिबन्धना प्रवृत्तिः, रागनिबन्धना यागादौ प्रवृत्तिर्धर्मं प्रसूते द्वेषनिबन्धना हिंसादौ प्रवृत्तिरधर्मम्। तावेतौ रागद्वेषौ संसारमनुवर्तयतः। तथाच गौतमीयं सूत्रम्-'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धि-

---

जाति के शरीर के उत्पन्न करनेवाला अदृष्ट ही कारण है। उन-उन प्राणियों की जातिरूप जन्मविशेष तो द्वारमात्र हैं। इसी प्रकार कपोत (कबूतर) आदि प्राणियों का धान्य के कण-भक्षण करने में इच्छा होती है। इसी प्रकार महिषजाति के प्राणियों को तुरंगम (अश्व) में द्वेष, सारमेय (कुत्तों) का शृगाल (सियार) में, और नेवलों का सर्प में द्वेष होता है इत्यादि जान लेना ॥ १३ ॥

इस प्रकार धर्म तथा अधर्म के कारणरूप से राग, द्वेष के कारणों की गणना कर, सांप्रत राग-द्वेषादि दोष पुण्य तथा अपुण्यरूप प्रवृत्ति के द्वारा धर्म तथा अधर्म के कारण होते हैं यह सूत्रकार वर्णन करते हैं—

पदपदार्थ—इच्छाद्वेषपूर्विका=इच्छा तथा द्वेषपूर्वक होती है, धर्माधर्मप्रवृत्तिः = धर्म (पुण्य) तथा अधर्म (पाप) रूप कर्म में प्रवृत्ति ॥ १४ ॥

भावार्थ—शास्त्रोक्त पुण्यफलजनक यज्ञ-दान आदि कर्मों में राग (इच्छा) के कारण तथा शास्त्र में निषिद्ध हिंसादि पापजनक कर्मों में द्वेष के कारण प्रवृत्ति होती है, इसी से राग तथा द्वेष के कारण से संसारचक्र में प्राणियों को बन्धन प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

उपस्कार—शास्त्र में विहित यज्ञ दान इत्यादि कर्मों में राग (इच्छा) के कारण,—तथा शास्त्र से निन्दित हिंसादि कर्मों में द्वेष के कारण प्रवृत्ति होती है। क्योंकि स्वर्गादि सुख के प्राप्ति की उत्कृष्ट इच्छा के कारण यज्ञ-दानादि कर्मों में प्राणी की प्रवृत्ति धर्मरूप अदृष्ट को उत्पन्न करती है, तथा शत्रु की हिंसा से ऐहिक सुख होने की आशा से द्वेष के कारण शत्रुहिंसादि रूप पापजनक कर्मों में प्रवृत्ति अधर्मरूप अदृष्ट को उत्पन्न करती है। वे ये दोनों राग तथा द्वेष जन्ममरणरूप संसारचक्र को चलाते हैं। इसी प्रकार गौतम महर्षि का 'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' (अ० १ आ० १, सू० १७) वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक ऐसी आरम्भरूप तीन प्रवृत्ति हैं, इस आशय का न्यायसूत्र है। जिसमें वाणी के आरम्भ की वाचिक प्रवृत्ति जो सत्य, प्रिय, हित ऐसी तीन प्रकार की पुण्यरूप तथा असत्य,

शरीरारम्भः' अ० १ आ० १ सू० १७ इति। वागारम्भो वाचिकी प्रवृत्तिः, सत्यं प्रियं हितमिति पुण्या, असत्यमप्रियमहितमिति पापा। बुद्धिः बुध्यते ज्ञायतेऽनेनेति मन उच्यते, तेन मानसी प्रवृत्तिर्भूतदयादिः। शारीरी प्रवृत्तिर्दानं परिचरणमित्यादिका दशविधा पापा दशविधा पुण्या चेति ॥ १४ ॥

इदानीं धर्माधर्मयोः प्रयोजनं प्रेत्याभावमाह—

तत्संयोगो विभागः ॥ १५ ॥

ताभ्यां धर्माधर्माभ्यां संयोगो जन्म अपूर्वाभिः शरीरेन्द्रियवेदनाभिः सम्बन्धः संयोग इहोच्यते। विभागस्तु शरीरमनोविभागो मरणलक्षणः।

अप्रिय तथा अहितरूप तीन प्रकार की पापरूप होती है (यहाँ प्रिय शब्द से स्वाध्याय भी लेना चाहिए।) 'कथ्यते ज्ञायतेऽनेन' जिससे जाना जाय इस व्युत्पत्ति के बल से सूत्र के बुद्धिशब्द का अर्थ है मन, इससे भूतदया आदि मानसी प्रवृत्ति ग्रहण करनी चाहिये। (यह मानसी प्रवृत्ति भी पुण्य तथा पापरूप दो प्रकार की है, जिसमें दया, अलोभ, श्रद्धा इस प्रकार तीन प्रकार की पुण्यरूप, तथा परद्रोह, परधन की इच्छा, नास्तिकता ऐसी तीन प्रकार की पापरूप मानसी प्रवृत्ति है।) और शरीर-सम्बन्धी प्रवृत्ति दान, परिचरण, सेवा, रक्षा इत्यादि दस प्रकार की पुण्यरूप तथा हिंसा, चोरी, अगम्यस्त्रीभोग इत्यादि दस प्रकार की पापरूप प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार वाणी, मन तथा शरीर की दशविध प्रवृत्ति होती है ॥ १४ ॥

सांप्रत धर्म तथा अधर्म के प्रयोजन (फल) रूप प्रेत्यभाव को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत्संयोगः=धर्म तथा अधर्म से संयोग, विभागः = तथा उनसे विभाग ॥ १५ ॥

भावार्थ—धर्म तथा अधर्म के संयोग से शरीरादि सम्बन्धरूप जन्म, तथा उनके विभाग से शरीरादि विभागरूप मरण, इस प्रकार जन्ममरणसमूहरूप संसार जिसको प्रेत्यभाव ऐसा दर्शनों में कहा गया है ॥ १५ ॥

उपस्कार—उन धर्म तथा अधर्म दोनों से संयोग जन्म अर्थात् अपूर्व (जो पूर्व में नहीं थे) ऐसे शरीर, इन्द्रिय तथा वेदना (प्राणादि वायुसमूह) इनसे संयोगरूप सम्बन्ध इस सूत्र में संयोग कही है। (यहाँ सामान्य स्थिति में जन्मलक्षण की अतिव्याप्ति दोष-वारणार्थ अपूर्व ऐसा विशेषण शंकरमिश्र ने दिया है)—अर्थात् अपूर्व शरीर, इन्द्रिय तथा प्राणवायु के सम्बन्ध को जन्म कहते हैं। दो-तीन टुकड़ों में कटे हुए गोह, सर्प आदिकों में (जिनमें कुछ काल तक प्राण सम्बन्ध रहता है) खण्डशरीर उत्पन्न होने पर जन्मलक्षण के अतिव्याप्तिवारणार्थ इन्द्रिय पद, तथा संसार रहने तक साथ रहनेवाले मनरूप इन्द्रिय की अपूर्वता बिना शरीर के नहीं हो सकती इसलिये

तथा चायं जन्ममरणप्रबन्धः संसारः प्रेत्यभावापरनामा धर्माधर्माभ्यामित्यर्थः। अस्यैव च प्रेत्यभावस्याजरञ्जरीभाव इति वैदिकी संज्ञा ॥ १५ ॥

तदेतस्य प्रेत्यभावस्य जन्ममरणप्रबन्धस्य यत्र च पर्यवसानं तं मोक्षं निरूपयितुमाह—

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥ १६ ॥

अयमेव शरीरमनोविभागः आत्मकर्मसु सत्सु मोक्षो भवतीत्यर्थः। तत्रात्मकर्माणि तावत् श्रवणं मननं योगाभ्यासो निदिध्यासनमासनं प्राणायामः शमदमसम्पत्तिः आत्मपरात्मसाक्षात्कारो देहदेशान्तरोपभोग्यपूर्वोत्पन्नधर्माधर्मपरिज्ञानं तद्भोगानुरूपनानादेहनिर्माणं तयोर्भोगेन प्रक्षयो रागद्वेषलक्षणदोष-

---

शरीरपद दिया है। श्वास आदि के कारण प्रयत्न के लिये मन तथा प्राण का संयोग आवश्यक होने से प्राणसमूहार्थक वेदना पद भी दिया है। (आगे सूत्र के विभाग शब्द का अर्थ शंकरमिश्र कहते हैं कि)—शरीर तथा मन का मरणरूप ही सूत्र के विभाग शब्द का अर्थ है, ऐसा होने से जन्म तथा मरण प्रवन्ध (समूह) रूप संसार जिसे प्रेत्यभाव कहते हैं धर्म तथा अधर्म से होता है यह सूत्र का अर्थ है। इसी प्रेत्यभाव की 'अजरंजरीभाव' ऐसी वैदिक संज्ञा है (इसी से 'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः' अर्थात् वारंवार उत्पन्न होना प्रेत्यभाव कहाता है, ऐसा गौतम महर्षि का (अ० १. आ० १. सू० १६) सूत्र है ॥ १६ ॥

तस्मात् इस जन्म तथा मरण संतानरूप प्रेत्यभाव का जिस अवस्था में पर्यवसान (समाप्ति) होती है उस मोक्ष का निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—आत्मकर्मसु=आत्मा के कर्म होने पर, मोक्षः=मोक्ष होता है, व्याख्यातः=यह व्याख्या किया गया ॥ १६ ॥

भावार्थ—शरीर तथा मन का यह विभाग होना आत्मतत्त्वसाक्षात्काररूप आत्मा के कर्म होने पर मोक्ष कहाता है यह अर्थात् व्याख्या किया गया ॥ १६ ॥

उपस्कार—यही शरीर तथा मन का विभाग आत्मा के कर्म होने पर मोक्ष होता है यह सूत्र का अर्थ है उसमें आत्मकर्म यह है—श्रवण, मनन, योगाभ्यास, निदिध्यासन, आसन, प्राणायाम तथा शम (मनोनिग्रह), दम (बाह्येन्द्रियनिग्रह) इनकी सम्पत्ति सिद्धि, आत्मा अपने जीवात्मा तथा परआत्मा का साक्षात्कार, शरीर से दूसरे देश में भोग करनेयोग्य पूर्व में उत्पन्न धर्म तथा अधर्म का संपूर्ण ज्ञान होना, तथा उनके भोग के अनुकूल नाना शरीर की योगबल से रचना करना उन धर्म तथा अधर्म का भोग से नाश, एवं राग तथा द्वेषरूप दोष तुषार के दमन से आगे के भोग देनेवाले

तुषारदमादग्निमधर्माधर्मयोरनुत्पादात् प्रवृत्त्यपाये जन्मापायाद् दुःखापायलक्षणोऽपवर्गस्तत्र षट्पदार्थीयतत्त्वज्ञानमाद्यमात्मकम् ॥ १६ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे षष्ठाध्यायस्य

द्वितीयमाह्निकम् ।

समाप्तश्चायं षष्ठाध्यायः ।

धर्म तथा अधर्म की उत्पत्ति न होने से प्रवृत्ति का नाश प्रागभाव होने के कारण जन्म के आभाव से अत्यान्तिक दुःखनिवृत्तिस्वरूप अपवर्ग (मोक्ष) होता है, जिसमें द्रव्य-गुण आदि षट् पदार्थों का तत्वज्ञान प्रथम आत्मकर्म है। इस विषय में 'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदमन्तराभावादपवर्गः' (अ० १. आ० १. सूत्र २) यह गौतम महर्षि का सूत्र प्रमाण है ॥ १६ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्रकृत वैशेषिकसूत्रोपस्कार व्याख्या में

षष्ठाध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त हुआ ।

सप्तमाध्याये प्रथमाह्निकम्

संसारमूलकारणतया सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणतया भोगसाधनतया चोत्पत्तितः प्रत्यात्मनियतत्वेन परादृष्टस्यापि परस्योपयोगित्वेन च धर्माधर्मौ परीक्ष्येदानीं गुणान् परीक्षिषुस्तेषामुद्देशं लक्षणञ्च स्मारयन्नाह—

उक्ता गुणाः ॥ १ ॥

उद्दिष्टा लक्षिता गुणाश्चेत्यर्थः। तत्र रूपादयः सप्तदश कण्ठरवेणोक्ताः चशब्दसमुच्चिताः सप्त, तेन चतुर्विंशतिरपि गुणा उक्ताः। तत्र नित्यवृत्ति-नित्यवृत्तिसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं गुणत्वम्, समवायिकारणावृत्तिनित्यवृत्तिसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं वा, असमवायिकारणवृत्तिनित्यवृत्तिसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं वा, कार्य्यासमानाधिकरणकर्मावृत्तिजातिमत्त्वं वा ॥ १ ॥

जन्ममरणप्रबन्धरूप संसार के मूलकारण होने से, तथा संपूर्ण उत्पन्न होनेवाले कार्यों में निमित्तकारण होने तथा सुखदुःख भोग के साधन होने से भी, तथा प्रत्येक जीवात्मा में उत्पत्ति होने का नियम होने से भी, अन्य आत्मा का अदृष्ट दूसरे आत्मा के उपयोगी होने के कारण भी धर्म तथा अधर्म की परीक्षाकर, सांप्रत गुणपदार्थों की परीक्षा करने की इच्छा से उनके उद्देश तथा लक्षणों को स्मरण कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—उक्ताः = कहे गये, गुणाः = गुणपदार्थ ॥ १ ॥

भावार्थ—गुण नामक पदार्थों का उद्देश (नामकथन) तथा लक्षण पूर्वग्रन्थ में कहा गया है ॥ १ ॥

उपस्कार—गुणपदार्थों का भी उद्देश तथा लक्षण पूर्व में कहा गया यह सूत्र का अर्थ है। उनमें रूप से लेकर प्रयत्न तक सप्तदश (सत्रह गुण सूत्रकार ने कण्ठ से सूत्र में कहे हैं और गुरुत्व से लेकर शब्द तक सात गुणों का चकार से ग्रहण किया है, जिससे चौबीसों गुणों का अद्वैत वर्णन हो चुका है। उसमें नित्य परमाणुओं में वर्तमान नित्यगुणों में रहनेवाली सत्ताजाति की साक्षात् व्याप्यजाति का आश्रय होना १, अथवा समवायिकारण (द्रव्यों) में अवर्तमान, नित्यों में वतमान सत्ता की साक्षात् व्याप्यजाति का आधार होना २, अथवा असमवायिकारण (गुणों) में वर्तमान नित्य में रहनेवाली सत्ता की साक्षात् व्याप्य जाति का आश्रय होना ३, कार्य के अधिकरण में न रहनेवाली क्रियाओं में अवर्तमान जाति का आधार होना ४ गुणों में गुणत्व होता है ॥ १ ॥

तत्र गुणत्वेन गुणपरीक्षा सप्तमाध्यायार्थः। तत्र प्रथमाह्निके नित्यतया गुणपरीक्षा, अनित्यतया गुणपरीक्षा, पाकजगुणपरीक्षा, सङ्ख्याद्यनेकवृत्तिगुणपरीक्षा, परिमाणपरीक्षा, चेति पञ्चप्रकरणानि, तत्र रूपादीनाञ्चतुर्णामनित्यत्वमाह—

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥ २ ॥

पृथिव्यादीनां वाय्वन्तानामवयविनां रूपादयश्चत्वारो गुणा अनित्याः। यद्यप्यन्येऽपि गुणा अवयविषु वर्त्तमाना अनित्या एव, तथापि तेषामन्यतोऽपि विनाशः। रूपादयश्चत्वारो गुणा आश्रयनाशादेव नश्यन्ति न तु विरोधिगुणान्तरात्। द्रव्यानित्यत्वादिति। द्रव्यस्याश्रयभूतस्यानित्यत्वादाश्रितानामनित्यत्वमिमित्यर्थः ॥ २ ॥

रूपादीनामनित्यत्वे यद्याश्रयानित्यत्वं तन्त्रं तदा नित्याश्रयवृत्तीनां नित्यत्व-

---

उसमें गुणत्वरूप से संपूर्ण गुणों की परीक्षा करना संपूर्ण सप्तमाध्याय का विषय है। उसमें प्रथमाह्निक में नित्यगुणों की परीक्षा (१), अनित्य गुणों की परीक्षा (२), पाकज गुणों की परीक्षा (३), संख्या आदि अनेक द्रव्यों में रहनेवाले गुणों की परीक्षा (४), तथा परिमाण की परीक्षा (५) ऐसे पांच प्रकरण हैं। उससे १ प्रकरण में रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श यह चार गुण अनित्य होते हैं यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शाः = पृथिवी से वायुपर्यन्त द्रव्यों के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श नाम का विशेष गुण, द्रव्यानित्यत्वात् = उनके आधारद्रव्यों के अनित्य होने से, अनित्याः च = अनित्य हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—पृथिवी से वायुपर्यन्त चार द्रव्यों के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श नामक विशेष गुण आधारद्रव्यों के अनित्य होने के कारण अनित्य होते हैं, तथा नित्यजलादिकों में वर्तमान रूपादि गुण नित्य होते हैं यह भी सूत्र के चकार से सूचित होता है। (पृथिवी द्रव्य में तो परमाणु में भी पाक माननेवाले वैशेषिकों के मत से रूपादि गुण अनित्य ही हैं) यह आगे स्पष्ट किया जायगा ॥ २ ॥

उपस्कार—पृथिवी से लेकर वायुपर्यन्त चार अवयवि द्रव्यों के रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श में चार गुण अनित्य हैं। यद्यपि दूसरे भी शब्द आदि गुण जो अवयवि द्रव्यों में वर्तमान होते हैं अनित्य ही हैं, तथापि उनका दूसरे विरोधी गुणादिकों से भी नाश होता है। रूप आदि स्पर्शपर्यन्त चार गुण तो आश्रय के नाश से ही नष्ट होते हैं, न कि दूसरे विरोधी गुण से। सूत्र की 'द्रव्यानित्यत्वात्' इस पद का आधाररूप द्रव्य के अनित्य होने से उनमें आश्रित गुण अनित्य होते हैं यह अर्थ है ॥ २ ॥

यदि रूपादि स्पर्शान्त गुणों की अनित्यता में आश्रय द्रव्य की अनित्यता प्रयोजक है, तो नित्य आधार द्रव्यों में वर्तमान रूपादि गुण नित्य हैं यह आक्षेप

मित्याक्षेपबललभ्यमित्याह—

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥ ३ ॥

रूपादीनामेव चतुर्णां नित्येष्वाश्रयेषु वर्त्तमानानां नित्यत्वमुक्तम्। एतेनेति। आश्रयानित्यत्वेनानित्यत्वाभिधानेनेत्यर्थः। वृत्तिकृतस्तु नित्येष्वनित्यत्वमुक्तमित्यकारप्रश्लेषस्तथाच पार्थिवपरमाणुष्वग्निसंयोगान्नाश इति व्याचक्रुः ॥ ३ ॥

तत् किं पार्थिवेऽपि नित्यवृत्तिरूपादीनां नित्यत्वमेवेत्यतो विशिनष्टि—

अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ॥ ४ ॥

(आर्थिक) बल से प्राप्त होता है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एतेन = इस (आश्रय की अनित्यता से गुणों के अनित्यत्वकथन) से, नित्येषु = नित्य आश्रयद्रव्यों में, नित्यत्वं = नित्यता, उक्तम् = कही गई ॥ ३ ॥

भावार्थ—पूर्वसूत्र में कथित आधारद्रव्यों की अनित्यता से आश्रित गुणों की अनित्यता के कथन से अर्थात् नित्य आधारद्रव्यों में वर्तमान गुण नित्य होते हैं यह कहा गया ॥ ३ ॥

उपस्कार—नित्य आश्रयद्रव्यों में वर्तमान रूप, रस, गन्ध, तथा स्पर्श इन्हीं चार विशेष गुणों की नित्यता कही गई। 'एतेन' इस सूत्र के पद का आधार द्रव्य की अनित्यता से आश्रित गुणों से अनित्य होते हैं। इस कथन से ऐसा अर्थ है।

किन्तु सूत्र में नित्यों में अनित्यता कही गई ऐसा 'नित्यत्वं' के स्थान में 'अनित्यत्वं' ऐसा पाठ मान कर पार्थिव परमाणुरूप नित्यों में रूपादि चार गुणों का नाश होता है ऐसा यहाँ प्राचीन वैशेषिकसूत्रवृत्तिकार ने व्याख्या की है। (किन्तु 'नित्येष्वनित्यं' नित्य पार्थिव परमाणुओं में अग्निसंयोग से नाश होने के कारण रूपादि अनित्य हैं ऐसा अर्थ करने का पाठ लेने से 'एकेन, उक्तं' इन दोनों की संगति न बनेगी यह दोष आता है।) ॥ ३ ॥

'तो क्या पृथिवीद्रव्य में भी नित्यों में रहनेवाले रूपादि चार गुण नित्य ही होते हैं ?' इस प्रश्न के उत्तर में विशेष दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अप्सु=जल में, तेजसि = तेज में, वायौ च=और वायु में, नित्यः = रूपादि गुण नित्य हैं, द्रव्यनित्यत्वात्=आश्रयरूप परमाणु जलादिकों के नित्य होने से ॥ ४ ॥

भावार्थ—जल परमाणुओं में रूप, रस तथा स्पर्श, तेज के परमाणुओं में रूप तथा स्पर्श, और वायु परमाणुओं में स्पर्श यह गुण आश्रयों के नित्य होने से नित्य हैं ॥ ४ ॥

आप्यपरमाणौ रूपरसस्पर्शा नित्याः, तैजसपरमाणौ रूपस्पर्शौ, वायुपरमाणौ स्पर्शो नित्यः। ननु नित्येऽपि वर्तमानानां रूपादीनामनित्यत्वे को विरोधः शब्दबुद्ध्यादीनामिव, इत्यतश्चकारेण गुणान्तराप्रादुर्भावो हेत्वन्तरं सूचितम्। शब्दे हि तीव्रमन्दादिभावेन गुणान्तरप्रादुर्भावोऽनुभूयते, ज्ञानादौ च ज्ञानादिविरोधी संस्कारादिः। आप्यतैजसवायवीयपरमाणुषु रूपादिविरोधि गुणान्तरं न प्रादुर्भवति, यदि प्रादुर्भवेत्तदा तदारब्धेष्वपि द्व्यणुकादिप्रक्रमेणाऽऽप्याद्यवयविष्वपि पूर्वविजातीयं रूपाद्यनुभूयेत। नहि शुक्लरूपविजातीयं रूपं तोयतेजसोर्वा शीतोष्णस्पर्शविजातीयौ स्पर्शौ, उष्णं जलं शीतो वायुरित्यादिप्रतीतिस्तूपाधिनिबन्धनेति भावः॥ ४॥

पूर्वं पृथिवीमन्तर्भाव्यानित्येष्वनित्या इत्युक्तमिदानीमाप्यादिष्वेवाह—

अनित्येष्वनित्या द्रव्यानित्यत्वात्॥ ५॥

उपस्कार—जलीय परमाणुओं में उनके रूप, रस तथा स्पर्शगुण नित्य हैं, तैजस परमाणुओं में उनके रूप और स्पर्शगुण, एवं वायु परमाणुओं में वर्तमान स्पर्शगुण नित्य है। नित्य परमाणुओं में वर्तमान उक्त रूपादि गुणों के अनित्य मानने में कौन सा विरोध होगा जैसे शब्द बुद्धि आदि गुणों के अनित्य होने में कोई विरोध नहीं आता, इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार ने 'च' इस शब्द से 'गुणान्तर का प्रगट न होना' दूसरा हेतु सूचित किया है। शब्दगुण में तीव्र मन्द इत्यादि रूप से गुणान्तर (दूसरे गुण) का अप्रादुर्भाव प्रगट न होना अनुभव में आता है, और ज्ञान सुखादि आत्मगुणों में ज्ञानादिकों के विरोधी संस्कारादिक, किन्तु जलीय, तैजस तथा वायु के परमाणुओं में रूपादि गुणों के विरोधी दूसरे गुण प्रगट नहीं होते। यदि प्रगट हों तो उनसे उत्पन्न हुये भी द्व्यणुकादि क्रम से जलीय आदि अवयवि द्रव्यों में भी प्रथम रूपादि गुणों के विरुद्ध जातिवाले रूपादि गुणों का अनुभव होने लगेगा, किन्तु जल तथा तेज से शुक्ल रूप से विरुद्ध जाति का रूप नहीं होता, अथवा शीत एवं उष्णस्पर्श के विरुद्ध जाति के स्पर्श नहीं होते हैं, जल उष्ण है, वायु शीत है इत्यादि प्रतीति तो अग्नि तथा जलरूप उपाधि के कारण होती है यह सूत्र का आशय है॥ ४॥

पूर्वग्रन्थ में पृथिवीद्रव्य को लेकर अनित्यों में रूपादि गुण अनित्य होते हैं ऐसा कहा था, सांप्रत केवल जलादिकों में ही कहते हैं—

पदपदार्थ—अनित्येषु = अनित्य जलादिकों में, अनित्याः = अनित्य होते हैं, द्रव्यानित्यत्वात् = जलादि द्रव्यों के अनित्य होने से॥ ५॥

भावार्थ—जलादि अवयवादि द्रव्यों के रूपादि गुणों का आधार द्रव्यों के नाश से ही नाश होता है। नकि विरोधी दूसरे गुणों से भी॥ ५॥

अवाद्यवयविरूपादय आश्रयनाशादेव नश्यन्ति न तु विरोधिगुणान्तरादपीत्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु पृथिव्यामवयविरूपायामपि रूपादयोऽग्निसंयोगादेवोत्पद्यन्ते नश्यन्ति च, तत् कथमाश्रयनाशमात्रनाश्या इत्यत आह—

कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः ॥ ६ ॥

पाकजा इति । रूपरसगन्धस्पर्शा इत्यर्थः । कारणगुणपूर्वका इति । रूपाश्रयस्य घटादेर्यत् समवायिकारणं कपालादि तद्गुणपूर्वकाः । तथाच कपालरूपं कारणैकार्थसमवायप्रत्यासत्त्या घटरूपाद्यसमवायिकारणम् । एवं रसादावपि । रूपरसगन्धस्पर्शाः रूपत्वादिगुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमन्तः ।

ननु चक्षुर्ग्राह्यत्वमेव रूपत्वमुपाधिरिति चेत् इन्द्रियपातमात्रेण रूपमिति

उपस्कार—जल तेज आदि अवयवि द्रव्यों के रूप, रस आदि गुण आधारद्रव्य के नाश से ही नष्ट होते हैं, नकि दूसरे विरोधी गुण से नष्ट होते हैं ॥ ५ ॥

अवयविद्रव्यरूप पृथिवी में भी रूप, रस आदि गुण अग्नि के संयोग से उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं, तो केवल आधारद्रव्य के नाश से ही रूपादि गुणों का नाश होता है यह नियम कैसे हो सकता है, इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कारणगुणपूर्वकाः = समवायिकारण गुण के अनुसार होते हैं, पृथिव्यां = घटादि पृथिवी द्रव्य में जो, पाकजः = अग्निसंयोग से बदलते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—पृथिवी में रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शस्वरूपविशेष गुण अग्निसंयोगरूप पाक से उत्पन्न होते हैं तथा नष्ट भी होते हैं, अतः पृथिवीद्रव्य में आधारद्रव्य के नाश से ही रूपादि गुणों के नष्ट होने का नियम नहीं है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र में पाकज शब्द से अग्निसंयोग से बदलनेवाले रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श चार विशेष गुण ऐसा अर्थ करना । कारणगुणपूर्वकाः इस सूत्र के पद का रूप के आश्रय घटादि पृथिवी को जो समवायिकारण कपालादि, उसके गुणानुसार घटादि पृथिवी में रूपादि गुण होते हैं यह अर्थ है, ऐसा होने से कपाल का रूप घटरूप के समवायिकारण घटरूप एक पदार्थ में दोनों के संनिकर्ष से घट के रूप का असमवायिकारण होता है । एवं (इसी प्रकार) रसादि गुणों में भी जानना । (रूपत्वादि धर्म जाति रूप हैं यह सिद्ध करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं)—रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श यह चार गुण रूपत्व, रसत्व, गन्धत्व, तथा स्पर्शत्वरूप गुणत्वजाति की साक्षात् व्याप्य जाति के आश्रय हैं । 'चक्षुरिन्द्रियग्राह्यता ही जातिभिन्न अखण्ड धर्मरूप उपाधि ही क्यों न मानी जाय' ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे तो इसका

प्रत्ययानुदयप्रसङ्गात् । अननुसंहितोपाधेरुपहितप्रत्ययायोगादिति । उपाधिश्चात्र चक्षुस्तच्चातीन्द्रियं ग्राह्यत्वञ्च ग्रहणविषयत्वं तदप्यचाक्षुषं रूपत्वविशिष्टप्रतीतेश्च चाक्षुषत्वात् । चक्षुर्मात्रबहिरिन्द्रियग्राह्यगुणत्वं रूपत्वम् । अतीन्द्रियरूपाव्याप्तिरिति चेन्न चक्षुर्मात्रबहिरिन्द्रियग्राह्यजातिमत्त्वस्य विवक्षितत्वात् तादृशी च जाती रूपत्वं नीलत्वादिका चेति । नन्वेकैका एव नीलपीतादिव्यक्तयो नित्या न तु तत्र नीलत्वादिजातय एकव्यक्तिकत्वादिति चेन्न नीलतरनीलतमादिप्रत्ययानुदयप्रसङ्गात् । धावल्यादिसम्भेदाभावकृतस्तत्र तारतम्यव्यवहार इति चेन्न प्रमाणाभावात्, श्यामं रूपं नष्टं रक्तमुत्पन्नमिति

उत्तर यह है कि ऐसा मानने से रूप के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संनिकर्ष होते ही जो इन्द्रिय से ग्राह्य होता है उसे रूप कहते हैं ऐसे ज्ञान के विना भी जो यह रूप है ऐसा ज्ञान होता है वह न हो सकेगा, क्योंकि विना उपाधिधर्म के ज्ञान के उपाधिवाले का ज्ञान नहीं होता । यहां उपाधि है चक्षुरिन्द्रिय, और वह अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) है, और ग्राह्यता शब्द का अर्थ है ग्रहण (ज्ञान) का विषय होना, वह भी चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय नहीं है, रूपत्वजातिविशिष्टरूप का ज्ञान तो चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है । चक्षुरूप इन्द्रियमात्र से गृहीत होनेवाले गुणत्व को रूपत्व कहते हैं । (ऐसा होने से ज्ञान के अतीन्द्रिय चक्षुरिन्द्रिय घटित होने से तथा रूप ज्ञान के भी चाक्षुष न होने के कारण रूप में अतीन्द्रियता के आने की आपत्ति होने से रूप चाक्षुषप्रत्यक्ष का विषय न होगा । तथा रूपत्व जाति की अपेक्षया चक्षुग्राह्यतारूप उपाधि के गुरु शरीर होने से तथा जातिमात्र का इस प्रकार न मानने की आपत्ति आने से, एवं अतीन्द्रिय परमाणुओं के रूप में चक्षुर्ग्राह्यतारूप उपाधि धर्म के न रहने से भी रूपत्व उपाधि नहीं है, किन्तु जाति यह तात्पर्य यहाँ जानना ।) यदि 'रूपत्व जाति मानी जाय तो अतीन्द्रिय परमाणुरूप में अतिव्याप्ति दोष आ जायगा' ऐसी पूर्वपक्षी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि केवल चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत होनेवाली जगने के आश्रय को हम रूप कहते हैं, ऐसी जाति होगी रूपत्व, नीलत्व आदि । (वह अतीन्द्रियरूप में रहने से उक्त अतिव्याप्ति दोष न होगा) । 'नीलत्व पीतत्व आदि रूपत्व की व्याप्य जातियां नहीं हो सकतीं, क्योंकि नील, पीत इत्यादि एक ही रूप व्यक्ति हैं, जो नित्य है, तो उनसे एक-एक नील आदि व्यक्तियों में रहने के कारण नीलत्वादि जाति क्यों मानी जाय ? ऐसी शंका पूर्वपक्षी नहीं कर सकता, ऐसा मानने से (एक-एक ही नीलादि व्यक्ति होने से) नीलतर (अधिक नील) नीलतम (अत्यन्त अधिक नील) इत्यादि ज्ञान न होगा । यदि 'श्वेतता गुण के मिश्रण के अभाव से उक्त तरतमभाव की उक्त प्रतीति होती है' ऐसा कहो तो, इसमें कोई प्रमाण नहीं है । तथा 'श्याम रूप नष्ट हुआ' 'रक्त रूप उत्पन्न हुआ' ऐसी नीला-

प्रतीतेश्च। न च सा समवायोत्पत्तिविनाशकृतेति वाच्यम् समवायस्य तत्रानुल्लेखात्, तस्य नित्यत्वाच्च, घटादेरप्यनित्यतायामेवंसत्यनाश्वासापत्तेः समवायानित्यत्वेनैव तत्राप्यन्यथासिद्धेः सुवचत्वात्।

ननु नीलपीतादयो गुणा द्रव्याभिन्ना एव धर्मधर्मिणोरभेदादिति चेन्न रूपं घटः स्पर्शो घट इत्यादिव्यवहारप्रसङ्गात्। ननु नेदमनिष्टं यतो भवत्येव शुक्लः पटो नीलः पट इत्यादिप्रतीतिरिति चेन्न मतुब्लोपादभेदोपचाराद्वा प्रतीत्युपपत्तेः। भेदे प्रमाणे सति कल्पनेयं यथाकथञ्चिदुपपद्यते इति चेन्न चन्दनस्य रूपं चन्दनस्य गन्ध इत्यादिव्यपदेशबलाद्भेदसिद्धेः, पटस्य रूपाभेदे पटवद्रूपमपि त्वगिन्द्रियेण गृह्येत,पटमानयेत्युक्ते यत्किञ्चिद्रूपमानयेत् रूपमानयेत्युक्ते

दिकों के उत्पत्ति तथा विनाश की प्रतीति एक तथा नित्य नीलादि व्यक्ति मानने के पक्ष में न होगी। यदि श्याम नष्ट हुआ रक्त उत्पन्न हुआ इसी प्रतीति का श्यामरूप का समवाय नष्ट हुआ तथा रक्तरूप का समवाय उत्पन्न हुआ यह अर्थ है, ऐसा कहो तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि उस प्रतीति में समवाय का उल्लेख (नामग्रहण) नहीं है, और वह नित्य भी है, और इस नीलादिकों के समान घटादि पदार्थ भी अनित्य हैं इस विषय में विश्वास न होगा, क्योंकि घटादि पदार्थों में भी उनके समवाय की उत्पत्ति तथा विनाश मानकर घट उत्पन्न हुआ, नष्ट हुआ यह अनित्यता हो सकने से घटादि पदार्थ भी नीलादिकों के समान एक तथा नित्य हो जांयगे यह कहा जा सकता है। 'नील पीत आदि चरादि द्रव्यों से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि धर्म तथा धर्मी का भेद नहीं होता' ऐसा पूर्वपक्षी आक्षेप करे तो यह नहीं हो सकता, ऐसा धर्म-धर्मी का अभेद माना जाय, तो रूप घट है, स्पर्श घट है, इत्यादि व्यवहार होने लगेगा। यदि पूर्वपक्षी कहे कि यह तो इष्ट (अभिमत) ही है, क्योंकि शुक्ल पट है, नील पट है, इत्यादि धर्म तथा धर्मी में एकता दिखानेवाला ज्ञान तो होता ही है, तो यह नहीं कह सकते, क्योंकि शुक्ल शब्द के उत्तर शुक्लवर्णवाला इस अर्थ के बोधक मतुप् प्रत्यय का लोप मानकर अभेद गौण धर्म तथा धर्मी का अभेद मान कर 'शुक्ल पट है' इत्यादि व्यवहार हो सकता है। यदि "शुक्ल वर्ण तथा पट के भेदविषय' में प्रमाण हो तो यह मतुप् लोप अथवा गौण अभेद की कल्पना किसी तरह हो सकेगी। अर्थात् जब रूप और आधार का भेद नहीं है तो उपचार (गौणता) कैसे मानी जाय ? ऐसी शंका नहीं हो सकती, क्योंकि चन्दन का रूप, चन्दन का गन्ध इत्यादि व्यवहार के बल से चन्दन तथा उसके रूप, और गन्ध का भेद सिद्ध होता है। तथा पट और उसके रूप को एक माना जाय तो पट के समान रूप का भी अन्धे को त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने लगेगा। एवं 'पट को ले आओ' ऐसा कहने पर जिस किसी रूप को ले आनेवाला ले आयेगा। एवं रूप को ले आओ ऐसी आज्ञा देने पर जिस किसी घटादि द्रव्य को

यत्किञ्चिद् द्रव्यमानयेत्। अस्तु तर्हि भेदाभेदः अत्यन्तभेदेऽत्यन्ताभेदे च सामानाधिकरण्यानुपपत्तेरिति चेन्न अवच्छेदभेदं विना विरुद्धयोर्भेदाभेदयोरेकत्रासम्भवात्। अन्योन्याभावत्वमव्याप्यवृत्तिवृत्तिनित्याभाववृत्तिधर्मत्वादत्यन्ताभावत्ववदिति चेन्न एकत्र संयोगतदत्यन्ताभावयोः प्रतीतिबलादत्यन्ताभावस्याव्याप्यवृत्तित्वाभ्युपगमात्, अन्योन्याभावे तु तथाप्रतीतेरभावात्।

तदेतद्रूपं पृथिव्यां नानाप्रकारकम्, पाथसि तेजसि च शुक्लमेव। क्वचित् पटादौ च चित्रमपि रूपमधिकम् अन्यथा तदचाक्षुषत्वापातात् रूपवत एव चाक्षुषद्रव्यत्वात्। न च विजातीयरूपै रूपानारम्भः, नीलपीतादीनामारम्भे रूपत्वेनैव साजात्यस्यापेक्षितत्वात् अन्यथा तदचाक्षुषत्वापत्तेरुक्तत्वात्। न चावयवरूपोपग्रहेणैवावयविग्रहः अवयवानामपि चित्रतया नीरूपत्वप्रसङ्गात्,

---

आज्ञा पानेवाला ले आवेगा। यदि 'शुक्ल पट है इस प्रतीति में शुक्लवर्ण तथा पटत्व के एक अधिकरण में प्रतीति के अन्यथा न बन सकने से शुक्लरूप तथा पट का भेद तथा अभेद दोनों मानेंगे, क्योंकि शुक्लवर्ण तथा पट का अत्यन्त भेद तथा, अत्यन्त ऐक्य मानने के पक्ष में प्रदर्शित सामानाधिकरण्य प्रतीति नहीं हो सकती' ऐसी शंका पूर्वपक्षी करे तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अवच्छेद (विशेषण) के भेद के बिना विरुद्ध भेद तथा अभेद एक पदार्थ में नहीं रह सकते (अर्थात् व्याप्यवृत्ति अन्योन्याभाव (भेद) का अवच्छेद (विशेषण) भेद होना असंगत है) यदि अन्योन्याभावत्व (भेदत्व,) अव्याप्यवृत्ति (भेद) में रहता है, नित्य अभाव में वर्तमान धर्म होने से अत्यन्ताभावत्व के समान, इस अनुमान से भेद को भी अव्याप्यवृत्ति मान लेंगे' ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे तो यह भी नहीं हो सकता, एक वृक्षादिकों में अग्रभाग में कपि के संयोग तथा मूलभाग में उसके अभाव इन दोनों की प्रतीति होने के कारण अत्यन्ताभाव को अव्याप्यवृत्ति (एकदेशवृत्ति) माना जाता है, किन्तु 'वृक्ष कपिसंयोगी नहीं है' ऐसी प्रतीति न होने के कारण भेद को अव्याप्यवृत्ति नहीं माना जा सकता।

वह यह रूप नामक गुण पृथिवी द्रव्य में शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिष, तथा छित्र भेद से अनेक (सात) प्रकार का, और जल तथा तेजद्रव्य में शुक्लरूप ही है। किसी-किसी पट आदि में चित्र नाम का भी छः रूपों से अधिक रूप है, न हो तो उस चित्र (अनेक रङ्गवाले) पट का चाक्षुषप्रत्यक्ष न होगा, क्योंकि रूपाश्रय ही द्रव्य का चाक्षुषप्रत्यक्ष होता है। 'अवयवों के विरुद्धजातिवाले अनेक रूपों से अवयविद्रव्य में एकरूप की उत्पत्ति नहीं हो सकती।' ऐसी पूर्वपक्षी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि नील, पीत इत्यादि रूपों के उत्पत्ति में रूपत्वधर्म से ही समान जातीयता आवश्यक है, नहीं तो उस चित्ररूपवाले पट का प्रत्यक्ष न होगा यह दोष कहा है। अर्थात् रूपत्वरूप से कारणता होने के कारण यदि

यत्र वा पाकात् परमाणुषु चित्रं रूपं तत्रैव तत्परम्परारब्धपटादौ चित्ररूपोपपत्तेः। न च हरीतक्यां रसोऽपि चित्र इति वाच्यम् हरीतक्या नीरसत्वेऽपि दोषाभावात्, षड्रसत्वव्यवहारस्तु तत्तद्रसगुणकारितया। एवं गन्धोऽपि न चित्रः सौरभासौरभवद्‌द्व्यवद्‌द्वयस्यानारम्भकत्वात्। कर्कट्यादौ क्वचिदवयवे तैक्त्यं क्वचिन्माधुर्यं तथाच कतमो रसः कर्कट्यामिति चेन्माधुर्यमेव। गुणविरोधेन कथं तथा स्यादिति चेत् तदवयवे तैक्त्याभावात्। तथाऽनुभवः कथमिति चेत् कर्कटीभक्षणक्षुभितरसनाग्रवर्त्तिपित्तद्रव्यस्य तिक्ततापलम्भात्, तत एव कदाचिन्मुखमपि तिक्तायते। हरीतक्यामपि कथमियं न गतिरिति चेन्न तदवयवेषु कषायमाधुर्यलवणादिनानारसानुभवादित्यलं पल्लवेन।

विरुद्ध जातिवाले अवयवों के अनेक रूपों से चित्ररूप न मानने पर भी अवयवों के चित्ररूप से उसकी उत्पत्ति होने से कोई बाधक न होने के कारण अवयवी का प्रत्यक्ष न होगा। किन्तु नवीन नैयायिकों ने चित्ररूप नहीं माना है क्योंकि अवयवों के विशेषों में वर्तमान रूपों के भेद से ही अवयवी का ग्रहण हो सकता है नहीं तो चित्ररूप के समान चित्ररस भी मानना पड़ेगा यह उनका आशय है) ॥

'अवयवों के रूपों के ग्रहण से ही अवयवी का ग्रहण हो जायगा', यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अवयव भी चित्र होने से विरोध के कारण रूपरहित हो जांयगे, अथवा जहाँ पाक से परमाणुओं में ही चित्ररूप होता है वहीं पर उन परमाणुओं के द्वयणुकादि क्रमपरम्परा से उत्पन्न पटादि अवयवि द्रव्य में चित्ररूप हो सकता है। यदि ऐसा है तो हरीतकी (हर्रे) में रस भी चित्र होगा' ऐसा नही कहा जा सकता, क्योंकि हरीतकी (हर्रे) में रस न होने पर भी दोष नहीं होगा, षड्रस पृथिवी द्रव्य होता है यह प्रवाद (मत) तो उन २ मधुरादि रसरूप गुणों को करने के कारण है। इसी प्रकार गन्धगुण को भी चित्र मानने की आवश्यकता नहीं है, सुरभि तथा असुरभि गन्धवाले विरुद्ध अवयवों से कार्यगन्ध उत्पन्न नहीं हो सकता। 'कर्कटी (खीरा) आदिकों में कुछ अवयवों का तिक्त तीता रस का तथा कुछ अवयवों में मधुर रस का अनुभव होता है, तो उस कर्कटी में कौन रस माना जाय', तो मधुररस मानना ही उचित है। 'तिक्त तथा मधुर रस का परस्पर विरोध होने के कारण यह कैसे होगा' ऐसा कहो तो, उसके अवयवों में तिक्त (तीतापन) न होने से। तो उस 'कर्कटी में तिक्त रस का अनुभव कैसे होता है' ? ऐसा कहो तो उस कर्कटी के खाने से क्षुभित हुए जिह्वा के अग्रभाग में वर्तमान पित्तरूप द्रव्य की तिक्तता की उपलब्धि (ग्रहण) होने के कारण, उसी से कदाचित् मुख का भी तिक्त (तीते) के समान अनुभव होता है। तो 'हरीतकी (हर्रे) में भी यही प्रकार क्यों न माना जाय !' ऐसी शंका यदि पूर्वपक्षी करे तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि हरीतकी के अवयवों में कषाय, मधुरता, लवण (खारापन)

तच्च रूपं नयनसहकारि। नन्वेवं वायौ रूपाभावस्य तमसश्च कथं चाक्षुषतेति चेन्न भावग्रह एव रूपस्य नयनसहकारित्वात्, विषयालोकचक्षुषां त्रयाणामपि रूपाणि चाक्षुषप्रतीतिप्रयोजकानि।

रसोऽपि रसत्वजातिमान्। रसत्वं रसनेन्द्रियमात्रजन्यसाक्षात्कारविषयजातिः ताद्दशजातिमत्त्वञ्च रसत्वम्। सोऽयं जीवनपुष्टिबलारोग्यहेतुः रसनसहकारी। रसनेन्द्रियग्राह्यगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्वं रसत्वम्, तथासति नातीन्द्रियरसाव्याप्तिः।

घ्राणमात्रग्राह्यो गुणो गन्धः। घ्राणमात्रग्राह्यगुणत्वव्याप्यजातिमत्त्व गन्ध-

---

इत्यादि नाना प्रकार के रसों का अनुभव होता है। इस विषय में अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है।

वह उक्त स्वरूप रूप नामक विशेषगुण चाक्षुषप्रत्यक्ष की उत्पत्ति में सहकारिकारण है। ऐसा मानने से 'वायुद्रव्य में रूप के अभाव, तथा अन्धकार का चाक्षुषप्रत्यक्ष कैसे होगा?' ऐसा पूर्वपक्षी आक्षेप नही कर सकता, क्योंकि भावरूप पदार्थों के चाक्षुषप्रत्यक्ष में ही रूपगुण चाक्षुषप्रत्यक्ष सहायक होता है। विषय, आलोक (प्रकाश) तथा चक्षु इन तीनों के रूप चाक्षुषज्ञान होने में प्रयोजक हैं (अन्यथा रक्तप्रकाश में वर्तमान शंख का रक्तरूप से, तथा पित्तदोष से दूषित चक्षुरिन्द्रिय के संनिकृष्ट पदार्थ का पीतरूप से ग्रहण न होगा। किन्तु विषय में वर्तमान रूप ही कारण है, आलोकादिकों के भी विषय होने से रक्तप्रकाश में स्थित शंख का रक्तरूप से ज्ञान होना भी संगत हो जायगा' ऐसा नवीन नैयायिकों का मत है)।

रसत्वजातिविशिष्ट गुण का नाम रस है। रसनेन्द्रिय (जिह्वा) मात्र से उत्पन्न प्रत्यक्ष का विषय जाति है रसत्व, उस जाति का आधार होना ही रसगुण में रसत्व है, वह यह रसगुण जीवन, शरीरपुष्टि, बल तथा आरोग्य (निरोगता) का कारण है (इससे मरण, कृश होना, दुर्बलता भी सूचित होती है, क्योंकि ये भी रस से उत्पन्न होते हैं। गन्ध, स्पर्श आदि गुण रसग्रहण से ही जीवनादिकों में उपयोगी होते हैं अतः उनमें ये सब नहीं कहे हैं)। तथा रस रसनेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ये सहायक कारण हैं। रसनेन्द्रिय से गृहीत होनेवाली गुणत्वव्याप्यरसत्वजाति का आधार होना ही रसगुण में रसत्व है, ऐसा लक्षण करने से अतिन्द्रिय परमाणु रस में अव्याप्ति दोष न होगा।

केवल घ्राणेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होनेवाले गुण का नाम है गन्ध। केवल घ्राणेन्द्रिय से ग्रहण होने योग्य गुणत्व की व्याप्य गन्धत्व जाति का आश्रय होना गन्ध में गन्धत्व है, ऐसे जातिघटित लक्षण से अतीन्द्रिय गन्ध में अव्याप्ति दोष न होगा।

त्वम्, स च सुरभिरसुरभिश्चेति द्विविधः। यद्वा पृथिवीवृत्तिमात्रवृत्तिगुणत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिमत्त्वं गन्धत्वम्।

एवं स्पर्शोऽपि स्पर्शत्वजातिमान् गुणः। त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यगुणत्वसाक्षाद्व्याप्य जातिमत्त्वं स्पर्शत्वम्। द्रव्यचतुष्टयवृत्तिश्चायम्। अनुष्णाशीतशीतोष्णभेदात् त्रिविधः।

इदानीं प्रसङ्गात् पाकजप्रक्रिया चिन्त्यते—तत्र कार्यकारणसमुदाय एव पच्यते इति पिठरपाकवादिनः।

पीलवः—परमाणव एव स्वतन्त्राः पच्यन्ते, तत्रैव पूर्वरूपनाशाग्निमरूपाद्युत्पत्तिः कारणगुणप्रक्रमेण चावयविनि रूपाद्युत्पद्यते इति पीलुपाकवादिनः।

अत्रेदं तत्त्वम्। आपाके निःक्षिप्तस्य घटादेरामद्रव्यस्य वह्निना नोदनादभिघाताद्वा तदारम्भकेषु परमाणुषु द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागेनारम्भकसंयोगनाशे द्रव्यनाशावश्यम्भावात्। दृश्यते हि स्थाल्यामाहितानां तण्डुलादीनामप्यधःसन्तापनमात्रेण भर्जनात्तदानीमेव नाशः, क्षीरनीरादीनाञ्चात्यन्तमुल्ब-

---

वह गन्धगुण सुगन्ध और दुर्गन्ध इस भेद से दो प्रकार का है अथवा केवल पृथिवीद्रव्य में वर्तमान गुणत्व की साक्षात् व्याप्यजाति का आधार होना ही गन्ध में गन्धत्व है।

इसी प्रकार स्पर्शत्व जाति के आश्रय गुण का नाम है स्पर्शगुण। केवल त्वचा इन्द्रिय से गृहीत होनेवाली गुणत्व की साक्षात् व्याप्यजाति का अधिकरण होना ही स्पर्शगुण में स्पर्शत्व है। यह स्पर्शगुण पृथिवी, जल, तेज तथा वायु ऐसे चार द्रव्यों में रहता है, जो अनुष्णाशीत, शीत तथा उष्णभेद से तीन प्रकार का है।

साम्प्रत प्रसङ्ग से पाकज प्रक्रिया का विचार करते हैं—उसमें कार्य तथा कारणों का समुदाय ही पाकज (तेज के संयोग से बदलता) है ऐसा पिठर (अवयविद्रव्य) में पाक माननेवाले नैयायिकों का मत है। और केवल पीलू (परमाणु) ही स्वतंत्र होकर पकते हैं, उन्हीं में पूर्वश्यामरूपादिकों का नाश होकर आगे रक्तरूप आदि गुणों की उत्पत्ति होती है, और कारणगुणों के क्रम से अवयविद्रव्य घट फल आदिकों में रूप, रसादिगुणों की उत्पत्ति होती है, ऐसा पीलुपाकवादि वैशेषिकों का मत है। यहां पर यह तत्त्व (सिद्धान्त) है कि आपाक (आंवे) में रखे हुए घट, फल आदि आम (कच्चे) द्रव्य का अग्नि, तृण आदि की उष्णता के नोदन अथवा अभिघात नामक संयोग से घटादि अवयवि द्रव्यों के उत्पादक परमाणुओं में घटादिद्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी विभाग से घटादियों के आरम्भक परमाणुओं का पूर्व संयोग के नष्ट होने पर घटादि द्रव्य का नाश अवश्य होगा। क्योंकि (स्थाली) बटुली में रखे हुए तण्डुल (चावल, दाल) इत्यादिकों का बटुली के नीचे केवल अग्नि के सन्ताप से भूँज जाने से तत्काल नाश हो जाता है, और दूध तथा जल कढ़ने

णता । तथा चापाके वह्निज्वालाजालाभिहतानां द्रव्याणामवस्थानमिति महती प्रत्याशा । किञ्च यदि द्रव्यनाशस्तदा मध्यभागे पाकानुपपत्तिः, न हि दृढतरावयवान्तरावरुद्धे मध्यभागे तेजःसंयोगासम्भावना येन तत्र श्यामादिनिवृत्तिः स्यात्, तथा च श्यामा अवयवाः अवयवी च रक्त इति महद्वैशसम् । ननु सच्छिद्राण्येवावयविद्रव्याणि, कथमन्यथा कुम्भादावन्तर्निहितानां तैलघृतादीनां स्यन्दनं श्रपणञ्च, तथा च मध्यभागेऽपि तेजःसंयोगः स्यादेवेति चेन्न मूर्त्तानां

लगता है, यह भी देखने में आता है, तब आपाक (आंवे) में रखे हुए अग्नि की ज्वाला से अभिहत (अभिघात संयोगवाले) घटादि द्रव्य पूर्ववत् रहते हैं यह केवल बड़ी आशामात्र है (यदि जहां नाश का प्रत्यक्ष होता है वहां ऐसा मानेंगे, किन्तु परमाणुओं का नाश तो अप्रत्यक्ष है, तस्मात् इसमें क्या प्रमाण, ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे तो शंकरमिश्र दूसरा दोष देते हुए कहते हैं कि)—और यदि आंवे में रखे घड़े का नाश होता हो तो, घट के मध्यभाग में पाक नहीं सकेगा, क्योंकि अत्यन्त दृढ़ दूसरे अवयवों से घिरे हुए मध्यभाग में अग्निरूप तेज के संयोग की संभावना नहीं हो सकती, जिससे मध्यभाग में (घट के भीतर) श्यामादिपूर्वरूप की निवृत्ति हो, ऐसा होने से घटके अवयव श्याम तथा घटरूप अवयवी रक्त ऐसा प्राप्त होने से बड़ा भारी वैशस (वैषम्य) होगा । यदि 'घटादि अवयविद्रव्य सच्छिद्र होते हैं, अन्यथा घट के भीतर रखे हुए तेल, घृत आदि द्रव्यों का बाहर स्यन्दन (चूना) श्रपण (पकना) यह भी न हो सकेगा, ऐसा होने के कारण घट के मध्यभाग में तेज (अग्नि) का संयोग अवश्य होता है, जिससे उक्त वैषम्यदोष न आवेगा' ऐसी पूर्वपक्षी (पिठरपाकवादी) शंका करे तो, यह असंगत है, क्योंकि मूर्त अनेक द्रव्यों का समान (एक) देश में रहने का विरोध होता है, अतः दूसरे अवयवों से संयुक्त मध्यभाग में तेज का संयोग नहीं हो सकता ।

इस पिठरवादी के मत का जो खण्डन शंकरमिश्र ने पीलुपाकवादियों के मत से किया है उससे यह विचार हो सकता है कि यदि मूर्त द्रव्यों के संयोग से समानदेशता का विरोध माना जाय तो वह समानसंयोगविशेष को लेकर ही माना जायगा नहीं तो प्रचय (शिथिलता प्रयोजक) संयोग युक्त तूलक (रूई) के भीतर प्रकाश का जाना, तथा सूक्ष्म रेशम के वस्त्र से जल का निकलना, तथा स्पंदन (हिलना) आदि क्रिया भी जो प्रत्यक्ष से गृहीत होती है नहीं बन सकेगी, अतः अवयवसंयोग, तथा तेज का संयोग आदि समान नहीं हो सकते, उनके समान न होनेसे उस संयोग के साथ समानदेशता का विरोध नहीं हो सकता, अतः पिठरपाकवाद भी युक्त ही है। (इस विषय में कणाद (रहस्यग्रन्थ में और विस्तार देख लेना चाहिये) । (आगे पीलुवाद पर पूर्वपक्षिमत से शंकरमिश्र शंका दिखाते हुए कहते हैं कि)—यदि उक्त प्रकार से आंवे में डाले हुए घटादि द्रव्य का नाश होता हो तो, बाहर निकालने पर

समानदेशताविरोधात्, अवयवान्तरसंयुक्ते मध्यभागे तेजःसंयोगासम्भवात्। ननु यदि द्रव्यनाशः कथं तर्हि स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञा, कथं वा सर्वास्ववस्थासु आपाकादौ घटादेस्तादृशस्यैव दर्शनम्, घटादेरुपरि निहितानां शरावोदञ्चनादीनां तथैव दर्शनं घटादिस्फुटने हि तेषां पातः स्यात्, कथं वा यावन्त एवापाके निहितास्तावन्त एव पुनः प्राप्यन्ते परमाणुभिर्द्व्यणुकादिप्रक्रमेण न्यूनानामधिकानां वा तदानीमारम्भसम्भवात्, कथं वा तावत्परिमाणान्येव घटादीन्यापाकोत्तीर्णान्युपलभ्यन्ते, रेखोपरेखादिचिह्नविलोपो वा कथं न भवेत्, ? तथा चावयविष्वेव पाक इति चेत् मैवम्, सूच्यग्रेण घटादौ त्रिचतुरत्रसरेणुविभागे सति द्रव्यारम्भकसंयोगनाशे द्रव्यनाशे सर्वासामनुपपत्तीनामुभयसमाधेयत्वात् न हि तत्र द्रव्यं न नश्यतीति पिठरपाकवादिनोऽपि वक्तुमुत्सहन्ते।

तत्रापि घटादयो न नश्यन्ति कतिपयावयवनाशेऽप्यवशिष्टावयवमाश्रित्य कार्यावस्थानसम्भवादन्यथा प्रत्यभिज्ञानाद्यनुपपत्तिरेवेति मीमांसकाः।

'वही यह घट है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) कैसे होगी, अथवा संपूर्ण अवस्थाओं में आंवे में वैसा ही घट कैसे दिखाई पड़ेगा, एवं घटादिकों पर रखे हुए किसोरे पुरवे आदि वैसे ही क्यों दिखाई पड़ेंगे वल्कि घट के नष्ट होने से वे गिर जांयगे, अथवा जितने ही आंवे में रखे गये थे उतने ही पुनः क्यों प्राप्त होते हैं। क्योंकि स्वतन्त्र परमाणुओं से द्व्यणुकादि क्रम से कम (न्यून) अथवा अधिक उस समय उत्पन्न हो सकते हैं। अथवा कैसे आंवे से निकालने पर भी उतने ही परिमाणवाले ही क्यों पाये जाते हैं ? अथवा रेखा (लकीर) उपरेखा (पास की लकीर) आदि चिह्नों (निशानों) का लोप कैसे न होगा (अर्थात् घट पर किये हुए निशान क्यों न मिट जांयगे), ऐसा होने से यह सिद्ध होता है कि अवयवि घट में ही पाक होता है इस शंका का उत्तर पीलुपाकवादी ऐसा करते हैं कि ऐसा नहीं, क्योंकि सूची (सूई) के अग्रभाग से घटादि द्रव्यों में छेद होने के समय तीन या चार त्रसरेणुओं का विभाग होने पर उसके घट के उत्पादक पूर्वसंयोग का नाश होने के कारण घटरूप अवयविद्रव्य का नाश होने के कारण संपूर्ण पिठरवादी ने दिये दोषों का पिठर तथा पीलुपाकवाद ऐसे दोनों मत से समाधान होने की योग्यता समान ही है (अर्थात् दोनों का उक्त आपत्तियों का समाधान करना प्राप्त है) क्योंकि उस अवस्था में घटद्रव्य का नाश नहीं होता ऐसा पिठरपाकवादी नैयायिक भी नहीं कह सकते।

उस अवस्था में भी घटादि अवयवि द्रव्य नष्ट नहीं होते, क्योंकि कुछ अवयवों का नाश होने पर भी अवशिष्ट (न नष्ट हुये) अवयवों के आश्रय से घटरूप अवयवि द्रव्य की स्थिति हो सकती है; नहीं तो 'वही यह घट है' यह प्रत्यभिज्ञा न

ते तु तावदवयवावस्थानयोग्यस्य घटादेः स्वल्पेष्ववयवेषु कथं वृत्तिः स्यादिति प्रष्टव्याः। अविनष्ट एव पटे परिमाणसङ्कोचवदेतदुपपत्स्यते इति तेषामुत्तरमिति चेन्न कठिनतरावयवानां काष्ठपाषाणस्तम्भकुम्भादीनां सङ्कोचविकाशयोरदर्शनात्। घटादिनाशकाभिमतेन तत्परिमाणमेव नश्यतीति चेन्न परिमाणस्याश्रयनाशैकनाश्यत्वात् घटादिप्रत्यभिज्ञानवत् सूचीदलनस्थले परिमाणस्यापि प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, त्वन्मते तन्नाशस्याप्यनुपपत्तेरिति दिक्।

येषां मते द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्वी तदप्रतिद्वन्द्वी च विभाग एकयैवावयवप्रक्रियया जन्यते तेषां द्व्यणुकनाशमारभ्य नवमक्षणे द्व्यणुकान्तरे रक्ताद्युत्पत्तिरेकस्मिन्नेव परमाणौ क्रियाचिन्तनात्। तथा हि वह्निना नोदनाद् द्व्यणुकारम्भके परमाणौ कर्म, ततो विभागस्ततो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशस्ततो द्व्यणुकनाशः नष्टे द्व्यणुके केवले परमाणावग्निसंयोगाच्छ्यामादिनिवृत्तिः। श्यामादौ निवृत्ते अन्य-

---

हो सकेगी, ऐसा मीमांसकों का मत है। उन मीमांसकों से हम यह प्रश्न कर सकते हैं कि—उतने (जितने अवयवों से वह बना था) अवयवों में रहने की योग्यता रखनेवाले वे घटादि अवयवि द्रव्य अल्प (कम) अवयवों में कैसे रह सकते हैं। 'यदि नष्ट न हुये ही पट में परिमाण के संकोच के समान यह भी हो सकेगा' ऐसा मीमांसकों का उत्तर हो तो, यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि अत्यन्त कठिन (कड़े) अवयव वाले लकड़ी, पत्थर, स्तम्भ (खम्बा) तथा घटादि द्रव्यों में संकोच तथा विकास देखने में नहीं आता। यदि 'घटादिकों के नाश करनेवाले के अभिप्राय से उनका परिमाण ही नष्ट होता है' ऐसा कहो तो, यह भी नहीं हो सकता क्योंकि परिमाण गुण केवल आश्रय के नाश से ही नष्ट होता है, वही घट है इस प्रत्यभिज्ञा के समान सूची (सूई) से छेद करने के स्थल में परिमाणकी प्रत्यभिज्ञा होती है। आपके मत में (मीमांसक के मत में) उसका नाश भी नहीं हो सकता ऐसा मीमांसक के मत के खण्डन का प्रकार है।

जिनके मत में घटादि द्रव्य के उत्पादक संयोग का विरोधी तथा अविरोधी दोनों प्रकार का अवयवों का परस्पर विभाग एक ही परमाणुओं की क्रिया से उत्पन्न होता है, उनके मत में द्वयणुक द्रव्य के नाश के क्षण से लेकर नवमक्षण में दूसरे उत्पन्न हुए द्वयणुक में रक्त आदि गुणों की उत्पत्ति होती है, एक ही परमाणु में क्रिया मानने से। वह इस प्रकार है—वह्नि के नोदनसंयोग से पूर्व द्वयणुक द्रव्य के उत्पन्न करनेवाले परमाणु में क्रिया होती है, उससे परस्पर परमाणुओं का विभाग होता है। जिससे पूर्व द्वयणुक द्रव्य का उत्पादक परमाणुओं का पूर्वसंयोग नष्ट होकर पूर्वद्वयणुक का नाश होता है। (१) द्वयणुक का नाश होने पर केवल स्वतन्त्र परमाणु में अग्निसंयोग से पूर्वश्यामादि रूप निवृत्त हो जाता है (२) श्यामादि रूप

स्मादग्निसंयोगाद्रक्ताद्युत्पत्तिः। रक्तादावुत्पन्ने परमाणुक्रियानिवृत्तिस्तदनन्तरमदृष्टवदात्मसंयोगात् परमाणौ कर्म ततो विभागः ततः पूर्वसंयोगनिवृत्तिः ततः परमाण्वन्तरेण द्व्यणुकारम्भकः संयोगः ततो द्व्यणुकोत्पत्तिः उत्पन्ने द्व्यणुके कारणगुणप्रक्रमेण रक्ताद्युत्पत्तिः इति नव क्षणाः। यदि पूर्वक्रियानिवृत्तिक्षण एव क्रियान्तरमुत्पद्यते तदा, यदि तु पूर्वक्रियानिवृत्त्यनन्तरकाले क्रियान्तरमुत्पद्यते तदा दश क्षणाः।

विभागजविभागाद्युपगमेऽपि यदि द्रव्यारम्भकसंयोगनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागजो विभागस्तदा दशक्षणाः यदि तु द्रव्यनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागेन विभागान्तरं जन्यते तदैकादशक्षणा प्रक्रिया। तथा हि—द्व्यणुकनाशविभागजविभागावित्येकः कालःततः पूर्वसंयोगनाशश्यामादिनिवृत्तो उत्तरसंयोगरक्ताद्युत्पत्ती उत्तरसंयोगेन विभागजविभागक्रियानिवृत्ती ततो द्रव्यारम्भानुगुणा

निवृत्त होने पर दूसरे अग्निसंयोग से रक्तादि रूप उत्पन्न होता है। (३) रक्तादि रूप उत्पन्न होने पर पूर्वपरमाणु की क्रिया निवृत्त होने के पश्चात् उस बननेवाले घट के आगे भोगकर्ता आत्माओं के अदृष्टवाले आत्माओं के संयोग से पुनः दूसरे परमाणु में उत्पादकक्रिया होती है (४) उससे देशविभाग (५) उससे पूर्वदेश-संयोग की निवृत्ति (६) पश्चात् इस (परमाणु से दूसरे द्वयणुक द्रव्य का उत्पादक संयोग (७) पश्चात् दूसरे द्वयणुक द्रव्य की उत्पत्ति (८) द्वयणुक के उत्पन्न होने पर उसमें परमाणु रूप कारण के रक्तरूप के क्रम से रक्त रूपादिकों की उत्पत्ति होती है। ऐसे नव क्षण होते हैं, किन्तु यह नव क्षण की प्रक्रिया यदि पूर्वनाशक क्रिया के निवृत्ति के क्षण ही में दूसरी उत्पादकक्रिया उत्पन्न होती है ऐसा मानने के मत से है, और यदि पूर्वनाशक क्रिया के निवृत्त होने के पश्चात् दूसरे क्षण में दूसरी उत्पादकक्रिया उत्पन्न होती है, ऐसा माना जाय तो दश क्षण होते हैं।

यदि विभाग से विभाग उत्पन्न होता है, ऐसा मानें तो कालविशेष की अपेक्षा से दश तथा एकादश क्षण की प्रक्रिया होती है, इस अभिप्राय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—विभागजन्य विभाग आदि मानने में भी यदि द्रव्यारम्भक पूर्वसंयोग-नाशवाले समय की अपेक्षा कर विभाग से विभाग उत्पन्न हो तो, दश क्षण होते हैं और यदि द्वयणुकरूप द्रव्य के नाशवाले काल की अपेक्षा कर एक विभाग से दूसरा विभाग उत्पन्न होता है तो एकादश क्षण होते हैं, ऐसी प्रक्रिया (प्रकार) है। वह इस प्रकार है कि पूर्वद्वयणुक का नाश, तथा विभागजन्य विभाग यह एक काल है (१), पश्चात् पूर्वसंयोग का नाश, तथा पूर्वश्यामादि रूप की निवृत्ति (२) बाद उत्तरप्रदेशसंयोग तथा रक्तरूपादिकों की उत्पत्ति (३), पश्चात् उत्तरसंयोग से विभागजन्य विभाग एवं क्रिया की निवृत्ति (४), पश्चात् दूसरे द्वयणुक द्रव्य

परमाणुक्रिया. क्रियातो बिभागो विभागात् पूर्वसंयोगनिवृत्तिस्ततो द्रव्यारम्भकः संयोगस्ततो द्रव्योत्पत्तिः उत्पन्ने द्रव्ये रक्ताद्युत्पत्तिः इति दशक्षणाः।

यदा तु द्रव्यविनाशविशिष्टं कालमपेक्ष्य विभागेन विभागो जन्यते तदैकक्षणवृद्धया एकादश क्षणाः। तथा हि—द्रव्यविनाशः ततो विभागजविभागश्यामादिनिवृत्ती ततः पूर्वसंयोगनाशः तत उत्तरसंयोगरक्ताद्युत्पत्ती ततो विभागजविभागकर्मणोर्निवृत्तिः ततः परमाणौ द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया ततो विभागः पूर्वसंयोगनिवृत्तिः द्रव्यारम्भकसंयोगोत्पत्तिः द्व्यणुकोत्पत्तिः रक्ताद्युत्पत्तिश्चेत्येकादश क्षणाः। एकस्मिन्नेव परमाणौ क्रियाक्रियोपरमचिन्तनादेवम्। परमाण्वन्तरे

की उत्पादक के अनुकूल परमाणुओं में क्रिया (५), क्रिया से विभाग (६), विभाग से पूर्वसंयोग का नाश (७), पश्चात् दूसरे द्वयणुव द्रव्य का उत्पादक परमाणुओं का परस्पर संयोग (८), पश्चात् उससे दूसरे द्वयणुकरूप द्रव्य की उत्पत्ति (९), पश्चात् उत्पन्न हुए द्वयणुकद्रव्य में रक्तरूपादियों की उत्पत्ति (१०) ऐसी दश क्षण की प्रक्रिया है।

किन्तु जब पूर्वद्वयणुकद्रव्य के नाशवाले काल की अपेक्षा कर परमाणुओं के परस्पर विभाग से देश के साथ विभाग होता है तब एक क्षण की वृद्धि होने के कारण एकादश क्षण होते हैं। वह इस प्रकार है—कि पूर्वद्वयणुक का विनाश (१), उसके पश्चात् पूर्वप्रदर्शित विभागजन्य विभाग, तथा श्यामादि पूर्वरूप की निवृत्ति (२), पश्चात् द्वयणुक का आरम्भक परमाणु द्वय के संयोग का नाश (३), पश्चात् उत्तरदेशसंयोग, तथा रक्त रूपादिकों की उत्पत्ति (४), पश्चात् विभागजन्य विभाग तथा पूर्वक्रिया की निवृत्ति (५), पश्चात् परमाणुओं में दूसरे द्वयणुकरूपद्रव्य की उत्पत्ति के अनुकूल उत्पादक क्रिया (६), पश्चात् उससे देश से विभाग (७), पूर्वदेशसंयोगनाश (८), तथा उसके पश्चात् दूसरे द्वयणुकरूप द्रव्य के उत्पादक परमाणुओं के संयोग की उत्पत्ति (९), पश्चात् दूसरे द्वयणुकरूप द्रव्य की उत्पत्ति (१०), पश्चात् रक्तादि रूप की उत्पत्ति (११)। इस प्रकार एकादश क्षण होते हैं। एक ही परमाणु में पूर्वद्वयणुकनाशक क्रिया का नाश तथा दूसरे द्वयणुकद्रव्य की उत्पादक क्रिया मानने के पक्ष में यह प्रदर्शित एकादश क्षण प्रक्रिया होती है। यदि दूसरे परमाणु में दूसरे द्वयणुक की उत्पादकक्रिया मानी जाय तो पूर्वद्वयणुक के नाश को लेकर पाँचवें, षष्ठ, सप्तम अथवा अष्टम क्षण में रक्तादि रूप की उत्पत्ति होती है यह जान लेना चाहिये इसका विवरण कणादरहस्य ग्रन्थ में है जो इस प्रकार है—उसमें एक परमाणु में नाशकक्रिया, उससे विभाग, पश्चात् आरम्भकसंयोग के नाशक्षण में दूसरे परमाणु में क्रिया आरम्भकसंयोगनाश से द्वयणुकनाश-दूसरे परमाणु की क्रिया से विभाग यह एक क्षण है। पश्चात् केवल परमाणु में श्यामरूप नाश विभाग से पूर्वसंयोगनाश यह द्वितीय क्षण है। पश्चात् रक्तरूप की उत्पत्ति,

यदि द्रव्यारम्भानुगुणा क्रिया चिन्त्यते तदा द्व्यणुकविनाशमारभ्य पञ्चमे षष्ठे सप्तमेऽष्टमे वा रक्ताद्युत्पत्तिरूहनीया। विवृञ्चैतत् कणादरहस्ये ॥ ६ ॥

पार्थिवपरमाणुरूपादीनां तेजःसंयोगासमवायिकारणत्वं साधयितुमाह—

एकद्रव्यत्वात् ॥ ७ ॥

पाकजानामिति शेषः। अत्र च गुणत्वे कार्यत्वे सतीति विवक्षितम्। तदयं प्रयोगः–पार्थिवपरमाणुरूपादयः संयोगासमवायिकारणकाः कार्यगुणत्वे सति

तथा दूसरे द्वयणुक का उत्पादक परमाणुसंयोग यह तृतीय क्षण है। पश्चात् दूसरे द्वयणुक की उत्पत्ति यह चतुर्थ क्षण है। पश्चात् रक्तरूप की उत्पत्ति यह पंचम क्षण है। द्रव्य-नाश के क्षण में दूसरे परमाणु में क्रिया से षष्ठ क्षण में रूपोत्पत्ति की प्रक्रिया ऐसी है कि परमाणु की क्रिया से दूसरे परमाणु से विभाग, पश्चात् पूर्वद्रव्य के आरम्भक-संयोग का नाश, पश्चात् पूर्वद्वयणुक का नाश और उसी समय दूसरे परमाणु में क्रिया (१), पश्चात् श्यामरूप निवृत्ति के क्षण ही में दूसरे परमाणु की क्रिया से विभाग (२), पश्चात् रक्तरूप के उत्पत्ति क्षण में ही दूसरे परमाणु में कर्म मानने से पूर्वसंयोग का नाश (३), पश्चात् दूसरे परमाणु से संयोग (४), पश्चात् दूसरे द्वयणुक द्रव्य की उत्पत्ति (५), पश्चात् रक्तरूप की उत्पत्ति (६)। इस प्रकार षष्ठक्षण की प्रक्रिया है। इसी प्रकार श्यामरूपनाश के क्षण में दूसरे परमाणु में क्रिया मानने से सप्तक्षण की प्रक्रिया तथा रक्तरूप की उत्पत्ति के क्षण में दूसरे परमाणु में क्रिया मानने से अष्ठ (आठ) क्षण की प्रक्रिया, एवं रक्तरूप की उत्पत्ति के पश्चात् दूसरे परमाणु में क्रिया मानने से नवक्षण की प्रक्रिया होती है। इनकी प्रक्रिया भी प्रदर्शित प्रक्रिया के समान स्वयं जान लेनी चाहिये। द्वयणुकनाश के पश्चात् दूसरा द्वयणुक द्रव्य उत्पन्न होकर द्वितीयादि क्षण में गुण की उत्पत्ति की प्रक्रिया शंकरमिश्र कृत कणादरहस्य आदिग्रन्थ में स्पष्ट है जो वहीं पाठकों को स्वयं देख लेनी चाहिये (यह ग्रन्थ चौखम्बा संस्कृत सीरीज में मुद्रित हो चुका है) ॥ ६ ॥

पाकज परमाणु रूपादि गुणों में तेज का संयोग असमवायि कारण होता है, यह सिद्ध करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एक द्रव्यत्वात् = एक द्रव्य में आश्रित होने से (पाकज रूपादिगुण अग्निसंयोगासमवायि कारण के हैं) ॥ ७ ॥

भावार्थ—पार्थिव परमाणुओं के रूपादि गुण, अग्निसंयोगरूप असमवायिकारण-वाले हैं, कार्यगुण होते हुए नित्य में वर्तमान दो में न रहनेवाले गुण होने से, शब्द तथा ज्ञानादिगुणों के समान इस अनुमान से पाकज रूपादिकों में तेज का संयोग अस-मवायिकारण होता है यह सिद्ध होता है ॥ ७ ॥

उपस्कार—सूत्र में अवांक्षित 'पाकजानां' इस पद का शेष पूरण करना और 'एकद्रव्यत्वात्' इस सूत्रोक्त हेतु की 'गुणत्वे कार्यत्वे सति' गुण तथा कार्य होते हुए ऐसी

नित्यनिष्ठाद्विष्ठगुणत्वात् शब्दवत्, बुद्धयादिवच्च। संयोगजत्वमात्रं वा साध्यं तेन विभागजशब्दे न व्यभिचारः वायुसंयोगस्य शब्दमात्रे निमित्तकारणत्वात्। पार्थिवरूपादीनाञ्च तेजोऽन्वयव्यतिरेकदर्शनात् तेजःसंयोगासमवायिकारणकत्वं पक्षधर्मताबलात् सिध्यति ॥ ७ ॥

रूपरसगन्धस्पर्शानेकग्रन्थेन व्युत्पाद्य परिमाणस्य सर्वसिद्धत्वेन सङ्ख्यायाञ्च विप्रतिपत्तिबाहुल्यादुद्देशक्रममतिक्रम्य सूचीकटाहन्यायेन प्रथमं परिमाणपरीक्षामारभमाण आह –

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥ ८ ॥

नित्ये,–इति विषयेण विषयिणं नित्यत्वप्रतिपादकं चतुर्थाध्यायमुपलक्षयति। उपलब्ध्यनुपलब्धी इति यथायोगमन्वयः 'येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थस्यापि

सूत्रकार की कहने की इच्छा है। इस कारण यह अनुमान का प्रयोग है—पार्थिव परमाणुओं के रूपादिगुण, संयोगरूप असमवायिकारण वाले हैं कार्यगुण होते हुए नित्य में वर्तमान दो में न रहनेवाले गुण होने से, शब्द के समान और ज्ञानादिगुणों के समान भी। केवल संयोगजन्यतामात्र इस उक्त अनुमान में साध्य है, जिससे विभागजन्य शब्द में व्यभिचार न होगा, क्योंकि वायु का संयोग संपूर्ण शब्दों में निमित्त कारण होता है। पार्थिव रूपादिगुणों मे तेज का अन्वय तथा व्यतिरेक दिखाई पड़ने से तेज का संयोग असमवायिकारण है, यह पक्ष पार्थिव रूपादिकों में हेतु की वृत्तितारूप पक्षधर्मता के बल से सिद्ध होती है ॥ ७ ॥

इस प्रकार रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श नामक विशेष गुणों का एक ग्रन्थ (प्रकरण) से वर्णन कर परिमाण गुण के सर्वमत (लोकव्यवहारों) में होने के कारण, तथा संख्या नामक गुण में मतरूप अनेक (विप्रतिपत्ति) विवाद होने से उद्देशक्रम को उल्लंघन कर (क्रम प्राप्त संख्या को छोड़कर) सूची (सुई) के बाद कटाह (कढ़ाई) अर्थात् छोटे के बाद बड़े का वर्णन इस न्याय से परिमाण गुण की परीक्षा करने का सूत्रकार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—अणोः = अणुपरिमाण की, महतः च=और महत्परिमाण की भी उपलब्ध्यनुपलब्धि = ग्रहण तथा अग्रहण, नित्ये = नित्य होती हैं, व्याख्याते=यह व्याख्या है ॥ ८ ॥

भावार्थ—अणुपरिणाम का ग्रहण न होना, तथा महत्परिमाण का प्रत्यक्षग्रहण होना गुणों के नित्यताप्रतिपाद के चतुर्थाध्याय में व्याख्या किया गया है ॥ ८ ॥

उपस्कार—'नित्ये' इस सूत्र के पद से नित्यतारूप विषय से उसके विषयी नित्यता वर्णन करनेवाले चतुर्थाध्याय की सूचना होती है। 'उपलब्ध्यनुपलब्धि' इन दोनों का योग्यता के अनुसार अन्वय करना, क्योंकि येन = जिस पदार्थ के

तस्य सः' इति न्यायेन। तथा चाणोरनुपलब्धिरिति लभ्यते। तदेवं स्थूलो नीलः कलश इति प्रात्यक्षिकप्रत्यये यथा नीलं रूपं विषयस्तथा परिमाणमपि, तेन च परिमाणेन परमाणुपर्यन्तं परिमाणमुन्नोयते द्रव्यत्वाच्च। किञ्च द्रव्यप्रत्यक्षतायां रूपवत् परिमाणमपि कारणं, न हि महत्त्वमन्तरेण द्रव्यं प्रत्यक्षं भवति। तथा च द्रव्यप्रत्यक्षकारणत्वेन स्वयञ्च प्रत्यक्षतया परिमाणं गुणोऽस्तीति निश्चीयते। यदि हि घटादिस्वरूप परिमाणं स्यात् तदा महदानयेत्युक्ते घटमात्रमानयेत् तथा च प्रैषसंप्रतिपत्ती विरुध्येताम्। एवं घटपदात् परिमाणं प्रतीयेत परिमाणपदाद्वा घट इति।

मानव्यवहारासाधारणकारणत्वम्, द्रव्यसाक्षात्कारकारणविषयनिष्ठसामान्यगुणत्वं वा महत्त्वत्वम्। मानव्यवहारो हस्तवितस्त्यादिव्यवहारो न तु पलस-

---

साथ, यस्य = जिस पदार्थ का, अभिसम्बन्धः = सम्बन्ध होता है, दूरस्थस्य अपि = दूर रहनेवाले भी, तस्य = उस पदार्थ का, सः = वह सम्बन्ध होता है इस न्याय से ऐसा होने से अणु परिमाण की अनुपलब्धि (अग्रहण) यह लब्ध होता है। इस कारण ऐसा होने से 'स्थूल (बड़ा) नील वर्ण का कलश है' इस प्रत्यक्षज्ञान से जिस प्रकार नीलवर्णरूप विषय है उसी प्रकार (बड़ा) महत्परिमाण भी विषय है और उस परिमाण से परमाणुपर्यन्त परिमाणगुण—अणुरूप द्रव्य, परमाणु परिमाणवाला है, द्रव्य होने से घट के समान, इस अनुमान से सिद्ध होता है। और द्रव्य के प्रत्यक्ष होने से रूपगुण के समान परिमाणगुण भी कारण है, क्योंकि महत्परिमाण के बिना द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा होने से द्रव्य के प्रत्यक्ष में कारण होने से, स्वयं भी प्रत्यक्ष होने के कारण परिमाण नामक गुण है यह निश्चय होता है। यदि घटादि पदार्थों का स्वरूप ही परिमाण गुण हो तो उसे ले आओ ऐसा कहने पर केवल घट का आनयन होगा, (किन्तु लाता नहीं) ऐसा होने से प्रेष्ट (आज्ञा) तथा संप्रतिपत्ति (उसका ज्ञान) ये दोनों विरुद्ध हो जायंगे (अर्थात् बड़ा ले आओ ऐसी आज्ञा पाया हुआ मनुष्य 'मैं आपकी आज्ञा के विषय को कैसे निश्चित करूँ, परिमाण का लाना तो हो नहीं सकता, और बिना निश्चियके घटादि पदार्थ को लाया जाय तो आज्ञा और कार्य के विरुद्ध होने से विरोध होगा' ऐसा उत्तर देगा। (शंकरमिश्र कहते हैं कि)—परिमाण को आधाररूप मानने से घट शब्द से परिमाण का अथवा परिमाणपद से घटपदार्थ का बोध होने लगेगा।

मानव्यवहार के असाधारण (विशेष) कारण को परिमाणगुण कहते हैं, और द्रव्य के प्रत्यक्षके कारण विषय में रहनेवाले सामान्यगुण को महत्वत्व महत्परिमाण कहते हैं। 'एक हाथ' एक वितस्ती (बित्ता) इत्यादि व्यवहार यहां पर मानव्यवहार शब्द का अर्थ है, नकि पल संख्या (एक तोला) इत्यादि तौल का व्यवहार उक्त परिमाण गुण महत् अणु, दीर्घ और ह्रस्व इस भेद से चार प्रकार का है। उनमें से परम महत्

ह्रस्यादिव्यवहारः । तच्च परिमाणञ्चतुर्विधं—महत्त्वमणुत्वं दीर्घत्वं ह्रस्वत्वञ्च । तत्र परममहत्त्वपरमदीर्घत्वे विभुचतुष्टयवर्त्तिनी, परमाणुत्वपरमह्रस्वत्वे परमाणुवर्त्तिनी, अवान्तराणुत्वावान्तरह्रस्वत्वे द्व्यणुकवर्त्तिनी, त्रसरेणुमारभ्य महावयविपर्यन्तं महत्त्वदीर्घत्वे । एवञ्च सर्वाण्यपि द्रव्याणि परमाणुद्वयवन्ति । बिल्वामलकादावणुत्वव्यवहारः समिदिक्षुदण्डादिषु च ह्रस्वत्वव्यवहारो भाक्तः । भक्तिश्चात्र प्रकर्षभावाभावः । आमलके यः प्रकर्षभावस्तस्याभावः कुवले, बिल्वे यः प्रकर्षभावस्तस्याभाव आमलके, स च गौणमुख्योभयभागित्वाद् भक्तिपदवाच्य । दीर्घत्वह्रस्वत्वे नित्ये न वर्त्तेते इत्येके । परिमाण एव ते न भवत इत्यपरे । महत्सु दीर्घमानीयतामितिवद् महत्सु वर्त्तुलं त्रिकोणञ्चानीयतामितिनिर्धारणबलाद्वर्तुलत्वादीनामप्यापत्तेरिति तेषामाशयात् ॥ ८ ॥

इदानीं परिमाणकारणानि परिसङ्ख्चष्टे—

कारणबहुत्वाच्च ॥ ९ ॥

परिमाण तथा परमदीर्घ परिमाण ये दोनों आकाश से लेकर आत्मातक व्यापक चार द्रव्यों में रहते हैं, परमअणु तथा परमह्रस्व परिमाण वे दोनों परमाणुओं में रहते हैं, तथा अवान्तर (मध्यम) अणु तथा ह्रस्व ये दोनों परिमाण द्व्यणुक में रहते हैं, त्रसरेणु से लेकर घटादि महावयवि द्रव्यों में महत् तथा दीर्घ परिमाण ये दोनों रहते हैं। इससे यहाँ सिद्ध होता है कि संपूर्ण द्रव्यों में दो प्रकार के परिमाण हैं। बेल, आमलक (आंवला) इत्यादिकों में यह परिमाण होने पर भी अणु (छोटे) परिमाण को तथा समित् (समिधा की लकड़ी) इक्षु (ऊँख) तथा दण्ड (डण्डा) आदिकों में दीर्घता (लंबापन) होने पर भी ह्रस्वता का व्यवहार भी गौण होता है। प्रकर्षभाव (अधिकता) का अभाव (न होना) है भक्ति शब्द का अर्थ। अतः आमले में जो महत्परिमाण की अधिकता है उसका कुवल (कमलगट्टे) में अभाव है, और वेल में जो महत्परिमाण की अधिकता है उसका आमलेमें अभाव है, और वह गौण बेल आदिकों में तथा मुख्य घटादिकों दोनों में रहने के कारण भक्तिपद से कहा जाता है। नित्यपरमाणु आदिकों में दीर्घ तथा ह्रस्वपरिमाण नहीं रहता ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। "दीर्घ और ह्रस्व यह पृथक् परिमाण ही नहीं है ऐसा दूसरे दार्शनिकों का मत है। क्योंकि महत्परिमाण वाले (बड़े) (बांसों में से दीर्घ (लंबे) वांस को लाओ इस व्यवहार के समान बड़े बेलों में से गोल बेल लाओ ऐसे निश्चायक व्यवहार होने से (वर्तुलता) गोल का परिमाण भी दीर्घ तथा ह्रस्व के समान मानना पड़ेगा ऐसा उनका अभिप्राय है ॥ ८ ॥

साम्प्रत परिमाणगुण के कारणों की गणना सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—कारण वहुत्वात् च=कारण में वर्तमान (बहुत्व) अनेक संख्या से भी (परिमाण उत्पन्न होता है) ॥ ९ ॥

चकारो महत्त्वप्रचयौ समुच्चिनोति। परिमाणमुत्पद्यते इति सूत्रशेषः। तत्र कारणबहुत्वं त्र्यणुके महत्त्वदीर्घत्वे जनयति महत्त्वप्रचययोस्तत्कारणेऽभावात्। तच्च बहुत्वमीश्वरापेक्षाबुद्धिजन्यं तद्बुद्धेरनेकविषयत्वेऽप्यदृष्टविशेषोपग्रहो नियामकः। एवं परमाणुद्वयगतं द्वित्वं द्व्यणुके परिमाणोत्पादकं वक्ष्यते। द्वाभ्यां तन्तुभ्यामप्रचिताभ्यामारब्धे पटे केवलं महत्त्वमेवासमवायिकारणं बहुत्वप्रचययोस्तत्राभावात् यत्र च द्वाभ्यां तूलकपिण्डाभ्यां तूलकपिण्डारम्भस्तत्र परिमाणोत्कर्षदर्शनात् प्रचयः कारणं बहुत्वस्याभावात्, महत्त्वस्य सत्त्वेऽपि परिमाणोत्कर्षं प्रत्यप्रयोजकत्वात्। एवञ्च सति यदि महत्त्वं तत्र कारणं तदा न दोषः। तदुक्तं– 'द्वाभ्यामेकेन सर्वैर्वा' इति। प्रचयश्च आरम्भकः संयोगः। स च स्वाभिमुखकिञ्चिदवयवासंयुक्तत्वे सति स्वाभिमुखकिञ्चिदवयवसंयोगलक्षणः। स चावय-

---

भावार्थ—कारणगत अनेक संख्या तथा सूत्र के प्रकार से संग्रह किये महत्परिमाण तथा प्रचय नामक शिथिलतासंपादक संयोगविशेष इन तीन कारणों से जन्य परिमाण की उत्पत्ति होती है॥ ९॥

उपस्कार—सूत्र का चकार महत्परिमाण तथा प्रत्यय नामक संयोगविशेष इन दोनों का संग्रह करता है। 'परिमाण' उत्पन्न होता है ऐसा सूत्र में अकांक्षित पद का शेष भाग पूर्ण करना उसमें कारणबहुत्व (अनेक) संख्या त्र्यणुकद्रव्य में महत् तथा दीर्घपरिमाणरूप कार्यगुण को उत्पन्न करती है। क्योंकि त्र्यणुक के कारण द्व्यणुकरूप द्रव्य में महत् परिमाण तथा प्रचय संयोग नहीं है। और परमाणुओं में वर्तमान अनेक संख्या परमाणुओं का प्रत्यक्ष करनेवाले यह एक परमाणु है यह एक परमाणु है इस प्रकार की ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होती है, ईश्वरबुद्धि के अनेक विषयों में होने में भी अदृष्टविशेष, का उपग्रह (सम्बन्ध) ही नियामक है। इसी प्रकार दो परमाणुओं में वर्तमान् द्वित्वसंख्याद्व्यणुकद्रव्य में परिमाण को उत्पन्न करती है ऐसा कहा जायगा। प्रचयसंयोग से रहित को तन्तुओं से उत्पन्न पटद्रव्य में केवल महत्परिमाण ही असमवायिकारण होता है, क्योंकि उन दो तन्तुओं में अनेक संख्या तथा प्रचयरूप कारण नहीं है। और जहां दो तूलक (रूई) के पिण्ड (ढेर रूप गोलों) से एक तूलक पिण्ड (ढेर) रूप द्रव्य उत्पन्न होता है उसमें कारणपिण्डों से कार्यपिण्ड में महत्परिमाण का उत्कर्ष दिखाई पड़नेके कारण प्रचयसंयोग ही कारण है, क्योंकि उन दोनों कारणपिण्डों में अनेक संख्या नहीं है, महत्परिमाण के रहने पर भी वह कार्यपिण्ड के अधिक महत्परिमाण होने में प्रयोजक नहीं है। ऐसा होने से यदि उसमें महत्परिणाम कारण हो तो भी कोई दोष नहीं हो सकता, अतएव 'द्वाभ्यां=दोसे, एकेन=एक से, अथवा सर्वैः=संपूर्ण कारणों से ऐसा प्रशस्तदेवने भाष्य में कहा है। आरम्भक (उत्पन्न करनेवाला) संयोग प्रचय कहाता है।

वसंयोगः स्वावयवप्रशिथिलसंयोगापेक्षः परिमाणजनकः 'गुणकर्मारम्भे सापेक्ष' इति वचनात् ॥ ९ ॥

महत्त्वदीर्घत्वे व्युत्पाद्याणुत्वं व्युत्पादयति—

अतो विपरीतमणु ॥ १० ॥

अतः प्रत्यक्षसिद्धान्महतः परिमाणाद्यद्विपरीतं तदणुपरिमाणमित्यर्थः। वैपरीत्यञ्चाप्रत्यक्षत्वात् कारणवैपरीत्याच्च । महत्त्वे हि महत्त्वबहुत्वप्रचयानां कारणत्वम्। अणुत्वे च कारणगतस्य द्वित्वस्येश्वरापेक्षाबुद्धिजन्यस्य कारणत्वम्। एतेन दीर्घत्वविपरीतं ह्रस्वत्वमित्यपि द्रष्टव्यम्। वैपरीत्यञ्चात्रापि पूर्ववत् ॥१०॥

इदानीं कुवलामलकादावणुत्वव्यवहारो भाक्त इति दर्शयति—

और वह प्रचय अपने संमुख कुछ अवयवों में संयुक्त न होता हुआ अपने अभिमुख (सामने के) कुछ अवयवों से संयोगस्वरूप होता है। और वह अवयवसंयोग अपने अवयवों के अत्यन्त शिथिल (ढीले) संयोग की अपेक्षा से परिमाण को उत्पन्न करता है, क्योंकि गुणकर्मारंभे=गुण तथा क्रिया को उत्पन्न करने में, सापेक्ष= अपेक्षा करता है, ऐसा वैशेषिकसूत्रकार का वचन है ॥ ९ ॥

महत् तथा दीर्घपरिमाण का वर्णन कर अणुपरिमाण का वर्णन सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—अतः = इस प्रत्यक्ष महत्परिमाण से, विपरीतं=जो विपरीत (अप्रत्यक्ष) हो, अणु = वह अणुपरिमाण है ॥ १० ॥

भावार्थ—प्रत्यक्ष होने की योग्यतावाले महत्परिमाण से प्रत्यक्ष न होने के कारण अणुपरिमाण उससे विपरीत होता है॥ १० ॥

उपस्कार—'अतः' अर्थात् इस प्रत्यक्षासिद्ध महत् परिमाण से जो विपरीत (उलटा) होता है वह अणुपरिमाण कहाता है, यह सूत्र का अर्थ है। वह विपरीतता दो प्रकार से होती है अणुपरिमाणवाले परमाणु तथा द्व्यणुक द्रव्यों के प्रत्यक्ष न होने से तथा कारण की विपरीतता से भी। क्योंकि महत्परिमाण होने में महत् परिमाण, अनेक संख्या तथा प्रचयसंयोग कारण होते हैं। और द्व्यणुक द्रव्य के अणुपरिमाणरूप कार्य में परमाणुरूप कारण में वर्तमान ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न द्वित्व संख्या कारण है। इस कथन से दीर्घपरिमाण के विपरीत ह्रस्व परिमाण होता है। यह भी देख लेना चाहिये। और यह विपरीतता भी पूर्व के समान यहाँ भी देख लेनी चाहिये ॥ १० ॥

सांप्रत कुवल (कमलगट्टा) आंवला आदि में महत्परिमाण होने पर भी अणु है यह व्यवहार गौण होता है। यह सूत्रकार स्वयं कहते हैं—

अणु महादिति तस्मिन् विशेषभावाद् विशेषाभावाच्च ॥ ११ ॥

इति शब्दो व्यवहारपरतां दर्शयति। तेन बिल्वापेक्षया कुवलमणु कुवला-पेक्षयामलकं महत् आमलकापेक्षया बिल्वं महदिति तावद्व्यवहारोऽस्ति, तत्र महति तेषु व्यवहारो मुख्यः। कुत एवमत आह—विशेषभावात् महत्त्वविशेषस्यैव तरतमादिभावेन भावात्, अणुव्यवहारस्तु तेषु भाक्तः। कुत एवमत आह—विशेषभावात् अणुत्वविशेषस्य तत्राभावात्। अणुत्वं हि कार्यं द्व्यणुकमात्रवृत्ति, नित्यं तु परमाणुवृत्ति, कुवलादौ तदभावात्।

यद्वा विशेषस्य महत्त्वकारणस्यैवावयवबहुत्वमहत्त्वप्रचयानां कुवलाद्यवयवेषु भावात् सद्भावात्, विशेषाभावाद् विशेषस्य अणुत्वकारणस्य महत्त्वासमानाधिकरणद्वित्वस्य कुवलाद्यवयवेष्वभावादसद्भावादित्यर्थः ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—यह अणु परिमाणवाला है, महत् = यह महत्परिमाणवाला है, इति= ऐसा व्यवहार होता है, तस्मिन् = उसमें, विशेषभावात् = महत्परिमाणरूप विशेष होने से, विशेषाभावात् च = और अणुरूप विशेष न होने से, (अणुव्यवहारगौण होता है) ॥ ११ ॥

भावार्थ—वेलफल से कमलगट्टा अणु (छोटा) है ऐसा, एवं कमलगट्टे की अपेक्षा से आंवला महान् (बड़ा) है ऐसा भी व्यवहार होता है, अतः उनमें महत्परिमाण का व्यवहार महत परिमाण के रूपविशेष तरतम (अधिक, तथा अति-अधिक) भाव से मुख्य है, तथा अणुव्यवहार जो होता है वह वस्तुतः उनमें अणुत्व-रूपविशेष न होने से भाक्त (गौण) है ॥ ११ ॥

उपस्कार—सूत्र में इति शब्द व्यवहारबोधकता का दिखाई पड़ता है। इससे बेलफल से कुवल (कमलगट्टा,) अणु है, कुवल से आंवला महत्परिमाण (बड़ा) है, आंवले से बेल महत् (बड़ा) है। ऐसे व्यवहार लोकप्रसिद्ध होते हैं, उससे महत् परिमाण का उनमें व्यवहार तो मुख्य है। क्यों ? ऐसे प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने 'विशेपभावात्' ऐसा हेतु दिया है, जिसका अर्थ है महत्परिमाणरूपविशेष की ही वास्तविक उनमें सत्ता होने से। और उनमें बेल से कुवल अणु है का व्यवहार गौण है ऐसा क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार हेतु देते हैं—विशेषभावात् = अर्थात् वस्तुतः उसमें अणुत्वविशेष नहीं है। कार्यरूप अणुपरिमाण केवल द्व्यणुक द्रव्य में ही रहता है, और नित्य अणुपरिमाण केवल परिमाणुओं में रहता है। जो कुवलादिक में वस्तुतः नहीं है अथवा महत्परिमाण के कारण ही अवयवों की अनेक संख्या, महत्परिमाण, तथा प्रचयसंयोगरूप (विशेष) के कुवल आदि द्रव्यों के अवयवों में भावात्=सत्ता होने से, (विशेषभावात्) अर्थात् अणुपरिमाण के कारण तथा महत्परिमाण के अधिकरण में न रहनेवाली द्वित्वसंख्या के कुवलादिकों

अणुत्वव्यवहारो भाक्त इत्यत्र हेतुमाह—

एककालत्वात् ॥ १२ ॥

महत्त्वमणुत्वञ्च द्वयमप्येकस्मिन् कालेऽनुभूयते, ते च महत्त्वाणुत्वे परस्परविरोधिनी नैकत्राश्रये सह सम्भवतः, अतो महत्त्वकारणसद्भावान्महत्त्वप्रत्ययस्तत्र मुख्योऽणुत्वप्रत्ययप्रयोगौ च भाक्तावित्यर्थः ॥ १२ ॥

महत्त्वप्रत्ययस्य मुख्यत्वे हेतुमाह—

दृष्टान्ताच्च ॥ १३ ॥

दृश्यते तथा वस्तुगत्या महत्स्वेव कुवलामलकबिल्वेषु स्थूलस्थूलतरस्थूलतमव्यवहारेण भवितव्यमित्यर्थः । यथा वस्तुगत्या शुक्लेष्वेव पटशङ्खस्फटिकादि पुशुक्लशुक्लतरशुक्लतमव्यवहारः ॥ १३ ॥

के अवयवों में अभावात् अर्थात् सत्ता न होने से ऐसा सूत्र का अर्थ भी जानना ॥११॥

प्रदर्शित अणु व्यवहार भाक्त है, इससे स्वयं सूत्रकार हैतु दिखाते हैं—

पदपदार्थ—एककालत्वात्=एक ही काल में होने से (अणुव्यवहार गौण है)॥१२॥

भावार्थ—एक ही समय में कुवलादिकों में महत् तथा अणुपरिमाण का अनुभव होता है, परस्पर विरोध होने से दोनों परिमाण एक आश्रयद्रव्य में नहीं हो सकते, अतः महत्परिमाण का कारण होने से महत्परिमाण का व्यवहार मुख्य, तथा अणुपरिमाण का व्यवहार गौण है यह सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

उपस्कार—अणु तथा महत्परिमाण दोनों का ही एक समय में अनुभव होता है, और वह महत् तथा अणुपरिमाण परस्पर विरुद्ध होने के कारण एक आश्रयद्रव्य में नहीं हो सकते, इस कारण महत्परिमाण के कारण की सत्ता होने से महत्परिमाण का कुलव, वेल इत्यादि पार्थिव द्रव्यादिकों में व्यवहार मुख्य है, तथा वेल से कमलगट्टा अणु है इत्यादि शब्द प्रयोग तथा ज्ञान दोनों भाक्त (गौण) हैं यह सूत्र का अर्थ है ॥ १२ ॥

महत्परिमाण की मुख्यता में स्वयं सूत्रकार कारण कहते हैं—

पदपदार्थ—दृष्टान्तात् च = दृष्टान्त होने से भी ॥ १३ ॥

भावार्थ—वस्तुतः श्वेतवर्णवाले भी वस्त्र शंख तथा स्फटिकमणि आदि पार्थिव द्रव्यों में शुक्ल, शुक्लतर (अधिक शुक्ल), शुक्लतम (अतिअधिक शुक्ल) इत्यादि व्यवहार होता है उसी प्रकार वस्तुतः महत्परिमाणवाले भी कुवल, आमलकादि द्रव्यों में स्थूल, स्थूलतर (अधिक स्थूल) तथा स्थूलतम (अतिअधिक स्थूल) इस प्रकार वास्तविक महत्परिमाण का व्यवहार भी होता है ॥ १३ ॥

उपस्कार—यह दिखाई पड़ता है कि इस प्रकार वास्तविक महत्परिमाण वाले ही कुवल, आमलक, विल्वफल आदिकों में स्थूल, अधिक स्थूल, अत्यधिक स्थूल ऐसे

नन्वणु महत्परिमाणमिति व्यवहारबलान्महत्त्वे अपि परिमाणे महत्त्वम णुत्वेऽप्यणुत्वमस्तीति ज्ञायते तत् कथं द्रव्यमात्रवृत्तित्वमनयोः कथं वा गुणे गुणवृत्तित्वविरोधो नापद्यत इत्यत आह—

अणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वाभावः कर्मगुणैर्व्याख्यातः ॥ १४ ॥

यथा गुणकर्मणी नाणुत्वमहत्त्ववती तथाऽणुत्वमहत्त्वे अपि नाणुत्वमहत्त्ववती इत्यर्थः । प्रयोगश्च भाक्तो द्रष्टव्यः ॥ १४ ॥

ननु यथा गुणा गुणवन्तः,–कथमन्यथा महान् शब्दः द्वौ शब्दौ एकः शब्दः चतुर्विंशतिर्गुणा इत्यादिव्यवहारः । कर्माण्यपि च कर्मवन्ति प्रतीयन्ते

व्यवहार होने चाहिये यह सूत्र का अर्थ है। जिस प्रकार वास्तविक शुक्ल वर्ण वाले ही वस्त्र, शंख, स्फटिकादि द्रव्यों में शुक्ल १, अधिक शुक्ल २, अतिअधिक शुक्ल ३ ऐसे क्रम से व्यवहार होते हैं (यह दृष्टान्त है) ॥ १३ ॥

"अणु तथा महत् यह परिमाण हैं इस व्यवहार के बल से महत् परिमाण में भी महत्परिमाण, तथा अणुपरिमाण में भी अणुपरिमाण है ऐसा जान पड़ता है, तो महत् तथा अणुपरिणाम ये दोनों द्रव्य ही में रहते हैं ऐसा कैसे हो सकता है ? जिससे गुण में गुण के रहने का विरोध कैसे न आवेगा" इस पूर्णपक्षी की शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अणुत्वमहत्त्वयोः = अणु तथा महत्परिमाण दोनों में, अणुत्वमहत्त्वाभावः = अणु तथा महत्परिमाण दोनों का क्रम से अभाव है, (यह) कर्मगुणैः = कर्म और गुण पदार्थों में अणु तथा महत्परिमाण के न रहने से, व्याख्यातः = व्याख्या किया गया ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार गुण तथा कर्मपदार्थों में अणु तथा महत्परिमाण नहीं रहता, उसी प्रकार गुण होने से अणु तथा महत्परिमाण क्रम से अणु तथा महत्परिमाण के आश्रय नहीं होते यह व्याख्यात है ॥ १४ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार गुण तथा कर्मपदार्थ अणु तथा महत्परिमाणरूप गुण वाले नहीं होते उसी प्रकार अणु तथा महत्परिमाणरूप दोनों गुण भी क्रम से अणु तथा महत्परिमाण के आधार नहीं होते, क्योंकि गुणों में गुणों के रहने का विरोध है। पूर्वपक्षी के प्रदर्शित अणुपरिमाण है इत्यादिव्यवहार भाक्त (गौण) है ऐसा देखना चाहिये ॥ १४ ॥

यदि गुणों में गुण न माने जांय तो यह शब्द महान् (बड़ा) है, दो शब्द हैं, एक शब्द है, चतुर्विंशति गुण है, यह व्यवहार न हो सकेगा, अतः गुणों में गुण है यह सिद्ध होता है तथा शीघ्र जाता है, द्रुत (बहुत शीघ्र) जाता है इत्यादि व्यवहार के बल से क्रियापदार्थ भी क्रिया का आधार है यह सिद्ध होता है, उसी प्रकार अणु

कथमन्यथा शीघ्रं गच्छति द्रुतं गच्छतीति व्यवहारः तथा चाणुत्वमहत्त्वे अपि तद्वती स्यातामित्यत आह—

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा व्याख्याताः ॥ १५ ॥

कर्मभिः कर्माणि न तद्वन्ति गुणैश्च गुणा न तद्वन्तस्तथाऽणुत्वमहत्त्वेपि न न तद्वतो। व्यवहारस्तु सर्वत्र भाक्त इत्यर्थः ॥ १५ ॥

ननु महान्ति कर्माणि अणूनि कर्माणि महान्तो गुणाः अणवो गुणा इत्यादिव्यवहारादणुत्वमहत्त्ववन्ति कर्माणि तदुभयवन्तश्च गुणाः प्रसक्ता इत्यत आह—

अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः ॥ १६ ॥

यथाऽणुत्वमहत्त्वे नाणुत्वमहत्त्ववती तथा न कर्माणि तदुभयवन्ति न वा गुणास्तदुभयवन्त इत्यर्थः। प्रयोगस्तु पूर्ववद्भाक्त इति भावः ॥ १६ ॥

तथा महत्परिमाण भी अणु तथा महत् परिमाण आश्रय हो जायंगे। इस पूर्वपक्षी की शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कर्मभिः = कर्मपदार्थों से, कर्माणि = कर्मपदार्थ, गुणैः च = और गुणपदार्थों से, गुणाः = गुणपदार्थ, व्याख्यातः = व्याख्या किये गये ॥ १५ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार विरोध होने से क्रियापदार्थ में क्रिया नहीं रहती, गुणपदार्थ गुणों में नहीं रहते, उसी प्रकार अणु तथा महत्परिमाण भी अणु तथा महत्परिमाण के आश्रय नहीं होते, पूर्वपक्षी के दिखाये व्यवहार भाक्त हैं ॥ १५ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार क्रियापदार्थों से क्रियापदार्थ आश्रय नहीं होते, गुणपदार्थों से भी गुणपदार्थ आश्रित नहीं होते, इसी प्रकार अणु तथा महत्परिमाण भी क्रम से अणु तथा महत्परिमाण के आश्रित नहीं होते। व्यवहार तो संपूर्ण भाक्त होता है यह सूत्र का अर्थ है ॥१५ ॥

"महान् (बड़े) कर्म, अणु (छोटे) कर्म हैं, तथा महान् (बड़े) गुण एवं अणु (छोटे) गुण हैं, इत्यादि व्यवहार से क्रियापदार्थ में अणु तथा महत्परिमाण की आधारता तथा गुणपदार्थों में भी दोनों परिमाणों की आधारता सिद्ध होगी" ऐसी पूर्वपक्षी की शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ--अणुत्वमहत्वाभ्यां = अणु तथा महत्परिमाण से, कर्मगुणाः च= कर्म और गुणपदार्थ, व्याख्याताः = व्याख्या किये गये ॥ १६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार अणु तथा महत्परिमाण में अणु तथा महत्परिमाण नहीं रहता उसी प्रकार क्रियापदार्थ में अथवा गुणपदार्थ में भी अणु तथा महत्परिमाण नहीं रहते यह भी व्याख्या किया गया ॥ १६ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार अणु तथा महत्परिमाण अणु तथा महत्परिमाणों के आधार नहीं होते उसी प्रकार कर्म अथवा गुणपदार्थ भी उन दोनों परिमाणों के

अणुत्वमहत्त्वप्रक्रियां दीर्घत्वह्रस्वत्वयोरतिदिशति—

एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते ॥ १७ ॥

ह्रस्वत्वदीर्घत्वे अपि न ह्रस्वत्वदीर्घत्ववती महत्त्वोत्पादकमेव दीर्घत्वोत्पादकमणुत्वोत्पादकमेव ह्रस्वत्वोत्पादकम्। कारणैक्यात् कथं कार्यभेद इति चेन्न, प्रागभावभेदेन पाकजवदुपपत्तेः। यत्रैव महत्त्वं तत्र दीर्घत्वं यत्राणुत्वं तत्र ह्रस्वत्वं यत्र नित्यमणुत्वं तत्र नित्यह्रस्वत्वमित्याद्यतिदेशार्थः ॥ १७ ॥

इदानीं विनाशकमाह—

आधार नहीं होते, यह सूत्र का अर्थ है। पूर्वपक्षी के दिखाये सम्पूर्ण प्रयोग व्यवहार पूर्व के समान गौण है, यह यहाँ आशय है ॥ १६ ॥

अणु तथा महत्परिमाण की एक प्रक्रिया को दीर्घ तथा ह्रस्व इन दोनों परिमाणों में अतिदेश करने की समानता से कहते हैं —

पदपदार्थ—एतेन = इस पूर्वोक्त कथन से, दीर्घत्वह्रस्वत्वे = दीर्घ तथा ह्रस्वपरिमाण, व्याख्याते = व्याख्या किये गये ॥ १७ ॥

भावार्थ—महत्परिमाण का कारण ही दीर्घपरिमाण भी उत्पन्न करता है, तथा अणुपरिमाण का कारण की ह्रस्वपरिमाण को उत्पन्न करता है, अतः ह्रस्व तथा दीर्घपरिणाम भी ह्रस्व तथा दीर्घपरिमाण के आश्रय नहीं होते यह व्याख्या किया गया ॥ १७ ॥

उपस्कार—ह्रस्व तथा दीर्घ ये दोनों परिणाम भी ह्रस्व तथा दीर्घपरिमाण के आश्रय नहीं होते। क्योंकि महत्परिमाण का जनक ही दीर्घपरिमाण का जनक, तथा अणुपरिमाण का जनक ही ह्रस्वपरिमाण का जनक होता है। यदि ऐसा है तो कारण के एक होने से कार्य में भेद क्यों होगा? इस शंका का यह समाधान है कि ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि प्रागभाव के भेद से पाकज रूपादि गुणों के भेद के समान कार्य में भेद हो सकता है अर्थात् अग्निसंयोगरूप रूपादि चारों पाकज गुणों का एक कारण होने पर भी जैसे रूप प्रागभाव आदि के भेद से रूप आदि कार्य भिन्न होते हैं, उसी प्रकार (यहाँ भी दोनों प्रकार के परिमाणों का कारण समान होने पर भी, महत्परिमाण का प्रागभाव दीर्घपरिमाण का प्रागभाव ऐसे भेद से कार्य में भेद हो जायगा।) जहाँ पर महत्परिमाण होता है, वहाँ दीर्घपरिमाण होता है तथा जहाँ अणुपरिमाण होता है वहां ह्रस्वपरिमाण, जहां नित्यअणुपरिमाण होता है, वहां नित्यह्रस्वपरिमाण यह सूत्र के अतिदेश का अर्थ है ॥ १७ ॥

सांप्रत सूत्रकार परिमाणगुण का नाश करने वाला कहते हैं—

अनित्येऽनित्यम् ॥ १८ ॥

एतच्चतुर्विधमपि परिमाणं विनाशिनि द्रव्ये वर्त्तमानमाश्रयनाशादे नश्यति न तु विरोधिगुणान्तरात्। घटे सत्यपि तत्परिमाणं विनश्यति क मन्यथा कम्बुभङ्गेऽपि स एवायं घट इति प्रत्यभिज्ञेति चेन्न। आश्रयनाशे तत्र घटनाशावश्यकत्वात् न हि परमाणुद्वयसंयोगनाशाद् द्व्यणुके नष्टे तदा श्रितस्य त्रसरेणोस्तदाश्रितस्य चूर्णशर्करादेरविनाश इति युक्तिरभ्युपगम वा। कथं तर्हि प्रत्यभिज्ञेति चेत्? सैवेयं दीपकलिकेतिप्रत्य भिज्ञानवद् भ्रान्तत्वात्। प्रदीपप्रत्यभिज्ञाऽपि प्रमैव ह्रस्वत्वदीर्घत्वे परमुत्पाद विनाशशालिनी इति चेन्न तद्विनाशस्याश्रयविनाशमन्तरेणानुपपत्तेरुक्तत्वात्

पदपदार्थ—अनित्ये = अनित्य द्रव्य में, अनित्यम् = परिमाण अनित्य होता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त चारों प्रकार का विनाशी द्रव्य से रहने वाला परिमाणगु आश्रय के नाश से नष्ट होने के कारण अनित्य होता है अर्थात् आश्रयनाश अनि परिमाण का नाशक होता है विरोधी दूसरे गुणादि नाशक नहीं होते ॥ १८ ॥

उपस्कार—यह पूर्वप्रदर्शित परिमाणगुण नाशवान द्रव्य में रहने वा आश्रय के नाश से ही नष्ट होता है, दूसरे विरोधी गुण से नष्ट नहीं होता। 'घ के रहने पर भी उसके परिमाण का नाश होता है, नहीं तो कम्बु (गर्दन) ऊपरी भाग के टूटने पर भी यही यह घट है ऐसी प्रत्यभिज्ञा कैसे होती है ?' ऐ पूर्वपक्षी शंका करे तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि वहां अवयवरूप आधार नाश से अवयविरूप घट का नाश होना आवश्यक है। क्योंकि दो परमाणुओं संयोग के नष्ट होने से द्वयणुक द्रव्य के नष्ट होने पर उसके आश्रित त्रसरेणु तथा उन आश्रित चूर्ण (मट्टी का चूर), तथा उनके आश्रित शर्करा (कंकड़) इत्यादि द्र का नाश नहीं होता ऐसा मानने में कोई युक्ति नहीं है, अथवा ऐसा माना भी न गया है। यदि ऐसा है तो पट का नाश न होने पर भी दूसरे तन्तुओं के संयोग (दूसरे तन्तु उसमें जोड़ देने से) परिमाण अधिक क्यों हो जाता है, ऐसी शंका न कर सकते क्योंकि वहाँ भी वेमा आदि बुनने के साधनों के अभिघातसंयोग से असम वायिकारण संयोग के नाश ही से घट का नाश मानना आवश्यक है तथा उस पट अवयवों में दूसरा जोड़ा तन्तु अवयव है या नहीं ? यदि है, तो उसके पीछे जोड़े जा वाले तन्तुरूप अवयव के विना वह उत्पन्न ही कैसे होगा। यदि नहीं है तो उस परिमाण अधिक नहीं हो सकता। जिस प्रकार संयुक्त द्रव्यान्तर से परिमाण अधि नहीं होता, इस कारण वहाँ दूसरे तन्तुओं का संयोग होने पर पूर्वपट के नाश दूसरा खण्डपट उत्पन्न हुआ यह मानना होगा उक्त प्रत्यभिज्ञा तो दीपज्वालाओं

तत् किं पार्थिवपरमाणुरूपादिवत् परमाणुगतमणुत्वं शब्दबुद्धयादिवदाकाशादिगतं महत्त्वमपि नश्यतीत्यत आह—

नित्ये नित्यम् ॥ १६ ॥

नित्येष्वाकाशादिषु परमाणुषु च यत् परिमाणं तन्नित्यं विनाशकाभावात् ॥ १९ ॥

परमाणुपरिमाणस्य वैशेषिकसिद्धां संज्ञामाह—

नित्यं परिमण्डलम् ॥ २० ॥

के भिन्न होने पर भी वही यह दीप की ज्वाला है। इस प्रत्यभिज्ञा के समान भ्रमाधीन है, यह स्वयं आगे शंकरमिश्र कहते हैं। (पुनः पूर्वपक्षी की शंका दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—"यदि पटनाश आवश्यक है तो 'वही यह घट है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी" ? तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार दीप की ज्वाला भिन्न-भिन्न होने पर भी 'वही यह दीप ज्वाला है' इस प्रत्यभिज्ञा के समान भ्रम से होती है। "प्रदीप के ज्वाला की उक्त प्रत्यभिज्ञा भी प्रमा (यथार्थ ज्ञान) ही है, केवल उस ज्वाला में ह्रस्वता (छोटापन) तथा दीर्घता (लम्बापन) यह दो परिमाण ही केवल उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं न कि दीपज्वाला की उत्पत्ति तथा विनाश होता है" ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि उक्त दोनों परिमाणों का नाश बिना दीपज्वालारूप आश्रण के नाश के नहीं हो सकता। यह कह चुके हैं ॥ १८ ॥

तो क्या पार्थिव द्रव्य परमाणुओं के रूपादि गुणों के समान परमाणुओं में वर्तमान अणुपरिमाण, तथा आकाशदि द्रव्यों में वर्तमान महत्परिमाण भी शब्द ज्ञान आदि गुणों के समान नष्ट होता है ? इस प्रश्न के ऊपर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—नित्ये = नित्यो मे, नित्यम् = परिमाण नित्य है ॥ १९ ॥

भावार्थ—आकाशादि द्रव्य तथा परमाणुरूप नित्यद्रव्यों में वर्तमान अणु तथा महत्परिमाण नित्य है ॥ १६ ॥

उपस्कार—नित्य आकाश से मन तक द्रव्य तथा पृथिव्यादि परमाणुओं में भी वर्तमान जो महत् तथा अणुपरिमाण है वह विनाश करने वाला न होने से नित्य है ॥ १९ ॥

परमाणुओं के अणुपरिमाण की वैशेषिकदर्शन में प्रसिद्ध संज्ञा को सूत्रकार दिखाते हैं—

पदपदार्थ—नित्यं = नित्यअणुपरिमाण, परिमण्डलम् = पारिमाण्डल्य नामक होता है ॥ २० ॥

परिमण्डलमेव पारिमाण्डल्यम् , तदुक्तम्–"अन्यत्र पारिमाण्डल्यादिभ्यः" इति ॥ २० ॥

ननु कुवलामलकादिपु समिदिक्षुप्रभृतिषु च व्यवह्रियमाणमणुत्वं ह्रस्वत्वं वा यदि न पारमार्थिकं तदा परिमार्थिकयोस्तयोः किं प्रमाणमत आह—

अविद्या च विद्यालिंगम् ॥ २१ ॥

विद्यालिङ्गमविद्या । तदयमर्थः–कुवलामलकादावणुत्वज्ञानं समिदिक्षुप्रभृतिषु ह्रस्वत्वज्ञानं तावदविद्या तत्र पारमार्थिकाणुत्वह्रस्वत्वयोरभावात् । सर्वत्रा-प्रमा प्रमापूर्विकैव भवतीत्यन्यथाख्यातिवादिभिरभ्युपगमात्, तथाच सत्यमणु-

---

भावार्थ—वैशेषिकदर्शन में परमाणुओं के नित्य अणुपरिमाण का 'पारिमाण्डल्य' यह नाम रक्खा है ॥ २० ॥

उपस्कार—परिमण्डल ही 'पारिमाण्डल्य' कहाता है इसीसे प्रशस्तपादभाष्य ने 'अन्यत्र पारिमण्डल्यादिभ्यः' अणुपमिाणादिकों को छोड़कर कारणता समान धर्म है ऐसा कहा है ॥ २० ॥

कुवल, आंवला इत्यादिकों में तथा समिधा, ऊँख, इत्यादिकों में भी व्यवहार किया जाने वाला अणु अथवा ह्रस्वपरिमाण यदि पूर्वोक्त रीति से वास्तविक नहीं है अर्थात् गौण है, तो परमार्थिक उन दोनों परिमाणों क्या प्रमाण है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अविद्या च=और अविद्या = अपथार्थज्ञान, विद्यालिङ्गं—यथार्थ ज्ञान का साधक है ॥ २१ ॥

भावार्थ—कुवल, आंवला आदि के दीर्घ होने पर भी ये ह्रस्व हैं यह ज्ञान अपथार्थ ज्ञान है, क्योंकि उनमें वास्तविक ह्रस्वता नहीं है, अतः इसका मुख्य ज्ञान कहीं अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि सम्पूर्ण स्थलों में मुख्य यथार्थपूर्वक ही (गौण) अयथार्थ ज्ञान होता है, अर्थात् कुवलादिकों में गौण ह्रस्वज्ञान के लिये मुख्य ह्रस्व ज्ञान कहीं न कहीं अवश्य मानना पड़ेगा ॥ २१ ॥

उपस्कार—अविद्या गौणज्ञानरूप मिथ्याज्ञान, मुख्यरूप यथार्थ ज्ञान की साधक होती है। इससे यह अर्थ निकलता है कि—कुवल, आंवला आदिकों में अणुपरिमाण का ज्ञान तथा समिधा, ऊँख इत्यादिकों में ह्रस्वपरिमाण का ज्ञान गौणरूप मिथ्याज्ञान (अविद्या) है, क्योंकि उनमें वास्तविक अणु तथा ह्रस्व दोनों परिमाण क्रम से नहीं हैं। सर्वत्र अप्रमा (अयथार्थ ज्ञान) प्रमा (यथार्थ ज्ञान) पूर्वक ही होती है, ऐसा अन्यथाख्याति (भ्रमात्मक ज्ञान) मानने वाले नैयायिक मानते हैं, ऐसा होने के कारण कहीं न कहीं सत्य अणुपरिमाण का ज्ञान एवं सत्य ह्रस्वपरिमाण का ज्ञान है ऐसा अनुमान से सिद्ध किया जाता है, यह सूत्र का अ

त्वज्ञानं सत्यञ्च ह्रस्वत्वज्ञानमनुमेयमित्यर्थः। एवञ्च भाक्तः शब्दप्रयोगो मुख्यमन्तरेण न भवतीति मुख्येऽणुत्वह्रस्वत्वे क्वचिदवश्यं मन्तव्ये॥ २१॥

द्रव्यत्वेन हेतुनाऽऽकाशादीनामनुमितस्य परिमाणस्य स्वरूपमाह—

विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा॥ २२॥

विभवः सर्वमूर्त्तसंयोगित्वं, तच्च परममहत्त्वमन्तरेणानुपपद्यमानं परममहत्त्वमनुमापयति। दृश्यते चेह वाराणस्यां पाटलिपुत्रे च युगपदेव शब्दोत्पत्तिस्तत्र चैकमेवाकाशं समवायिकारणमित्याकाशस्य व्यापकत्वं सिद्धम्। व्यापकत्वञ्च परममहत्परिमाणयोग एव, नानाऽऽकाशकल्पने गौरवमित्येक

है। ऐसा होने से भाक्त (गौण) शब्दों का प्रयोग मुख्य शब्द प्रयोग के विना नहीं हो सकता इसलिये मुख्य (प्रधान) अणु तथा ह्रस्वपरिमाण कहीं अवश्य मानने होंगे॥ २१॥

द्रव्यत्व हेतु से आकाशादि द्रव्यों के अनुमान से सिद्ध परिमाण का स्वरूप सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—विभवात् = व्यापक होने से, महान् = परम महत्परिमाण वाला, आकाशः = आकाश नामक द्रव्य है, तथा च = और वैसा ही है, आत्मा = आत्मारूप द्रव्य भी॥ २२॥

भावार्थ—संम्पूर्ण मूर्त द्रव्यों में संयुक्त होने से आकाश जिस प्रकार महत्परिमाणवान् है उसी प्रकार आत्मा भी उक्त हेतु से महत्परिमाणवाला है॥ २२॥

उपस्कार—सम्पूर्ण मूर्त द्रव्यों में संयुक्त होना रूप विभुता (व्यापकता) विना परममहत्परिमाण के न हो सकने से आकाश, परममहत्परिमाणाश्रय है, संपूर्ण मूर्त द्रव्यों में संयुक्त होने से इस अनुमान से आकाश द्रव्य में परममहत्परिमाण की सिद्धि होती है। (यदि आकाश में सर्वमूर्तद्रव्यों में संयोग मानें तो नाना भेरी आदि देशों में शब्द की उत्पत्ति का असम्भव होने से उन-उन भेर्यादि देशों में आकाश का संयोग उन-उन शब्दों में असमवायिकारण है, अतः असमवायिकारण संयोग के आधार रूप से भी आकाश की भी सिद्धि यहाँ सूचित होती है। इस प्रकार आत्मा में भी जानना)। (इसी आशय से शंकरमिश्र भी आगे कहते हैं कि)—वाराणसी तथा पाटलिपुत्र (पटना) शहर में भी एक ही समय शब्द की उत्पत्ति होती है यह देखने में आता है, जिसमें एक आकाश ही समवायिकारण है अतः आकाश में व्यापकता सिद्ध होती है। और परममहत्परिमाण का संवन्ध ही तो व्यापकता शब्द का अर्थ है, अनेक आकाश मानने से गौरव दोष होगा इस कारण एक ही आकाश द्रव्य मानना होगा। आकाश के निरवयव होने पर भी आकाश का प्रदेश है यह व्यवहार आकाशप्रदेश वाले घटादि द्रव्यों के संयोग के कारण होने से भाक्त

एवाकाशोऽभ्युपगन्तव्यः। आकाशस्य प्रदेश इति तु व्यपदेशः प्रदेशवद्भिर्घटादिभिः संयोगनिबन्धनो भाक्तः। भक्तिश्च प्रदेशवद्द्रव्यसंयोगित्वम्। तथात्मेति। यथाकाशं विभवात् सर्वमूर्त्तसंयोगित्वात् परममहत् तथात्मापि परममहान्। यद्यात्मनः सकलमूर्तसंयोगित्वं न भवेत् तदा तेषु तेषु मूर्त्तेषु अदृष्टवदात्मसंयोगात् क्रिया नोत्पद्येत व्यधिकरणस्यादृष्टस्य प्रत्यासत्त्यपेक्षया क्रियाजनकत्वात्। सा च प्रत्यासत्तिरदृष्टवदात्मसंयोग एव। एवं संस्कारिणि शरीरे तत्र तत्र ज्ञानसुखादीनामुत्पत्तिरात्मनो वैभवमन्तरेणानुपपन्नेत्यात्माऽपि व्यापकः। स च नाकाशवदेक एव व्यवस्थादर्शनादित्युक्तमिति भावः। तच्च महत्त्वं सातिशयं नित्यञ्च परमाण्वणुत्ववत्। एवमाकाशादौ परमदीर्घत्वं परमाणुषु च परमह्रस्वत्वमूहनीयम्॥ २२॥

ननु मनो विभु सर्वदा निःस्पर्शद्रव्यत्वादाकाशवत् ज्ञानाद्यसमवायिकारणसंयोगाधारत्वादात्मवदित्याकाशात्मनोः साहचर्येण मनोऽपि किं नोक्तमत आह

(गौण) है। आकाशप्रदेश वाले द्रव्यों में संयुक्त होना ही भक्ति शब्द का अर्थ है। 'तथात्मां' इस सूत्रांश का अर्थ यह है कि जिस प्रकार आकाश द्रव्य संपूर्ण मूर्तद्रव्यों की संयोगितारूप विभव (व्यापकता) से परममहत्परिमाण वाला है, उसी प्रकार उक्त हेतु से ही आत्मा द्रव्य भी परममहत्परिमाण का आश्रय है। यदि आत्मा आकाश के समान संपूर्ण मूर्तद्रव्यों में संयुक्त न हो तो उन-उन मूर्त द्रव्यों में अदृष्टवान् आत्मा के संयोग से भोगयोग्य क्रिया उत्पन्न न होगी, क्योंकि व्यधिकरण (एक अधिकरण में न रहने वाला) अदृष्ट प्रत्यासत्ति (संनिकर्ष) की अपेक्षा से क्रिया को उत्पन्न करता है और वह प्रत्यासत्ति है अदृष्टवान् आत्मा का संयोग ही और वह आत्मा आकाश के समान एक ही नहीं है, क्योंकि 'व्यवथातो नाना' इस तृतीयाध्याय के द्वितीयाह्निक में कोई सुखी कोई दुःखी इत्यादि व्यवस्था दिखाई है। जिससे आत्मा अनेक हैं यह सूत्र का तथा आत्मा का आशय है। और आकाश का महत्परिमाण, अतिशयसहित तथा परमाणु के अणुपरिमाण के समान नित्य है। इसी प्रकार आकाशादि के भी परमदीर्घता तथा परमाणुओं में परम ह्रस्वता जाननी चाहिये॥ २२॥

'मनरूप द्रव्य व्यापक है, सर्वकाल में स्पर्शरहित द्रव्य होने से, आकाश के समान, ज्ञानादि गुणों के असमवायिकारण संयोग के आधार होने से, आत्मा द्रव्य के समान, इन अनुमानों से आकाश तथा आत्मा के साहचर्य (साथ में रहने) से मनरूप द्रव्य भी व्यापक क्यों नहीं कहा' ? इस प्रश्न के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

तदभावादणु मनः ॥ २३ ॥

तस्य विभवस्य सर्वमूर्तसंयोगित्वस्याभावादणु मनः। सकलमूर्तसंयोगित्वे तु युगपदनेकेन्द्रियसंयोगे ज्ञानयौगपद्यं स्यात्, तथा च व्यासंगो न स्यात्। अनुमाने तु मनो यावन्न सिद्धं तावदाश्रयासिद्धे मनःसिद्धिदशायान्तु धर्मिग्राहकमानबाधिते। ननु विभवाभावादेव नाणुत्वं सिध्यति घटादौ व्यभिचारादिति चेन्न विभवाभावेनाव्यापकत्वसाधनात्। तथा चैकस्मिन्देहे मनस्तावदेकं नानाकल्पने गौरवापत्तेः। एकस्याप्यवयवकल्पने कल्पनागौरवान्निः। स्पर्शत्वेनानारम्भकत्वाच्चेत्यादियुक्तेरणुत्वसिद्धेरिति भाव ॥ २३ ॥

पदपदार्थं—तदभावात् = सर्वमूर्तद्रव्य संयोगितारूप व्यापकता न होने के कारण, अणु = अणुपरिमाण है, मनः = मन नामक द्रव्य ॥ २३ ॥

भावार्थ—संपूर्णमूर्तद्रव्यों में मन का संयोग मानने से अनेक वाह्य इन्द्रियों में संयोग होने के कारण एक समय में अनेक ज्ञान होने लगेंगे, जिससे मन की दूसरे विषय में आसक्ति न बनेगी, अतः संपूर्ण मूर्तद्रव्यों में मन का संयोग न होने के कारण व्यापकता न बन सकेगी इस कारण मन अणुपरिमाण है ॥ २३ ॥

उपस्कार—उस संपूर्ण मूर्तद्रव्यों में संयोगितारूप विभुता (व्यापकता) न होने से मनरूप द्रव्य अणुपरिमाण का आश्रय है। यदि संपूर्ण मूर्तद्रव्यों के साथ संयोगिता मन में मानी जाय तो एक समय में अनेक बाह्येन्द्रियरूप मूर्तद्रव्यों में मन का संयोग होने कारण एककाल में अनेक ज्ञान होने लगेंगे ऐसा होने से मन की दूसरे विषय में आसक्ति अर्थात् इन्द्रियों के अपने-अपने विषय में सम्बन्ध होने पर किसी एक इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान के रहते भी दूसरे इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान नहीं होता यह नहीं होगा। (लगना) न बनेगा। पूर्वोक्त पूर्वपक्षी के किये हुए दोनों अनुमान मनरूप द्रव्य के न मानने के पक्ष में मनरूप पक्ष के सिद्ध न होने के कारण आश्रयासिद्धि दोष, तथा मानने के पक्ष में मनरूप धर्मी को साधक ज्ञान का युगपत् न होना रूप प्रमाण, उससे बाधक होने के कारण हेतु बाधित नामक दुष्ट हो जायँ गे। यदि मन में व्यापकता न होने से अणुपरिमाण की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि घटादिकों में विभुत्व न होने पर भी अणुपरिमाण न होने के कारण व्यभिचार होता है ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि विभुत्व के (सर्वमूतद्रव्य संयोगित्व के) अभाव से अव्यापकता मन में सिद्ध की जाती है। (ऐसा होने से उक्त व्यभिचार दोष न होगा क्योंकि घट भी व्यापक नहीं है) और ऐसा होने के कारण एक शरीर में एक ही मन है यह सिद्ध होता है, क्योंकि नाना मन मानने से कल्पनागौरव-दोष होगा। एक भी मन के अवयवों के मानने से कल्पनागौरव दोष होने के कारण स्पर्शशून्य होने से तथा दूसरे मन का उत्पादक न होने

दिशः परममहत्त्वे युक्तिमाह—

गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥ २४ ॥

गुणैः सकलद्वीपवर्त्तिपुरुषसाधारणपूर्वापरादिप्रत्ययरूपैः सकलमूर्तनिष्ठपरत्वापरत्वलक्षणैः दिगपि व्यापकत्वेन व्याख्यातेत्यर्थः। परत्वापरत्वयोरुत्पत्तौ संयुक्तसंयोगभूयस्त्वाल्पीयस्त्वविषयापेक्षा बुद्धेः कारणत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। नानादिक्कल्पनस्य कल्पनागौरवप्रतिहतत्वात्। कथं तर्हि दश दिश इति प्रतीतिव्यपदेशाविति चेन्न तत्तदुपाधिनिबन्धनत्वादित्युक्तत्वात् ॥ २४ ॥

कालस्य व्यापकत्वमाह—

कारणे कालः ॥ २५ ॥

से भी इत्यादि पूर्वप्रदर्शित युक्ति से मनरूप द्रव्य अणुपरिमाण का आश्रय अणुरूप ही होता है यह सूत्र का आशय है ॥ २३ ॥

दिशारूप द्रव्य परममहत्परिमाण का आश्रय है, इसमें सूत्रकार युक्ति देते हैं—

पदपदार्थ—गुणैः=पूर्वापरादि प्रतीतिरूप गुणों से, दिग्=दिशाद्रव्य, व्याख्याता=व्यापक है ऐसी व्याख्या की गई ॥ २४ ॥

भावार्थ—संपूर्ण द्वीपों में टापू, में वर्तमान मनुष्यों का पूर्व-पश्चिम इत्यादि ज्ञानरूप जो संपूर्ण मूर्तद्रव्यों में वर्तमान दैशिकपरत्व (दूर होना) तथा अपरत्व (समीप होना) इत्यादि रूप हैं उनसे दिशारूप द्रव्य भी व्यापक होता है यह सिद्ध होता है (अर्थात् परत्वापरत्वज्ञानरूप कार्यों के असमवायिकारणरूप दिशा तथापि पिण्ड (मूर्तद्रव्य) संयोग के आश्रयरूप से दिशा सिद्ध होती है जो पूर्वोक्त सर्वत्र समान व्यवहार के कारण व्यापक है यह सिद्ध होता है ॥ २४ ॥

उपस्कार—संपूर्ण मूर्तद्रव्यों में वर्तमान परत्व तथा अपरत्व लक्षणों से जो सम्पूर्ण जंबूद्वीप आदि द्वीप में वर्तमान पुरुषों को साधारण रूप से होते हैं। उनसे दिशारूप द्रव्य भी व्यापक है यह व्याख्यात हुआ यह सूत्रार्थ है। क्योंकि परत्व तथा अपरत्व गुणरूप कार्य की उत्पत्ति में संयुक्त संयोग की अधिकता, तथा अल्पता विषयक अपेक्षाबुद्धि कारण होती है, यह आगे सप्तमाध्याय का द्वितीय आह्निक कहा जाने वाला है। वह दिशा द्रव्य भी अनेक मानने में गौरवदोष आने के कारण एक ही है। 'यदि दिशा एक है तो दश दिशा हैं ऐसा ज्ञान तथा व्यवहार क्यों होता है ?' ऐसी शंका नहीं हो सकती, क्योंकि यह ज्ञान तथा व्यवहार वास्तविक नहीं किन्तु औपाधिक है यह कह चुके हैं ॥ २४ ॥

दिशा के समान काल भी व्यापक है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कारणे=परापरादि व्यवहार के कारण में, कालः=काल ऐसा नाम है ॥ २५ ॥

परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययकारणे द्रव्ये काल इति समाख्या। न चैतादृशः प्रत्ययः सर्वदेशपुरुषसाधारणः कालस्य व्यापकतामन्तरेण सम्भवतीति तस्य व्यापकत्वं परममहत्त्वयोग इत्यर्थः।

यद्वा इदानीं जात इत्यादिप्रतीतिबलात् सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणत्वं कालस्य प्रतीयते तदपि व्यापकत्वाधीनं निमित्तकारणस्य समवाय्यसमवायिकारणप्रत्यासन्नत्वनियमात्।

यद्वा अतीतानागतवर्तमानव्यवहारः सार्वत्रिक इति सर्वगत एव कालः।

यद्वा क्षणलवमुहूर्त्तयामदिनाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरादिव्यवहारकारणे द्रव्ये कालाख्येति व्यवहारस्य सार्वत्रिकत्वात् कालः सार्वत्रिक इति परममहान्, तस्य नानात्वकल्पना च कल्पनागौरवप्रतिहतेत्युक्तम् ॥ २५ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे सप्तमाध्यायस्य आद्यमाह्निकम्।

भावार्थ—यह ज्येष्ठ है, यह कनिष्ठ है, एककाल में, विलम्ब से, शीघ्रता से हुआ इत्यादि ज्ञान के कारण द्रव्य को काल कहते हैं, संपूर्ण देश के पुरुषों का साधारणरूप से होने वाला उक्त ज्ञान विना काल के व्यापक माने नहीं हो सकता, अतः काल परममहत्परिमाण सम्बन्धरूप व्यापक है। यह सिद्ध होता है ॥ २५ ॥

उपस्कार—दैशिकपरत्व (दूरता) तथा समीपतारूप अपर से विपरीत ज्येष्ठतारूप परत्व एवं कनिष्ठावस्थारूप अपरत्व ज्ञान, एककाल में उत्पन्न हुआ, भिन्न काल में हुआ, देर से हुआ, शीघ्र उप्पन्न हुआ इत्यादि ज्ञानों के साधारण कारणद्रव्य की काल यह समाख्या (नाम) है। ऐसा यह सम्पूर्ण देश के पुरुषों को साधारणरूप से होने वाली प्रतीति काल की व्यापकता माने विना नहीं हो सकती। इस कारण उससे परममहत्परिमाण के सम्बन्धरूप व्यापकता सिद्ध होती है। अथवा 'इस समय उत्पन्न हुआ', इत्यादि प्रतीति के बल से सम्पूर्ण उत्पन्न होने वाले कार्यों का काल निमित्त कारण है यह प्रतीत होता है यह भी उसकी व्यापकता के अधीन है, क्योंकि निमित्तकारण समवायि तथा असमवायिकारणों के प्रत्यासत्ति संनिध में होता है, यह नियम है। अथवा भूत, भविष्य तथा वर्तमान ऐसे व्यवहार सर्वत्र साधारणरूप से होते हैं इस कारण काल सर्वत्र रहता है। अथवा क्षण, लव, मुहूर्त याम, दिन, दिनरात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि पूर्वप्रदर्शित व्यवहारों के कारण द्रव्य को काल कहते है, ऐसा व्यवहार सर्वत्र होता हैं, इस कारण काल द्रव्य सर्वत्र वर्तमान है। इसलिये वह परममहत्परिमाण वाला है, और उसके अनेक मानने में गौरवदोष आने से वह एक है यह कह चुके हैं ॥ २५ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्र कृत विशेषिकसूत्रोपस्कार में सप्तमाध्याय का प्रथमाह्निक समाप्त।

सप्तमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

द्वितीयाह्निके एकानेकवृत्तिगुणपरीक्षाप्रकरणम् अनेकमात्रवृत्तिगुणपरीक्षाप्रकरणम्, प्रसङ्गाच्छब्दार्थसम्बन्धपरीक्षाप्रकरणम् । विशेषगुणरहितविभुसंयोगासमवायिकारणकैकवृत्तिगुणपरीक्षाप्रकरणम् समवायपरीक्षाप्रकरणञ्चेति । तत्र महत्त्वैकार्थसमवायाधीनं संख्यादीनामपि प्रत्यक्षत्वमिति चोद्देशक्रममतिक्रम्य परिमाणनिरूपणानन्तरं संख्यां पृथक्त्वञ्च परीक्षितुमाह—

रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ॥ १ ॥

रूपरसगन्धस्पर्शेति,—संख्यादिपञ्चकभिन्नगुणोपलक्षणम् । व्यतिरेकादिति व्यभिचारात् । **तदयमर्थः**—एको घट इति विशिष्टप्रतीतिर्विशेषणजन्या, तत्र,

---

द्वितीयाह्निक में एक तथा अनेक द्रव्यों में रहने वाले गुणों के परीक्षा का प्रकरण (१), केवल अनेक द्रव्यों में वर्तमान गुणों की परीक्षा का प्रकरण (२), विशेष गुणरहित, तथा जिनमें दो व्यापक द्रव्यों का संयोग असमवायिकरण होता है, एवं एक द्रव्य में वर्तमान गुणों के परीक्षा का प्रकरण (३) एवं समवाय के परीक्षा का प्रकरण (४) ऐसे चार प्रकरण हैं । उसमें महत्परिमाण के समवाय के अधीन ही संख्यादि गुणों का प्रत्यक्ष होता है इस कारण उद्देशक्रम का उल्लंघन कर परिमाणनिरूपण के पश्चात् संख्या तथा पृथक्त्व गुण की परीक्षा (जो एक तथा अनेक द्रव्यों में रहते हैं ।) करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकात्=रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शगुण के व्यभिचार से, अर्थान्तरम्=दूसरा अर्थ है, एकत्वं=एकत्व संख्या ॥ १ ॥

भावार्थ—एकत्व संख्या रूपादि चार गुणों से भिन्न गुण है न कि रूपादि गुणस्वरूप है काल एक है इत्यादि प्रतीति के बल से रूपादि गुणों से भिन्न संख्यादि रूप गुण अवश्य मानना होगा क्योंकि काल में रूपादि चार विशेष गुण नहीं हैं यह सूत्र का अर्थ है ॥ १ ॥

उपस्कार—सूत्र में रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श यह चार विशेष गुण यह पद संख्या से विभाग पर्यन्त पांच सामान्य गुण से भिन्न गुणों का उपलक्षण लक्षणा से बोधक है । व्यतिरेकात् इस पद का अर्थ है व्यभिचारात्, अर्थात् व्यतिरेक नाम व्यभिचार होने से । इससे यह अर्थ निकलता है कि—'एक घट है' यह विशिष्ट ज्ञान, विशेषण से उत्पन्न है और वह विशेषण इस प्रतीति में रूप से स्पर्शान्त तथा संख्यादि पंच सामान्थ गुणों से भिन्न गुण नहीं है क्योंकि उक्त गुणों के बिना भी उक्त 'एक' यह

विशेषणं न रूपादि, तद्व्यतिरेकेण जायमानत्वात्, न च घटत्वादिकमेव निमित्तम्, पटेऽपि जायमानत्वात् । न चैकत्वं सत्तावत् सामान्यम्, सत्तया सहान्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वात् । न च द्रव्यमात्रसामान्यं तत्, द्रव्यत्वेनान्यूनानतिरिक्तदेशत्वात् । न चान्यूनानतिरिक्तदेशत्वेऽपि प्रतीतिभेदाद्भेदः प्रतीतिभेदस्य स्वरूपकृतत्वे सत्ताऽपि भिद्येत, विषयभेदकृतत्वे तु विषयभेदानुपपत्तेरुक्तत्वात्, अन्यथा घटत्वकलशत्वयोरपि भेदापत्तेः । न च स्वरूपाभेद एकत्वमिति भूषणमतं युक्तम्, घटस्वरूपाभेदश्चेदेकत्वं तदा पटादावेकत्वप्रत्ययो न स्यात् । स्वरूपभेदो द्वित्वादिकमित्यपि भूषणमतमनुपपन्नम् स्वरूपभेदस्य त्रिचतुरादिसाधारण्येन व्यवहारवैचित्र्यानुपपत्तेरिति भावः ॥ १ ॥

एकत्वतुल्यतयैकपृथक्त्वमपि साधयितुमाह—

तथा पृथक्त्वम् ॥ २ ॥

प्रतीति होती है, घटत्वादि जाति भी इस प्रतीति का निमित्त नहीं है, क्योंकि पट में भी 'एक' यह प्रतीति होती है । एकत्व संख्या सत्ताजाति के समान जातिपदार्थ भी नहीं है, क्योंकि सत्ता तथा एकत्व के न्यून तथा अधिक में वर्तमान न होने से 'एक का मानना ही उचित होगा, अर्थात् दोनों पर्याय ही जांयगे, यह एकत्व केवल द्रव्यों में ही रहने वाली जाति भी नहीं हो सकती, क्योंकि न्यून तथा अधिक में न रहने से उक्त दोष आ जायगा, अर्थात् द्रव्यत्व तथा एकत्व पर्याय हो जांयगे । यदि "अन्यूनानतिरिक्त देश अर्थात् न्यून तथा अधिक देश में रहने पर भी प्रतीति के भेद से भेद होगा" ऐसा कहो तो, वह प्रतीति का भेद यदि स्वरूप से होता हो तो सत्ताजाति भी भिन्न होगी, और यदि विषय के भेद से हो तो, विषय भेद नहीं हो सकता यह कहा ही है । अन्यथा घटत्व तथा कलशत्व भी भिन्न जाति हो जांयगी । 'घटादि वस्तु के स्वरूप का भेद न होना यही एक संख्या है' ऐसा भूषणकार का मत, युक्त नहीं है, क्योंकि घट के स्वरूप का अभेद ही एक संख्या हो तो पट आदिकों में एक संख्य का ज्ञान न होगा । तथा घटादि पदार्थों के स्वरूप का भेद ही द्वित्वादि संख्या है ऐसा भी भूषणकार का मत असंगत है, क्योंकि स्वरूप का भेद तीन, चार, पांच आदि पदार्थों में साधारण होने के कारण तीन, चार, आदि विलक्षण व्यवहार न बनेगा ॥ १ ॥

एकत्व संख्या के समान होने से एक पृथक्त्व गुण को भी सिद्ध करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा = उसी प्रकार, पृथक्त्वम् = पृथकत्व गुण भी, दूसरा गुण है ॥ २ ॥

अपोद्धारव्यवहारस्तावदस्ति—इदमस्मात् पृथगन्यदर्थान्तरमित्याकारः। अपवृज्यावधिमपेक्ष्य य उद्धारो निर्धारणं स ह्यपोद्धारः, तत्र च न रूपादि तन्त्रं व्यभिचारादवध्यनिरूप्यत्वाच्च। नन्वन्योन्याभाव एव पृथक्त्वम्, इदमस्मात् पृथगन्यदर्थान्तरमितिवद्भिन्नमिति प्रतीतेरन्योन्याभावावलम्बनत्वात्। न, पृथगादिशब्दानां पर्यायत्वेऽपि नान्योन्याभावार्थत्वं तत्र पञ्चमीप्रयोगानुपपत्तेः, इदमस्मात् पृथक् इदमिदं न भवतीतिप्रतीत्योर्भिन्नविषयत्वात्। न चान्योन्याभाववानर्थः पृथक्त्वम् अघटः पट इत्यत्रापि पञ्चमीप्रयोगापत्तेः। ननु पृथगिति विशिष्ट इति-प्रतीत्योरेकाकारत्वाद्वैशिष्ट्यमेव पृथक्त्वमिति चेन्न मैत्रस्य दण्डवैशिष्ट्यदशायां मैत्रात् पृथगयं मैत्र इत्यपि प्रतीत्यापत्तेः, एवं शब्दविशिष्टे व्योम्नि बुद्धिविशिष्टे चात्मनि पृथक्त्वव्यवहारापत्तेः। अत एव वैधर्म्यमपि न पृथक्त्वं पाकरक्ते घटे श्यामाद् घटात् पृथगयं घट इति व्यव-

---

भावार्थ—जिस प्रकार रूपादि गुणों के व्यभिचार होने से एकत्व संख्या भिन्न गुण है उसी प्रकार पृथक्त्व भी रूपादिकों छोड़कर 'यह पृथक् है' इसी प्रतीति के बल से दूसरा गुण है यह सिद्ध होता है ॥ २ ॥

उपस्कार—'यह इससे पृथक् है, अन्य है, भिन्न है', इस आकार अपोद्धार व्यवहार होता है। अपवृज्य (अलग कर) अर्थात् अवधि की अपेक्षा रख कर जो 'उद्धार' अर्थात् निर्द्धारण (निश्चय करना) वह अपोद्धार कहाता है।

उक्त अपोद्धार (पृथक्) व्यवहार में रूप आदि गुण प्रयोजक नहीं हैं, क्योंकि काल आकाश से पृथक् है इस व्यवहार में काल में रूपादि गुण नहीं हैं। तथा पृथक् व्यवहार के समान रूपादि गुणों के व्यवहार में अवधि की आवश्यकता नहीं होती। 'अन्योन्याभाव (भेद) पृथक्त्व गुण है, क्योंकि यह इससे पृथक् है, अन्य है, दूसरा अर्थ है इन प्रतीतियों के समान यह भिन्न है यह ज्ञान अन्योन्याभाव ही को आलम्बन विषय करता है। ऐसी पूर्ववक्षी शंका नहीं कर सकता, पृथक् अन्य इत्यादि शब्दों के पर्याय होने पर भी यह अन्योन्याभाव को नहीं कहते, क्योंकि उनमें पंचमी विभक्ति का प्रयोग नहीं हो सकता, अर्थात् यह फल इस घट से पृथक् है, और यह फल घट नहीं है इन दोनों प्रतीतियों का विषय भिन्न है। अन्योन्याभाव वाला (भेद वाला) अर्थ भी पृथक्त्व गुण नहीं है, क्योंकि ऐसा हो तो 'अघटः' घट भिन्न है 'पटः' पट इस व्यवाहर में भी पंचमी विभक्ति का प्रयोग होने लगेगा। पृथक् है, विशिष्ट है, इन दोनों प्रतीतियों के समान आकार वाले होने के कारण वैशिष्ट्य (विशेषता) ही पृथक्त्व गुण है' ऐसा भी पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि ऐसा मानने से दण्डा हाथ में रखने के समय में मैत्र नामक मनुष्य में यह मैत्र मैत्र से पृथक् है यह भी ज्ञान होने लगेगा। इसी कारण वैधर्म्य (विरुद्ध धम) भी पृथक्त्व गुण नहीं हो सकता, क्योंकि पाक से रक्तता में श्याम घट यह घट पृथक् है ऐसा व्यवहार

हारापत्तेः, तद्विरोधिधर्मवत्त्वमेव हि तद्वैधर्म्यं तच्च श्यामानन्तरं रक्ततादशायामपि। न च सामान्यमेव पृथक्त्वं सामान्यस्यात्रध्यनिरूप्यत्वात्। जातिसङ्करप्रसङ्गाच्च–सन्मात्रवृत्तित्वे सत्तया, द्रव्यमात्रवृत्तित्वे द्रव्यत्वेनान्यूनातिरिक्तवृत्तित्वापत्तेः ॥ २ ॥

नन्वेकमेकत्वं–रूपादिभ्यः पृथक् पृथक्त्वमिति व्यवहारादेकत्वेऽप्येकत्वं, पृथक्त्वेऽपि पृथक्त्वमेवं तत्र तथापीत्यत आह—

एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः॥३॥

यथाऽणुत्वमहत्त्वे नाणुत्वमहत्त्ववती तद्व्यवहारस्तत्र भाक्तस्तथैकत्वैकपृथक्त्ववती तद्व्यवहारस्तत्र भाक्त इत्यर्थः। "कर्मभिः कर्माणि" "गणैर्गुणाः" इत्यपि

होने लगेगा। क्योंकि उसके विरोधी धर्म का आधार होना ही उसका विरुद्ध धर्म है और वह श्याम वर्ण के अनन्तर रक्त होने के दशा में भी है। 'पृथक्त्व एक सामान्य (जाति) पदार्थ है', ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि जातिपदार्थ पृथक्त्व के समान अवधि के ज्ञान की आवश्यकता नहीं रखता। तथा जाति सांकर्य दोष भी हो जायगा, क्योंकि केवल सत् द्रव्यादि पदार्थ में रहने से सत्ताजाति, तथा केवल संपूर्ण द्रव्यों में रहने से द्रव्यत्व को लेकर न्यून तथा अधिक में न रहने के कारण पर्यायिता आ जायगी अतः पृथक्त्व जातिपदार्थ भी नहीं हो सकता।। २ ॥

एकत्व एक है पृथक्त्व गुण रूपादि गुणों से पृथक् है ऐसा व्यवहार होने के कारण एकत्व संख्या में एकत्व तथा पृथक्त्व गुण में भी पृथक्त्व, उसमें भी वैसा क्यों न हो इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एकत्वैकपृथक्त्वयोः = एकत्व संख्या तथा एक पृथक्त्व नामक दोनों गुणपदार्थों में, एकत्वैकपृथक्त्वाभावः = दूसरी एकत्व संख्या, तथा दूसरे एक पथक्त्व इन दोनों गुणों का अभाव है, (यह) अणुत्व, तथा महत्व दोनों परिमाणों से, व्याख्यातः = व्याख्या किया गया ।। ३ ।।

भावार्थ—जिस प्रकार एक अणुपरिमाण में दूसरा अणुपरिमाण तथा एक महत्परिमाण में दूसरा महत्परिमाण नहीं रहने से यह व्यवहार गौण होता है, उसी प्रकार एक एकत्व संख्या में दूसरी एकत्व संख्या तथा एक-एक पृथक्त्व गुण में दूसरा-एक पृथक्त्व गुण नहीं रहता। अतः पूर्वपक्षी का दिखाया हुआ एकत्व एक है, पृथक्त्व गुण रूपादिकों से पृथक् है इत्यादि व्यवहार भी गौण है यह व्याख्यात हुआ ।। ३ ।।

उपस्कार—जिस प्रकार एक अणु तथा महत्परिमाण दूसरे क्रम से अणु तथा महत्परिमाण के आश्रय नहीं होते उनका व्यवहार यदि होता है तो वह गौण होता है, उसी प्रकार एक-एक संख्या दूसरी एक संख्या की आश्रय तथा एक-एक पृथक्त्व गुण भी दूसरे एक पृथक्त्व गुण के आधार नहीं होता. अतः पूर्वपक्षी का

दृष्टान्तसूत्रद्वयं पूर्वदृष्टान्तसूत्रेणैकवाक्यतापन्नमेवात्र प्रतिभासते यथा कर्माणि न कर्मवन्ति गुणाश्च न गुणवन्तस्तथैकत्वैकपृथक्त्वे न तद्वती इत्यर्थः ॥ ३ ॥

ननु गुणेषु कर्मसु च साधारण एवैकत्वव्यवहारः किमत्र विनिगमकं यद्द्रव्येष्वेवैकत्वं न गुणादिष्विस्यत्राह—

निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते ॥ ४ ॥

सर्वेषामेकत्वं सर्वैकत्वं तन्न विद्यते, कुत इत्यत आह—निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानामिति । संख्याया निष्क्रान्ताः निःसंख्यास्तेषां भावो निसंख्यत्वम्, तथा च कर्माणि गुणाश्च निःसंख्यानि, संख्याया गुणत्वेन गुणेषु तावत् संख्या न न विद्यते न वा कर्मसु, गुणानां कर्मसु निषेधात् अन्यथा द्रव्यत्वप्रसङ्गात् । साधितञ्च संख्याया गुणत्वमेकत्वस्य च संख्यात्वमिति भावः ॥ ४ ॥

दिखाया हुआ व्यवहार गौण है यह सूत्र का अर्थ है । 'कर्मों से कर्म, गुणों से गुण' यह भी पूर्वसूत्रों में दिखाये हुए दोनों दृष्टान्त पूर्वोक्त दृष्टांतसूत्र के साथ एक वाक्य होता हुआ ही यहाँ मालूम पड़ता है, अर्थात् जैसे एक कर्म दूसरी क्रिया वाला अथवा एक गुण दूसरे गुण का आधार नहीं होता, वैसे एकत्व संख्या तथा एक पृथक्त्व गुण भी दूसरी एक संख्या तथा दूसरे एक पृथक्त्व गुण के आधार नहीं होते यह सूत्र का अर्थ होता है ॥ ३ ॥

"गुणों में तथा कर्मपदार्थों में गुण एक है एक कर्म है यह व्यवहार तो साधारण रूप से ही होता है, तो इसमें क्या नियम का कारण है कि द्रव्यों में ही एक संख्या है गुण कर्मादिकों में नहीं ?" इस पूर्वपक्षी की शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—निःसंख्यत्वात् = संख्यारूप गुण न होने से, कर्मगुणानां = कर्म तथा गुण पदार्थों के, सर्वैकत्वं = संपूर्ण पदार्थों में एकत्व, न विद्यते = नहीं रहता ॥ ४ ॥

भावार्थ—कर्म तथा गुणपदार्थों में संख्यारूप गुण न रहने के कारण सब में एक संख्या वाले नहीं हैं, क्योंकि संख्या गुणपदार्थ है इस कारण गुणों में गुणों की वर्तमानता विरुद्ध होने से तथा क्रिया में गुणों का निषेध होने के कारण भी गुण तथा कर्मपदार्थों में एकसंख्या की आधारता न हो सकने से द्रव्यादि संपूर्ण पदार्थ एक संख्या के आश्रय हैं यह नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

उपस्कार—सम्पूर्णों की एक संख्या को सर्वेकत्व कहते हैं, वह नहीं है । क्योंकि इस प्रश्न के समाधानार्थ सूत्रकार ने 'निःसंख्यत्वात्कर्मगुणानां' अर्थात् कर्म और गुण पदार्थों के संख्याशून्य होने पर ऐसे हेतु दिया है । संख्या से निष्क्रान्त (रहित) निसंख्य होते हैं, उनका धर्म है निःसंख्यता संख्याशून्यता, ऐसा होने से कर्म तथा गुणपदार्थ भी संख्या से शून्य हैं, संख्या के गुण पदार्थ होने से गुणपदार्थों में तो संख्या नहीं रहती, अथवा न कर्मपदार्थों में, क्योंकि गुणों का क्रियापदार्थ में निषेध

तर्हि कथमेकं रूपमेको रस इत्यादिज्ञानमित्यत आह—

भ्रान्तं तत् ॥ ५ ॥

गुणकर्मसु यदेकत्वज्ञानं तद् भ्रान्तमित्यर्थः । सूत्रे च ज्ञानमिति शेषः आक्षिप्तपूर्वपक्षत्वात् प्रयोगस्तु भाक्तः स्वरूपाभेद एव च भाक्तः न च तदेवैकत्वमुक्तोत्तरत्वात् ॥ ५ ॥

ननु द्रव्येष्वप्ययमेकत्वप्रयोगो भाक्तोऽस्तु प्रत्ययस्तु तत्र भ्रान्तः किमेकत्वेनेत्यत आह—

एकत्वाभावाद् भक्तिस्तु न विद्यते ॥ ६ ॥

है । अन्यथा कर्म पदार्थ में गुण रहें तो वे द्रव्य हो जायँगे । संख्या गुण है तथा एकत्व भी संख्या है यह सिद्ध कर चुके हैं यह सूत्र का आशय है ॥ ४ ॥

यदि ऐसा है तो एक रूप है, एक रस है इत्यादि ज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—भ्रान्तं = भ्रमरूप है, तत् = वह (एक रूप इत्यादि ज्ञान) ॥ ५ ॥

भावार्थ—गुणों में गुणों के रहने का निषेध होने से एक रूप है, एक रस है इत्यादि ज्ञान भ्रमरूप है ॥ ५ ॥

उपस्कार—गुण तथा कर्मपदार्थों में जो एक है ऐसा ज्ञान होता है वह भ्रमरूप है यह सूत्र का अर्थ है । सूत्र में आकांक्षित 'ज्ञानं' ज्ञान ऐसा शेष पद देना, क्योंकि पूर्वपक्षी का ज्ञान का आक्षेप हुआ है । रूप एक है इत्यादि शब्द का प्रयोग भक्त (गौण) है, स्वरूप का भेदन होना ही भाक्त (गौणता) है, वही एकत्व नहीं है यह उत्तर दे चुके हैं । ॥ ५ ॥

'ऐसा है तो गुणों के समान 'एक घट है' इत्यादि द्रव्यों में भी होने वाला 'एक है' यह शब्द का प्रयोग भाक्त (गौण) हो, उक्त एक घट है, यह ज्ञान भ्रमरूप मानेंगे तो फिर एकत्व संख्या की क्या आवश्यकता है ?' इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एकत्वाभावात् = मुख्य एकत्व सांख्या के न होने से, भक्तिः तु = किन्तु भक्ति (गौणता), न विद्यते = नहीं हो सकती है ॥ ६ ॥

भावार्थ—यदि वास्तविक एकत्व संख्या कहीं भी न होगी तो गौण प्रयोग भी न होगा, क्योंकि प्रधान प्रयोगपूर्वक ही गौण प्रयोग होता है तथा भ्रमरूप ज्ञान भी न हो सकेगा, क्योंकि यथार्थ ज्ञानपूर्वक ही भ्रमरूप ज्ञान होता है ॥ ६ ॥

उपस्कार—यदि वास्तविक एक संख्या कहीं न मानी जाय तो एक है यह शब्द प्रयोग भाक्त (गौण) न होगा, क्योंकि मुख्य शब्द प्रयोगपूर्वक ही गौणता होती है, अथवा उक्त 'एक है' यह ज्ञान भी भ्रमरूप नहीं होगा, क्योंकि यथार्थ ज्ञानपूर्वक ही

यदि पारमार्थिकमेकत्वं कचिन्नाभ्युपगन्तव्यं तदा न प्रयोगो भाक्तः मुख्यपूर्वकत्वाद्भक्तेः, न वा प्रत्ययो भ्रान्तः प्रमापूर्वकत्वाद् भ्रमस्य, प्रमितं ह्यारोप्यते नाप्रमितम् असत्ख्यातेर्निरासाद् अन्यथा ख्यातेः साधनादिति भावः ॥ ६ ॥

कार्यकारणयोस्तन्तुपटयोरेकत्वमेकपृथक्त्वञ्च, यत एवैकत्वमत एवैकपृथक्त्वमपि न हि स्वस्मादेव स्वं पृथगिति सम्भवति, न हि पटे पाट्यमाने प्रत्येकं तन्तूनामाकर्षे तद्भिन्नः पट उपलभ्यते, यदि तन्तुभिन्नः पटः स्यात् तदा तद्भिन्नतयोपलभ्येत घटवत् , एवं घटेऽपि भग्ने कपालद्वयातिरिक्तस्यानुपलम्भात् घटोऽपि कपालद्वयात्मक एव । तदुक्तं-"नान्योऽवयव्यवयवेभ्यः" इति तदिदं साङ्ख्यीयं मतं प्रसङ्गान्निराचिकीर्षुराह—

कार्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते ॥ ७ ॥

कार्यं कारणञ्च द्वयमेकं न भवति, कुत एतदित्याह—एकत्वाभावादभेदा-

---

भ्रमरूप ज्ञान भी होता है। क्योंकि निश्चयरूप से जाने हुए रजत आदि शुक्ति में आरोप किये जाते हैं, न निश्चित किये हुए का आरोप नहीं होता, क्योंकि बौद्धमत के समान असत् रजत पदार्थ की ख्याति (प्रसिद्धि) नैयायिक नहीं मानते किन्तु शुक्ति का अन्यथा (दूसरे रजतरूप से) इत्यादि ज्ञानरूप भ्रम नैयायिक मानते हैं (सिद्ध करते हैं)। यह सूत्र का आशय है ॥ ६ ॥

तन्तु तथा पटरूप कारण और कार्य दोनों में एकत्व संख्या तथा एक पृथक्त्व गुण है, जिस कारण ही एकत्व संख्या है इसी कारण एक पृथक्त्व भी है, किन्तु अपने से आप पृथक् होना असम्भव है। क्योंकि वस्त्र के फाड़ने के समय तन्तुओं के खींचने पर तन्तुओं से भिन्न पट की उपलब्धि नहीं होती, यदि तन्तुओं से भिन्न पट हो तो उनसे भिन्न घट के समान पट की उपलब्धि होने लगेगी, इसी प्रकार घट के टूटने पर कपाल द्वय (दो खण्डों) के अतिरिक्त की उपलब्धि न होने के कारण घट भी दो कपालरूप ही है, अतएव न अन्यः = दूसरा नहीं है, अवयवी = अवयवी द्रव्य, अवयवेभ्यः = अवयवों से, ऐसा कहा है (इस प्रकार के सांख्यदर्शनमत का प्रसंग से खण्डन करने की इच्छा से सूत्रकार कहते हैं)—

पदपदार्थ—कार्यकारणयोः = कार्य तथा कारण दोनों में, एकत्वैकपृथक्त्वाभावात् = एकत्व तथा एक पृथक्त्व के न होने से, एकत्व तथा एकपृथक्त्वं, न विद्यते = नहीं है ॥ ७ ॥

भावार्थ—पटादि कार्य तथा तन्तु आदि कारणों में एकता तथा एकपृथक्त्व न होने से अर्थात् अभेद न होने के कारण ऐक्य नहीं है अर्थात् कार्य तथा कारण एक नहीं हो सकते ॥ ७ ॥

उपस्कार—कार्य (पट आदि) और कारण (तन्तु आदि) ये दोनों एक नहीं हैं। ऐसा क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने 'एकत्वैकपृथक्त्वाभावात्' अर्थात्

भावात्। तर्हि यदेव कार्यं तदेव कारणं तन्तवः पट इति बहुत्वैकत्वयोः सामानाधिकरण्यानुपपत्तेः। अवत्येव सामानाधिकरण्यमेकस्यामपि पाथः कणिकायामाप इति प्रयोगात् एकस्यामपि योषिति दारा इति प्रयोगादिति चेन्न तत्रावयवबहुत्वमादायोपपत्तेः। पाथः परमाणौ तु प्रकृतिगतं रूपादिबहुत्वमादायेत्येके। शब्दस्वाभाव्यमिदमपर्यनुयोज्यमित्यपरे। न च रण्डाकरण्डावस्थितास्तन्तवः पटव्यपदेशं लभन्ते, न वा धारणाकर्षणे तन्तवः प्रत्येकं कर्तुमीशते, न वा कार्यं कारणञ्च द्वयमप्येकपृथक्त्वाश्रयः परस्परावधिकत्वप्रतीतेः। कुत इत्यत आह–एकपृथक्त्वाभावात् एकपृथक्त्वमवैधर्म्यं तदभावात् कार्यकारणयोरन्योन्यवैधर्म्यानुभवात् तन्तुत्वपटत्वयोः घटत्वकपालत्वयोश्च भिन्नबुद्धिव्यपदेशयोः

अभेद न होने से हेतु दिया है, क्योंकि कार्य तथा कारण का अभेद माना जाय तो जो ही पट कार्य है वही तन्तु कारण है, ऐसा होने से 'तन्तवः', 'पटः' इन दोनों पदों में बहुवचनार्थ अनेक संख्या तथा एकवचनार्थ एक संख्या का एक आश्रय में वर्तमानतारूप सामानाधिकरण्य न बनेगा। यदि 'एक भी जल के बूंद में 'आपः' ऐसा बहुवचन का तथा एक ही स्त्री में 'दाराः' ऐसा बहुवचन का भी प्रयोग होने के कारण अनेक संख्या तथा एक संख्या का एक आश्रय मे रहना होता ही है' ऐसी शंका पूर्वपक्षी करे तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि इन प्रयोगों में जल तथा स्त्री के अनेक अवयवों को लेकर बहुवचन प्रयोग हो सकता है। जल के परमाणुरूप प्रकृति में वर्तमान रूपादिकों की अनेक संख्या को लेकर 'आपः' ऐसा बहुवचन प्रयोग एक ही जल के बूंद से हो सकता है ऐसा भी कुछ विद्वानों का यहाँ कहना है। 'दाराः' पुं भूम्नि अक्षताः' अर्थात् दारा शब्द तथा अक्षत शब्द पुल्लिंग बहुवचन में ही होते हैं इस कोश से तथा 'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि' अर्थात् जलवाचक अप्शब्द स्त्रीलिंग बहुवचन में होता है। इस कोश के भी बल से व्युत्पन्न किये स्वभाव वाले उक्त शब्द होने से शब्द का स्वभाव ऐसा होने के कारण यह आपत्ति ही नहीं आ सकती, ऐसा भी कुछ विद्वानों का मत है। जिस रण्डा तथा करण्डा नाम विशेष औषधि जिसमें रहने वाले तन्तु उत्पन्न होकर पट के व्यवहार को नहीं प्राप्त होते हैं अथवा धारण (पकड़ रखना) तथा आकर्षण (खींचना) वह दोनों कर्म केवल प्रत्येक तन्तु नहीं कर सकते, अथवा पटादि कार्य तथा तन्तु आदि कारण यह दोनों भी एक पृथक्त्व गुण के आधार हैं, क्योंकि परस्पर में अवधि का ज्ञान होता है। ऐसा क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—'एकपृथक्त्वाभावात्' अर्थात् एकपृथक्त्वत्रय विरुद्ध धर्म न होना, उसके अभाव से अर्थात् कार्य पट तथा कारण तन्तुओं में परस्पर विरुद्ध धर्म का अनुभव होने से तथा तन्तु और पट एवं घट और कपाल का भिन्न-भिन्न बुद्धियों से व्यवहार होता है यह सर्वसाधारण लौकिक व्यवहार से

सार्वलौकिकत्वात्। कथं तर्हि रूपरसगन्धस्पर्शानां न भेदेनोपलम्भः? अत्यन्तसारूप्यात्, क्वचिच्चित्रपटादौ भेदोपलम्भोऽपि, सङ्ख्यापरिमाणादिभेदस्य चातिस्फुटत्वात् ॥ ७॥

अनित्ययोरेकत्वैकपृथक्त्वयोः कारणगुणपूर्वकत्वमाह—

एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥ ८ ॥

अनित्ययोः सङ्ख्यापृथक्त्वयोः कारणगुणपूर्वकत्वं यद्व्याख्यातं तदनित्ययोरेकत्वैकपृथक्त्वयोरेव बोद्धव्यम्, अन्येषां सङ्ख्यापृथक्त्वानामपेक्षाबुद्धिजन्यत्वात्, यथाऽनित्ययोस्तेजोरूपस्पर्शयोः कारणगुणपूर्वकत्वं तथैकत्वैकपृथक्त्वयोरप्यनित्ययोरिति भावः। अर्थात् 'अनेकद्रव्या द्वित्वादिका परार्द्धान्ता' इत्युपसङ्ख्यानम्, उपसङ्ख्यानान्तरञ्च–'तत्समानाधिकरणञ्च द्विपृथक्त्वादिपरार्द्धपृथक्त्वपर्यन्तम्'।

सिद्ध है। ऐसा है तो रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श नामक गुणों की भेद से उपलब्धि क्यों नहीं होती अर्थात् गुणों का गुणी से अलग ग्रहण क्यों नहीं होता? इस प्रश्न का यह उत्तर है कि अत्यन्त समानरूप होने से और कहीं-कहीं अनेक रंग के चित्रपटादिकों में गुण तथा गुणी का भेद गृहीत भी होता है, संख्या तथा परिमाण इत्यादि गुणों का भेद तो गुण तथा गुणी में अत्यन्त स्पष्ट प्रतीत होता है ॥ ७ ॥

अनित्य एकसंख्या तथा एकपृथक्त्व ये दोनों कारण गुणपूर्वक होते हैं, यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एतत् = यह (कारणगुणपूर्वकता), अनित्ययोः=अनित्य संख्या तथा पृथक्त्व इन दोनों गुणों में, व्याख्यातम्=व्याख्या किया गया ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो संख्या तथा पृथक्त्व गुण में कारणगुणपूर्वकता कही है वह अनित्य ही एकत्वसंख्या तथा एकपृथक्त्वगुण में जानना चाहिये ॥ ८ ॥

उपस्कार—अनित्य संख्या तथा पृथक्त्व इन दोनों गुणों में जो कारणगुणपूर्वकता व्याख्या की गई है वह अनित्य एकसंख्या तथा एकपृथक्त्व नामक दो गुणों में जाननी चाहिये, क्योंकि अन्य द्वित्वादि संख्या इत्यादि अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार अनित्य तेजद्रव्य के रूप तथा स्पर्श ये दोनों गुण कारणगुणपूर्वक होते हैं, उसी प्रकार एकसंख्या तथा एकपृथक्त्व ये दोनों गुण भी कारणगुणपूर्वक होते हैं, यह सूत्र का आशय है। अर्थात् 'अनेक द्रव्याद्वित्वादिका परार्धान्ताः' ऐसा (उपसंख्यान) भाष्य है, जिसका द्वित्व से लेकर परार्धपर्यंन्त संख्या अनेक द्रव्य अर्थात् अनेक एकविषयक बुद्धि से उत्पन्न होती है, ऐसा अर्थ है। तथा दूसरा उपसंख्यान (भाष्य) भी है तत्समानाधिकरणञ्च = द्वित्वादि संख्या के अधिकरण में रहनेवाला होता है, द्विपृथक्त्वादिपरार्धपृथक्त्वपर्यन्तम्=द्विपृथक्त्व से लेकर द्विपरार्ध पृथक्त्व गुण तक। तस्मात् द्वित्वादि संख्याओं के उत्पत्ति तथा

तदयं द्वित्वाद्युत्पादविनाशक्रमः—समानजातीययोरसमानजातीययोर्द्रव्ययोश्चक्षुःसन्निकर्षे सति तन्निष्ठैकत्वसङ्ख्ययोर्यत्सामान्यमेकत्वं तयोर्निर्विकल्पकानन्तरं तद्विशिष्टगुणबुद्धित्वमुत्पद्यते, सैव चापेक्षाबुद्धिस्तया तयोर्द्रव्ययोर्द्वित्वमुत्पद्यते उत्पन्नस्य च द्वित्वस्य यत्सामान्यं द्वित्वत्वं तदालोचनं तेनालोचनेनापेक्षाबुद्धेर्नाशो द्वित्वत्वविशिष्टं द्वित्वगुणविषया विशिष्टबुद्धिश्चैकदा भवति, तदग्रिमक्षणे च द्वित्वगुणस्यापेक्षाबुद्धिविनाशाद्विनाशः द्वे द्रव्ये इति द्वित्वविशिष्टद्रव्यज्ञानञ्च युगपदुत्पद्यते, ततस्तस्माद् द्वित्वविशिष्टद्रव्यज्ञानात् संस्कारः।

तदयं संक्षेपः-उत्पत्स्यमानद्वित्वाधारेणेन्द्रियसन्निकर्षः १ ततः एकत्वगुणगत सामान्यज्ञान २ तत एकत्वत्वसामान्यविशिष्टैकत्वगुणसमूहालम्बनरूपाऽपेक्षाबुद्धिः ३ ततो द्वित्वगुणोत्पत्तिः ४ तद्गतसामान्यस्य ज्ञानं ५ ततस्तत्सामान्यविशिष्टद्वित्वगुणज्ञानं ६ ततो द्वित्वगुणविशिष्टद्रव्यज्ञानं ७ ततः संस्कारः ८ इतीन्द्रियसन्निकर्षमारभ्य संस्कारपर्यन्तमष्टौ क्षणाः।

नाश का यह क्रम है—समान जाति के दो घट तथा असमान जाति के घट तथा पटरूप दो द्रव्यों का चक्षुरिन्द्रिय से संयोगरूप संनिकर्ष होने पर उन दोनों में वर्तमान दो-एक संख्याओं की जो सामान्य (जाति) एकत्वत्व उन एकत्व संख्या तथा एकत्वत्व सामान्य दोनों का परस्पर विशेषणविशेष्यभाव को विषय न करने वाली निर्विकल्पकरूप ज्ञान न होने के पश्चात् उन दोनों का विशिष्ट ज्ञानरूप जो ज्ञान होता है वही अपेक्षाबुद्धि है, उससे उन दोनों द्रव्यों में द्वित्व उत्पन्न होता है, और उत्पन्न द्वित्वगुण की जो द्वित्वत्वरूप जाति उसका निर्विकल्पकरूप ज्ञान होता है जिससे अपेक्षाबुद्धि नष्ट हो जाती है, और द्वित्वत्व जातिविशिष्ट द्वित्वगुण को विषय करनेवाला विशिष्ट ज्ञान भी एक समय में होता है, और उसके आगे के क्षण में उस द्वित्व गुण का आपेक्षाबुद्धि के नष्ट होने के कारण नाश हो जाता है, तथा ये दो द्रव्य है, ऐसा द्वित्वविशिष्ट द्रव्य ज्ञान भी उत्पन्न होता है, पश्चात् उस द्वित्वविशिष्ट द्रव्य के ज्ञान से संस्कार (भावना) उत्पन्न होता है। इसका संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि—जिसमें द्वित्व गुण आगे उत्पन्न होने वाला है ऐसे द्वित्वगुण के आधार द्रव्यों के साथ चक्षुरिन्द्रिय का संयोगरूप संनिकर्ष (१) इसके पश्चात् एकत्व संख्यारूप गुण में रहनेवाले एकत्व जाति का ज्ञान (२), पश्चात् एकत्वत्व जातिविशिष्ट एकत्वसंख्यारूप गुणों की समूहालम्बन (समूह को आश्रय करनेवाली) रूप अपेक्षाबुद्धि (३), पश्चात् द्वित्वसंख्यारूप गुण की उत्पत्ति (४), तथा उसमें वर्तमान द्वित्वत्वरूप जाति का ज्ञान (५), पश्चात् उस जाति से युक्त द्वित्वसंख्यारूप गुण का ज्ञान (६), पश्चात् द्वित्वगुणविशिष्ट द्रव्य का ज्ञान (७), पश्चात् कालान्तर में दो द्रव्यों का स्मरण करनेवाला भावना नामक संस्कार (८)। इस प्रकार दो द्रव्यों के इन्द्रिय से संयुक्त होने के काल से लेकर संस्कार तक आठ क्षण होते हैं।

विनाशक्रमस्तु-एकत्वत्वसामान्यज्ञानस्यापेक्षाबुद्धितो विनाशः द्वित्वत्वसामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धेर्विनाशः द्वित्वसामान्यज्ञानस्य च द्वित्वगुणबुद्धितो विनाशः द्वित्वगुणबुद्धेश्च द्वित्वविशिष्टद्रव्यज्ञानात् तस्य च संस्कारात् विषयान्तरज्ञानाद्वेति।

नन्वेकत्वज्ञानात्तद्विशिष्टद्रव्यज्ञानमेव कथं नोत्पद्यते तत्सामग्रीसत्त्वात्, न हि गुणज्ञाने सति द्रव्यज्ञाने विलम्बोऽस्ति तथा च तत एवापेक्षाबुद्धेर्विनाशे तन्नाशाच्च तदग्रिमक्षण एव द्वित्वनाश इति द्वे द्रव्ये इति विशिष्टज्ञानपूर्वक्षण एव द्वित्वविनाशापत्त्या द्वित्वविशिष्टद्रव्यज्ञानस्यानुत्पत्तिरेवेति चेन्न द्वित्वाद्युत्पत्तिसामग्र्यनभिभूताया एवापेक्षाबुद्धेर्द्रव्यविशिष्टज्ञानजनकत्वनियमात् फलबलेन तथा कल्पनात्। ननु तथापि स्वजनितसंस्कारेणैवापेक्षाबुद्धिविनाशे पुनः स

विनाश का क्रम यह है--एकत्वत्व जाति के ज्ञान का अपेक्षाबुद्धि से नाश होता है, द्वित्वत्व जाति के ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का नाश, तथा द्वित्वत्व जाति के ज्ञान का द्वित्वगुणबुद्धि से नाश होता है और द्वित्व संख्यारूप गुण के ज्ञान का द्वित्वगुणविशिष्ट 'दो द्रव्य हैं' ऐसे ज्ञान से, और उसका भावनासंस्कार से, अथवा दूसरे विषयों के ज्ञान से नाश होता है। 'एकत्व संख्या के ज्ञान से उससे युक्त द्रव्य का ज्ञान ही क्यों नहीं उत्पन्न होता ? क्योंकि उसकी सामग्री है, क्योंकि गुण का ज्ञान होने पर द्रव्य के ज्ञान में विलम्ब नहीं होता, ऐसा होने के कारण उसीसे अपेक्षाबुद्धि का नाश होने पर, उसके नाश से ही उसके आगे के क्षण में ही द्वित्वगुण का नाश होने से 'दो द्रव्य हैं' इस विशिष्ट ज्ञान के प्रथम क्षण में ही द्वित्व के नाश की आपत्ति आने के कारण 'दो द्रव्य हैं' ऐसा द्वित्वविशिष्ट द्रव्यज्ञान उत्पन्न ही न होगा' ऐसी यदि पूर्वपक्षी शंका करे तो, यह ठीक नहीं है, क्योंकि द्वित्वादि गुण की उत्पत्ति की सामग्री से अनभिभूत (तिरस्कृत न होने वाली) ही अपेक्षाबुद्धि द्रव्यविशिष्ट ज्ञान को उत्पन्न करती है यह नियम है, क्योंकि फल के बल से ऐसा माना जाता है। तथापि 'अपेक्षा बुद्धि से उत्पन्न भावनासंस्कार से ही अपेक्षाबुद्धि का नाश होना संभव होने से पुनः उक्त दोष—'दो द्रव्य हैं' इत्याकारक द्वित्वविशिष्ट द्रव्यज्ञान की उत्पत्ति न होना, वैसा ही होगा, ऐसा पूर्वपक्षी आक्षेप नहीं कर सकता। केवल गुण का ज्ञान भी संस्कार को उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि केवल द्वित्वादि गुणों का कहीं स्मरण नहीं होता, संपूर्ण स्थलों में द्रव्य के उपराग (सम्बन्ध) से ही गुणों का स्मरण होता है। 'ऐसा होते थापि विशिष्ट ज्ञान के समय में भी द्वित्व गुण का नाश होने पर 'दो द्रव्य हैं' इस प्रकार द्वित्वविशिष्ट द्रव्यज्ञान की उत्पत्ति न हो सकना यह दोष पुनरपि उसी प्रकार होगा, क्योंकि वर्तमान काल को विषय करनेवाली विशिष्ट ज्ञान द्वित्वरूप विशेषण के नाश के समय में नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा दिखने में नहीं आता' ऐसी शंका का समाधान यह है कि विशेषण का ज्ञान, तथा

दोषस्तदवस्थ एव, द्वित्वविशिष्टज्ञानपूर्वक्षण एव द्वित्वनाशस्य सम्भवादिति चेन्न केवल गुणज्ञानस्य संस्काराजनकत्वात् न हि केवलो गुणः क्वापि स्मर्यते, सर्वत्र द्रव्योपरागेणैव गुणस्मरणात्। ननु भवत्वेवं तथापि विशिष्टबुद्धिकालेऽपि द्वित्वनाशे विशिष्टप्रतीत्यनुदयस्तदवथ एव, नहि वर्तमानावभासिनी विशिष्टप्रतीतिर्विशेषणनाशकाले सम्भवति तथाऽदर्शनादिति चेन्न विशेषणज्ञानविशेष्येन्द्रियसन्निकर्षतदुभयासंसर्गाग्रहस्य विशिष्टज्ञानसामग्र्याः प्रकृतेऽपि सम्भवात्। यदि तु विशेषणेन्द्रियसन्निकर्षोऽपि मृग्यते तदा पूर्वक्षणे तस्यापि सत्त्वात् पूर्वक्षणवर्त्तिन एव सन्निकर्षस्य कारणत्वेनाभ्युपगमात्, विशेषणं विशिष्टज्ञानागोचरोऽपि सम्भवति विशिष्टज्ञानजनकज्ञानविषयत्वमात्रमेव हि विशेषणत्वे तन्त्रं न तु विशिष्टज्ञानाविषयत्वमपि। उपलक्षणस्याप्येवं विशेषणत्वापत्तिरिति चेन्न प्रत्याय्यव्यावृत्तिसामानाधिकरण्यस्य विशेषणत्वे तन्त्रत्वात्, उपलक्षणन्तु तद्व्यधिकरणम्। एवं यदा देवदत्तगृहे काकवत्ता तदा काको विशेषणं, यदा तु उपरि भ्रमन् असन् तदोपलक्षणम्। एवं सति रूप-

---

विशेष के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध तथा इन दोनों के असम्बन्ध का अज्ञानरूप विशिष्ट ज्ञान की सामग्री प्रस्तुत में भी हो सकती है। किन्तु यदि विशेषण के साथ इन्द्रिय का संनिकर्ष भी विशिष्ट ज्ञान में कारण होने से उसका भी अन्वेषण (खोज) किया जाय तो पूर्वक्षण में वह भी है, पूर्वक्षण में वर्तमान ही संनिकर्ष को कारण माना गया है। विशिष्ट ज्ञान का विषय न होनेवाला भी विशेषण हो सकता है क्योंकि विशिष्ट ज्ञान के जनक ज्ञान का विषय होना ही विशेषण होने में प्रयोजक होता है न कि विशिष्ट ज्ञान का विषय होना। यदि ऐसा होने से उपलक्षण भी विशेषण हो जायगा ऐसी शंका पूर्वपक्षी करे तो यह नहीं हो सकता, प्रत्याय्य (बोध कराने के योग्य) से व्यावृत्ति (भेद) के अधिकरण में रहना विशेषण होने में कारण है, और उपलक्षण उसके अधिकरण में नहीं रहता। ऐसा होने से जिस समय देवदत्त नाम के मनुष्य के घर पर काक (कौवा) बैठा रहता है उस समय काक विशेषण होता है, और जिस समय घट के ऊपर घूमता है, बैठा नहीं रहता उस समय वह उपलक्षण (सूचक) होता है। ऐसा होने से 'रूप के आश्रय में रस है' इत्यादि प्रतीति में रूपादि भी विशेषण हो जायगा। ऐसी आपत्ति पूर्णपक्षी नहीं कर सकता। क्योंकि इस प्रतीति में रूप का विशेषण होना इष्ट ही है। 'तो उस रूप से भी रस रहेगा' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि विशिष्ट में रहनेवाला विशेषण में रहता है यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि विशेषण तथा विशिष्ट एक ही तत्त्व (पदार्थ) नहीं होता। यदि द्वित्वगुण के नाश के समय विशेषण द्वित्व का सम्बन्ध नहीं है तो 'दो द्रव्य हैं' ऐसा दित्वविशिष्ट द्रव्य का ज्ञान कैसे होगा ? ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, 'अतद्रव्यावृत्तेरेव अर्थात् उससे भिन्न

वति रस इत्यादौ रूपादेरपि विशेषणत्वापत्तिरिति चेन्न इष्टत्वात्। तर्हि तत्रापि रसो वर्ततेति चेन्न विशिष्टवृत्तेर्विशेषणवृत्तित्वानावश्यकत्वात्, न हि विशेषणं विशिष्टमित्येकं तत्त्वम्। द्वित्वनाशकाले विशेषणसम्बन्धो नास्ति कुतो विशिष्टप्रत्यय इति चेन्न अतद्व्यावृत्तेरेव वैशिष्ट्यपदार्थत्वात्, तद्भानन्तु तत्रापीति न किञ्चिदनुपपन्नमित्याचार्याः। एवं द्वित्वोत्पत्तिविनाशवत्त्रित्वोत्पत्तिविनाशावप्यूहनीयौ।

द्वित्वमपेक्षाबुद्धिनाशनाश्यम्, आश्रयनाश–विरोधिगुणान्तराभावे गुणस्य सतोऽविनाशित्वात् चरमज्ञानवत्, चरमज्ञानस्यादृष्टनाशनाश्यत्वात्।

क्वचिदाश्रयनाशादपि नश्यति यत्र द्वित्वाधारावयवकर्मसमकालमेकत्वसामान्यज्ञानम्। यथा अवयवकर्मसामान्यज्ञाने विभागापेक्षाबुद्धौ संयोगनाश-

---

पदार्थ से भिन्न होना ही वैशिष्ट्य पद का अर्थ होता है। 'उसे द्वित्वरूप विशेषण का मान (ज्ञान) वहाँ भी असंगत नहीं है' ऐसा यहाँ उदायनाचार्य का मत है। इसी प्रकार दित्व गुण की उत्पत्ति तथा नाश के समान त्रित्वादि संख्यारूप गुणों की उत्पत्ति तथा उनका विनाश भी जान लेना चाहिये। द्वित्वसंख्यारूप गुण अपेक्षाबुद्धि के नाश से नष्ट होता है, क्योंकि आधार का नाश तथा विरोधी दूसरे गुण के न रहते, गुण होते हुए विनाशी न होने से, अंतिम ज्ञान के समान, क्योंकि चरम (अंतिम, ज्ञान का अदृष्ट के नाश से नाश होता है। कहीं आश्रय के नाश से भी द्वित्वसंख्यारूप गुण का नाश होता है—जहाँ पर द्वित्वसंख्या गुण के आश्रय द्रव्य के अवयव में क्रिया उत्पन्न होने के समय एकत्व जाति का ज्ञान होता है। जैसे द्वित्वाधार द्रव्य के अवयव में क्रिया तथा एकत्व जाति का ज्ञान, क्रम से क्रिया से विभाग तथा यह एक है ऐसी अपेक्षाबुद्धि विभाग से पूर्वसंयोग का नाश तथा अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व संख्यारूप गुण की उत्पत्ति, पूर्वसंयोगनाश से द्रव्य का नाश तथा द्वित्वत्व सामान्य का ज्ञान, ऐसे स्थल में द्रव्यनाश से द्वित्व गुण का नाश होता है। सामान्य ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है, अपेक्षाबुद्धि के द्वित्वनाश के समान काल होने के कारण कार्यकारण समान भाव नहीं हो सकता। अर्थात् एक काल के दो शृंगों के समान द्वित्वाश्रय द्रव्य के अवयवों में क्रिया होने के समान काल के एकत्व ज्ञान स्थल में एक काल में होनेवाला अपेक्षाबुद्धि का नाश द्वित्वगुण का नाशक नहीं हो सकता, किन्तु आश्रय द्रव्य का नाश ही उसका नाशक होगा यह आशय है।

किन्तु जिस समय द्वित्वगुण के आधारद्रव्य के अवयवों में क्रिया तथा अपेक्षाबुद्धि ये दोनों से एक समय में होते हैं, उस समय उन आश्रय का नाश तथा अपेक्षाबुद्धि का नाश दोनों मिलकर द्वित्वगुण का नाश होता है। वह इस प्रकार है कि अवयव में क्रिया और अपेक्षाबुद्धि, उनसे क्रम से अवयव विभाग तथा द्वित्वगुण की उत्पत्ति, उनसे पूर्वसंयोग का नाश तथा द्वित्वत्व सामान्य का ज्ञान,

गुणोत्पत्तौ द्रव्यनाशद्वित्वसामान्यज्ञाने तत्र द्रव्यनाशाद्द्वित्वनाशः, सामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धिनाशः, अपेक्षाबुद्धिनाशस्य द्वित्वनाशसमानकालत्वात् कार्यकारणसमानभावाभावात्।

यदा तु द्वित्वाधारावयवकर्मापेक्षाबुद्ध्योर्यौगपद्यं तदा द्वाभ्यामाश्रयनाशापेक्षाबुद्धिनाशाभ्यां द्वित्वनाशः। तद्यथा अवयवकर्मापेक्षाबुद्धी विभागोत्पत्तिद्वित्वोत्पत्ती संयोगनाशद्वित्वसामान्यज्ञाने द्रव्यनाशापेक्षाबुद्धिनाशौ ताभ्यां द्वित्वनाशः प्रत्येकं सामर्थ्यग्रहात्। इयञ्च प्रक्रिया ज्ञानयोर्वध्यघातकपक्षे परमुपपद्यते स एव च पक्षः प्रामाणिकः।

ननु द्वित्वत्रित्वादीनां सामग्रीसाम्ये कथं कार्यवैलक्षण्यं ? द्वाभ्यामेकत्वाभ्यां द्वित्वं त्रिभिरेकत्वैस्त्रित्वमिति चेन्न एकत्वे द्वित्वाद्यभावात्। समवायिकारणगतमेव द्वित्वत्रित्वादिके तन्त्रमिति चेन्न द्वित्वाद्युत्पत्तेः पूर्वं तत्र द्वित्वाद्यभावात्, तत्रापि कारणचिन्ताया अनिवारणात् अपेक्षाबुद्धावेकत्वेषु च तादृशविशेषस्या-

---

उनसे क्रम से द्रव्य का नाश तथा अपेक्षाबुद्धि का नाश होता है, और उन दोनों से द्वित्व का नाश होता है, क्योंकि प्रत्येक द्वित्वनाश के सामर्थ्य होने का ग्रहण होता है। किन्तु यह प्रक्रिया दो ज्ञानों के परस्पर वध्यघातक (नाश्यनाशक) रूप विरोध मानने के पक्ष भी हो सकती है, नकि सहानवस्थान को ज्ञानों के साथ में न रहनेरूप विरोध पक्ष में (क्योंकि इस पक्ष ही में दो द्रव्य हैं ऐसे विशिष्ट द्रव्यज्ञान की उत्पत्ति न होगी ऐसा प्रशस्तपादभाष्य में देख लेना चाहिये)। शंकरमिश्र कहते हैं कि वध्य घातक पक्ष ही इस कारण भाष्यमत के अनुसार प्रामाणिक है। (त्रित्वादि संख्या के मानने के विषय में विवाद होने से पूर्वपक्षिमत से शंका दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—जब द्वित्व त्रित्व आदि संख्याओं की अपेक्षाबुद्धिरूप सामग्री समान है तो कार्य संख्याओं में विलक्षणता कैसे होगी ? 'यदि दो एक संख्याओं से द्वित्व संख्या तथा तीन एक संख्याओं से त्रित्व संख्या होती है इस कारण कार्यों में विलक्षणता होती है' ऐसा सिद्धान्ती कहे तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि एक संख्यारूप गुण में (गुणों में गुण का रहने का विरोध होने के कारण) द्वित्वादि संख्यारूप गुण नहीं हो सकता। समवायिकारण में वर्तमान ही द्वित्व-त्रित्व आदि प्रयोजक होगा' ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि द्वित्वादि गुणों के उत्पत्ति के पूर्व में द्वित्वादि गुण नहीं हैं। और उसका भी क्या कारण है ? यह चिन्ता दूर न होगी। अपेक्षाबुद्धि तथा अनेक एक संख्याओं में भी ऐसा कोई कार्य में विलक्षणता ले आनेवाला विशेष उपलब्ध नहीं होने से बाधित है। यदि विलक्षण कार्यरूप फल के बल से ऐसा विशेष उनमें माना जाय तो द्वित्व-त्रित्वादि कार्य का व्यवहार भी उसी विशेष से हो जायगा तो द्वित्वादि मानने की भी क्या आवश्यकता है ? यदि अदृष्ट को विशेष से द्वित्व त्रित्व आदि संख्या कार्य ये

नुपलम्भबोधित्वात्, फलबलेन तत्कल्पने, वा द्वित्वादिव्यवहारोऽपि तत एवास्तु किं द्वित्वादिना। अदृष्टविशेषाद्विशेष इति चेदेवं सति द्वित्वारम्भकयाऽपि सामग्र्या कदाचित्त्रित्वं चतुष्ट्वञ्चोत्पद्येतेत्यनियमप्रसङ्गः।

अत्रोच्यते—प्रागभावविशेषाद्विशेषोपपत्तेः, यथा तुल्यया सामग्र्या पाकजानां रूपरसगन्धस्पर्शानाम्। प्रागभावोऽपि साधारण एवेति चेन्न स्वस्वप्रागभावस्यैव कार्यं प्रति कारणत्वावधारणात्। यद्वा शुद्धयाऽपेक्षाबुद्ध्या द्वित्वं द्वित्वसहितया त्रित्वमिति नेयम्। शतं पिपीलिकानां मया हतमित्यादौ समवायिकारणाभावे द्वित्वं तावन्नोत्पद्यते तथाच गौणस्तत्र सङ्ख्याव्यवहारो द्रष्टव्यः। सेनावनादौ नियतापेक्षाबुद्ध्यभावाद्बहुत्वमात्रमुत्पद्यते न तु शतसहस्रादिसङ्ख्येति श्रीधराचार्याः। एवं सति शतसहस्रादिकोटिकस्तत्रसंशयो न स्यात्, न स्याच्च महती महत्तरा सेनेति नैवमित्युदयनाचार्याः।

अत्रैवमालोचनीयम्—त्रित्वादिपरार्द्धपर्यन्ता सङ्ख्यैव बहुत्वम्, तद्भिन्नं वा वा सङ्ख्यान्तरम्? नाद्यः सेनावनादावपि शतसहस्रादिसङ्ख्योत्पत्तिनियमात्।

विलक्षणता मानें, तो ऐसा होने पर द्वित्व की उत्पादक सामग्री से भी कदाचित् त्रित्व संख्या तथा चतुष्ट्व (चार) संख्या भी उत्पन्न होने लगेगी ऐसे अनियम (नियम न होने) की आपत्ति आवेगी।

(इस पूर्वपक्ष का समाधान शंकरमिश्र ऐसा करते हैं कि)—इस पूर्वपक्ष पर ऐसा कहा जाता है कि—प्रागभाव के विशेष से कार्य में विशेषता हो जा सकती है, जिस प्रकार तेजसंयोगरूप पाक के कारण की सामग्री एक होने पर भी रूपप्रागभावादि रूप कारण की विशेषता से रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श कार्यों में विशेषता होती है। यदि पूर्वपक्षी कहे कि 'प्रागभाव भी तो साधारण ही है' तो यह नहीं हो सकता। अपने-अपने कार्य का प्रागभाव ही उन-उन कार्यों में कारण होता है, यह, निश्चित है। अथवा शुद्ध अपेक्षाबुद्धि से द्वित्वसंख्या, तथा दित्वसहित अपेक्षाबुद्धि से त्रित्वसंख्या इस प्रकार विशेष बना लेना। 'शतं=सौ, पिपीलिकानां = चिऊँटियों को,मैंने=मयाहतं = मारा इत्यादि प्रतीति में पिपीलिकारूप समवायिकारण के न रहने से द्वित्वादि संख्या तो उत्पन्न नहीं हो सकती, अतः उनमें शत संख्या का व्यवहार गौण होता है यह देख लेना चाहिये। सेना, वन, इत्यादिकों में नियमित अपेक्षाबुद्धि न होने से केवल बहुत्वरूप संख्या उत्पन्न होती है, नकि शत(सौ), सहस्र (हजार) इत्यादि संख्या 'ऐसा कन्दलीकार श्रीधराचार्य का मत है। ऐसा मानने से सेनावनादिकों में शत (सौ है) अथवा सहस्र है ऐसे अनेक कोटि वाला जो संशय होता है वह न होगा। इस कारण श्रीधराचार्य का मत असंगत है ऐसा उदयनाचार्य का मत है। किन्तु यहाँ पर यह समालोचन हो सकती है—कि त्रित्व से लेकर परार्धपर्यन्त संख्या ही है बहुत्व संख्या अथवा उससे भिन्न संख्या ? सेना, वन

न द्वितीयः त्रित्वादिविलक्षणस्य वहुत्वस्याननुभवात्। तथाच प्रतिनियतैकत्वा नालम्बनापेक्षाबुद्धिजनितशतादिसङ्ख्यैव वहुत्वं शताद्यभिव्यक्तिस्तु तत्र न भवति तादृशव्यञ्जकाभावात्।

वयन्तु ब्रूमः-त्रित्वादिसमानाधिकरणं सङ्ख्यान्तरमेव वहुत्वं त्रित्वादिजनकापेक्षाबुद्धिजन्यं प्रागभावभेदादेवं भावः कथमन्यथा-'वहवस्तावत् सन्ति शतं वा सहस्रं वेति विशिष्य न जानीम' इति। यथैकद्रव्ये महत्त्वं दीर्घत्वञ्च तथैकत्रवाधिकरणे त्रित्वादिकं वहुत्वञ्च। भवति हि 'शतं वा सहस्रं वा चूतफलान्यानयासीति ?' प्रश्ने वह्वस्तावदानीयन्तां किं विशेषजिज्ञासयेति। एवञ्च द्वित्वसहितापेक्षाबुद्ध्या त्रित्वं त्रित्वसहितापेक्षाबुद्ध्या चतुष्ट्वमेवमुत्तरोत्तरोत्तरम् वहुत्वोत्पत्तौ तु नापेक्षाबुद्धौ पूर्वपूर्वसङ्ख्याविशिष्टत्वनियमः। अत एव सेनावनादिषु वहुत्वमात्रमुत्पद्यते न तु सङ्ख्यान्तरं संशयस्त्वसत्कोटिकोऽपि भवत्ये-

---

आदिकों में भी शत सहस्र आदि संख्या के उत्पत्ति का नियम होने के कारण प्रथम पक्ष नहीं हो सकता और त्रित्वादिकों से विलक्षण वहुत्व संख्या का अनुभव न होने के कारण द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता। ऐसा होने से प्रतिनियत प्रत्येक पदार्थ में होने वाली एक संख्या को आश्रय न करने वाली अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न शत आदि संख्या ही वहुत्वसंख्या है किन्तु शत (सौ) आदि संख्याओं की सेना-वनादिकों में अभिव्यक्ति (प्रकटता) वहाँ सेना वन आदि में वहुत्व में शतादि संख्या का अभिव्यञ्जक (प्रकट करने वाला) न होने से नहीं होती।

शंकरमिश्र कहते हैं—कि हम तो ऐसा कहते हैं कि त्रित्वादि संख्या के अधिकरण रहनेवाली वहुत्व एक दूसरी ही संख्या है जो त्रित्वादि संख्या की उत्पादक अपेक्षा-बुद्धि से उत्पन्न होती है, प्रागभाव के भेद से ऐसा भेद है, अन्यथा ऐसा न हो तो वहुत से हैं किन्तु सौ हैं अथवा हजार हैं यह विशेषरूप से नहीं जानते ऐसा ज्ञान कैसे होगा। जिस प्रकार एक बाँस आदि द्रव्य में महत्परिमाण तथा दीर्घ (लम्बा) परिमाण भी होता है उसी प्रकार एक ही आधार में त्रित्वादि संख्या तथा वहुत्व संख्या भी रहती है। क्योंकि आम्रफल सौ हैं अथवा हजार ? ऐसा प्रश्न करने पर, वहुत से ले आओ विशेष जिसकी क्या आवश्यकता है, ऐसा उत्तर लोग देते हैं। ऐसा होने के कारण द्वित्वसंख्या सहित अपेक्षा बुद्धि से त्रित्वसंख्या तथा त्रित्व सहित अपेक्षाबुद्धि से चतुष्ट्व (चार) संख्या उत्पन्न होती है इसी प्रकार पांच आदि उत्तर-उत्तर संख्याओं की उत्पत्ति होती है यह जान लेना चाहिये। किन्तु वहुत संख्या की उत्पत्ति में अपेक्षाबुद्धि का पूर्व-पूर्व संख्या युक्त ज्ञान होने का नियय नहीं है। इसी कारण सेना, वन आदिकों में केवल वहुत्वसंख्या उत्पन्न होती है दूसरी त्रित्वादि संख्या नहीं, सेना, वनादिकों में शत हैं अथवा हजार ऐसा संशय तो असत् पक्ष को लेकर भी हो ही सकता है।

वेति । 'तत्समानाधिकरणञ्च पृथक्त्वमिति यथा द्वित्वं तथा द्विपृथक्त्व' मित्यादि । ननु द्वित्वत्रित्वादिसमानाधिकरणैरेकपृथक्त्वैरेव तद् व्यवहारोपपत्तौ किं द्विपृथक्त्वादिनेति चेन्न घटात् पटलोष्टौ पृथगिति–द्विपृथक्त्वस्यान्योन्यावधिकत्वाप्रतीतेः प्रत्येकपृथक्त्वे च तत्प्रतीतेरिति वैषम्यात् । न चैवं द्विपरत्वापत्तिः द्वित्वसमानाधिकरणाभ्यां परत्वाभ्यामेव तदुपपत्तेः । यथा पृथक्त्वे परस्परावधिकत्वविरोधस्तथा न परत्वे, द्वाविमौ परावितिं द्वाविमौ नीलावितिवदुपपत्तेः समानदेशस्थयोः संयुक्तसंयोगभूयस्त्वसाम्येऽपि दिक्पिण्डसंयोगस्यासमवायिकारणस्य भेदेन भिन्नकार्योत्पत्तिसम्भवात् । मिलितयोरेकत्वयोर्द्वित्वं प्रति यथाऽसमवायिकारणत्वं तथा मिलितयोरेकपृथक्त्वयोर्द्विपृथक्त्वं प्रत्यसमवायिकारणत्वसम्भवात् द्रव्यातिरिक्तमेकं कार्यं प्रत्यनेकेषां संयोगानां कार्यैकार्थसमवायप्रत्यासत्त्या

(पूर्वप्रदर्शित 'तत्समानाधिकरणं च पृथक्त्वं' उस एकत्वादिकों के आश्रय में पृथक्त्व रहता है इत्यादि भाष्य का शंकरमिश्र विवरण करते हुए कहते हैं कि)—एक भाष्य का यह अर्थ है कि जिस प्रकार द्वित्वसंख्या है उसी प्रकार द्विपृथक्त्वादि गुण भी हैं इत्यादि जानना । द्वित्व तथा त्रित्वादि संख्या के आश्रय में वर्तमान अनेक एकपृथक्त्व गुणों से ही द्विपृथक्त्वादि दो पृथक् हैं ? ऐसा व्यवहार हो सकने के कारण द्विपृथक्त्वादि गुण मानने की क्या आवश्यकता है ? इस शंका का उत्तर यह है कि ऐसा नहीं हो सकता, घट से पट तथा लोष्ठ (मिट्टी का ढेला) दोनों पृथक् हैं इस द्विपृथक्त्व में परस्पर अवधि की प्रतीति नहीं होती और प्रत्येक के पृथक्त्व में अवधि की प्रतीति होती है ऐसा वैषम्य है । इसी प्रकार द्विपृथक्त्व के समान द्विपरत्व आदि भी पृथक् होने लगेंगे । ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि, द्वित्वसंख्या के अधिकरण में वर्तमान दो परत्व गुणों से ही द्विपरत्व का निर्वाह हो सकता है । जिस प्रकार पृथक्त्व गुण में परस्पर अवधि होने का विरधो है उस प्रकार परत्व गुण में नहीं है, क्योंकि वे दोनों नील वर्ण के हैं इस प्रतीति के समान ये दोनों पट हैं ऐसी प्रतीति हो सकती है । क्योंकि समान देश में वर्तमान दो द्रव्यों में संयुक्त संयोग की अधिकता समान होने पर भी असमवायिकरणरूप दिशा तथा पिण्ड (द्रव्य) के संयोग के भिन्न होने से भिन्न कार्य की उत्पत्ति हो सकती है। कारण न होने से द्विपृथक्त्वरूप कार्य कैसे होगा ? (इस प्रश्न के उत्तर में दृष्टान्त द्वारा द्विपृथक्त्वरूप कार्य की सिद्धि करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—जिस प्रकार मिली हुई एक संख्या द्वित्व संख्या में असमवायिकारण होती है उसी प्रकार मिले हुये दो-एक पृथक्त्वगुण द्विपृथक्त्वगुणरूप कार्य में असमवायिकारणहो सकते हैं। द्रव्यभिन्न एक कार्य में अनेक संयोग कार्य के साथ एक अर्थ में सन्निकर्ष से मिलकर कार्य को उत्पन्न करते हैं। यह देखने में नहीं आता । किन्तु कार्य के समवायि-

सम्भूयारम्भकत्वादर्शनात्। कारणैकार्थप्रत्यासत्त्या तु बहवस्तन्तुतुरीसंयोगा एकं पटतुरीसंयोगमारभन्त एवेति दिक्। द्वित्वादिविनाशवद्द्विपृथक्त्वादिविनाशोऽप्यूहनीयः ॥ ८ ॥

प्रकरणान्तरमारभते—

अन्यतरकर्मजः उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः ॥ ९ ॥

संयोगे संयुक्तप्रतीतिरबाधिता प्रमाणं कार्याणि च,—अवयवसंयोगेषु द्रव्यमग्निसंयोगे पाकजा रूपादयः प्रचये परिमाणविशेषः भेर्याकाशसंयोगे शब्द इत्याद्यूह्यम्। न चाविरलोत्पत्तिरेव संयोगः, क्षणभङ्गपरिणामयोर्निरासात्।

अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः। स चान्यतरकर्मजः—क्रियावता श्येनेन निष्क्रियस्य स्थाणोस्तदभिमुखक्रियारहितस्य सक्रियस्यापि धावतः यथा धावता

कारण के साथ एक पदार्थ में संनिकर्ष होने से बहुत से तन्तु तथा तुरी के संयोग एक पट तथा तुरी के संयोग को उत्पन्न करते ही हैं—यह रीति है। द्वित्वादि संख्या के नाश के समान द्विपृथक्त्व आदि गुणों का भी नाश होता है यह भी स्वयं जान लेना चाहिये ॥ ८ ॥

दूसरा संयोग का प्रकरण सूत्रकार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—अन्यतरकर्मजः = दो द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की क्रिया से उत्पन्न, (१) उभयकर्मजः = दोनों द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न, (२) संयोगजः च=और संयोग से उत्पन्न भी, (३) संयोगः = संयोगगुण होता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—ये संयुक्त हैं इत्यादि अबाधित ज्ञान तथा द्रव्यादिरूप कार्य से सिद्ध संयोग नामक गुण, दो द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की क्रिया से उत्पन्न १, दोनों द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न २ तथा संयोग से उत्पन्न ३। ऐसे तीन प्रकार के संयोग गुण होते हैं ॥ ९ ॥

उपस्कार—'ये संयुक्त हैं' ऐसी बाधरहित संयुक्त प्रतीति तथा कार्य भी संयोग नामक गुण है, इसमें प्रमाण है। वह कार्य ऐसे हैं कि अवयवों के संयोग होने में अवयविरूप द्रव्य, अग्निसंयोगरूप पाक में पाक से बदलने वाले रक्त आदि रूप प्रचय में परिमाण का विशेष तथा भेरी और आकाश के संयोग में शब्द कार्य इत्यादि स्वयं जान लेना। बौद्ध निरन्तर उत्पत्ति को ही संयोग मानता है किन्तु यह नहीं हो सकता, क्षण-क्षण में वस्तु का नाश तथा परिमाण दोनों का नैयायिकों ने खण्डन किया है।

जो पूर्व में प्राप्त (मिले) न थे ऐसे दो या अनेक द्रव्यों की प्राप्ति (मिलने) को संयोग कहते हैं। वह संयोग प्रथम अन्यतर क्रिया से उत्पन्न वह है जैसे एक क्रिया वाले

पुरुषान्तरेण पृष्ठदेशसंयोगः । उभयकर्मजः—मेषयोर्मल्लयोर्वा प्रत्येकं गृहीतसामर्थ्याभ्यामुभ्यामेव तज्जननात् । तृतीयस्त्वङ्गुलितरुसंयोगाद्धस्ततरुसंयोगः। स चैकस्मादपि भवति यथा—तन्तुवीरणसंयोगात् पटवीरणसंयोगः। क्वचिद्द्वाभ्यां संयोगाभ्यामेकः संयोगः यथा—द्वाभ्यां तन्तुभ्यामाकाशस्य द्वौ संयोगौ ताभ्यामेक एव द्वितन्तुकपटस्याकाशेन संयोगः। क्वचिच्च बहुभिरपि संयोगैरेकः संयोग आरभ्यते यथा—दशभिस्तन्तुभिराकाशस्य दश संयोगा एकमेव दशतन्तुकपटाकाशसंयोगमारभन्ते । क्वचित् पुनरेकस्मादपि संयोगादसमवायिकारणात् संयोगद्वयमुत्पद्यते यथा—पार्थिवाप्ययोः परमाण्वोः प्रथममनारम्भके संयोगे जाते पार्थिवे परमाणौ पार्थिवपरमाण्वन्तरेण, आप्ये च परमाणावाप्यपरमाण्वन्तरेण, द्व्यणुकद्वयारम्भकं संयोगद्वयमुत्पद्यते, ताभ्यां संयोगाभ्यां सजातीयनिष्ठाभ्यां द्व्यणुकद्वयं युगपदारभ्यते, तत्र यः पार्थिवाप्यपरमाण्वोरनारम्भकः संयोग

श्येन (बाज) पक्षी की झपट्टारूप क्रिया से क्रियारहित स्थाणु (वृक्ष) का जो बाज पक्षी के सामने कोई क्रिया नहीं करता अथवा क्रियारहित होने से दौड़नेवाले पुरुष का न दौड़ने वाले निष्क्रिय दूसरे पुरुष के पृष्ठदेश (पीठ) में संयोग १, दूसरा उभय (दोनों) की क्रिया से संयोग वह होता है जैसे दो मेढे अथवा दो मल्लव (पहलवानों) का संयोग, क्योंकि प्रत्येक मेढा या मल्ल में क्रिया का सामर्थ्य होने के कारण दोनों के क्रिया ही से मेष तथा मल्ल का परस्पर संयोग होता है २। तीसरा संयोगजन्य संयोग वह है जैसे अंगुली के क्रियासे उत्पन्न वृक्ष के संयोग से उत्पन्न हस्त तथा वृक्ष का संयोग होता है। और वह संयोगजन्य संयोग एक संयोग से भी उत्पन्न होता है। जैसे तन्तु तथा वीरण के एक संयोग से पट तथा वीरण का संयोग। कहीं दो संयोग से एक संयोग होता है, जैसे तन्तुओं से आकाश के साथ दो संयोग होते हैं और उन दो संयोगों से एक ही दो तन्तुवाले पट का आकाश के साथ संयोग होता है। कहीं बहुत से संयोगों से एक संयोग उत्पन्न होता है, जैसे दस तन्तुओं से आकाश के दस संयोग एक ही दस तन्तु वाले पट तथा आकाश के संयोग को उत्पन्न करते हैं। और कहीं तो एक ही असमवायिकारण संयोग से दो संयोग उत्पन्न होते हैं, जैसे पृथिवी तथा जल के दो परमाणुओं का प्रथम द्रव्य को न उत्पन्न करने वाला संयोग उनमें से होने पर एक पृथिवी के परमाणु में दूसरे पृथिवी परमाणु का, तथा एक जलीय परमाणु में दूसरे जलीय परमाणु का संयोग होने से पार्थिव तथा जलीय दो द्वयणुक द्रव्यों को उत्पन्न करनेवाले दो संयोग उत्पन्न होते हैं, और उन दोनों संयोगों से (जो अपने समान जातिय वाले में हैं) एक ही समय में पार्थिव तथा जलीय दो द्वयणुक उत्पन्न होते हैं, उसमें जो पार्थिव तथा जलीय दो परमाणुओं का द्वयणुक को उत्पन्न करनेवाला संयोग उत्पन्न हुआ था उसे एक ही संयोग से पार्थिव परमाणु और जलीय द्वयणुक के साथ एक संयोग तथा जलीय परमाणु और पार्थिव द्वयणुक

उत्पन्नस्तेनैकेनैव पार्थिवपरमाणुनाऽऽप्यद्व्यणुकेनैकः संयोगः आप्यपरमाणुना पार्थिवद्व्यणुकेनापरः संयोगो द्व्यणुकयो रूपाद्युत्पत्तिसमकालमेव जायते, कारणाकारणसंयोगेन कार्याकार्यसंयोगयोरवश्यं जननात्।

मूर्तैर्विभूनामन्यतरकर्मज एव। विभुनोस्तु न संयोगः कारणाभावात् कर्म तावत्तत्र नास्ति न च कारणं तेन कारणाकारणसंयोगात् कार्याकार्यसंयोगोऽपि नास्ति। नित्यस्तु संयोगो न सम्भवति अप्राप्तिपूर्विकायाः प्राप्तेः संयोगत्वात् नित्यत्वे तद्विघातात् एवञ्च सति विभागोप्यजतस्तत्र स्यात्। न चेष्टापत्तिः संयोगविभागयोर्विरोधिनोरविनश्यदवस्थयोरेकत्रानुपपत्तेः। किञ्च संयोगं प्रति प्रयोजिका युतसिद्धिः, न च विभुनोस्तत्सम्भवः। सा हि द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग्गतिमात्रं युताश्रयाश्रयित्वं वा।

विनाशस्तु संयोगस्य समानाधिकरणाद्विभागादाश्रयनाशदपि क्वचित् यथा तन्तुद्वयसंयोगानन्तरमेकस्य तन्तोरवयवेंऽशौ कर्म जायते तेनांश्वन्तरा-

---

के साथ दूसरा संयोग भी पार्थिव तथा जलीय द्वयणुकों में रूपादि कार्य के उत्पत्ति के समय में ही उत्पन्न होता है, क्योंकि कारण तथा अकारण के संयोग से कार्य तथा अकार्य का संयोग अवश्य होता है।

मूर्त द्रव्यों के साथ व्यापक आकाशादि द्रव्यों का संयोग एक मूर्त द्रव्यों की ही क्रिया से उत्पन्न होने के कारण (अन्यतर क्रियाजन्य) ही होता है। दो व्यापक द्रव्यों का संयोग नहीं होता, क्योंकि क्रिया होने का कारण न होने से व्यापक द्रव्य में क्रिया नहीं होती, न तो व्यापक द्रव्य का कारण होता है, अतः कारण तथा अकारण के संयोग से उनमें कार्य तथा अकार्य का संयोग भी नहीं है।

अप्राप्तिपूर्वक प्रदिष्ट के संयोग होने के कारण नित्य संयोग नहीं हो सकता, नित्य मानने से उक्त लक्षण का विघात (अनुपपत्ति) हो जायगी और नित्य संयोग के समान नित्य विभाग गुण भी मानना पड़ेगा। विरोधी तथा विनाशी अवस्था में न रहनेवाले दो संयोग तथा विभाग गुणों का एक आधार द्रव्य में रहना अयुक्त होने के कारण, विभाग भी नित्य मान लेंगे ऐसी इष्टापत्ति (मान लेना) भी असंगत है। और संयोग होंने में आधार द्रव्यों का युत (पृथक्) सिद्धि (होना) भी कारण है, दो व्यापक द्रव्यों में पृथक् रहने का संभव ही नहीं है। क्योंकि वह दो द्रव्य अथवा दो मे से किसी एक द्रव्य में भिन्न गति का आधार होना अथवा भिन्न आधार द्रव्यों के आश्रय से रहना युतसिद्धि होती है।

संयोग के आश्रय में वर्तमान विभाग से संयोग गुण का नाश होता है, और कहीं संयोगाधारी द्रव्य के नाश से भी संयोग का नाश होता है, जैसे दो तन्तुओं के संयोग के पश्चात् एक तन्तु के अंशुरूप अवयव से क्रिया उत्पन्न होती है, जिससे दूसरे अंशु-

द्विभागः क्रियते विभागादारम्भकसंयोगनाशस्ततस्तन्तुविनाशस्तन्तुविनाशात संयोगनाशो यत्र तन्तुद्वयं चिरं संयुक्तं सदनुत्पन्नक्रियं भवति।

केचित्तु तन्त्ववयवकर्मणा यदा तन्त्वारम्भकसंयोगनाशः क्रियते तदा तन्त्वन्तरे कर्मचिन्तनात् आश्रयनाशविभागाभ्यां युगपदुत्पन्नाभ्यां संयोगो नश्यतीत्याहुः।

तच्चानुपपन्नं समवायिकारणनाशक्षणे विभागानुत्पत्तेः समवायिकारणस्य कार्यसमकालस्थायित्वनियमात्। स चायं संयोगो द्रव्यारम्भे निरपेक्षो, गुणकर्मारम्भे सापेक्षः, स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगी तथैवानुभवात्।

रूप अवयव से विभाग किया जाता है, विभाग से तन्तु के आरम्भक संयोग का नाश होता है, उससे तन्तु का नाश होता है और तन्तु के नाश से संयोग नाश होता है जहाँ पर दोनों तन्तु चिरकाल तक क्रिया को उत्पन्न न करते हुए आपस में संयुक्त रहते हैं।

तन्तु के अवयव की क्रिया से जब तन्तु के उत्पादक संयोग का नाश किया जाता है तब दूसरे तन्तु में क्रिया मानने से आश्रय का नाश तथा विभाग दोनों से मिलकर (जो एक ही समय में उत्पन्न हुए हैं) संयोग नष्ट होता है ऐसा कुछ दर्शनिकों का मत है। किन्तु समवायिकारण द्रव्य के नाश के क्षण में विभाग न हो सकने के कारण यह मत असंगत है, क्योंकि समवायिकारण कार्य के काल तक स्थिर होता है यह नियम है। यह सह द्रव्य गुण तथा क्रिया का कारण संयोग द्रव्य को उत्पन्न करने में किसी की अपेक्षा नहीं रखता और गुण तथा क्रिया को उत्पन्न करने में अपेक्षा करता है (जैसे तन्तु संयोग द्रव्य पट के एक आत्मा तथा मन का संयोग बुद्धि आदि गुणों के प्रयत्नवान् आत्मा का संयोग हस्तक्रिया का इत्यादि उदाहरण जानना)। इसी में शंकरमिश्र ने विशेष दिखाया है कि–द्रव्यारम्भ में निरपेक्ष होता है ऐसा। अर्थात् द्रव्य की उत्पत्ति में संयोग अपने आश्रय तथा निमित्त को छोड़कर दूसरे की आवश्यकता नहीं रखता। नकि पश्चात् होने वाले दूसरे निमित्त की आवश्यकता रखता है। अन्यथा श्यामरूप के नाश के उत्तरकाल में होनेवाले अन्तिम परमाणु अग्निसंयोग पारक से उत्पन्न होनेवाले गुणों को उत्पन्न करने में निरपेक्ष कारण होने लगेगा ऐसी आपत्ति आ जायगी। गुण तथा कर्म को उत्पन्न करने में वह संयोग सापेक्ष होता है इस शंकरमिश्र की उक्ति का रूपादि गुणों की उत्पत्ति में अग्निसंयोग उष्णता की अपेक्षा रखता है, क्रिया की उत्पत्ति में भी भेदन तथा अभिघातसंयोग उष्णस्पर्श तथा वेग की अपेक्षा करते हैं यह आशय है। तथा यह संयोगगुण अपने आश्रय में वर्तमान अपने अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है अर्थात् अव्याप्य वृत्ति है क्योंकि अग्रभाग में वृक्ष कपि के संयोग का आश्रय है न कि

शाखामात्रावच्छेदेनापि महति न्यग्रोधतरौ वर्त्तमानः कपिसंयोगः "न्यग्रोधतरौ कपिसंयोग" इत्यनुभवात्। अवच्छेदमात्रेणान्यथासिद्धौ परमाणुवृत्तिरापद्येत तथा च नोपलभ्येत। विभूनामप्युपाधिभेद एव प्रदेशस्तदवच्छेदेन वर्त्तमानस्य संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वं परमाणुनिष्ठस्यापि संयोगस्य दिगादयोऽवच्छेदकाश्चिन्तनीयाः॥ ९ ॥

विभागे संयोगोत्पत्तिप्रकारमतिदिशन्नाह—

एतेन विभागो व्याख्यातः ॥ १० ॥

संयोगवद्विभागोऽप्यन्यतरकर्मज उभयकर्मजो विभागजश्च । श्येनकर्मणा स्थाणुश्येनाविभागः, संयुक्तयोर्मल्लयोर्मेषयोर्वा कर्मभ्यां तदुभयविभागः। स

मूलभाग से ऐसा अनुभव होता है। मूल तथा शाखा ही क्रम से संयोग तथा उसके अभाववाले क्यों नहीं मानते इस शंका पर शंकरमिश्र कहते हैं कि—केवल शाखारूप विशेषण से ही वटवृक्ष में वर्तमान कपिसंयोग को 'न्यग्रोधितरौ' वटवृक्ष में 'कपिसंयोग' वानर का संयोग है, ऐसा अनुभव होता है। यदि आग्रभागरूप विशेषण ही को लेकर संयोग सिद्ध होता है तो वृक्ष में रहनेवाला संयोग तो अन्यथा सिद्ध होता है। ऐसी शंका करो तो शंकरमिश्र कहते हैं कि—विशेषणाभास से अन्यथासिद्धि मानें तो वह केवल परमाणुओं में होगा, ऐसा होने से उसका ग्रहण न होगा। (यदि ऐसा होने से परमाणु आदि में वर्तमान संयोग न बन सकेगा क्योंकि दशा आदि व्यापक द्रव्यों के प्रदेशरहित होने से उसके विशेषण नहीं होते। ऐसी शंका हो तो शंकरमिश्र कहते हैं कि)—व्यापक दिशा आदि द्रव्यों का भी उपाधि में ही प्रदेश होता है उस विशेषण से वर्तमान संयोग भी व्याप्य वृत्ति होता है, परमाणुओं में वर्तमान भी संयोग के दिशा आदि द्रव्य विशेषण (अवच्छेदक—व्यावर्तक) होते हैं यह विचार कर लेना चाहये ॥ ९ ॥

विभाग नामक गुण में भी संयोग गुण की उत्पत्ति के प्रकार का सूत्रकार अतिदेश करते हैं—

पदपदार्थ—एतेन = इस(संयोग की उत्पत्ति वर्णन)से, विभागः अपि = विभाग गुण भी, व्याख्यातः = व्याख्या किया गया ॥ १० ॥

भावार्थ—संयोग के समान विभाग भी दो में से एक की क्रिया से उत्पन्न (१)दो द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न(२) तथा विभाग से उत्पन्न(३)ऐसा तीन प्रकार का जानना ॥ १० ॥

उपस्कार—संयोग के समान विभाग गुण भी अन्यतर क्रिया से उत्पन्न, दोनों की क्रिया से उत्पन्न तथा विभागजन्य ऐसा तीन प्रकार का होता है। जिनमें से प्रथम का श्येन (बाज) की क्रिया से उत्पन्न वृक्ष तथा श्येनविभाग उदाहरण है तथा मिले

चायं कर्मोत्पत्त्यव्यवहितक्षणोत्पत्तिकः अपेक्षणीयान्तराभावात् । तदुक्तं-"संयोगविभागयोरनपेक्षकारणं कर्म" इति । विभागे जननीये आश्रयः, संयोगे च जननीये पूर्वसंयोगनाशश्चापेक्षणीय इति चेन्न स्वोत्पत्त्यन्तरोत्पत्तिकभावभूतानपेक्षत्वस्य कर्मणो निरपेक्षत्वात् । विभागजस्तु विभागो द्विविधः कारणमात्रविभागजकारणाकारणविभागभेदात् कारणाकारणविभागजकार्याकार्यविभागभेदाच्च । तत्र कारणमात्रविभागात् कारणाकारणविभागो यथा-कपालद्वयविभागात् कपालाकाशविभागः । कारणाकारणविभागाच्च कार्याकार्यविभागो यथा-ऽङ्गुलीतरुविभागाद्धस्ततरुविभागस्ततः शरीरतरुविभाग इति।

ननु विभाग एव न प्रमाणं संयोगाभाव एव विभागव्यवहारादिति चेन्न संयोगाभावोऽत्यन्ताभावश्चेत् गुणकर्मणोरपि विभागव्यवहारप्रसङ्गात् । द्रव्ययोर्वर्त्तमानः संयोगात्यन्ताभावो विभक्तप्रत्ययहेतुरिति चेन्नावयवावयविनोरपि

हुए मल्ल (पहलवान्) अथवा दो मिले हुए मेष (मेड़ों) की क्रिया से उत्पन्न उन दोनों मल्ल अथवा मेषों का विभाग द्वितीय का उदाहरण है । वह यह विभाग गुण क्रिया की उत्पत्ति के व्यवधानरहित द्वितीय क्षण में उत्पन्न होता है, क्योंकि उसे दूसरे किसी की अपेक्षा नहीं करनी होती । यही कहा है—'संयोगविभागयोरनपेक्षं कारणं कर्म' अर्थात् संयोग तथा विभाग दोनों को उत्पन्न करने में क्रिया अनपेक्षकारण होती है ऐसा । 'विभाग को उत्पन्न करने में आधार द्रव्य तथा संयोग को उत्पन्न करने से पूर्वसंयोगनाश की तो क्रिया की अपेक्षा होती है' ऐसी पूर्वपक्षी शंका न करे, क्योंकि क्रिया की उत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्न होनेवाले भावपदार्थ की अपेक्षा न करना यह कर्मपदार्थ में निरपेक्षता होती है (आधार द्रव्य पहिले ही उत्पन्न हैं, पूर्वसंयोग नाशभावरूप नहीं है अतः दोष न होगा)। तृतीय विभागजन्य विभाग केवल कारण के विभाग से उत्पन्न, कारण, अकारण के विभाग तथा कारण और अकारण के विभाग से उत्पन्न कार्य और अकार्य का विभाग इस भेद से । उनमें से कारणमात्र के विभाग से होनेवाला कारण और अकारण का विभाग होता है, जैसे दो कपालों के विभागों से कपाल और आकाश का विभाग । अंगुली तथा वृक्ष के विभाग से हस्त तथा तरु क विभाग और उससे शरीर तथा वृक्ष का विभाग यह कारण तथा अकारण के विभाग से कार्य तथा अकार्य के विभाग का उदाहरण है ।

'विभाग नामक गुण में ही कोई प्रमाण नहीं है, संयोग के अभाव में ही विभाग का व्यवहार मान लेंगे' इस पूर्वपक्षी की शंका के उत्तर में शंकरमिश्र कहते हैं—ऐसा नहीं हो सकता यदि यह संयोग का अभाव उसका अत्यन्ताभाव लिया जाय तो गुण तथा कर्म में भी विभाग का व्यवहार होने लगेगा । यदि दो द्रव्यों में वर्तमान संयोग के अत्यन्ताभाव को विभागज्ञान का कारण मानें तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा होने से अवयव तथा अवयवी इन दोनों में भी विभक्त

प्रसङ्गात् । अकार्यकारणभूतयोर्द्रव्ययोरिति चेत् विन्ध्यहिमवतोरपिस्यात् । भवत्येव तत्रेति चेन्न भ्रान्तस्य गुणकर्मणोरपि भावात् अभ्रान्तमधिकृत्य व्यवहारस्य चिन्त्यमानत्वात् । संयोगविनाशो विभाग इति चेत् एकतरसंयोगिनाशेन नष्टे संयोगे तद्व्यवहारप्रसङ्गात् । संयोगिनोर्विद्यमानयोरिति चेत् एकसंयोगनाशानन्तरं पुनः संयुक्तयोः कुवलामलकयोः संयोगदशायामपि विभक्तप्रत्ययप्रसङ्गात् तत्र यावदर्थाभावात् । तस्मादस्ति विभागोऽर्थान्तरम् ।

स च गुणः विरोधिगुणान्तरनाश्यः' विरोधिनं समानाधिकरणं गुणमन्तरेण सत्याश्रये गुणनाशानुपपत्तेः । कमव संयोगनाशकं स्यादिति चेन्न विरोधिनोगुणस्य गुणनाशकत्वात् । किञ्च यत्राङ्गुलीहस्तभुजशरीराणां स्वस्वकर्मणा तरुसंयोगस्त-

---

व्यवहार होने लगेगा । कार्य तथा कारण से भिन्न दो द्रव्यों में वर्तमान संयोगात्यन्ताभाव को विभाग कहें, तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने से विन्ध्य तथा हिमालय पर्वत में भी कार्यकारण से भिन्न होने के कारण दोनों पर्वतों का विभक्त हुए हैं ऐसा ज्ञान होने लगेगा । यदि कहो कि दोनों पर्वतों में विभक्त हैं ऐसा ज्ञान होता ही है, तो भ्रम से गुण तथा कार्य में भी विभक्त प्रत्यय होता है (अर्थात् गुणकर्म के समान भ्रम से ही विन्ध्य तथा हिमालय में विभक्त प्रत्यय होता है) मात्र पुरुष को छोड़कर वास्तविक व्यवहार का ही विचार किया जा रहा है । यदि संयोग का नाश विभाग होता है ऐसा कहो तो होने से किसी एक संयोगी का नाश होने के कारण संयोग का नाश होने पर विभाग का व्यवहार होने लगेगा । यदि विद्यमान दो संयोगियों का ऐसा कहो तो एक संयोग गुण के नाश के पश्चात् पुनः परस्पर में संयुक्त कुवल तथा आमलक दोनों के संयोग की अवस्था में भी ये दोनों विभाग हैं ऐसा व्यवहार होने लगेगा । क्योंकि उसमें 'यावत्' जितने इस अर्थ का अभाव है । इस कारण विभाण गुण भी एक अधिक गुणरूप दूसरा पदार्थ है । (द्रव्य के असमवायिकारण में वर्तमान न होते हुए एकमात्र में वर्तमान न रहनेवाली गुणत्व की साक्षात् व्याप्य विभागत्व जाति का आश्रय होना ही विभागगुण से विभागत्व है । तथा संयोगत्व, दो मात्र में वर्तमान गुणत्व की साक्षात् व्याप्य जाति से भिन्न है, जाति होने से घटत्व जाति के समान, इस अनुमान से भी विभागगुण में अर्थान्तरत्व सिद्ध होता है) ।

वह विभाग गुण विरोधी दूसरे संयोगरूप गुण से नष्ट होता है, क्योंकि एक आश्रय में वर्तमान दूसरे विरोधी गुण के विना आधार द्रव्य के रहते गुण पदार्थ का नाश नहीं होता 'क्रिया ही संयोग की नाशक क्यों न मानें' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता । क्योंकि विरोधी गुण ही गुण का नाशक होता है । और भी जहां अंगुली, हस्त, भुजा तथा शरीरों का अपनी-अपनी क्रिया से वृक्ष के साथ

ग्राङ्गुलीमात्रे समुत्पन्नेन कर्मणाऽङ्गुलीतरुसंयोगनाशसम्भवेऽपि हस्ततरुभुजतरु-शरीरतरुसंयोगानामनाशप्रसङ्गात् हस्तादीनामक्रियत्वात् अङ्गुलीकर्मणश्च व्यधि-करणत्वात्। व्यधिकरणस्यापि कर्मणः संयोगनाशकत्वे क्वचिदप्युत्पन्नेन कर्मणा युगपदेव सर्वसंयोगनाशापत्तेः। त्वन्मते तत्र का गतिरिति चेत् अङ्गुलीतरुवि भागेन हस्ततरुविभागो जनितो हस्ततरुसंयोगनाशक इत्यभ्युपगमात्। 'व्यधि-करणेनाङ्गुलीकर्मणैव हस्ततरुसंयोगनाशोऽस्तु, न चातिप्रसङ्गः आश्रयाश्रितपर-म्परासंयोगस्यैव व्यधिकरणकर्मनाश्यत्वाभ्युपगमादिति' सर्वज्ञेन यदुक्तम्, तदपि न युक्तं–विरोधिनःसमाधिकरणस्यैव सर्वत्र नाशकत्वानुभवात् बाधकमन्तरेण तत्प रित्यागानुपपत्तेः। शब्दविभागौ च विभागकार्यौ, तत्र विभागस्य शब्दासमवा-यिकारणत्वं मृष्यामहे,न हि वंशे पाट्यमाने दले च चरणयन्त्रणावष्टब्धे दलान्तरे-चोपरिकृष्यमाणे यः शब्दो जायते तत्र दलाकाशविभागादन्यदसमवायिकारणं

संयोग होता है वहां केवल अङ्गुली मात्र में उत्पन्न क्रिया से अंगुली तथा वृक्ष के संयोग का नाश हो सकने से भी हस्त तथा वृक्ष, भुजा और वृक्ष एवं शरीर तथा वृक्षों के संयोगों का नाश होवेगा, क्योंकि हस्तादियों में क्रिया नहीं है और अंगुली की अपने आश्रय में न होने से व्यधिकरण है। यदि व्यधिकरण (समानाश्रय नहीं) ऐसी अंगुलि की क्रिया को हस्तादिवृक्ष संयोगों का नाशक माना जाय तो कही भी उत्पन्न हुई क्रिया से एक काल ही में सम्पूर्ण प्रदर्शित संयोगों का नाश होने लगेगा। 'व्यधिकरण अंगुली की क्रिया से ही हस्त तथा वृक्ष को संयोग का नाश होता है, आश्रय (हस्त) में आश्रित भुज से वर्तमान (भुजवृक्ष संयोग) ऐसे परम्परा से संयोग ही का व्यधिकरण अंगुली की क्रिया से नाश होता है'। ऐसा मानने से पूर्वोक्त अतिप्रसंग दोष भी न होगा, ऐसा जो भासवंज्ञ विद्वान् का यहां मत है, वह भी असंगत है—क्योंकि विरोधी एक आश्रय में वर्तमान ही सम्पूर्ण स्थलों में नाशक होता है ऐसा अनुभव होता है जिसका विना बाधक के त्याग नहीं किया जा सकता। (कार्य से कारण का अनुमान दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—शब्द तथा विभाग शब्द के कार्य होते हैं, उसमें विभाग शब्द का असमवायिकारण होता है यह तो हम मान सकेंगे, क्योंकि वंश (बांस) को बीच में से फाड़ने के समय एक दल (भाग) को चरण से नियन्त्रण (दबा रखने) से तथा दूसरे दल (भाग) को ऊर्ध्वदेश में खींचने के समय जो ध्वनि शब्द (आवाज) होती है उसमें बांस को दोनों दलों के बीच के आकाशप्रदेश के विभाग को छोड़कर दूसरा कोई असमवायिकारण हमें नहीं दीखता और अरण्य में दावाग्नी से जलकर फटने वाले वेणु (बांस) वृक्षों के चीत्कार (फटने की ध्वनि) में विभाग को छोड़कर

पश्यामः। न च दवदहनदह्यमानस्फुटद्वेणुचीत्कारे विभागातिरिक्तमसमवायिकारणं पश्यामः। कारणाकारणविभागाच्च कार्याकार्यविभागमनुमन्यामहे कथमन्यथा स्वस्वकर्मजनिताङ्गुलीतरुसंयोगहस्ततरुसंयोगभुजतरुसंयोगशरीरतरुसंयोगानामङ्गुलीमात्रोत्पन्नकर्मणाऽङ्गुलीतरुविभागे सति अङ्गुलीतरुसंयोगनाशे सत्यपि हस्ततरुसंयोगादीनां नाशः, तत्र हि विभागजविभागपरम्परैव तत्तत्संयोगनाशिकेत्युक्तत्वात। कारणद्वयविभागपूर्वके तु कारणाकारणविभागे न संप्रत्ययः यतो वंशदले यदुत्पन्नं कर्म तेन दलान्तरविभागवदाकाशादिविभागस्यापि जननसम्भवात् यावद्भिः संयुक्तमासीत् तावद्भिस्तत्कर्मणा विभागस्य दर्शनात्, न ह्यङ्गुल्यामुत्पन्नेन कर्मणाऽङ्गुल्यन्तरविभागवदाकाशादिदेशेभ्योऽपि विभागा न जन्यन्ते कमलदले चोत्पन्नेन कर्मणा दलान्तरविभागवदाकाशादिदेशेभ्यो वा न विभागा आरभ्यन्ते। द्रव्यारम्भकसंयोगाविरोधिनः शतमपि विभागानेकं कर्मारभतां यत्तु कर्म द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागमारमते न तत् द्रव्यारम्भकसंयोगाविरोधिनमपि यच्च द्रव्यारम्भकसंयोगाविरोधिनं न तद् द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनमिति ब्रूमः। कुत एतदिति चेत् कार्य्यवैचित्र्येण कारणवैचित्र्यस्यावश्यकत्वात्। ननु कर्मणि वैचित्र्यमावश्यकं तथाचैकं कर्म द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनं विभागं जनयतु यथा विकसत्कमलकुड्मलादावपरञ्च द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिनमविरोधिनञ्चोभयमिति। मैवम्,

---

दूसरा कोई असमवायिकारण भी नहीं हमें दिखता) तथा कारण और अकारण के विभाग से कार्य तथा अकार्य के पूर्वप्रदर्शित विभाग को भी हम मानते हैं, ऐसा न हो तो अपनी-अपनी क्रिया से उत्पन्न अंगुली तथा वृक्ष का संयोग एवं हस्त तथा वृक्ष का संयोग, भुज और वृक्ष का संयोग तथा शरीर वृक्ष संयोगों का अंगुली मात्र में उत्पन्न क्रिया से अंगुली तथा वृक्ष का विभाग होने पर अंगुली तथा वृक्ष का संयोग नष्ट होने पर भी हस्त तथा वृक्ष आदि संयोगों का नाश कैसे होता है, क्योंकि उसमें विभाग से उत्पन्न विभाग की परंपरा ही उन संयोगों की नाशक होती है ऐसा कहा है,। किन्तु दो कारणों के विभाग से उत्पन्न होनेवाले कारण तथा अकारण के विभाग में विश्वास नहीं होता क्योंकि पूर्वोक्त वंश (बांस) के एक हिस्से में उत्पन्न जो क्रिया उससे दूसरे दल (भाग) के विभाग के समान आकाशादि प्रदेश से भी विभाग की उत्पत्ति हो सकती है, क्योंकि जितनों के साथ संयोग था उतनों से उस क्रिया से विभाग होता है यह देखने में आता है, क्योंकि अंगुली में उत्पन्न क्रिया से दूसरे अंगुलियों से विभाग के समान आकाशादि प्रदेशों से भी विभाग उत्पन्न नहीं होते। यह नहीं होता, तथा कमल के दल (पत्तों) में उत्पन्न क्रिया से दूसरे दल से विभाग के समान आकाशादि प्रदेशों से विभाग नहीं होते यह भी नहीं होता। एक क्रिया द्रव्य के उत्पादक

कार्य्यविरोधो हि कारणवैचित्र्यकल्पनामूलं स च विरोधः एकस्य द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्वित्वेन, अपरस्य तु तदप्रतिद्वन्द्वित्वेनेति तथैव वैचित्र्यस्यापि कल्पनौचित्यात्। तच्चेदं वंशदले वर्तमानं कर्म दलद्वयविभागमात्रं जनयति, स च विभागोऽग्रे आकाशादिदेशाद्विभागं द्रव्यारम्भकसंयोगाप्रतिद्वन्द्विनं विभागमारभते, तस्य च निरपेक्षस्य विभागजनने कर्मत्वापत्तिरिति द्रव्यनाशविशिष्टं

संयोगों के विरोधी सैकड़ों विभागों को उत्पन्न करे, किन्तु जो क्रिया द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी अर्थात् द्रव्यनाशक विभाग को उत्पन्न करती है वह क्रिया द्रव्यारम्भक संयोग के न विरोध करनेवाले विभाग को भी उत्पन्न करती है, और जो द्रव्य के आरम्भक संयोग के विरोध न करनेवाले विभाग को उत्पन्न करती है, वह द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न नहीं करती है, ऐसा शंकरमिश्र कहते हैं। हमारा मत है, ऐसा क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में कार्य की विचित्रता से कारण की विचित्रता मानना आवश्यक है यह उत्तर है। वह आरम्भक संयोग विरोधी विभाग के जनक को उसके विरोधी केवल विभागमात्र की जनकता, कुछ उसके विरोधी केवल विभागमात्र की जनकता है। क्योंकि खिलनेवाली कमल की कली आदि में कमल द्रव्य के उत्पादक संयोग के अविरोधी विभाग की जनक क्रिया आरम्भक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न नहीं करती, नहीं तो खिलती हुई कमल की कली नष्ट हो जायगी यह आशय है। ऐसा होने से वंशदल की क्रिया यदि बांस द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी वंशदल तथा आकाशप्रदेश के विभाग को उत्पन्न करेगी, तो दोनों दलों के विभाग को उत्पन्न न करेगी, क्योंकि वह बाँस द्रव्य के उत्पादक संयोग की विरोधी है यह यहाँ आशय है। इस शंकरमिश्र के मत पर--'कर्म में विचित्रता मानना आवश्यक है, ऐसा होने से एक कर्म द्रव्य के उत्पादक संयोग को उत्पन्न करे, जैसे खिलती हुई कमल की कली आदि में और दूसरा कर्म द्रव्य के उत्पादक संयोग के विरोधी, एवं अविरोधी दोनों विभागों को उत्पन्न करे' अर्थात् ऐसा होने से वैसा ही वैचित्र्य होगा। ऐसी यदि पूर्वपक्षी शंका करे तो शंकरमिश्र कहते हैं, ऐसा नहीं, क्योंकि कार्य का विरोध ही कारण के विचित्र मानने का मूल कारण होता है, और वह विरोध एक में द्रव्य के उत्पादक संयोग की विरोधिता से, और दूसरे में उसके अविरोधी संयोग की विरोधिता से इस कारण उसी प्रकार से वचित्र्य मानना भी उचित है (ऐसा वैचित्र्य कल्पना करने पर भी विरुद्ध कार्य को उत्पन्न करना रूप विरोध नहीं होता यह समाधान का तात्पर्य है)। (आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि)—वह यह वंशदल में क्रिया केवल दोनों वंशदलों के दोनों भागों के विभाग को उत्पन्न करती है, और वह विभाग अग्र में आकाशादि प्रदेश से विभाग को जो द्रव्य के उत्पादक

कालमपेक्षते। ननु तदानीमपि कर्मैव तज्जनयतु अतीतकालत्वात् विभागजनने कर्मणः स्वोत्पत्त्यनन्तर एव कालः। नन्वेवं विभागेन जनिते विभागान्तरे कर्म प्रदेशान्तरसंयोगमपि न जनयेत्, न संयोगजननं प्रति कर्मणोऽनतीतकालत्वात् अन्यथा कर्म न नश्येदेव तस्योत्तरसंयोगमात्रनाश्यत्वात्।

सोऽयं विभाग उत्तरसंयोगनाश्यः क्षणत्रयस्थायी। क्वचिदाश्रयनाशनश्यः, तद् यथा—तन्तोरवयवेंऽशौ कर्म तदनन्तरमंशुद्वयविभागस्तदैव तन्त्वन्तरे कर्म ततोंऽशुद्वयविभागेन तन्त्वारम्भकसंयोगनाशस्तन्तुकर्मणा च विभागस्ततो द्रव्यारम्भकसंयोगनाशात्तन्तुनाशस्तन्नाशाच्च तन्त्वन्तरकर्मजन्यविभागनाशः। नन्वेवं तन्त्वन्तरोत्पन्नस्य कर्मणो न नाशः स्याद्विनाशकाभावात् उत्तरसंयोगेन हि कालमपेक्षते। ननु तदानीमपि कर्मैव तज्जनयतु, अतीतकालत्वात् विभागजनने

संयोग का विरोधी नहीं है उत्पन्न करता है, यदि वह निरपेक्ष (किसी की अपेक्षा न करता हुआ) विभाग को उत्पन्न करे, तो वह पूर्वोक्त कर्म लक्षण आने से कर्म हो जायगा इस कारणवस द्रव्य के नाशवाले समय की अपेक्षा करता है। 'उस समय भी क्रिया ही उस विभाग को उत्पन्न करे, इसमें क्या दोष है' ऐसी पूर्वपक्षी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि क्रिया का अपने कार्य को करने का समय व्यतीत हो गया है, क्योंकि विभाग को उत्पन्न करने में क्रिया का अपनी उत्पत्ति का अग्रिम ही क्षण काल होता है। 'इस प्रकार से तो एक विभाग से दूसरे विभाग के उत्पन्न होने पर क्रिया दूसरे देश के साथ उत्तर संयोग को भी न करेगी'। ऐसी शंका नहीं हो सकता क्योंकि उत्तरदेश के साथ संयोग को उत्पन्न करने में क्रिया का काल व्यतीत नहीं हुआ है, अन्यथा ऐसा न हो तो क्रिया का नाश ही न होगा, क्योंकि वह क्रिया केवल उत्तरदेश के संयोग ही से नष्ट होती है।

वह यह विभागगुण उत्तरसंयोग से नष्ट होता है तथा तीन क्षण तक स्थिर रहता है। कहीं-कहीं आधार द्रव्य के नाश से भी नष्ट होता है, वह ऐसा कि तन्तु के अवयव अंशु में क्रिया होती है, इसके पश्चात् दोनों अंशुरूप अवयवों में विभाग होता है, उसी समय दूसरे तन्तु में क्रिया उत्पन्न होती है, पश्चात् दोनों अंशुओं के विभाग से तन्तु का उत्पादक पूर्वसंयोग नष्ट होता है और दूसरे तन्तु की क्रिया से विभाग होता है, पश्चात् तंतु द्रव्य के उत्पादक संयोग के नाश से तन्तु द्रव्य का नाश होता है, और उसके नाश से ही दूसरे तन्तु भी क्रिया से उत्पन्न विभाग का नाश हो जाता है। यदि 'ऐसा होने से दूसरे तन्तु में उत्पन्न क्रिया का नाश न होगा, क्योंकि उसका नाश करनेवाला ही नहीं है, उत्तरसंयोग से ही उसका नाश हो सकता है, और जब विभाग नष्ट ही हो गया तो उत्तरसंयोग कहां है?' ऐसी शंका करो तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तन्तु में जो क्रिया उत्पन्न हुई उससे जिस प्रकार विनाशावस्था में प्राप्त तन्तु का विभाग उत्पन्न हुआ इसी प्रकार उसके अंशु का विभाग

तन्नाश्येत, विभागे च नष्टे नोत्तरसंयोग इति चेन्न तन्तौ यत् कर्मोत्पन्नं तेन यथा विनश्यदवस्थतन्तोर्विभागो जनितस्तथा तदंशोरपि विभागो जननीयः सोऽप्यारम्भकसंयोगविरोध्येव तेनांशुतन्तुविभागेन तन्त्वाकाशविभागस्तेन चोत्तरसंयोगस्तेनततः कर्मनाशः। यद्वा यत्र तन्तौ यदा कर्म तदंशावपि तदैव कर्म तच्च कर्म विनश्यदवस्थतन्तुतदवयवाकाशादिदेशाद्युगपदेव विभागानारभते सर्वेषां विभागानामारम्भकसंयोगाविरोधित्वात्, तथा च कारणमंशुरकारणञ्चाकाशादि तद्विभागात् कार्यस्य तन्तोरकार्येणाकाशादिना यो विभाग उत्पन्नस्तदनन्तरोत्पत्तिकेन संयोगेन तन्तुसमवेतस्य कर्मणो विनाश इति। क्वचिद्वाभ्यां, तद् यथा–तन्तुवीरणयोः संयोगे सति तन्त्ववयवेंऽशौ कर्मवीरणे च कर्मेत्येकः कालः, अंशुकर्मणांऽश्वन्तरविभागस्तेन च संयोगस्य तन्त्वारम्भकस्य विनाशः वीरणकर्मणा च तन्तुवीरणविभागस्तन्तुवीरणसंयोगनाशश्च तन्त्वारम्भकसंयोगनाशश्च तन्त्वारम्भकसंयोगनाशानन्तरं तन्तुनाशस्तन्तुवीरणसंयोगनाशानन्तरं वीरणस्य प्रदेशान्तरसंयोगस्ताभ्यामाश्रययनाशसंयोगाभ्या विभागनाशः ॥ १० ॥

उत्पन्न करेगा, और वह भी उत्पादक संयोग का विरोधी ही है, उसे अंशु तथा तन्तु के विभाग से तन्तु का आकाश प्रदेश से विभाग होगा, और उससे उत्तरसंयोग होगा, और उससे क्रिया का नाश होगा। अथवा जिस तन्तु में जिस समय क्रिया होती है, उसके अंशु में भी उसी समय क्रिया होती है, और वह क्रिया विनाशावस्था प्राप्त तन्तु उसके अवयव तथा आकाशादि प्रदेश से एक ही काल में विभागों को उत्पन्न करती है क्योंकि ये सम्पूर्ण विभाग द्रव्य के उत्पादसंयोग के विरोधी नहीं हैं, ऐसा होने से अंशुरूप तन्तु द्रव्य का कारण तथा आकाशादिरूर अकारण इनके विभाग से तन्तुरूप कार्य तथा आकशादि प्रदेशरूप अकार्य इनके साथ जो विभाग उत्पन्न हुआ, और उसके उत्तरक्षण में उत्पन्न संयोग से तन्तु द्रव्य में समवेत क्रिया का नाश होता है, इस प्रकार आश्रयनाश से विभागनाश की प्रक्रिया है।

कहीं-कहीं आश्रयनाश तथा उत्तरसंयोग इन दोनों से विभाग का नाश होता है, वह जैसे तन्तु तथा वीरण का संयोग होने पर तन्तु के अवयव अंशु में तथा वीरण में भी एक ही काल में क्रिया होती है, पश्चात् अंशु की क्रिया से दूसरे अंशु का विभाग होता है, और उससे तन्तु द्रव्य के उत्पादक पूर्वसंयोग का नाश तथा वीरण की क्रिया से तन्तु और वीरण का परस्पर विभाग और तन्तु तथा वीरण के पूर्व-संयोग का नाश और तन्तु द्रव्य के उत्पादक संयोग का नाश भी होता है, और तन्तु के उत्पादक संयोग के नाश के पश्चात् तन्तु द्रव्य का नाश होता है, और तन्तु तथा वीरण के संयोग के नाश के पश्चात् वीरण का दूसरे देश में संयोग होता है, इस प्रकार आश्रयनाश तथा उत्तरदेशसंयोग दोनों से विभाग का नाश होता है ॥ १० ॥

ननु संयोगेऽपि संयोगोऽस्तु विभागेऽपि विभाग इति प्रसङ्गनिवारणार्थ-माह—

संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ ११ ॥

यथाऽणुत्वमहत्त्वे नाणुत्वमहत्त्ववती तथा संयोगविभागौ न संयोगविभागवन्तौ ॥ ११ ॥

कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणा अणुत्वमहत्त्वाभ्यामिति ॥ १२ ॥

द्वितीयञ्च सूत्रं व्याख्यातमेव ॥ १२ ॥

ननु द्रव्ययोरवयवावयविनोः संयोगः कथं नेत्यत आह—

'संयोग में संयोग तथा विभाग में भी विभाग क्यों नहीं रहता' इस पूर्वपक्षी की आपत्ति के निवारणार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संयोगविभागयोः = संयोग तथा विभाग दोनो में, संयोगविभागाभावः=संयोग तथा विभाग का न रहना, अणुत्वमहत्वाभ्यां=अणु में अणु तथा महत् में महत् परिमाण न रहने से, व्याख्यातः = व्याख्या किया गया ॥ ११ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार अणुपरिमाण में दूसरा अणुपरिमाण और एक महत्परिमाण में दूसरा महत्परिमाण नहीं रहता उसी प्रकार से संयोग तथा विभाग में संयोग और विभाग नहीं रहते ॥ ११ ॥

उपस्कार—जिस प्रकार एक अणु तथा महत्परिमाण दूसरे अणु तथा महत्परिमाण के आश्रय नहीं होते उसी प्रकार एक संयोग तथा विभाग दूसरे संयोग तथा विभागगुणवाले नहीं होवे ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—कर्मभिः = कर्मपदार्थों से. कर्माणि कर्मपदार्थ, गुणैर्गुणा गुणों से गुण पदार्थ, अणुत्वमहत्वाभ्यां = अणु तथा महत्परिमाणों से, इति=इस प्रकार व्याख्या किये गये ॥ १२ ॥

भावार्थ—एक क्रिया में दूसरी क्रिया तथा एक गुण में दूसरे गुण नहीं रहते, यह भी एक अणुपरिमाण में दूसरा अणुपरिमाण और एक महत्परिमाण में दूसरा महत्परिमाण नहीं रहता, इससे व्याख्या किया जाता है ॥ १२ ॥

उपस्कार—इस दूसरे सूत्र की व्याख्या हो गयी है ॥ १२ ॥

'अवयव तथा अवयविरूप दो द्रव्यों का संयोग सम्बन्ध कैसे नहीं होता' इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

युतसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते।

असम्बन्धोर्विद्यमानत्वं युतसिद्धिः पृथगाश्रयाश्रितत्वं वा तदभावस्त्ववयवावयविनोरित्यर्थः ॥ १३ ॥

इदानीं प्रसङ्गाच्छब्दार्थयोः साङ्केतिकं सम्बन्धं साधयितुं प्रकरणान्तरम्, तत्र पूर्वपक्षमाह—

गुणत्वात् ॥ १४ ॥

संयोस्येति शेषः। तथाच गुणस्य शब्दस्य गुणः संयोगः कथं स्यात् अर्थेन घटादिनेत्यर्थः ॥ १४ ॥

पदपदार्थ—युतसिद्ध्यभावात्=पृथक् सिद्ध न होने के कारण, कार्यकारणयोः=कार्य तथा कारण दोनों का, संयोगविभागौ=संयोग तथा विभाग गुण दोनों, न विद्येते=नहीं होते ॥ १३ ॥

भावार्थ—अवयव तथा अवयवी दोनों में असम्बद्धों की विद्यमानता तथा पृथक् आधार में आश्रित होना दोनों प्रकार की युतसिद्धिः न होने के कारण संयोग तथा विभाग अवयव और अवयवी के नहीं होते ॥ १३ ॥

उपस्कार—सम्बन्धरहित दो पदार्थों की विद्यमानता को अथवा भिन्न आधार में आश्रित होना युतसिद्धि होती है अवयव तथा अवयवी इन दोनों में उसका अभाव है यह सूत्र का अर्थ है 'दो विभुद्रव्य सम्बन्धरहित होकर रहते हैं इस कारण उनकी भी युतसिद्धि हो जायगी' इस शंका के वारणार्थ द्वितीय पक्ष शंकरमिश्र ने यहाँ दिखाया है पृथक् आश्रय में आश्रित होना। जो दोनों संयोगसम्बन्ध से भिन्न आधार में रहते हैं वही दोनों युतसिद्ध होते हैं, संयोगसम्बन्ध से घट के आश्रय से कपाल का आश्रय भिन्न नहीं होता। अतः घट और कपाल अयुतसिद्ध है, यह यहाँ आशय है ॥ १३ ॥

प्रसंगसङ्गति से सांप्रत शब्द तथा अर्थ का परस्पर में साङ्केतिक (वाच्यवाचकताभावरूप शक्ति नामक सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये दूसरा प्रकरण सूत्रकार प्रारम्भ करते हैं। इसे पूर्वपक्ष कहते हैं—

पदपदार्थ—गुणत्वात्=संयोग के गुण होने से (शब्द का संयोगसम्बन्ध कसे होगा) ॥ १४ ॥

भावार्थ—घटादि पदार्थों के साथ घटादि शब्द का संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित 'संयोगस्य' इस पद का शेष भाग जोड़ना ऐसा होने से शब्दरूप गुण का संयोगसम्बन्धरूप गुण घटादि पद के अर्थ धटादिकों के साथ यह पूर्वपक्ष सूत्र का अर्थ है ॥ १४ ॥

किञ्च विषयोऽपि क्वचिद्रूपरसादिलक्षणस्तेन संयोगो न सम्भवति गुणे गुणानङ्गीकारादित्याह—

गुणोऽपि विभाव्यते ॥ १५ ॥

गुणोऽपि विषय इति शेषः। गुणोऽपि रूपादिः शब्दस्य विषयो न तु तेन समं संयोगः सम्बन्ध इत्यर्थः।

यद्वा गुणोऽपि शब्देन विभाव्यते प्रतिपाद्यते तेन च शब्दस्य न संयोगः सम्बन्ध इत्यर्थः ॥ १५ ॥

किञ्च कस्यचिदाकाशादेर्द्रव्यस्य नान्यतरकर्मजः संयोगो नोभयकर्मजः शब्दस्यापि निष्क्रियत्वादित्याह—

निष्क्रियत्वात् ॥ १६ ॥

शब्दस्य कस्यचिदर्थस्य चेति शेषः ॥ १६ ॥

और कहीं-कहीं रूप-रस आदि रूप विषय भी पद का अर्थ होता है, गुण में गुणों के न मानने के कारण, उस रूपादि अर्थ के साथ रूपादि पद का संयोगसम्बन्ध नहीं हो सकता इस आशय से पूर्वपक्षी कहता है—

पदपदार्थ—गुणः अपि = गुणरूप विषय भी, विभाव्यते = शब्द से कहा जाता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—रूप रस आदि गुण भी रूपादि शब्दों से कहा जाता है, इस कारण गुण में गुणतः मानने से रूपादि शब्दों का रूपादि विषयों के साथ संयोगसम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ १५ ॥

उपस्कार—रूपादि गुण भी 'विषय' हैं ऐसा शेष सूत्र में पूर्ण करना। रूप रस आदि गुण पदार्थ भी रूपादि शब्द का विषय (वाच्य) होता है, किन्तु उसके साथ संयोगसम्बन्ध नहीं होता, यह सूत्र का अर्थ है। अथवा गुण भी शब्द से विभाव्यते अर्थात् प्रतिपादित किया जाता है, उससे भी शब्द का संयोगसम्बन्ध नहीं हो सकता, यह सूत्र का अर्थ है ॥ १५ ॥

और किसी आकाश आदि द्रव्य का अन्यतर (दो में से एक की) क्रिया से, तथा दोनों द्रव्यों की क्रिया से भी संयोग नहीं हो सकता क्योंकि शब्द भी क्रियारहित है। इस आशय से पूर्वपक्षी कहता है ॥ १६ ॥

पदपदार्थ– निष्क्रियत्वात्=शब्द के निष्क्रिय (क्रियारहित)होने से ॥ १६ ॥

भावार्थ—शब्द गुण के क्रियारहित होने से उभय क्रियाजन्य भी संयोग नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'किसी शब्दरूप अर्थ से' ऐसा शेष पूरण करना। (जिससे शब्द के क्रियारहित होने के उभय क्रियाजन्य संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता, यह सूत्र का अर्थ जानना) ॥ १६ ॥

सम्बन्धे बाधकान्तरमाह—

असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥ १७ ॥

असत्यपि घटपटादौ—नास्ति गेहे घटः, नास्ति पटः, श्रुतपूर्वोगकारो नास्ति, अभूत् पटः, पटो भविष्यतीत्यादिप्रयोगदर्शनादित्यर्थः। तथाचासता घटादिना शब्दस्य न संयोगो न वा समवाय इति भावः ॥ १७ ॥

किञ्चात इत्यत आह—

शब्दार्थावसम्बन्धौ ॥ १८ ॥

शब्दार्थयोः संयोगश्चेन्नास्ति तदेतदायातं–शब्दार्थावसम्बन्धावेवेत्यर्थः। ननु संयोगसमवाययोरन्यतरसम्बन्धः कथं न स्यादित्यत आह—

शब्द तथा अर्थ में दूसरा सम्बन्ध होने से दूसरा बाधक पूर्वपक्षी कहता है—

पदपदार्थ—असति = पदार्थ के न रहने पर, नास्ति इति च = नहीं है ऐसा भी, प्रयोगात्=प्रयोग होने से (शब्द तथा अर्थ का सम्बन्ध नहीं है) ॥ १७ ॥

भावार्थ—'घर में घट नहीं है' इत्यादि रूप प्रयोग घटपदार्थ के न रहने पर भी देखा जाता है। अतः असत् घटादि पदार्थ के साथ घटादि शब्द का संयोग अथवा समवायसम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ १७ ॥

उपस्कार—घटादि पदार्थ के न रहने पर भी—'घर में घट नहीं है, पट नहीं है, पूर्व में सुनाया हुआ शब्द नहीं है, पट था, पट होगा' इत्यादि प्रयोगों के देखने से यह अर्थ है। ऐसा होने से असत् (अविद्यमान) घटादि पदार्थ के साथ शब्द का न संयोगसम्बन्ध हो सकता है, अथवा न समवायसम्बन्ध हो सकता है यह सूत्र का भाव है ॥ १७ ॥

यदि सिद्धान्ती प्रश्न करे 'कि इससे प्रकृत में क्या हुआ' तो पूर्वपक्षी कहता है—

पदपदार्थ—शब्दार्थौ = शब्द तथा अर्थ दोनों, असम्बन्धौ=सम्बन्ध-रहित है ॥ १८ ॥

भावार्थ—जब उक्त प्रकार से शब्द तथा अर्थ का संयोग अथवा समवायसम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः शब्द तथा अर्थ का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है ॥ १८ ॥

उपस्कार—जब शब्द तथा अर्थ दोनों का संयोगसम्बन्ध अथवा समवाय सम्बन्ध नहीं है, इससे यह आया कि शब्द, अर्थ तथा परस्पर सम्बन्धरहित नहीं है ॥ १८ ॥

'संयोग तथा समवाय इन दोनों में से कोई एक शब्द तथा अर्थ का परस्पर में सम्बन्ध क्यों न होगा ऐसी सिद्धान्ती शंका करे तो पूर्वपक्षी कहता है—

संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च ॥ १९ ॥

दण्डी पुरुषः–हस्ती कुञ्जर–इति प्रत्ययौ स्तः, तत्र प्रथमः संयोगात्, द्वितीयः समवायात् हस्तेऽवयवविशेषे कुञ्जरस्य समवायाधीनः प्रत्ययः। हस्तः समवायितया यस्यास्ति स हस्तीति। विशेषादिति। विशेष एव हस्तादौ समवायसम्बन्धाद्विशेषणत्वं न तु तन्त्वादीनामपि तन्तुमान् पट इत्यादिरवयवविशेषणभावेन प्रत्ययो भवति, एवं घटशब्दवान् घटोऽर्थ इति प्रत्ययो न भवति, तथाच शब्दार्थयोर्न संयोगो नापि समवाय इति भावः॥ १९॥

ननु यदि न संयोगो न वा समवायः शब्दार्थयोस्तर्हि केन सम्बन्धेन शब्दो नियतमर्थं प्रतिपादयतीत्यत आह—

सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः ॥ २० ॥

पदपदार्थ—संयोगिनः=संयोगसम्बन्धवाले, दण्डात्=दण्ड से, समवायिनः= समवायसम्बन्धवाले से, विशेषात् च=विशेष होने से भी ॥ १९ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार दण्डवाला पुरुष है, हस्त (सूंडवाला) हाथी है ऐसा दोनों संयोग तथा समवायसम्बन्ध से क्रम से प्रतीति होती है इस प्रकार घट शब्दाश्रय घटरूप अर्थ है ऐसी प्रतीति नहीं होती। अतः शब्द तथा अर्थ का परस्पर संयोग अथवा समवायसम्बन्ध नहीं हो सकता ॥ १९ ॥

उपस्कार—दण्डवाला मनुष्य है,–हस्ती (सूंडवाला) कुंजर (हाथी) है। ऐसे दो प्रकार के ज्ञान होते हैं, उनमें प्रथम प्रयोग संयोगसम्बन्ध से और दूसरा प्रयोग समवायसम्बन्ध से प्रतीत होता है, क्योंकि हस्तनाम सूंड नामक विशेष अवयव में हाथी के समवायसम्बन्ध के कारण होता है। हस्त (सूंड) समवायि (समवेत) है जिससे वह हस्ती ऐसा कहाता है। सूत्र के 'विशेषात्' इस पद का यह अर्थ है कि हस्त (सूंड) आदि अवयव विशेषादिकों में ही समवायसम्बन्ध से विशेषणता है, नकि तन्तु आदि अवयवों में भी, क्योंकि 'तन्तु वाला पट है' ऐसा अवयव को विशेषण मानकर ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार 'घट शब्दवाला घटरूप अर्थ है' ऐसा ज्ञान नहीं होता, ऐसा होने से शब्द तथा अर्थ का परस्पर न संयोगसम्बन्ध है, अथवा न समवायसम्बन्ध है यह सूत्र का आशय है ॥ १९ ॥

यदि 'शब्द तथा अर्थ का संयोग अथवा समवाय नामक सम्बन्ध नहीं है तो किस सम्बन्ध से शब्द अर्थ का प्रतिपादन करता है।' इस शंका के उत्तर में सिद्धान्ती के पक्ष से सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ=सामयिकः=सङ्केत से होता है, शब्दात् = शब्द से, अर्थप्रत्ययः=अर्थ का ज्ञान ॥ २० ॥

सामयिक इति। समय ईश्वरसङ्केतः-अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारः, यः शब्दो यस्मिन्नर्थे भगवता सङ्केतितः स तमर्थं प्रतिपादयति, तथा च शब्दार्थयोरीश्वरेच्छैव सम्बन्धः स एव समयस्तदधीन इत्यर्थः। यथा नकुलदंष्ट्राग्रस्पृष्टा या काचिदोषधिः सा सर्वाऽपि सर्पविषं हन्ति।

स च समयः क्वचिद्व्यवहाराद् गृह्यते, यथा-प्रयोजकेन घट मानयेत्युक्ते प्रयोज्यस्य कम्बुग्रीवावन्तमर्थमानयतो ज्ञानं तावद नुमिनोति तटस्थो बालः-इयमस्य प्रवृत्तिर्ज्ञानजन्या प्रवृत्तित्वात् मत्प्रवृत्तिवत्। तच्च ज्ञानमेतद्वाक्यजन्यमेतदनन्तरभावित्वात्. एतज्ज्ञानविषयोऽयं कम्बुग्रीवावानर्थो घटपदवाच्य इत्यावापोद्वापप्रक्रियया बालस्य घटपटादावर्थे व्युत्पत्तिः।

भावार्थ--इस शब्द से यह अर्थ जानना इस प्रकार ईश्वर की इच्छारूप संकेत (शक्ति) सम्बन्ध के अधीन शब्दों से अर्थ का ज्ञान होता है ॥ २० ॥

उपस्कार—सूत्र में सामयिकः इस पद से (इस शब्द से यह अर्थ जानना चाहिये) इस प्रकार के ईश्वर के संकेत को समय कहते हैं। जिस शब्द का जिस अर्थ में भगवान् ने सङ्केत किया है वह शब्द उस अर्थ का प्रतिपादन करता है, ऐसा होने से शब्द तथा अर्थ दोनों का ईश्वर की इच्छा ही सम्बन्ध है, वह यह समय ईश्वर के अधीन है यह सूत्र का अर्थ है। जिस प्रकार नुकल (नेउला) के दंष्ट्रा (डाढ) के अग्रभाग से जिस-किसी ओषधि में स्पर्श हो वह संपूर्ण ही औषधि सर्पविष को नष्ट करती है और वह समय (सङ्केत) कहीं-कहीं वृद्धों के व्यवहार से गृहीत होता है जैसे आज्ञा करनेवाले ने 'घट को ले आओ' ऐसा कहने पर प्रयोज्य (आज्ञा करनेवाले) ने किये कम्बुग्रीवा (शंख के समान ग्रीवा)वाले घट पदार्थ को ले आनेवाले पुरुष के घट ले आनेरूप ज्ञान को तटस्थ (उदासीन) वहां बैठा हुआ बालक इस पुरुष की घट ले आने की चेष्टारूप क्रिया, प्रवृत्ति से उत्पन्न है, चेष्टा होने से, मेरे दुग्धपान की चेष्टा के समान, इस प्रकार चेष्टा से प्रवृत्ति का अनुमान कर, यह इस पुरुषकी घट ले आने की प्रवृत्ति, ज्ञान से उत्पन्न है प्रवृत्ति होने से, मेरे स्तनपान की प्रवृत्ति के समान। और वह ज्ञान है, 'इस घट को लाओ' इस वाक्य से उत्पन्न, क्योंकि इस वाक्य के पश्चात् हुआ है। इस ज्ञान का विषय कम्बुग्रीवावाला पदार्थ घट पद का वाच्य है ऐसा आवाप और उद्वाप क्रिया गौ को बांध दो और घट को ले आओ इस वाक्य में वर्तमान गौ तथा घट दोनों पदों का 'बांधना तथा ले आना' इन दोनों दूसरी क्रियाओं के सम्बन्ध होना ही अपवाय तथा उद्वापक होते हैं। इस प्रक्रिया से बालक को घट पद की घटरूप अर्थ में व्युत्पत्ति (संकेतज्ञान) होता है। कहीं-कहीं साक्षात् आप्तपुरुष के वाक्य से भी संकेतज्ञान होता है, जैसे यह कम्बुग्रीवावाला घटरूप अर्थ घट पद का वाच्य (बोध्य) है। इस प्रकार कहीं-कहीं उपमान से संकेत-

क्वचिच्च साक्षादाप्तवाक्यादेव. यथाऽयं कम्बुग्रीवावानर्थो घटपदवाच्य इति ।

क्वचिदुपमानात् ,यथा–गोसदृशो गवयः, यथा मुद्गास्तथा मुद्गपर्णी, यथा माषस्तथा माषपर्णीत्यादि साधर्म्योपमानात् । क्वचिन्निन्दाकारादपि वाक्यात्, यथा–धिक् करभमतिलम्बौष्ठं दीर्घग्रीवं कठोरकण्टकाशिनमपसदं पशूनामिति निन्दावाक्यश्रवणानन्तरं तादृशपिण्डमुपलभ्यायमसौ करभ इति व्युत्पत्तिः ।

क्वचित् प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यात् , यथा–प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबतीति वाक्यश्रवणानन्तरं भवत्ययमसौ मधुकरपदवाच्यः प्रभिन्नकमलोदरे मधुपानकर्तृत्वात्, यथा वा सहकारतरौ मधुरं पिको रौतीति ।

ज्ञान होता है, जैसे गौ के समान गवय होता है, जैसे मूंग होता है वैसे मुद्गपर्णी नाम की औषधी होती है, जैसे माष (उड़दी) होती है वैसे माषपर्णी औषधी होती है इत्यादि समानधर्म की उपमा से संकेतज्ञान होता है । कहीं-कहीं निंदारूप विरुद्धधर्मवाले वाक्य से भी संकेतज्ञान होता है, 'जैसे वहुत लम्बे ओठवाले, लंवी गर्दनवाले, कड़े कांटों को खानेवाले पशुओं में नीच करभ (ऊंट) को धिक्कार है' ऐसे निंदा वाक्य सुनने के पश्चात् उस ऊंट शरीर को देखकर यह करभ (ऊंट)कहाता है, इस प्रकार शब्दार्थ संकेतग्रहण होता है । कहीं-कहीं प्रसिद्ध पद के सामानाधिकरण्य एक अधिकरण में बोधहोने से भी शक्ति ज्ञान होता है, जैसे विकसित कमल के भीतर मधु (रस) मधुकर (भ्रमर) पीता है ऐसा वाक्य सुनने के पश्चात् यही वह मधुकर शब्द का वाच्य है, विकसित कमल के मध्य में रसपानकर्ता होने से, अथवा सहकार आम्र वृक्ष पर मधुर (मीठेस्वर से) पिक (कोयल) आवाज करता है । इन वाक्यों में कमल से मधुपान करना तथा आम्र वृक्ष पर मधुर शब्द करना इन प्रसिद्ध पदों के साथ होने के कारण मधुकर तथा पिक शब्द के भ्रमर तथा कोकिलरूप अर्थ में संकेतग्रहण होता है । किन्तु यह नैयायिक मत में अनुमानप्रमाण अथवा कुछ नैयायिकों के मत से उपमानविशेष, तथा प्राचीन नैयायिकों से मत में शब्द नामक प्रमाण ही प्रसिद्ध पद के सामानाधिकरण्य के सामर्थ्य से शब्द के शक्ति का ग्राहक होता है, अथवा उपमानविशेष प्रमाण भी हो सकता है, क्योंकि मधुपान की कर्तृता का भ्रमर आदि दूसरे व्यक्ति के समान धर्म से उपनय (उपमा) से ग्रहण होता है ।

वह यह शब्द का संकेतरूप समय का ग्रहण केवल व्यक्तियों में वर्तमान जातिमात्र में ही होता है, अर्थात् शब्द की शक्ति केवल जाति में ही है, जाति के आधार पर व्यक्ति का ज्ञान आक्षेप (लक्षणा) से होता है, ऐसा तौतात्तिक(भट्ट) नामक मीमांसकों का मत है । उनके मत में गौ ले आओ, इत्यादि वाक्य से गोत्वादि जाति

तदेतदनुमानं वा शब्द एव वा प्रसिद्धपदसामानाधिकरण्यसामर्थ्याद्व्युत्पादकः, उपमानविशेष एव वा, मधुपानकर्तृत्वस्य भ्रमरादिव्यक्त्यन्तरसाधर्म्यस्योपनयात् ।

समयश्च जातिमात्रे, व्यक्तेराक्षेपत एवोपस्थितेरिति तौतातिकाः ।

(१ जातौ व्यक्तौ चोभय (त्र) शक्तिः किन्तु जात्यंशे ज्ञाता व्यक्त्यंशे स्वरूपसती प्रयोजिकेति प्राभाकराः ।

समयः शक्तिरेव 'व्यक्त्याकृतिजातयः पदार्थः (अ०२आ०२न्या०सू०६३) इति' वृद्धाः । गवादिपदानामियं गतिः, गुणकर्मादिवाचकपदानान्तु[२] जातिव्यक्ती एवार्थ इति मयूखे विपञ्चितम् ॥ २० ॥

इदानीमुद्देशक्रमप्राप्ते परत्वापरत्वे परस्परानुबद्धव्यवहारकारणतया शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थं संक्षेपार्थञ्चैकग्रन्थेनाह—

विषयक आनयनादि क्रिया का शब्दज्ञान होता है, क्योंकि गोत्वादि जाति में ही शब्दशक्ति का ज्ञान गोत्वादि जाति में शाब्दबोध में ही कारण है, क्योंकि सुप् आदि विभक्ति की कार्मता आदि शाब्दज्ञान में स्वाश्रय वृत्तितासम्बन्ध से ही गोरूप प्रकृति के अर्थ की आकांक्षा है । व्यक्ति का ज्ञान तो लक्षणा से ही उत्तरकाल में होता है । कर्मता गो से रहती है, गोत्व में वर्तमान कर्मता होने से । आनयन (ले आना) गो व्यक्ति में वर्तमान कर्मतावाला है, गोत्व में वर्तमान कर्मता होने से ऐसा अनुमान भी इसमें प्रमाण है) ।

जाति तथा व्यक्ति दोनों में शब्द की शक्ति है, किन्तु जाति में शक्तिज्ञान होना आवश्यक है, व्यक्ति में स्वरूप से वर्तमान ही शक्ति व्यक्ति का बोध कराती है ऐसा प्राभाकर मीमांसकों का मत है । अर्थात् गोत्वादि रूप जाति में गो पद की शक्ति है ऐसा ज्ञान गो पद से गोत्वरूप जाति का ज्ञान विशेष्यरूप से उक्त शाब्दबोध में समवायसम्बन्ध से गोत्व अथवा तादात्म्य सम्बन्ध से गो नियामक होती है ऐसा उनका आशय है) ।

समय (सङ्केत) का अर्थ शक्ति वह व्यक्ति, आकार तथा जाति दोनों में है, क्योंकि 'व्यक्त्याकृति जातयः पदार्थः, व्यक्ति, आकार, जाति ये तीनों पद के अर्थ होते हैं (अ. २ आ. २ सू. ६३) न्यायसूत्र में प्राचीन नैयायिकों ने कहा है। किन्तु गो इत्यादि पदों में उक्त व्यवस्था है । गुण तथा कार्यवाचक पदों में जाति तथा व्यक्ति ही पद के अर्थ होते हैं ऐसा हमने मयूख ग्रन्थ मे स्पष्ट विस्तार किया है । क्योंकि गुणादिकों का आकार नहीं होता ॥ २० ॥

सांप्रत उद्देशक्रम से प्राप्त परत्व तथा अपरत्व दोनों गुणों का परस्पर सम्बन्ध से व्यवहार के कारण होने से शिष्यों की बुद्धि में स्पष्ट प्रतीति होने के लिये तथा संक्षेप में वर्णन करने के लिये एक ही सूत्र में सूत्रकार दोनों का वर्णन करते हैं—

एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरञ्च ॥२१॥

परमपरञ्चेति भावप्रधानो निर्देशः । उत्पद्यत इति शेषः । यद्वा परमपरञ्चेति व्यवहार इति शेषः । इतिरध्याहार्य्यम् । एका दिग् ययोस्तावेकदिक्कौ, ताभ्यामेकदिक्काभ्यां पिण्डाभ्यामित्यर्थः । तुल्यदेशावप्येकदिक्कौ भवतः न तु ताभ्यां परत्वापरत्वे उत्पद्येते व्यवह्रियेते वेत्यत उक्तं सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यामिति । सन्निकर्षः संयुक्तसंयोगाल्पत्वम्, विप्रकर्षस्तद्भूयस्त्वम्, तद्वद्भ्यामित्यर्थः । एतेन समवायिकारणमुक्तम् । दिक्पिण्डसंयोगस्त्वसमवायिकारणम्, तथा हि प्राङ्मुखस्य पुरुषस्य प्राच्यवस्थितयोः पिण्डयोरेकस्मिन् संयुक्तसंयोगभूयस्त्वमपरस्मिन् संयुक्तसंयोगाल्पतरत्वञ्चापेक्ष्य परत्वमपरत्वञ्चोत्पद्यते, (असमवा-

---

पदपदार्थ—एक दिक्काभ्यां=एक दिशा मे रहनेवाले, एककालाभ्यां=एक काल में रहने वाले, संनिकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां = संनिहित तथा दूरस्थ, दोनों द्रव्यों से, परत्वं= परत्व गुण, अपरत्वं च =और अपरत्व गुण भी उत्पन्न होता है ।। २१ ।।

भावार्थ—एक दिशा मे वर्तमान तथा एक ही समय में वर्तमान, जो क्षण और काल से संनिहित तथा दूर में वर्तमान हो, ऐसे दो द्रव्यों में क्रम से दैशिक तथा कालिक परत्व (दूरता) तथा ज्येष्ठता रूप अपरत्व, एवं संनिहित होना तथा कनिष्ठता रूप दैशिक एवं कालिक अपरत्व गुण उत्पन्न होते हैं ।। २१ ।।

उपस्कार—सूत्र में परं तथा अपरं यह दोनों उनके धर्मों के लिये सूत्रकार ने कहे हैं, जिससे परत्व तथा अपरत्व उत्पन्न होते हैं—ऐसा आकांक्षित पद का शेष कर अर्थ करना । अथवा पर तथा अपर इत्याकारक व्यवहार होता हैं ऐसा शेष करना और 'इतिः' इस प्रकार इस पद का अध्याहार करना । एक है दिशा जिन दो पिण्ड (द्रव्यों) की वे एक दिशा वाले, उन एक दिशा में वर्तमान दो पिंडों (द्रव्यों) से यह एकदिक्काभ्यां शब्दका अर्थ है । समानदेशवाले भी एक दिशामें वर्तमान होते हैं, किन्तु उन दोनों में पर तथा अपर ऐसे दो ज्ञान उत्पन्न होते या उन दोनों में दूर है । पास है । यह व्यवहार नहीं होता, इसलिये सूत्रकार ने 'संन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां' संनिहित तथा दूर रहने वाले ऐसा विशेषण दिया है । उनमें संयुक्त संयोग सम्बन्ध की अल्पता (कम होना) तथा उसकी अधिकता यह दोनों क्रम से संनिहित होना, तथा विप्रकर्ष (दूर होना) अर्थ है । इन दोनों वाले पिण्डों (द्रव्यों) से यह अर्थ है । इससे पिण्ड (द्रव्य) समवायिकारण दैशिक परत्व तथा अपरत्व गुणरूप कार्यका कहा गया और दिशा तथा पिण्ड का संयोग असमवायिकारण कहा गया । क्योंकि पूर्व दिशा के सम्मुख मुखवाले मनुष्य को पूर्व दिशा में वर्तमान दो पिण्डों (द्रव्यों) में से एकमें संयुक्तसंयोगरूप सम्बन्ध की अधिकता, और दूसरे में संयुक्त संयोग सम्बन्ध की अत्यन्त अल्पता (न्यूनता) की अपेक्षा कर क्रम से परत्व (दूरता)

यिकारणमुक्तम)। सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यामिति,—विषयेण विषयिणं प्रत्ययमुपलक्षयति। तथा चापेक्षाबुद्धेर्निमित्तकारणत्वमुक्तम् । एकदिगवस्थितयोरेव परत्वापरत्वे उत्पद्येते इति न सर्वत्रोत्पत्तिः। एकस्यैव द्रष्टुरपेक्षाबुद्धिः समुत्पद्यते इति न सर्वथोत्पत्तिः। अपेक्षाबुद्धिनियमान्न सर्वदोत्पत्तिः। कारणशक्तेरुत्पन्नयोः प्रत्यक्षसिद्धत्वान्न परस्पराश्रयत्वम्, अन्यथा हि नोत्पद्येयातां न वा प्रतीयेयातां, परस्परापेक्षायां हि द्वयोरनुत्पत्तिरप्रतीतिश्च स्यात्, प्रतीयेते च परत्वापरत्वे, प्रतीतिश्च तयोर्नोत्पत्तिमन्तरेणेति।

एककालाभ्यामिति,—कालिकपरत्वापरत्वे अभिप्रेत्य। तत्रैककालाभ्यामिति,-एको वर्त्तमानः कालो ययोर्युवस्थविरपिण्डयोः तावेककालौ ताभ्यामेककालाभ्यामित्यर्थः। सन्निकर्षोऽल्पतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वम्। अत्रापि विषयेण

तथा अपरत्व (समीपता) उत्पन्न होते हैं, (इससे असमवायिकारण कहा गया) और सूत्र के 'संनिकृष्ट-विप्रकृष्टाभ्यां' इस पद से संनिहितता तथा दूरस्थता रूप विषय से उनका विषयी ज्ञान सूचित होता है, ऐसा होने से अपेक्षाबुद्धि निमित्त कारण है यह कहा गया है। एक ही दिशा में वर्तमान दो पिण्डों में उक्त परत्व तथा अपरत्व गुण उत्पन्न होते हैं, इस कारण सर्व पिण्डों में उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। और एक ही देखनेवाले को समीप हैं दूर है— यह बुद्धि उत्पन्न होती है, अतः सर्वथा उत्पत्ति नहीं हो सकती। तथा अपेक्षाबुद्धि का नियम होनेसे सर्व समय परत्वा-परत्व गुण उत्पन्न न होंगे। (पूर्वोक्त)अपने-अपने कारण की शक्ति से उत्पन्न होने के कारण अर्थात् अपने-अपने कारणों के अन्वय तथा व्यतिरेक से परत्व तथा अपरत्व की उत्पत्ति होने से दोनों की उत्पत्ति होती है—यह प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने से परत्व तथा अपरत्व इन दोनों में परस्पर को आश्रय करते हैं–यह दोष न होगा। अन्यथा ऐसा न हो तो न परत्व की उत्पत्ति होगी न प्रतीति होगी, यदि परत्व अपरत्व की, अपरत्व परत्व की परस्पर में अपेक्षा करेंगे तो दोनों की उत्पत्ति एवं प्रतीति नहीं होगी, और प्रतीति तो परत्व तथा अपरत्व की होती है, और उत्पत्ति के विना उन दोनों की प्रतीति नहीं हो सकती। 'एककालाभ्यां' एक काल के यह सूत्र का पद कालिक परत्व तथा अपरत्व के अभिप्राय से है। उसमें 'एककालाभ्यां' एक काल के इस पद का एक वर्तमान काल जिन दोनों युवा (तरुण) तथा स्थविर (वृद्ध) पिण्ड शरीरों का हो वे दोनों एक काल के उन दोनों एक काल वाले शरीरों से यह अर्थ है। अति अल्प सूर्य क्रिया के अन्तरित (मध्यवर्ति) जन्म होना यह सन्निकर्ष शब्द का अर्थ है। यहां भी इस संनिकर्ष विषय से उस विषय का ज्ञान सूचित होता है। इससे युवा तथा वृद्ध के शरीर समवायि कारण हैं काल तथा पिण्ड-शरीर का संयोग असमवायिकारण

विषयिणीं बुद्धिमुपलक्षयति, तेन युवस्थविरपिण्डौ समवायिकारणे, कालपिण्ड-संयोगश्चासमवायिकारणम्, अल्पतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वबुद्धिरपरत्वे बहुतरतपनपरिस्पन्दान्तरितजन्मत्वबुद्धिः परत्वे निमित्तकारणम। एते च परत्वापरत्वे अनियतदिग्देशयोरपि पिण्डयोरुत्पद्येते।

तत्र दैशिकपरत्वापरत्वयोः सप्तधा विनाशः। उत्पादस्तु युगपदेव द्वयोरन्यथाऽन्योन्याश्रयः स्यात्। अपेक्षाबुद्धिनाशात् १, संयोगस्यासमवायिकारणस्य नाशात् २, द्रव्यस्य च समवायिकारणस्य नाशात् ३, निमित्तासमवायिकारणयोर्नाशात ४, निमित्तसमवायिकारणयोर्नाशात् ५, समवाय्यसमवायिकारणयोर्नाशात् ६, निमित्तनाशासमवायिकारणनाशसमवायिकारणनाशेभ्यः ७।

तत्रापेक्षाबुद्धिनाशात् तावत्—परत्वोत्पत्तिः परत्वसामान्यज्ञानं ततोऽपेक्षाबुद्धिविनाशस्तद्विनाशात् परत्वविशिष्टद्रव्यज्ञानकाले परत्वनाशः, द्वित्वनाशवदेव सर्वमूहनीयम्।

असमवायिकारणनाशादपि, तद् यथा—यदैवापेक्षाबुद्धिस्तदैव परत्वाधारे

होता है, अति-न्यून सूर्यक्रिया के मध्यवर्ति जन्म होने का ज्ञान अपरत्व (कनिष्ठ) बुद्धि में निमित्त कारण है तथा अति अधिक सूर्य क्रिया के मध्यवर्ति काल में जन्म होना—यह ज्ञान परत्व (ज्येष्ठ) बुद्धि में निमित्त कारण है। यह दोनों कालिक परत्व तथा अपरत्व ज्ञान अर्थात् ज्येष्ठ कनिष्ठ अवस्था का ज्ञान अनियत दिशा देश में रहने वाले भी युवा तथा वृद्ध पुरुष के शरीर में उत्पन्न होते हैं।

उसमें दैशिक परत्व तथा अपरत्व दो गुणों का नाश सात प्रकार से होता है। किन्तु उत्पत्ति दोनों की एक ही समय में होती है, अन्यथा अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा। सात प्रकार के नाश इस प्रकार हैं—(१) केवल अपेक्षाबुद्धि के नाश से, (२) संयोग रूप असमवायि कारण के नाश से, (३) समवायि कारण रूप द्रव्य के नाश से, (४) निमित्त तथा असमवायिकारण दोनों के नाश से, (५) निमित्त तथा समवायिकारण दोनों के नाश से, (६) समवायि, तथा असमवायिकारण दो के नाश से (७) निमित्त, समवायि, तथा असमवायि कारण तीनों के नाश से परत्व तथा अपरत्व का नाश।

उनमें से अपेक्षाबुद्धि के नाश से परत्व का नाश इस प्रकार होता है—परत्व गुण की उत्पत्ति परत्व सामान्य का ज्ञान, पश्चात् अपेक्षाबुद्धि का नाश और उसके नाश से परत्व गुण युक्त द्रव्य ज्ञान के समय में परत्व गुण का नाश, द्वित्वसंख्या के नाश के समान और सब प्रक्रिया जानना।

असमवायि कारण के नाश से भी परत्व का नाश इस प्रकार होता है—जैसे जिसी समय अपेक्षाबुद्धि होती है उसी समय परत्व गुण के आश्रय पिण्ड (द्रव्य) में क्रिया

पिण्डे कर्म। ततो यदैव परत्वोत्पत्तिस्तदैव दिक्पिण्डविभागस्ततो यदा परत्वसामान्यज्ञानं तदा दिक्पिण्डसंयोगनाशः। ततः सामान्यज्ञानादपेक्षाबुद्धिनाशस्तदैव दिक्पिण्डसंयोगनाशात् परत्वापरत्वयोर्नाशः। तत्र चापेक्षाबुद्धिनाशस्य परत्वनाशसमकालत्वान्न तन्नाशकत्वम्। नन्वसमवायिकारणानाशादपि गुणनाशे आत्ममनःसंयोगनाशादपि संस्कारादृष्टादीनां विनाशे बहु व्याकुलं स्यादिति चेन्न, विप्रकृष्टत्वेन परत्वस्य व्यापनात् परत्वाधारस्यान्यत्र गमने विप्रकर्षाभावात्, परत्वनिवृत्तिरावश्यकी। न च तदा नाशकान्तरमस्तीत्यन्यथाऽनुपपत्त्या संयोगनाश एव नाशकः कल्प्यते, संस्कारादृष्टादेः कार्य्यस्य स्मृतिसुखादेश्चिरेणापि दर्शनान्न तन्नाशकल्पना। उपलक्षणञ्चैतत् अवधेर्द्रष्टुश्च तद्देशसंयोगनाशादपि परत्वापरत्वे विनश्यतः, युक्तेस्तुल्यत्वात्।

समवायिकारणनाशादपि क्वचित् परत्वनाशः। तथाहि—यदा पिण्डावयवे समुत्पन्नेन कर्मणाऽवयवान्तराद्विभागस्तदैवापेक्षाबुद्धिः, विभागात् पिण्डारम्भ-

---

होकर जिसी समय परत्व गुण की उत्पत्ति होती है उसी समय दिशा तथा पिण्ड का परस्पर विभाग होता है, इसके पश्चात् जिस काल में परत्व जाति का ज्ञान होता है उस समय दिशा और द्रव्य का संयोग नष्ट होता है। पश्चात् उक्त सामान्य ज्ञान से अपेक्षाबुद्धि का नाश जिस समय होता है उसी समय दिशा तथा द्रव्य के संयोग के नाश से परत्व तथा अपरत्व गुणों का नाश होता है। उसमें अपेक्षाबुद्धि का नाश परत्व गुण के नाश के काल में होने से परत्व तथा अपरत्व का नाशक नहीं हो सकता। असमवायि कारण के नाश से भी गुण का नाश हो तो आत्मा तथा मन के संयोग के नाश से भी भावना संस्कार तथा अदृष्टादियों का नाश होने से बहुत ही गड़बड़ अव्यवस्था हो जायगी, अर्थात् प्राणी की मृत्यु हो जायगी, ऐसी पूर्वपक्षी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि विप्रकर्ष (दूरता) से परत्व की व्याप्ति है। यदि परत्वाश्रय द्रव्य दूसरे स्थान में गमन करे तो विप्रकर्ष (दूरता) न रहने से परत्व की निवृत्ति होना आवश्यक है। और उस समय उसका दूसरा कोई नाश करने वाला नहीं है। इस कारण नाश के न बन सकने से संयोग का नाश ही नाशक है यह कल्पना की जाती है, और भावना संस्कार तथा अदृष्टादिकों के स्मरण तथा सुख:दुख आदि कार्य तो विलम्ब से कालान्तर में देखने में आते हैं। अतः उनका नाश न होने के कारण प्राणी पर मृत्यु नहीं हो सकेगा।

तीसरा—कहीं केवल समवायि करण द्रव्य के नाश से भी परत्व का नाश होता है, वह इस प्रकार कि—जिस समय पिण्ड (द्रव्य) के अवयव में उत्पन्न भ[illegible] क्रिया से दूसरे अवयव से विभाग होता है, उसी समय अपेक्षा बुद्धि होती है विभाग से उस द्रव्य को उत्पादक पूर्व संयोग का नाश, तथा परत्व गुणकी उत्प[illegible]

कसंयोगनाशः परत्वोत्पत्तिः, अग्रिमक्षणे संयोगनाशाद् द्रव्यनाशः परत्व-सामान्यज्ञानं, द्रव्यनाशात् परत्वनाशोऽपेक्षाबुद्धिनाशश्च सामान्यज्ञानात्। तथा च यौगपद्यान्नापेक्षाबुद्धिनाशात् परत्वनाश इति।

क्वचिद् द्रव्यनाशापेक्षाबुद्धिनाशाभ्यां परत्वनाशः। तद्यथा—पिण्डावयवे कर्मापेक्षाबुद्धेरुत्पादस्ततोऽवयवान्तरविभागः परत्वोत्पत्तिश्च, तत आरम्भ-कसंयोगनाशसामान्यज्ञाने ततो द्रव्यनाशापेक्षाबुद्धिनाशौ ततश्च परत्व-नाशः।

क्वचिद् द्रव्यस्य संयोगस्य च नाशाभ्यां परत्वनाशः, तद् यथा यदा द्रव्या-वयवविभागस्तदैव पिण्डकर्मापेक्षाबुद्धयोरुत्पादस्तदनन्तरमवयवसंयोगनाश-दिक्पिण्डविभागपरत्वोत्पत्तयः। ततो द्रव्यनाशदिक्पिण्डसंयोगनाशपरत्वसा-मान्यबुद्धयः। ततो द्रव्यनाशदिक्पिण्डसंयोगनाशाभ्यां परत्वनाशः सामान्य-बुद्धेरपेक्षाबुद्धिनाश इति।

होती है, आगे के क्षण में पूर्व संयोग नाश से द्रव्य का नाश और परत्व सामान्य का ज्ञान होता है, द्रव्य के नाश से परत्व गुण का नाश और उक्त सामान्य ज्ञान से अपेक्षा बुद्धि का भी नाश होता है, ऐसा होने से एक काल होने के कारण अपेक्षा बुद्धि के नाश से परत्व का नाश नहीं हो सकता, इस प्रकार केवल द्रव्य रूप समवायि कारण के नाश से परत्व नाश की प्रक्रिया है।

चतुर्थ–कहीं पर द्रव्य का नाश, तथा अपेक्षा बुद्धि का नाश दोनों से परत्व का नाश होता है, वह है जैसे—पिण्ड (द्रव्य) के अवयव में क्रिया तथा अपेक्षा बुद्धि दोनों की उत्पत्ति के अनन्तर दूसरे अवयवों से विभाग तथा परत्व गुण की उत्पत्ति भी होती है, पश्चात् द्रव्य का उत्पादक पूर्व संयोग का नाश, एवं परत्व सामान्य ज्ञान ये दोनों होते हैं, और उसके पश्चात् द्रव्य का नाश तथा अपेक्षा बुद्धि का नाश दोनों होते हैं, इन दोनों से पश्चात् परत्व का नाश होता है।

पांचवा–कहीं द्रव्य रूप समवायि कारण तथा संयोग रूप असमवायि कारण इन दोनों के नाश से परत्व का नाश होता है। वह है जैसे—जिस समय द्रव्य के अवयवों का परस्पर विभाग होता है उसी समय द्रव्य में क्रिया तथा अपेक्षाबुद्धि इन दोनों की उत्पत्ति होती है, इसके पश्चात् अवयवों के पूर्व संयोग का नाश, दिशा और पिण्ड (द्रव्य) का परस्पर विभाग एवं परत्वगुण की उत्पत्ति होती है, इसके पश्चात् द्रव्य का नाश, तथा दिशा और द्रव्य के संयोग का नाश तथा परत्व सामान्य का ज्ञान होता है, उससे द्रव्य का नाश, तथा दिशा और द्रव्य के संयोग का नाश इन दोनों से परत्व का नाश होता है, और उक्त सामान्य ज्ञान से अपेक्षा बुद्धि का नाश होता है।

क्वचित् संयोगनाशापेक्षाबुद्धिनाशाभ्यां परत्वनाशः, तद्यथा–परत्वोत्पत्तिपिण्डकर्मणो सामान्यज्ञानविभागौ अपेक्षाबुद्धिनाशदिक्पिण्डसंयोगनाशौ ततः परत्वनाशः ।

क्वचित् समवाय्यसमवायिनिमित्तनाशेभ्यः, तद्यथा–परत्वोत्पत्तिपिण्डावयवविभागपिण्डकर्माणि युगपत्, तदनन्तरं परत्वसामान्यज्ञानावयवसंयोगनाशदिक्पिण्डविभागाः तदनन्तरमपेक्षाबुद्धिनाशद्रव्यनाशदिक्पिण्डसंयोगनाशेभ्यो युगपदुत्पन्नेभ्यः परत्वस्यापरत्वस्य वा दैशिकस्य नाशः ।

कालकृतयोस्तु परत्वापरत्वयोरसमवायिकारणनाशाधीनो नाशो नास्ति, दैशिकयोर्दिक्पिण्डसंयोगनाशे सन्निकर्षविप्रकर्षनाशो यथा न तथा कालिकयोरिति, तयोः समवायिकारणनाशादपेक्षाबुद्धिनाशात् द्वाभ्याञ्चेति त्रयः पक्षाः पूर्ववदूहनीयाः ॥ २१ ॥

छठा–कहीं संयोग असमवायि कारण तथा निमित्त कारण अपेक्षा बुद्धि इन दोनों के नाशों से परत्व का नाश, वह है जैसे—परत्व गुण की उत्पत्ति, तथा पिण्ड से क्रिया, सामान्य ज्ञान तथा विभाग अपेक्षा बुद्धि का नाश तथा दिशा और द्रव्य के संयोग का नाश और दोनों से परत्व गुण का नाश ।

सातवां—कहीं समवायि, असमवायि तथा निमित्त कारणों के नाशों से परत्व गुण का नाश होता है । वह है जैसे परत्वगुण की उत्पत्ति, पिण्ड के अवयवों का विभाग और पिण्ड में क्रिया, यह सब एक काल में होने के पश्चात् परत्वत्व सामान्य का ज्ञान, पूर्व अवयव संयोग का नाश तथा दिशा और द्रव्य का विभाग क्रम से होते हैं, इसके पश्चात् एक काल में उत्पन्न अपेक्षा बुद्धि का नाश, द्रव्य का नाश, तथा दिशा और पिण्ड के संयोग का नाश इन तीनों से दैशिक परत्व तथा अपरत्व गुण का नाश होता है ।

किन्तु काल से होने वाले कालिक परत्व तथा अपरत्व इन दोनों का संयोग रूप असमवायिकरण के नाश के अधीन नाश नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार दैशिक परत्व तथा अपरत्व के नाश होने में दिशा तथा द्रव्य का संयोग नष्ट होने पर संनिकर्ष (सांनिध्य) तथा विप्रकर्ष (दूरता) का नाश होता है, वैसे कालिक परत्व तथा अपरत्व में नहीं होता, इस कारण कालिक परत्व तथा अपरत्व दोनों गुणों का नाश केवल द्रव्य (शरीर) के नाश, तथा केवल अपेक्षा बुद्धि रूप निमित्तकारण के नाश, तथा दोनों से मिलकर–ऐसे तीन ही प्रकार से कालिक परत्व तथा अपरत्व का नाश होता है, जिसकी दैशिक परत्व तथा अपरत्व के नाश के समान प्रक्रिया स्वयं जान लेनी चाहिये ॥ २१ ॥

कालिकपरत्वापरत्वे प्रति विशेषमाह—

कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च ॥ २२ ॥

परत्वापरत्वयोः कारणं कालस्तस्य परत्वापरत्वे परत्वासमवायिकारणकाल-संयोगोऽपरत्वासमवायिकारणकालसंयोगश्च लक्षणयोक्तः, अन्यथाऽनन्वयापत्तेः, न हि परत्वापरत्वाभ्यामेव परत्वापरत्वे उत्पद्येते । तस्मात् परत्वापरत्वपदयोस्त-दुत्पादककालसंयोगावर्थौ लक्षणया ॥ २२ ॥

ननु परत्वेऽपि परत्वमपरत्वेऽप्यपरत्वं किं न स्यादित्यत आह—

परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥ २३ ॥

कर्मभिः कर्माणि ॥ २४ ॥ गुणैर्गुणाः ॥ २५ ॥

कालिक परत्व तथा अपरत्व गुण में सूत्रकार विशेष कहते हैं—

पदपदार्थ—कारणपरत्वात्=काल संयग रूप कारण के परत्व से, कारणा-परत्वात् च = और उक्त कारण के अपरत्व से भी (कालिक परत्व तथा अपरत्व गुण होते हैं) ।। २२ ।।

भावार्थ—काल के परत्व तथा अपरत्व के कारण भी कालिक परत्व (ज्येष्ठता) तथा कालिक अपरत्व (कनिष्ठता)होती है ।। २२ ।।

उपस्कार—परत्व तथा अपरत्व गुण दोनों का कारण होता है । काल नामक द्रव्य उसकी परत्वता तथा अपरत्वता इन दोनों पदों से सूत्र में लक्षणावृत्ति से परत्व गुण का असमवायि करण कालसंयोग, तथा अपरत्व गुण कार्य का असमवायि-करण काल संयोग कहा है, नहीं तो सूत्र में अन्वय न बनेगा, क्योंकि परत्व तथा अपरत्व से ही परत्व तथा अपरत्व की उत्पत्ति नहीं होती, तस्मात् सूत्र में परत्व तथा अपरत्व इन दोनों पदों का परत्व तथा अपरत्व गुण कार्यों के उत्पन्न करने वाले काल पिण्ड संयोग रूप अर्थ लक्षणा वृत्ति से जानना ।। २२ ।।

"एक परत्व गुण में दूसरा परत्व तथा एक अपरत्व में दूसरा अपरत्व गुण क्यों न होगा ?" इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—परत्व तथा अपरत्व में, परत्वापरत्वाभावः = परत्व अपरत्व गुण का अभाव, अणुत्वमहत्त्वाभ्यां=अणु तथा महत्परिमाणों से, व्याख्यातः = व्याख्यान किया गया ।। २३ ।। कर्मभिः = कर्मों से, कर्माणि = कर्मपदार्थ ।। २४ ।। गुणैः=गुणों से, गुणाः = गुणपदार्थ व्याख्यात हो गये ।। २५ ।।

भावार्थ—एक अणु परिमाण में दूसरा अणुपरिमाण, तथा एक महत्परिमाण में दूसरा महत्परिमाण जैसे नहीं रहता उसी प्रकार एक परत्व तथा अपरत्व गुण

एतानि सूत्राणि पूर्वमेव व्याकृतकल्पानि नेह व्याक्रियन्ते ॥ २३-२५ ॥

परत्वापरत्वादीनां मूर्त्तमात्रसमवेतत्वमुक्तं ज्ञानसुखादीनाञ्चात्मसमवेतत्वम्। तत्र समवाय एव क इति शिष्यजिज्ञासामनुरुध्य बुद्धेरुद्देशक्रमप्राप्ताया अपि लङ्घनात् समवायपरीक्षामाह—

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ॥ २६ ॥

कार्यकारणयोरित्युपलक्षणम्, अकार्यकारणयोरित्यपि द्रष्टव्यम्। तदुक्तं पदार्थप्रदेशाख्ये प्रकरणे– "अयुतसिद्धानामाधार्य्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहेतिप्रत्ययहेतुः स समवायः" इति। असम्बद्धयोरविद्यमानत्वमयुतसिद्धिः, इह कुण्डे दधि इह कुण्डे बदराणीतिवत् इह तन्तुषु पट इह वीरणेषु कट इह

में क्रम से दूसरा परत्व तथा अपरत्व गुण नहीं रहता, कर्म पदार्थ कर्मवान तथा गुण पदार्थ गुणवान नहीं होते इत्यादि पूर्वोक्त सम्पूर्ण जान लेना चाहिये ॥२३-२५॥

उपस्कार—ये तीनों सूत्र पूर्व ग्रन्थ में ही व्याख्या किये समान स्पष्ट अर्थ बोधक हैं। अतः इनकी यहां व्याख्या नहीं की जाती है ॥ २३-२५ ॥

परत्व तथा अपरत्व आदि गुण मूर्त द्रव्यों में, तथा ज्ञान सुख आदि विशेष गुण आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं–ऐसा कह चुके हैं, उसमें समवाय सम्बन्ध ही का क्या स्वरूप है–इस शिष्य की जिज्ञासा के अनुरोध से यद्यपि बुद्धि गुणका उद्देश क्रम से निरूपण करना उचित है तथापि उसके उल्लंघन कर समवाय की परीक्षा करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—इह = यहां, इदं = यह है, इति = इस प्रकार, कार्यकारणयोः = कार्य तथा कारण में, सः = वह, समवायः = समवाय नामक सम्बन्ध है ॥२६॥

भावार्थ—जिससे इस कुण्डी में दही है इत्यादि विशिष्ट प्रतीति के समान इन तन्तुओं में पट है. इत्यादि विशिष्ट ज्ञान भी होता है, उसमें दृष्टान्त में विशेषण कुण्डी तथा दही रूप विशेष्य का जिस प्रकार संयोग सम्बन्ध विषय है उसी प्रकार तन्तुओं में पट है यह भी विशिष्ट ज्ञान होने के कारण उसमें भी कोई सम्बन्ध मानना पड़ेगा, जो संयोग तथा स्वरूपादि सम्बन्ध न हो सकने से समवाय ही सम्बन्ध है यह सिद्ध होता है ॥ २६ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'कार्यकारणयोः' यह पद कार्य कारण से भिन्नों का भी समवाय होता है इसका सूचक है। अतः पदार्थ प्रदेश (उद्देश) नामक प्रशस्तपाद भाष्यके प्रकरण में–'अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्धः इहेतिप्रत्ययहेतुः स समवायः' अर्थात् युतसिद्धि से रहित आश्रय तथा आश्रित रूप पदार्थों का जो इह = इसमें, इस प्रतीति का कारण होता है वह समवाय होता है ऐसा कहा है।

द्रव्ये गुणकर्माणि इह गवि गोत्वम् इहाऽऽत्मनि ज्ञानम् इहाऽऽकाशे शब्द इतीहबुद्धिरुत्पद्यमाना न विना सम्बन्धमुत्पत्तुमर्हति तेनानुमीयतेऽस्ति कश्चित् सम्बन्धः। न चासौ संयोग एव, अन्यतरकर्मादीनां तदुत्पादकानामभावात् विभागपर्य्यवसानाभावाच्च सम्बन्धिनामयुतसिद्धत्वाच्च नियताधिकरणतयैवोन्नेयत्वात् अप्रत्यक्षत्वादेकत्वान्नित्यत्वाच्च। नन्वेकश्चेत् समवायस्तदा द्रव्यत्वादीनां सङ्करप्रसङ्गः, कर्मत्वादिसमवायस्य द्रव्ये सम्भवात्। मैवम्, आधाराधेयनियमादेवासङ्करात्। यद्यपि य एव द्रव्यत्वसमवायः स एव गुणत्वकर्म-

---

सम्बद्ध न होने वाले दो पदार्थों की अविद्यमानता, अर्थात् पृथक् होकर न रहना अयुतसिद्धि कहाती हैं (वह जिस प्रकार व्यापक दो पदार्थों में नहीं होती यह 'युतसिध्यभावात्' इस सूत्र में कह चुके हैं।) 'इस कुण्डी में दही है, इस कुंडी में वैर के फल हैं' इन प्रतीतियों के समान, 'इन तन्तुओं में पट है, इन वीरण (सरइयों) में कट (चटाई) है, इस द्रव्य में गुण तथा कर्म हैं, इस गौ में गोत्व है, इस आत्मा में ज्ञान है, इस आकाश में शब्द है'' इस प्रकार उत्पन्न होने वाला 'इह' यहां ऐसा ज्ञान विना सम्बन्ध के उत्पन्न नहीं हो सकता। इससे तन्तुओं में पट है ऐसा विशिष्ट ज्ञान विशेषण तन्तु तथा विशेष्य (पट) इन दोनों के किसी सम्बन्ध को विषय करता है, विशिष्ट ज्ञान होने से, इस कुण्डी में दही है—इस विशिष्ट ज्ञान के समान—इस अनुमान से संयोगादि सम्बन्ध का बाध होने के कारण कोई सम्बन्ध मानना पड़ेगा जो परिशेष से समवाय सम्बन्ध सिद्ध होता है, क्योंकि यह दो में से एक अथवा दोनों की क्रिया आदि संयोग सम्बन्ध के उत्पादकों का अभाव होने के कारण संयोग ही सम्बन्ध है यह नहीं हो सकता, तथा इस सम्बन्ध का संयोग सम्बन्ध के समान विभाग में पर्यवसान (समाप्ति) नहीं होती है, तथा समवाय के सम्बन्धी संयोग के सम्बन्धियों के समान युतसिद्ध (पृथक् सिद्ध) भी नहीं होते। अभेद रूप तादात्म्य सम्बन्ध भी उक्तानुमान का विषय नहीं हो सकता। इस आशय से शंकरमिश्र चतुर्थ हेतु देते हुए कहते हैं कि नियत आश्रय रूप ही से यह जाना भी जाता है। (अर्थात् अभेद सम्बन्ध मानने से शुक्ल वर्ण और पट के एक ही पदार्थ होने से 'पटः-पटः' इस प्रयोग के समान 'शुक्लः पटः' यह भी प्रयोग न होगा। तथा प्रत्यक्ष न होने, एवं एक होने तथा नित्य होने से भी (उक्तानुमान में संयोग सम्बन्ध विषय नहीं हो सकता)। "यदि समवाय सम्बन्ध एक हो तो द्रव्यत्वादिकों के समवाय के समान कर्मत्व गुणत्व आदिकों का भी समवाय द्रव्यों में होने से सांकर्य दोष आ जायगा" पूर्वपक्षी यहां ऐसी शंका नहीं कर सकता, आश्रयाश्रितभाव का नियम होने से उक्त सांकर्य दोष नहीं होगा। यद्यपि जो ही द्रव्यत्व जाति का समवाय है वही गुणत्व कर्मत्व आदिकों का भी समवाय है, तथापि उनका द्रव्य पदार्थ आश्रय नहीं है, क्योंकि द्रव्य पदार्थों में गुणत्व तथा

त्वादीनामपि, तथापि चैषां न द्रव्यमाधारस्तत्र तेषामप्रतीतेः द्रव्येष्वेव द्रव्यत्वं प्रतीयते गुणेष्वेव गुणत्वं कर्मस्वेव कर्मत्वं नत्वन्यत्रेत्यन्वयव्यतिरेकदर्शनादेव नियमः, यथा कुण्डदध्नोः संयोगविशेषेऽपि कुण्डमेवाधारो न दधीत्याश्रयाश्रयिभावनियमस्तथा व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदादेवात्रापि नियम उपपत्स्यते, न हि द्रव्येण द्रव्यत्ववत् कर्मत्वाद्यप्यभिव्यज्यते। तदुक्तम्—

"संविदेव हि भगवतो वस्तूपगमे नः शरणम्" इति।

न ह्याधारत्वं प्रति विपरीता संविदस्ति, न हि भवति द्रव्यं कर्मेति, न वा भवति पटे तन्तव इति। एतेन वायौ रूपसमवायेऽपि वायौ रूपमित्याधारता न वायोः प्रतीयते। तस्मात् स्वभावशक्तिरेव सर्वत्र नियामिका। स चायं नित्य अकारणकत्वात्। भावानां हि समवायिकारणादुत्पत्तिनियमः, तदनुरुद्धे च

कर्मत्व जाति की प्रतीति नहीं होती, पृथिवी आदि नौ द्रव्य पदार्थों में ही 'द्रव्य है, द्रव्य है' इस प्रकार अनुगत बुद्धि साधक द्रव्यत्व-जाति का ज्ञान होता है, इसी प्रकार रूपादि चतुर्विंशति गुणों में ही गुणत्व जाति, उत्क्षेपणादि पाँच कर्मों में ही कर्मत्व जाति की प्रतीति होती है, अन्य द्रव्यादिकों में नहीं होती—इस प्रकार अन्वय तथा व्यतिरेक के दर्शन से ही नियम है। जिस प्रकार कुंडी में दही है इस प्रतीति में कुंडी तथा दही का संयोग सम्बन्ध समान होने पर भी कुंडी ही आश्रय होती है और दही ही आश्रित होता है यह नियम है उसी प्रकार व्यंग्य (प्रगट करने योग्य) तथा व्यंजक (प्रगट करने वाला) इन दो शक्तियों के भेद से ही प्रकृत में भी नियम हो सकता है, क्योंकि द्रव्य से द्रव्यत्व जाति के समान कर्मत्व गुणत्व आदि जातियों की अभिव्यक्ति नहीं होती, इसी से वृद्धोंने कहा है—'संविदेव=अनुभव ही, हि=जिस कारण, भगवती=शक्ति, वस्तूपगमे=पदार्थ के मानने में नः=हमको, शरणम्=शरण (प्रमाण) है इति=ऐसा॥ क्योंकि आधारता के विषय में विपरीत अनुभव नहीं होता, कारण यह कि द्रव्य क्रिया है ऐसा कर्मत्व जाति का द्रव्य में विपरीत आश्रय ज्ञान, तथा पट में तन्तु हैं ऐसा तन्तुओं की पट में आधारता का विपरीत ज्ञान भी नहीं होता। इसी कथन से समवाय के एक होने के कारण वायु में स्पर्श-समवाय के समान रूप का समवाय रहने पर भी, वायु मे रूप है ऐसी रूपगुण की विपरीत आश्रयता प्रतीत नहीं होती—यह जान लेना चाहिये। इस कारण स्वभाव की शक्ति(सामर्थ्य) ही सर्वत्र प्रतीति होने में नियामिका (नियम के कारण)है यह सिद्ध होता है। वह यह समवाय सम्बन्ध रूप पदार्थ कारण रहित होने से नित्य है, क्योंकि भाव पदार्थों का सर्वत्र समवायि कारण से उत्पन्न होने का नियम है, उसके अनुरोध से असमवायि तथा निमित्त कारण भी भाव कार्य में अवश्य होते हैं, ऐसा नियम होने से समवाय सम्बन्ध का जो समवायिकारण होगा

निमित्तासमवायिनी, तथाच समवायस्य समवायिकारणं यत् स्यात् तत् समवायान्तरेण तेनैव समवायेन वा ? न तावदाद्यः, अनवस्थापातात्। न द्वितीयः, न हि स एव समवायः स्वेनैव समवेतः सम्भवतीत्यात्माश्रयात्। तन्तुषु पटसमवायः पटे रूपसमवाय इति प्रतीतिः कथमिति चेत् स्वरूपसम्बन्धेन, समवायान्तराङ्गीकारेऽनवस्थापातात्। तर्हीह पटरूपमित्यपीहप्रत्ययः स्वरूपसम्बन्धेनैव स्यात् किं समवायेनेति चेन्न, तत्रातिरिक्तसम्बन्धे बाधकाभावात्। तर्हीह भूतले घटाभाव इत्यत्रापि समवायः सम्बन्धान्तरं वा स्यादिति चेन्न, स्वरूपसम्बन्धेनैव तदुपपत्तेः, अन्यथा घटात्यन्ताभावान्योन्याभावयोर्नित्ययोरनेकसमवेतयोः सामान्यत्वापत्तेः। प्रध्वंसस्य च समवेतकार्य्यत्वेन विनाशित्वापत्तेः, प्रागभावस्य च समवेतानुत्पन्नत्त्वेनाविनाशित्वापत्तेश्च। न च भावत्वं तत्र तन्त्रम्, भावत्वस्यापाद्यत्वात्।

वह क्या है दूसरे समवाय सम्बन्ध से होगा अथवा उसी समवाय से। उस समवाय का दूसरा समवाय उसका भी दूसरा समवाय इस प्रकार अनवस्था दोष आने से प्रथम पक्ष नहीं हो सकता। उसी समवाय से—यह दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि वही समवाय सम्बन्ध अपने ही से समवेत है यह भावना भी आत्माश्रय दोष आने के कारण असंगत है। यदि ऐसा है तो तन्तुओं में पट का समवाय है, पट में रूप का समवाय है' यह ज्ञान कैसे होता है" ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो स्वरूप सम्बन्ध से यह ज्ञान होता है, क्योंकि दूसरा समवाय मानने से पूर्व प्रदर्शित प्रकार से अनवस्था दोष आ जायगा। यदि ऐसा है तो प्रस्तुत में यहां (पट में) पर भी पट का रूप है इस प्रकार का 'इह 'प्रत्ययः' यहां है—यह ज्ञान भी स्वरूप सम्बन्ध से होता है। ऐसा मान लेंगे तो समवाय सम्बन्ध रूप अतिरिक्त पदार्थ मानने की क्या आवश्यकता है—पूर्वपक्षी ऐसी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि वहां अतिरिक्त सम्बन्ध समवाय नामक मानने में कोई बाधक नहीं है। (यह बाधक न होना) स्वरूप सम्बन्धों के अनन्त स्वरूप होनेके कारण उन्हे सम्बन्ध मानने की अपेक्षा एक समवाय सम्बन्ध मानने में लाघव है—इसकी भी सूचना करता है यह जानना चाहिये। यदि ऐसा है तो 'इस भूतल में घट नहीं है' इस प्रतीति में भी समवाय अथवा उससे भिन्न कोई दूसरा सम्बन्ध मानना पड़ेगा।' ऐसी शंका पूर्वपक्षी नहीं कर सकता, क्योंकि उक्त प्रतीति का स्वरूप सम्बन्ध से ही निर्वाह हो सकता है। ऐसा न माने तो घटका अत्यन्ताभाव एवं घट का अन्योन्याभाव जो दोनों नित्य तथा अनेक में समवेत हैं, उनमें जाति पदार्थ का लक्षण आने से वे दोनों जाति-पदार्थ हो जायंगे। और ध्वंसरूप अभाव भी कारण में समवेत कार्य होने से नाशवान् हो जायगा, और प्रागभावरूप अभाव भी कारण में समवेत उत्पन्न न होने के कारण विनाश रहित हो जायगा 'नाश होने में भावरूप कार्यता प्रयोजक है

अभावेऽस्त्येव वैशिष्ट्याख्यं सम्बन्धान्तरमिति भाट्टाः।

तत्र यदि सर्वाभावव्यक्तीनामेकमेव वैशिष्ट्यं तदा घटवत्यपि घटाभावप्रत्ययप्रसङ्गः पटाभाववैशिष्ट्येनैव घटाभाववैशिष्ट्यसत्त्वात्। घट एव तत्र घटाभावधीप्रतिबन्धक इति चेत् वैशिष्ट्यसम्बन्धेन प्रतिबन्धकाभावस्यैव तत्र सत्त्वात्। न चाश्रयस्वभाव एव तादृशो येन न तत्र घटाभावाभिव्यक्तिः, घटापसारणानन्तरं तत्रैव घटाभावप्रतीतेः। तवापि रूपनाशानन्तरं कथं न रूपवत्ताप्रत्ययः? समवायस्य नित्यत्वादेकत्वाच्चेति चेत्, रूपनाशादेव तदप्रतीतेरुपपत्तेः। समवायप्रतिबन्धिः (न्दी?) प्रत्यक्षमयूखे मोचित एवेत्यास्ताम् ॥२६॥

द्रव्यादिभ्यः पञ्चभ्यो भेदं साधयन्नाह—

द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः ॥ २७ ॥

अतः उक्त दोष न होगा' ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता, क्योंकि ध्वंस तथा प्रागभाव रूप अभावों में भाव पदार्थ हो जायंगे यह भी आपत्ति आ जायगी।

अभाव में वैशिष्टय नामक दूसरा सम्बन्ध है ही ऐसा भाट्टमीमांसकों का मत है। इस मत का खण्डन करत हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि इस मत में यदि सम्पूर्ण अभाव व्यक्तियों का एकही वैशिष्टय हो तो घट के आश्रय में भी घट के अभाव का ज्ञान होने की आपत्ति आ जायगी। क्योंकि पट के अभाव के वैशिष्टय से वहां पर घट के अभाव का वैशिष्टय वर्तमान है। यदि 'वहां पर घट ही घट के अभाव के बुद्धि का प्रतिबन्धक है ऐसा कहो तो वैशिष्टय सम्बन्ध से प्रतिबन्धक रूप घटका वहां अभाव है। 'आश्रय का ऐसा स्वभाव ही है, जिससे वहां घट के अभाव की अभिव्यक्ति (प्रगटता) होती है' यह भी न हो सकता, क्योंकि घट के अपसारण (हटाने)के पश्चात् वहीं पर घट के अभाव का ज्ञान होता है। समवाय सम्बन्ध अतिरिक्त मानने वाले सिद्धान्ती के मत में भी श्याम रूप के नाश के पश्चात् श्याम रूप का प्रतीति क्यों नहीं होती, क्योंकि समवाय नित्य तथा एक भी है' ऐसा यदि मीमांसक कहे तो श्याम रूप का नाश होने से उसकी प्रतीति न होना हो सकता है। अर्थात् विशिष्ट ज्ञान में सम्बन्ध तथा विशेषण दोनों का ज्ञान कारण होने से सम्बन्ध के रहने पर भी श्यामरूप विशेषण न रहने के कारण सिद्धान्ति मत में उक्त दोष नहीं आ सकता। इस प्रकार मीमांसकों के वैशिष्टय संबंध पक्ष से नैयायिकों के समवाय सम्बन्ध मानने में प्रतिबन्धि-समान दोष देना प्रत्यक्ष खण्ड के मयूख ग्रन्थ में विस्तार से निराकरण किया है, इस कारण यहां अधिक नहीं कहा जाता ॥ २६ ॥

द्रव्य से लेकर विशेष पर्यन्त पांच पदार्थ से समवाय सम्बन्ध पदार्थ का भेद सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्यत्वगुणत्वप्रतिषेधः = द्रव्यता तथा गुण स्वरूपता का निराकरण, भावेन = सत्ता से, व्याख्यातः = व्याख्या किया गया है ॥ २७ ॥

भावः सत्ता। यथा सत्ता न द्रव्याद्यात्मिका विलक्षणबुद्धिवेद्यत्वात् तथा समवायोऽपि तत एव द्रव्यादिभ्यो भिन्नः। द्रव्यत्वगुणत्वेत्युपलक्षणं कर्मत्वाद्यपि द्रष्टव्यम् ॥ २७ ॥

एकत्वं साधयति—

तत्त्वभावेन ॥ २८ ॥

व्याख्यातमिति शेषः। तत्त्वमेकत्वं भावेन सत्तया व्याख्यातम्। यथैका सत्ता सर्वत्र सद्बुद्धिप्रवर्तिका तथैक एव समवायः सर्वत्र समवेतबुद्धिप्रवर्तकः स्वलिङ्गाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्च, न हि समवायस्य विशेषलिङ्गं भेदकं लिङ्गमाकलयामो येन नानात्वमभ्युपगच्छामः। अत एव नित्यः देशकालादि-भेदेऽप्यभिन्नस्य सत्तावदेवानित्यत्वायोगात्। ननु समवायो यद्ययं सम्बन्ध एव तदा तन्तुपटयोः पटरूपयोर्वा विश्लेषः स्यादिति, चेन्न, युतसिद्ध्यभावाद्विश्ले-

---

भावार्थ—जिस प्रकार विलक्षण ज्ञान से जानने की योग्यता से सत्ता जाति द्रव्य गुण आदिस्वरूप नहीं है उसी प्रकार समवाय भी द्रव्य गुण आदि पदार्थ स्वरूप नहीं हैं ॥ २७ ॥

उपस्कार—सूत्र में भाव शब्द का अर्थ है सत्तानामक जाति। जिस प्रकार सत्ता जाति द्रव्य गुण आदि पदार्थ स्वरूप नहीं है क्योंकि 'सत् है सत् हैं' इस प्रकार विलक्षण ज्ञान से जानी जाती है।

उसी प्रकार समवाय भी 'इह' यहां इस बुद्धि से जानने के योग्य होने के कारण द्रव्यगुणादि पदार्थों से भिन्न है। सूत्र में द्रव्यत्व गुणत्व यह दोनों कर्मत्व सामान्यत्वा-दिकों का भी सूचक है यह देख लेना चाहिए ॥ २७ ॥

समवाय में एकत्व सूत्रकार सिद्ध करते हैं—

पदपदार्थ—तत्व=एकता, भावेन=सत्ता जाति से व्यख्यात हुआ ॥ २८ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार 'सत्' बुद्धि कीं प्रवृत्त करने वाली सत्ता जाति सर्वत्र समान एक है उसी प्रकार समवेत ज्ञान का प्रवर्तक समवाय सम्बन्ध भी सर्वत्र एक है यह आशय है॥ २८ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकाँक्षित 'व्याख्यातं' इस पद का शेष पूर्ण करना। सूत्र के तत्व शब्द का अर्थ है एकत्व वह भाव शब्द के अर्थ सत्ता-जाति से व्याख्या किया गया। जिस प्रकार सत्ताजाति सम्पूर्ण पदार्थों में 'सत् है, सत् है' इस बुद्धि को प्रवृत्त करने वाली एक है, उसी प्रकार एकही समवाय सम्बन्ध सर्वत्र समवेत है इस ज्ञान को प्रवृत्त करने वाला एक ही हैं, क्योंकि 'इह' यहां इत्याकारक पूर्वोक्त अपना (समवाय) लिङ्गका (साधक) समान है तथा भेद साधक विशेष लिङ्ग (हेतु) भी नहीं है। क्योंकि समवाय सम्बन्ध रूप पदार्थ का कोई विशेष लिङ्ग अर्थात् भेद साधक हेतु हम नहीं जानते जिससे समवाय अनेक माना जाय। तथा देश तथा कालादिकों

पातुपपत्तेः, न हि रूपरूपवतोरवयवावयविनोर्वाऽसम्बद्धयोर्विद्यमानत्वमस्ति येन विश्लेषः स्यात्। युतसिद्धिरेवापाद्यत इति चेन्न, कदाचिदपि तथाऽननुभवेनापाद्यबाधात्।

समवायो नानाऽनित्यश्चेति प्राभाकराः। तच्चानुपपन्नम्, रूपं नष्टमिति हि प्रत्ययो न तु रूपसमवायो नष्ट इति कस्यापि प्रत्ययः।

प्रत्यक्षः समवाय इति नैयायिकाः। तदप्यनुपपन्नम्, समवायोऽतीन्द्रियः आत्मान्यत्वे सत्यसमवेतभावत्वात् मनोवत्, कालादिवद्वा ॥ २८ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे सप्तमाध्यायस्य द्वितीयाह्निकम्।

समाप्तश्चायं सप्तमाध्यायः।

का भेद होने पर भी सत्ता जाति के समान अभिन्न (एक) होने के कारण अनित्यता न होने के कारण समवाय नित्य है। (यद्यपि नित्यता समवाय में पूर्व में कथित है तथापि सत्ता के साधर्म्य से पुनः कहने के कारण पुनरुक्त दोष नहीं है)।

यदि यह समवाय पदार्थ' सम्बन्ध ही है तो तन्तु तथा पट इन दोनों, तथा पट और उसके रूप को कभी विश्लेष (अलग होना) भी हो जायगा (जैसे संयोग सम्बन्ध के सम्बन्धी अलग हो जाते हैं)। पूर्वपक्षी ऐसी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि संयोग सम्बन्ध के संबन्धियों के समान युतसिद्धि (पृथक् सिद्धि) न होने के कारण विश्लेष (पृथक्ता) नहीं हो सकती। क्योंकि रूप तथा रूपाश्रय द्रव्य अथवा अवयव तथा अवयवि ये दोनो संबन्ध रहित कहीं भी विद्यमान नहीं होते, जिससे विश्लेष (पृथक्ता) मान जाय। यदि युत सिद्धि (पृथक् सिद्धि) ही की हम आपत्ति देते हैं अर्थात् अवयव और अवयवी आदि पृथक् हो जाय ऐसा हम कहते हैं ऐसी शंका पूर्वपक्षी करते-यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी समय उनका पृथक् रूप से अनुभव न होने के कारण आपाद्य (विश्लेप) का वाध है।

समवाय सम्बन्ध अनेक तथा अनित्य है ऐसा प्राभाकर (मीमांसकों) का मत है। किन्तु श्याम रूप नष्ट हुआ ऐसी प्रतीति होती है न कि उसका समवाय नष्ट हुआ ऐसी प्रतीति किसी पुरुष को होती है, अतः मीमांसक मत असंगत है।

पोडश पदार्थवादी नैयायिक समवाय सम्बन्ध का प्रत्यक्ष होता है ऐसा जो मानते हैं वह भी ठीक नहीं. समवाय, अतीन्द्रिय अप्रत्यक्ष है, आत्मा से भिन्न होते हुए असमवेत भाव पदार्थ होने से मन के समान, अथवा काल दिशा आदिक द्रव्य के समान—इस अनुमान से समवाय में अप्रत्यक्षता सिद्ध होती है ॥ २८ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्र कृत वैशेषिक सूत्रों की उपस्कार व्याख्या में

सप्तमाध्याय का द्वितीय आह्निक समाप्त हुआ।

सप्तमाध्याय भी समाप्त हुआ।

अष्टमाध्याये प्रथमाह्निकम्

शिष्यजिज्ञासानुरोधात् क्रमलङ्घनम्, इदानीमुद्देशक्रममालम्बते। तत्र बुद्धिपरीक्षा अष्टमाध्यायार्थः। आत्मसाधनाय पूर्वं बुद्धिरुक्ता, तां स्मारयन्नाह–

द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥ १ ॥

द्रव्येष्विति, विषयेण विषयिणं तृतीयाध्यायमुपलक्षयति। "इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः" "आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्" इत्येताभ्यां सूत्राभ्यां ज्ञानं व्याख्यातमित्यर्थः। तत्र "बुद्धिरुपलब्धि-

---

शिष्यो के जिज्ञासा के अनुसार क्रम का लंघन (त्याग) हुआ, सांप्रत पुनः उद्देश के क्रम को सूत्रकार ग्रहण करते हैं। जिससे बुद्धि नामक गुण की परीक्षा करना संपूर्ण अष्टमाध्याय का विषय है। जिसमें आत्मा की सिद्धि करने के लिये पूर्व में बुद्धिगुण का वर्णन कर चुके हैं, उसको स्मरण कराते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्येषु=द्रव्य के निरूपण होनेवाले तृतीयाध्याय में, ज्ञानं=बुद्धि नामक गुण व्याख्यातम्=व्याख्यान किया गया है ॥१॥

भावार्थ—द्रव्य रूप विषय से लिये हुए द्रव्य के निरूपण करने वाले तृतीय अध्याय मे 'इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः। आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत्' इन दोनों सूत्रों में ज्ञाननामक गुण की व्याख्या हो चुकी है। वहां पर 'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः' इस समान शास्त्रों ने अ० १ आ० १ सूत्र १५ ये सांख्यमत के खण्डनार्थ पर्याय भी कहे जाते हैं ॥१॥

उपस्कार—सूत्र के 'द्रव्येषु' इस पृथिवी आदि द्रव्यरूप विषय से उक्त विषय वाला तृतीय अध्याय सूचित होता है। इन्द्रियार्थप्रसिद्धिः–इन्द्रिय तथा अर्थों से उत्पन्न ज्ञान, इन्द्रियार्थेभ्यः=इन्द्रिय तथा विषयों से, अर्थान्तरस्य=आत्मारूप दूसरे पदार्थ का हेतुः=कारण हैं, आत्मेन्द्रियार्थसंनिकर्षात्=आत्मा, इन्द्रिय तथा पदार्थों के संनिकर्ष से। यत्=जो, निष्पद्यते=उत्पन्न होता है, तत्-वह, अन्यत्=दुष्ट हेतु से भिन्न है, इन दो सूत्रों से ज्ञानं=ज्ञाननामक गुण, व्याख्यातम्=व्याख्यान किया गया है। उसमे बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, तथा प्रत्यय ये शब्द पर्याय है (अ०१ आ० १, सूत्र १५) इस समान शास्त्र न्यायसूत्र मे वर्णित बुद्धि नामक गुण के लक्षण में सांख्यमत का निराकरण करने के लिये पर्याप्त भी कहे हैं। क्योंकि सांख्य दर्शन मत के मानने वाले दार्शनिक विद्वानों के बुद्धि आदि शब्दों का अर्थ भिन्न है ऐसा कहते हैं। वह इस प्रकार है—कि "सत्त्व, रज, तथा तम नामक तीन

ज्ञानं प्रत्यय इति पर्य्यायाः" अ० १ आ १ न्या० सू० १५ इति समानतन्त्रे बुद्धिलक्षणे साङ्ख्यमतनिरासार्थं पर्य्यायाभिधानम् ।

साङ्ख्या हि बुद्ध्यादिशब्दानामर्थभेदमाचक्षते । तथाहि-"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, सा चैकैव, पुरुषास्तु परं भिद्यन्ते, ते च कूटस्था नित्या अपरिणामिनो नित्यचैतन्यस्वभावाः । ते च पङ्गवोऽपरिणामित्वात्, प्रकृतिस्त्वन्धा जडत्वात् । यदा विषयभोगेच्छा प्रकृतिपुरुषभेददिदृक्षा च प्रकृतेर्भवति तदा सा पुरुषोपरागवशात् परिणमते । तस्याश्चाद्यः परिणामो बुद्धिरन्तःकरणविशेषः । बुद्धिरेव महत्तत्वं. तदुक्तम्—"प्रकृतेर्महान्" इति । सा च बुद्धिर्दर्पणवन्निर्मला, तस्याश्च वहिरिन्द्रियप्रणाडिकया विषयाकारो यः परि-

---

गुणों की समान अवस्था को प्रकृति नामक मुख्य एक तत्व है और वह प्रकृति एक ही है, किन्तु पुरुष (आत्मा) पदार्थ का केवल परस्पर में भेद है और वह पुरुष आत्मपदार्थ कूटस्थ (विकार रहित) नित्य तथा परिणाम रहित, एवं नित्य चेतन स्वभाव हैं । और परिणाम रहित होने के कारण पंगु (लंगडे) हैं, किन्तु पूर्वोक्त प्रकृति नामक तत्व जड़ होने के कारण अन्धी है । जिस समय विषयों के भोग की इच्छा तथा, तथा प्रकृति और पुरुष (आत्मा) इन दोनों के परस्पर भेद को देखने की इच्छा भी प्रकृति को होती है, उस समय वह पुरुष (आत्मा) के सम्बन्ध होने के कारण परिणाम को प्राप्त होती है । और उसका वह प्रथम परिणाम बुद्धि अर्थात् विशेष अन्तःकरण होता है । यह बुद्धितत्व ही महत्तत्त्व कहाता है, इसी कारण-प्रकृति =प्रकृति से महान्=महत्तत्व, ततः = उससे, अहंकार, तस्मात् = उससे, गणः च समुदाय होता है, षोडशकः = एकादश इन्द्रिय एवं पंचतन्मात्रारूप षोडश तस्मात् अपि=उससे भी षोडशकात् = षोडश तत्व में से, पंचभ्यः=पांच तन्मात्रा रूप तत्व से, पंच = पाँच, भूतानि=पृथिवी आदिभूत तत्व" । सांख्यकारिका में ऐसा कहा है। और वह बुद्धि दर्पण (आदर्श) के समान निर्मल अच्छा है, और उसके चक्षु आदि वहिरिन्द्रियरूप प्रनाडि का (नाली) से विषय के आकार वाला 'घट है पट है' ऐसा परिणाम विशेष होता है, उसे ज्ञान तथा वृत्ति ऐसा भी कहा जाता है, उक्त स्वच्छ बुद्धि रूप तत्व में वर्तमान ज्ञान से चेतन आत्मा का भेद ज्ञान न होने के कारण, 'मैं जानता हूँ' ऐसा जो विशेष अभिमान होता है, वही उपलब्धि कहलाती है । माला, चन्दन इत्यादि विषयों के सन्निकर्ष से वहिरिन्द्रिय रूप नाली के द्वारा ही सुख, तथा दुःख के आधार वाला जो विशेष परिणाम होता है उसे प्रत्यय कहते हैं। अतएव ज्ञान सुख दुःख इच्छा, द्वेष प्रयत्न, संस्कार, धर्म तथा अधर्म यह सम्पूर्ण ही बुद्धि के विशेष परिणाम हैं जो सूक्ष्म रूप से प्रकृति में ही रहते हुए अवस्था विशेष में प्रगट होते हैं तथा तिरोभूत (अप्रगट) रहते हैं ।

णतिभेदो घट इति पट इत्याद्याकारस्तज्ज्ञानं वृत्तिरिति चाख्यायते, स्वच्छायां बुद्धौ वर्त्तमानेन ज्ञानेन चैतन्यस्य पुरुषस्य भेदाग्रहादहं जानामीति योऽभिमानविशेषः सैवोपलब्धिः। स्रक्चन्दनादिविषयसन्निकर्षादिन्द्रियप्रणाडिकयैव सुखदुःखाद्याकारो बुद्धेरेव यः परिणामविशेषः स प्रत्ययः। अतएव ज्ञानसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्कारधर्माधर्माः सर्व एव बुद्धेः परिणामविशेषाः सूक्ष्ममात्रया प्रकृतावेव वर्त्तमाना अवस्थाभेदादाविर्भवन्ति तिरोभवन्ति च। पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः प्रतिबिम्बते परं बुद्धाविति''—यन्मन्यन्ते तदनेन पर्य्यायाभिधानसूचितप्रमाणेन निराक्रियते। तथाहि–बुद्धिशब्दो यदि बुद्ध्यतेऽनयेति करणव्युत्पन्नस्तदा मन एव तत्पर्य्यवस्यति। न च मनः प्रत्यक्षम्, बुद्धिस्त्वहं बुद्ध्ये इति प्रत्यक्षवेद्यैव। न चान्तःकरणस्य ज्ञानादयो धर्माः, कर्तृधर्मत्वेनैव तेषां सिद्धेः, भवति हि अहं जाने अहं प्रत्येमि अहमुपलभे इत्यहन्त्वसामानाधिकरण्येन प्रतिभासः। अभिमानोऽसाविति चेत् तात्त्विकत्वे बाधकाभावात्। पुरुषस्यागन्तुकधर्मानाधारत्वं कूटस्थत्वं तदेव बाधकमिति चेन्न, आगन्तुकधर्माधारत्वेऽपि नित्यत्वसम्भवात्, न हि धर्मी धर्मश्चेत्येकं तत्त्वं येन धर्मोत्पादविनाशावेव धर्म्युत्पादविनाशौ स्याताम्। तथाच य एव चेतयते स एव बुद्ध्यते जानात्युपलभते प्रत्येति चेति नार्थान्तरकल्पना युक्तेति दिक्॥ १॥

किन्तु पुरुष (आत्मा) कमल के पत्र के समान निर्लेप (लेपरहित) केवल बुद्धि में प्रतिबिम्बित (छाया देनेवाला) होता है—ऐसा जो सांख्यदार्शनिक मानते हैं, वह इस पर्याय के कथन से सूचित प्रमाण से खण्डित हो जाता है। वह इस प्रकार की—यह बुद्धिबुद्धयते-शब्द यदि जाना जाता है, इस प्रकार करण की विवक्षा से व्याकरण द्वारा सिद्ध है तो वह मन ही रूप में पर्यवसित (निश्चित) होता है। और वह मन प्रत्यक्ष नहीं है, और बुद्धि तो 'मैं जानता हूं' इस प्रत्यक्ष ज्ञान से ही जानी जाती है। और ज्ञान सुख आदि अन्तःकरण के धर्म भी नहीं हैं, क्योंकि उनकी आत्मारूप कर्ता के धर्म रूप से ही सिद्धि होती है, कारण यह है कि मैं जानता हूं, मैं निश्चय करता हूं, मैं प्राप्त करता हूँ इस प्रकार 'अहंत्व' के आधार में ही ज्ञानादि-गुणों का प्रतिभास (प्रकाश) होता है। यदि इसे आभिमानिक (गौण) कहो तो, यथार्थ मानने में कोई बाधक नहीं है। यदि आत्मा में आगन्तुक (आनेवाले) धर्मों की आधारता न होना ही कूटस्थता (निर्विकारता) होती है, वही बाधक है ऐसा कहो तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि आगन्तुक (अस्वाभाविक) धर्मों का आश्रय मानने पर भी नित्यता हो सकती है, कारण यह कि धर्म तथा धर्मी यह एक ही तत्त्व नहीं है, जिससे धर्म की उत्पत्ति तथा विनाश ही धर्मी की उत्पत्ति तथा विनाश होंगे। ऐसा होने से जो आत्मा ही चेतयते (चेतनाश्रय है) वही बुध्यते (जानता है) उपलभते (प्राप्त करता है) प्रत्येति (निश्चय करता है)। इस प्रकार

तच्च ज्ञानं द्विविधं–विद्या चाविद्या च। विद्या चतुर्विधा प्रत्यक्षलैङ्गिकस्मृत्यार्षलक्षणा। अविद्याऽपि चतुर्विधा संशयविपर्य्ययस्वप्नानध्यवसायलक्षणा। तत्र यल्लैङ्गिकं तदनिन्द्रियजम्, कुत एतदित्याह—

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ॥ २ ॥

आत्माऽत्र परमात्मा स्वात्मा वा, स्वात्मनि मानसस्य क्वाचित्काहम्प्रत्ययस्याहं गौरः कृशो महाबाहुरित्यादिप्रत्ययतिरस्कृतत्वात् स्वात्मनोऽप्यप्रत्यक्षतोक्ता। चकारादाकाशकालदिशां वायोः परमाणूनाञ्च द्रव्याणामुपग्रहः।

उसको छोड़कर बुद्धि-प्रकृति आदि पदार्थान्तर (दूसरे पदार्थ) की कल्पना करना संगत नहीं है—यह सांख्यमत निराकरण की रीति है ॥ १ ॥

और वह ज्ञान विद्या और अविद्या इस भेद से दो प्रकार है। (जिसमें विशेष्य में अवर्तमान विशेषणरहित ज्ञान को विद्या कहते हैं। तथा मिथ्याज्ञान को अविद्या कहते हैं।) जिसमें प्रत्यक्ष (१), लैङ्गिक (२), स्मृति (३), तथा आर्षज्ञान (४) इस भेद से विद्या चार प्रकार की है। तथा संशय (१), विपर्यय (२), स्वप्न (३), अनध्यवसाय (४) अनिश्चयरूप ज्ञान ऐसी चार प्रकार की अविद्या भी है। उसमें जो लैङ्गिकज्ञान होता है वह इन्द्रियजन्य नहीं होता है। प्रत्यक्ष शब्द से संस्कार तथा योगजन्य धर्म से रहित इन्द्रिय संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान लेना चाहिये। जिससे आर्षज्ञान तथा प्रत्यभिज्ञा का संग्रह न होगा तथा स्मृति शब्द से केवल संस्कारजन्य ज्ञान को लेना चाहिये जिससे प्रत्यभिज्ञा का ग्रहण न होगा। एवं योगजन्य संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञानरूप आर्षज्ञान यहां विवक्षित है। उक्त लैङ्गिक ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं होता. इसमें हेतु की जिज्ञासा निवारणार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत्र = उसमें, आत्मा = जीवात्मा, मनः च = और मन, अप्रत्यक्षे = प्रत्यक्ष नहीं होते ॥ २ ॥

भावार्थ—इस सूत्र में ज्ञान का विषय आत्मा और मन अप्रत्यक्ष अर्थात् लिङ्गरहित संगृहीत होते हैं। अतः प्रत्यक्ष न होने के कारण लैङ्गिकज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं होता ॥ २ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में आत्मा शब्द का परमात्मा (लक्षणा दोष के कारण) अथवा अपनी जीवात्मा अर्थ है। यद्यपि अपने जीवात्मा में कदाचित् होनेवाला 'मैं हूं' इत्याकारक मानसिकज्ञान प्रत्यक्षरूप होता है तथापि 'मैं गौरवर्ण तथा कृश हूं एवं महाभुजावाला हूँ' इत्यादि शरीरविषय में होनेवाले ज्ञान से तिरस्कृत होने के कारण अपने जीवात्मा को भी अप्रत्यक्ष है ऐसा सूत्र में कहा है। सूत्र के चकार से आकाश, काल तथा दिशा इन द्रव्यों में तथा वायु और पृथ्वी आदि परमाणु द्रव्यों का भी संग्रह किया गया है। अर्थात् आकाशादि द्रव्य भी प्रत्यक्ष नहीं होते हैं यह सूचित होता है।

इन्द्रियजमपि द्विविधं–सर्वज्ञीयमसर्वज्ञीयञ्च। सर्वज्ञीयं—योगजधर्मलक्षणया प्रत्यासत्त्या तत्तत्पदार्थसार्थज्ञानं, तथाहि परमाणवः प्रसक्ताः प्रमेयत्वादभिधेयत्वात् सत्त्वात्। सामग्रीविरहात् कथमेवं महत्त्वस्यापि प्रत्यक्षं प्रति कारणत्वात् न च परमाणवो महान्तः, रूपवत्त्वस्यापि चाक्षुषप्रत्यक्षकारणत्वात्, न च दिगादयो रूपवन्त इति चेन्न, योगजधर्मसहकारिणा मनसैव तत्सम्भवात्, तदुपग्रहाच्चक्षुरादिना वा, अचिन्त्यप्रभावो हि योगजो धर्मो न सहकार्यन्तरमपेक्षते। "विवादाध्यासितः पुरुषो न सर्वज्ञः पुरुषत्वादहमिव" इत्यादि तु "प्राभाकरो न मीमांसाभिज्ञः पुरुषत्वादहमिव" इत्यादिवद्विपक्षबाधकतर्कशून्यत्वादप्रयोजकम्।

असर्वज्ञीयञ्च प्रत्यक्षं द्विविधं–सविकल्पकं निर्विकल्पकञ्च।

चार प्रकार की विद्याओं में से प्रत्यक्ष नाम की विद्या भी सर्वज्ञ (सब जानने वाले ईश्वर तथा योगियों का) तथा असर्वज्ञ (सम्पूर्ण न जाननेवाले) जीवात्माओं का इस प्रकार दो प्रकार का है। उन दोनों में से सर्वज्ञ (ईश्वर योगी) आदिकों का प्रत्यक्ष योगाभ्यास से उत्पन्न धर्मरूप प्रत्यासत्ति (संनिकर्ष) से उन २ पदार्थों के समूह के ज्ञान को कहते हैं, वह इस प्रकार है कि—परमाणु प्रसक्तन्न परस्पर संयोग वाले हैं, (यह आर्षज्ञान का आकार है) प्रमेय (ज्ञानविषय) होने से, अभिधेय (शब्दवाच्य) होने से अथवा सत्ताजाति वाले होने से ऐसे अनुमानों से परमाणु आदि योगी प्रत्यक्ष के विषय हैं यह सिद्ध होता है। यदि प्रत्यक्ष की सामग्री के न होने से परमाणु आदि का प्रत्यक्ष योगियों को कैसे होगा ? क्योंकि प्रत्यक्ष में महत्परिमाण भी कारण है, और परमाणुओं में महत्परिमाण है नहीं, तथा रूपाधारता भी चाक्षुष प्रत्यक्ष में कारण होने से दिशा आदि द्रव्योंमें रूप न होने के कारण उनका भी योगियों को प्रत्यक्ष कैसे होगा ? ऐसी शंका पूर्वपक्षी करे तो, यह नहीं हो सकता, क्योंकि योगाभ्यास से उत्पन्न धर्म की सहायता से मानसप्रत्यक्ष, अथवा उक्त धर्म की सहायता से चक्षु आदि इन्द्रियों से परमाणु तथा दिशा आदि द्रव्यों का योगियों को प्रत्यक्ष हो सकता है, क्योंकि योगाभ्यासजन्य धर्म का सामर्थ्य अचिन्त्य (अविचारणीय) है, अतः वह दूसरे सहायक कारण की अपेक्षा नहीं रखता। यदि "विवाद का आधार योगिरूप पुरुष, सर्वज्ञाता नहीं है, पुरुष होने से, मेरे समान इस अनुमान से योगिपुरुषों में सर्वज्ञता के अभाव की सिद्धि प्राभाकर मीमांसक करे, तो प्राभाकर भी, मीमांसादर्शन का ज्ञाता नहीं है, पुरुष होने से, मेरे समान इत्यादि अनुमान के समान विपक्ष में बाध करनेवाले तर्क से रहित होने के कारण मीमांसक का अनुमान अप्रयोजक (योगियों में सर्वज्ञता के अभाव का साधक नहीं हो सकता) है।

सब न जाननेवाले जीवात्माओं का दूसरा प्रत्यक्ष भी सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से दो प्रकार का है। किन्तु सविकल्पक नामक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता

सविकल्पकं ज्ञानं न प्रमाणमिति कीर्त्तिदिङ्नागादयः। तथाहि—अभिलाप-संसर्गयोग्यप्रतिभासं हि तत्, न ह्यभिलापेन नाम्ना सम्भवत्यर्थस्य सम्बन्धो येन घट इति पट इति वा नामानुरञ्जितः प्रत्ययः स्यात्। न च जात्यादि परमार्थसत्, येन तद्वैशिष्ट्यं विषयेषु इन्द्रियेण गृह्येत। न च सतः स्वलक्षणस्यासता सम्बन्धः सम्भवति, न चासन् इन्द्रियगोचरः, तस्मादिन्द्रियेणालोचनं जन्यते आलोचनमहिम्ना च सविकल्पकमुत्पद्यमानं तत्रार्थे प्रवर्त्तयत् प्रत्यक्षमिति चोच्यते इति।

तच्चैतदनुपपन्नम्, अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासञ्च भवेत् प्रमाणञ्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं स्यादिति सन्दिग्धव्यतिरेकित्वम्। नामवैशिष्ट्यञ्च चाक्षुषज्ञाने

ऐसा कीर्ति, दिङ्नाग इत्यादि जैन तथा बौद्ध दार्शनिकों का मत है, अतएव उन्होंने 'कल्पनापोढं'=कल्पना से रहित, अभान्तं=भ्रमरहित, प्रत्यक्षं=प्रत्यक्ष प्रमाण होता है, निर्विकल्पकं = निर्विकल्पक नाम का विकल्प = सविकल्पक ज्ञान, वस्तुनिर्भासासंभवात्=क्षण विनाश होने के कारण पदार्थ का प्रकाशक न होने से, असंवादात्=अयथार्थ होने से, उपप्लवः=अप्रमाण है। अर्थात् वस्तु स्वरूप के प्रकाश से असम्बद्ध विषय में उत्पन्न होने के कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष भ्रम है यह कारिका का सारांश अर्थ है यही शंकरमिश्र ने पूर्वपक्षिमत के विवरण में 'तथाहि' यहां से कहा है। ऐसा उनके प्रमाण ग्रन्थों में वचन प्रमाण माना गया है। वह इस प्रकार है कि वह सविकल्पक ज्ञान शब्द सम्बन्ध के योग्यता से प्रकाशित होता है, किन्तु अभिलाप (संज्ञा) अर्थात् नाम से पदार्थ का सम्बन्ध नहीं हो सकता, जिससे यह घट है अथवा यह पट है इस प्रकार नाम (शब्द) से सम्बद्ध क्षणविनाशी अर्थ (वस्तु) का ज्ञान होगा। जाति आदि भी वास्तविक नहीं हैं, जिससे उनका वैशिष्ट्य (जाति की आधारता) विषय (पदार्थों) में इन्द्रिय से गृहीत होगा। स्वस्वरूप सत् पदार्थ का असत् जाति आदिकों के साथ सम्बन्ध भी नहीं हो सकता, और न असत् पदार्थ इन्द्रियों का विषय हो सकता है, इस कारण इन्द्रिय से वस्तु का आलोचन (केवल ग्रहण) ज्ञान होता है, और आलोचन (ग्रहण) ज्ञान के सामर्थ्य से ही उत्पन्न होने वाला सविकल्पक ज्ञान उस विषय में मनुष्य को प्रवृत्त करता हुआ सविकल्पक ज्ञान भी प्रत्यक्ष ऐसा कहा जाता है।

(उक्त बौद्धादि मत का खण्डन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)—वह यह बौद्धादि मत असंगत है, क्योंकि शब्द के सम्बन्ध से प्रकाशित होने की योग्यता भी हो सकती है तथा इन्द्रिय और पदार्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न होने से सविकल्पक भी प्रमाण हो सकता है, अतः पूर्वपक्षी का हेतु सन्दिग्ध व्यतिरेकि नामक दुष्ट हेतु है। (अर्थात् सविकल्पक भी शब्द सम्बन्ध से प्रकाशित होने की योग्यता रखता हुआ

सम्भवत्येव, सुरभिचन्दनमितिवदुपनीतभानसम्भवात्। यद्वा संज्ञावैशिष्ट्यं प्रत्यक्षज्ञाने न भासते संज्ञायाः स्मरणमात्रम्, स्मृतैव सा अर्थव्यावर्त्तिका, अभावज्ञाने प्रतियोगिस्मरणवत्। जात्यादिकञ्च वस्तुभूतं साधितमेवातः सविकल्पकमपीन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात् प्रत्यक्षम्। ननु निर्विकल्पकं न व्यवहारप्रवर्तकं न वा व्यवहारविषय इति किन्तत्र प्रमाणमिति चेत्, सविकल्पकमेव। तद्धि विशिष्टज्ञानम्, न च विशेषणज्ञानमन्तरेण तदुत्पद्यते, विशिष्टज्ञाने हि विशेषणज्ञानविशेष्येन्द्रियसन्निकर्षतदुभयासंसर्गाग्रहस्य कारणत्वावधारणात्॥

यत्र यथा ज्ञानं यत्कारणकञ्च तद्विशदयितुमाह —

भी इन्द्रिय तथा अर्थ के सनिकर्ष से उत्पन्न होता हुआ प्रमाण हो जायगा। इस कारण बौद्ध के कहा हुआ सविकल्पक का अप्रामाण्य एक में प्रामाण्य के साथ वर्तमान इन्द्रिय संनिकर्षजन्यता से सन्दिग्ध है, अतः सविकल्पक में अप्रामाण्य का निश्चय नहीं हो सकता)। (बौद्धोक्त बाधक का निवारण करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि)— चाक्षुप प्रत्यक्षज्ञान में नाम (संज्ञा) का वैशिष्टच (शब्दयुक्तता) तो हो ही सकती है, क्योंकि पूर्व में सुगन्धता न होने के पश्चात् चन्दन काष्ठ को देखकर 'यह सुगन्धि चन्दन है' ऐसा कालान्तर में ज्ञानरूप संनिकर्ष से जिस प्रकार मानसप्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार प्रकृत में भी सविकल्पक प्रत्यक्ष में शब्द का सम्बन्ध होने से कोई बाधक नहीं है। (यदि ऐसा है तो नाम के न जानने की अवस्था में इन्द्रिय संनिकर्ष रहने पर भी प्रत्यक्ष न होगा। इस शंका के समाधानार्थ शंकरमिश्र दूसरी प्रकार से सविकल्पक में नाम का सम्बन्ध सिद्ध करते हुए कहते हैं कि)— अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान में नाम (शब्द) युक्तता प्रकाशित नहीं होती, किन्तु नाम (वाचक शब्द) का केवल स्मरण होता है। और स्मरण मात्र से वह दूसरे पदार्थ को हटा देती है, जिस प्रकार अभाव के ज्ञान में प्रतियोगी का स्मरण दूसरे अभाव को हटा देता है। जाति आदि भी जिस प्रकार भावरूप द्रव्यादिकों से भिन्न पदार्थ है यह पूर्वग्रंथ में सिद्ध कर चुके ही हैं, अतः सविकल्पक प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय तथा अर्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न होने के कारण प्रमाण है यह सिद्ध होता है। यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष व्यवहार की प्रवृत्ति नहीं कराता अथवा व्यवहार का विषय नहीं होता इसमें क्या प्रमाण, ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो सविकल्पक ही इसमें प्रमाण है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञानरूप सविकल्पक ज्ञान होता है, और वह विशिष्टज्ञान विशेपण ज्ञान के विना उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान में विशेषण का ज्ञान, विशेष्य का इन्द्रिय से संनिकर्ष तथा विशेषण और विशेष्य का परस्पर में असम्बन्ध का अज्ञान कारण होता है॥ २॥

जिस गुणादि पदार्थ में जिस प्रकार ज्ञान होता है तथा जिस कारण से होता है उसे स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार कहते हैं—

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ॥ ३ ॥

ज्ञानान्तरान्निर्देष्टव्यं यत्प्रकारकं यद्विषयकं यद्धर्मकं तत्र ज्ञाननिर्देशे कर्त्तव्ये ज्ञानस्य निष्पत्तिविधिरुत्पत्तिप्रकार उक्तः-उच्यते इत्यर्थः । आदिकर्मणि क्तविधानात् ॥ ३ ॥

कीदृशो निष्पत्तिविधिस्तमाह—

गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यं कारणम् ॥४॥

गुणेषु रूपादिषु कर्मसु चोत्क्षेपणादिषु यज्ज्ञानं निष्पद्यते तत्र द्रव्यं कारणं योग्यद्रव्यनिष्ठमेव तदुभयं गृह्यत इति द्रव्ययोग्यतैव तत्र तन्त्रम्, सन्निकर्षश्च

पदपदार्थ—ज्ञाननिर्देशे = विशेष ज्ञान की विधि को कहने के लिये, ज्ञाननिष्पत्तिविधिः = ज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार, उक्तः=कहा गया ॥ ३ ॥

भावार्थ—किसी विशेषरूप से विषय, विशेषण तथा सम्बन्ध को विषय करने वाले ज्ञान का निरूपण करने के लिए ज्ञान के उत्पत्ति का प्रकार कहा जाता है ॥ ३ ॥

उपस्कार—एक दूसरे ज्ञान से निर्देश (निरूपण) के योग्य तथा जिस प्रकार (विशेषण) वाला एवं जिस धर्म को लेकर जिस विषय मे जो ज्ञान होता है उसमें ज्ञान का निर्देश करने के लिये ज्ञान के निष्पत्ति (उत्पत्ति) का विधि (प्रकार) 'उक्तः' उच्यते अर्थात् कहा जाता है यह सूत्र का अर्थ है, क्योंकि आदि कर्म में 'क्त' प्रत्यय होने का व्याकरण में विधान है ॥ ३ ॥

वह ज्ञान की उत्पत्ति का विधि किस प्रकार है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—गुणकर्मसु=गुण तथा कर्मपदार्थों में, सन्निकृष्टेषु=जो इन्द्रिय से संनिकृष्ट द्रव्यों में वर्तमान हों, ज्ञाननिष्पत्तेः = ज्ञान के उत्पत्ति का, द्रव्य = द्रव्य पदार्थ, कारणं = कारण है ॥ ४ ॥

भावार्थ—इन्द्रियों से परम्परा सम्बन्ध से संनिकृष्ट रूपादिगुण तथा उत्क्षेपणादि कर्मों का जो प्रत्यक्षरूप ज्ञान होता है उससे उन गुण तथा कर्मों के आश्रित द्रव्यों में प्रत्यक्ष होने की योग्यता होना ही तन्त्र (प्रयोजक) है, अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य द्रव्यों में वर्तमान गुण तथा क्रिया के प्रत्यक्षरूप ज्ञान की उत्पत्ति में प्रत्यक्ष योग्य द्रव्य कारण हैं ॥ ४ ॥

उपस्कार—रूप आदि गुण, तथा उत्क्षेपण आदि क्रियाओं का जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें द्रव्य कारण है, प्रत्यक्ष योग्य द्रव्यों में वर्तमान ही गुण तथा क्रिया का ग्रहण होता है । इस कारण द्रव्य की प्रत्यक्ष होने की योग्यता ही द्रव्य में वर्तमान गुण तथा क्रिया के प्रत्यक्ष होने में प्रयोजक है, किन्तु उन गुण तथा कर्मों का संनिकर्ष

तेषां द्रव्यघटित एव, संयुक्तसमवायेन तेषां ग्रहणात्। यद्यपि विषक्तचम्पकावयवकर्पूरभागानामयोग्यानां गन्धो गृह्यते, तथापि सन्निकर्षघटकं तत्रायोग्यमपि द्रव्यमेव। यद्यपि शब्दग्रहे द्रव्ययोग्यता न तन्त्रं, तथापि तत्रैव समवेतः शब्दो गृह्यत इति तदेव तन्त्रम्। नन्वदृष्टसन्निकर्षकल्पना कुतः क्रियते इति चेन्न, ज्ञाननिष्पत्तेः, कार्य्येण हि कारणमवश्यं कल्पनीयमिति भावः॥४॥

अपरं ज्ञाननिष्पत्तिविधिमाह—

सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावात्तत एव ज्ञानम्॥ ५ ॥

सामान्यं सत्ता तस्य विशेषा द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वानि एवमेतेषामपि सामान्यानां विशेषाः पृथिवीत्वादिरूपत्वाद्युत्क्षेपणत्वादीनि। तत्र द्रव्यगतानां सा-

---

द्रव्य को लेकर ही होता है, क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियों से संयुक्त द्रव्यों में गुण तथा क्रिया समवायसम्बन्ध से गृहीत होते हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष के अयोग्य कर्पूर के भागों को (जो चम्पा पुष्प के अवयवों से सम्बद्ध होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होते) सुगन्ध का ग्रहण होता है, तथापि उसमें भी घ्राण इन्द्रिय से संनिकर्ष के घटक (योजक) वहां भी प्रत्यक्ष के अयोग्य द्रव्य ही होते हैं। यद्यपि शब्द गुण के ग्रहण होने से उसके आधार आकाशद्रव्य में प्रत्यक्ष की योग्यता तो तन्त्र (कारण) नहीं है (क्योंकि आकाश का प्रत्यक्ष नहीं होता), तथापि उस आकाश में समवेत शब्द का ही ग्रहण होता है। इस कारण वही प्रयोजक है। 'इस प्रकार न दिखाई पड़नेवाले संनिकर्ष की कल्पना क्यों किया जाय ?' इस शंका का यह उत्तर है कि ज्ञान होता है इस कारण संनिकर्ष मानना आवश्यक है, क्योंकि कार्य होने से कारण अवश्य मानना होगा यह सूत्र का आशय है॥ ४॥

दूसरे ज्ञान के निष्पत्ति का प्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सामान्यविशेषेषु=द्रव्यत्वगुणत्व आदि सामान्य विशेषों में, सामान्यविशेषाभावात् = दूसरे सामान्य विशेषों के न होने के कारण, ततः एव = उसी (प्रत्यक्ष योग्य आधारविशेष) से, ज्ञानं = ज्ञान होता है॥ ५॥

भावार्थ—द्रव्यत्व गुणत्व आदि सामान्य के विशेषों में अनवस्था के भय के कारण दूसरे सामान्यविशेष न होने से प्रत्यक्ष योग्य आधारद्रव्य में रहने से ही सम्पूर्ण इन्द्रियों स ज्ञान होता है॥ ५॥

उपस्कार—सामान्य नाम सत्ता जाति, उसके द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व ये विशेष हैं, इसी प्रकार इन द्रव्यत्वादि सामान्यों के भी पृथिवीत्व, रूपत्व, उत्क्षेपणत्व ये विशेष हैं। उनमें से द्रव्यों में वर्तमान द्रव्यत्वादि सामान्यों का उसी ही प्रत्यक्षयोग्य द्रव्यरूप आश्रय के विशेष से ही सम्पूर्ण इन्द्रियों से ज्ञान होता है। और उसी प्रत्यक्षयोग्य द्रव्यरूप आश्रय के कारण होनेवाले संयुक्त समवायसम्बन्ध से गुण तथा

मान्यानां तत एव योग्याश्रयविशेषादेव तन्निबन्धनाच्च संयुक्तसमवायात् गुण-कर्मगतानामपि सामान्यानां तत एव योग्याश्रयादेव तन्निबन्धनाच्च संयुक्तस-मवेतसमवायात् समवेतसमवायाच्च सार्वेन्द्रियं ज्ञानम्,-गुणत्वे च संयुक्तस-मवेतसमवायात्, शब्दत्वकत्वादौ समवेतसमवायात्। सत्तायाः संयुक्त-समवायात् संयुक्तसमवेतसमवायात् समवेतसमवायाच्च सार्वेन्द्रियं ज्ञानम्। गुणत्वे च संयुक्तसमवायः समवायश्च न प्रत्यासत्तिरिति। ननु तत एव स्वाश्र-यसन्निकर्षादेवेत्यवधारणानुपपत्तिः, यतः सामान्ये विशेषेषु च पृथिवीत्वादिषु सामान्यविशेषान्तरमस्त्येव तत्सन्निकर्षोऽपि कारणमेवात आह—सामान्यवि-शेषाभावादिति। न हि सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषा वर्तन्ते, अनवस्था-प्रसङ्गात्। तेषां परस्परं भेदप्रतीतिः स्वरूपत एव, गवेतरावृत्तित्वे सति सकल-गोवृत्तित्वलक्षणोपाधिसम्भेदाद्वा। एवं घटत्वादावपीति ॥ ५ ॥

कर्मपदार्थों में वर्तमान गुणत्व, कर्मत्व आदि जातियों का ज्ञान भी उसी प्रत्यक्षयोग्य आश्रय होने से ही होता है। और उसी से इन्द्रिय संयुक्त द्रव्य में समवायसम्बन्ध से वर्तमान रूपादि गुणों में समवेत रूपत्वादि सामान्यों का भी सम्पूर्ण इन्द्रियों से ज्ञान मुख्य आश्रय द्रव्य के प्रत्यक्ष योग्य होने से ही होता है। (इसी का आगे विवरण शंकरमिश्र करते हैं)—इन्द्रियसंयुक्तद्रव्य में समवेत रूपादिगुणों में समवायसम्बन्ध से गुणत्व जाति का ग्रहण होता है, और शब्द में वर्तमान शब्दत्व सामान्य, एवं 'क-शब्दत्व' आदि विशेष जातियों को भी श्रोत्ररूप आकाश में समवायसम्बन्ध से वर्त-मान शब्द में समवायसम्बन्ध से रहने के कारण समवेतसमवाय से शब्दत्वादि जातियों का ज्ञान होता है। और सत्ता जाति को तो इन्द्रियसंयुक्त घटादि द्रव्यों में समवायसम्बन्ध से तथा इन्द्रियसंयुक्त घट में समवेतरूप में सत्ता जाति का समवाय होने से संयुक्त समवेत समवाय से, एवं श्रोत्र में समवेत शब्द में सत्ता जाति का समवेत समवायसम्बन्ध से, इस प्रकार सम्पूर्ण इन्द्रियों से ज्ञान होता है। गुणत्व जाति के ज्ञान में संयुक्तसमवाय तथा केवल समवाय ये दोनों संनिकर्ष (सम्बन्ध) नहीं होते। यदि उसी से अर्थात् अपने आश्रय के संनिकर्ष से ही ज्ञान होता है यह अवधारण (निश्चय) नहीं हो सकता, क्योंकि एक सामान्य में तथा पृथिवीत्व आदि विशेषों में भी दूसरे सामान्य तथा विशेष वर्तमान हैं, अतः उनको संनिकर्ष भी कारण होगा। इस शंका के समाधान के लिये सूत्रकार ने—सामान्यविशेषाभावात् सामान्यविशेष न होने से, यह हेतु दिया है, जिसका यह अर्थ है कि एक सामान्य विशेषों में दूसरे सामान्यविशेष नहीं रहते, क्योंकि ऐसा न मानने से अनवस्था दोष हो जायगा। अतः उन सामान्यविशेषों का परस्पर भेदज्ञान उनके स्वरूप से ही होता है। अथवा गौ से भिन्न में न रहते हुए सम्पूर्ण गोओं में वर्तमान होना रूप जाति भिन्न

ननु सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावाद्यथा तन्निरपेक्षमेव ज्ञानं तथा द्रव्यगुणकर्मस्वपि किं तन्निरपेक्षमेव ? नेत्याह—

सामान्यविशेषापेक्षं द्रव्यगुणकर्मसु ॥ ६ ॥

ज्ञानमुत्पद्यते इति प्रकृतम्। द्रव्यगुणकर्मसु द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वविशिष्टबुद्धिस्तावदस्ति. विशिष्टज्ञानञ्च विशेष्यविशेषणेन्द्रियसन्निकर्षादुत्पद्यते इति सामान्यविशेषापेक्षा तत्रावश्यकी। भवति हि द्रव्यमिदं गुणोऽयं कर्मेदमिति विशिष्टज्ञानमिति भावः ॥ ६ ॥

तत् किं द्रव्येऽपि सामान्यविशेषमात्रापेक्षमेव ज्ञानम् ? अत आह—

द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥ ७ ॥

धर्मरूप उपाधि भेद के रहने से गोत्वादिरूप सामान्यविशेषों का ज्ञान हो जायगा। इसी प्रकार घटत्व, पटत्व, आदि सामान्यविशेषों में भी जान लेना चाहिये ॥ ५ ॥

"एक सामान्यविशेष में दूसरे सामान्यविशेष के न रहने से जिस प्रकार सामान्यविशेष की अपेक्षा न कर ही ज्ञान होता है, उसी प्रकार द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों का भी ज्ञान विना द्रव्यत्व आदि सामान्यविशेषों की अपेक्षा के क्यों न माना जाय" इस पूर्वपक्षी की शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सामान्यविशेषापेक्षं = द्रव्यत्व गुणत्व, कर्मत्वरूप सामान्यविशेषों की अपेक्षा करनेवाला (ज्ञान होता है), द्रव्यगुणकर्मसु = द्रव्य, गुण तथा कर्मपदार्थों में ॥ ६ ॥

भावार्थ—विशिष्ट ज्ञान होने के कारण पृथिवी आदि द्रव्य,. रूप आदि गुण, तथा उत्क्षेपण आदि कर्मपदार्थों में द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व नामक सामान्यविशेष की आवश्यकता है, क्योंकि यह द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है ऐसा विशिष्ट ज्ञान होता है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र में ज्ञान उत्पन्न होता है यह प्रस्तुत है। द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थों में द्रव्यत्व, गुणत्व तथा कर्मत्व का विशिष्ट ज्ञान होता है, और यह विशिष्ट ज्ञान विशेष्य तथा विशेषण के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध होने से उत्पन्न होता है, इस कारण द्रव्यत्वादि सामान्य विशेषों की अपेक्षा आवश्यक है। क्योंकि यह 'द्रव्य है, यह गुण है, यह कर्म है, ऐसा विशिष्ट ज्ञान होता है यह सूत्र का भाव है ॥ ६ ॥

तो क्या द्रव्य में भी केवल द्रव्यत्वरूप सामान्यविशेष की अपेक्षा से ही ज्ञान होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्ये = पृथिवी आदि द्रव्यपदार्थ में, द्रव्यगुणकर्मापेक्षं=द्रव्यगुण, तथा कर्म पदार्थों की अपेक्षा से भी ज्ञान होता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—यह द्रव्य है इस द्रव्यत्व सामान्यविशेष की अपेक्षा करने वाली बुद्धि

ज्ञानमुत्पद्यते इति प्रकृतम्। घण्टावान् शुक्लो गौर्गच्छतीति ज्ञानम्। तत्र द्रव्यं घण्टा विशेषणम्, शुक्ल इति गुणः, गच्छतीति कर्म। तथाच नागृहीत-विशेषणा विशिष्टप्रतीतिर्न वा विशेषणसम्बन्धमन्तरेणेति भवति द्रव्यगुणक-र्मापेक्षेति भावः ॥ ७ ॥

तत् किं गुणकर्मणोरपि गुणकर्मापेक्षा ? नेत्याह—

गुणकर्मसु गुणकर्माभावाद् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते ॥ ८ ॥

ज्ञानमिति शेषः। गुणे गुणविशिष्टबुद्धेः कर्मसु कर्मविशिष्टबुद्धेरभावात् गुणकर्मापेक्षा न तद्वद्बुद्धिः। न हि गुणे गुणो, न वा कर्मसु कर्म, येन तत्र विशेषणत्वेन भासेतेति भावः ॥ ८ ॥

के समान 'यह घंटावाली श्वेत गौ जा रही है' इत्यादि घंटारूप द्रव्य, शुक्ल वर्ण-रूप गुण तथा गमनरूप क्रिया को भी लेकर ज्ञान होता है अतः द्रव्य ज्ञान में सामान्यविशेष के समान द्रव्य, गुण तथा कर्म की भी अपेक्षा से ज्ञान होता है।

उपस्कार—इस सूत्र में ज्ञान उत्पन्न होता है, यह प्रस्तुत है। (अर्थात् द्रव्य में द्रव्य गुण तथा कर्म की अपेक्षा से ज्ञान होता है ऐसा अर्थ जानना)। क्योंकि 'यह घंटा वाली श्वेत वर्ण की गाय गमन कर रही है' ऐसा ज्ञान होता है। इसमें घंटारूप द्रव्य गौ में विशेषण है, शुक्लरूप गुण तथा गमन करती है इसमें गमन क्रिया भी गौ में विशेषण है। ऐसा होने से विशेषण के ज्ञान के बिना विशिष्ट ज्ञान नहीं होता अथवा विशेषण के सम्बन्ध के बिना नहीं होता। इस कारण सामान्यविशेष के समान द्रव्य, गुण तथा कर्म की भी अपेक्षा होती है यह सूत्र का आशय है ॥ ७ ॥

तो क्या द्रव्य के समान गुण तथा कर्म के ज्ञान में भी गुण और कर्म की अपेक्षा होती है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं, नहीं—

पदपदार्थ—गुणकर्मसु = गुण और कर्मपदार्थों में, गुणकर्माभावात् = गुण तथा कर्म के न रहने से, गुणकर्मापेक्षं = गुण और कर्म की अपेक्षा करने वाला, न विद्यते = ज्ञान नहीं होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—गुण में गुणविशिष्ट ज्ञान तथा कर्म में कर्मविशिष्ट ज्ञान के न होने से गुण तथा कर्म पदार्थ में गुण तथा कर्म की अपेक्षा रखनेवाला ज्ञान नहीं होता ॥ ८ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित 'ज्ञानं' इस पद का शेष भाग पूर्ण करना। गुण-पदार्थ में गुणविशिष्ट ज्ञान के तथा कर्मपदार्थ में कर्मविशिष्ट ज्ञान के न होने के कारण गुण तथा कर्मपदार्थ में गुण तथा कर्म की अपेक्षा रखनेवाली बुद्धि नहीं होती, क्योंकि गुण में गुण, अथवा कर्मपदार्थ में कर्म नहीं रहता, जिससे विशेषण-रूप से गुण तथा कर्म का भान (ज्ञान) हो यह सूत्र का आशय है ॥ ८ ॥

ननु गुणकर्मणोः स्फुरणाद् गुणबुद्धौ कर्मबुद्धौ च कथं न गुणकर्मापेक्षेत्याशङ्क्य प्रकरणान्तरमारभते—

समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते एते कार्य्यकारणभूते ॥

समवायिन इत्यभिधानात् सम्बन्धस्य कारणतामाह, तथाच गुणे गुणसमवायाभावात् कर्मसु कर्मसमवायाभावाच्च न तत्तज्ज्ञाने गुणकर्मापेक्षा विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन त्वस्त्येव। एवञ्च श्वेतः शङ्ख इत्यादिप्रतीतौ श्वैत्यसमवायस्य श्वैत्यगुणस्य श्वैत्यविशेषणज्ञानस्य च कारणत्वमित्युक्तम्, तथा च विशेषणसम्बन्धविशेषणतज्ज्ञानानां विशिष्टप्रत्यक्षप्रमां प्रति कारणत्वमिति, तेन पूर्वोक्तं सर्वं सिध्यति ॥ ९ ॥

ननु यथा घण्टावानित्यत्र द्रव्यापेक्षं द्रव्यज्ञानम्, तथाऽयं स्तम्भः अयं

'गुण तथा क्रिया का स्फुरण (ज्ञान) होने से गुण के ज्ञान में तथा कर्म के ज्ञान में भी गुण तथा कर्म की अपेक्षा क्यों न होगी ?' इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—समवायिनः = समवायसम्बन्ध से वर्तमान, श्वेत्यात् = श्वेतगुण से, श्वैत्यबुद्धेः च = और श्वैत्य ज्ञान से भी, श्वेते = श्वेत द्रव्य में, बुद्धिः = ज्ञान होता है। ते एते=वे ये दोनों कार्यकारणभूते=कार्य तथा कारणरूप हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—'श्वेत शंख है' इत्यादि ज्ञान में श्वेततागुण का समवायसम्बन्ध, श्वेततारूप गुण, श्वेतता विशेषण ज्ञान भी कारण है, ऐसा होने से विशेषण का सम्बन्ध विशेषण और उसका ज्ञान यह तीनों विशिष्ट प्रत्यक्षरूप यथार्थ ज्ञान में कारण हैं जिससे पूर्वोक्त सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'समवायिनः' समवायसम्बन्ध के सम्बन्धी इस कथन से समवायसम्बन्ध को कारण कहा गया है, ऐसा होने से गुणपदार्थ में गुण का समवायसम्बन्ध न होने से, तथा कर्मपदार्थ में कर्म का समवाय न होने के कारण भी उस ज्ञान में गुण तथा कर्म की विशेषणरूप से अपेक्षा नहीं है, विशेष्यरूप से है ही ऐसा होने से 'श्वेत शंख है' इत्यादि ज्ञान में श्वेत गुण का समवाय, श्वेततारूप गुण तथा श्वेततारूप विशेषण का ज्ञान भी कारण है यह कहा गया है, ऐसा होने से विशेषण का सम्बन्ध, विशेषण तथा विशेषण का ज्ञान ये तीनों विशिष्ट प्रत्यक्ष के यथार्थ ज्ञान में कारण हैं ऐसा होने से पूर्वोक्त संपूर्ण सिद्ध होता है, अर्थात् गुण तथा कर्म बुद्धि मे गुण कर्म की अपेक्षा नहीं होती, यह सिद्ध हो जाता है ॥ ९ ॥

जिस प्रकार 'घंटावली गौ है इस ज्ञान मे घंटारूप द्रव्य की विशेषणरूप से अपेक्षा करने वाले गौ का ज्ञान होता है, उसी प्रकार 'यह स्तम्भ है, यह कलश है'

कुम्भ इत्यादावपि द्रव्याविशेषणकबुद्धौ द्रव्यबुद्धिः कारणम, तथाच क्वापि प्रथमतो द्रव्यबुद्धिर्न स्यादित्यत आह—

द्रव्येष्वनितरेतरकारणाः ॥ १० ॥

बुद्धय इति शेषः। स्तम्भज्ञानानन्तरकालीनमपि कुम्भज्ञानं न स्तम्भज्ञानकार्यं स्तम्भस्य कुम्भं प्रति विशेषणत्वायोगात् ॥ १० ॥

ननु घटपटादिबुद्धीनां क्रमो दृश्यते, क्रमश्च कार्यकारणभावघटित एवेत्यत आह—

कारणायौगपद्यात् कारणक्रमाच्च घटपटादिबुद्धीनां क्रमो न हेतुफलभावात् ॥ ११ ॥

इत्यादिक भी द्रव्य को विशेषण न करनेवाले ज्ञानों में भी द्रव्यबुद्धि कारण है, ऐसा होने से कहीं भी प्रथम में द्रव्यबुद्धि न होगी इस शंका के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्येषु = द्रव्यपदार्थों में, अनितरेतरकारणाः = परस्परकारणता न रखने वाली (बुद्धि होती हैं) ॥ १० ॥

भावार्थ—स्तम्भज्ञान के पश्चात् होनेवाले भी कलशज्ञान में स्तम्भज्ञान कारण नहीं हैं, क्योंकि स्तम्भ कुंभ का कारण नहीं है, अतः द्रव्यों में परस्पर कारणता न रखने वाली बुद्धि होती है ॥ १० ॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित 'बुद्धयः' बुद्धियां होती हैं इस पद के शेषभाग की पूर्ति करना। स्तम्भज्ञान के पश्चात् काल में भया हुआ भी कलश का ज्ञान स्तम्भ के ज्ञान का कार्य नहीं है, क्योंकि स्तम्भ, कलश में विशेषण (कारण) नहीं है ॥ १० ॥

'घट, पट इत्यादि विषयों के ज्ञान का क्रम दिखाई पड़ता है, और वह क्रम कार्यकारणभाव होने से ही हो सकता है' इस पूर्वपक्षी की शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—कारणायौगपद्यात्=कारण के एक काल में न होने से, कारणक्रमात् च = उन कारण के क्रम से भी, घटपटादिबुद्धीनां = घट, पट आदि विषयों के ज्ञानों का, क्रमः = क्रम होता है, न = नहीं होता, हेतुफलभावात्=कारण कार्य भाव होने से ॥ ११ ॥

भावार्थ—कारणों के युगपत् न होने के कारण, कारण के क्रम से ही घटादि विषय के ज्ञानों का क्रम होता है नकि परस्पर कार्यकारणभाव होने से ॥ ११ ॥

कारणक्रमाधीनो घटपटादिबुद्धीनां क्रमो, न हेतुफलभावाधीनः। कारणक्रम एव कथमत आह—कारणायौगपद्यादिति। बुद्धीनां यौगपद्यं प्रतिषिद्धमतो नानाबुद्धिकारणानामपि न यौगपद्यम्, यदि तु कारणयौगपद्यं भवेत्तदा कार्ययौगपद्यमप्यापद्येत. तथाच युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति बहु भज्येतेति भावः ॥ ११ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारेऽष्टमाध्यास्य प्रथमाह्निकम्।

उपस्कार—कारणों के क्रम के अधीन घट, पट आदि विषय ज्ञानों का क्रम होता है न कि परस्पर घटादिकों के कारण कार्यभाव के अधीन। 'कारणों का क्रम ही कसे होता है' इस प्रश्न पर सूत्रकार कहते हैं—'कारण के युगपत् न होने से' ऐसा। ज्ञान एक काल में होते हैं यह खण्डित हो चुका है, अतः अनेक ज्ञानों के कारणों का भी एक काल में होना निषिद्ध है, यदि कारण एक काल मे हों तो कार्य भी एक काल में होंगे, ऐसा होने से एक काल में अनेक ज्ञानों का न होना मन का साधक लिङ्ग है इत्यादि पूर्वोक्त सभी सिद्धान्त असंगत हो जायेगा यह सूत्र का आशय है ॥ ११ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्र कृत उपस्कार व्याख्या में अष्टमाध्याय
प्रथमाह्निक समाप्त हुआ।

अष्टमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

प्रात्यक्षिकस्य सविकल्पकस्य निर्विकल्पकस्य च ज्ञानस्य निष्पत्तिविधिमभिधायेदानीं विशिष्टवैशिष्ट्यप्रत्यक्षमभिधातुमेकदेशमाह—

अयमेष त्वया कृतं भोजयनमिति बुद्ध्यपेक्षम् ॥ १ ॥

सन्निकृष्टे वस्तुनि तावदयमिति बुद्धिरुत्पद्यते, विप्रकृष्टे च वस्तुन्येष इति क्रियायां स्वतन्त्रोऽयमिति बुद्धिमपेक्ष्य त्वयेति कर्तृत्वोपरक्ता बुद्धिः। कारणव्यापारविषयत्वबुद्धिमपेक्ष्य कृतमिति कर्मबुद्धिः। अयं भुजिक्रियायां कर्त्ता प्रयोजकश्चायमिति बुद्धिमपेक्ष्य भोजयेति। नियोज्यनियोक्तृव्यापारस्य विषयोऽयमिति बुध्यपेक्षमेनमिति। एवमन्यदपि बुद्ध्यपेक्षमूहनीयम् ॥ १ ॥

सविकल्पक तथा निर्विकल्पक दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति की विधि को निरूपण कर, सांप्रत विशिष्ट वैशिष्टच (विशिष्टज्ञान के विशेषण तथा विशेष भाव विषय करने वाले) प्रत्यक्ष का निरूपण करने के लिये उसके एकदेश (एक भाग) को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अयं=यह है, एषः = वह है, त्वया=तुमने, कृतं=किया है, भोजय = भोजन कराओ, एनं = इसे, इति=यह सम्पूर्ण, बुध्यपेक्षं = बुद्धि की अपेक्षा करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—समीप के मनुष्य में यह है, इसके पुरुष में वह है, तुमने किया यह स्वतन्त्रकर्ता-विषयक ज्ञान, यह भोजन कर्ता है, यह भोजन का प्रयोजक है, इस बुद्धि की अपेक्षा से भोजन कराया—यह ज्ञान, यह नियोग करने योग्य तथा नियोग कर्ता का विषय है इस ज्ञान की अपेक्षा से 'एनं' इसे ऐसी बुद्धि होती है ॥ १ ॥

उपस्कार—संनिहित प्राणिरूप पदार्थ में 'अयम्' 'यह है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, और दूरस्थ प्राणी आदि पदार्थ में 'एषः' 'वह है' ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है। क्रिया में यह स्वतन्त्र है इस ज्ञान की अपेक्षा से 'त्वया' 'तुमने' ऐसी कर्ता के सम्बन्ध से बुद्धि होती है (अर्थात् किसी क्रिया के सिद्ध होने में कारक में जो प्रधानरूप पदार्थ होता है, वह स्वतन्त्र होता है उसका ज्ञान कर्ता के ज्ञान में कारण है, क्योंकि 'स्वतन्त्रः कर्ता' स्वतन्त्र को कर्ता कहते हैं—ऐसा व्याकरण का नियम है। कारण के व्यापार के विषय है इसी बुद्धि की अपेक्षा से 'कृतं' 'किया गया' ऐसी कर्म की बुद्धि होती है। यह प्राणी भोजन क्रिया में कर्ता है और यह उसका प्रयोजक (प्रेरक) है इस बुद्धि की अपेक्षा से 'भोजय' 'भोजन कराओ' ऐसा ज्ञान होता है। नियोज्य (आज्ञा के योग्य) तथा नियोजक (आज्ञा देनेवाले) क व्यापार का यह विषय है इस बुद्धि की अपेक्षा से 'एनं' 'इसे' यह कर्म का ज्ञान

अन्वयव्यतिरेकपरिच्छेद्यमेवैतदित्याह—

दृष्टेषु भावाददृष्टेष्वभावात् ॥ २ ॥

यदाऽयमितिबुद्धेः सन्निकृष्टो विषयः, एष इति बुद्धेर्विप्रकृष्टोऽपि बुद्ध्यारूढो विषयः, त्वयेतिबुद्धेः सन्निकृष्टः कर्त्ता विषयः, कृतमिति बुद्धेः कर्म विषयः, भोजयेतिबुद्धेर्नियोज्यनियोक्तारौ विषयौ, एनमितिबुद्धेस्तदुभयव्यापारो विषयः, सन्निकृष्टो भवति तदैतादृशो बुद्धिरुत्पद्यते, अदृष्टेषु तु विषयेषु नैता बुद्धयः प्रादुर्भवन्तीत्यन्वयव्यतिरेकगम्यमेवैतदित्यर्थः ॥ २ ॥

इदानीं प्रकरणान्तरमारभते—

होता है (अर्थात् विशिष्ट के विशेष्य तथा विशेषण भाव को विषय करने वाले प्रत्यक्ष में विशेषण का तथा विशेष्य का भी ज्ञान कारण होता है इस कारण सूत्रकार ने इन सम्पूर्ण बुद्धियों का इस सूत्र में वर्णन किया है) ॥ १ ॥

यह प्रथम सूत्र में कहा हुआ अन्वय तथा व्यतिरेक से जानने योग्य ही है, यह सूत्रकार द्वितीय सूत्र में कहते हैं—

पदपदार्थ—दृष्टेषु = प्रत्यक्ष किये संनिहित प्राणी आदि पदार्थों में, भावात्= यह है इत्यादि बुद्धि के होने से, अदृष्टेषु = अप्रत्यक्ष प्राणी आदिकों में, अभावात्= उक्त बुद्धि के न होने से ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रथम सूत्र में वर्णित 'अयं, एषः' 'यह है, वह है' इत्यादि ज्ञान प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थों में होता है। इस अन्वय के ज्ञान तथा प्रत्यक्ष न होनेवाले प्राणि आदि पदार्थों में यह है, वह है, इत्यादि ज्ञान नहीं होता—इस व्यतिरेक के ज्ञान से जाना जाता ही है यह सूत्र का आशय है ॥ २ ॥

उपस्कार—जिस समय 'अयं यह है' इस ज्ञान का संनिहित प्राणी विषय होता है, तथा 'एषः वह है' इस ज्ञान का इसमें रहनेवाला भी प्राणी बुद्धि में आरूढ 'विषय' होता है, और 'त्वया तुमने' इस ज्ञान का संनिहित कर्ता विषय होता है, एवं 'कृतं किया' इस ज्ञान का कर्म विषय होता है, तथा 'भोजय भोजन कराओ' इस ज्ञान के नियोज्य (आज्ञा देने योग्य तथा नियोक्ता (आज्ञा देनेवाले) दोनों विषय होते हैं, इस प्रकार 'एनं' इसे इस ज्ञान का उक्त नियोज्य तथा नियोक्ता दोनों का व्यापार विषय संनिहित प्रत्यक्ष होता है उस समय ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, और प्रत्यक्ष न होनेवाले उक्त विषयों में वह सब ज्ञान नहीं होते यह प्रदर्शित अन्वय तथा व्यतिरेक ज्ञान ही जाना जाता है यह सूत्र का अर्थ है ॥ २ ॥

संप्रति दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु ॥ ३ ॥

एतेषां द्रव्यगुणकर्मणामर्थ्यमानत्वं तेन तेन विधिनोक्तम्, तेन तेषु त्रिषु वैशेषिकाणामर्थ इति परिभाषा, अर्थपदेन त्रयाणामुपस्थितेः। तदुक्तं–प्रशस्तदेवाचार्यैः "त्रयाणामर्थशब्दाभिधेयत्वञ्च" इति ॥ ३ ॥

प्रकरणान्तरमवतारयति—

द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम् ॥ ४ ॥

द्रव्येष्विति द्रव्यपदार्थनिरूपणप्रकरणमुपलक्षयति। प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणामित्यादिसूत्रेण शरीरादीनां पंचात्मकत्वं पंचभूतात्मकत्वं प्रतिषिद्धं निराकृतम्।

पदपदार्थ—अर्थः=अर्थ हैं, इति = ऐसी (संज्ञा है), द्रव्यगुणकर्मसु=द्रव्य गुण तथा कर्म पदार्थों में ॥ ३ ॥

भावार्थ—उक्त ग्रन्थों में द्रव्य, गुण, तथा कर्म अर्थ शब्द से कहे जाते हैं ऐसा वर्णित होने से वैशेषिकों की द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीन ही पदार्थों में 'अर्थ' यह पारिभाषिक संज्ञा है यह सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

उपस्कार—इन पूर्वोक्त द्रव्य, गुण तथा कर्म पदार्थों में अर्थ्यमानत्व (शब्द से वाच्य होना) उस-उस विधि से कहा गया है, इस कारण उन तीन पदार्थों में ही वैशेषिकदर्शनकारों की 'अर्थ' यह परिभाषा (सांकेतिक नाम) है, क्योंकि अर्थ कहने से द्रव्य, गुण तथा कर्म इन तीनों की ही उपस्थिति होती है वह यह प्रशस्तपादाचार्य ने भी त्रयाणाँ = द्रव्य गुण तथा कर्म इन तीनों का, अर्थशब्दाभिधेयत्वम् च=अर्थ शब्द से कहा जाना भी (साधर्म्य है)। ऐसा साधर्म्य प्रकरण के प्रशस्तपादभाष्य में कहा है ॥ ३ ॥

सूत्रकार दूसरे प्रकरण का अवतरण करते हैं—

पदपदार्थ—द्रव्येषु=द्रव्य पदार्थ के निरूपण प्रकरण में, पंचात्मकत्वं=मनुष्यादि शरीरों में पंचात्मकत्वं = पंचमहाभूतरूप होना, प्रतिषिद्धं = निषेध किया है ॥४॥

भावार्थ—द्रव्य पदार्थों के निरूपण के प्रकरण में 'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां' इत्यादि सूत्र में मनुष्यादि शरीर पंचमहाभूतरूप वेदान्तिमत के समान है इस विषय का खण्डन किया गया है जिससे घ्राणादि इन्द्रियों में भी अनेक कारणों से उत्पत्ति नहीं होती जिससे एक-एक इन्द्रिय से अपने-अपने गुणों का ही ग्रहण होता है यह सिद्ध होता है यह आगे के सूत्र में कहेंगे ॥ ४ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'द्रव्येषु' इस पद से द्रव्य पदार्थ के निरूपण का प्रकरण सूचित होता है। 'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां' (अ० ४, आ० २ सू० २) प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्षों का संयोग अप्रत्यक्ष होने से मनुष्यादि शरीर पंचमहाभूतरूप नहीं है

यथा शरीरस्य न नानाप्रकृतिकत्वं तथा वक्ष्यमाणानां घ्राणादीनामिन्द्रियाणामपि। तेन तेषां प्रतिनियतगुणग्राहकत्वं सिद्ध्यतीति भावः ॥ ४ ॥

यदर्थमिदमारब्धं तदाह—

भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः ॥५॥

गन्धो ज्ञायतेऽनेनेति गन्धज्ञानं घ्राणन्तत्र पृथिवी पृथिवीमात्र प्रकृतिः उपादानकारणम्। कुत एतदित्यत आह-गन्धवत्त्वात्। न हि गन्धवत् निर्गन्धेनारभ्यते इत्युक्तम्। गन्धवत्त्वं च बहिरिन्द्रियाणां ग्राह्यजातीयगुणवत्त्वनियमात् सिद्धम्। तर्हि पार्थिवत्वाविशेषेऽपि शरीरावयवान्तराणां न गन्धव्यञ्जकत्वं किन्तु घ्राणस्यैवेति कुतो नियम इत्यत आह-भूयस्त्वादिति। इतरद्रव्यानभिभूतैः

इस सूत्र से शरीरादिकों में पंचमहाभूतरूपता का प्रतिषेध अर्थात् निराकरण किया है। जिस प्रकार शरीर अनेक प्रकृति (कारण) वाला नहीं है उसी प्रकार आगे कहे जानेवाले घ्राण आदि इन्द्रियों में अनेकप्रकृतिता नहीं है। इससे उन घ्राणादि इन्द्रियों में अपने-अपने नियत गन्ध आदि गुणों का ग्रहण करना सिद्ध होता है यह सूत्र का भाव है ॥ ४ ॥

जिस लिये यह प्रकरण आरम्भ किया उसे सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—भूयस्त्वात् = अपने ही अवयवों से उत्पन्न होने से, गन्धवत्त्वात् च = और गन्धाधारता होने से भी, पृथिवी = घ्राणेन्द्रिय में पृथिवी द्रव्य, गन्धज्ञाने=गन्ध गुण के ज्ञान में, प्रकृतिः=कारण है ॥ ५ ॥

भावार्थ—घ्राणरूप इन्द्रिय में गन्धाधारता होने से केवल पृथिवी द्रव्य ही समवायिकारण है। तथा जलादि द्रव्य के अवयवों से रहित केवल पार्थिव परमाणुरूप अवयवों से उत्पत्तिरूप भूयस्त्व (अधिकता) से और दूसरे शरीर के अवयव पार्थिव होने पर भी गन्ध के व्यञ्जक (प्रकाशक) नहीं होते, किन्तु घ्राणरूप इन्द्रिय ही गन्ध का व्यञ्जक होता है ॥ ५ ॥

उपस्कार—गन्धनामक गुण जिससे जाना जाता है वह गन्धज्ञान इस व्युत्पत्तिबल से घ्राण इन्द्रिय इस सूत्र के 'गन्धज्ञाने' इस पद का अर्थ है, उसमें पृथिवी अर्थात् केवल पृथिवी ही प्रकृति अर्थात् उपादान (समवायि) कारण है। 'ऐसा क्यों ?' इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने 'गन्धत्त्वात्' गन्धाधार होने से यह हेतु दिया है। गन्धाश्रय कार्य गन्धरहित कारण से उत्पन्न नहीं होता यह कह चुके हैं। और वह गन्धादिगुणाधारता घ्राण आदि इन्द्रियों में अपने से गृहीत होनेवाले गन्धादि गुण की आधारता के नियम से सिद्ध होती है। 'यदि ऐसा है तो पार्थिवता समान होने पर भी दूसरे शरीर के हस्तपादादि अवयव गन्ध गुण को क्यों नहीं ग्रहण करते किन्तु केवल घ्राणेन्द्रिय ही गन्ध को ग्रहण करती है यह नियम क्यों ?' इस प्रश्न के समाधानार्थं सूत्रकार हेतु देते हैं—"भूयस्त्वात्" अधिकता होने से। पृथिवी से

पार्थिवावयवैरारब्धत्वमेव भूयस्त्वम्। पारिभाषिकं चैतद् भूयस्त्वं समानतन्त्रेऽपि ॥ ५ ॥

इन्द्रियान्तरेऽप्येतदतिदिशति—

तथापस्तेजोवायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात् ॥ ६ ॥

रसनचक्षुस्त्वगिन्द्रियाणां प्रकृतिरिति शेषः। तेन यथासंख्यं रसनादीनामबादयः प्रकृतयः, तत्तत्प्रतिनियतार्थग्राहकत्वात्। अत्रापि नियमे भूयस्त्वमेव तन्त्रम्। रसादिमत्त्वे च रसनादीनां ग्राह्यजातीयविशेषगुणवत्त्वनियम एव प्रमाणमित्युक्तम्। एवञ्च विशिष्टादृष्टोपगृहीतकर्णशष्कुल्यवच्छिन्नो नभोदेश एव श्रोत्रम् ॥ ६ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारेऽष्टमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

समाप्तश्चायमष्टमोऽध्यायः।

भिन्न जलादि द्रव्यो से अनभिभूत (न दबाये हुए) पार्थिव द्रव्य के अवयवों से उत्पन्न होना ही भूयस्त्वहाता है। यह वैशेषिकों की पारिभाषिक (सांकेतिक) भूयस्त्व न्यायमतरूप समान शास्त्र में भी वात्स्यायन महर्षि ने कहा है ॥ ५ ॥

दूसरे इन्द्रियों में भी इस विषय की समानता को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा = वैसे ही है, आपः = जल, तेजः = तेज, वायुः च=और वायु भी, रसरूपस्पर्शाविशेषात् = रस, रूप तथा स्पर्श के विशेष से ॥ ६ ॥

भावार्थ—रस, रूप तथा स्पर्श की विशेषता से जल, तेज और वायु द्रव्य क्रम से रसनेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय तथा त्वगिन्द्रिय की प्रकृति (कारण) है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित 'रसनेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय तथा त्वगिन्द्रिय की प्रकृति हैं' ऐसा शेष भाग पूर्ण करना। इससे संख्या के अनुसार रसनेन्द्रियादिकों के जलादि द्रव्य प्रकृति हैं, क्योंकि अपने-अपने व्यवस्थित (प्रतिनियत) अर्थ (विषय) को ग्रहण करते हैं। इस नियम में भी पूर्व सूत्रों के भूयस्त्व ही कारण है। और रसनेन्द्रियादिकों के रस आदि गुणाधार होने से अपने से गृहीत होने वाले विशेष गुणों की आश्रयता का नियम ही प्रमाण है यह कहा गया है। ('सूत्र में शब्द गुण का ग्रहण क्यों नहीं किया"। इस प्रश्न के समाधानार्थ शंकर मिश्र कहते हैं कि)—ऐसा होने से विशेष शब्द भोगयोग्य अदृष्ट से सम्बद्ध शष्कुली (गुझियां) रूप कर्ण से युक्त आकाश प्रदेश ही श्रोत्र इन्द्रिय होता है। अर्थात् यद्यपि श्रोत्र इन्द्रिय रूप है तथापि नित्य होने के कारण शून्य होने के कारण शब्द का सूत्रकार ने सूत्र में ग्रहण नहीं किया ॥ ६ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्रकृत वैशेषिक सूत्रों की उपस्कार व्याख्या में अष्टमाध्याय का द्वितीयाह्निक समाप्त हुआ। और अष्टमाध्याय भी समाप्त हुआ।

नवमाध्याये प्रथमाह्निकम् ।

संयोगसमवायान्यतरसन्निकर्षजलौकिकप्रत्यक्षनिरूपणानन्तरं तदितरप्रत्यासत्तिजन्यलौकिकप्रत्यक्षव्युत्पादनफलकं नवमाध्यायमाह—

क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् ॥ १ ॥

कार्यमिति शेषः । प्रागिति कार्योत्पत्तेः प्राक् कार्यं घटपटादि असत् तत्कालीनस्वजनकाभावप्रतियोगीत्यर्थः । अत्र हेतुः क्रियागुणव्यपदेशाभावात् । यदि तदानीमपि कार्यं घटादि सदेव स्यात् तदा क्रियावत्त्वेन गुणवत्वेन च व्यपदिश्येत, यथोत्पन्ने घटे घटस्तिष्ठति घटश्चलति रूपवानयं दृश्यते घट इत्यादिप्रका

संयोग तथा समवाय इन दोनों में किसी एक संनिकर्ष से उत्पन्न लौकिक प्रत्यक्ष के वर्णन के पश्चात् इससे भिन्न संनिकर्ष से उत्पन्न लौकिक प्रत्यक्ष का व्युत्पादन (वर्णनरूप) विशेषणविशेष्यभाव फल वाले नवमाध्याय का प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं (यहां पर महर्षि कणादमुनि के मत में अभाव पदार्थ नहीं है इस अपसिद्धान्त (सिद्धान्त विरुद्ध) के निरास के लिये अभाव के निरूपण करने वाले सूत्र की व्याख्या के लिये आरम्भ करते हुए शंकरमिश्र ने 'तदितर' ऐसा कहा है, जिससे विशेष्य-विशेषणभाव नामक संनिकर्ष से अभाव का प्रत्यक्ष होता है यह तात्पर्य निकलता है)—

पदपदार्थ—क्रियागुणव्यपदेशाभावात् = क्रिया तथा गुण का व्यवहार न होने से, प्राक् = कार्य की उत्पत्ति के पूर्व, असत् = कार्य नहीं था (इस प्रतीति से प्राग भाव सिद्ध होता है)।

भावार्थ—कार्य घटादिक उत्पत्ति के पूर्व भी यदि वर्तमान होता तो उत्पन्न हुये घट के समान उससे भी क्रिया तथा गुण का व्यवहार होता, और होता तो नहीं अतः यह सिद्ध होता है कि उत्पत्ति के पूर्व घट नहीं था यह चार प्रकार के अभाव में से प्रागभावनामक प्रथम अभाव है ॥ १ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित 'कार्य' कार्य है ऐसा शेष भाग पूर्ण करना । सूत्र के 'प्राग्' पूर्व इस शब्द का अर्थ है कार्य के उत्पत्ति के पूर्व घट, पट आदि कार्य असत् है, अर्थात् उस काल के घटादि कार्य के जनक घटप्रागभाव का घट आदि कार्य प्रतियोगी है यह अर्थ है । इसमें सूत्रकार हेतु देते हैं—क्रियागुणद्रव्यपदेशाभावात् = क्रिया तथा गुण का व्यवहार न होने से । यदि उत्पत्ति के पूर्व काल में भी घटादि कार्य सांख्यमत से सत् ही हो तो उस समय में भी क्रिया के तथा गुण के आश्रय रूप से भविष्य असत् घटादि कार्य में भी व्यवहार होने लगेगा, जिस प्रकार उत्पन्न

रेण व्यपदिश्यते न तथोत्पत्तेः प्रागपि व्यपदेशोऽस्ति। तेन गम्यते तदानीमसन्निति। स च व्यूह्यमानेषु वीरणेषु योज्यमानेषु तन्तुषु चक्रारूढायां मृदि कुलालादिव्यापारेषु अनुवर्त्तमानेषु भविष्यत्यत्र कटः पटो घटो वेति सार्वलौकिकी प्रत्यक्षप्रतीतिः, चक्षुर्विस्फारणानन्तरं जायमानत्वात्। न च संयोगसमवायान्यतरघटिता प्रत्यासत्तिरत्र प्रभवति, तस्मादिन्द्रियसम्बद्धविशेषणता प्रत्यासत्तिरत्र तन्त्रम्। ननु चान्योन्याश्रयः सत्यां विशेषणतायां तत्प्रतीतिः प्रतीतौ च विशेषणतेति चेन्न, विशेषणता हि तदुभयस्वरूपमेव उपश्लिष्टप्रत्ययजननयोग्यम्। तच्च प्रतीतेः पूर्वमपि सदेव, तदुक्तं न्यायवार्त्तिके—"समवायेऽभावे च विशेषणविशेष्यभावः" इति। स चायं प्रागभावः प्रतियोगिजनकः, न हि घटे जाते स एव घटस्तदानीमेवोत्पद्यते तत्र कारणान्तरसत्त्वेऽपि कारणवैक-

---

हुये घटादि कार्य में घट स्थित है, घट चलता है, यह घट रूपाधार है, घट दिखाता है इत्यादि प्रकार के व्यवहार होते हुए दिखाता है, वैसे घटादिकों की उत्पत्ति के पूर्व समय में उक्त व्यवहार नहीं होते, इससे सिद्ध होता है कि उत्पत्ति के पूर्व घटादि कार्य द्रव्य असत् है, ऐसा हेतु का अर्थ है। और वह प्रागभाव जिस समय कट (चटाई) के वीरण (तृण विशेष) रचे जाते हैं, तथा सूत्र चरखे पर चढा रहता है, एवं चक्र पर मट्टी का ढोंका रक्खा रहता है, कुम्भकार (कुंहार) जुलाहा आदिकों का अपने-अपने कपड़ा, घटादि कार्य की उत्पत्ति में अनुकूल व्यापार होता रहता है, उस समय यहां कट (चटाई) बनेगी, कपड़ा बनेगा, घट बनेगा, इस प्रकार संपूर्ण लोगों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय (आँख) के खोलते ही उक्त अनुभव प्राणिमात्र को होता है। घट होगा, भूतल में घट नही है इत्यादि ज्ञानों में चक्षुरिन्द्रिय से संयुक्त भूतल से घट के अभाव का संयोग अथवा समवाय इन दोनों में से किसी एक को लेकर संनिकर्ष यहां नहीं हो सकता। इस कारण इन्द्रिय से सम्बद्ध भूतल में अभाव विशेषण अथवा विशेष्य होने से विशेषण-विशेष्यभाव रूप ही संनिकर्ष अभाव ज्ञान में प्रयोजक है। "यदि विशेषणता के होने पर ही अभाव का ज्ञान होगा और उसके ज्ञान से ही अभाव में विशेषणता होगी इस कारण अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा" ऐसी पूर्वपक्षी यहां पर शंका नहीं कर सकता, क्योंकि विशेषणता उपश्लिष्ट (विशिष्ट सम्बन्धों की) प्रतीति की योग्यता होना ही उन विशेषण तथा विशेष्य दोनों के स्वरूप हैं। दूसरे वह विशेषण तथा विशेष्ययुक्त विशिष्ट ज्ञान के पूर्व भी वर्तमान ही है, इसी कारण भारद्वाज उद्योतकरने न्यायवार्तिक में 'समवायेऽभावे च विशेषणविशेष्यभावः' अर्थात् समवाय के तथा अभाव के प्रत्यक्ष में विशेषणविशेष्यभाव संनिकर्ष होता है, ऐसा कहा है। वह यह प्रागभाव प्रतियोगी का उत्पादक है, क्योंकि घट के उत्पन्न होने पर वही घट उसी समय में पुनः उत्पन्न नहीं होगा, इसमें दूसरे कारणों के रहने पर भी क्या

ल्यमनुस्रियमाणं स्वप्रागभाववैकल्यमेवानुसर्त्तु मर्हति। तद्घटोत्पत्तौ स एव घटः प्रतिबन्धक इति चेत्तर्हि प्रतिबन्धकाभावत्वेन तस्य कारणत्वमवर्जनीयम्। ननु यदि घट एव तस्याभावस्तदा घटे नष्टे तदुन्मज्जनापत्तिरिति चेन्न, घटनाशस्यापि तद्विरोधित्वात्, न हि विरोधिसत्त्वकालेऽपि विरोध्यन्तरप्रादुर्भाव इति। न ह्यनयोर्देशकृतो विरोधो येन गोत्वाश्वत्ववत् समानकालीनत्वं स्यात्। किं तर्हि? कालकृतस्तथाच कथमेककालावस्थायित्वम्भवेत्॥ १॥

अभावान्तरं प्रतीतिबलसिद्धमाह—

सदसत्॥ २॥

यथा कारणव्यापारात् पूर्वं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां कार्यस्यासत्त्वं प्रमीयते तथा विनाशकस्य मुद्गरादेर्व्यापारानन्तरं सदेव कार्यं घटादि इदानीमसदिति

कारण नहीं है जिससे पुनः वही घट उत्पन्न नहीं होता, इसका अनुसरण (अनुसंधान) करने से उस घट का प्रागभाव नहीं है यही अनुसरण करने (मानने) योग्य है। यदि उस घट की उत्पत्ति में वही घट प्रतिबन्धक है—ऐसा कहो तो प्रतिबन्धक के अभाव रूप से उस घट-प्रागभाव को कारण मानना आवश्यक है।

यदि घट ही उस प्रागभाव का अभाव हो तो घट के नष्ट होने पर उसका उन्मज्जन (पुनरुत्पत्ति) होगी, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि घट का नाश भी उसका विरोधी होता है। विरोधी की सत्ता के समय में भी दूसरे विरोधी का प्रादुर्भाव (प्रकट होना) नहीं हो सकता क्योंकि इन दोनों का देश से विरोध नहीं है जिससे गोत्व तथा अश्वत्व के समान समानकालता हो। तो कैसा विरोध है? इस प्रश्न के उत्तर में कालकृत विरोध है। ऐसा होने से एक काल में दोनों की अवस्थिति (रहना) कैसे होगी॥ १॥

ध्वंस रूप दूसरा अभाव भी प्रतीति के बल से सिद्ध होता है यह सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—सत् = सत्‌रूप घटादि, असत् = असत् (नहीं रहता)॥ २॥

भावार्थ—जिस प्रकार कारण के व्यापार के पूर्व में घटादि कार्य असत् है ऐसा प्रतीत होता है उसी प्रकार सत् ही कार्य घटादि दण्ड वगैरह चला देने के पश्चात् भी अब घट नहीं है नष्ट हो गया ऐसी प्रतीति होती है, जिससे ध्वंसरूप द्वितीय अभाव भी सिद्ध होता है॥ २॥

उपस्कार—जिस प्रकार उत्पादक कारणों के व्यापार के पूर्व में प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाणों से घटादि कार्य की असत्ता (प्रागभाव) जानी जाती है, उसी प्रकार मुद्गर (लट्ठ) आदिकों के चलाने रूप व्यापार के पश्चात् वर्तमान

प्रत्यक्षानुनामाभ्यामेव प्रमीयते। भवति हि घटो नष्टो ध्वस्त इदानीं श्रुतपूर्वो गकारो नास्तीत्यादिधीरिति भावः ॥ २ ॥

ननु घट एवावस्थाविशेषे ध्वंसव्यवहारं करोति न तु घटादन्यस्तस्य ध्वंस इत्यत आह—

असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम् ॥ ३ ॥

सदिति सूत्रशेषः। असतः सत् अर्थान्तरम्। कुत इत्यत आह—क्रियागुणव्यपदेशाभावादिति। न हि प्रध्वंसकालेऽपि वर्त्तते घटः—अस्ति घटः—इदानीं रूपवान् घटः—घटमानयेत्यादिव्यपदेशस्तदितो वैधर्म्यादसतः सदर्थान्तरमिति ॥ ३ ॥

प्रागभावप्रध्वंसौ साधयित्वाऽन्योन्याभावं साधयितुमाह—

ही घटादि कार्य इस समय असत् अवर्तमान है ऐसा प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों प्रमाणों से निश्चित किया जाता है। उस अभाव का नाम है ध्वस क्योंकि घट नष्ट हुआ, ध्वस्त हुआ, इस समय पर्व में सुना हुआ अरुष्ट शब्द नहीं है इत्यादि प्रतीति होती है ॥ २ ॥

यदि "अवस्थाविशेष में घट ही उसके ध्वंस (नाश) का व्यवहार कराता है, न कि घट से भिन्न घट का नाश (ध्वंस) अतिरिक्त अभाव है" इस पूर्वपक्षी की शंका का सूत्रकार समाधान देते हैं—

पदपदार्थ—असतः = अविद्यमान पदार्थ से, क्रियागुणव्यपदेशाभावात् = क्रिया तथा गुण का व्यवहार न होने से, अर्थान्तरम् = भावपदार्थ दूसरा पदार्थ हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—ध्वंसकाल में घटादि पदार्थों में घट है, इस समय घटरूपाधार हैं इत्यादि व्यवहार घट के वर्तमानता-समय के समान नहीं होता इस कारण असत् (अभाव) से भाव पदार्थ दूसरा पदार्थ है यह सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'सत्' ऐसा आकांक्षित पद का शेष भाग पूर्ण करना। असत् (अविद्यमान से) 'सत्' विद्यमान, दूसरा पदार्थ है। क्यों ? इस प्रश्न पर सूत्रकार हेतु दिखाते हैं—'क्रियागुणव्यपदेशाभावात्' अर्थात् 'क्रिया और गुण का व्यवहार न होने से' ऐसा। क्योंकि घटादि द्रव्यों के ध्वंस (विनाश) के समय में भी घट वर्तमान है, घट की सत्ता है, इस समय घटरूप का आधार है, घट को ले आओ, इत्यादि व्यवहार नहीं होता, अतः इस वैधर्म्य के कारण असत् (नष्ट) घटादि द्रव्य से सत् वर्तमान घटादि द्रव्य दूसरा पदार्थ है ऐसा सूत्र का भाव है ॥३॥

प्रागभाव तथा ध्वंस ऐसे दो अभावों को सिद्ध कर तीसरे अन्योन्याभाव को सिद्ध करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

सच्चासत् ॥ ४ ॥

यत्र सदेव घटादि असदिति व्यवह्रियते तत्र तादात्म्याभावः प्रतीयते। भवति हि असन्नश्वो गवात्मना—असन् गौरश्वात्मना—असन् पटो घटात्मना अघटः पटः-अनश्वो गौः—अगौरश्व इत्यादि प्रतीतिः। तदस्यामश्वान्याभाववान् गौः पटान्योन्याभाववात् घट इत्यन्योंन्याभाव एव तादात्म्याभावापरनामा भासते। तदत्र तादात्म्यं प्रतियोगितावच्छेदकम्। प्रतियोगिसमानाधिकरण-श्चायमभावः, भवतिहि घटो न भूतलमिति प्रतीतिः। नित्यश्च, कदाचिदपि घटपटयोस्तादात्म्या सम्भवात् ॥ ४ ॥

इदानीं चतुर्थमभावमत्यन्ताभावाख्यमाह—

यच्चान्यदसदतस्तदसत् ॥ ५ ॥

पदपदार्थ—सत् च = सत् (वर्तमान) पदार्थ भी, असत् = अवर्तमान होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—वर्तमान घटादि द्रव्य भी पट नहीं है इस प्रकार परस्पर वर्तमान ही दो द्रव्यों में जो परस्पर अभाव प्रतीत होता है उसे अन्योन्याभाव कहते हैं ॥४॥

उपस्कार—जिसमें वर्तमान होता हुआ ही घट आदि द्रव्य 'असत्' पट नहीं है ऐसा व्यवहार किया जाता है उसमें घट तथा पट की तदात्मता (अभेदरूपता) का अभाव (भेद)प्रतीत होता है। क्योंकि 'अश्व' गोरूप से असत् है, पट घटरूप से असत् है, पट घट से भिन्न है। गो अश्व नहीं है, अश्व गो नहीं है, इत्यादि प्रतीति होती है। इस कारण इस प्रतीति में गो अश्व के अन्योन्याभाववाली (भिन्न) है, घट पट के अन्योन्दाभाववाला (भिन्न) है, इस प्रकार तादात्म्यरूप सम्ब-न्ध से युक्त प्रतियोगितावाला होने से जिसका तादात्म्याभाव दूसरा नाम है ऐसा अन्योन्याभाव ही प्रकाशित होता है। इस कारण इस अन्योन्याभाव में 'तादा-त्म्य' प्रतियोगिता का नियामक सम्बन्ध है।

और यह अन्योयाभाव-प्रतियोगी समानाधिकरण अर्थात् प्रतियोगी के अधिक रण में रहता भी है, क्योंकि घट भूतल नहीं है ऐसी प्रतीति होती है। और वह नित्य भी है, क्योंकि किसी भी समय में घट तथा पट का तादात्म्य (अभेद)नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

संप्रति चतुर्थ अत्यन्तभावनामक अभाव को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—यत् च = और जो, अन्यत् = दूसरा, असत् = अभाव है, अतः = इन तीनों अभावों से, तत् = वह, असत् = अत्यन्ताभाव है ॥ ५ ॥

भावार्थ—इन पूर्वोक्त प्रागभाव, ध्वंस तथा अन्योन्याभाव ऐसे तीन अभावों से भिन्न जो असत् = (अभाव) है वह अत्यन्ताभाव होता है ॥ ५ ॥

अतः पूर्वोक्तादभावत्रयात्, यदन्यदसत् तदसत् तदत्यन्तासत्त्वम्। असदित्युभयत्र भावप्रधानो निर्देशः। तत्रैकमसदुद्देश्यमपरमसद्विधेयम्, तथा चोक्ताभावत्रयभिन्नो योऽभावः सोऽत्यन्ताभाव इति पर्य्यवसन्नोऽर्थः। तत्र प्रागभावस्य उत्तरावधिकत्वम्, प्रध्वंसस्य पूर्वावधिकत्वम्, अन्योन्याभावस्य प्रतियोगिसमानाधिकरणत्वमत्यन्ताभावस्य तु त्रितयवैधर्म्यमतश्चतुर्थोऽयमभावः ॥ ५ ॥

इदानीं प्रकरणान्तरमारभते, तत्र प्रध्वंसे तावत् प्रत्यक्षसामग्रीमाह—

असदिति भूतप्रत्यक्षाभावात् भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ॥६॥

असदितीतिकारेण प्रत्यक्षाकारं ज्ञानमाह, तेनासन् घटः-नष्टो घटः-ध्वस्त

उपस्कार—अतः इस पूर्वोक्त तीनों अभावों से जो दूसरा असत् (अभाव) है वह भी अत्यन्ताभावनामक चतुर्थ अभाव है। सूत्र में दोनों 'असत्' पद 'भाव (धर्म)को प्रधान मानकर सूत्रकार से निर्दिष्ट (कथित) हैं। उन दोनों 'असत्' पदों में से एक 'असत्' पद उद्देश्य तथा दूसरा विधेय है, ऐसा होने से उक्त प्रागभावादि तीन अभावों से भिन्न जो अभाव है वह अत्यन्ताभाव है ऐसा सूत्र का पर्यवसित (निश्चित) अर्थ है। उनमें से प्रागभाव के कार्य की उत्पत्ति हो तो यह उत्तर अवधि (सीमा) है, अर्थात् घटादियों की उत्पत्ति से घटादि-प्रागभाव नष्ट हो जाते हैं। और ध्वंस नाम का अभाव पूर्व अवधिवाला होता है, अर्थात् घटादिकों के नाश के होने से घट नहीं रहता। और तीसरा अन्योन्याभाव प्रतियोगी के अधिकरण में रहता है, किन्तु अत्यन्ताभाव ये उक्त तीनों अभावों के धर्म नहीं रहते ऐसा तीनों का विरुद्ध धर्म रहता है यह चतुर्थ अत्यन्ताभाव है ॥ ५ ॥

संप्रति दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं, उसमें ध्वंस नाम के अभाव में प्रत्यक्ष की सामग्री को सूत्रकार दिखाते हैं—

पदपदार्थ—असत् (नहीं है), इति = इस प्रकार, भूतप्रत्यक्षाभावात्=उत्पन्न होकर नष्ट हुये द्रव्य का प्रत्यक्ष न होने से, भूतस्मृतिः = पूर्व में रहे घटादि के स्मरण से, विरोधिप्रत्यक्षवत् = विरोधी घटादिकों के प्रत्यक्ष के समान ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार ध्वंस के विरोधी घटादिकों का स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है और ध्वंसका भी प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार उत्पन्न होकर नष्ट हुए घटादिकों का प्रत्यक्ष न होने से, एवं भूत (अविद्यमान) घटादिरूप प्रतियोगी के स्मरण से भी घट असत् है, घट नष्ट हो गया इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अतः ध्वंस के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी का प्रत्यक्ष न होना तथा उसका स्मरण होना कारणरूप सामग्री है यह सिद्ध है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र में 'असत् इति' असत् है इस प्रकार इस 'इति' शब्द से प्रत्यक्षस्वरूप ज्ञान का आकार कहा गया है, इससे घट असत् (अविद्यमान है) घट

इदानीं घट—इति प्रत्यक्षप्रतीतिरस्ति। तत्र दृष्टान्तो—विरोधिप्रत्यक्षवदिति। विरोधिनो घटादेर्यथा स्पष्टं प्रत्यक्षं तथा तत्प्रध्वंसस्यापि। तत्र कारणमाह—भूतप्रत्यक्षाभावादिति। भूतस्य उत्पद्य विनष्टस्य घटादेः प्रत्यक्षाभावात्। एतेन योग्यानुपलब्धिमाह। तत्र चायं तर्कः सहकारी—यद्यत्र घटोऽभविष्यत् भूतलमिवाद्रक्ष्यत न च दृश्यते तस्मान्नास्तीति। सहकार्यन्तरमाह—भूतस्मृतेरिति। भूतस्य प्रतियोगिनो घटादेः स्मृतेरिति प्रतियोगिस्मरणमुक्तम्॥ ६॥

प्रागभावे प्रध्वंसप्रत्यक्षताकारमतिदिशन्नाह—

तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ॥ ७ ॥

सामान्यवाच्यप्ययमभावशब्दः प्रकरणात् प्रागभावपरः। यथा प्रध्वंसे

नष्ट हुआ, इस समय घट ध्वस्त हुआ इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। उसमें सूत्रकार ने विरोधी के प्रत्यक्ष के समान यह दृष्टान्त दिया है। जिस विरोधी घटादि द्रव्य का जिस प्रकार स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार उसके ध्वंस का भी यह अर्थ है। उसमें सूत्रकार हेतु देते हैं—'भूतप्रत्यक्षाभावात्' अर्थात् भूत नाम उत्पन्न होकर नष्ट हुये घटादिकों के प्रत्यक्ष न होने से। इससे प्रत्यक्षयोग्य घटादिकों की उपलब्धि न होना अभाव के प्रत्यक्ष में कारण है यह सिद्ध होता है। यहां (अनुपलब्धि में योग्यता विशेषण है। वह योग्यता है प्रतियोगी घटादिकों की सत्ता की आपत्ति से, प्रतियोगी की आपत्ति का आना उसमें—योग्यानुपलब्धि में यदि यहां पर घट होता तो भूतल के समान दिखाई पड़ता, नहीं दिखाता, अतः घट नहीं है, इस प्रकार का तर्क सहायक होता है। तथा दूसरा सहकारी कारण सूत्रकार ने कहा 'भूतस्मृतेः' इति। इति अर्थात् भूत (अविद्यमान) घटादि द्रव्यों के स्मरण होने से इस प्रकार प्रतियोगी का स्मरण भी अभाव-ज्ञान में कारण कहा गया है अर्थात् अभाव के प्रत्यक्ष में प्रतियोगी का स्मरण कारण है। किन्तु स्मरण पद संभव के अभिप्राय से जानना ॥ ६ ॥

प्रागभाव में ध्वंस की प्रत्यक्षता के आकार का अतिदेश सूत्रकार करते हैं—

पदपदार्थ—तथा = प्रध्वंस अभाव के समान, अभावे = प्रागभावरूप अभाव में भावप्रत्यक्षत्वात् च = भाव पदार्थ के प्रत्यक्ष होने से भी ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार ध्वंसनामक अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसी प्रकार रचे जाने वाले वीरण (चटाई) इत्यादि भाव पदार्थों के प्रत्यक्ष से विषय होने के कारण प्रागभावरूप अभाव का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥ ७ ॥

उपस्कार—सूत्र में सामान्य रूप से अभाव को कहने वाला भी यह अभाव शब्द प्रागभाव के निरूपण के प्रकरण में आने से प्रागभावरूप विशेष अभाव को कहता

प्रत्यक्षज्ञानं तथा प्रागभावेऽपि। कुतः? भावप्रत्यक्षत्वात्। भावस्य व्यूह्यमानवीरणादेः प्रत्यक्षत्वात् प्रत्यक्षेण विषयीक्रियमाणत्वात्।

यद्वा भावस्याधिकरणस्य प्रतियोगिनश्च प्रत्यक्षत्वात् योग्यत्वादित्यर्थः। संसर्गाभावग्रहेऽधिकरणयोग्यतायाः प्रतियोगियोग्यतायाश्च तन्त्रत्वात्। चकारात् प्रतियोगिस्मरणमुक्तञ्च तर्कं समुच्चिनोति। अनादेरपि प्रागभावस्यानन्तस्यापि प्रध्वंसस्याविशेषमात्रे प्रत्यक्षत्वम् ॥ ७ ॥

अन्योन्याभावस्य प्रत्यक्षतामाह—

एतेनाघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यातः ॥ ८ ॥

एतेनेति प्रतियोगिस्मरणाधिकरणग्रहणप्रागुक्ततर्कानतिदिशति। योग्यानुपलम्भः सर्वत्र समानः। चकार उक्तसमुच्चयार्थः। अधर्म इत्यतीन्द्रियस्यापि

है। जिस प्रकार ध्वंसरूप अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसी प्रकार प्रागभावरूप अभाव का भी। क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने 'भावप्रत्यक्षत्वात्' भाव पदार्थ के प्रत्यक्ष होने से, यह हेतु सूत्र में दिया है। अर्थात् रचना किये जाने वाले (वीरण-चटाई) आदि भाव पदार्थ के प्रत्यक्ष होने से (प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय होने से) अथवा भावरूप अधिकरण तथा प्रतियोगी के भी प्रत्यक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष के योग्य होने से संसर्गाभाव के ग्रहण होने में अधिकरण तथा प्रतियोगी दोनों की प्रत्यक्षयोग्यता प्रयोजक है। सूत्र के चकार से प्रतियोगी का स्मरण तथा पूर्व प्रदर्शित तर्क का भी सूत्रकार में संग्रह किया है। यद्यपि प्रागभाव अनादि तथा ध्वंस अनन्त (अविनाशी) है तथापि उन दोनों के अविशेष का ही प्रत्यक्ष होता है ॥ ७ ॥

तृतीय अन्योन्याभाव का सूत्रकार प्रत्यक्ष होना वर्णन करते हैं—

पदपदार्थ—एतेन = इससे, अघटः = घट से भिन्न है, अगौः = गौ से भिन्न है, अधर्मः च = धर्म से भिन्न हैं, व्याख्यातः = व्याख्या की गई ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह घट भिन्न है, यह गौसे भिन्न है, यह धर्म से भिन्न है, इत्यादि रूप से अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में भी प्रतियोगी का स्मरण, अधिकरण का ज्ञान, तथा पूर्व-प्रदर्शित तर्क एवं प्रत्यक्षयोग्य की अनुपलब्धि सबसे कारण है यह प्रागभाव तथा ध्वंस के प्रत्यक्ष के समान व्याख्या की गई है ॥ ८ ॥

उपस्कार—सूत्र के 'एतेन' इससे (इस पद से), प्रतियोगी की स्मरण, अधिकरण का प्रत्यक्ष तथा पूर्वप्रदर्शित तर्क का अतिदेश करता है। योग्य की अनुपलब्धि भी संपूर्ण अभावों के प्रत्यक्षों में समान कारण है। और सूत्र का 'चकार' इन उक्त कारणों का संग्रह करने के लिये सूत्रकार ने दिया है। 'अधर्मः' धर्म से भिन्न है, इससे अतीन्द्रिय (प्रत्यक्ष न होने वाले) भी धर्म का सुख तथा ज्ञानादि आत्माके

धर्मस्य सुखज्ञानादावधिकरणेऽन्योन्याभावस्य प्रत्यक्षतां वदन् अन्योन्याभावग्रहे प्रतियोगियोग्यता न तन्त्रं किन्त्वधिकरणयोग्यतामात्रं तन्त्रमित्युपदर्शयति। कथमन्यथा स्तम्भः पिशाचो न भवतीति पिशाचान्योन्याभावः स्तम्भे गृह्येत स्तम्भात्मतया पिशाचानुपलम्भस्य तदन्योन्याभावग्राहकत्वात्, तस्याप्यनुपलम्भस्य प्रतियोगिसत्त्वविरोधित्वात् स्तम्भे पिशाचतादात्म्ये सत्यनुपलम्भानुपपत्तेः। ननु पिशाचतादात्म्यमिह न प्रतियोगि, किन्तर्हि ? पिशाचः स च स्तम्भे वर्त्तमानोऽपि गुरुत्ववन्नोपलभ्यते इति तदनुपलम्भः प्रतियोगिसत्त्वविरोधी न भवतीति चेन्न, प्रतियोग्यनुपलम्भवत् प्रतियोगितावच्छेदकानुपलम्भस्याप्यभावग्रहकारणत्वात्। ननु प्रतियोगित्वग्रहाधीनोऽन्योन्याभावग्रहः, प्रतियोगित्वञ्चान्योन्याभावविरहात्मत्वं ततश्चान्योन्याभावग्रहाधीन

गुण रूप अधिकरणों में अन्योन्याभाव की प्रत्यक्षता को कहता हुआ, अर्थात् सुख धर्म नहीं है' इस अन्योन्याभाव के प्रत्यक्ष में धर्मरूप प्रतियोगी के प्रत्यक्ष होने की योग्यता कारण नहीं है, किन्तु केवल ज्ञानादिरूप अधिकरण की प्रत्यक्षयोग्यता ही कारण है यह सूत्रकार ने दिखलाया है। ऐसा न हो तो 'यह स्तंभ पिशाच नहीं है इस प्रकार स्तम्भ में पिशाच का भेद कैसे गृहीत होगा, क्योंकि स्तम्भ रूप से पिशाच की उपलब्धि न होना स्तम्भ में पिशाच के अन्योन्याभाव का ग्राहक (ग्रहण कराने वाला) है, उस स्तम्भ में पिशाच की अनुपलब्धि की पिशाच रूप प्रतियोगी के सत्ता का विरोधी होने से स्तम्भ में यदि पिशाच का अभेद हो तो पिशाच की अनुपलब्धि न हो सकेगी। (यहां पर स्तम्भ में पिशाच के अभेद की उपलब्धि न होना प्रति योगी का अनुपलब्धिरूप है, किन्तु पिशाच की अनुपलब्धि तो पिशाच की सत्ता का विरोध करती है, ऐसा होने से प्रतियोगी पिशाच का विरोध न करने वाली भी पिशाच की अनुपलब्धि स्तम्भ में पिशाच के अभाव को क्यों ग्रहण न करायेगी'' इस शंका को शंकर मिश्र दिखाते हैं—कि 'यहां पर स्तम्भ पिशाच नहीं है इसपर पिशाच का अभेद प्रतियोगी नहीं है, तो क्या है !, पिशाच, और वह पिशाच स्तम्भ में वर्तमान होने पर भी गुरुत्व गुण के समान गृहीत नहीं होता, इस कारण उसकी अनुपलम्भ (उपलब्ध न होना) प्रतियोगी की सत्ता का विरोध नहीं हो सकता'' ऐसी शंका पूर्वपक्षी नहीं कर सकता, क्योंकि प्रतियोगी के अनुपलम्भ के समान प्रतियोगिता के नियामक सम्बन्ध की अनुपलब्धि भी अभाव के ग्रहण में कारण होती है। यहां पर प्रतियोगिता के ग्रहण के अधीन अन्योन्याभाव (भेद) का ग्रहण होता है, और वह प्रतियोगिता है अन्योन्याभाव के अभावरूप क्योंकि (अभावविरहात्मत्वम् = अभाव के अभावरूप होती है, वस्तुतः = पदार्थ में, प्रतिगिता = प्रतियोगिता शब्द का अर्थ)' ऐसा उदयनाचार्य ने प्रतियोगी का लक्षण कहा है) 'जिससे अन्योन्याभाव ज्ञान के अधीन ही अन्योन्याभाव का ज्ञान होने से

एवान्योन्याभावग्रह इति चेन्नाधिकरणावृत्तित्वेन ज्ञायमानो धर्म एव प्रतियोगितावच्छेदकत्वेनापि तद्ग्रहस्तन्त्रमित्युक्तत्वात् ॥ ८ ॥

अथेदानीमत्यन्ताभावप्रत्यक्षतामाह—

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥ ९ ॥

भूतमिदानीं नास्तीतिप्रतीतिर्ध्वंसमालम्बते भूतत्वं नोल्लिखति किन्त्विदं नास्तीतिमात्रोल्लेखिनी प्रत्यक्षप्रतीतिरत्यन्ताभावमालम्बते। अभूतमित्युत्पादविनाशालम्बनत्वं द्योतयति, अनर्थान्तरत्वमपि तदभिप्रायकमेव यथा जले पृथिवीत्वं नास्ति पृथिव्यां न जलत्वमिति। यदि हि जलावयविनि

आत्माश्रयदोष होगा' ऐसी पूर्वपक्षी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि एक अधिकरण में अवर्तमानरूप से ज्ञायमान (ज्ञान का विषय) धर्म ही प्रतियोगिता का नियामक होता है, न कि प्रतियोगिता-नियामक रूप से उसका ज्ञान कारण होता हैं यह कह चुके हैं ॥ ८ ॥

इस प्रकार अन्योन्याभाव की प्रत्यक्षता का वर्णन कर अत्यन्ताभाव की प्रत्यक्षता को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अभूतं = नहीं है, न अस्ति = नहीं है, इति = यह दोनों, अनर्थान्तरम् = दूसरा पदार्थ नहीं ॥ ९ ॥

भावार्थ—नहीं था, नहीं है यह दोनों प्रतीति अत्यन्ताभाव को विषय करने के कारण अत्यन्ताभाव को कहती हैं ॥ ९ ॥

उपस्कार—भूत (प्रथम वर्तमान) पदार्थ इस समय नहीं है यह ज्ञान ध्वंस अभाव को विषय करता है, भूतता (वर्तमानता) का उल्लेख (बोध) नहीं करता, किन्तु 'यह नहीं है' इतने को ही विषय करनेवाला प्रत्यक्षरूप ज्ञान अत्यन्ताभाव को विषय करता है, सूत्र में 'अभूतम्' यह पद उत्पत्ति तथा विनाश की अविषयता को प्रगट करता है, तथा सूत्र में 'अनर्थान्तरम्' दूसरा अर्थ नहीं है, यह पद भी उत्पत्ति तथा विनाश के आधार से अतिरिक्त दूसरे अत्यन्ताभाव को ही विषय करता है (अर्थात् यहां पूर्व में वर्तमान पदार्थ इस समय नहीं है यह प्रतीति ध्वंसनामक अभाव को विषय करती है। और 'अभूतम्' यह पद आगे न होनेवाले का सूचक है, ऐसा न होने से जो यहां न था न होगा, वह यहां नहीं है ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष दूसरा अर्थ नहीं है। अत्यन्ताभाव से भिन्न दूसरा जिसका विषय नहीं है यह अनर्थान्तर शब्द का अर्थ है) इसी का शंकर मिश्र उदाहरण देते हैं कि जिस प्रकार जलरूप अवयवि द्रव्य में पृथिवीत्व नहीं है, पृथिवी में जलत्व नहीं है, यदि जलरूप अवयवि द्रव्यों में पृथिवीत्व हो तो उसकी जल में उपलब्धि होगी, उपलब्धि नहीं होती, इस कारण जल में पृथिवीत्व नहीं है इस तर्क की भी

पृथिवीत्वं स्यात् उपलभ्येत न चोपलभ्यते तस्मान्नास्तीति-तर्कपुरस्कारोऽत्रापि द्रष्टव्यः। एवञ्च यद्वस्तु यत्र न कदाऽपि भविष्यति न च कदाचिद् भूतं तस्य वस्तुनस्तत्रात्यन्ताभावो मन्तव्यः। भूतभविष्यतोश्च तत्र प्रध्वंसप्रागभावालम्बन एव तत्राधिकरणे नास्तीति प्रत्ययः। अत एवायमात्यन्तिकस्त्रैकालिक इत्यभिधीयते ॥ ९ ॥

ननु गेहे घटाभावो नात्यन्ताभावः कदाचित्तत्र घटसत्त्वात्, नापि प्रागभावप्रध्वंसौ, तयोः समवायिकारणमात्रवृत्तित्वात्, नाप्युत्पादविनाशशीलोऽत्यन्ताभाव एव आत्यन्तिकश्चोत्पादविनाशशीलश्चेति विरोधात्, नापि चतुर्थ एवायं संसर्गाभावः, तस्य त्रैविध्यविभागव्याघातादित्यत आह—

नास्ति घटो गेहे इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥ १० ॥

इसमें अत्यन्ताभाव की सी ही सहायता जाननी चाहिये। ऐसा होने से जो पदार्थ जहां कभी भी न होगा, न कभी था, उस पदार्थ का उसमें अत्यन्ताभाव है यह मान लेना चाहिये। और जो पूर्व में था और आगे होगा ऐसा पदार्थों का वहां ध्वंस प्रागभाव को विषय करनेवाला है। उस अधिकरण में नहीं है' ऐसा ज्ञान होता है। इसी कारण यह अत्यन्ताभाव आत्यन्तिक एवं 'त्रैकालिक' (त्रिकाल में होने वाला) अत्यन्ताभाव कहा जाता है। (अर्थात् जैसे अवयविरूप पृथिवी में जलत्व नहीं है इत्यादि प्रत्यक्ष में ध्वंस तथा प्रागभाव का विषय नहीं हो सकता। इस कारण अत्यन्ताभाव ही उसका विषय है, और उसके प्रत्यक्ष में ही इन्द्रिय संयुक्त विशेषणता संनिकर्ष तथा तर्क की सहायता से प्रतियोगी की उपलब्धि का अभाव तथा प्रतियोगिज्ञान भी कारण है ऐसा मेरे गुरुचरण म० म० स्व० पू० वामाचरण भट्टाचार्य का यहां मत जानना चाहिये ॥ ९ ॥

यदि गृह में वर्तमान घट का अभाव कदाचित् घट की 'घरमें' सत्ता होने के कारण अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता न वह घट का प्रागभाव तथा ध्वंस अभाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों केवल समवायिकरण में ही रहते हैं। न उस अभाव को उत्पत्ति तथा विनाश-स्वभाव अत्यन्ताभाव ही कह सकते हैं, क्योंकि आत्यन्तिक (सदा होनेवाला) तथा उत्पत्ति-विनाश-स्वभाववाला इन दोनों का परस्पर विरोध होता है। यह चतुर्थ संसर्गाभाव भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसके नैयायिक सिद्धान्त के अनुसार त्रिविध (तीन प्रकार के) विभाग का विरोध आ जायगा" इस प्रकार पूर्वपक्षी की शंका के समाधानार्थं सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—न अस्ति = नहीं है, घटः = घट, गेहे = गृह में, इति = ऐसा, सतः = वर्तमान, घटस्य = घट का, गेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥ १० ॥

भावार्थ—'गृह में घट नहीं है' इस प्रतीति में सत् (वर्तमान) घट का गृह में संयोगरूप संबन्ध का निषेध कहा जाता है, वह यदि कभी भी घट न हो तो

गेहे घटस्य यः संसर्गः संयोगस्तस्य प्रतिषेधः, स च यदि कदाचिदपि न घटस्तदात्यन्ताभाव एव, भविष्यतः प्रागभावो भूतस्य प्रध्वंसाभावः । तर्हि घटसंसर्गो गेहे नास्तीति—प्रतीत्या भवितव्य, मिति चेत् प्रतीत्या भवितव्यमिति कोऽर्थः ? यदि तद्विषयया प्रतीत्या भवितव्यमित्यापादनार्थस्तदेष्टापत्तिः अथ तदुल्लेखिन्येति, तदा गेहे इत्यधिकरणोल्लेखस्यैव संसर्गोल्लेखपर्यवसानमाधारत्वस्यैव धर्मसम्बन्धाकारत्वात् । तत् किं घटस्तत्रास्त्येव । अस्त्येवेति कोऽर्थस्तत्र समवेतः संयुक्तो वा ? नाद्यः समवेतघटस्य तत्राभावात् । न द्वितीयः संयोगस्य निषेधात् । नन्वेवं घटादीनां केवलान्वयित्व-

---

अत्यन्ताभाव होगा, यदि भविष्य में घट होने वाला हो तो घट प्रागभाव, तथा पूर्वमें वर्तमान हो तो घट का ध्वंस अभाव होगा (यहां असत्-ख्याति मानने के मत में आकाशपुष्प के अभाव के समान अत्यन्त असत् का अभाव ही अत्यन्ताभाव है ऐसा भ्रम न हो इसलिये सूत्र में 'सतः' ऐसा घट में विशेषण दिया है ।। १० ।।

उपस्कार—गृह में घट को संयोगनामक सम्बन्ध का निषेध ही 'नास्ति गेहे घटः' घर में घट नहीं है इस प्रतीति का विषय है, और वह यदि कभी भी घट का सम्भव न हो तो घटात्यन्ताभाव ही होगा, और यदि घट का संयोग आगे होने वाला हो तो घट का प्रागभाव होगा और यदि घट का संयोग पूर्व में वर्तमान था तो घट का ध्वंस अभाव होगा । "यदि ऐसा है तो गृह में घट का संसर्ग (सम्बन्ध) नहीं है ऐसी प्रतीति होगी" ऐसा पूर्वपक्षी को तो प्रतीति होनी चाहिये । इसका क्या अर्थ है ! यदि उस विषय की प्रत्यक्षरूप प्रतीति होनी चाहिये ऐसा आपादन (आपत्ति) का अर्थ हो, तो यह इष्ट ही है । और यदि तदुल्लेखनी (शब्दरूप) प्रतीति की आपत्ति पूर्वपक्षी की है तो गृह में—ऐसे अधिकरण का उल्लेख ही सम्बन्ध के उल्लेख में पर्यवसित होता है, क्योंकि आधारता ही धर्म के सम्बन्ध के आकारवाली होती है । अर्थात् प्रत्यक्षरूप तथा शब्दरूप ऐसे दो पक्ष में से प्रथम पक्ष में तो सिद्धान्ती ने इष्टापत्ति मानकर दूसरे पक्ष में 'तदा' इस ग्रन्थ में शंकर मिश्र ने दोष दिखाया है, जिससे 'घर में घट नहीं है' इस प्रतीति में आश्रयार्थक सम्बन्ध रूप है । सप्तमी विभक्ति से घर में वतमान घट के संयोग का अभाव प्रतीत होता है, और घर में घट का सम्बन्ध नहीं है इस प्रतीति से तो घट के सम्बन्ध में वर्तमान संसर्ग का अभाव प्रतीत होता है जिससे कोई दोष नहीं—यह शंकर मिश्र का आशय है । उक्त प्रतीति का संसर्ग का निषेध करना अर्थ हो तो पूर्वपक्षी शंका करता है कि)—'अस्त्येव' है ही इसका क्या अर्थ है ! क्या गृह में समवाय सम्बन्ध से, अथवा संयोग सम्बन्ध से वर्तमान है ? प्रथम पक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि गृह में समवाय सम्बन्ध से घट नहीं है । संयोग का निषेध करने के कारण द्वितीय

प्रसङ्गः, तत्संयोगसमवायान्तरस्यैव सर्वत्र निषेधादिति चेन्न, तदुभयनिषेधस्यैव घटनिषेधात्मकत्वात्। तत् किं घटस्तत्संयोगश्चेत्येकं तत्त्वं, येन घटसंयोगनिषेधो घटनिषेधः स्यात्, तत् किं घटस्तत्संयोगसमवायावेकं तत्त्वं, येन तद्विधिरेव घटविधिः स्यात्, न हि तौ यत्र निषेध्येते तत्र घटान्वयो येन केवलान्वयित्वं तस्य स्यात्. तथाच यस्य यो विधिस्तन्निषेध एव तन्निषेध इति। यद्वा घटस्य समवायितया गेहेऽत्यन्ताभाव एव, स एव गेहे घटो नास्तीति प्रतीतिविषयः, कपाले संयोगितयेव। एवं सति केवलान्वय्यत्यन्ता-

---

पक्ष भी नहीं हो सकता। यदि पूर्वपक्षी कहे कि इस प्रकार तो घटादि द्रव्य केवलान्वयी सर्वत्र वर्तमान हो जायगा, क्योंकि सर्व प्रतीतियों में घट के संयोग तथा समवाय में से एक ही का सर्वत्र निषेध होगा।" तो यह नहीं हो सकता, क्योंकि समनियत (एक में वर्तमान) अभाव के एक होनेके कारण उन समवाय तथा संयोगरूप सम्बन्ध का निषेध ही घट का निषेधरूप होता है। तो क्या घट यथा उसका संयोग एक ही तत्त्व (पदार्थ) है, जिससे घट के संयोग का निषेध घट का निषेध होगा" इस शका के समाधान में प्रतिवन्दी (समान) उत्तर यह हो सकता है कि तो क्या घट तथा उसके संयोग एवं समवाय सम्बन्ध एक ही तत्त्व (पदार्थ) है जिससे उन दोनों सम्बन्धों की विधि ही घटकी विधि होगी। जिस स्थल में उन दोनों सम्बन्धों का निषेध होता है उस स्थल में घट का अन्वय (सत्ता) होता है जिससे घट केवलान्वयी (सर्वत्र अविद्यमान) होगा, ऐसा होने से जिसका जो विधि होता है उसका निषेध ही उसका निषेध होता है। (अर्थात् सम्बन्धी सम्बन्ध की सत्ता के नियम सत्तावाला होता है ऐसा नियम होने से घट तथा उसके दोनों सम्बन्धों में एकतत्त्वता न होने पर भी कोई दोष नहीं आता ऐसा यदि कहो तो प्रकृत में भी यह समान नहीं है यह शंकरमिश्र का गूढ अभिप्राय है।)

(असत् ख्याति के न मानने से गृह में वर्तमान घट-संयोग का अभाव प्रतियोगी की सिद्धि तथा असिद्धि से व्याहत (विरुद्ध) है इस अभिप्राय से शंकर मिश्र सूत्र का दूसरा अर्थ दिखाते हुए कहते हैं कि)—अथवा घट का गृह में समवाय सम्बन्ध न होने के कारण घट-समवायिता का गृह में अत्यन्ताभाव ही है, वहां गृह में घट नहीं है इस प्रतीति का विषय है, जैसे कपाल में घट का संयोग न होने से घट-संयोगिता का अभाव। (अर्थात् 'नास्ति घटः' इस सूत्र में 'गेहसंसर्गप्रतिषेधः' इस पद में संसर्गेण (समवायेन) प्रतिषेधः, गेहे संसर्गप्रतिषेधः, 'गेहसंसर्गप्रतिषेधः ऐसा समास सूत्रकार को अभिप्रेत है।) इस पक्ष में सूत्र के 'सतः' इस पद की व्यर्थता की शंका दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि—'ऐसा होने से केवलान्वयि (सर्वत्र वर्तमान) गृह में घट-समवायिता के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होने के कारण घट आकाश के समान असन् (अवृत्ति) हो जायगा" यदि ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो

भावप्रतियोगितया घटोऽसन् स्यादिति चेत् भवेदेवं यदि संयोगित्वसमवायित्वाभ्यां सर्वत्रासन् स्यादिति भावः ॥ १० ॥

तदेवं भावाभावविषयकं लौकिकप्रत्यक्षं निरूप्य योगिप्रत्यक्षं निरूपयितुं प्रकरणान्तरमारभते—

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ॥ ११ ॥

ज्ञानमुत्पद्यते इति शेषः। द्विविधास्तावद्योगिनः समाहितान्तःकरणा ये युक्ता इत्यभिधीयन्ते, असमाहितान्तःकरणाश्च ये वियुक्ता इत्यभिधीयन्ते। तत्र युक्ताः—साक्षात्कर्त्तव्ये वस्तुन्यादरेण मनो निधाय निदिध्यासनवन्तः, तेषामात्मनि स्वात्मनि परमात्मनि च ज्ञानमुत्पद्यते। आत्मप्रत्यक्षमिति।

शंकरमिश्र उत्तर देते हैं कि—केवलान्वयि अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी होने से अवृत्तिता दोष तब आवेगा, यदि संयोगिता तथा समवायिता दोनों सम्बन्ध से घट सर्व स्थलों में अवर्तमान हो 'यह सूत्र' का भाव है। (अर्थात् केवलान्वयि 'अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता असत्ता की व्यभिचारी है। क्योंकि एक सम्बन्ध से वर्तमान भी गुणादिकों में संयोगादिरूप दूसरे सम्बन्ध से युक्त प्रतियोगितावाले केवलान्वयि अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता होती है यह उत्तर का आशय है) ॥ १० ॥

इस प्रकार भाव अथा अभाव पदार्थों के विषय में लौकिक प्रत्यक्ष का निरूपण कर योगिप्रत्यक्ष का निरूपण करने के लिये दूसरा प्रकरण सूत्रकार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—आत्मनि = आत्मा में, आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोगविशेषात् = विशेष संयोग से, आत्मप्रत्यक्षम् = आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—लौकिक आत्मप्रत्यक्ष के समान आत्मा तथा मन के योगज धर्मजन्य संनिकर्ष-विशेष से योगियों को आत्मा का साक्षात्कार करानेवाला प्रत्यक्षज्ञान होता है ॥ ११ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित 'ज्ञानमुत्पद्यते' 'ज्ञान उत्पन्न होता है' ऐसा शेष पद पूर्ण करना। योगी दो प्रकार के होते हैं जिनमें प्रथम समाहित (एकाग्र) अन्तःकरणवाले जिन्हें 'युक्त' नामक योगी कहते हैं, तथा दूसरे असमाहित (व्युत्थान) अन्तःकरणवाले जिन्हें 'वियुक्त' ऐसा कहते हैं। उन दोनों मे से प्रत्यक्ष करनेयोग्य वस्तु (इष्ट ध्येय पदार्थ) में आदर से चित्त को लगा कर निदिध्यासन (तत्त्वचिन्तन करनेवाले) योगी युक्तयोगी कहलाते हैं, जिन्हें अपनी आत्मा तथा परमात्मा में भी वह ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसमें आत्मा के साक्षात्कारविषयक ज्ञान की उत्पत्ति होने से वह सूत्र में 'आत्मप्रत्यक्ष' कहा गया है। यद्यपि

आत्मा प्रत्यक्षः साक्षात्कारविषयो यत्र ज्ञाने तत्तथा। यद्यप्यस्मदादीनामपि कदाचिदात्मज्ञानमस्ति तथाप्यविद्यातिरस्कृतत्वात् तदसत्कल्पमित्युक्तमात्ममनसोः सन्निकर्षविशेषादिति। योगजधर्मानुग्रह आत्ममनसोः सन्निकर्षे विशेषस्तस्मादित्यर्थः॥ ११॥

तत् किमात्मन्येव युक्तानां ज्ञानं तत् कुतः सार्वज्ञ्यमित्यत आह—

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम्॥ १२॥

ज्ञानमुत्पद्यत इति प्रकरणायातम्। तथेति योगजधर्मानुगृहीतेनैव मनसा, द्रव्यान्तरेषु चतुर्ष्वणुषु मनसि वायुदिक्कालाकाशेषु, द्रव्यपदेन तद्गतगुणकर्मसामान्यानां विशेषपदार्थस्य समवायस्य प्रत्यक्षगतस्यापि गुरुत्वस्थितिस्थापकादेरात्मगतस्यापि जीवनयोनियत्ननिर्विकल्पकभावनाधर्माधर्मादेः सङ्ग्रहः सामग्र्या योगजधर्मोपग्रहस्य तुल्यत्वात् अन्यथा सार्वज्ञ्यमुक्तं न भवेत्॥ १२॥

हम जीवों को भी कभी-कभी आत्मा का ज्ञान होता है किन्तु वह अविद्या (अज्ञान) से तिरस्कृत होने के कारण वह असत् कल्प (अविद्यमान के समान) है। इसी कारण सूत्रकार ने 'आत्ममनसोः संनिकर्षविशेषात्' आत्मा तथा मन के संनिकर्षविशेष से ऐसा सूत्र में हेतु दिया है, जिसका योगाभ्यास से उत्पन्न धर्म का अनुग्रह (सहायता) ही आत्मा तथा मन के संनिकर्ष में विशेषता है यह अर्थ है॥ ११॥

"तो क्या युक्तयोगियों को केवल आत्मपदार्थ का ही साक्षात्कार होता है, तो वह सर्वज्ञ कैसे होंगे" इस शंका पर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तथा=उसी प्रकार, द्रव्यान्तरेषु = दूसरे परमाणु आदि द्रव्यों में, प्रत्यक्षं = प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है॥ १२॥

भावार्थ—जिस प्रकार योगज धर्म के अनुग्रह की सहायता ही से मन से योगी को आत्मा का प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार परमाणु, वायु, दिशा, काल आदि द्रव्यों तथा उनमें वर्तमान गुण, कर्म, जाति आदि का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है॥ १२॥

उपस्कार—'ज्ञान उत्पन्न होता है' यह ज्ञान-प्रकरण से इस सूत्र में आता है। आत्मा के समान योगजन्य धर्म के अनुग्रह से ही अन्तःकरण पृथिवी आदि वायु पर्यन्त चार द्रव्यों के परमाणु, मन, वायु, दिशा, काल तथा आकाश नामक दूसरे द्रव्यों का भी योगियों को प्रत्यक्ष होता है, यह सूत्र के 'तथा' पद का अर्थ है। सूत्र के 'द्रव्यपद' से द्रव्यों में वर्तमान गुण, कर्म, सामान्य तथा विशेष पदार्थ और समवाय तथा प्रत्यक्ष पदार्थों में वर्तमान गुरुत्व, स्थितिस्थापक संस्कार एवं आत्मा में वर्तमान जीवनयोनि-नामक प्रयत्न, निर्विकल्पक ज्ञान, भावनासंस्कार, धर्म एवं अधर्म इत्यादिकों का संग्रह होता है, क्योंकि योगज धर्म का अनुग्रह सबमें समान है, यदि ऐसा न मानें तो योगी में सर्वज्ञता की उक्ति का समर्थन न होगा॥ १२॥

युक्तानां प्रत्यक्षं ज्ञानमभिधायेदानीं वियुक्तानामाह—

असमाहितान्तःकरणा उपसंहृतसमाधयस्तेषाञ्च ॥ १३ ॥

असमाहितान्तःकरणा इत्यस्यैव व्याख्यानमुपसंहृतसमाधय इति। यद्वा कथमसमाहितान्तःकरणा इत्यत आह—उपसंहृतसमाधय इति। उपसंहृतो दूरीकृतः समाधिर्निदिध्यासनात्मको यैस्ते तथा। ते हि समाधिप्रभावाद्विकरणधर्माः अणिमाद्याः शरीरसिद्धीर्दूरश्रवणाद्याश्चेन्द्रियसिद्धीराप्तवन्तः समाधावप्यलंप्रत्ययमासादयन्तः "तावदेवास्य चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" इत्यादि श्रुतिसमधिगतकृत्यान्तराभावाः भोगमात्रस्य कर्त्तव्यतामाकलय्य तेषु तेषु प्रदेशेषु द्वीपोपद्वीपादिषु तेन तेन जन्मना तुरङ्गमातङ्गविहङ्गभुजङ्गादिना (यावदेव- चिरं यावत्) देवर्षिमानुषभावेन च पूर्वोपात्तान् कर्माशयानुपभु-

---

इस प्रकार युक्त योगियों के प्रत्यक्षज्ञान को कह कर सांप्रत वियुक्त योगियों के प्रत्यक्ष ज्ञान को सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—असमाहितान्तःकरणाः = एकाग्रचित्त न होने वाले को उपसंहृतसमाधयः च = और जिन्होंने योगसमाधि का उपसंहार (समाप्ति) किया है ॥ १३ ॥

भावार्थ—योगसमाधि लगाने के पश्चात् जिन योगियों ने व्युत्थान दशा-प्राप्त की ऐसे समाधि के प्रभाव से विना इन्द्रियों के व्यापार के भी संपूर्ण विषयों का प्रत्यक्ष करने वाले योगी वियुक्त-योगी होते हैं।

उपस्कार—'असमाहितान्तःकरणाः' एकाग्रचित्त नहीं, इसी पद की सूत्रकार ने स्वयं सूत्र में व्याख्या की है 'उपसंहृतसमाधयः' इस पद में अथवा 'असमाहितान्तःकरण' क्यों है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है। 'उपसंहृतसमाधयः च'। जिन्होंने निदिध्यासन-नामक योग उपसंहृत अर्थात् दूर कर दिया है जिन योगियों ने वे 'वियुक्त' नामक योगी होते हैं। यह वियुक्त योगी समाधि की महिमा से विकरण धर्म (इन्द्रिय के व्यापार से रहित) होते हुए अणिमा-महिमा इत्यादि आठ प्रकार की शरीर-सिद्धि तथा दूर से सुनाना, देखाना इत्यादि इन्द्रियों की सिद्धि को प्राप्त कर, योग-समाधि में भी। आलंप्रत्यय (अब समाधि की भी आवश्यकता नहीं है) ऐसा ज्ञान प्राप्त करते हुए "तावत् एव = तभी तक, अस्य = इस मोक्ष के, चिरं = विलम्ब है, यावत् = जबतक, न = नहीं, विमोक्ष्ये = शरीर से छूटूंगा, अथ = इसके पश्चात् संपत्स्ये = स्वस्वरूप में मिल जाऊंगा" इत्यादि श्रुति-वाक्यों से दूसरे कार्यों का प्रयोजन न रखनेवाला योगी केवल भोगमात्र पूर्ण कर लेता है यह निश्चय कर उन-उन देश-प्रदेशों में तथा द्वीप और उपद्वीपों और अश्व, हस्ति, पक्षी, सर्प आदि अनेक योनियों में जन्म लेकर तथा कर्मानुसार देवता, ऋषि एवं मनुष्य-रूप जन्म से भी पूर्वसंचित कर्माशय (कर्म-वासनाओं) को भोगकर हम उस निर्बाध भूमि

क्ष्मह तावत् प्राप्स्यैव निरपाया भूमिरित्याकलयन्तः सकलमर्थजातं योगजधर्म-बलोपबृंहितेन्द्रियशक्तयो व्यवहितं विप्रकृष्टञ्च प्रत्यक्षीकुर्वन्ति ॥ १३ ॥

ननु न तावत्तेषु मानसं ज्ञानं मनसो बहिरस्वातन्त्र्यात्, नापि बहिरिन्द्रिय-जन्यम् तेषां सम्बद्धवर्त्तमानार्थग्राहित्वात् यथायोगं रूपोद्भवादिसापेक्षत्वात् आलोकादिसव्यपेक्षत्वाच्चेत्याशङ्क्य केषुचित् पदार्थेषु प्रत्यासत्तिमुपपादयन्नाह—

तत्समवायात् कर्मगुणेषु ॥ १४ ॥

प्रत्यक्षज्ञानं जायते इति शेषः। भौतिकानीन्द्रियाणि यदि सन्निकर्षमपेक्षन्ते तदा परमाण्वाकाशदिक्कालसमवेतेषु स्वमनःसंयोगिसमवायात् इतरद्रव्येषु च कायव्यूहोपभोगार्थोपगृहीतनानापण्डमनःसंयोगात् तत्संयुक्तसमवायात् तत्तद्-द्रव्यगुणादिषु ज्ञानमुत्पद्यते। एतच्चोपपत्तिसौकर्यमनुरुध्योक्तम्।

वस्तुतो बाह्येन्द्रियेषु मनसि च योगज एव धर्मः प्रत्यासत्तिस्तत एव

(स्थान) को अवश्य प्राप्त करेंगे, ऐसा निश्चय करते हुए संपूर्ण विषय-समुदाय को योग से उत्पन्न धर्म के बल से इन्द्रियों में विशेष सामर्थ्य प्राप्त कर व्यवधान-युक्त तथा दूरस्थ विषयों का प्रत्यक्ष करते हैं ॥ १३ ॥

यदि उक्त विषयों में योगियों को मानस ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि मन बाहर के विषयों में स्वतन्त्र नहीं होता, न तो बहिरिन्द्रियों से ज्ञान हो सकता है, क्योंकि इन्द्रियां अपने से सम्बद्ध वर्तमान पदार्थों को ग्रहण करती हैं, तथा यथोचित उद्भूत रूपादि गुणों की भी अपेक्षा करती हैं एवं आलोक (प्रकाश) आदि सामग्री की भी आवश्यकता रखती हैं, इस प्रकार पूर्वपक्षी शंका करे तो इसके समाधा-नार्थ कुछ विषयों में संनिकर्ष को सिद्ध करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तत्समवायात् = उनके समवायसम्बन्ध से, कर्मगुणेषु = कर्म और गुण पदार्थों में, प्रत्यक्ष होता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—भौतिक इन्द्रियों को परमाणु आदि पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान होने में मन से संयुक्त समवायसम्बन्ध से प्रत्यक्ष रूप ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित 'प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है' ऐसा शेष भाग पूर्ण करना। चक्षु आदि भौतिक इन्द्रियां 'यदि संनिकर्ष की आवश्यकता रखती हैं तो परमाणु, आकाश, दिशा, काल इनमें समवायसम्बन्ध से रहने वाले में अपने मन के संयोगियों में समवायसम्बन्धरूप संनिकर्ष से, तथा दूसरे द्रव्यों में शरीर-समुदायों के भोग के लिये गृहीत (अंगीकृत) अनेक पण्ड (निष्फल) मन के संयोग से तथा उन-उन द्रव्यों के गुण-कर्म आदिकों में मन से संयुक्तसमवाय संनिकर्ष से प्रत्यक्षरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। यह युक्ति की सरलता के अनुरोध से कहा है।

वस्तुतः बाह्य इन्द्रिय तथा मन से भी योगजन्य धर्म ही संनिकर्ष है, उसी से सब प्रकार की अनुपपत्ति (असंगति) की शान्ति हो जायगी जिससे अगस्त्य मुनि का

सर्वानुपपत्तिशान्तेः, अगस्त्यसमुद्रपानं दण्डकारण्यनिर्माणञ्चेति दृष्टान्तः ॥१४॥

तत् किं स्वकीयबुद्ध्यादिष्वपि मनसो द्रव्यान्तरसंयुक्तसमवाय एव प्रत्यासत्तिः, नेत्याह—

आत्मसमवायादात्मगुणेषु ॥ १५ ॥

योगिनां प्रत्यक्षं ज्ञानमुत्पद्यते इति प्रकृतम्। आत्मसमवेतानान्तु बुद्ध्यादीनां संयुक्तसमवायादेव प्रत्यक्षे ज्ञानमुत्पद्यतेऽस्मदादीनामिवेति न तत्र सन्निकर्षान्तरापेक्षेत्यर्थः। तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यभिचारिज्ञानं लौकिकालौकिकप्रत्यक्षम्, अर्थजं वा। साक्षात्त्वयोगिज्ञानं प्रत्यक्षमिति लौकिकालौकिकसाधारणम् ॥ १५ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे नवमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम्।

समुद्र को सुखाना तथा दण्डकारण्य को निर्माण करना दृष्टान्त जानना चाहिये ॥१४॥

'तो क्या अपने बुद्धि आदि गुणों में भी मन का दूसरे द्रव्य से संयुक्त-समवाय ही संनिकर्ष है' इस शंका के उत्तर मे सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—आत्मसमवायात् = आत्मा के समवाय से, आत्मगुणेषु = आत्मा के गुणों में योगियों को प्रत्यक्ष होता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—आत्मा में समवायसंबन्ध से वर्तमान ज्ञान आदि गुणों का संयुक्त-समवायसंनिकर्ष से योगियों को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥ १५ ॥

उपस्कार—सूत्र में योगियों को प्रत्यक्षरूप ज्ञान उत्पन्न होता है यह प्रकृत (प्रस्तुत) है। आत्मा में समवायसम्बन्ध से वर्तमान ज्ञान, सुख आदि गुणों का संयुक्तसमवायसंनिकर्ष से ही प्रत्यक्षरूप ज्ञान उत्पन्न होता है, हम जीवों के समान इस कारण उसमें दूसरे संनिकर्ष की आवश्यकता नहीं है यह सूत्र का अर्थ है। उसमें इन्द्रिय तथा पदार्थों के संनिकर्ष से उत्पन्न व्यभिचाररहित ज्ञान लौकिक तथा अलौकिक प्रत्यक्ष होता है अथवा अर्थ (पदार्थजन्य) ज्ञान, प्रत्यक्षत्व योग (सम्बन्धी) ज्ञान प्रत्यक्ष कहाता है यह लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रत्यक्षों में वर्तमान साधारण प्रत्यक्ष का लक्षण है ॥ १५ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्रकृत वैशेषिक सूत्रोपस्कार में नवमाध्याय का प्रथमाह्निक समाप्त हुआ।

नवमाध्याये द्वितीयाह्निकम् ।

तदेवं पूर्वाह्निके योगिप्रत्यक्षमयोगिप्रत्यक्षञ्च कारणतः स्वरूपतो लक्षणतश्च निरूपितम् । प्रमाणं द्विविधं प्रत्यक्षं लैङ्गिकञ्चेति यद्विभक्तं तत्र लैङ्गिकमिदानीं निरूपयितुमुपक्रमते—

अस्येदं कार्य्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥ १ ॥

ज्ञानमिति प्रकृतम् । लिङ्गाज्जातं लैङ्गिकं व्याप्तिविशिष्टः पक्षधर्मो लिङ्गम् । तत्र व्याप्तिरुक्ता, यत्सिषाधयिषाविरोधिप्रमाणाभावो यत्र स तं प्रति पक्षः । तादृशं प्रमाणं साधकं बाधकञ्च, तदुभयाभाववतः पक्षत्वात् । न हि साधके

इस प्रकार नवमाध्याय के प्रथमाह्निक में योगी तथा योगिभिन्न प्राणियों के प्रत्यक्ष को कारण तथा स्वरूप का वर्णन कर लक्षण का भी वर्णन किया गया । प्रमाण का भी प्रत्यक्ष तथा लैङ्गिक (अनुमान) रूप से जो दो प्रकार का विभाग किया गया है उनमें लैङ्गिक (अनुमान) प्रमाण का निरूपण करने को सूत्रकार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—अस्य = इस कारण का, इदं = यह, कार्यं = कार्य है, कारणं = कारण है, संयोगि = संयोगसम्बन्धवाला है, विरोधि = विरोधाश्रय है, समवायि च= समवायसम्बन्धवाला है, इति = इस प्रकार, लैङ्गिकम् = लिङ्ग से उत्पन्न, अनुमान होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—इस कारण का यह कार्य है, इस कार्य का यह कारण है, इसका यह संयोगसम्बन्धी है, इसका यह विरोधी है, इसका यह समवायसम्बन्धी है, इस प्रकार लिङ्ग से होने वाला अनुमानप्रमाण होता है ॥ १ ॥

उपस्कार—इस सूत्र में 'ज्ञानं' ज्ञान यह प्रस्तुत है । लिङ्ग (हेतु) से उत्पन्न लैङ्गिक (अनुमान) कहाता है । व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्म का नाम है लिङ्ग । जिससे 'प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य' इस सूत्र में व्याप्ति पूर्वग्रन्थ में कही है । प्रकृतपक्ष विशेष्यवाले साध्यप्रकारक निश्चय की इच्छा के उत्पन्न न करनेवाले प्रत्यक्षात्मक निश्चय के व्यवधानरहित पूर्वक्षण में वर्तमान उसके समानाधिकरण ज्ञानरूप प्रमाण का अभाव जिसमें हो वह उसमें पक्ष होता है अर्थात् जिस पुरुष के जिस पक्ष तथा साध्यवाले निश्चित इच्छा को न उत्पन्न करने वाला, तथा उसी

बाधके वा प्रमाणे सति कस्यचित् संशयः सिषाधयिषा वा। अत एव सन्दिग्ध-साध्यधर्मा धर्मी सिषाधयिषितसाध्यधर्मा धर्मी वा पक्ष इति प्राञ्चः।

उत्पाद्यसाध्यवत्तानिर्णयनिवर्त्यसंशयोत्पत्तिप्रतिबन्धकमानत्वावच्छिन्नाभावो यत्र स पक्ष इति जीवनाथमिश्राः। सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकमानाभावो यत्र स पक्ष इति केचित्। एतन्मते तु बाधस्थलेऽपि पक्षता। तदेतदनुमानम-यूखे द्रष्टव्यम्। तदेतस्य पक्षस्य धर्मो लिङ्गमित्युक्तं भवति। लिङ्गञ्च दृष्टमनुमितं श्रुतं वा यदनुभवरूपं ज्ञानं जनयति तल्लैङ्गिकम्। तदुक्तम्—

पुरुष के प्रत्यक्ष के व्यवधानरहित पूर्वक्षण में वर्तमान होते हुए उसके समानाधिकरण जो ज्ञान उसके समवायसम्बन्ध से युक्त प्रतियोगितावाले अभाव का आश्रय जो हो वह उस पुरुष की अनुमिति में पक्ष होता है। यहां पर परम्परा सम्बन्ध से निश्चय में वर्तमान जो प्रतियोगिता की नियामकता उसकी निरूपक विशेष्यता सम्बन्ध से युक्त नियामकता सम्बन्ध से प्रतियोगिता के अभाव का आश्रय लेना चाहिये। आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि ऐसा प्रमाण दो प्रकार का होता है साधक और बाधक भी, उन दोनों के अभाव का आश्रय पक्ष होता है। साधक अथवा बाधक प्रमाण के रहते किसी पुरुष को संशय अथवा अनुमिति की इच्छारूप सिषाधयिषा नहीं होती। अर्थात् प्रकृतपक्ष विशेष्यवाला साध्य-निश्चयरूप सिद्धि का ज्ञान सिषाधयिषा में प्रतिबन्धक होता है, साधक प्रमाण सिद्धि को उत्पन्न करता हुआ सिषाधयिषा के सिद्ध्यभावरूप करण के विघटन द्वारा उत्पन्न होने का प्रयोजक है। इसी प्रकार सिद्धिधर्मिवाला इष्टसाधतता ज्ञानरूप बाधक प्रमाण भी सिषाधयिषा के दूसरे कारण को बाधनिश्चय द्वारा प्रतिबन्ध करता हुआ अनुत्पाद का प्रयोजक होता है। प्राचीनों ने सिद्धि के समान सिद्धि-विषय में इष्टसाधनता-ज्ञान भी बाधनिश्चय प्रतिबंधक होता है ऐसा माना है, तद्विषयविषयक ज्ञान तद्विषय होता है। ऐसा नियम होने से इष्टसाधनता ज्ञान भी पक्ष तथा साध्यविषयक होने के कारण एवं च उक्त प्रकार से साधक तथा बाधक प्रमाण होने पर भी पक्षता न होगी यही गूढ अभिप्राय है।

आगे इसी आशय से शंकरमिश्र कहते हैं कि—इसी कारण संदेहयुक्त साध्य धर्मवाला धर्मी अथवा सिषाधयिषित (साधन की इच्छा के विषय) साध्य धर्म वाला धर्मी पक्ष कहलाता है। ऐसा प्राचीन नैयायिकों का मत है। (ऐसा होने से इस मत से साध्य के निश्चय से (निवर्त्य) रहने योग्य संशयरूप पक्षता होती है जो विशे-ष्यता संबंध से पर्वतादिपक्ष में रहती है। उक्त दो मतों में से दूसरा मत है प्रशस्त-पादाचार्य का, इनके मत में सिषाधयिषारूप पक्षता विषयता सम्बन्ध से पक्ष में रहती है यह अभिप्राय जानना) जीवनाथमिश्र का मत दिखाते हुए शंकरमिश्र

अनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धञ्च तदन्विते।
तदभावे तु नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥ इति।

एतेन लिङ्गमेवानुमितिकरणं न तु तस्य परामर्शः, तस्य निर्व्यापारत्वेनाकरणत्वात्, लिङ्गस्य तु स एव व्यापारः। यत्र धूमादेरतीतत्वमनागतत्वं वा तत्र कथमनुमितिरिति चेन्न, साध्यस्याप्यतीतानागतत्वयोस्तत्रानुमानात्, तत्रैव

कहते हैं कि—उत्पन्न होने के योग्य साध्यवत्तानिश्चय से निवर्त्य (हटाने योग्य) संशय की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक प्रमाण सामान्य का अभाव जिसमें हो उसे पक्ष कहते हैं ऐसा जीवनाथ मिश्र का मत है। अर्थात् प्रकृतपक्ष तथा साध्य वाले अप्रामाण्य ज्ञान से अतिरस्कृत अनुमितित्व की व्यापक प्रतिबन्धकता से निरूपित प्रधितवध्यतावाले संशय की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक प्रमाण के अभाव का नाम है पक्ष। (यहां पर व्यापक कोटि में अनाहार्यता के निवेश के कारण आनेवाले गौरव दोष के निरासार्थ निर्णय में 'उत्पाद्य' ऐसा विशेषण अनुमिति के लाभ के लिये दिया है। तथा पर्वत वह्निमान् है, घट रूपवान् है या नहीं इस समूहालंबनरूप संशय के निरासार्थ निवर्त्य पर्यन्त संशय में विशेषण दिया है। ऐसा होने से इस प्रकार के संशय के प्रतिबन्धक जो मान अर्थात् ज्ञान जो सिद्धि तथा बाधनिश्चय में से एक, उसका सामान्याभाव जिसमें हो वह पक्ष होता है, ऐसा होने से सिद्धि तथा बाधनिश्चय के उत्तरकाल में पक्षता न होगी यह आशय है।) आगे चिन्तामणिकार गंगेशोपाध्याय का मत दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते है कि—सिषाधयिषा के अभाव से सहायित साधक प्रमाण का अभाव जिसमें हो उसे पक्ष कहते हैं—ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। अर्थात् इस मत में सिषाधयिषा के अभाव से युक्त सिद्धिरूप प्रतिबन्धक के अभाव ही को पक्षता कहते हैं, और वह स्वप्रतियोगि विशेष्यतासम्बन्ध से पर्वतादिकों में रहती है, और वह आत्मा में वर्तमान प्रत्यासत्ति (संनिकर्ष) से अनुमिति का कारण होती है। (उक्त चिन्तामणिकार के मत का खंडन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि) किन्तु इस मत से बाधस्थल में भी पक्षता होती है। किन्तु चिन्तामणिकार के अनुयायि नैयायिकों का ऐसा कथन है कि—उक्त चिन्तामणि ग्रन्थ में अनुमित कारण पक्षता का निर्वचन (स्वरूप कथन) किया है, न कि पक्षपद का शक्य (मुख्य) अर्थ उससे कहा गया है। जिससे बाधनिश्चयविशेष में पक्ष पद के व्यवहार की आपत्ति होगी, पक्ष पद की मुख्यार्थता का नियामक तो अनुमिति का उद्देश्य होना ही है। शंकरमिश्र कहते हैं कि इस विषय में और विस्तार हमारे किये अनुमानखंड के मयूखग्रंथ में देख लेना चाहिये। इससे व्याप्ति विशिष्ट पक्ष का धर्म (लिङ्ग) होता है यह कहा गया है। (यहांपर ज्ञान के विषय लिङ्ग से उत्पन्न अनुभव 'लैङ्गिक' तथा 'अनुमिति' ऐसा भी कहा जाता है। संनिकर्ष के ज्ञायमान अथवा कहीं

प्रतिबन्धात्। अतीतत्वमनागतत्वं वर्त्तमानत्वञ्च धूमादेर्यत्र न निश्चितं तत्र कथमनुमितिरिति चेत्, न कथञ्चित् तत्र साध्यस्यापि सन्देहात्। पूर्वापरदिनयोः सत्त्वनिश्चये मध्यन्दिने तु सन्देहे कथमनुमितिरिति चेत् तद्दिनावच्छिन्नधूमादिना तद्दिनावच्छिन्नवह्न्यादेरनुमानात्, तथैव व्याप्तेः कारणत्वावधारणात्। धूलीपटलात् कथं धूमभ्रमादनुमितिरिति चेत् व्याप्तत्वेन ज्ञातस्यैव लिङ्गत्वात् ज्ञानस्य च याथार्थ्यायाथार्थ्याभ्यामनुमितेस्ताद्रूप्यात्, अन्यथा तवापि कथं तत्र परामर्शः करणं स्यात्। अतीन्द्रियलिङ्गस्थले परामर्शस्य तदज-

---

लिङ्ग होने पर भी उस रूप से वह प्रत्यक्ष में कारण न होने से अतिव्याप्ति दोष न होगा। विशेष स्मरण में उद्बोधक के रीति से ज्ञानविषय लिङ्ग के कारण होने से अतिव्याप्ति वारण के लिये यहां शंकरमिश्र ने आगे अनुभव पद दिया है यह जानना। आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि—और वह दृष्ट (प्रत्यक्ष) अनुमित (अनुमान किया हुआ) अथवा श्रुत (सुना हुआ) जो अनुभव रूप ज्ञान को उत्पन्न करता है वह लैङ्गिक कहाता है। इसी विषय (लिङ्गजन्य ज्ञान अनुमिति का कारण है। प्रशस्तपादादि प्राचीनों की सम्मति दिखाते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि—अनुमेयेन = पक्ष से, सम्बद्ध= सम्बन्ध रखनेवाला, प्रसिद्धं च=और प्रसिद्ध हो, तदन्विते=साध्य निश्चयवाले सपक्ष में तदभावे तु = किन्तु साध्य के अभाव वाले विपक्ष में न अस्ति एव = नहीं ही हो तत् = वह, लिङ्गं = लिङ्ग होता है अनुमापकम् = साध्य का अनुमान कराने वाला इति=ऐसा। अर्थात् 'सम्बद्ध से पक्षवृत्तिता, तदन्विते इत्यन्त से सपक्षसत्ता, और 'नास्येव' इससे विपक्ष में अवृत्तिता ऐसे तीन रूप लिङ्ग के साध्य की अनुमान से ही सिद्धि करने में कारण है यह अर्थ है। इससे लिङ्ग ही अनुमिति का कारण है, न कि उसका परामर्शरूप ज्ञान, क्योंकि वह व्यापार रहित होने से करण नहीं हो सकता। और लिङ्ग का तो वह परामर्श ही व्यापार है। 'यदि लिङ्ग को कारण मानने से जहां धूमादि लिङ्ग अतीत (बीत गया) है अथवा अनागत (भविष्य) है, वहां अनुमिति कैसे होगी' ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वहां पर वह्नि आदि साध्य के अतीतता अथवा भविष्यत्ता का ही अनुमान होता है, क्योंकि उसी में प्रतिबन्ध-व्याप्ति है। अर्थात् जहां धूम अतीत नष्ट है वहां वह्नि की वर्तमानता का अनुमान नहीं होता, किन्तु वह्नि की अतीतता का ही अनुमान होता है, ऐसा होने से अतीत हेतुस्थल में अतीत ही साध्य में प्रतिबन्ध (व्याप्ति) है यह शंकर मिश्र के अक्षरों का अर्थ है। यदि जहां पर धूमादि लिङ्गों की अतीतता तथा भविष्यत्ता का निश्चय नहीं है वहां अनुमिति कैसे होगी ? ऐसा पूर्वपक्षी कहे ध्वंस आदि रूप व्याप्य के संदेह से साध्य का वहां संदेह ही होगा अनुमिति किसी प्रकार न होगी, क्योंकि वहां साध्य का संदेह रहता है।

न्यतया कथं तद्व्यापारत्वमिति चेत् तत्सत्तानिर्वाहकत्वरूपक्षैमिकसाधनतायास्तत्र व्यापारत्वघटकत्वात्, अन्यथा समवायस्य श्रवणादेर्व्यापारत्वानुपपत्तेरिति। कार्य्याल्लिङ्गात् धूमालोकादेरग्न्याद्यनुमानम्। कारणादपि यथा बधिरस्य भेरीदण्डसंयोगविशेषात् शब्दानुमानम्, यथा वा धार्मिकस्य यथाविधियागस्नानाद्यनुष्ठानाद्धर्मस्वर्गाद्यनुमानम्, यथाविधि कारीर्य्याद्यनुष्ठा-

---

'पूर्व तथा आगे के दिन जहां हेतु की सत्ता का निश्चय है और मध्य (बीच) दिन में संदेह है, वहां अनुमिति कैसे होगी ? ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो, उस दिन में वर्तमान धूमादि लिङ्ग से उस दिन में वर्तमान वह्नि आदि साध्य का अनुमान होगा यह उत्तर है, क्योंकि उसी प्रकार व्याप्ति में कारणता का निश्चय है। अर्थात् जहां उस दिन में धूम है वहां उसके पूर्व या उत्तर दिन में वह्नि है इस प्रकार उस स्थल के कालविशेष को लेकर व्याप्ति का ज्ञान होने से ही अतीत वह्न्यादिकों का अनुमान होने से कोई दोष न होगा। 'धूलि के समुदाय में धूम का भ्रम होने पर उससे वह्नि का अनुमान कैसे होगा ?' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो व्याप्तिविशिष्टरूप से जाना हुआ ही लिङ्ग होता है, ज्ञान की यथार्थता (सत्यता) तथा अयथार्थता (असत्यता)ओं से अनुमिति में यथार्थता और अयथार्थता होती है, अन्यथा आपके मत में भी वहां परामर्श कैसे कारण होगा। (अर्थात् धूम करण है यह हम नहीं कहते, किन्तु व्याप्ति विषयरूप से जाना हुआ ही करण है यह कहते हैं, ऐसा होने से उक्त स्थल में धूलि का समूह ही उस रूप से जाना गया है, अतः दोष न होगा)। 'अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) हेतुस्थल में परामर्श के उससे उत्पन्न न होने के कारण करण का व्यापार कैसे होगा' यदि ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो उसके सम्बन्ध का निर्वाह करना रूप क्षैमिक (कल्याण कारक) कारणता को वहां व्यापार तो हो सकती है, ऐसा न माने तो श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द के ग्रहण में समवायसम्बन्ध भी नित्य होने के कारण व्यापार न हो सकेगा। अर्थात् ज्ञानरूप विषयी के स्वरूप के विषय के अधीन होने से विषयी के अधीन सम्बन्ध में भी विषय की अधीनता है यह तात्पर्य है। ऐसा मानने से आचार्य मत में कोई दोष न होगा। और ऐसा होने पर भी लिङ्ग को करण मानने के पक्ष में मैत्र नामक पुरुष को भये परामर्श के विषय हेतु से चैत्र नामक पुरुष को अनुमान हो ही जायगा। यह आपत्ति नहीं हो सकती। यदि इस दोष के वारणार्थ 'तत्पुषीयता' उस-उस पुरुष के अनुमिति में ऐसा निवेश किया जाय तो लिङ्ग ज्ञान की कारणता अपेक्षा से महागौरव दोष आ जायगा ऐसा चिन्तामणि का आशय है।

(सूत्र में दिये कार्यादि लिङ्गों का उदाहरण देते हुए शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—धूम तथा आलोक (प्रकाश) आदि रूप कार्य लिङ्ग से उसके कारण अग्नि

नाद्वा वर्षानुमानम्, पयःपूर्णनद्यादौ खन्यमानप्रवाहाद्वा जलनिःसरणानुमानम् , ऊपरिवृष्टिदर्शनाद्वा नदीवृद्ध्यनुमानम् । स चायं कार्य्यकारणभावलक्षण एकसम्बन्धः प्रकारद्वयेनोक्तः । संयोगिनः शरीरस्य दर्शनात्त्वगिन्द्रियानुमानम् । विरोधिनो विस्फूर्जतोऽहेर्दर्शनाज्झाटाद्यन्तरितनकुलानुमानम् । समवायिना जलौष्ण्येन तत्सम्बद्धतेजोऽनुमानम् ॥ १ ॥

नन्वव्यापकमिदं परिसङ्ख्यानम् । न हि चन्द्रोदयेन समुद्रजलवृद्धेः-जलप्रसादेनागस्त्योदयस्य-कुमुदप्रकाशेन चन्द्रोदयस्य-चतुर्दशनक्षत्रोदयेनापरचतुर्दशनक्षत्रास्तमयस्य-रसेन रूपस्य-रूपविशेषेण वा रसविशेषस्यानुमानमनेन संगृह्यते इत्यत आह—

का अनुमान होना यह प्रथम कार्यलिङ्ग का उदाहरण है । दूसरा कारण रूप भी लिङ्ग से जैसे बधिर मनुष्य को भेरी तथा दण्ड के संयोगविशेषरूप कारण से शब्दरूप कार्य का अनुमान अथवा धार्मिक पुरुष का विधिपूर्वक यज्ञ, स्नान इत्यादि कार्य के अनुष्ठान से, धर्म अदृष्ट (स्वर्ग आदि कार्य का अनुमान, अथवा विधिपूर्वक कारीरी नामक यागरूप कारण से वर्षारूप कार्य का अनुमान, अथवा जल से पूर्ण नदी आदि में या खने हुए जल के प्रवाहरूप कारण से जल के निःसरण (निकलने) रूप कार्य का अनुमान, अथवा ऊपर हुई वृष्टि के दर्शन रूप कारण से नदी की वृद्धि होनेरूप कार्य का अनुमान, (यह संपूर्ण कारण से कार्य के अनुमान के उदाहरण हो सकते हैं) । और वह यह कार्यकारणभाव रूप एक ही सम्बन्ध कार्यत्व तथा कारणत्वरूप दो प्रकार से सूत्र में कहा गया है (इससे वैशेषिकमत में वर्णन किये कार्यकारण, संयोगि, समवायि तथा विरोधी ऐसे चार प्रकार के सम्बन्धों का वर्णन विरुद्ध नहीं होता)। संयोगी का उदाहरण है शरीर के दर्शन से त्वगिन्द्रिय का अनुमान, क्योंकि त्वगिन्द्रिय शरीर में संयक्त है । विस्फूर्जतः (फुफकारनेवाले) सर्प को देखकर झाड़ी में छिपे नकुल ने (नेऊरे) का अनुमान होना विरोधी लिङ्ग का उदाहरण है । जल में समवायसम्बन्ध से वर्तमान उष्णता से उसमें सम्बद्ध अग्नि आदि तेज का अनुमान समवायि लिङ्ग का उदाहरण है ॥१॥

यह लिङ्ग की गणना अव्यापक है, क्योंकि चन्द्रमा के उदय से समुद्र के जल की वृद्धि का अनुमान, जल की निर्मलता से अगस्त्य नामक तारा के उदय का अनुमान, कुमुदों के प्रकाश से चन्द्र के उदय का अनुमान, एक चतुर्दश नक्षत्रों के उदय से दूसरे पूर्व चतुर्दश नक्षत्रों के अस्त होने का अनुमान, रस से रूप का अनुमान, अथवा रूपविशेष से रसविशेष का अनुमान, इनका संग्रह नहीं होता । अर्थात् सूत्रोक्त चार प्रकार के सम्बन्धों में से इन अधिक दिये उदाहरणों में किसी भी सम्बन्ध का संभव न होने के कारण सम्बन्धगणना असंगत है—इस पूर्वपक्षी की शंका के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

अस्येदं कार्य्यकारणसम्बन्धश्चावयवाद्भवति ॥ २ ॥

अस्येदमित्येतावदेव प्रयोजकं भवतीति, अस्य साधनस्य धूमादेरिदं साध्यं वह्न्यादि । यद्वाऽस्य वह्न्यादेरिदं व्याप्यं धूमादि । तथाच व्याप्यत्वग्रहमात्रं तन्त्रं न तु कार्यकारणभावादिरपि । ननु पूर्वसूत्रे तर्हि परिसङ्ख्यानमतन्त्रमत आह– कार्य्यकारणसम्बन्ध इति । अनेन चोक्तं सम्बन्धान्तरमप्युपलक्षयति । सम्बन्धपदे च विषयिलक्षणा, तेन सम्बन्ध इति सम्बन्धोपन्यास इत्यर्थः । कुतस्तदुपन्यास इत्यत आह–अवयवात् एकदेशात् उदाहरणमात्रात् ल्यब्लोपे पञ्चमी । तेनोदाहरणमनुरुध्य कार्य्यकारणभावादेः सम्बन्धस्योपन्यास इह दर्शने साङ्ख्यादिदर्शने च भवतीत्यर्थः ।

पदपदार्थ—अस्य = इसका, इदं = यह है, कार्यकारणसम्बन्धः च = और कार्य तथा कारण का सम्बन्ध भी, अवयवात् = एकदेशरूप अवयव उदाहरण से, भवति = होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—इस साधन का यह साध्य है इस प्रकार व्याप्यता ज्ञानमात्र अनुमान में प्रयोजक है, सूत्र में कार्यकारण इत्यादि चतुर्विध सम्बन्धों का वर्णन केवल उदाहरण मात्र के आशय से किया गया है ॥ २ ॥

उपस्कार—'अस्य इदं' इसका यह है, इतना ही अर्थात् इस धूमादि साधन का यह वह्नि आदि साध्य है, अथवा इस वह्नि आदि साध्य (व्यापक) का यह धूम आदि व्याप्य है यह ज्ञान ही प्रयोजक है, ऐसा होने से यह सिद्ध होता है कि अनुमिति में केवल हेतु में व्याप्यता ज्ञान ही कारण है नकि कार्यता कारण आदि होना भी । 'यदि ऐसा है तो प्रथम सूत्र में कार्यकारण आदि चार प्रकार के हेतुओं की गणना करना सूत्रकार का असंगत है' इस शंका के समाधानार्थ सूत्रकार ने सूत्र ने 'कार्यकारणसम्बन्धश्च' 'ऐसा कहा है । इससे संयोगी विरोधी समवायी आदि से दूसरे सम्बन्ध भी सूत्रकार ने सूचित किये हैं । सूत्र में सम्बन्ध पद की विषयी में लक्षणा है, इससे 'सम्बन्धः' इस पद का सम्बन्ध का उपन्यास 'कथन' ऐसा अर्थ है । सम्बन्ध का उपन्यास क्यों किया है ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—अवयवात्–अवयव अर्थात् एकदेश से उदाहरण मात्र के लिये किया गया है, अवयवात् इस पद में ल्यप् प्रत्यय के लोप में पंचमी विभक्ति है, जिससे उदाहरण को अनुसरण कर कार्यकारणभाव आदि रूप सम्बन्ध का सूत्र में उपन्यास (कथन) है, ऐसा वैशेषिक तथा सांख्यदर्शन में सिद्ध होता है यह सूत्र का अर्थ है । अर्थात् वैशेषिकदर्शन में सूत्रोक्त कार्य कारण, संयोगी, विरोधी, तथा समवाय ऐसे चार सम्बन्ध हैं और सांख्यमत में भी मात्रा, निमित्त, संयोगी, विरोधी, सहचारी, स्वस्वामिभाव, वध्यघातकभाव ऐसे सात हेतुओं से अनुमिति

एवंच स्वाभाविकसम्बन्धशालित्वं व्याप्यत्वम्। स्वाभाविकत्वं चानौपाधिकत्वम्। तच्च प्रत्यक्षाणां केषांचित् साध्याव्यापकत्वनिश्चयात्, केषांचित् साधनेव्यापकत्वनिश्चयादेवानुपाधित्वं ज्ञेयम्। अतीन्द्रियाणां च प्रमाणसिद्धानां केषांचिदुभयव्यापकत्वम् उभयाव्यापकत्वं साधनमात्रव्यापकत्वं साध्यमात्रव्यापकत्वं वा। तत्राद्ये साधनव्यापकत्वात् द्वितीये साध्याव्यापकत्वात् चतुर्थेऽपि साधनव्यापकत्वादेवानुपाधित्वं निश्चेयम्। तृतीयेऽपि व्यापकस्य तन्मात्रव्यापकत्वानुपपत्तिरितरस्य तु कथं तन्मात्रव्यापकत्वमित्यत्र तर्कोऽनुसन्धेय इति

होती है, इस प्रकार सात सम्बन्धों का कथन भी केवल उदाहरण मात्र है न कि गणना में तात्पर्य है यह सिद्ध होता है।

ऐसा होने से स्वाभाविक सम्बन्ध स्वभावता ही हेतु में व्याप्यता है। तथा अनौपधिकत्व (उपाधिशून्यता) ही सम्बन्ध में स्वाभाविकता है। और वह उपाधिशून्यता कुछ प्रत्यक्ष उपाधि (जैसे पर्वत वह्निमान है धूम होने से इस अनुमान से तप्त अयः (लोह) पिण्ड में) वह्निरूप साध्य के रहने पर भी आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधि के न रहने के निश्चय से उपाधिशून्यता का ज्ञान होता है। कुछ उपाधियों में (जैसे यह सूपाश्रय है रस होने से) इस अनुमान में स्नेहादि गुणों में रूप साध्य की व्यापकता होने पर भी रससाधन की अव्यापकता न होने से उपाधिशून्यता का ज्ञान होता है। और प्रमाण से सिद्ध अतीन्द्रिय (अप्रत्यक्ष) कुछ उपाधियों में साध्य तथा साधन दोनों की व्यापकता होती है तथा कुछ उपाधियां में साध्य तथा साधन दोनों की अव्यापकता होती है, कुछ में केवल साधन की व्यापकता, एवं कुछ उपाधियों में केवल साध्य की अव्यापकता होती है। उनमें से प्रथम में साधन की व्यापकता होने से, द्वितीय में साध्य की अव्यापकता होने से, और चतुर्थ में भी साधन की व्यापकता होने से ही उपाधिशून्यता का निश्चय होता है।

तृतीय में भी "साध्य व्यापक में केवल साध्य व्यापकत्व नहीं हो सकता, किन्तु उससे भिन्न में तन्मात्र व्यापकता कैसे होगी ?" इस शंका के समाधानार्थ तर्क का अनुसरण करना होगा इस प्रकार तुल्ययोगक्षेमत्व (समान आपत्ति तथा समाधान) होने के कारण उपाधिशून्यता का ज्ञान होता है यह निश्चय जानना (अर्थात् उक्त स्थल में प्रमाण से सिद्ध गुरुत्व आदि अतीन्द्रिय उपाधियों में भी उपरोक्त चार निरुपाधिकता के प्रकारों से अनौपाधिकत्व (उपाधिशून्यता) है ही। किन्तु केवल साधन व्यापकतारूप तृतीय पक्ष में यदि यह दूसरों का व्यापक होगा तो केवल साधन का व्यापक कैसे होगा और व्याप्य हो तो केवल उसी का व्यापक कैसे होगा' इस तर्क की सहायता से योग तथा क्षेम (अप्राप्त प्राप्ति तथा प्राप्त का रक्षण) दोनों में समान होने से उपाधिशून्यता का ज्ञान होगा यह आशय यहां जान लेना)।

तुल्ययोगक्षेमत्वादिनाऽनुपाधित्वमध्यवसेयम् । भविष्यति कश्चिदत्रोपाधिरितिशङ्कापिशाची सकलविधिनिषेधव्यवहारानास्कन्दतीत्यनादेयेत्यनौपाधिकत्वनिश्चयसम्भवात् । उपाधिलक्षणं व्याप्तिलक्षणं चोक्तम् ।

तच्चानुमानं द्विविधं—स्वार्थं परार्थञ्च । तत्र स्वार्थं स्वयमेव व्याप्तिपक्षधर्मतयोरनुसन्धानात् । परार्थञ्च परोदीरितन्यायजन्यव्याप्तिपक्षधर्मताज्ञानात् ।

(आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि) उपाधि होगी । इस प्रकार की यहां कोई शंका रूप पिशाचि भी तो संपूर्ण शास्त्र में विहित तथा निषिद्ध व्यवहारों को ही आक्रमण करने के कारण नहीं मानी जा सकती, इस कारण उपाधिशून्यता का निश्चय हो सकता है ।

उपाधि तथा व्याप्ति का लक्षण पूर्वग्रन्थ में कहा गया है । इस प्रकार प्रदर्शित लैङ्गिकज्ञानरूप अनुमान स्वार्थ तथा परार्थ भेद से दो प्रकार का है । उनमें से स्वयं ही व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के ज्ञान से उत्पन्न होने वाले अनुमान को स्वार्थ अनुमान कहते हैं । और दूसरे पुरुष के कहे हुए न्याय से उत्पन्न व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के ज्ञान से उत्पन्न अनुमान को परार्थ अनुमान कहते हैं । तृतीय (तीसरे) लिङ्ग परामर्श ज्ञान के प्रयोजक (संपादक)शब्दज्ञान के उत्पन्न करने वाले वाक्य को न्याय कहते हैं । अर्थात् प्रथम हेतुस्वरूप लिङ्ग का दर्शन होता है, उसके लिङ्ग निश्चयरूप होने से लिङ्ग परामर्श होने पर भी उसकी विवक्षा (कहने की इच्छा) नहीं है, किन्तु उससे व्याप्ति का स्मरण होता है और उससे तृतीय क्षण में जो लिङ्गपरामर्शरूप ज्ञान होता है वही तृतीय लिङ्गपरामर्श कहा जाता है, वह व्याप्ति तथा पक्षधर्मताविशिष्ट हेतुरूप लिया जाता है, उसके उत्पादक शाब्दज्ञान को उत्पन्न करने वाले वाक्य को न्याय कहते हैं, यह अर्थ है । यहां पर वाक्यपद पूर्वोक्त शाब्दज्ञान में वर्तमान कार्यता से निरूपित कारणता के विषयरूप से नियामकता की पर्याप्ति के आश्रय के लाभ के लिये दिया है, नहीं तो न्याय के एकदेश में लक्षण जाने से अव्याप्ति दोष हो जायगा । उपनय आदिकों से उत्पन्न शाब्दज्ञान को दूसरे पुरुष के परामर्श में शाब्दत्वरूप से कारणता नहीं है, किन्तु विशेषण ज्ञानरूप से, और पूर्वोक्त परामर्श में तो न्याय से उत्पन्न शाब्दत्वरूप से ही कारणता है यह अन्वय तथा व्यतिरेक के अनुसरण से सिद्ध है यह यहां आशय है । और यथाश्रुत अर्थ में उपनयादिकों में अतिव्याप्ति दोष होगा । उसके निरासार्थं प्रयोजकपर्यन्त विशेषण केवल प्रतिज्ञादि संम्पूर्ण अवयवों के अर्थ ज्ञान का परिचायक है न कि उसका लक्षण में निवेश है । ऐसा होने से उक्त प्रकार की यत्किंचित् (कुछ) शाब्दज्ञान से निरूपित तथा शब्दज्ञान में वर्तमान जो-जो कारणता उस-उस नियामक भाग में प्रविष्ट किसी ज्ञानविशेष की विषयता के आधार वर्ण-

न्यायश्च तृतीयलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञानजनकवाक्यम् । तदवयवाश्च पञ्च । तत्रावयवत्वं तृतीयलिङ्गपरामर्शप्रयोजकशाब्दज्ञान जनकशाब्दज्ञान जनकवाक्यत्वम् । तानि च वाक्यानि प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि ।

तत्र प्रतिज्ञा– उद्देश्यानुमित्यन्यूनानतिरिक्तविषयकशाब्दज्ञानजनकं न्यायावयववाक्यम् । हेतुश्च प्रकृतसाधनगतपञ्चम्यन्तो न्यायावयवः । उदाहरणन्तु

त्व की व्यापक समूहता ही 'न्यायत्व' पदार्थ है यह नव्य नैयायिकों का भाव यहां जानना ।

आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि उस न्याय के पांच अवयव हैं । एक तृतीय-लिङ्ग परामर्श के प्रयोजक शाब्दबोधरूप ज्ञान के जनक शाब्दबोध के उत्पन्न करने वाले वाक्य को अवयव कहते हैं । इससे जनक पर्यन्त शाब्दज्ञान का विशेषण है । दूसरे शाब्दज्ञान जनक पद को इस अवयवसामान्य के लक्षण में न दिया जाय तो न्याय में अतिव्याप्ति दोष आ जायगा । न्याय से उत्पन्न शाब्दबोध में अवान्तर वाक्यार्थ ज्ञान कारण होने से और उसके ज्ञान के भी प्रतिज्ञा आदि रूप न्याय के अवान्तर वाक्यों से उत्पन्न होने के कारण भी प्रतिज्ञादि प्रत्येक अवयवों में उक्त लक्षण संगत हो जाता है । न्यायजन्य शाब्दज्ञान से प्रतिज्ञादि एकैक वाक्यजन्य शाब्दबोध को शाब्दत्वेन रूपेण कारणता है । क्योंकि अन्वय तथा व्यतिरेक से यह सिद्ध है । किन्तु प्रतिज्ञा आदि एकदेश के अर्थज्ञान को ले अवयव के अर्थ के ज्ञान के उत्पत्ति के क्रम से प्रयोजकता है नकि साक्षात् इस कारण उनका निरास हो जायगा । यहां भी पूर्व के समान वाक्य पद का एक-एक अवयव से उत्पन्न शाब्द ज्ञान में वर्तमान कार्यता से निरूपित कारणतावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणरूप अर्थ जानना । उस-उस शाब्दज्ञानत्वविशिष्ट जन्यता से निरूपित कारणता नियामक यत्किचिज्ज्ञान सम्बन्धि विषयता के निरूपक वर्णसमुदाय को अवयव कहते हैं ऐसा नवीन नैयायिकों के मत जानना । इससे अधिक इस विषय में अवयव प्रकरण के ग्रंथ में देखना चाहिये । (शंकरमिश्र कहते हैं कि)—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन नाम के वे पांच अवयव हैं ।

उनमें से उद्देश्यानुमिति से अन्यून अर्थात् प्रकृतपक्ष तथा प्रकृतसाध्य वाली अनुमिति से अन्यून (न्यून में अवर्तमान) तथा अनतिरिक्त (अधिक में अवर्तमान) विषय वाले शाब्दबोध के उत्पादक न्याय के अवयववाक्य को प्रतिज्ञा कहते हैं ('पर्वत वह्निमान हैं' इस प्रकार के प्रतिज्ञा वाक्य से उत्पन्न ज्ञान के प्रकृत 'पर्वत' पक्ष तथा 'वह्नि' साध्य वाले अनुमिति के समान आकार होने से लक्षण समन्वय जानना) हेतु से युक्त पक्षसाध्य वाली अनुमिति से अनतिरिक्त विषय वाले ज्ञान के उत्पादक हेतुरूप अवयव में अतिव्याप्ति वारणार्थ अन्यून पद, तथा निगमन में उक्त दोष के वारणार्थ अनतिरिक्त

प्रकृतसाध्यसाधनाविनाभावप्रतिपादको न्यायावयवः। उपनयश्चाविनाभाव-विशिष्टस्य हेतोः पक्षवैशिष्ट्यप्रतिपादको न्यायावयवः। निगमनन्तु पक्षे प्रकृत-साध्यवैशिष्ट्यप्रतिपादको न्यायावयवः। एवं च प्रवर्त्तते न्याय—शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्, यद् यत् कृतकं तदनित्यम्, अनित्यत्वव्याप्यकृतकत्ववांश्चायम्, तस्मादनित्यः।

एतेषामेव प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नाया इत्यन्वर्था वैशेषि-

---

पद प्रतिज्ञा लक्षण में दिया है। उदासीन वाक्य में उक्त दोष वारणार्थ 'न्यायावयव' ऐसा विशेष्य पद दिया है यह भी जानना चाहिये।

(आगे हेतु के लक्षण शंकरमिश्र कहते हैं कि प्रस्तुत साधन में वर्तमान पंचमी विभक्ति जिसके अन्त में हो ऐसे न्यायावयव को हेतु अवयव कहते हैं) अर्थात् प्रस्तुत-हेतुतावच्छेदक से युक्त हेतु विशेषण वाले स्वार्थ विशेष्य वाले ज्ञान के जनक पंचमी विभक्ति वाले अवयव को हेतु अवयव कहते हैं। 'वह्निर्धूमात्' वह्नि है धूम होने से, इस प्रतिज्ञा में धूमात् इस साध्य निर्देश में अतिव्याप्ति वारणार्थ बोध में हेतुता-वच्छेदकावच्छिन्न ऐसा विशेषण दिया है। इस विषय में अधिक विवेचन दीधिति-रहस्य में देखना चाहिये।

(क्रमप्राप्त उदाहरण अवयव का शंकरमिश्र लक्षण करते हैं कि)—प्रस्तुत साध्य तथा साधक के अविनाभाव (व्याप्ति) के प्रतिपादक न्यायावयव का उदा-हरण कहते हैं। अर्थात् प्रकृतसाध्यतावच्छेदकविशिष्ट से निरूपितहेतुतानियामक विशिष्ट हेतु में वर्तमान व्याप्ति के बोधक अवयव को उदाहरण कहते हैं। अवि-नाभाव (व्याप्ति) विशिष्ट हेतु के पक्ष के साथ विशेषणविशेष्यभाव को प्रतिपादन करनेवाले अवयव को उपनय कहते हैं। अर्थात् प्रकृत हेतु तथा साध्य वालो अनुमिति में उपयोगी व्याप्ति विशिष्ट हेतु के आश्रयरूप से पक्ष के प्रतिपादन करनेवाले न्यायावयव को उपनय कहते हैं। निगमन में इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि प्रतिपादक शब्द का उसके प्रतिपादन की इच्छा से प्रयुक्त ऐसा अर्थ है, निगमन तो अबाधितादि साध्य की प्रतिपादन की इच्छा से प्रयुक्त है।

पक्ष में प्रस्तुत साध्य के विशेषण विशेष्य भाव के प्रतिपादन करनेवाले न्याया-वयव को निगमन कहते हैं। अर्थात् पक्षतावच्छेदक विशिष्ट पक्ष में बाधरहित साध्यतावच्छेदक विशिष्ट साध्य प्रकारक बोध के उत्पन्न करनेवाले न्यायावयव को निगमन कहते हैं। उक्त न्यायप्रयोग इस प्रकार होता है—शब्द अनित्य है, कार्य होने से, जो-जो कार्य होता है वह वह अनित्य होता है, अनित्यता के व्याप्य कार्यता वाला यह शब्द भी है, इस कारण शब्द अनित्य है। इन्हीं पांच अवयवों की प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसंधान, प्रत्याम्नाय ऐसी प्राचीन वैशेषिक मतानुयायियों के मत

काणां संज्ञाः । अत्र च वादजल्पवितण्डानां प्रवृत्तिप्रकारश्छलजातिनिग्रहस्थान-लक्षणानि च वादिविनोदेऽन्वेष्टव्यानि ॥ २ ॥

प्रमाणान्तराणि लैङ्गिकेऽन्तर्भावयितुं प्रकरणान्तरमारभते—

एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ॥ ३ ॥

शाब्दं शब्दकरणकं ज्ञानमिदमिति यन्नैयायिकादीनामभिमतं तदप्येतेन लैङ्गिकत्वेन लिङ्गप्रभवत्वेनैव व्याख्यातम् । यथा व्याप्तिपक्षधर्मताप्रतिसन्धाना-पेक्षं लैङ्गिकं तथा शाब्दमपि । तथाहि एते पदार्थाः मिथः संसर्गवन्तः आकाङ्क्षा-दिमद्भिः स्मारितत्वात् गामभ्याजेति पदार्थसार्थवत् । तत्र हि आकाङ्क्षादिमत्-

---

में संज्ञा है । इस प्रकार उक्त इस परार्थानुमान में वीतराग कथारूपवाद, विजिगीषु-कथारूप जल्प तथा वितण्डा वक्ता के तात्पर्य के अविषय की कल्पना से दूषण देना रूप छल, स्वव्याघातक उत्तररूप जाति तथा वादिपराजयरूप निग्रहस्थानों के लक्षण भी वादिविनोदनामक शंकरमिश्रकृत ग्रन्थ में देख लेना चाहिए ॥ २ ॥

दूसरे उपमानादि प्रमाणों का लैङ्गिक (अनुमान) प्रमाण में अन्तर्भाव दिखाने के लिये इसका प्रकरण आरम्भ करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एतेन=इस लैङ्गिक (अनुमान) से, शाब्दं = शब्द से उत्पन्न ज्ञान, व्याख्यातम् = व्याख्या की गयी ॥ ३ ॥

भावार्थ—षोडशपदार्थवादी नैयायिकादि दार्शनिकों को अभिमत शब्दकरण से उत्पन्न शाब्दज्ञान आदि भी इसी लैङ्गिक (लिङ्ग से उत्पन्न) होने के रूप से व्याख्या की गयी, अर्थात् शाब्दबोध भी अनुमिति में अन्तर्भूत है न कि उसके लिये शब्दरूप भिन्न प्रमाण की आवश्यकता है ॥ ३ ॥

उपस्कार—'शाब्द' इस सूत्र के पद का अर्थ है शब्दरूप करण वाला यह ज्ञान है ऐसा जो दूसरा प्रमाण नैयायिक आदि दार्शनिकों को अभिमत(मान्य) है, वह भी इस लैङ्गिकत्व (अर्थात् लिङ्गरूप प्रमाण) से उत्पन्न रूप से ही व्याख्या की गयी। जिस प्रकार लैङ्गिक (अनुमिति) रूप ज्ञान व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के ज्ञान की अपेक्षा करना है उसी प्रकार शाब्द (शब्द से उत्पन्न ज्ञान) उनकी अपेक्षा करता है। वह इस प्रकार है कि—यह पदार्थ ('इस रजत को देखता हूँ, इस वाक्य में इदन्त्व के आधार रजतादि पदार्थ), परस्पर सम्बन्ध वाले हैं, रजतपद की आकांक्षा वाले पदों से स्मरण कराये होने से, 'गामभ्याज' गौ को लाओ, इस प्रकार के पदार्थों के समूह के समान (ऐसा अनुमान होता है) इसमें आदि पद से योग्यता ग्रहण करना । इसमें केवल स्मारितत्व घट तथा पट में भी है इसलिये रजतपद योग्यता वाले पद से स्मारित ऐसा कहा है ।

त्पदकदम्बमारितत्वं पदार्थानां मिथः संसर्गवत्त्वव्याप्यं गृहीत्वैव संसर्गवत्त्वमनुमिनोति किं कल्पनीयप्रमाणभावेन शब्देन। ननु नदीतीरे पंच फलानि सन्तीत्यनाप्तवाक्ये व्यभिचारान्नेदमनुमानमिति चेन्न, आप्तोक्तत्वेनापि विशेषणात्, आप्तत्वं हि प्रकृतवाक्यार्थगोचरयथार्थवाक्यार्थज्ञानवत्त्वं न त्वप्रतारकत्वमात्रम्, तच्च वाक्यार्थप्रतीतेः पूर्वं दुर्ग्रहमिति चेन्न, शब्दप्रामाण्यवादिभिरपि व्यभिचारिशब्दव्यावर्त्तकस्याप्तोक्तत्वस्य ग्राह्यत्वेनाभिमतत्वात्। तेषां प्रामाण्यग्रहणार्थं तदपेक्षा, शाब्दन्तु ज्ञानं तद्ग्रहमन्तरेणाप्युपपद्यते, तव तु यादृशं लिङ्गं तादृशग्रहणमावश्यकम्, व्याप्यन्त्वाप्तोक्तत्वविशिष्टमिति चेन्न, अयमत्राभ्रान्त

इस पदार्थविशेष्यक अनुमान में आकांक्षादि विशिष्ट पदसमुदाय से स्मारितत्वरूप हेतु में पदार्थों के परस्पर संसर्गवत्वरूप साध्य का व्याप्यत्व (व्याप्ति) का ग्रहण होकर ही इस हेतु से पदार्थों में संसर्गवत्ता का अनुमान होता है तो फिर अनुमिति से नाम शब्द में प्रमाणता मानने की क्या आवश्यकता है ? यदि अनाप्त (वंचक पुरुष) से कहे 'नदी के तीर पर पांच फल हैं' इस वाक्य में व्यभिचारदोष आने के कारण यह अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता, ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो उक्त दोष वारण के लिये हेतु में आप्तोक्तत्व विशेषण देने से उक्त दोष निवृत्त हो जायगा। यदि प्रकृत (प्रस्तुत) वाक्यार्थ विषय में यथार्थ वाक्यार्थ ज्ञान का आश्रय होना ही आप्तता है, न कि केवल अप्रतारकता (न ठगना), और उस आप्तता का ग्रहण वाक्यार्थ के ज्ञान के पूर्व में होना असम्भव है, ऐसा पूर्वपक्षी दोष दे तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द के अतिरिक्त प्रमाण मानने वालों को भी व्यभिचारदोष वाले शब्द से होने वाले ज्ञान के वारणार्थ आप्तोक्तता का ग्रहण अवश्य मानना है। (शब्द भिन्न प्रमाण है इस पक्ष में आप्तोक्तता ग्रहणयोग्य होने पर भी शाब्दिक ज्ञान होने में उसकी अपेक्षा न होने के कारण दोष नहीं हो सकता। इस आशय से पूर्वपक्षी शंका करता है कि) उन शब्दों को प्रामाण्य ज्ञान के लिये आप्तोक्तता की अपेक्षा है किन्तु शाब्दिक ज्ञान आप्तोक्तत्व के ग्रहण के बिना भी हो सकता है, और शब्द को अनुमान मानने वाले वादी आपके पक्ष में जैसा लिङ्ग हो वैसे का ग्रहण (ज्ञान होना) आवश्यक है, आप्तताविशिष्ट ही उक्त पद समुदायरूप हेतु व्याप्य है। इस शंका के उत्तर में शंकरमिश्र वैशेषिकमत से कहते हैं कि यह पूर्वपक्षी का कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह वाक्य वक्ता पुरुष में (इस वाक्यार्थ ज्ञान विषय में) भ्रम रहित है। इस प्रकार सामान्यरूप से ग्रहण हो सकता है। यदि इस पर भी पूर्वपक्षी कहे कि 'अत्र' इसमे इसका प्रस्तुत संसर्ग में ऐसा ही अर्थ लेना पड़ेगा, ऐसा होने से वाक्यार्थ के ज्ञान के पूर्व में प्रस्तुत संसर्ग में यह वक्ता भ्रान रहित है यह ज्ञान होना असंगत है। ऐसा पूर्वपक्ष करे तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि गमन, भोजन इत्यादि प्रकरण

इति सामान्यतो ग्रहणसम्भवात्। नन्वत्रेति प्रकृतसंसर्गे इत्येव पर्य्यवस्यति तथाच पूर्वमशक्यमेव तद्ग्रहणमिति चेन्न, प्रकरणसमभिव्याहारादिमाहात्म्यात् सामान्यत आप्तत्वनिश्चयसम्भवेन लिङ्गनिश्चयसम्भवात्, कदाचित्तत्र विसंवादेऽपि वाष्पादौ धूमधर्मेणेवानुमानप्रवृत्तेः।

नन्वेते पदार्थाः संसृष्टा एवेति वा साध्यम् सम्भावितसंसर्गा इति वा? नाद्यः, अनाप्तोक्ते व्यभिचारात्, न द्वितोयः, योग्यतामात्रसिद्धावपि संसर्गा-

---

तथा पूर्वापर सहोच्चारणरूप समभिव्याहार के महिमा से सामान्यरूप से अर्थात् सामान्यतोदृष्टानुमान से आप्तता का निश्चय होना संभव होने से लिङ्ग का निश्चय हो सकता है, कदाचित् उक्त लिङ्ग के भ्रमज्ञान के समय उसमे विसंवाद होने पर भी आप्तता के भ्रम से संसर्ग में अनुमान हेतु भाग से वाष्प (वरफ) आदि में धूम धर्म के आरोप से समान अनुमान में प्रवृत्ति हो सकती है। अर्थात् जो-जो ज्ञानजन्य वाक्य होता है वह-वह भ्रमादि युक्त ज्ञानादि से उत्पन्न होता है 'घट को ले आओ' इत्यादि वाक्य के समान, ऐसी व्याप्ति को प्रथम ग्रहण कर पश्चात् जो इस वाक्य को प्रयोग करने वाला है वह उस धर्म से तथा धर्म के प्रकारविशेष भाव जानता है, 'मैं जाता हूं इस वाक्य को कहने वाले पुरुष के समान' इस प्रकार व्याप्ति का ग्रहण करता है, उस वाक्य के प्रयोग करने वाले को गमनरूप प्रकरण का ज्ञान होने से भी सामान्यरूप से व्याप्तिज्ञान होने के कारण वाक्यार्थ विषय में यथार्थ ज्ञान की सिद्धि होती है यह यहां आशय है। (प्रकारान्तर से शंकरमिश्र उक्त अनुमान में साध्य का विचार करते हुए पूर्वपक्षिमत से शंका दिखाते हैं कि)– उक्त सिद्धान्ती के अनुमान से यह पदार्थ संसर्ग युक्त ही है, ऐसा निश्चित साध्य है, अथवा पदार्थ के संसर्ग की संभावना है ऐसा साध्य है? अनाप्त (वंचक) से उक्त वाक्य में व्यभिचारदोष के कारण प्रथम (निश्चय) पक्ष नहीं हो सकता। संसर्ग की योग्यता (संभावना) के सिद्ध होने पर भी संसर्ग का निश्चय न होने से निःकंप (भयरहित) प्रवृत्ति न होने के कारण द्वितीय (संसर्ग सम्भावना) पक्ष भी नहीं हो सकता। यदि सामान्यरूप से संसर्ग के निश्चय होने से ही प्रवृत्ति होगी ऐसा कहो तो योग्यता के तो साध्यज्ञान के पूर्व ही हेतु के विशेषण रूप से ज्ञान होने के कारण अनुमान व्यर्थ हो जायगा। इस शंका का समाधान करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि उक्त अनुमान में नियम (संसर्ग निश्चय) ही साध्य है, आप्तोक्तत्व विशेषण देने से अनाप्तोक्त वाक्य में व्यभिचारदोष न होगा। यह कह चुके हैं। यहां पूर्वपक्षी के मत से पुनः ऐसी शंका होती है कि श्रोता (सुनने वाले) में उस वाक्य ज्ञान से उत्पन्न होने वाले पदार्थ संसर्ग ज्ञान के प्रागभाव को अर्थात् श्रोता में वर्तमान उस वाक्य ज्ञान से उत्पन्न शाब्द बोध का प्रागभाव उस वाक्य से जन्य

निश्चयान्निष्कम्पप्रवृत्त्यनुपपत्तेः, योग्यतायाश्च पूर्वमेव हेतुविशेषणत्वेन ज्ञातत्वात् किमनुमानेनेति चेन्न, नियमस्यैव साध्यत्वात् आप्तोक्तत्वेन विशेषणाच्च न व्यभिचार इत्युक्तत्वात्।

नन्वाकाङ्क्षा श्रोतरि तदुत्पाद्यसंसर्गावगमप्रागभावः, स च स्वरूपसन्नेव हेतुस्तज्ज्ञाने च संसर्गज्ञानस्य पूर्वमेव भावादनुमानवैयर्थ्यमिति चेन्न, न हि संसर्गावगमप्रागभावमात्रमाकाङ्क्षां ब्रूमः। किं तर्हि? स्मारिततदाक्षिप्ताविनाभावविशिष्टम्. तथा च विशेषणांशज्ञानादेवाकाङ्क्षाया ज्ञानात्। तर्हि तावदेवाकाङ्क्षाऽस्त्विति चेन्न, विमलं जलं नद्याः कच्छे महिषश्चरतीत्यत्रापि

उस प्रकार के शाब्दबोध में आकांक्षा (जिज्ञासा योग्यतारूप आकांक्षा) कारण होती है, और वह प्रागभावरूप आकांक्षा स्वरूप से वर्तमान ही का कारण है, यदि उसका ज्ञान कारण हो तो संसर्ग का ज्ञान प्रथम ही वर्तमान होने से पुनरपि अनुमान व्यर्थ हो जायगा। (उक्त आकांक्षा लक्षण में एक पुरुष को उक्त प्रागभाव होने पर भी दूसरे पुरुष को वैसा शाब्दबोध न होने से समवायसम्बन्ध से शाब्दबोध में स्वरूप से आकांक्षा कारण होती है यह दिखाने के लिये 'श्रोतृनिष्ठ' ऐसा श्रोता में वर्तमान प्रागभाव में विशेषण दिया है। 'घटः कर्मत्वं' इत्यादि वाक्य में घट-विशिष्ट कर्मता है इस प्रकार भेदान्वय बुद्धि न होने के लिये 'तद्वाक्यज्ञानजन्य' उस वाक्य ज्ञान से उत्पन्न ऐसा कहा है)। (उक्त शंका के समाधानार्थ शंकरमिश्र कहते हैं कि)—हम केवल संसर्ग ज्ञान के प्रागभाव को ही अकांक्षा नहीं कहते हैं। प्रश्न तो किसे कहते हैं? (उत्तर)—पदों से स्मरण कराये तथा लक्षण से उपस्थित अविनाभाव (व्याप्ति) विशिष्ट संसर्ग ज्ञान प्रागभाव को आकांक्षा हम कहते हैं, ऐसा होने से विशेषण (व्याप्ति) रूप अंश के ज्ञान ही से आकांक्षा का ज्ञान हो जाता है (अर्थात् उक्त अविनाभावरूप विशेषण का ज्ञान अनुमान ही से होने के कारण अनुमान व्यर्थ न होगा)। 'तो उतना (पदों से स्मारित तथा आक्षेप से लब्ध व्याप्ति) ही आकांक्षा पदार्थ माना जाय' ऐसा यदि पूर्वपक्षी कहे तो 'विमलं जलं नद्याः, कच्छे महिषश्चरति' 'निर्मल जल नदी का है, तीर (किनारे) पर महिष चरता है' इस वाक्य में भी नदी तथा उसके तीर का अविनाभाव (व्याप्ति) होने से नदी के तीर पर ऐसा शाब्दबोध होने लगेगा, तथा 'नीलं उत्पलं' नीला कमल है। यहां पर (इस वाक्य में) नील और कमल की व्याप्ति न होने पर भी शाब्दबोध होने लगेगा, क्योंकि उन दोनों पदों से आक्षेप से लब्ध द्रव्य तथा गुण का अविनाभाव (व्याप्ति) हो सकती है (अर्थात् नील में ही उत्पलता न होने पर भी, तथा उत्पल में ही नीलता न होने पर भी नील में वर्तमान गुणत्व का उत्पल में वर्तमान द्रव्यत्व के साथ व्याप्ति ही है, क्योंकि गुणाभाववान् द्रव्य नहीं

नदीकच्छयोरविनाभावसत्त्वेनान्वयबोधापत्तेः, नीलमुत्पलमित्यत्र नीलोत्पलयोरविनाभावाभावेऽपि तदाक्षिप्तयोर्द्रव्यगुणयोरविनाभावसम्भवात् ।

यद्वा पदस्मारितगोचरा जिज्ञासैवाकाङ्क्षा अभिधानापर्य्यवसानं वा। तथापि तज्ज्ञानमावश्यकं ज्ञायमानकारणे ज्ञानोपयुक्तव्यभिचारिवैलक्षण्यात् व्याप्तिवत् । अत एवानन्वयनिश्चयविरहो वा, बाधकप्रमाणाभावो वा, सजातीये दर्शनं वा, इतरपदार्थसंसर्गेऽपरपदार्थनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वप्रमाविशेष्यत्वं वा योग्यताऽस्तु, तज्ज्ञानमावश्यकम् । आसत्तेरप्यव्यवधानेन

होता) । (उक्त अविनाभाव युक्त प्रागभावविशेष को आकांक्षा मानने से गौरवदोष होगा इस आशय से शंकरमिश्र कहते हैं कि)—अथवा पदों से स्मारित को विषय करने वाली जिज्ञासा ही । अर्थात् सहोच्चारित पदों से स्मरण कराये पदार्थों की जिज्ञासा ही अथवा अभिधान (उक्ति का) अपर्यवसान (न बन सकना) ही आकांक्षा पदार्थ है । इसमें प्रथम लक्षण में चक्षु आदि से संस्कार के कारण उपस्थित घटादिकों में उस प्रकार उपस्थित नीलादि गुण के शाब्दज्ञान की इच्छा होने पर 'नील घट है' इस वाक्य से घटादिक में नीलादिकों के शाब्दबोध के वारणार्थ 'पदस्मारित' ऐसा विशेषण दिया है । इस प्रथम लक्षण में 'घटः कर्मत्वं आनयनं कृतिः इत्यादि वाक्य में जिज्ञासित न आनयनादि की आकांक्षा होने लगेगी, इस दोष के कारण 'अभिधानापर्यवसान' रूप दूसरा लक्षण शंकरमिश्र ने किया है । जिससे जिस पद के विना जिस पक्ष से शाब्दबोध नहीं होता उस पद के साथ उस पद का होना उस शाब्दबोध में अभिधानापर्यवसान कहाता है । अर्थात् घट पद के उत्तर कर्मता बोध के लिये अनुस्वार रूप विभक्ति न रहे तो घटरूप कर्म विषय का बोध न होने से घट इस प्रतिपदिक की अम् विभक्ति में अभिधानापर्यवसानरूप आकांक्षा है । आगे शंकरमिश्र कहते हैं कि उक्त रूप आकांक्षा का ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि ज्ञायमान (ज्ञानविषय) कारण में ज्ञान के उपयुक्त व्यभिचारी के वैलक्षण्य होने से व्याप्ति के समान, अर्थात् व्याप्ति ज्ञान के समान उक्त अनुमान से आकांक्षादियों में ज्ञान की उपयोगिता का साधन होता है ।

योग्यता का वर्णन करते हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि इसी कारण पदार्थ के अन्वय के निश्चय का अभाव, अथवा बाधक प्रमाणों का अभाव, अथवा समान जातीय में दर्शन या दूसरे पदार्थ के संबंध में अन्य पदार्थ में वर्तमान अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगिता के यथार्थ ज्ञान का विशेष्य होना ही योग्यता पदार्थ हो, किन्तु उसका ज्ञान आवश्यक है । अर्थात् उस कार्य में अन्वयितानियामक सम्बन्ध से युक्त उस धर्म से युक्त प्रतियोगिता वाले अभाव को प्रकार करने वाले निश्चय को विशेषतावच्छेदकत्व का अभाव उस धर्मविशिष्ट में उस उस धर्मविशिष्ट की

स्मरणरूपाया ज्ञानं तन्त्रम्। संसर्गे च संसृज्यमानविशेषादेव विशेष इति नानभिमतविशेषसिद्धिः।

यद्वा एतानि पदानि स्मारितार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकाणि आकाङ्क्षायोग्यतासत्तिमत्पदकदम्बत्वात् गामभ्याजेति पदकदम्बवदित्यनुमानात् ज्ञानावच्छेदकतयाऽभिमतविशेषसिद्धिः।

यत्तु एतानि पदानि स्मारितार्थसंसर्गवन्तीति साध्यम्, तत् पदानां पदार्थसंसर्गवत्त्वं बाधितमित्युपेक्षणीयम्। न च लिङ्गतया संसर्गज्ञापकत्वमेव पदानां संसर्गवत्त्वम्, तस्यानुमानात् पूर्वमसिद्धत्वेन व्याप्तेरग्रहात्।

योग्यता होती है। इस पक्ष में 'वह्निना सिंचति' वह्नि से सींचता है। इस वाक्य से भ्रमरूप शाब्दबोध न हो सकेगा। इस दोष के वारणार्थ बाधकप्रमाणाभावरूप योग्यता पक्ष का ग्रहण शंकरमिश्र ने किया है। अर्थात् उसमें उसके संसर्ग के अभाव के यथार्थ ज्ञान की विशेष्यता न होना उसमें उसकी योग्यता होती है, इसी योग्यता का ज्ञान शाब्दबोध में कारण है। इस कारण वह्नि से सींचता है—इस वाक्य से भ्रमरूप शाब्दज्ञान की असंगति न होगी। बाध निश्चय कालमें इस योग्यता का ज्ञान न हो सकेगा। इस कारण उस काल में शाब्दबोध का अतिप्रसंग दोष न होगा। तथापि अन्य में वर्तमान जो वह्निकरणकत्वादि संसर्गाभाव प्रमाविशेष्यकत्व उसका अभाव सेवादिक में होने से अयोग्य भी 'वह्निना सिंचति' इत्यादि वाक्य में योग्यता आ जायगी। इस दोष के वारणार्थ 'सजातीय में दर्शनरूप' तीसरा पक्ष दिखाया है। उस-उस सामान जाति वाले में उस-उस समान जाति के सम्बन्ध का दर्शन योग्यता कहाती है जैसे 'पयसा सिंचति, जल से सींचता है' इत्यादि वाक्य में प्रस्तुत सेचन के समान जाति वाले दूसरे जल से होने वाले सेचन में प्रस्तुत जल करणता समान जातीय दूसरे जल से होनेवाले का संसर्ग निश्चय होने से शाब्दबोध होता है 'वह्निना सिंचति' इत्यादिकर्म में कहीं भी सिंचन में अग्निकरणता को समानजातीय में सेक की करणताके निश्चय न होने से योग्यता नहीं है यह तात्पर्य है। यहां पर जिस किसी रूप से साजात्य व्यावर्तक नहीं हो सकता, पदार्थता नियामकरूप से लिया जाय तो 'अद्य जातः पयः पिबति' आज उत्पन्न भया हुआ दूध पीता है, इत्यादिकों का संग्रह न कर सकेगा।" इस शंका के समाधानार्थ चतुर्थ पक्ष का आश्रय शंकरमिश्र ने किया है, इसमें इतरता तथा अपरता विवक्षित नहीं है, क्योंकि उसकी बुद्धि कारण नहीं है, किन्तु उसके सम्बन्धितानियामक सम्बन्ध में उसमें वर्तमान अत्यन्ताभाव के प्रतियोगिता विशेषण वाले यथार्थ ज्ञान की विशेषता का अभाव उसमें योग्यता होती है यह अर्थ है। 'वह्निना सिंचति' इत्यादिक में वह्नि में वर्तमान कारणता के निरूपकतारूप अन्वयितानियामक सम्बन्ध में सेक में वर्तमान अत्यन्ताभाव प्रतियोगिता प्रकारक प्रमाविशेष्यता की सत्ता होने से अतिव्याप्ति दोष नहीं होगा। यहां पर 'पयसा सिंचति'

केचिच्चेष्टा प्रमाणान्तरमिति वदन्ति।

तत्रोच्यते—चेष्टा द्विविधा कृतसमयाऽकृतसमया च। तत्र कृतसमया अभिप्रायस्थं शब्दं स्मारयति न तु संसर्गप्रमामपि जनयति लिपिवत्, स्मृत्यारूढः शब्द एव तत्र प्रमाणं शब्दस्य च लिङ्गत्वमुक्तम्। न च शब्दस्मरणं चेष्टाया अवान्तरव्यापारः, चेष्टामन्तरेणापि शब्दार्थप्रत्ययात् व्यापारत्वे तु चेष्टानैयत्यापत्तेः। नन्वेवं कथमेडमूकस्य चेष्टाधीनो व्यवहारः? तस्य तत्र समयग्रहाभावादिति चेन्न, तस्य चेष्टातः कथमर्थेऽपि संप्रत्यय इति चिन्तनीयत्वात् तस्यार्थेऽपि सङ्गतिग्रहाभावात्। व्यवहारस्तु तस्याविनाभावग्रहात् करितुरगयोरिव कशाङ्कुशाभिघातात्तत्तद्व्यवहारपाटवोपपत्तेः।

इत्यादिक में जलनिष्ठ करणता के उक्त रूप सम्बन्ध में सेक में वर्तमान अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी को विषय करने वाले भ्रमरूप ज्ञान की विशेष्यता रहने से असंभवदोष कारण के लिये प्रमापद दिया है। (इस प्रकार योग्यता सम्बन्ध में विचार कर आसत्ति के सम्बन्ध में शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—व्यवधान रहित स्मृतिरूप आसत्ति का भी ज्ञान शाब्दबोध में कारण है। संसर्ग में सम्बन्ध होने वालों के विशेष से ही विशेषता आ जायगी जिससे अनभिमत (अनिष्ट) विशेष की सिद्धि न होगी।

अथवा प्रकारान्तर से भी शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है—इस अभिप्राय से शंकरमिश्र पदपक्षक अनुमान दिखाते हुए कहते हैं कि—यह पक्ष स्मरण कराये हुए अर्थ संसर्ग के ज्ञानपूर्वक हैं, आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति युक्त यह समुदाय होने से,'गामभ्याज' गौ को ले आओ' इस पदसमुदाय के समान इस अनुमान से ज्ञान के अवच्छेदक (विशेषण) रूप से अभिमत पदार्थ संसर्ग की सिद्धि हो सकती है (क्योंकि विना संसर्ग के प्रतीति के वाक्य की रचना नहीं हो सकता)। वक्ता का अनुमान किया जाने वाला संसर्गविषयक अनुमान विना संसर्ग को विषय किये नहीं हो सकता, और संसर्ग में सम्बद्ध होने वालों से भिन्न विशेष नहीं है, किन्तु पूर्वानुमान में साक्षात् संसर्ग की सिद्धि होती है और उत्तर में वक्ता के ज्ञान के अवच्छेदक (विशेषण) रूप से यह आशय है। (आगे शंकरमिश्र मतविशेष का खण्डन करते हुए कहते हैं कि)—कुछ विद्वान् यह पद, स्मरण कराये अर्थ के संसर्गवान हैं, ऐसा उक्त अनुमान में साध्य करते हैं, किन्तु वह मत पदों में पदार्थ संसर्गवत्ता बाधित होने से उपेक्षा करने योग्य है। लिङ्गरूप से संसर्ग को ज्ञापन कराना ही पदों में संसर्गवत्ता नहीं कहीं जा सकती, क्योंकि उसके अनुमान के पूर्व असिद्ध होने से व्याप्ति का ग्रहण नहीं है।

कुछ विद्वान् चेष्टा भी प्रमाणान्तर हैं ऐसा कहते हैं। उसके निरासार्थ ऐसा कहा जाता है—कि चेष्टा कृतसमया तथा अकृतसमया ऐसे दो प्रकार की होती

अकृतसमया तु या कृत्यान्वयिनी सा प्रयोजकाभिप्रायं स्मारयन्ती प्रयोज्यं प्रवर्त्तयति, न तु कुत्रचित् प्रमां जनयति। यथा शङ्खध्वनौ त्वया गन्तव्यमिति श्रुतशङ्खध्वनिः प्रतिष्ठते, तथा यदा मया तर्जन्यूर्ध्वीक्रियते तदा त्वयाऽसौ ताडनीय इति तदा ताडयति, न तु किञ्चित् प्रमिणोति। ज्ञप्त्यन्वयिनी त्वकृतसमया यथा–दशानामङ्गुलीनामूर्ध्वकरणेन दश सङ्ख्या मुद्राणां पुराणानां वा त्वया ज्ञातव्येति – कारकप्रधाना। हस्ताकुञ्चनदर्शनात्त्वया समागन्तव्यमिति क्रियाप्रधाना। तथाचानया चेष्टया पदार्था एव स्वतन्त्राः परं स्मार्य्यन्ते न तु तेषां परस्परमन्वयोऽपि बोध्यते, तद्बोधककर्तृकर्मादिविभक्तिवत् प्रकृते चेष्टै-

---

है। अर्थात् एक अंगुली से 'क' दूसरी अंगुली से 'ख' जानना ऐसा शाब्दज्ञान होने के लिये होने वाली चेष्टा कृतसमया कहाती है उससे भिन्न अकृतसमया होती है। उन दोनों में से प्रथम कृतसमया चेष्टा वर्णलिपि के समान चेष्टा करने वाले के अभिप्राय में वर्तमान शब्द का स्मरण कराती है न कि संसर्ग के यथार्थ ज्ञान को भी उत्पन्न करती है, स्मरण में चढ़ा हुआ (विषय) रूप शब्द ही उसमें प्रमाण है, शब्द लिङ्ग (अनुमापक हेतु) होता है यह कही चुके हैं। शब्द का स्मरण चेष्टा का अवान्तर व्यापार भी नहीं है, क्योंकि विना चेष्टा के भी शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है, यदि व्यापार हो तो चेष्टा आवश्यक होगी। 'यदि ऐसा है तो एडमूक (गूंगे) का चेष्टा के अधीन व्यवहार कैसे होगा, क्योंकि उसे उसमें समय (संकेत) का ग्रहण नहीं है' ऐसी पूर्वपक्षी शंका नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी चेष्टा से अर्थ का निश्चय कैसे होगा यह भी विचारणीय है। क्योंकि उसे अर्थ में भी संकेत का ग्रहण नहीं है। किन्तु व्यवहार तो उसका अविनाभाव (व्याप्तिका) ग्रहण होने से हो सकता है,जैसे हाथी तथा अश्व को चाबुक,अंकुश इनके अभिघात (चोट) से शीघ्रातिरूप व्यवहार होता है। (दूसरी अकृतसमया नाम की चेष्टा भी कृत्यन्वयिनी (कृति से सम्बद्ध तथा ज्ञप्त्यन्वयिनी ज्ञान से सम्बद्ध) ऐसी दो प्रकार है जिसके क्रम से शंकरमिश्र वर्णन करते हैं कि)–कृत्यन्वयिनी नाम की जो अकृतसमया चेष्टा होती है वह प्रयोजक (चेष्टा करनेवाले के आशय को स्मरण कराती हुई) प्रयोज्य (चेष्टानुसार कार्य करनेवाले)का कार्य में प्रवृत्त करती है, नकि किसी विषय में ज्ञान उत्पन्न करती है। जैसे शङ्ख की ध्वनि होते ही तुम जाना ऐसी चेष्टा (संकेत) होने पर शङ्खध्वनि सुनते ही जिसे उक्त संकेत दिया रहता है वह पुरुष प्रस्थान करता है, ऐसे ही जब मैं तर्जनी अंगुली को ऊपर उठाऊँ तब तब तुम उसे पीटना ऐसी चेष्टा (संकेत) पानेवाला अँगुली उठते ही पीटता है न कि कुछ जानता है। ज्ञप्ति (ज्ञान) से सम्बन्ध रखनेवाली अकृतसमया चेष्टा का यह उदाहरण है कि जैसे दस अंगुलियों को ऊपर उठाने पर तुम दस रुपया अथवा

कदेशानां नियतानामभावात्। तर्हि संसर्गबोधमन्तरेण चेष्टातः कथं प्रवृत्तिनिवृत्ती इति चेत् संशयप्रतिभयोरन्यतरस्मादिति गृहाण। तस्मान्न चेष्टाऽपि प्रमाणमिति ॥ ३ ॥

ननु शब्दः कथं लिङ्गं शब्दस्यापदेशस्वभावत्वेन लिङ्गभिन्नत्वादित्याशङ्क्याह—

हेतुरपदेशो लिङ्गं प्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ॥४॥

अपदिश्यते कथ्यतेऽनेनार्थ इत्यपदेशः शब्दः, स च हेतुलिङ्गपर्य्याय एव प्रमाणमिति। लिङ्गविधया प्रमाकरणमित्यर्थः। एवं करणशब्दोऽपि लैङ्गिक-

---

पुराणों (पुराणों)की जानना ऐसी कारक (कर्म) के प्रधान रखनेवाली। हस्त के आकुंचन (सिकुड़ने) के देखने से तुम चले आना ऐसी क्रिया को प्रधान (मुख्य) करनेवाली भी चेष्टा। ऐसा होने से इस चेष्टा से केवल पदार्थों को स्मरण कराया जाता है, न कि उन पदार्थों को परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) भी जाना जाता है, क्योंकि चेष्टा के एकदेश कोई नियत नहीं है, (प्रकृत में चेष्टा जिस प्रकार परस्पर अन्वयबोधक कर्ता, कर्म इत्यादि विभक्ति होती हैं उस प्रकार)। यदि ऐसा है तो पदार्थों के संसर्गज्ञान के विना चेष्टा से प्रवृत्ति तथा निवृति कैसे होती है? ऐसा पूर्वपक्षी प्रश्न करे, तो संशय तथा प्रतिभा इन दोनों में से किसी एक से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति हो जायगी ऐसा जानो। इस कारण चेष्टा भी दूसरा प्रमाण नहीं है ॥ ३ ॥

शब्द के अपदेश स्वभाव होने से (स्वरूप के आच्छादकरूप होने से) लिङ्ग से भिन्न होने के कारण शब्द लिङ्ग (अनुमापक) कैसे होगा? इस पूर्वपक्षी के आक्षेप के समाधानार्थ सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—हेतुः = हेतु है, अपदेश = अपदेश है, लिङ्गं = लिङ्ग है, प्रमाणं = प्रमाण है, करणं = करण है, इति=यह सब, अनर्थान्तरम्=भिन्न अर्थ नहीं है ॥ ४ ॥

भावार्थ—अपदेश (शब्द) ही हेतु, लिङ्ग तथा प्रमाण पर्याय वाला लिङ्ग रूप से प्रमाण होता है ॥ ४ ॥

उपस्कार—अपदेश किया जाय अर्थात् जिससे अर्थ कहा जाय। इस व्युत्पत्ति से वह अपदेश शब्द कहाता है और वह हेतु, लिङ्ग पर्यायवाला ही प्रमाण होता है (अर्थात् उक्त व्युत्पत्ति से शब्द से अपदेश शब्द है, और वह लिङ्गरूप से लिङ्गजन्य ज्ञान में (अनुमान में) ही हेतु है, शब्द भी अनुमिति ज्ञान का कारण होता है. इसी प्रकार शब्द में लिङ्गरूप से करणता है, ऐसा होने से हेतु, अपदेश, लिङ्ग, प्रमाण, करण यह सम्पूर्ण शब्द पर्याय हैं यह सूत्र का अर्थ है)।

ज्ञानकरणे लिङ्ग एव वर्त्तते। द्वयी हि करणगतिः, किञ्चित् सन्निकर्षाधीनप्रवृत्ति किञ्चिच्चाविनाभावबलप्रवृत्ति। शब्दस्य तु अर्थेन न सन्निकर्षो नाप्यविनाभाव इति कथमर्थं गमयेत्। सङ्केताद् गमयतीति चेत् सङ्केतो हि पदार्थे न तु तत्संसर्गे। तत्रापि सङ्केत इति चेन्न, तस्यानेकविधत्वेन सङ्केतविषयभावानुपपत्तेः। पदार्थसङ्केतबलादेव वाक्यार्थोऽपि भासते इति चेन्न, अन्यसङ्केतेनान्योपस्थितावतिप्रसङ्गात्, शब्दस्मारितसंसर्गत्वेन नियम इति चेत् तथा चैतन्नियमबलेनानुमानस्यैव लब्धावसरत्वात्। सङ्केतस्यापि इच्छामात्रत्वेनाति-

---

इसी प्रकार करण शब्द में लैङ्गिक ज्ञान (अनुमति) के करण रूपर्याङ्ग में प्रवृत्त होता है। अर्थात् करण शब्द को अनुमितिकरण हेतु ऐसा अर्थ है। करण शब्द दो प्रकार से प्रवृत्त होता है, कोई करण शब्द इन्द्रियार्थ संनिकर्ष के अधीन प्रवृत्त होता है, और कोई अविनाभाव (व्याप्ति) के बल से प्रवृत्त होता है। शब्द का तो अर्थ के साथ न संनिकर्ष है न व्याप्ति है तो वह अर्थ को कैसे बोधित करेगा। यदि 'संकेत (शक्ति) सम्बन्ध से अर्थ को शब्द बोधित करेगा' ऐसा कहो तो संकेत तो पदार्थ में होता है नकि पदार्थों के संसर्ग में। 'यदि संसर्ग भी संकेत मानेंगे' ऐसा कहो तो, संसर्ग अनेक प्रकार का होने से वह संकेत का विषय नहीं हो सकता। 'पदार्थ में शब्द के संकेत के बल से ही एक पदार्थ से निरूपित संसर्गवाले अन्य पदार्थरूप वाक्य का अर्थ भी प्रकाशित होता है' ऐसी शंका करो तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि दूसरे के संकेत से दूसरे का बोध हो तो अतिप्रसक्ति दोष होगा। अर्थात् वाक्यार्थ तथा पदार्थ का भेद होने से भेद के समान होने के कारण घटपदार्थ के संकेत से पटपदार्थ की उपस्थिति होने की आपत्ति आ जायेगी। यदि 'शब्द से स्मरण कराये संसर्ग को लेकर नियम माना जाय तो, इस नियम के बल से अनुमानप्रमाण ही को अवसर प्राप्त हो जायगा। (जो संकेत जिस अर्थ में होता है वह उस अर्थ के संसर्ग के उपस्थिति का कारण होता है—इस नियम के बल से उन अतिप्रसंगदोष का वारण होने पर भी वैशेषिकों का ही मत सिद्ध हो जाता है, अर्थात् तुम्हारे कहे व्याप्ति के बल से संसर्ग के उपस्थिति को जनकता का अनुमान करने में तत्पदार्थ के संसर्ग विषय होने से केवल संसर्ग के ज्ञान के जनक होने के कारण आपके माने हुए शब्द में प्रमाणान्तरत्व संगत नहीं हो सकता)। (इसी प्रकार दूसरा भी दोष हो सकता है इस आशय से शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि)—संकेत भी केवल इच्छारूप होने से अतिप्रसंग दोष आ जायगा। अर्थात् सामान्यरूप से इच्छा मात्र ही संकेत होता है अथवा ईश्वर की इच्छा ऐसा विकल्प कर प्रथम पक्ष में शंकरमिश्र ने अतिप्रसंग दोष दिया है कि भ्रान्त पुरुष को घटशब्द से पट जानना इस इच्छा से घट शब्द से पट का बोध होने लगेगा। (दूसरे पक्ष का अनुवाद कर शंकरमिश्र खंडन करते हैं कि)—'ईश्वर

प्रसक्तत्वात्। ईश्वरेच्छा नातिप्रसक्तेति चेन्न, तदिच्छामन्तरेणापि गङ्गादिपदात्तीराद्युपस्थितेरित्यलं नैयायिकेषु धृष्टतयेति ॥ ४ ॥

उपमानादीनामपि पराभिमतानाम् अविनाभावबलप्रवृत्तिकानां लैङ्गिक एवान्तर्भाव इति प्रतिपादयितुमाह—

अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात् ॥ ५ ॥

उपमानार्थापत्तिसम्भवाभावानामिति शेषः। अस्य व्यापकस्य इदं व्याप्यमित्याकारा या बुद्धिः सा जनकत्वेनापेक्षिता येषां ते तदपेक्षितास्तस्य भावस्तदपेक्षितत्वं तस्मादित्यर्थः। आहिताग्निपाठात् क्तान्तेन बहुव्रीहिः, तारकादिपाठादितो वा।

की इच्छा में उक्त अतिप्रसंग दोष न होगा' ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ईश्वर की इच्छा के विना भी गंगा आदि पद से तीर आदि अर्थ की उपस्थिति होती है इस प्रकार हम इस विषय में अधिक नैयायिकों से धृष्टता (ढिठाई) नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

अन्य दार्शनिकों को अभिमत उपमानादि प्रमाणों का जो व्याप्ति के बल से ही अर्थ के सिद्धि में प्रवृत्त होते हैं लैङ्गिक (अनुमान) ज्ञान में ही अन्तर्भाव होता है यह प्रतिपादन करने के लिये सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अस्य = इसका, इदं = यह है, इति = इस प्रकार, बुद्ध्यपेक्षितत्वात्= ज्ञान की अपेक्षा रखने से ॥ ५ ॥

भावार्थ—उपमान, (अर्थापत्ति आदि प्रमाणों में भी इस व्यापक का यह व्याप्य है ऐसी बुद्धि की अपेक्षा होने के कारण उपमादिकों का भी अनुमान ही में अन्तर्भाव होता है ॥ ५ ॥

पदपदार्थ—सूत्र में आकांक्षित 'उपमानार्थपत्तिसंभवाभावनम् = उपमान अर्थापत्ति, संभव तथा अभाव का इस समस्त पद का शेष भाग पूर्ण करना। (इसमें संभव पद से ऐतिह्य का भी ग्रहण करना चाहिये। इस व्यापक का यह व्याप्य है इत्याकारक जो ज्ञान वह कारणरूप से जिनमें अपेक्षित है वे उस ज्ञान के अपेक्षित है उनका भाव है तदपेक्षिता उसके होने से ऐसा सूत्र का अर्थ। आहिताग्नि गण में पाठ होने से 'क्त' प्रत्यय जिसके अन्त में है ऐसी बहुव्रीहि समास 'बुद्ध्यपेक्षितत्वात्' इस पद में जानना। अथवा 'तारकादिपाठ' से यह अर्थ लेना (अर्थात् इसका यह है इस ज्ञान की अपेक्षा हुई है जिनको ऐसा विग्रह से 'इतच् प्रत्यय' से यह अर्थ जानना चाहिये)। उनमें से उपमान अनुमान शब्द के द्वारा नहीं प्रमाण है। अर्थात् शब्द ही से उपमान में शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होने से, शब्द का अनुमान में अन्तर्भाव होने से यह आशय है ॥ ५ ॥

तत्रोपमानं तावदनुमानमेव शब्दद्वारा। तथाहि गोसदृशो गवय इति वाक्यन्तावत् आरण्यकेन कीदृक् गवय इति नागरिकजिज्ञासायामभिधीयते तत्र यो गोसदृशः स गवयशब्दवाच्य इति सामानाधिकरण्यबलात् अतिदेशवाक्य-श्रवणानन्तरमेव परिच्छिनत्ति, वनं गतस्तु तादृश पिण्डमुपलभ्यायमसौ गवय-शब्दवाच्य इति प्रतिसन्धत्ते। अतिदेशवाक्यश्रवणसमये गवयत्वं प्रवृत्तिनि-मित्तं न ज्ञातमतः कथं संज्ञापरिच्छेद इति चेत् लक्षणया तत्प्रतीतिसम्भवात्। गोसदृशो गवय इति वाक्येऽन्वयानुपपत्तिविरहात् कथं लक्षणेति चेत् तात्प-

---

वह इस प्रकार है कि—नागरिक मनुष्य ने गवय कैसा होता है ऐसा अरण्यवासी को प्रश्न करने पर गो के सदृश गवय होता है। ऐसे वाक्य को आरण्यक से प्रयोग किया जाता है, उसमें जो गो के समान होता है वह वाक्य शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार सामानाधिकरण्य (एक ही में गो सदृशता तथा गवय शब्द वाच्यता) के ज्ञान के बल से उक्त कहे हुए वाक्य के श्रवण के पश्चात् ही नागरिक मनुष्य गो सदृश ही गवय होता है ऐसा जानता है, अरण्य में जाने के पश्चात् गो सदृश पिण्ड-शरीर को पाकर यह वह गवय शब्द का वाच्य (अर्थ) है ऐसा निश्चय करता है। यदि गोसदृश गवय होता है' इस आरण्यक के कहे वाक्य के श्रवण के समय में गवय-त्व गवय शब्द के गवयरूप अर्थ को जानने में प्रवृत्ति का कारण है यह ज्ञान तो नागरिक को हुआ नहीं है तो उसे उक्त संज्ञा का ज्ञान कैसे होगा ? अर्थात् गवय-त्वरूप प्रवृत्ति के निमित्त से यह पिण्ड (शरीर) गवय पद से वाच्य है, ऐसा यथार्थ ज्ञान केवल वाक्य से उत्पन्न नहीं है, क्योंकि उसकी उस समय उपस्थिति नहीं है तो शक्यतावच्छेदक गवयत्व प्रकार से शक्ति ज्ञान का निश्चय कैसे हो सकता है। यह पूर्वपक्षी की शङ्का का आशय है। इस शंका के समाधानार्थ शंकर-मिश्र कहते हैं कि लक्षणा से उसे (गवयत्वरूप प्रवृत्ति निमित्त) का ज्ञान हो सकता है। यदि 'गोसदृश गवय होता है' इस वाक्य में अन्वय की अनुपपत्तीरूप लक्षणा का बीज न होने से लक्षणा कैसे होगी ! ऐसी पूर्वपक्षी शंका करे तो, अन्वयानुपपत्तिरूप लक्षणा का बीज न होने पर भी तात्पर्यानुपपत्तिरूप बीज हो सकता है। अर्थात् तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज है नहीं तो 'यष्टीः प्रवेशय' छडियों को भेजो, इत्यादि वाक्य में छडी में प्रवेश क्रिया के अन्वय की असंभावना न होने से लक्षणा न होगी अतः तात्पर्य (छडी वाले वृद्ध पुरुषों के प्रवेश का तात्पर्यानुपपन्न होने से तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा बीज है। उसी को आगे दिखाते हुए शंकर मिश्र कहते है कि)—गवय शब्द की शक्ति का ज्ञान करने की इच्छा रखने वाले नागरिक पुरुष के सखण्ड (भाग को लेकर) गवयरूप अर्थ के प्रवृत्ति का निमित्त दिखाना आरण्यक पुरुष से उचित नहीं है, इस कारण अखण्ड (भाग रहित) गवयत्वरूप जातिविशेष में उसका

-र्यानुपपत्तेः सत्त्वात्, न हि व्युत्पित्सुं प्रति गोसादृश्यस्य सखण्डस्य प्रवृत्तिनिमित्तत्वेनोपदर्शनमनुचितं तस्मादखण्डजातिविशेषे तात्पर्यमस्येति लक्षणासम्भवात्।

यद्वा गवयशब्दो गवयवाचकः असति वृत्त्यन्तरे शिष्टैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्, असति वृत्त्यन्तरे यः शब्दो यत्र शिष्टैः प्रयुज्यते स तस्य वाचको यथा गोशब्दो गोरित्यनुमानादेव गवयसंज्ञां परिच्छिनत्ति। तर्कश्च यस्त्वयोपमानसहकारी वाच्यः स वरमनुमाने क्लृप्तप्रमाणभावेऽस्तु किं कल्पनीयप्रमाणभावेनोपमानेनेति, अनुमानमयूखे विस्तरोऽत्रान्वेष्टव्यः।

तात्पर्य है इस कारण लक्षणा हो सकती है। जिस स्थल में प्रवृत्तिनिमित्त के विशेष के ज्ञान से तात्पर्य नहीं है किन्तु जो गो सदृश होता है वहां गवय शब्द का वाच्य है इस प्रकार केवल स्वरूप का वर्णन है सो वहां भी उक्त सामग्री से उक्त गवयत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त के विशेष का ज्ञान होता ही है, वहाँ तात्पर्य न होने से लक्षणा कैसे होगी ? इस शंका के उत्तर में (दूसरा प्रकार शंकरमिश्र दिखाते हुए कहते हैं कि)—अथवा गवय शब्द, गवय का बोधक है, दूसरे अर्थ में शक्ति न होते हुए शिष्ट पुरुषों से गवयरूप अर्थ में प्रयोग करने के कारण, दूसरे अर्थ में शक्ति के न रहते जो शब्द जिस अर्थ में शिष्टों से प्रयोग किया जाता है, वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है, जैसे गो शब्द गोरूप अर्थ का बोधक होता है, इस अनुमान से ही गवय संज्ञा (गवय शब्द की गवयरूप अर्थ में संकेत) को नागरिक पुरुष जानता है। गो-सादृश्य की अपेक्षा से गवयत्वरूप अखण्ड जाति में तात्पर्य है ऐसा लाघवरूप तर्क को आप उपमान का सहायक कहेंगे, अनुमान में वह जिसका प्रामाण्य स्वीकृत है। ऐसे ही सहायक होगा, तो उपमान में अधिक प्रमाणता मानने की क्या आवश्यकता है, (अतः उपमान पृथक् प्रमाण नहीं हो सकता)। इस विषय का अधिक विस्तार अनुमानखण्ड के मयूख व्याख्या में देख लेना चाहिये।

इसी प्रकार अर्थापत्ति भी अनुमान ही है, वह इस प्रकार है कि जीते हुए चैत्र नामक मनुष्य की अत्यन्त दृढ प्रमाण से निश्चित गृह में असत्ता से बहिः (घर के बाहर) सत्ता (रहना) को अर्थात् कल्पना करना दृष्टार्थापत्ति मीमांसकों ने मानी है। उसमें उपपाद्य (सिद्ध करने योग्य) तथा उपपादक (साधक) इन दोनों के व्याप्य-व्यापक भाव के निश्चय के अधीन ही चैत्र की बहिः सत्ता (बाहर रहना) प्रतीत होता है, क्योंकि जीवित चैत्र को गृह में असत्त्व (न रहना) बहिःसत्व (बाहर रहने) के साथ होता है, अथवा विना बहिःसत्ता का जीवित चैत्र का गृहासत्त्व (घरमें में न रहना) अनुपपन्न है (नहीं हो सकता है)। ऐसा ज्ञान होता है।

इन दोनों में से प्रथम सहचार पक्ष में अन्वय व्याप्ति ही है, अन्तिम (ज्ञान) पक्ष में तो व्यतिरेक व्याप्ति का ही ज्ञान होता है। इति इस कारण अर्थापत्ति का

अर्थापत्तिरप्यनुमानमेव। तथाहि दृष्टार्थापत्तिस्तावज्जीवतश्चैत्रस्य गृहासत्त्वेन दृढतरप्रमाणावधृतेन बहिःसत्त्वं कल्पयति। तत्रोपपाद्योपपादकयोर्व्याप्यव्यापकभावावधारणाधीनैव बहिःसत्त्वप्रतीतिः, भवति हि जीवतो गृहासत्त्वं बहिःसत्त्वेन सहचरितं, बहिःसत्त्वं विना जीवतो गृहासत्त्वमनुपपन्नमिति वा ज्ञानम्। तत्राद्येऽन्वयव्याप्तिरेवान्त्ये तु व्यतिरेकव्याप्तेरेव ग्रह इति। व्याप्तिरस्ति न तस्य ग्रहणमिहोपयुज्यते इति चेत् व्याप्तिग्रहमन्तरेणार्थापत्त्याभासानवकाशात्, स्वरूपसत्या व्याप्त्या वस्तुतो यदुपपादकं तस्यैव कल्पना स्यादिति दिक्। संशयकरणिकाया विरोधकरणिकायाश्चानुमानान्तर्भाव ऊहनी-

---

अनुमान में अन्तर्भाव हो सकता है। 'यदि व्याप्ति होने पर भी उसके ग्रहण (ज्ञान) को इसमें कोई उपयोग नहीं है' ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो स्वरूप से सत् (वर्तमान) व्याप्तिभाव के विषय में न रहने से व्याप्ति ज्ञान के भिन्न अर्थापत्ति के आभास (भ्रामरूप से अर्थापत्ति को) स्थान न मिलेगा, स्वरूप से सत (वर्तमान) व्याप्ति का जो वास्तविक उपपादक (उपपादन करने वाला) है उसी की कल्पना होगी ऐसी अर्थापत्ति के खण्डन की रीति है। संदेहकरणवाली, तथा विरोधकरणवाली अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव होता है यह जान लेना, क्योंकि साथ में रहना रूप विरोध भी व्याप्ति से सम्बद्ध होता है। अर्थात् देवदत्त मनुष्य के शतवर्ष जीना तथा गृहवृत्तिता के अभाव निश्चय के पश्चात् किसी प्रकार गृहवृत्तिता का निश्चय होने पर जीवितता का तथा गृह से भिन्न में अवर्तमानता इन दोनों के निश्चयों में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का निश्चय न होने से देवदत्त जीता है या नहीं ऐसा संदेह होता है, उसके निवारणार्थ बहिःसत्ता की कल्पना करना ऐसा एक मत है। दो प्रमाणों के विरोध के निश्चय से उत्पन्न दोनों प्रमाणों में वर्तमान अप्रामाण्य द्वारा उनके अविरोध का उपपादन करनेवाला ज्ञान भी अर्थापत्ति होती है। इसमें दो प्रमाणों के विरोध का निश्चय कारण है, वह इस प्रकार है देवदत्त में शत वर्ष जीना, तथा घर से भिन्न स्थल में न रहना इन दोनों प्रमाणों में से शत वर्ष के मध्य में घर में अवर्तमान देवदत्त में विरुद्ध अर्थ विषय निश्चय हुआ है, उससे दोनों प्रमाणों में अप्रामाण्य का संशय होता है, पश्चात् एक प्रमाण के बलवान होने के ज्ञान से बहिःसत्व की कल्पना होती है, इससे दुर्बल तथा बलवान दो प्रमाणों का विरोध न होना—अर्थापत्ति से सिद्ध होता है ऐसा दूसरा मत है। पर इन दोनों का गृह मात्र में वर्तमानता के अभाव से व्याप्य शत वर्ष जीवितावान् यह देवदत्त है इस प्रकार विरोध निश्चयरूप परामर्श से बहिःसत्त्व की सिद्धि अनुमान में ही अन्तर्गत होती है यह आशय यहाँ जानना।) इस प्रकार अर्थ में सम्बद्ध दृष्टार्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाकर शब्द से सम्बद्ध अर्थापत्ति का भी अनुमान में अन्तर्भाव दिखाते

यः। विरोधस्यापि सहानवस्थाननियमलक्षणस्य व्याप्तिघटितत्वात्। श्रुतार्थापत्तिरप्यनुमितानुमानं—पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यनेन वाक्येन पीनत्वमनुमितं तेन च पीनत्वेन रात्रिभोजनानुमानम्—देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभोजित्वे सति पीनत्वासम्भवादिति।

सम्भवोऽप्यनुमानमेव, तदुदाहरणं हि—सम्भवति खार्य्यां द्रोणः सम्भवति द्रोणे आढकम् सम्भवति सहस्रे शतमित्यादि तत्रेयं खारी द्रोणवती तद्घटितत्वात् यद्येन घटितं तत्तेन तद्वत्, यथाऽवयववान् घटः। एवमन्यदप्यूह्यम्। यत्तु सम्भवति ब्राह्मणे विद्या—सम्भवति क्षत्रिये शौर्य्यमित्यादि, तत्प्रमाणमेव न भवति अनिश्चायकत्वात्।

हुए शंकरमिश्र कहते हैं कि श्रुतार्थापत्ति भी अनुमित का अनुमान रूप है—जैसे पीन (मोटा-ताजा) देवदत्त नामक मनुष्य दिन में भोजन नहीं करता इस वाक्य से पीनत्व का अनुमान होकर, उस पीनत्व से रात्रि में भोजन का 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है, दिन में भोजन न करते हुए पीनता का असंभव होने से' इस प्रकार अनुमान होता है। अर्थात् शब्द की आकांक्षा शब्द ही से पूरी होती है, इस न्याय से रात्रि में भोजन करता है ऐसे शब्द की कल्पना श्रुतार्थापत्ति कहलाती है जिसका अनुमितानुमान में उपरोक्त प्रकार से अन्तर्भाव जानना चाहिये।

व्याप्ति की अपेक्षा न करनेवाला संभव भी दूसरा प्रमाण है ऐसा कुछ दार्शनिकों का मत है। वह भी व्याप्ति सापेक्ष होने से अनुमान में अन्तर्गत है—इस आशय से शंकरमिश्र आगे कहते हैं कि संभव भी अनुमान ही है, उसका खारी (१० सेर) में द्रोण (५ सेर) का संभव है, द्रोण में आढक (अढ़ाई सेर) का संभव है, हजार में सौ का संभव है, इत्यादि उदाहरण। किन्तु यह खारी परिमाण पदार्थ द्रोण परिमाण वाली है, उससे युक्त होने से जो जिससे घटित (युक्त) होता है वह उससे युक्त होता है, जैसे अवयवों का आश्रय घट इत्यादि अनुमान में ही संभव प्रमाण का अन्तर्भाव हो सकता है। इसी प्रकार और भी उदाहरण में जान लेना। ब्राह्मण में विद्या हो सकती है, क्षत्रिय में शूरता हो सकती है, इत्यादि जो संभव प्रमाण का कुछ विद्वान उदाहरण देते हैं, वह निश्चयजनक न होने से प्रमाण ही नहीं हो सकता।

कुछ मीमांसकादि विद्वान अनुपलब्धिरूप अभाव को दूसरा प्रमाण मानते हैं, अर्थात् भावपदार्थों की व्याप्ति ही अनुमान का अङ्ग होती है यह उनका आशय है, किन्तु भावनिष्ठ व्याप्ति के समान अभाव में वर्तमान व्याप्ति भी अनुमान का अङ्ग होती है। इस कारण अनुमान में ही अनुपलब्धि का अन्तर्भाव हो सकता है ऐसा यहां नैयायिकों का मत है। इस आशय से शंकरमिश्र कहते हैं। कि—कार्य

अभावोऽपि न मानान्तरं कार्य्येण कारणानुमानवत् कार्य्याभावेन कारणाभावानुमानस्य व्याप्तिमूलकत्वेनानुमान एवान्तर्भावात्।

भट्टमते तु भूतलादावभावग्राहकं प्रमाणमनुपलम्भाख्यम्। यत् क्वचित् प्रत्यक्षे क्वचिच्चानुमानेऽन्तर्भूतं चक्षुरादिनैवाभावग्रहात्। न चेन्द्रियमधिकरणग्रह एवोपक्षीणम्, अभावग्रहपर्य्यन्तं तद्व्यापारसत्त्वात्।

ऐतिह्यमविज्ञातप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्य्यम्। इति हेति निपातसमुदायः पुरावृत्ते वर्त्तते, तस्य भाव ऐतिह्यम्। तत् यदि बाधितार्थं न भवति तदा शब्दान्तर्निवेशादनुमानम्। यदिह वटे यक्षो मधूकतरौ गौरीत्यादि, तद् यद्याप्तोक्तं तदा पूर्ववत्। नाप्तोक्तञ्चेत्तदा न प्रमाणम्। तदेवं प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति सिद्धं द्वयमेव प्रमाणमिति ॥ ५ ॥

से कारण के अनुमान के समान कार्य अभाव से कारण के अभाव का अनुमान भी व्याप्तिमूलक होने से अनुमान में ही अभाव का अन्तर्भाव होने के कारण अभाव भी दूसरा प्रमाण नहीं है।

अधिकरण के प्रत्यक्ष होने से ही इन्द्रियों का व्यापार शान्त हो जाता है तो उससे अभाव का प्रत्यक्ष कैसे होगा, तथा अलीक (असत्) स्वरूप अभाव के साथ इन्द्रियों के सम्बन्ध के न होने से प्रत्यक्ष न हो सकने के कारण एवं शब्दादिकों के अनुच्चारण दशा में भी अभाव का ज्ञान होने से भी उसका ग्रहण करने वाला अनुपलब्धि नामक प्रमाण मानना पड़ेगा—ऐसे मीमांसकों के मत पर तो शंकरमिश्र कहते हैं कि—इस मत में तो भूतलादि अधिकरण में अभाव को ग्रहण करने वाला अनुपलम्भ नामक प्रमाण माना गया है, किन्तु वह कहीं-कहीं प्रत्यक्ष तथा कहीं-कहीं अनुमान में अन्तर्गत होता है, क्योंकि चक्षुरादिकों से ही अभाव का ग्रहण होता है। यह पूर्वपक्षी नहीं कह सकता कि—अधिकरण भूतलादिकों के ग्रहण में ही इन्द्रिय उपक्षीण (चरितार्थ) है, क्योंकि अभावज्ञान तक उसका व्यापार रहता है। पौराणिकों के माने हुए जिसके वक्ता का ज्ञान न हो ऐसे प्रवाद (कहावत) के परम्परा ही को ऐतिह्य प्रमाण कहते हैं। इस ऐतिह्य 'पद' में 'इति ह' ये दोनों निपातों का समुदाय है जो पुरावृत्त (पूर्व में हुए) वृत्त (वृत्तान्त) का वाचक है, उसके धर्म को 'ऐतिह्य' कहते हैं। ऐसा ऐतिह्य प्रमाण का यदि दूसरे किसी प्रमाण से विषय बाधित न हो तो शब्द के अन्तर्भाव होने से वह वैशेषिक मत से अनुमानप्रमाण होगा। क्योंकि इस वड के पेड़ पर यक्ष (देवताविशेष) है इस मधुक (महुआ) वृक्ष पर गौरी नाम की चिड़िया बोल रही है, इत्यादि ऐतिह्य प्रमाण का उदाहरण ऐतिह्य प्रमाणवादी देते हैं, वह यदि आप्तपुरुष से कहा गया हो तो उपरोक्त के समान उसका शब्द में अन्तर्भाव होगा। यदि आप्तपुरुष से उक्त न हो तो प्रमाण ही न होगा।

लैङ्गिकं व्याख्याय इदानीं प्रकरणान्तरमारभते—

आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ॥ ६ ॥

उत्पद्यत इति शेषः। संयोगविशेषः प्रणिधानादिसन्निधानम्। एतस्माद्-समवायिकारणादात्मनि समवायिनि स्मृतिर्विद्याविशेष उत्पद्यते। निमित्त-कारणमाह—संस्कारादिति। चकारेण व्यापारी पूर्वानुभवः समुच्चीयते। अनुभवयाथार्थ्यायाथार्थ्यमियमनुविधत्ते, रज्जुं भुजङ्गतयोपलभ्य पलायितस्य तथैव स्मृतेः। न च सततं स्मृतिप्रसङ्गः, संस्कारोद्बोधाधीनत्वात्, तदुक्तं प्रशस्तदेवपादैः—"लिङ्गदर्शनेच्छानुस्मरणाद्यपेक्षादात्ममनसोः संयोगविशेषात् पट्वभ्यासादरप्रत्ययजनिताच्च संस्काराद्दृष्ट श्रुतानुभूतेषु शेषानुव्यवसायस्म-रणेच्छाद्वेषहेतुरतीतविषया स्मृतिः" इति।

इस कारण उक्त प्रकार से प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो ही प्रमाण वैशेषिक मत में माने गये हैं यह सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

इस प्रकार लैङ्गिक (अनुमान) की व्याख्या कर सांप्रत दूसरे प्रकरण का सूत्र-कार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—आत्ममनसोः = आत्मा तथा मन के, संयोगविशेषात् = संयोगविशेष से, संस्कारात् च = और भावना नामक संस्कार से भी, स्मृति = स्मरणरूप ज्ञान होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—आत्मा तथा मन के असमवायिकारण प्रणिधानादि संनिधानरूप संयोगविशेष तथा भावना नामक संस्काररूप निमित्त कारण से आत्मारूप सम-वायिकारण में स्मरणरूप कार्य उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित 'उत्पद्यते' उत्पन्न होता है ऐसा शेष पद पूर्ण करना। सूत्र में संयोगविशेष पद का प्रणिधान (चित्त की स्वस्थता) आदि का समीप होना अर्थ है—इस संयोगविशेषरूप असमवायिकारण से समवायिकारण आत्मा में स्मृति नाम का विशेष विद्या (ज्ञान) उत्पन्न होता है। इसके निमित्त कारण सूत्रकार कहते हैं–'संस्कारात्' इति। चकार से व्यापार वाला पूर्व का अनुभव संग्रह किया गया है। यह स्मृति पूर्वानुभव की यथार्थता एवं अयथार्थता का अनु-सरण करती है, क्योंकि रस्सी को सर्प समझकर भागे हुए मनुष्य को अयथार्थ ही स्मरण होता है। संस्कार के उद्बोधक के अधीन होने के कारण सर्वदा स्मृति होने की आपत्ति नहीं आ सकती। यही भाष्य में प्रशस्तदेवपाद ने कहा है—कि लिङ्ग का दर्शन, इच्छा पश्चात् स्मरण, प्रणिधान आदि की अपेक्षा करनेवाले आत्मा तथा मन के संयोगविशेष से पटु, अभ्यास तथा आदर-ज्ञान से उत्पन्न भी संस्कार से दृष्ट, श्रुत तथा अनुभव किये विषयों में, अविशिष्ट अनुव्यवसाय, स्मरण, इच्छा तथा द्वेषरूप कार्य की उत्पादक, अतीत (व्यतीत) विषयों में स्मृति होती है, ऐसा।

आर्षं ज्ञानं सूत्रकृता पृथङ् न लक्षितं योगिप्रत्यक्षान्तर्भावितम्। पदार्थप्रदेशाख्ये तु प्रकरणे तदुक्तं तद्यथा—"आम्नायविधातॄणामृषीणामतीतानागतवर्त्तमानेष्वतीन्द्रियेष्वर्थेषु धर्मादिषु ग्रन्थोपनिबद्धेषु लिङ्गाद्यनपेक्षादात्ममनसोः संयोगाद्धर्मविशेषाच्च प्रातिभं ज्ञानं यदुत्पद्यते तदार्षम्" इति। तच्च कदाचिल्लौकिकानामपि भवति यथा 'कन्यका वदति श्वो मे भ्राताऽऽगन्तेति हृदयं मे कथयतीति'॥ ६॥

तदेवं चतुर्विधां विद्यां व्युत्पाद्य इदानीमविद्यां व्युत्पादयितुमर्हति। तत्र संशयविपर्य्ययौ प्रसङ्गात् पूर्वमेव निरूपितौ, स्वप्नं निरूपयितुमाह—

तथा स्वप्नः॥ ७॥

योगिप्रत्यक्ष में अन्तर्गत होने के कारण आर्षज्ञान सूत्रकार ने अधिक विद्या नहीं कही है। किन्तु पदार्थप्रदेश नामक प्रशस्तपाद भाष्य के प्रकरण में वह इस प्रकार कहा गया है कि—"आम्नायविधातॄणां = आगम के निर्माता, ऋषीणां=ऋषियों के, अतीतानागतवर्तमानेषु=भूत भविष्य तथा वर्तमान, अतीन्द्रियेषु=अप्रत्यक्ष, ग्रंथोपनिबद्धेषु=ग्रन्थो में वर्णन किये हुए, धर्मादिषु=धर्म अधर्म आदि पदार्थों में, लिङ्गाद्यनपेक्षात् = हेतु आदि की आवश्यकता न रखने वाले, आत्ममनसोःसंयोगात्=आत्मा तथा मन के संयोग से, धर्मविशेषात् च=और विद्या, तपश्चर्या तथा समाधि से उत्पन्न उत्कृष्ट विशेष धर्म से भी, प्रातिभं = जो प्रातिभ (प्रतिभ से उत्पन्न) 'ज्ञानं ज्ञान, उत्पद्यते=उत्पन्न होता है, तत् = वह, आर्षं = आर्षज्ञान कहाता है।" इति = ऐसा। और वह प्रातिभज्ञान कभी-कभी लौकिक पुरुषों को भी होता है, जैसे कोई कन्या को तेरा भाई कब आवेगा? ऐसा प्रश्न करने पर वह कहती है कि मेरा भाई कल आवेगा ऐसा मेरा हृदय कहता है, ऐसा और वह उसका कहना आर्षज्ञान के समान सत्य भी हो जाता है॥ ६॥

इस प्रकार चार प्रकार की विद्या का वर्णन करने के पश्चात् सांप्रत अविद्या का वर्णन करना उचित है, जिसमें संशय तथा अनध्यवसाय रूप विपर्यय का वर्णन प्रसंग से पूर्वग्रन्थ में ही कर चुके हैं, अतः तृतीय स्वप्न नामक अविद्या का सूत्रकार वर्णन करते हैं।

पदपदार्थ— तथा = स्मृति के समान, स्वप्नः=स्वप्नज्ञान भी होता है॥ ७॥

भावार्थ—जिस प्रकार आत्मा तथा मन के संयोगविशेष और संस्कार से स्मरणज्ञान होता है उसी प्रकार स्वप्नज्ञान भी होता है। इन्द्रियों के व्यापारों के शान्त होने पर जिसका मन स्वरूप में लीन रहता है ऐसे मनुष्य को इन्द्रिय व्यापार से होने के समान जो अनुभव होता है उसे स्वप्नज्ञान कहते हैं॥ ७॥

यथाऽऽत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिस्तथा स्वप्नज्ञानमपीत्यर्थः। उपरतेन्द्रियग्रामस्य प्रलीनमनस्कस्य इन्द्रियद्वारेण यदनुभवनं मानसम्, तत् स्वप्नज्ञानम्।

तच्च त्रिविधम्। किञ्चित् संस्कारपाटवात् कामी क्रुद्धो वा यमर्थमादृतश्चिन्तयन् स्वपिति तस्य तस्यामवस्थायां प्रत्यक्षाकारं ज्ञानं पुराणादिश्रवणजनितसंस्कारवशाज्जायते कर्णार्जुनीयं युद्धमिदमित्याकारम्। किञ्चिद्धातूनां वातपित्तश्लेष्मणां दोषात्। तत्र वातदोषादाकाशगमन-वसुन्धरापर्य्यटन-व्याघ्रादिभयपलायनादीनि पश्यति। पित्तोपचयदोषमहिम्ना वह्निप्रवेश-वह्निज्वालालिङ्गन-कनकपर्वत-विद्युल्लताविस्फुरण-दिग्दाहादिकं पश्यति। श्लेष्मदोषप्राबल्यात्तु समुद्रसन्तरण-नदीमज्जन-धारासारवर्षण-रजतपर्वतादि पश्यति। अदृष्टवशादपि तज्जन्मानुभूतेषु जन्मान्तरानुभूते वा सिद्धोप्लुतान्तःकरणस्य

उपस्कार—जिस प्रकार आत्मा तथा मन के विशेष संयोग और संस्कार से भी स्मरणज्ञान होता है उसी प्रकार स्वप्नज्ञान भी होता है यह सूत्र का अर्थ है। इन्द्रियों के व्यापार से रहित तथा लीन (लयावस्था में वर्तमान) मन वाले प्राणी को जो इन्द्रियों के व्यापार होने के समान मानस अनुभव होता है, वह स्वप्नज्ञान कहाता है। और वह तीन प्रकार का है। कोई स्वप्नज्ञान तो संस्कार के पाठव सामर्थ्य से होता है जैसे कामी अथवा क्रोधी प्राणी जिस कामिनी, शत्रु आदि पदार्थ को आदर से चिन्तन करता हुआ निद्रा करता है, उस प्राणी को उस अवस्था में प्रत्यक्षरूप कामी को कामिनी अथवा क्रोधी को पुराण-भारतादि इतिहास के श्रवण से उत्पन्न संस्कार के कारण यह कर्ण तथा अर्जुन का युद्ध हो रहा है ऐसा ज्ञान स्वप्न में होता है। और कोई स्वप्नज्ञान वात, पित्त तथा कफ इन तीनों के दोष से होता है। जिसमें वायु दोष से आकाश में गमन पृथिवी में भ्रमण, व्याघ्रादि हिंसक जीवों के भय से भागना, इत्यादि प्राणी स्वप्न में देखता है। पित्त के वृद्धि के दोष से अग्नि में प्रवेश, अग्नि की ज्वाला से आलिंगन, सुवर्ण का पर्वत, विद्युत्रूप लता का चमकना, दिशाओं में दाह इत्यादि पित्तरोगी प्राणी स्वप्न में देखता है। श्लेष्म (कफ) दोष की प्रबलता से तो समुद्र में तैरना, नदी में डूबना, जल की वर्षा की धाराओं की वृष्टि, चांदी का पर्वत इत्यादि कफरोगी प्राणी स्वप्न में देखता है। अदृष्ट के अधीन भी उस जन्म में अनुभव किये, या जन्मान्तर (पूर्व दूसरे जन्म) में अनुभव किये पदार्थों का व्याकुल चित्त वाले प्राणी को जो ज्ञान उत्पन्न होता है (वह अदृष्ट हेतुक स्वप्न होता है) उसमें धर्मरूप अदृष्ट से गज पर चढ़ना पर्वत पर चढ़ना, छत्र की प्राप्ति, पायस (खीर) का भोजन, राजा का दर्शन इत्यादि, भावी शुभसूचक तथा अधर्मरूप अदृष्ट से तेल से अभ्यंग स्नान,

यज्ज्ञानमुत्पद्यते, तत्र शुभावेदकं धर्मात् गजारोहण-पर्वतारोहण-छत्रलाभ-पायसभक्षण-राजसन्दर्शनादिविषयकम्। अधर्मात्तु तैलाभ्यञ्जनान्धकूपपतनोष्ट्रारोहण-पङ्कमज्जन-स्वविवाहदर्शनादिविषयकं स्वप्नज्ञानमुत्पद्यते। त्रयाणां मिलितानामेवात्र कारणत्वं गुणप्रधानभावमाश्रित्यायं विभागो द्रष्टव्यः॥ ७॥

ननु यज्ज्ञानं स्वप्नमध्ये स्वप्नज्ञानानुभूतस्यैवार्थस्य स्मृतिरूपं जायते तत्र स्वप्नत्वं न वर्त्तते स्वप्नस्यानुभवरूपत्वात् तथा च कस्मात् कारणात्तदुत्पत्तिरित्यत आह—

स्वप्नान्तिकम्॥ ८॥

तथेति पूर्वसूत्रादनुवर्त्तते। तेनात्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च यथा स्वप्नस्तथा स्वप्नान्तिकमपीत्यर्थः। एतावानेव विशेषो यत् स्वप्नज्ञानं पूर्वानुभवजनितात् संस्करात्, स्वप्नान्तिकन्तु तत्कालोत्पन्नानुभवजनितसंस्कारादेव। तदुक्तं प्रशस्तदेवाचार्य्यैः—"अतीतज्ञानप्रत्यवेक्षणात् स्मृतिरेव"

अन्धेरे कुएँ में गिरना, ऊँट पर चढ़ना, पंक (कीचड़) में फसना, अपना विवाह देखना इत्यादि विषय वाले भावी अशुभ के सूचक स्वप्नज्ञान धार्मिक तथा अधार्मिकों को क्रम से होते हैं। इस स्वप्नज्ञान में संस्कार नाटक, धातु दोष तथा अदृष्ट इन मिले हुए तीनों को कारणता है जिससे एक प्रधान दो गौण (विशेषणता) रूप से ऐसा विभाग देखना चाहिये॥ ७॥

स्वप्नज्ञान के मध्य में स्वप्नज्ञान से अनुभव किये हुए पदार्थों का जो स्मरण रूप ज्ञान होता है, वह स्वप्न नहीं हो सकता, क्योंकि स्वप्नज्ञान अनुभवरूप होता है, तो किस कारण से उत्पन्न होता है? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—स्वप्नान्तिकं=स्वप्न के मध्य में होने वाला स्मरणरूप ज्ञान कैसे होता है॥ ८॥

भावार्थ—आत्मा तथा मन के संयोगविशेष तथा संस्कार से भी जिस प्रकार स्वप्नज्ञान होता है उसी प्रकार (स्वप्नान्तिक) स्वप्न मध्य में स्वप्न स्मरणरूप ज्ञान भी होता है॥ ८॥

उपस्कार—इस सूत्र में पूर्व सूत्र से 'तथा' इस पद की अनुवृत्ति (आगमन) होती है इससे आत्मा तथा मन के संयोगविशेष संस्कार से भी जिस प्रकार स्वप्नज्ञान होता है उसी प्रकार स्वप्नान्तिक (स्वप्न मध्य में स्वप्न स्मरण) भी होता है यह सूत्र का अर्थ है। इतना ही विशेष है कि स्वप्नज्ञान पूर्व में अनुभव किये पदार्थ के अनुभव से उत्पन्न संस्कार से उत्पन्न होता है किन्तु स्वप्नान्तिक स्मृति

इति । उक्तञ्च वृत्तिकारैः—"अनुभूतवस्तुस्फुरणार्थतया न स्मरणादर्थान्तरं स्वप्नज्ञानम्" इति ।

स्वप्नमध्ये प्रमाभूतं यज्ज्ञानं तत् स्वप्नान्तिकमिति केचित् । यथा शय्यायां शयानोऽस्मीत्यादि ॥ ८ ॥

स्वप्नस्वप्नान्तिकयोः कारणं समुच्चिनोति—

धर्माच्च ॥ ९ ॥

अधर्मसमुच्चयार्थश्चकारः । कृतव्याख्यानमेतत् ॥ ९ ॥

इदानीं पर्य्यायमधिकृत्याह—

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥ १० ॥

ज्ञान केवल उस स्वप्न काल के अनुभव से उत्पन्न संस्कार ही से । यह प्रशस्त देव आचार्य ने भी भाष्य में कहा है—'अतीतज्ञानप्रत्यवेक्षणात्=बीते हुए स्वप्न के पुनर्दर्शन से, स्मृतिः एव = वह स्वप्नान्तिक स्मरण ही है' ऐसा । अर्थात् स्वप्नान्तिक यद्यपि इन्द्रिय व्यापार रहित हीन मनवाले को होता है तो भी स्वप्न में अनुभव किये विषय का प्रत्यवेक्षण होने से वह स्मरण ही है । जिससे अविद्या चार ही प्रकार की है यह सिद्ध होता है । स्वप्न के मध्य में यथार्थरूप जो ज्ञान होता है उसे स्वप्नान्तिक कहते हैं ऐसा कुछ विद्वानों का मत है जैसे मैं शय्या पर सोया हूं इत्यादि–इस प्रकार ॥ ८ ॥

स्वप्नज्ञान तथा स्वप्नान्तिक दोनों के कारण का संग्रह करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—धर्मात् च=और धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट से स्वप्नांतिक ज्ञान होता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—स्वप्नज्ञान तथा स्वप्नांतिक दोनों में धर्म तथा अधर्मरूप अदृष्ट भी कारण है ॥ ९ ॥

उपस्कार—सूत्र में चकार से अधर्म का संग्रह होता है, इस सूत्र की सातवें सूत्र में व्याख्या की गई है ॥ ९ ॥

सांप्रत (पर्याय) साक्षात् विपर्यय रूप अविद्या को उद्देशकर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—इन्द्रियदोषात् = इन्द्रियों के दोष से, संस्कारदोषात् च = संस्कार के दोष से भी, अविद्या = मिथ्याज्ञान होता है ॥ १० ॥

भावार्थ—विपर्यय (मिथ्या ज्ञान) रूप अविद्या इन्द्रियों के तथा संस्कार के दोष से उत्पन्न होती है ॥ १० ॥

अविद्येति सामान्यवाच्यपि पदं विपर्य्यये वर्त्तते प्रकरणात् संशयस्वप्नानध्यवसायानामुक्तत्वात्। तत्रेन्द्रियदोषो वातपित्ताद्यभिभवकृतमपाटवम्। संस्कारदोषो विशेषादर्शनसाहित्यं तदधीनं हि मिथ्याज्ञानं जायते ॥ १० ॥

अविद्यासामान्यलक्षणमाह—

तद्दुष्टज्ञानम् ॥ ११ ॥

तदित्यव्ययपदं सर्वनामसमानार्थकमविद्यां परामृशति। साऽविद्या दुष्टज्ञानं—व्यभिचारिज्ञानमतस्मिंस्तदिति ज्ञानं-व्यधिकरणप्रकारावच्छिन्नं—विशेष्यावृत्तिप्रकारकमिति यावत्। दोषश्च ज्ञानस्यानिश्चयरूपत्वमपि। तेनैककोटिसत्त्वेऽपि संशयो दुष्ट एवानवधारणात्मकत्वात्। तदनेन संशयविपर्य्ययस्वप्नानध्यवसायानाञ्चतुर्णामप्युपग्रहः ॥ ११ ॥

अदुष्टं विद्या ॥ १२ ॥

उपस्कार—सूत्र में सामान्यरूप से अज्ञानवाचक अविद्या शब्द विपर्यय (मिथ्याज्ञान) का बोधक है, क्योंकि संशय, स्वप्न, तथा अनध्यवसायों के वर्णित होने से उसी का प्रकरण है। उसमें वात, पित्त, श्लेष्म आदिकों के आक्रमण से भये हुए इन्द्रियों के असामर्थ्य को इन्द्रिय दोष कहते हैं। विशेष के अदर्शन (न दिखाई पड़ने को) साहित्य (सामग्री) को संस्कार दोष कहते हैं, क्योंकि उन्हीं के अधीन ही मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १० ॥

अविद्या सामान्य का सूत्रकार लक्षण कहते हैं—

पदपदार्थ—तत् = वह अविद्या, दुष्टज्ञानं=दोष युक्त ज्ञान होती है ॥ ११ ॥

भावार्थ—व्यभिचारी ज्ञान को अविद्या कहते हैं ॥ ११ ॥

उपस्कार—सूत्र का 'तत्' यह अव्यय पद है जो सर्वनाम शब्दों के समान अर्थ वाला होने से अविद्या को ग्रहण करता है। अतः 'सा' वह अविद्या, अर्थात् उस धर्म से रहित अर्थ में उस धर्म को विषय करने वाला व्यभिचारि ज्ञान—अथवा व्यधिकरण (अन्य अर्थ में वर्तमान) विशेषण से युक्त ज्ञान, अर्थात् विशेष्य में न रहनेवाले धर्मरूप विशेषण वाला ज्ञान दुष्टज्ञान कहाता है। निश्चय न होना यह भी एक ज्ञान या दोष होता है। इसी से एक कोटि (भाग) के होने पर भी संशयरूप ज्ञान निश्चयात्मक न होने के कारण दुष्ट ही है। इस प्रकार इस सूत्रोक्त सामान्य लक्षण से संशय, विपर्यय, स्वप्न, तथा अनध्यवसाय चारों का भी संग्रह होता है ॥ ११ ॥

पदपदार्थ—अदुष्ट = दोषरहित (ज्ञान), विद्या = विद्या कहाती है ॥ १२ ॥

भावार्थ—दोषरहित इन्द्रियादिकों से होनेवाले ज्ञान को विद्या कहते हैं ॥१२॥

ज्ञानमित्यनुवर्त्तते। अदुष्टमदुष्टेन्द्रियजन्यं यत्र यदस्ति तत्र तदनुभवो वा समानाधिकरणप्रकारानुभवो वा विशेष्यावृत्त्यप्रकारकानुभवो वा विद्येत्यर्थः। तच्चाध्यक्षं लैङ्गिकञ्च द्वयमेव ॥ १२ ॥

नन्वार्षमपि ज्ञानं समानाधिकरणप्रकारकमेव तच्च नेन्द्रियजन्यमसन्निकृष्टार्थगोचरत्वात्। न लैङ्गिकं लिङ्गानुसन्धानमन्तरेण जायमानत्वात्। तथा चैतत्करणं तृतीयं प्रमाणमायातमत आह—

आर्षं सिद्धदर्शनञ्च धर्मेभ्यः ॥ १३ ॥

ऋषीणां गालवप्रभृतीनां यदतीतानागतविषयकं ज्ञानं तदार्षम्। यच्च सिद्धानां मन्त्रौषधिगुटिकाञ्जनादिना व्यवहितविप्रकृष्टार्थगोचरज्ञानं प्रतिसिद्धिगतानां यद्दर्शनं तदुभयं धर्मेभ्यो यथार्थसाक्षात्कारि ज्ञानं जायते। तद्यो-

---

उपस्कार—सूत्र में 'ज्ञानं' ज्ञान यह पद पूर्वसूक्त से अनुवृत्त होता है (आता है) दोषरहित इन्द्रियों से उत्पन्न होने से अदुष्ट (दोषरहित) अर्थात् जिसमें जो धर्म हो उसमें उस धर्म का अनुभव अथवा समानाधिकरण (एक आश्रय में वर्तमान) विशेषण का अनुभव (अर्थात् उस विशेषण वाले विशेष्य में उसका ज्ञान)। यहां स्मृति के करण में प्रमाणता के वारणार्थ अनुभवपद दिखाया है। अथवा विशेष्य में न रहनेवाले धर्म को विशेषण न रखनेवाला अनुभव विद्या कहाती है यह सूत्र का अर्थ है। निर्विकल्पक ज्ञान में प्रमात्व के लाभ के लिये यह द्वितीय कल्प शंकरमिश्र ने किया है और वह प्रमाण विद्या प्रत्यक्ष और लैंगिक के ऐसी वैशेषिकमत में दो प्रकार है ॥ १२ ॥

आर्षज्ञान भी समानाधिकरण विशेषण वाला ही होता है, जो इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न न होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। तथा लिङ्ग के अनुसन्धान (व्याप्तिविशिष्टज्ञान) के बिना होने में लैंगिक (अनुमान) भी नहीं हो सकता, ऐसा होने से आर्षज्ञान का करण तीसरा प्रमाण है यह प्राप्त होता है इस पूर्वपक्षी की शंका का सूत्रकार उत्तर देते हैं—

पदपदार्थ—आर्षं = ऋषि सम्बन्धी ज्ञान, सिद्धदर्शनं च = और सिद्धों का दर्शन भी, धर्मेभ्यः = अदृष्टरूप धर्मों से होता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—ऋषियों का भूत, भविष्य तथा वर्तमानविषयक ज्ञान तथा सिद्धि को प्राप्त सिद्ध पुरुषों को ज्ञान होता है वह धर्म से प्रत्यक्षात्मक होता है ॥ १३ ॥

उपस्कार—गालव, वसिष्ठ आदि ऋषियों को जो भूत, भविष्य तथा वर्तमान विषयों का ज्ञान होता है वह आर्षज्ञान कहाता है। और जो यन्त्र, औषधि, गुटिका (गोली), अञ्जन (काजल) इत्यादि सिद्ध कर उनसे व्यवधान युक्त तथा इष्ट के विषयों का जो ज्ञान प्रत्येक सिद्धिप्राप्त सिद्धों को दर्शन (प्रत्यक्षज्ञान) होता है वह

गिप्रत्यक्षेऽन्तर्भावान्न विद्यान्तरमिति वृत्तिकृतः। आर्षं ज्ञानं चतुर्थी विद्यैव, सा च ऋषीणां लौकिकानाञ्च भवति। तच्च मानसं प्रत्यक्षमेव उत्प्रेक्षासहकृतेन मनसा जनितं नियमसन्दर्शनादि-लिङ्गजनितं वा। प्राग्भवीयसंस्काराधीनैवात्र व्याप्तिधीः, स्तनपानेष्टसाधनताव्याप्तिग्रहवत्।

प्रशस्ताचार्य्यास्तु सिद्धदर्शनं न ज्ञानान्तरमित्याहुः। तथा हि यदि सिद्धानां गुटिकाञ्जनादिसिद्धिनिमित्तप्रभवं व्यवहितविप्रकृष्टविषयं तदुच्यते तदा प्रत्यक्षमेव। यदि तु दिव्यान्तरीक्षभौमानां ग्रहनक्षत्रसञ्चारादिनिमित्ताधीनं तदा तल्लैङ्गिकमेव तथा सहचारदर्शनेन व्याप्तिपरिच्छेदादिति ॥ १३ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे नवमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

समाप्तश्चायं नवमोऽध्यायः।

दोनों (आर्ष तथा सिद्धदर्शन) धर्मों से जैसा पदार्थ है वैसे ही पदार्थ को दिखाने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है। वह योगिप्रत्यक्ष के अन्तर्गत होने से दूसरी विद्या नहीं है ऐसा वृत्तिकार का मत है। किन्तु भाष्यकार प्रशस्तदेव के मत से आर्षनामक-ज्ञान भी चतुर्थ विद्या ही है, किन्तु वह भी ऋषि तथा लौकिक पुरुषों को भी होती है और वह मानसप्रत्यक्ष ही है जो सम्भावना के सहायता से मन से उत्पन्न होता है अथवा व्याप्ति स्मरणादि विशिष्ट लिङ्ग से उत्पन्न होता है। क्योंकि पूर्वजन्म से उत्पन्न व्याप्ति ज्ञान के संस्कार के अधीन व्याप्ति का ज्ञान होता है, जैसे पूर्वजन्म में किये दुग्धपान के इष्टसाधनताज्ञान से बालक को व्याप्ति ज्ञान होता है।

किन्तु प्रशस्तदेवाचार्य के मत में सिद्धदर्शन प्रमाणान्तर नहीं है क्योंकि यदि सिद्धों का पूर्वोक्त गुटिका, अञ्जन इत्यादि सिद्ध होने के कारण उत्पन्न हुआ व्यवहित तथा दूर के विषयों का ज्ञान सिद्धदर्शन कहा जाय तो वह प्रत्यक्ष में ही अन्तर्गत होता है और यदि स्वर्ग, अन्तरिक्ष (आकाश) तथा पृथ्वी पर रहनेवालों को सूर्यादि ग्रह अश्विनी आदि नक्षत्रों के संचार (भ्रमण) इत्यादि निमित्तों से उत्पन्न सिद्धदर्शन लिया जाय तो वह लैङ्गिक (अनुमान) ही होगा। क्योंकि उस प्रकार के सहचार के देखने से व्याप्तिज्ञान के अधीन ही वह होता है ॥ १३ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्रकृत वैशेषिकसूत्रोपस्कार व्याख्या में नवमाध्याय का द्वितीय आह्निक और नवम अध्याय भी समाप्त हुआ।

दशमाध्याये प्रथमाह्निकम्

आत्मगुणानां कारणतो भेदव्युत्पादनं दशमाध्यायार्थः । तत्र "आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्" अ० १ आ० १ सू० ९ इति गौतमोये प्रमेयविभागसूत्रे सुखस्यानभिधानात् दुःखाभिन्नमेव सुखमिति भ्रमनिरासार्थं सुखदुःखयोरेव प्रथमं भेदमाह—

इष्टानिष्टकारणविशेषाद्विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः ॥ १ ॥

सुखदुःखयोर्मिथः परस्परमर्थान्तरभावो भेदो वैजात्यमिति यावत् । कुत इत्यत आह—इष्टानिष्टकारणविशेषात् इष्टं इष्यमाणं स्रक्चन्दनवनितादि अनिष्टमनिष्यमाणमहिकण्टिकादि तद्रूपं यत् कारणं तस्य विशेषाद् भेदात्, कारणवै-

---

आत्मा के गुणों का कारण से भेद का वर्णन करना दशमाध्याय का विषय है । उसमें 'आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्" आत्मा १, शरीर २, इन्द्रिय ३, अर्थ ४, बुद्धि ५, मन ६, प्रवृत्ति ७, दोष ८, प्रेत्यभाव ९, फल १०, दुःख ११ और अपवर्ग १२ ऐसे बारह प्रकार के प्रमेय पदार्थ हैं (अ. १ आ. २ सू. ९) ऐसे गौतम मुनिप्रणीत न्यायदर्शन के प्रमेयपदार्थ के विभाग सूत्र में सुख के न कहने से दुःख से अभिन्न (दुःखरूप ही) सुख गुण हैं, ऐसे भ्रम के निवारणार्थ सुख तथा दुःख इन दोनों का ही सूत्रकार प्रथम भेद कहते हैं—

पदपदार्थ—इष्टनिष्टकारणविशेषात् = प्रिय तथा अप्रियरूप कारणों का विशेष होने से, विरोधात् च=और परस्पर सुख तथा दुःख का विरोध होने से भी, सुखदुःखयोः = सुख तथा दुःख का, अर्थान्तरभावः=भेद है ।। १ ।।

भावार्थ—माला चन्दन आदि प्रिय, तथा सर्प, कण्टक आदि अप्रिय पदार्थ रूप कारणों के भेद से, तथा परस्पर साथ न रहना रूप विरोध होने से भी सुख तथा दुःख रूप आत्मा के गुणों का परस्पर भेद, नकि दुःख रूप से सुख है ।। १ ।।

उपस्कार—सुख तथा दुःख का मिथः (परस्पर) अर्थान्तरभाव अर्थात् विजातीयतारूप भेद है यह तात्पर्य है । क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने 'इष्टानिष्ट कारणविशेषात्' यह हेतु दिया है जिसका यह अर्थ है कि इष्ट नाम इष्यमाण (चाहा जानेवाला) माला, चन्दन, कामिनी इत्यादि, तथा अनिष्ट नाम अनिष्यमाण (न चाहा जाने वाला) अहि (सर्प) कण्टक (कांटा) आदि स्वरूप जो

जात्याधीनं कार्य्यवैजात्यमावश्यकं यतः। भेदकान्तरमाह—विरोधात् सहानवस्थानलक्षणात् न ह्येकस्मिन्नात्मन्येकदा सुखदुःखयोरनुभवः। चकारादनयोः कार्य्यभेदे भेदकं समुच्चिनोति। तथाहि—अनुग्रहाभिष्वङ्गनयनप्रसादादि सुखस्य, दैन्यमुखमालिन्यादि दुःखस्य कार्य्यमिति ततोऽप्यनयोर्भेदः। तदुक्तं प्रशस्ताचार्य्यैः—"अनुग्रहलक्षणं सुखं स्रगाद्यभिप्रेतविषयसान्निध्ये सति इष्टोत्पन्नधीन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्धर्माद्यपेक्षादात्मनसोः संयोगाद् यदनुग्रहाभिष्वङ्गनयनादिप्रमोदजनकमुत्पद्यते तत् सुखम्" इति। तदिदमतीतेषु स्रक्चन्दनादिषु स्मृतिजमनागतेषु सङ्कल्पजम्। गौतमीये सूत्रे सुखापरिगणनं वैराग्याय सुखमपि दुःखत्वेन भावयतो वैराग्यं स्यादेतदर्थमिति ॥ १ ॥

नन्वास्तां सुखदुःखे परस्परं भिन्ने ज्ञानादभिन्ने स्यातां स्मृत्यनुभववदित्यत आह—

क्रम से सुख तथा दुःख के कारण उनके विशेष अर्थात् भेद से, क्योंकि कारण के विलक्षणता के अधीन कर्म में वैलक्षण्य अवश्य होता है। दूसरा भेद साधक हेतु सूत्रकार देते हैं कि—साथ न रहनारूप विरोध होने से भी, सुख तथा दुःख का भेद है, क्योंकि एक काल में एक आत्मा में सुख तथा दुःख का अनुभव नहीं होता। सूत्र के चकार से सुख तथा दुःख दोनों के कार्य के भेद से भी इन दोनों का भेद है इसका संग्रह होता है। वह इस प्रकार है कि अनुग्रह (दया) का सम्बन्ध नेत्र की प्रसन्नता इत्यादिक सुख गुण का, तथा दीनता, मुख की मलिनता आदि दुःख गुण का कार्य होता है। अतः कार्य के भेद से भी सुख तथा दुःख गुण का परस्पर भेद है। यह प्रशस्तपादाचार्य ने भी कहा है—"अनुग्रहलक्षणं=अनुग्रहस्वरूप, सुखं=सुख, स्रगाद्यभिप्रेतविषयसांनिध्ये=माला आदि प्रिय पदार्थों की समीपता, सति=होने पर, इष्टोत्पन्नधीन्द्रियार्थसंनिकर्षात्=प्रिय पदार्थों में उत्पन्न ज्ञान तथा इन्द्रिय और प्रियपदार्थ के संनिकर्ष से तथा धर्माद्यपेक्षात्=धर्मादिकों की अपेक्षा रखनेवाले आत्ममनसोः संयोगात्=आत्मा तथा मन के संयोगादिसंबधसे, यत्=जो, अनुग्रहाभिष्वंगनयनादिप्रमोदजनकं=अनुग्रहसम्बन्ध, नेत्रादि के हर्ष का जनक, उत्पद्यते=उत्पन्न होता है, तत्=वह, सुखं=सुख कहा जाता है" इति=ऐसा। वह यह सुख व्यतीत हुये माला चन्दनादि विषयों में स्मरण से उत्पन्न होता है, और भविष्य उक्त विषयों में संकल्प (मानस कर्म) से उत्पन्न होता है। यदि ऐसा है तो—न्यायसूत्र में गौतम महर्षि ने इसकी क्यों न गणना की? इस प्रश्न के समाधानार्थ शंकरमिश्र कहते हैं कि गौतम मुनि ने सूत्र में वैराग्योत्पादन के लिये सुखगुण की गणना नहीं की है, क्योंकि सुख को भी दुःखरूप से भावना करने वाले प्राणी को वैराग्य होगा इस लिये ऐसा तात्पर्य है ॥ १ ॥

"सुख तथा दुःख परस्पर भिन्न गुण हों, किन्तु वे दोनों ज्ञान से भिन्न न होंगे,

संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ॥ २ ॥

सुखदुःखयोर्ज्ञानान्तरत्वे ज्ञानभिन्नत्वे संशयनिर्णयाभ्यन्तरत्वाभावो हेतुर्लिङ्गमित्यर्थः। तदयमर्थः—सुखं दुःखं वा ज्ञानं भवत् संशयरूपं वा स्यात् निर्णयरूपं वा ? नाद्यः कोटिद्वयानुल्लेखित्वात्। न द्वितीयः एककोट्यनुल्लेखित्वात्। तथा च यावद्विशेषबाधात् सामान्यबाधः। द्वावेव हि ज्ञानस्य विशेषौ संशयत्वं निर्णयत्वञ्च, तदुभयञ्च सुखे दुःखे च बाधितमिति ज्ञानत्वमपि तत्र बाधितम्। चकरादनुभावबाधं समुच्चिनोति। सुखदुःखयोरहं सुखी दुःखीति मानसोऽनुभवो न त्वहं जाने सन्देह्मि निश्चिनोमीत्याकारोऽनुभव इति ॥ २ ॥

भेदकान्तरमाह—

तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ॥ ३ ॥

जसे स्मृति और अनुभव ज्ञान से भिन्न नहीं हैं" ऐसी शंका का उत्तर सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—संशयानिर्णयान्तराभावः च=संशय तथा निर्णय में कोई न होना भी, ज्ञानान्तरत्वे = ज्ञान से भी भिन्न होने में, हेतुः=कारण है ॥ २ ॥

भावार्थ—सुख तथा दुःख न संशयरूप ज्ञान हो सकता है न निर्णय रूप इस कारण ज्ञान से सुख तथा दुःख भिन्न हैं ॥ २ ॥

उपस्कार—सुख तथा दुःख गुण के ज्ञानान्तर अर्थात् ज्ञान से भिन्न होने में संशय तथा निर्णय के अन्तर्गत न होना हेतु नाम साधक लिङ्ग है।

अतः यह अर्थ निकलता है कि सुख अथवा दुःख गुण यदि ज्ञान हो तो वह संशयरूप ज्ञान होगा या निश्चयरूप ज्ञान। उनमें से संशयज्ञान के समान सुख तथा दुःख में दो विरुद्ध कोटियों का उल्लेख न होने से प्रथम संशयपक्ष नहीं हो सकता तथा एक कोटि का उल्लेख न होने से निर्णयरूप द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता। ऐसा होने से ज्ञान के संशयादि रूप विशेषों के बाध से सामान्यरूप से सुख दुःख ज्ञान नहीं है। ऐसा बाध सिद्ध होता है। क्योंकि ज्ञान के संशय तथा निश्चय ऐसे दो ही विशेष हैं, वह दोनों उक्त प्रकार से बाधित होने के कारण सामान्यरूप से ज्ञानता भी सुख तथा दुःख मेंब ाधित है। सूत्र में चकार से अनुभव के बाध का संग्रह होता है। सुख तथा दुःख का मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूँ, ऐसा अनुभव होता है, नकि मैं जानता हूँ, मैं सन्देह करता हूं, मैं निश्चय करता हूं, ऐसा अनुभव होता है। इति इस प्रकार सुख तथा दुःख ज्ञान से भिन्न हैं यह सिद्ध है ॥ २ ॥

सुख तथा दुःख के ज्ञान से भिन्न होने में दूसरा हेतु देते हुए सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—तयोः=उन संशय तथा निर्णय दोनों की, निष्पत्तिः=उत्पत्ति होती है, प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् = प्रत्यक्ष तथा अनुमान से ॥ ३ ॥

तयोः संशयनिर्णययोर्निष्पत्तिरुत्पत्तिः प्रत्यक्षाल्लिङ्गाच्च सुखं दुःखं वा न प्रत्यक्षसामग्रीजन्यं न वा लिङ्गजन्यम्। चतुर्विधं हि सुखं—वैषयिकं मानोरथिकम् आभिमानिकमाभ्यासिकञ्च। तत्र त्रयाणामिन्द्रियसन्निकर्षप्रभवत्वं नास्त्येव। प्रथममिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात् ज्ञानं स्यादिति चेन्न सामग्र्येकदेशस्य कार्य्यस्य साजात्यानापादकत्वात् अन्यथा दिक्कालसाधारण्येन सकलकार्य्यैकजात्यापत्तेः। किञ्च इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पद्यमानं सुखं निर्विकल्पकं वा स्यात् सविकल्पकं वा ? नाद्यः अतीन्द्रियत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः विशेष्यविशेषणभावेन द्वयोरनाकलनरूपत्वात्। किञ्च सुखदुःखयोरवश्यसंवेद्यत्वात् ज्ञानस्यावश्यसंवेद्यत्वेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। लैङ्गिकमिति लिङ्गमेव वैषयिकवत्।

वृत्तिकृतस्तु तयोर्ज्ञानसुखयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्यां प्रत्यक्षलैङ्गिकज्ञान-

---

भावार्थ—संशय तथा निर्णय इन दोनों ज्ञानों की प्रत्यक्ष तथा अनुमान से उत्पत्ति होती है, सुख या दुःख की न प्रत्यय की सामग्री से न हेतु से उत्पत्ति होती है, अतः सुख तथा दुःखज्ञान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता ॥ ३ ॥

उपस्कार—उन संशय तथा निर्णय दोनों की प्रत्यक्ष सामग्री तथा व्याप्तिविशिष्ट लिङ्ग से उत्पत्ति होती है, सुख अथवा दुःख न प्रत्यक्ष की सामग्री से उत्पन्न होता है अथवा न व्याप्तिविशिष्ट लिङ्ग से उत्पन्न होता है। १. वैषयिक (विषय से होनेवाला), २. मानोरथिक (केवल मन से होनेवाला), ३. आभिमानिक (केवल अहंकार से होनेवाला), तथा ४. आभ्यासिक (अभ्यास से उत्पन्न) ऐसे चार प्रकार का सुख संसार में होता है। उनमें मानोरथिक का द्वितीय सुख तो इन्द्रिय संन्निकर्ष से उत्पन्न हो ही नहीं सकते। "प्रथम वैषयिक सुख तो इन्द्रिय तथा पदार्थ विषयों के संन्निकर्ष से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष ज्ञान हो जायगा" इस शंका का शंकरमिश्र उत्तर देते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि सामग्री का एकदेश कार्य में समान जातीयता नहीं ला सकता। ऐसा न हो तो दिशा तथा काल के साधारण होने से संपूर्ण जगत के कार्य एक ही जाति के हो जायँगे और पूर्वपक्षी यह बतावे कि इन्द्रिय तथा अर्थ के संन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाला सुख निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होगा अथवा सविकल्पक प्रत्यक्ष। सुख में अतीन्द्रिय हो जाने की आपत्ति आने के कारण प्रथम (निर्विकल्पक) पक्ष नहीं हो सकता तथा सुख एवं दुःख दोनों के विशेष्य-विशेषणभावरूप से ज्ञान न होने के कारण सविकल्पक प्रत्यक्ष में भी सुख तथा दुःख का अन्तर्भाव नहीं हो सकता और सुख तथा दुःख दोनों के ज्ञान से अवश्य जानने योग्य होने के कारण ज्ञान को अवश्य जानने की योग्यता मानने से अनवस्था दोष आ जायगा। सूत्र में (लैङ्गिकं) इस पद में स्वार्थ में प्रत्यय होने से उसका 'लिङ्ग' ही अर्थ है जैसे स्वार्थ में, 'वैषयिक' पद होता है। तयोः=उन दोनों ज्ञान--

व्याख्यानाभ्यां व्याख्याता। प्रत्यक्षं ज्ञानमिन्द्रियजम्, लैङ्गिकन्तु लिङ्गजम्, सुखादिकन्तु नैतादृशमिति व्याचक्रुः॥ ३॥

लैङ्गिकज्ञानात् सुखादेः प्रकारभेदाधीनं भेदमाह—

अभूदित्यपि॥ ४॥

इतिशब्दः प्रकारे। अपिशब्दो भविष्यतीत्याकारान्तरसमुच्चये। तथा च पर्वते वह्निरभूद्भविष्यति वेति लैङ्गिके ज्ञानेऽतीतादिः प्रकारो दृश्यते, न चैवंप्रकारं सुखं दुःखं वोत्पद्यमानमुपलब्धम्॥ ४॥

भेदकान्तरं समुच्चिनोति—

सति च कार्य्यादर्शनात्॥ ५॥

सति इन्द्रियार्थसन्निकर्षे सति च व्याप्तिपक्षधर्मतादिप्रतिसन्धाने कार्य्यस्य सुखस्य दुःखस्य वाऽदर्शनात् न प्रत्यक्षमात्रं सुखं दुःखं वा, न लैङ्गिकमात्रं

सुखयोः=ज्ञान तथा सुख की उत्पत्ति 'प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्यां=प्रत्यक्षज्ञान तथा लैङ्गिकज्ञान की व्याख्याओं से व्याख्यात हुई। इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और लिङ्ग से उत्पन्न ज्ञान लैङ्गिक कहाता है। सुख-दुःख आदि ऐसे नहीं होते, ऐसी वृत्तिकार ने इस सूत्र की व्याख्या की है॥ ३॥

लैङ्गिकज्ञान से प्रकार के अधीन सुखादिकों का भेद सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—अभूत् हुआ था, इति अपि=ऐसा भी॥ ४॥

भावार्थ—लैङ्गिकज्ञान में भूत, भविष्य इत्यादि व्यवहार होने से, सुख तथा दुःखगुण में उक्त व्यवहार न होने के कारण भी सुखादि लैङ्गिकज्ञान नहीं हो सकता॥ ४॥

उपस्कार—सूत्र में इति शब्द का अर्थ है प्रकार। और अपि शब्द 'भविष्यति' होगा, इत्यादि दूसरे प्रकारों को कहता है। ऐसा होने से पर्वत में वह्नि था या होगा इस प्रकार लैङ्गिकज्ञान में प्रकार देखा जाता है, किन्तु उत्पन्न होनेवाला सुख अथवा दुःख इस प्रकार के व्यवहारवाला उपलब्ध (गृहीत) नहीं होता॥ ४॥

दूसरे भेदसाधकहेतु का सूत्रकार संग्रह करते हैं—

पदपदार्थ—सति च=और इन्द्रिय तथा अर्थ का संनिकर्ष रहते, कार्यादर्शनात्-सुख अथवा दुःखरूप कार्य देखनेमें नहीं आता॥ ५॥

भावार्थ—इन्द्रियार्थ संनिकर्ष तथा व्याप्तिविशिष्ट हेतु के रहने पर भी सुख दुःख आदि कार्य देखने में नहीं आते, अतः सुख तथा दुःख केवल प्रत्यक्षरूप अथवा लैङ्गिक (अनुमान) रूप नहीं हो सकते। इससे यह अर्थ निकलता है कि—सुख तथा दुःख सामान्यज्ञानरूप नहीं हो सकते। ऐसा तृतीय सूत्र में कह चुके हैं।

वा। तदयमर्थः—ज्ञानसामान्यं तावत् सुखदुःखे न भवत इत्युक्तम्। ज्ञानविशेषः प्रत्यक्षज्ञानं वा भवेदनुमितिरूपं वा ? इन्द्रियार्थसन्निकर्षे स्रकचन्दनादिप्रत्यक्षे सुखत्वानुभवाभावात्। न द्वितीयः, चन्दनाद्यनुमितौ वन्ह्याद्यनुमितौ वा सुखत्वदुःखयोरननुभवान्न तद्विशेषोऽपोति ॥ ५ ॥

भेदकान्तरमाह—

एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ॥ ६ ॥

सुखदुःखयोरिति शेषः। सुखं प्रति एकार्थसमवेतानि असाधारणकारणानि-धर्मः सुखे रागः सुखकारणेच्छा तदुपादानयत्नः स्रक्चन्दनादिज्ञानम्। दुःखं प्रति तु—अधर्मः अनिष्टकण्टकादिज्ञानम्, एषु एकार्थसमवायिषु कारणेषु दृष्टत्वादित्यर्थः। ज्ञानन्तुनिर्विकल्पकमेकार्थसमवेतमसाधारणकारणं नापेक्षत एव। सविकल्पकन्त्वपेक्षते विशेषणज्ञानं तत्तु कारणान्तरं स्वविजातीयकारणं न भवति, मनःसंयोगस्तु साधारणत्वाददिवक्षितः। यद्यपि स्मृतिः संस्कारमसाधारणमपे-

---

यदि सुखदुःख ज्ञानविशेष रूप होंगे तो क्या वे प्रत्यक्षज्ञानरूप होंगे, अथवा अनुमितिरूप। इन्द्रिय तथा अर्थ के संनिकर्ष एवं माला, चन्दन आदि के प्रत्यक्षज्ञान सुखस्वरूपता का अनुभव नहीं होता इस कारण प्रथम पक्ष नहीं हो सकता। तथा चन्दन आदि की अनुमिति अथवा वह्नि आदि की अनुमिति में सुखरूपता तथा दुःखरूपता इन दोनों में एक किसी का अनुभव भी नहीं होता। अतः द्वितीय पक्ष भी नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रत्यक्ष अथवा अनुमिति के विशेषों में सुख तथा दुःखरूपता का अनुभव न होने के कारण सुख तथा दुःख प्रत्यक्ष तथा अनुमिति-रूप ज्ञान के विशेष भी नहीं हो सकते ॥ ५ ॥

और दूसरा भेदसाधक हेतु सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु = सुख तथा दुःख के दूसरे असाधारण कारणों में, दृष्टत्वात्=दिखाई पड़ने से ॥ ६ ॥

भावार्थ—तथा सुख और दुःख के अपने अपने दूसरे विशेष कारणों में देखाने से भी सुख तथा दुःख का ज्ञान से भेद है ॥ ६ ॥

उपस्कार—सूत्र में आकांक्षित 'सुखदुःखयोः' इस पद का शेष पूर्ण करना। सुख-गुण के एकार्थसमवेत अर्थात् असाधारण कारण ये हैं जैसे सुख में धर्म, सुख के कारण की इच्छा, उसके ग्रहण का प्रयत्न, तथा चन्दन आदि विषयों का ज्ञान। दुःखगुण में तो अधर्म, अप्रिय कांटे आदि का ज्ञान, इन एकार्थसमवायि (असाधारण) कारणों में दिखाई पड़ने से यह सूत्र का अर्थ है। निर्विकल्पक प्रत्यक्षज्ञान तो सब अर्थ में समवेत असाधारण कारण की अपेक्षा नहीं ही करता। सविकल्पक प्रत्यक्षज्ञान तो विशेषणज्ञान की अपेक्षा रखता ही है, किन्तु वह दूसरा कारण अपने से विरुद्ध

क्षते तथापि तद्भेदः स्फुटसिद्ध एवेत्यनुभवमादाय भेदचिन्तनात्। लैङ्गिके यद्यपि व्याप्तिस्मृतिपक्षधर्मतादिज्ञानापेक्षा तथाप्यन्तरशब्देनैव तद्व्युदासः। तदयं प्रमाणार्थः—सुखदुःखे अनुभवभिन्ने स्वसमानाधिकरणस्वजातीयासाधारणकारणजन्यत्वात् स्मृतिवदाद्यशब्दवच्च ॥ ६ ॥

ननु यदि कारणभेदाधीनो ज्ञानात् सुखदुःखयोः सुखाच्च दुःखस्य स्तम्भकुम्भादिवदेव परस्परं भेदः, तदा शरीरस्य तदवयवानाञ्च शिरःपादपृष्ठोदरादीनां न परस्परं भेदः स्यात्, तत्र हि परमाणुद्व्यणुकादीनां लोहितरेतसोर्वा कारणानामविशेषादित्यत आह—

एकदेशे इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेषेभ्यः ॥ ७ ॥

जाति का कारण नहीं होता, मन का संयोग तो साधारण कारण होने से विवक्षित (कहने की इच्छा का विषय) नहीं है यद्यपि स्मरणरूप ज्ञान असाधारण संस्काररूप कारण की अपेक्षा रखता है, तथापि उस स्मरण से सुख-दुःख आदि का भेद है यह स्पष्ट ही ज्ञात है। इसी कारण प्रत्यक्षादि अनुभवरूप ज्ञान को लेकर सुख तथा दुःखज्ञान से भेद का विचार इस प्रकार किया गया है। लैङ्गिकज्ञान में व्याप्तिस्मरण, पक्षधर्मतादि ज्ञान की अपेक्षा होती हैं, तथापि अन्तर शब्द से उसकी व्युदास (निवृत्ति) हो जाती है। इस कारण यह प्रमाणभूत अर्थ यहां सिद्ध होता है, अर्थात् सुख तथा दुःख, अनुभव से भिन्न है, अपने आश्रय में वर्तमान तथा अपने जाति के विशेष कारण से उत्पन्न होने के कारण, स्मरण तथा आदि शब्द के समान—इस अनुमान से सुख–दुःख का अनुभवरूप ज्ञान से भेद सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

"यदि ज्ञान से सुख तथा दुःख का कारण के भेद के अधीन भेद हो तथा सुख से भी दुःख का 'स्तम्भ (खंभा) कुंभ (कलश) इन दोनों के भेद के समान परस्पर में भेद हो तो, शरीर तथा उसके शिरः (सिर पाद पैर) पृष्ठ (पीठ) आदि अवयवों का भी परस्पर में भेद न होगा, क्योंकि उनमें परमाणु द्व्यणुक आदि अथवा लोहित (रक्त) रेत (वीर्य) रूप कारणों में विशेष नहीं है" इस शंका के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—

पदपदार्थ—एकदेशे = अवयव में, इति = ऐसा, एकस्मिन् = एक (शरीर) में, शिरः = सिर है, पृष्ठं = पीठ है, उदरं = पेट है, मर्माणि = हृदयादि मर्मस्थान हैं, तद्विशेषः = इनकी विजातीयता, तद्विशेषेभ्यः = उनके कारणों की विजातीयता से होती है ॥ ७ ॥

भावार्थ—एक ही अवयवरूप शरीर में यह शिर रूप एकदेश (अवयव) है, यह पृष्ठ है, यह उदर है, ये मर्मस्थान हैं ऐसा विशेष (वैलक्षण्य) व्यवहार उनके अव-

एकदेश इति । अवयवे इत्यर्थः । एकस्मिन्निति शरीरे इत्यर्थः । शिर इत्येकदेशः उदरं पृष्ठं मर्माणि च स्नायुप्रभृतीनि तेषां विशेषो वैज्यात्यम्, तद्विशेषेभ्य स्तत्कारणविशेषेभ्यः । तत्रावि कारणवैजात्यादेव वैजात्यम् , न हि यज्जातीयं शिरःसमवायिकारणं तज्जातीयमेवोदरपृष्ठादेरपि, तन्तुकपालाद्युपादानवैजात्यात् पटघटादौ वैजात्यवत् तत्रापि वैजात्यसम्भवात् । तन्तुकपालादेरपि अंशुशर्करादिवैजात्यात् । एवं तत्र तत्राप्यन्वेष्टव्यम् । परमाणनां साधारण्येऽपि स्वस्वोपादानवैजात्यस्य सर्वत्र वैजात्यप्रयोजकत्वात् । द्रव्यत्वेन तूपादानसाजात्यं न वैजात्यप्रयोजकमिति दिक् ॥ ७ ॥

इति श्रीशाङ्करे वैशेषिकसूत्रोपस्कारे दशमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ॥

यवादि रूप कारणों के विशेष (विलक्षणता) से होता है । अतः शिर आदि अवयव तथा शरीर अवयवी का परस्पर में भेद हो सकता है ॥ ७ ॥

उपस्कार—सूत्र के एकदेश शब्द का अर्थ है अवयव । एकस्मिन् इस पद का अर्थ है शरीररूप अवयवी । शिर यह एकदेश (अवयव) है तथा उदर, पृष्ठ तथा स्नायु (चरबी) आदि मर्मस्थान, इनके विजातीयतारूपविशेष, उसके कारणों के विशेषों से होता है । वहां भी कारणों की विजातीयता से ही विजातीयता है, क्योंकि सिर को समवायिकारण जिस जाति का है उसी जाति का उदर, पृष्ठ इत्यादि अवयवों का कारण नहीं है, कारण यह कि तन्तु, कपाल आदि समवायी कारणों के विजातीय होने से पट, घट आदि कार्यों में विजातीयता वहां भी विजातीयता हो सकती है तथा तन्तु, कपाल इत्यादि की विजातीयता उनके अंशु तथा (शर्कर) कपाल के टुकड़ों की विजातीयता से होती है । इसी प्रकार उनके उनके भी विजातीयता में उनके अवयवों की विजातीयता कारण है यह जान लेना । परमाणुओं के साधारण होने पर भी अपने-अपने कार्य के समवायिकारणों की विजातीयता अपने-अपने कार्य के विजातीयता की प्रयोजक (कारण) हो सकती है । द्रव्यत्व सामान्यरूप से समवायिकारणों की समानजातीयता कार्य में विजातीयता की प्रयोजक नहीं ऐसा दिक् (उक्त कथन) की रीति है ॥ ७ ॥

इस प्रकार शंकरमिश्रकृत वैशेषिकसूत्रोपस्कार व्याख्या में दशमाध्याय का प्रथमाह्निक समाप्त हुआ ।

दशमाध्याये द्वितीयाह्निकम्

इदानीं प्रसङ्गतस्त्रयाणां कारणानां विशेषविवेचनमारभते—

कारणमिति द्रव्ये कार्य्यसमवायात् ॥ १ ॥

कारण समवायिकारणमिदमिति-प्रतीतिप्रयोगौ द्रव्ये द्रष्टव्यौ । कुत एवमत आह—कार्य्यसमवायात् । कार्याणि द्रव्यगुणकर्माणि तत्रैव समवेयन्ति यतः ॥१॥

तत् किं समवायिकारणत्वमात्रं द्रव्याणामत आह—

संयोगाद्वा ॥ २ ॥

सांप्रत प्रसंगसंगति से सामान्यरूप से कारणों का विशेषरूप से विवेचन (वर्णन) सूत्रकार आरम्भ करते हैं—

पदपदार्थ—कारणं = समवायिकारण है, इति = इस प्रकार (व्यवहार होता है), द्रव्ये = द्रव्यपदार्थ में, कार्यसमवायात् = द्रव्य गुण आदि कार्यों में समवाय-सम्बन्ध होने से ॥ १ ॥

भावार्थ—द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप कार्यों के द्रव्यपदार्थ में समवायसम्बन्ध से रहने के कारण (यह) द्रव्य समवायिकारण है ऐसी प्रतीति तथा शब्द का प्रयोग होता है इससे द्रव्य कार्यमात्र में समवायिकारण होते हैं यह सिद्ध होता है ॥ १ ॥

उपस्कार—सूत्र के कारण शब्द से यह समवायिकारण है ऐसी प्रतीति तथा शब्द का प्रयोग देखने में आता है । (अर्थात् अन्यथासिद्धि से शून्य होते हुए जो कार्य के नियम से पूर्व में रहता है उसे सामान्यरूप से कारण कहते हैं ।) वह समवायि, असमवायि तथा निमित्तकारणरूप से तीन प्रकार है । उनमें से समवाय-सम्बन्ध से पटादि कार्यों को उन तन्तुआदि पटादिकों का समवायिकारण होता है, अर्थात् समवाय सम्बन्ध से कार्य का आधार होना सामान्यरूप से समवायिकारण कहाता है वह द्रव्य ही होते हैं दूसरे नहीं । ऐसा क्यों ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने 'कार्यसमवायात्' ऐसा हेतु दिया है जिसका द्रव्य, गुण तथा कर्मरूप कार्यों (द्रव्यों) में ही समवायसम्बन्ध से रहते हैं जिस कारण ऐसा अर्थ है ॥ १ ॥

तो क्या द्रव्य केवल समवायिकारण ही होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार कहते है—

पदपदार्थ—संयोगात् वा = अथवा संयोग के द्वारा (द्रव्य निमित्तकारण) भी होते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—पटकार्य की उत्पत्ति में जैसे तन्तु समवायिकारण होते हैं, वैसे तुरी तन्तुसंयोग के पट में कारण होने से उसके द्वारा तुरी तथा तन्तु पट में निमित्तकारण भी होते हैं ॥ २ ॥





